अंतर्राष्ट्रीय गतिविधि

(1919–1945)

लेखक

डा० रमेन्द्र नाथ चौधरी,

एम० एस० एस० (हेग)

(राजस्थान सरकार द्वारा योग्यता वेतन प्राप्त)

उप-आचार्य, प्राध्यापक तथा प्रधान,

स्नातकोत्तर इतिहास विभाग,

राजकीय महाविद्यालय,

अजमेर

तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित

संस्करण

1968

प्रकाशक :

फ्रैंक ब्रादर्स एण्ड कम्पनी

चांदनी चौक, दिल्ली—6

भूमिका

पाठकों की निरन्तर मांग को दृष्टि में रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधि का नवीन एवं सशोधित तृतीय संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। 1919 से 1945 की अवधि के लिए द्वितीय संस्करण में जहां केवल सात अध्याय थे वहां इस संस्करण में अठारह अध्याय लिखे गये है। लेखक को खेद है कि अनेक कारणों से इससे पूर्व पुस्तक प्रेस में न जा सकी। इसका एक कारण पुस्तक को वर्तमान प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए नवीन रूप देना एवं पाठकोपयोगी तत्वों का समावेश करना था।

अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास की सामग्री विश्व के विभिन्न राष्ट्रों की राजनीतिक घटनाओं में बिखरी पड़ी रहती है और एक सामान्य व्यक्ति के लिये इनका कोई महत्व नहीं होता। किन्तु कभी इन्ही में से कोई छोटी-सी घटना प्रलयंकारी बन जाती है। लार्ड रसल ने ठीक ही कहा है, "अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास के अंग का मूल इतिहास आर्थिक-नीति व छोटे-छोटे कानूनों के मूल मे छिपा रहता है। यदि यह सब कुछ खिचड़ी-सा प्रतीत होता है तो होने दो। एक टोकरी में भरी वस्तुएँ एक अनभिज्ञ के लिये भले ही ऊबड़-खाबड़ माल हो किन्तु "एक क्रेता के लिए जो वस्तुओं की सही पहचान करना जानता है, वह एक शुभ दिन है।" कुछ-कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है किन्तु जिसके कलेवर की छोटी-छोटी घटनायें विश्वव्यापी प्रभाव डालती है। यहाँ इन्ही सूक्ष्म घटनाओं को समझाकर अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधि के विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

हिन्दी भाषा में अच्छी पुस्तकों की बढ़ती हुई मांग, ऐतिहासिक पुस्तकों में मानचित्रों द्वारा सामग्री को स्पष्ट करने की नीति, सारांश व समय-सारिणी की उपयोगिता को ध्यान में रख पुस्तक को लाभप्रद बनाने की चेष्टा की गई है। प्रश्नों में विश्वविद्यालयों में पूछे गए प्रश्नों के लिए कुछ चिन्हों का प्रयोग किया गया है जो इस प्रकार है : रा० वि० (राजस्थान विश्वविद्यालय), आ० वि० (आगरा विश्वविद्यालय), उ० वि० (उदयपुर विश्वविद्यालय), पं० वि० (पंजाब विश्वविद्यालय) व जो० वि० (जोधपुर विश्वविद्यालय)। पुस्तक के अन्त में तीन परिशिष्ट द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्यों की नामावली, संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की सूची (क्षेत्रफल व जनसंख्या सहित) एवं संघ की सदस्यता के इच्छुक राष्ट्रों के नाम भी दिए गये हैं।

घटनाओं के शृंखलाबद्ध और सुनियोजित वर्णन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास के तत्वों को समझने व विचारों को परिपक्व एवं पुष्ट करने की चेष्टा की गई है। प्रत्येक अध्याय के अन्त मे सहायक अध्ययन देकर मूल स्रोतों द्वारा गंभीर चिन्तन का

विषय-सूची

1 अंतर्राष्ट्रीय-सम्बन्ध का अध्ययन

"अंतर्राष्ट्रीय शब्द से तात्पर्य एक राजनीतिक सीमा में रहने वाली जनता के वर्तमान व्यवहार से है जिसका प्रभाव उस राज्य की सीमा के पार रहने वाले मानवों पर पड़ता है।"

—प्रोफेसर स्प्राउट

"अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की विषय वस्तु एक अज्ञात व्यक्ति के लिये भले ही खिचड़ी हो किन्तु उसके उत्साही विद्यार्थी के लिये, जो कि उन वस्तुओं की विशेषतायें जानती है, वह एक शुभ दिन का लक्षण है।"

—लार्ड रसल

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। आज तीव्रगामी यातायात और संदेशवाहन के साधनो ने संसार के देशों को एक दूसरे के निकट ला दिया है। अब किसी भी राष्ट्र में घटित विशेष राजनीतिक घटना का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रभाव पड़ता है। स्वर्गीय पंडित जवाहर लाल नेहरू ने भी एक बार कहा था : "आज कोई राष्ट्र एकान्त में नहीं रह सकता और अन्तर्निर्भरता वर्तमान परिस्थितियों में स्वाभाविक है। अतः शांति बनाये रखने की जटिल समस्या के लिये सतत प्रयत्नों की आवश्यकता है और शनैः शनैः इसके क्षेत्र को बढ़ाया जाना चाहिये। संक्षेप मे, आज विश्व मे संघर्ष नहीं सहयोग की आवश्यकता है।" आज परमाणु बमों के भंडार में वृद्धि और अनेक निरन्तर हो रहे परीक्षणो ने ससार में युद्ध और शांति की समस्या को गम्भीर बना दिया है। समस्या इतनी उग्र है कि स्वर्गीय राष्ट्रपति जॉन कैनेडी ने 26 जुलाई 1963 को एक भाषण में चेतावनी देते हुये कहा : "पूर्णरूप से लड़ा गया परमाणु युद्ध 60 मिनट से कम समय में ही 30 करोड से अधिक अमेरिकन, यूरोपीय व रूसी और अनगिनित अन्य लोगों को समाप्त कर सकता है और बचे हुए जीवित व्यक्ति भी मृतकों से अच्छी स्थिति मे नही होंगे।"

अन्तरिक्ष उपयोग ने एक और नई स्थिति को उत्पन्न कर दिया है। विश्व समाज और भी सकुचित हो गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव एवं 'नेहरू शान्ति पुरस्कार' के प्रथम विजेता ऊ थान्ट ने भी 27 जनवरी 1967 को 'अन्तरिक्ष की खोज (जिसमें चन्द्रमा व अन्य ग्रहों की खोज शामिल है) से संबंधित संधि' पर हस्ताक्षर के समय कहा : "अन्तरिक्ष की विजय ने अनेक समस्यायें भी उत्पन्न कर दी हैं, किन्तु मुझे इसमें सन्देह नही कि यह संधि अन्तरिक्ष में संघर्ष के भय को ही पर्याप्त सीमा तक कम नही करेगी, वरन अन्तरिक्ष खोज व उपयोगी क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सम्भावनाओं को और आगे बढ़ायेगी।" 1963 की आंशिक अणुबम परीक्षण प्रतिबन्ध संधि के पश्चात् शांति के मार्ग में उक्त संधि एक कड़ी है और आणविक अस्त्रों के प्रसार व सामान्य एवं पूर्ण निःशस्त्रीकरण के लिये भी आवश्यक कदम है।" अतः उपयुक्त तीन शांति दूतों के विचारों के अनुसार शांति आवश्यक एवं उपलभ्य है, युद्ध अनिवार्य नहीं।

बीसवी सदी में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, इतिहास के एक नये मोड़ पर खड़ी है। एक राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था नये राजनैतिक सांचे मे ढलती जा रही है, राष्ट्रीय राज्यों का नये संघों में समावेश हो रहा है; उपनिवेश स्वतन्त्र होते जा रहे है, नये स्वतन्त्र राष्ट्रों का जन्म हो रहा है व गुटों से तटस्थ राष्ट्र शांति में योगदान कर रहे है। विश्व में होने वाले इन महान परिवर्तनों का अध्ययन न केवल इसलिये आवश्यक है कि उनका हमारी सुरक्षा और कल्याण से काफी गहरा संबंध है ; बल्कि इसलिये भी कि कहीं हमारा अस्तित्व ही खतरे में न पड़ जाय।

परिभाषा

अन्तर्राष्ट्रीय-सम्बन्ध के विषय मे विभिन्न योग्य लेखकों तथा विचारकों ने अपने अलग-अलग विचार प्रकट किये हैं। "अन्तर्राष्ट्रीय-सम्बन्ध" शब्द का उल्लेख

जर्मी बैंथम ने 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में किया, किन्तु इसके समान शब्द का प्रयोग लेटिन भाषा में एक शताब्दी पूर्व रिचार्ड जौच ने कर लिया था। इन विद्वानों ने इस शब्द का प्रयोग 'राष्ट्रों के नियम' को परिभाषित करने के लिये किया था जिसका संबंध रोमन कानून में 'विदेशियों' से होता था। राष्ट्रीय राज्यों के अभ्युदय के साथ ही 17 वी सदी से "अन्तर्राष्ट्रीय" शब्द का प्रयोग विभिन्न स्वतन्त्र राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों को परिभाषित करने के लिये किया जाने लगा। प्रो० स्प्राउट का कहना है कि "अन्तर्राष्ट्रीय शब्द से तात्पर्य एक राजनीतिक सीमा में रहने वाली जनता के वर्तमान व्यवहार से है जिसका प्रभाव उस राज्य की सीमा के पार रहने वाले मानवों पर पड़ता है।"[1]

प्रो० स्वार्जनबर्गर लिखते है कि "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध से तात्पर्य उन सम्बन्धों से हैं जो दो समूहों व व्यक्तियो तथा व्यक्तियों के बीच पैदा होते है अथवा स्थित है और जिनका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय समाज पर पड़ना स्वाभाविक है।"[2]

प्रो० मैनिंग के अनुसार "इस विश्व में वर्तमान परिस्थिति में हम जिस विशेप सामाजिक दशा अथवा पहलू का अनुभव करते है, वही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध है।"[3] यदि इस परिभाषा को ध्यान में रखते हुए हम इस विषय का अध्ययन करें तो विषय का निम्न पहलुओं से अध्ययन किया जा सकता है.—

(क) आधुनिक मानववाद के रूप में,

(ख) राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्धों के विवरण के रूप में,

और (ग) स्वतत्र राज्य सरकार तथा जनता के पारस्परिक सम्बन्धों के अध्ययन के रूप में।

प्रो० शेवेलियर का कहना है कि "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय समाज अथवा राष्ट्र-परिवार के विभिन्न देशों के विभिन्न क्षेत्रों मे पैदा होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय गुत्थियों से है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की गुत्थियों से उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों अथवा घटनाओं का, जो 'वर्तमान घटनायें' कही जाती है, विभिन्न प्रकार की पर्याप्त जानकारियों द्वारा व्यवस्थित विश्लेषण आवश्यक होता है।"[4]

---

1. Prof. Sprout defines "international relations" in its comprehensive sense, "to designate all human behaviour that originates on one side of a national political boundary, and affects human behaviour on the other side of that boundary."

2. "International relations are the relations between groups and between groups and individuals, which essentially affect international society as such." Prof. Schwarzenberger.

3. "A facet, an aspect of social life as we experience it on this planet under present conditions." Prof. Manning.

4. Its concern is with a tangled intertwining of relationship arising, in all sorts of fields, among the various states within the *international society or family of nations. This international relational*

कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को विदेशी मामलों का प्रतिरूप मान लिया जाता है। लार्ड कर्जन ने एक बार कहा था, "वास्तव में विदेशी मामले एक प्रकार से घरेलू मामले है और हमारे सभी मामलों से अधिक घरेलू है। कारण यह है कि प्रत्येक नागरिक के जीवन-हित तथा आर्थिक स्थिति पर उनका सीधा प्रभाव पड़ता है।"[5] इसी प्रकार इस शब्द का प्रयोग, व्यापक और सीमित—दोनों प्रकार से होता है।

यदि एक दृष्टि से देखा जाये तो विश्व में, जहाँ कही भी कोई घटना घटे 'अन्तर्राष्ट्रीय-सम्बन्ध' का अध्ययन करने वाले छात्र के अध्ययन के लिये वह घटना एक आवश्यक विषय है। यदि हम यह परिभाषा स्वीकार करें तो इसका विषय-क्षेत्र काफी विस्तृत हो जायेगा। उदाहरण के लिये अन्तर्राष्ट्रीय क्रिकेट मैच, ओलम्पिक खेल तथा तैराकी प्रतियोगितायें आदि इसके अध्ययन क्षेत्र में ले लिये जायेंगे। दूसरा पक्ष यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को घरेलू आवश्यकताओं के आधीन बनाया जाय। इस दृष्टि से घरेलू आवश्यकताओं के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का महत्व नही के बराबर रह जायगा। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय समाज के विकास और ढांचे से संबंधित है। इसके निर्णय के लिये हमें यह देखना है कि मानव-समुदाय के हित के दृष्टिकोण से उक्त बातों का कितना सम्बन्ध है और वे कहाँ तक प्रासगिक हैं। इस प्रकार से 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' शब्द का प्रयोग उस विषय के लिये किया जायगा, जिसमें कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, कानून, सगठन, अर्थशास्त्र, शिक्षा, नीति, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, विश्व इतिहास, भूगोल, जनवृद्धि का अध्ययन आदि सम्मिलित होते हैं। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि प्रत्येक राष्ट्र की भौतिक तथा सैद्धान्तिक स्थितिया इतनी महत्वपूर्ण एवं भिन्न हैं कि हर राज्य के विदेशी सम्बन्धों का अध्ययन एक अलग विषय के रूप में होना चाहिये। स्पष्टतः *'विदेशी' शब्द एक राष्ट्र के ही दृष्टिकोण को बताता है जबकि* अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन सभी देशों की विदेशी नीतियों और उससे होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव का समग्र चित्र प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से इस विषय के अध्ययन का दृष्टिकोण राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के अध्ययन के लिये उत्तरदायी प्रवृत्तियां

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध विषय के प्रति जनता का ध्यान निरन्तर आकृष्ट हो

---

complex from out of which there are constantly cropping up those *occurrences known as 'current events,'* needs systematic analysis in the light of a fairly large number of kinds of knowledge."

5. "Foreign affairs are rather domestic affairs—the most domestic of all of our affairs, for the reason that it touches the life, the interest and the pocket of every citizen." Lord Curzon.

रहा है। विश्व में अनेक स्थानों पर इसे एक स्वतंत्र विषय मान लिया गया है। अब यह देखना है कि वे कौन-सी उत्तरदायी प्रवृत्तियां हैं जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध विषय के अध्ययन में इतनी तेजी से विकास हुआ।

विगत दो युद्धों से विश्व भर में व्यापक विनाश और आर्थिक संकटों ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति जनता में जागरूकता पैदा कर दी है। अनेक देशों के श्रम-संगठनों ने समय-समय पर युद्ध-विरोधी प्रभावशाली प्रस्ताव पारित किये। 1914 ई० से पूर्व वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन पर केवल व्यावसायिक कूट-नीतिज्ञों का ही एकाधिकार था। कार के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रचार प्रथम विश्व-युद्ध में गुप्त संधियों के विरुद्ध एक आन्दोलन के रूप में शुरू हुआ। इस आन्दोलन द्वारा इन गुप्त संधियों को युद्ध का कारण बताकर इनकी आलोचना की गई। इस प्रकार, यह आन्दोलन, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक लोकप्रिय विषय के रूप मे अध्ययन की मांग का, प्रथम कारण था जिसने इस नये विज्ञान को जन्म दिया।

राष्ट्र संघ और सामूहिक सुरक्षा प्रणाली की असफलता ने यह स्पष्ट कर दिया कि युद्ध रोकने से भी महत्वपूर्ण तथ्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को विकसित करना है। फासिस्टवाद व नाजीवाद की उत्पत्ति ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को जन्म दिया। विद्वानों द्वारा इनके विश्लेषण से जनता में इस विषय के प्रति रुचि उत्पन्न हुई। राष्ट्र संघ के सगठन की कमियों के अनुभव से लाभ उठाकर द्वितीय विश्व युद्ध के वाद 'सामूहिक शांति' के लिये शक्तिशाली सयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई। इस प्रकार दो विश्वयुद्धों की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न जन भावना ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के अध्ययन को प्रेरित किया।

एक अन्य कारण जिसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के अध्ययन को प्रोत्साहित किया, आधुनिक काल का भयंकर यांत्रिक विकास है जिसने विभिन्न देशों की दूरी को बहुत कम कर दिया है। अत्यधिक तीव्रगामी जेट विमानों (जिनकी गति प्रति घंटे 2000 मील से अधिक है), वेतार के तार (वायरलैस), सामुद्रिक तार (केबिल) दूर मुद्रणयत्र (टेलीप्रिंटर), टेलीफोन तथा टेलीविजन जैसे वैज्ञानिक अनुसंधानों ने विश्व को अत्यन्त संकुचित कर दिया है। परिणाम स्वरूप कोई भी देश अथवा महाद्वीप स्वयं को अलग नहीं रख सकता। अत. प्रत्येक देश के हित मे यह आवश्यक है कि केवल आदर्शवादी कारणों से ही नही वल्कि अपने अस्तित्व और राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए भी युद्ध को रोका जाय व शांति को बनाये रखा जाय।

गणतंत्र की भावना की तीव्र प्रगति ने, जिसके परिणाम स्वरूप विदेशी नीति व्यावसायिक कूटनीतिज्ञों के हाथ से हटकर दल प्रणाली के क्षेत्र में चली गई, अन्त-र्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन में काफी सहयोग दिया है। युद्ध पश्चात् की अवधि में नये राष्ट्रों की उत्पत्ति ने, अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में ऐसे नये कूटनीतिज्ञों तथा विशेषज्ञों के प्रशिक्षण की आवश्यकता उत्पन्न कर दी है जिन्हें समस्त विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय

सम्बन्ध में हुए हाल के विकास का पूर्ण ज्ञान हो। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ अथवा अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को निबटाने व उन पर नियंत्रण रखने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासकों की आवश्यकता भी दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है।

अपने नये प्रारम्भिक दौर में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन विश्वविद्यालय शिक्षा का एक भाग बन गया। इसका अधिकांश श्रेय सर माटेग्यू बर्टन (ब्रिटेन) और एंड्र्यु कारनेगी (अमेरिका) को है, जिन्होंने अपने त्यागपूर्ण प्रयास द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध विषय को विश्वविद्यालयों में स्थान दिलवाने मे योग दिया। उनका विचार था कि समयानुसार जनता को युद्ध के मूल कारणों का पता लग जायगा और वह शांति बनाये रखने के लिये सही मार्ग अपना सकेगी। उनको पूर्णरूप से विश्वास था कि अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और सहयोग द्वारा स्थायी शांति की स्थापना में विश्वविद्यालय महत्वपूर्ण योग दे सकते हैं। इस प्रकार प्रारम्भिक प्रोत्साहन से सामाजिक अध्ययनो मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ने अपना एक अलग स्थान प्राप्त कर लिया। गुडविन लिखते है कि "आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में इस विषय की शिक्षा प्रारम्भ करने का मुख्य कारण यह था कि यह हमारे दैनिक जीवन का एक ऐसा अंग है जिसकी उपेक्षा एक शिक्षक नहीं कर सकता तथा इतिहास और राजनीति के छात्र को इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।"

एक विषय के रूप में 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' का विकास

एक स्वीकृत तथा व्यवस्थित विषय के रूप में 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' का विकास बीसवीं सदी में ही हुआ है। एक नवीन विषय का जन्म तभी होता है जब कि उस विषय के सम्बन्ध में लेखकों में चेतना होती है और वे यह समझते हैं कि विषय में एक प्रकार की एकता है, जिसे कि विश्लेषणात्मक सिद्धान्तों के द्वारा व्यवस्थित रूप दिया जा सकता है। नवीन विषय के क्षेत्र तथा सीमाओं के विचार पुराने विषयों से उसे पृथक् कर देते हैं और उसकी अध्ययन प्रणाली, संगठन एवं उपविभाजन के सम्बन्धों में विद्वानो का एक मत हो जाता है। इसी आधार पर नवीन पाठ्य-क्रम प्रस्तुत होता है, विश्वविद्यालय में योग्य प्राध्यापक नियुक्त किये जाते है व पाठ्य-क्रम के अनुसार पाठ्य-पुस्तक लिखी जाती है। परन्तु विषय का गंभीर अध्ययन तभी होता है जबकि उस क्षेत्र में शोध आरम्भ कर दिया जाय, विश्वविद्यालय उपाधि प्रदान करना प्रारम्भ कर दे व पुस्तकालय उस विषय का एक विभाग खोल दे। ऐसी स्थिति में नवीन विषय दृढ़ स्थिति व मान्यता प्राप्त कर लेता है।

'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' आज एक प्रगतिशील विषय है। 1900 ईस्वी में पॉल रीछ प्रथम विद्वान् था, जिसने 'विश्व राजनीति' ग्रंथ लिखा था। संयुक्त राज्य अमेरिका मे 1910 मे कारनेगी तथा 'बोस्टन शांति संगठन' ने अपने प्रचार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शांति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह विषय सबसे

अधिक विकसित है। स्वीट्जरलैण्ड, ब्रिटेन, नीदरलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी तथा जापान में भी इस विषय का अध्ययन और अनुसंधान हुए है। एक व्यवस्थित विषय के रूप में इसका जन्म या आरम्भ प्रथम-विश्वयुद्ध के बाद से होता है क्योंकि उसी समय विश्व में 'राष्ट्र संघ' द्वारा शांति स्थापित करने का महान् प्रयास किया गया था।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इस विषय के सम्बन्ध में कई पुस्तकें विभिन्न शीर्षकों से लिखी गई हैं। उदाहरणार्थ, 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति', 'अन्तर्राष्ट्रीय संबंध 'विश्व राजनीति', 'शक्ति राजनीति' (Power Politics), 'अन्तर्राष्ट्रीय संगठन', 'अन्तर्राष्ट्रीय सरकार' तथा 'अन्तर्राष्ट्रीय मनोविज्ञान'। इस क्षेत्र में कई संस्थायें स्थापित हुई है : लंदन में रॉयल इन्स्टीच्यूट आफ इन्टरनेशनल अफेयर्स; न्यूयार्क में 'कॉन्सल ऑफ फारेन रिलेशनस तथा फारेन पोलिसी एशोशियशन'; पेरिस में 'इन्स्टीच्यूट आफ इन्टलेक्च्युवेल कोअपरेशन; जेनेवा में 'स्कूल आफ इन्टरनेशनल स्टैडीज' व मास्को में 'इन्स्टीच्यूट आफ वर्ल्ड इकोनोमिक्स एवं इन्टरनेशनल रिलेशन्स'। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के क्षेत्र मे ये संस्थाएँ मासिक पत्र, वार्षिक पुस्तकें तथा इस विषय के विशेष ग्रंथ प्रकाशित करती रही हैं। समय-समय पर इन संस्थाओं ने विशेषज्ञों तथा अध्यापकों के सम्मेलन बुलाये और विचारों का आदान-प्रदान किया। फलस्वरूप कई विश्वविद्यालयों में, यथा शिकागो, हार्वाड, कोलम्बिया, येल, प्रिन्सटन आदि अमेरिका में, आक्सफोर्ड, वेल्स तथा लंदन आदि ब्रिटेन में, हेग, पेरिस, जेनेवा आदि यूरोप में, यह विषय प्रारम्भ किया गया। इस प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को एक पृथक् विषय के रूप में मान्यता प्रदान की गई।

द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ होने तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना और अन्य विशिष्ट समितियों की चेष्टा से इस विषय को एक नवीन गति तथा प्रेरणा मिली। इन्ही के फलस्वरूप फिर से एक 'विश्व सरकार' की मांग की जाने लगी। राष्ट्रीय सरकारों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की कार्यवाहियों को अधिक महत्व दिया है। प्रत्येक राष्ट्र में अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं के विकास के लिए यूनेस्को के आधीन संस्थाएँ बनाई गई है। इसके साथ-साथ विज्ञान संबधी अनुसंधान, अणुशस्त्रों की उन्नति, राकेट तथा प्रक्षेपास्त्र आदि युद्ध के अन्य विनाशकारी उपायों से आज युद्ध कला, राजनीति तथा राजनीतिक भूगोल का महत्व बढ़ गया है। शक्ति सन्तुलन, राष्ट्रीय सुरक्षा की भावना, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता, युद्ध और शांति आदि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के विषय-क्षेत्र में जटिल समस्यायें हैं।

इस विषय का गहन अध्ययन सायमन, बेर, जिमारन, क्विन्सी राइट, वेली, किर्क, मैंनिग आदि ने किया है तथा रसेल ने इस विषय का इतिहास लिखा है। कभी-कभी यह विषय कूटनीतिक क्षेत्र के विद्यार्थी का ध्यान आकृष्ट करता है और कभी यह भौगोलिक क्षेत्र की दृष्टि से भी सगठित किया जाता है, जैसे कि दूर पूर्व, दक्षिण-पूर्वी एशिया, मध्य पूर्व, अफ्रीका, लेटिन अमेरिका आदि। संक्षेप में, इस विषय का बौद्धिक एकीकरण तथा उन्नति, शिक्षकों, विशेषज्ञों तथा लेखकों के वाद-विवाद तथा

विचार विनिमय द्वारा हुआ है। इस विषय के पूर्ण ज्ञान के लिये अन्य सम्बन्धित विषयों का ज्ञान आवश्यक है।

इसके अध्ययन और अध्यापन में निम्नलिखित विषयों ने सहयोग दिया है: अन्तर्राष्ट्रीय कानून, राजनीतिक इतिहास, संग्रामिक विज्ञान, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, औपनिवेशिक प्रशासन तथा विदेश नीति।

भारत में इस विषय का विकास

भारत में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को एक स्वतंत्र विषय के रूप में पढ़ाने में अब तक पर्याप्त प्रगति हुई है। मार्च 1947 में, नई दिल्ली के 'एशियाई राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों' के सम्मेलन में 28 देशों ने भाग लिया। इस समय यह अनुभव किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय विषयों के अध्ययन से संबंधित एक विशिष्ट संस्था की स्थापना की जाय। इस कल्पना को साकार रूप देने के लिये स्वर्गीय पण्डित जवाहर लाल नेहरू, श्री हृदयनाथ कुंजरू व डॉक्टर अप्पादोराय के प्रयत्न प्रशंसनीय हैं। इन्हीं के प्रयत्नों से 1955 में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बुनियादी अनुसंधान हेतु 'अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन के लिये भारतीय स्कूल' (Indian School for International Studies) की स्थापना हुई। यह विद्यालय इतिहास, पूर्वी-एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया, दक्षिण एशिया, पश्चिमी-एशिया, मध्य-एशिया, अमेरिका व राष्ट्रमंडल (Commonwealth Nations) के अध्ययन व अनुसन्धान कार्यों के लिये सुविधायें प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त इस विद्यालय के तीन विभाग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन व अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law) के क्षेत्र में कार्य करते हैं। इस संस्था में ख्याति प्राप्त व्यक्ति कार्य करते हैं; जिनमें संस्था के संचालक डा० एम० एस० राजन जो कि राष्ट्रमंडलीय प्रोफेसर भी हैं (1964 से), दक्षिण-एशियाई इतिहास के प्रोफेसर डा० ताराचन्द और अन्तर्राष्ट्रीय निधि (International Fund) के प्रोफेसर डा० ए० के० दास गुप्ता सम्मिलित हैं।

यह संस्था प्रमुख रूप से पाँच क्षेत्रों में कार्य कर रही है। यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के विशेष अध्ययन के लिये, एशियाई देशों की भाषा के अध्ययन की सुविधा है ताकि देश के मौलिक परिपत्रों का अध्ययन हो सके। दूसरे, किसी देश के विषय में जानकारी के लिये विद्यार्थी को उसी देश में जाकर स्थानीय परिपत्रों के अध्ययन की भी सुविधा है।

तीसरे, इस समय इस विद्यालय के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अध्ययन करने के लिये 30 से अधिक स्नातक हैं। अब तक लगभग 20 विद्यार्थियों ने डाक्टर आफ फिलॉसोफी (Ph. D.) की डिग्री के लिए अपने आप को प्रमाणित किया है। 1965 तक इस विद्यालय ने 25 शोध पत्र छपवाये[6]। विद्यालय की त्रैमासिक पत्रिका 'अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधि

---

6. इनमे से कुछ के नाम उल्लेखनीय हैं: के. मजूमदार का 'भारत नेपाल

राष्ट्रीय अध्ययन' (International Studies) जुलाई 1959 में प्रारम्भ हुई। इस पत्रिका में संस्था के सदस्यों द्वारा किये गये अनुसंधानों के परिणाम प्रकाशित होते है।

चौथे, इस विश्वविद्यालय की एक अन्य विशेषता पुस्तकालय में एक विशेष विभाग की स्थापना है। समस्त भारत में केवल यहीं का पुस्तकालय ऐसा है जहां कि समाचार पत्रों की कतरनें क्रमबद्ध ढ़ंग से विभाजित की जाती हैं व उन्हे फाइलों में सुरक्षित रखा जाता है। 1949 से अब तक 4 लाख कतरनें एकत्रित हुई है। इनमें से 80,000 एशिया व 70,000 भारत से संबंधित हैं। इस प्रकार इस संस्था का पुस्तकालय समस्त एशिया में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है जहां कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री प्राप्त है। इस पुस्तकालय में लगभग 50,000 पुस्तकें एवं 4200 लघु-फिल्म हैं।

पांचवें, इस संस्था में समय-समय पर विशेष भाषण जैसे सरोजिनी नायडू मेमोरियल लेक्चर व इस क्षेत्र में विद्वान् व्यक्तियों की विचार-गोष्ठी सप्रू हाउस में आयोजित की जाती है। विदेशों के ख्याति प्राप्त आचार्यों को भी विद्यालय में आमन्त्रित किया गया है। इनमे जापान के प्रोफेसर के० इनोकी, शिकागो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर क्युन्सी राइट और कैम्ब्रिज युनीवर्सिटी के प्रोफेसर निकोलस मैनसर्ग अधिक प्रसिद्ध हैं।

इस संस्था के तत्वावधान में अनेक विचारगोष्ठियां आयोजित की गई जिनमें निम्नलिखित अधिक प्रसिद्ध हैं :—

1. एशिया मे प्रजातंत्र
2. संयुक्त राष्ट्र संघ की शांति के क्षेत्र मे देन
3. भारत और राष्ट्रमंडल
4. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और क्षेत्रीय अध्ययन
5. एशियायी देशों की विदेश नीति और तटस्थता

22 फरवरी से 3 मार्च 1965 तक देश के 40 विद्वानों ने इस संस्था के तत्वावधान में विचार-विमर्श किया और भारतीय विश्वविद्यालयों में 'अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन' व एशियायी देशों के क्षेत्रीय अध्ययन की सुविधा के लिए विश्वविद्यालय अनुदान समिति को सिफारिश की। संस्था द्वारा प्रकाशित विशिष्ट पुस्तकों में से एक विद्याप्रकाश दत्त रचित 'चीन की विदेश नीति' (1958-62) भी उल्लेखनीय है। यह संस्था इस समय एशिया की एक महान संस्था बन गई है, क्योंकि इसमें चीन व रूस के विशेष अध्ययन की सुविधा भी प्राप्त है।

राजस्थान, पटना, जादवपुर, अलीगढ़, इलाहाबाद, लखनऊ और उत्कल विश्वविद्यालयों में इस विषय के डिप्लोमा कोर्स की व्यवस्था है। भारत सरकार द्वारा

सम्बन्ध' (1837-77); कुमारी टी० करकी का 'भारत चीन सम्बन्ध (1949-55) व एस० चौधरी का 'भारत में राष्ट्रीयता का विकास' (1905-37)।

भारतीय विदेश सेवा में नागरिकों को प्रवेश की सुविधा दिये जाने के फलस्वरूप, इस विषय को विशेष प्रोत्साहन मिला। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रोत्साहन से राजस्थान विश्वविद्यालय में दक्षिण-एशिया अध्ययन केन्द्र एवं ओसमानिया विश्वविद्यालय में भारत-अरब अध्ययन केन्द्र भी स्थापित हुए हैं।

विषय की कठिनाइयाँ

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के विषय के विद्यार्थियों को कई ऐसी घटनाओं का सामना करना पड़ता है जिनका इस विषय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह विषय स्वरूप और सार की दृष्टि से उग्र राष्ट्रीयता के प्रचार का साधन बन सकता है और अपने वास्तविक उद्देश्य से दूर हट सकता है। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निष्पक्ष तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन की अपेक्षा बहुत संभव है एक आदर्शवादी (उटोपियन) अथवा राजनैतिक दृष्टिकोण अपनाया जाय। कार के विचार मे "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रारंभिक अवस्था में युद्ध रोकने के लिये स्पष्ट और प्रकट रूप से आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया जाता था; जिसने प्रारंभिक अध्ययन को नया मोड़ दिया।" इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का विश्लेषण करने वालों के लिये ऐसे यन्त्रों की आवश्यकता है जिससे वे अपनी रूढ़ियों रूपी जेल की चहार दीवारियों से अलग रहकर विभिन्न संस्कृति के लोगों के व्यवहार का निष्पक्ष व तटस्थ अध्ययन कर सकें।

दूसरी, महत्वपूर्ण कठिनाई, इस विषय को पढ़ाने के लिये योग्य शिक्षकों का अभाव है। जैसा कि प्रो० शेवेलियर ने कहा है, "इस विषय के अध्ययन के लिये वृहद् ज्ञान विशारदों तथा गूढ़ अध्ययन की आवश्यकता है जो अपने विचार राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों तक प्रसारित करने में सफल हों।" ऐसे शिक्षक जो अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध पर विस्तृत विचार सम्बन्धी अनेक तत्वों के एकीकरण की क्षमता रखते हैं, अपेक्षाकृत शिक्षा-व्यवसाय में बहुत कम पाये जाते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कोई भी शिक्षक या शिक्षाविद् एकाकी रूप से न तो ज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर अधिकार प्राप्त कर सकता है और न वह विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के आवश्यक विश्लेषण में ही अपनी विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियां प्रदर्शित कर सकता है।

तीसरी कठिनाई अंतर्राष्ट्रीय गति-विधि के अध्ययन की सामग्री की अधिकता है जो कभी-कभी परस्पर विरोधात्मक विचारों का संकेत करती है। विद्यार्थी वर्तमान घटनाओं का अध्ययन करते समय प्राय: जनप्रिय समाचार पत्रों के रुख से प्रभावित हो जाते हैं और इस प्रकार विवादास्पद वर्तमान मामलों का शांतिपूर्ण ढंग से अध्ययन करने से वंचित रह जाते है। इसीलिए ऐसी डांवांडोल स्थिति की कल्पना मुश्किल नहीं जिसमें एक शिक्षक को एक शक्तिशाली राष्ट्रवादियों के दल के समक्ष 'अरबों के विरुद्ध यहूदियों के दावे का औचित्य' या 'एडन में ब्रिटेन के दावे की वैधानिकता' विषयों पर भाषण करने में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

एक और कठिनाई—शैक्षणिक स्वतन्त्रता का अभाव है। तानाशाही देशों मे

जहाँ शिक्षकों को अपने राजनैतिक विचारों को इच्छानुसार बोलने का अधिकार प्राप्त नहीं है, सरकारी नियंत्रण में शिक्षा संस्थाओं में वे निष्पक्ष होकर भाषण नहीं कर पाते। उन्हें वहाँ व्यवस्थित ढंग से अपनी राष्ट्रीय नीतियों को उचित ठहराना पड़ता है। उन देशों में भी जहाँ विश्वविद्यालय पूर्ण स्वतंत्र माने जाते हैं, एक प्राध्यापक किसी अन्तर्राष्ट्रीय विवादास्पद विषय पर प्रकाश डालते हुए अपनी सरकार की राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय नीति पर आक्रमण जैसी अवांछनीय कार्यवाही के संभावित प्रभाव की उपेक्षा नहीं कर सकता। यद्यपि ऐसे मामलों में कोई ऐसी नीति ऊपर से लादी नही जाती, लेकिन शैक्षणिक प्रतिष्ठा का न्यूनतम स्तर कायम रखना पड़ता है। उदाहरण के लिए भारत में अतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के विषय में शिक्षकों को पाकिस्तान व चीन के विरुद्ध सामाजिक दबाव का ध्यान रखना पड़ता है।

इस विषय के अध्ययन में चौथी कठिनाई यह है कि लोग साधारणतः विदेशी एवं अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं की अपेक्षा घरेलू गति-विधियों में ही अधिक रुचि रखते हैं। साथ ही इस विषय की अन्य कठिनाइयों मे इसकी गतिशीलता अर्थात् निश्चित् घटनाओ का अभाव, विषय की सुदूर दृष्टि से व्यर्थता, विचार सम्बन्धी अस्पष्टता एवं यथार्थ-वाद का अभाव आदि, की गणना की जाती है।

इसके साथ ही और अन्य कठिनाइयाँ भी हैं जैसे पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यक सूची तैयार करना; इस क्षेत्र में प्रारंभिक स्थिति के छात्रों के मानसिक विकास के लिये न्यूनतम मापदण्ड व अंतर्राष्ट्रीय जीवन से सम्बन्धित समस्याओं के लिये बौद्धिक परिपक्वता का स्तर निश्चित करना। इसके अतिरिक्त एक यह भी समस्या है कि इसका अध्ययन इतिहास अथवा राजनीति जैसे अन्य विषयो की शाखाओं के रूप मे किया जाय अथवा इसे एक स्वतंत्र विषय मान लिया जाय।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा अन्य विषय

'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' विज्ञान अभी तक अपनी बाल्यावस्था में ही है। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिशास्त्र, कानून, इतिहास, समाजशास्त्र, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, व्यवहार, औपनिवेशिक प्रशासन, अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा, कूटनीतिकता तथा विदेशी सम्बन्धो पर निर्भर है। डा० अप्पादोराय का कहना है कि "इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आज कई सामाजिक अध्ययन दूसरे पर निर्भर है और प्रत्येक को किसी न किसी रूप में विशेषज्ञों के अध्ययन से कुछ न कुछ ग्रहण करना पड़ता है, तब कहीं जाकर वे पूर्ण हो पाते है; जैसा कि राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र के परस्पर निकट सम्बन्ध से प्रकट होता है।"

1. अन्तर्राष्ट्रीय संबंध और राजनीति—प्रायः यह प्रश्न किया जाता है कि राजनीति विज्ञान तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध को पृथक्-पृथक् विषयों के रूप में अध्ययन करने की क्या आवश्यकता है, जबकि दोनों में कोई अन्तर नही और जबकि एक से ही दोनों का काम चल सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विश्व के प्रमुख गुटों को

भारतीय विदेश सेवा में नागरिकों को प्रवेश की सुविधा दिये जाने के फलस्वरूप, इस विषय को विशेष प्रोत्साहन मिला। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रोत्साहन से राजस्थान विश्वविद्यालय में दक्षिण-एशिया अध्ययन केन्द्र एवं ओसमानिया विश्वविद्यालय में भारत-अरब अध्ययन केन्द्र भी स्थापित हुए है।

विषय की कठिनाइयाँ

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के विषय के विद्यार्थियों को कई ऐसी घटनाओं का सामना करना पड़ता है जिनका इस विषय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह विषय स्वरूप और सार की दृष्टि से उग्र राष्ट्रीयता के प्रचार का साधन बन सकता है और अपने वास्तविक उद्देश्य से दूर हट सकता है। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निष्पक्ष तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन की अपेक्षा बहुत सम्भव है एक आदर्शवादी (उटोपियन) अथवा राजनैतिक दृष्टिकोण अपनाया जाय। कार के विचार में "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रारंभिक अवस्था में युद्ध रोकने के लिये स्पष्ट और प्रकट रूप से आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया जाता था; जिसने प्रारंभिक अध्ययन को नया मोड़ दिया।" इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का विश्लेषण करने वालों के लिये ऐसे यन्त्रों की आवश्यकता है जिससे वे अपनी रूढ़ियों रूपी जेल की चहार दीवारियों से अलग रहकर विभिन्न संस्कृति के लोगों के व्यवहार का निष्पक्ष व तटस्थ अध्ययन कर सकें।

दूसरी, महत्वपूर्ण कठिनाई, इस विषय को पढ़ाने के लिये योग्य शिक्षकों का अभाव है। जैसा कि प्रो० शेवेलियर ने कहा है, "इस विषय के अध्ययन के लिये वृहद् ज्ञान विशारदों तथा गूढ़ अध्ययन की आवश्यकता है जो अपने विचार राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों तक प्रसारित करने में सफल हों।" ऐसे शिक्षक जो अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध पर विस्तृत विचार सम्बन्धी अनेक तत्वों के एकीकरण की क्षमता रखते हैं, अपेक्षाकृत शिक्षा-व्यवसाय में बहुत कम पाये जाते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कोई भी शिक्षक या शिक्षाविद् एकाकी रूप से न तो ज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर अधिकार प्राप्त कर सकता है और न वह विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के आवश्यक विश्लेषण में ही अपनी विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियां प्रदर्शित कर सकता है।

तीसरी कठिनाई अंतर्राष्ट्रीय गति-विधि के अध्ययन की सामग्री की अधिकता है जो कभी-कभी परस्पर विरोधात्मक विचारों का संकेत करती है। विद्यार्थी वर्तमान घटनाओं का अध्ययन करते समय प्रायः जनप्रिय समाचार पत्रों के रुख से प्रभावित हो जाते हैं और इस प्रकार विवादास्पद वर्तमान मामलों का शांतिपूर्ण ढंग से अध्ययन करने से वंचित रह जाते हैं। इसीलिए ऐसी डाँवांडोल स्थिति की कल्पना मुश्किल नहीं जिसमें एक शिक्षक को एक शक्तिशाली राष्ट्रवादियों के दल के समक्ष 'अरबों के विरुद्ध यहूदियों के दावे का औचित्य' या 'एडन में ब्रिटेन के दावे की वैधानिकता' विषयों पर भाषण करने में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

एक और कठिनाई—शैक्षणिक स्वतन्त्रता का अभाव है। तानाशाही देशों में

जहाँ शिक्षकों को अपने राजनैतिक विचारों को इच्छानुसार बोलने का अधिकार प्राप्त नही है, सरकारी नियंत्रण में शिक्षा संस्थाओं में वे निष्पक्ष होकर भाषण नहीं कर पाते। उन्हे वहाँ व्यवस्थित ढंग से अपनी राष्ट्रीय नीतियों को उचित ठहराना पड़ता है। उन देशों में भी जहाँ विश्वविद्यालय पूर्ण स्वतंत्र माने जाते है, एक प्राध्यापक किसी अन्तर्राष्ट्रीय विवादास्पद विषय पर प्रकाश डालते हुए अपनी सरकार की राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय नीति पर आक्रमण जैसी अवांछनीय कार्यवाही के संभावित प्रभाव की उपेक्षा नही कर सकता। यद्यपि ऐसे मामलों में कोई ऐसी नीति ऊपर से लादी नहीं जाती, लेकिन शैक्षणिक प्रतिष्ठा का न्यूनतम स्तर कायम रखना पड़ता है। उदाहरण के लिए भारत में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के विषय में शिक्षकों को पाकिस्तान व चीन के विरुद्ध सामाजिक दवाव का ध्यान रखना पड़ता है।

इस विषय के अध्ययन में चौथी कठिनाई यह है कि लोग साधारणत: विदेशी एवं अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं की अपेक्षा घरेलू गति-विधियों मे ही अधिक रुचि रखते हैं। साथ ही इस विषय की अन्य कठिनाइयों में इसकी गतिशीलता अर्थात् निश्चित् घटनाओं का अभाव, विषय की सुदूर दृष्टि से *व्यर्थता*, विचार सम्बन्धी अस्पष्टता एवं *यथार्थ-वाद* का अभाव आदि, की गणना की जाती है।

इसके साथ ही और अन्य कठिनाइयाँ भी है जैसे पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यक सूची तैयार करना; इस क्षेत्र में प्रारंभिक स्थिति के छात्रों के मानसिक विकास के लिये न्यूनतम मापदण्ड व अंतर्राष्ट्रीय जीवन से सम्बन्धित समस्याओं के लिये बौद्धिक परिपक्कता का स्तर निश्चित करना। इसके अतिरिक्त एक यह भी समस्या है कि इसका अध्ययन इतिहास अथवा राजनीति जैसे अन्य विषयों की शाखाओं के रूप में किया जाय अथवा इसे एक स्वतंत्र विषय मान लिया जाय।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा अन्य विषय

'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' विज्ञान अभी तक अपनी बाल्यावस्था में ही है। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिशास्त्र, कानून, इतिहास, समाजशास्त्र, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, व्यवहार, औपनिवेशिक प्रशासन, अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा, कूटनी-तिकता तथा विदेशी सम्बन्धों पर निर्भर है। डा० अप्पादोराय का कहना है कि "इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आज कई सामाजिक अध्ययन दूसरे पर निर्भर है और प्रत्येक को किसी न किसी रूप में विशेषज्ञों के अध्ययन से कुछ न कुछ ग्रहण करना पड़ता है, तब कही जाकर वे पूर्ण हो पाते हैं; जैसा कि राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र के परस्पर निकट सम्बन्ध से प्रकट होता है।"

1. अन्तर्राष्ट्रीय संबंध और राजनीति—प्राय: यह प्रश्न किया जाता है कि राजनीति विज्ञान तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध को पृथक्-पृथक् विषयों के रूप में अध्ययन करने की क्या आवश्यकता है, जबकि दोनों में कोई अन्तर नहीं और जबकि एक से ही दोनों का काम चल सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विश्व के प्रमुख गुटों को

कूटनीति द्वारा प्रभावित तथा नियंत्रित करने की कला है, जिसके फलस्वरूप एक के विरोध में भी दूसरा देश अपना उद्देश्य पूर्ण कर लेता है। राजनीति-विशेषज्ञ प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों व सरकार के आन्तरिक तथा प्रशासनिक मामलों मे विशेष शिक्षा प्राप्त करते है। वे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को राजनीति की एक अधीनस्थ शाखा मानते हैं।

2. अन्तर्राष्ट्रीय कानून—कानून विशेषज्ञों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की पेचीदी समस्याओं को ठीक तरह समझने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अध्ययन आवश्यक है। ओपनहाइम के अनुसार, "सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून, सभ्य राष्ट्रों के पारस्परिक संबंधों के वे परम्परागत एवं प्रथागत नियम है जो कि कानून के समान बाध्यतामूलक होते है।"

साधारणतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निम्नलिखित वर्गीकरण किया जाता है :—

(1) निजी एवं सार्वजनिक ;

(2) कार्यप्रणालिक एवं मौलिक ;

(3) युद्ध व शांति सबंधी ;

(4) विशिष्ट एवं सामान्य ;

(5) शक्ति, समन्वयात्मक एवं पारस्परिकता संबंधी नियम।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप शनैः शनैः विकसित हो रहा है। इनका अल्प-पालन, नियमों का अपर्याप्त सग्रह, न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णयों के पालन में अनिवार्यता का अभाव, कानूनों की विभिन्न टिप्पणियां व युद्ध को पूर्ण रूप से समाप्त करने में इनकी असमर्थता, इसके विकास व पूर्ण मान्यता प्राप्त करने में बाधक रहे है। फिर इन कानूनों का महत्व इसमे है कि ये अन्तर्राष्ट्रीय जगत में किसी अव्यवस्था व अराजकता, अन्तर्राष्ट्रीय एकता की ओर प्रयत्न करने वाली संस्थाओं, राष्ट्रों की बाधक सप्रभुता व विशिष्ट एवं सम्पूर्ण कानूनों के अभाव की ओर संकेत करते हैं।

3. इतिहास—इतिहासकारो का दावा और भी वजनदार है। उनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध विषय के हर एक विद्यार्थी को अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास की जानकारी होनी चाहिये। आलोचकों का तो यहां तक कहना है कि समकालीन इतिहास अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, लेकिन फिर भी दोनों मे अन्तर है। वह यह कि घटनाओ के क्रम मे प्रायः परिवर्तन होते रहते है और ये अन्तर्राष्ट्रीय सबंधों को गतिशील बना देते है।

4. समाजशास्त्र—डा०स्वार्जनबर्गर के विचार में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध समाज शास्त्र की ही एक मुख्य शाखा है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय समाज की प्रकृति, विकास, सहायक तत्वों, ढांचे और विलय, विघटन अथवा परिवर्तन सम्बन्धी गतिविधियों से उत्पन्न प्रवृत्तियों का समुचित ज्ञान प्राप्त करना है। प्रो०ग्रेसन किर्क लिखते

हैं, "विद्यार्थियों को नेतृत्व के मनोवैज्ञानिक गुणों के बारे में भी जानना आवश्यक है। साथ ही उन्हें राष्ट्रीय नीतियों पर विचारों के प्रभाव ; जनमत में परिवर्तन कर उसे एक पक्षीय बनाने की कार्यवाहियों आदि विषयों के बारे में जानकारी होना आवश्यक है।" अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के कुछ विशेषज्ञों का विश्वास है कि सम्भवतः मनोविज्ञान समस्त क्षेत्रों का प्रमुख आधार है और छात्रों को अन्तर्राष्ट्रीय संबंध के अध्ययन के निमित्त सामाजिक मनोविज्ञान का विशेष पाठ्यक्रम अपनाना जरूरी है।

5. **अन्तर्राष्ट्रीय संगठन**—अन्तर्राष्ट्रीय संगठन उन सामान्य तथा क्षेत्रीय समितियों के निर्माण तथा प्रशासन करने की कला को कह सकते हैं जिसमें कि स्वतंत्र राज्य सम्मिलित हों और जिनका अभिप्राय पारस्परिक सहयोग व प्रयत्नों द्वारा उद्देश्य को पूरा करना हो।

6. **अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र**—अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र विश्व अर्थशास्त्र तथा राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के विदेशी पक्ष को व्यवस्थित करने की कला है। आर्थिक क्रियाओं में उद्योग, प्राकृतिक साधन, जनसंख्या, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विदेशी मुद्रा आदि वे सभी क्रियायें सम्मिलित होती हैं जो कि अर्थशास्त्र के आधार हैं। स्वल्पता अर्थशास्त्र का सार है परन्तु यह राजनीति के विपरीत है।

7. **अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधि**—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के लिये महत्वपूर्ण मामलों अथवा गुटों की नीति व राय को प्रभावित करना, निर्माण करना, सूचित करना अथवा उनको व्यक्त करने की कला ही अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधि है। संकुचित अर्थ में एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र को प्रभावित करने का कार्य ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के क्षेत्र में आता है।

8. **औपनिवेशिक प्रशासन**—औपनिवेशिक सरकार की कला के दो पहलू हैं एक का उद्देश्य तो आर्थिक दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों का विकास है व दूसरे का उद्देश्य जनता को संगठित कर सुव्यवस्थित प्रशासन द्वारा उसे अपने पैरों पर खड़ा करना है। इस कला के दो पक्षों को कितना महत्व दिया जाय यह एक तर्क पूर्ण विषय है। यदि केवल जनता के विकास तथा कल्याण को ही महत्व दिया जाय तो फिर आर्थिक क्षेत्र अपूर्ण रह जायगा। परन्तु यदि केवल आर्थिक क्षेत्र को ही पृथक् रूप से महत्व दिया जाय तो संभव है कि जनता का शोषण हो, उससे बेगार भी ली जाय या संभवतः उसका सर्वनाश कर दिया जाय।

9. **अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा**—अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा व्यक्ति के दृष्टिकोण, ज्ञान, बुद्धि तथा प्रवीणता को विकसित करने, तत्कालीन विश्व के जीवन को अपना सकने तथा मानवीय जीवन को सभ्य बनाने की कला है। अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा का जन्म धर्म, त्याग तथा शांति स्थापित करने के आन्दोलनों द्वारा हुआ और इसकी जड़ें अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के दर्शन, समाजशास्त्र तथा नैतिकता में है।

10. **कूटनीति**—युद्ध वह कला है जिसके द्वारा एक गुट अपने उद्देश्य को

पूरा करने के लिये सशस्त्र सैनिकों का संगठन तैयार करता है। किसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार या कार्य में कुशलता, प्रवीणता तथा चतुरता का प्रयोग करने का अर्थ ही राजनीतिज्ञता अथवा कूटनीतिकता है। किसी व्यवहार की कला के रूप में इसका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में होता है ताकि गुट के अधिकतम उद्देश्य निम्नतम लागत में पूरे हों क्योंकि राजनीतिक प्रणाली में युद्ध भी संभव है।

11. विदेशी सम्बन्ध—विदेशी सम्बन्धों को बनाना वह कला है जिसके द्वारा एक सरकार राज्य के अधिकारों, उद्देश्यों, हितों तथा उत्तरदायित्वों को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों द्वारा ही, रक्षा का प्रयास करती है।

अध्ययन का क्षेत्र

प्रो० किर्क ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के अध्ययन क्षेत्र को निम्नलिखित पांच भागों में विभाजित किया है :—

(1) उन विभिन्न तत्वों का विश्लेषण जो विश्व के प्रमुख राज्यों की विदेश नीतियों पर प्रभाव डालते हैं।

(2) उन रीतियों का आलोचनात्मक परीक्षण जिनके द्वारा राज्य एक दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं और वे संस्थायें जिनकी स्थापना इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए की गई है।

(3) राज्यों के बीच समकालीन आर्थिक, राजनीतिक तथा कानूनी सम्बन्धो तथा एक दूसरे के प्रति प्रवृत्तियो का विश्लेषण।

(4) उन साधनो का अध्ययन जिनके द्वारा राज्यों के पारस्परिक झगड़ों का निपटारा होता है।

(5) उन कानूनी तथा नैतिक सिद्धान्तों पर विचार जिनके द्वारा राष्ट्रों के *परस्पर सम्बन्ध पर नियंत्रण होता है।*

अग्रिम पृष्ठों मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, एशिया में जाग्रति, बड़े-बड़े देशों की विदेश नीतियां और अन्तर्राष्ट्रीय गति विधियों में भारत का स्थान आदि विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के अध्ययन की प्रणालियां

इस विषय के अध्ययन करने की निम्नलिखित प्रणालियां हैं :—

1. ऐतिहासिक व्याख्यात्मक प्रणाली—इस प्रणाली का प्रयोग विशेषतः इतिहास के लिखने में होता है। यह प्रणाली राजनीतिक इतिहास, अन्तर्राष्ट्रीय राज-नीति, राजनैनिक भूगोल, जनवृद्धि तथा अर्थशास्त्र आदि के अध्ययन में भी सहायता पहुँचाती है। इस प्रणाली का आरंभ किसी साकार घटना के पर्यवेक्षण तथा वर्णन से होता है। फिर भी उसके आधारभूत कारण व प्रभाव, साधन और उद्देश्य आदि की ओर बढ़ते हैं क्योंकि ये सब आपस में एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।

2. विश्लेषणात्मक पद्धति—इस पद्धति का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून व अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के तथा उसकी विशेषताओं के अध्ययन के लिये होता है। इस प्रणाली का आरम्भ मानवीय प्रकृति, उसके उद्देश्य व स्वभाव तथा परिस्थितियों के सम्बन्ध में कुछ तर्कसंगत अनुमान लगाने से होता है। साथ ही उनके उद्देश्यों व निर्णयों की पुष्टि इतिहास के दृष्टान्त देकर की जाती है। ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग साकार से निराकार की ओर जाने में होता है, जबकि इस पद्धति का प्रयोग कर हम निराकार से साकार की ओर जाते हैं। वास्तव में इनका अन्तर दृष्टान्त एवं निर्णय को महत्व देने में ही है।

3. समन्वय प्रयोगात्मक पद्धति—इस पद्धति का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, औपनिवेशिक सरकार, अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार आदि के अध्ययन में किया जाता है। इस प्रणाली का आरम्भ विषयगत उद्देश्य की कल्पना तथा फिर उसकी पूर्ति के लिये व्यवहारिक क्षेत्र की ओर अग्रसर होकर होता है।

4. सांख्यिक पद्धति—इस पद्धति का प्रयोग विज्ञान के साथ-साथ विशेषत: अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के दर्शन तथा समाज-शास्त्र के सम्बन्ध में होता है। इस पद्धति में स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर भविष्य के लिये अनुमान साख्यिक पद्धति द्वारा किये जाते हैं, जिनमें भूल की संभावना है।

आलोचना

एक मिश्रित विषय के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय संबध की उत्पत्ति हाल ही में हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय संबंध की शिक्षा सामाजिक विज्ञान की शिक्षा का ही एक अंग है। इस कथन से सिद्ध होता है कि योग्य व्यक्तियों द्वारा विश्व की जानकारी प्राप्त करना मानव समुदाय के लिये हितकर है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की विषय वस्तु अक्सर कई विषयो की 'खिचड़ी' मानी जाती है। लेकिन लार्ड रसेल ने ठीक ही कहा है कि "एक भरी हुई टोकरी की वस्तुएँ एक अज्ञात व्यक्ति के लिये भले ही खिचड़ी हों; लेकिन एक दुकानदार के लिये जो उन वस्तुओं की विशेषतायें जानता है, वे एक शुभ दिन का लक्षण है।" हमें यह याद रखना आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय संबंध एक बहुत ही अस्पष्ट विज्ञान है। यह एक जटिल विषय है तथा प्रमुखत: यह सम्भावनाओं को लेकर आगे बढ़ता है। इसके साथ ही विभिन्न प्रकार की समस्याओं के लिये इसके पास निश्चित उत्तर नहीं होता और शायद कोई अन्तिम हल भी नहीं। इसलिये इसके विद्यार्थियों के लिये यह आवश्यक है कि वे प्रत्येक समस्या का पक्षपात रहित दृष्टिकोण से अध्ययन करें। इसका अध्ययन मनुष्य, मानव समाज तथा भौतिक विश्व से संबंधित ज्ञान के अनेक क्षेत्रों पर आधारित है।

इसके विद्यार्थी को जटिल समस्याओं के साथ-साथ साधारण समाधानों की भी जानकारी होनी आवश्यक है। उसे किसी भी वस्तु की भविष्य सम्बन्धी कल्पनाओं में अथवा युद्ध की अनिवार्यता के सिद्धान्त में ही संलग्न नहीं हो जाना चाहिये, वल्कि

उसे विश्व की वर्तमान अवस्था का पूर्ण ज्ञान होना भी आवश्यक है। अन्य ध्यान में रखने योग्य तत्व वास्तविकता को समझने की शक्ति व पूर्वी सम्यता पर पश्चिमी सम्यता का प्रभाव और राष्ट्रीय उद्देश्यों की संकीर्णता व अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों की उदारता मे सामंजस्य है।

टॉयनबी का कहना है कि "हम भविष्य में पूर्वी समाजों का प्रभाव पश्चिमी समाजों पर देखेंगे।" इनकी मान्यता है कि एशियाई सम्यताओ, विशेषकर भारतीय और चीनी सम्यताओं, का पश्चिमी देशों तथा आम विश्व पर दीर्घकालीन प्रभाव रूसी साम्यवाद के प्रभाव से कहीं अधिक प्रभावशाली और महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। इसलिये विद्यार्थियो को उक्त बातों का ध्यान रखते हुये संतुलित यथार्थ तथा दूर दृष्टिकोण के लिये प्रयास करना चाहिये।

डवल्यु डवल्यु कुल्सकी (W.W. Kulski) अपनी International Politics in a Revolutionary Age नामक पुस्तक मे विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र में राष्ट्रों के व्यवहार सम्बन्धी सिद्धान्तों की सही गवेषणा करने के लिये तीन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। पहली कठिनाई यह है कि हर परिस्थिति में मनुष्य का व्यवहार तर्कसंगत नही होता और इसलिये व्यवहार सम्बन्धी सही भविष्यवाणी नही की जा सकती, फिर जो तथ्य एक व्यक्ति के लिये तर्कसगत है वह दूसरे के लिये ऐसे नही,। दूसरे, राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय लेते समय दो-तीन मार्ग होते हैं और विशिष्ट राष्ट्र किस निश्चित मार्ग का अनुसरण करेगा, इसकी गवेषणा नही की जा सकती। तीसरे, एक विशेष परिस्थिति में एक राष्ट्र का जो व्यवहार है वही दूसरे राष्ट्र का नही हो सकता। समान परिस्थितियों के रहते हुए भी विभिन्न राष्ट्रीय व्यवहार संभव है। उदाहरण के लिये रूस व चीन दोनों में साम्यवाद है, किन्तु दोनों में भेद है और इस प्रकार राष्ट्रों को एक ही परिस्थिति में रखकर सामान्य सिद्धान्त बनाना कठिन है।

सारांश

विश्व के राष्ट्रों की अन्तर्निर्भरता के कारण एक देश की घटना अन्य राष्ट्रों की राजनीतिक स्थिति पर सहज ही प्रभाव डालती है। पं०नेहरू, जॉन कैनेडी व ऊ थान्ट के अनुसार विश्व में बढ़ती हुई समस्याओं व निरन्तर तनाव ने शांति की धाराओं को और अधिक बल दिया है।

'अन्तर्राष्ट्रीय संबंध' शब्द का प्रयोग सबसे पहले रिचार्ड जोच ने और उनके बाद जर्मी बैंथम ने 18वी शताब्दी मे किया। स्प्राउट, स्वार्जनबर्गर, प्रो० मैनिंग, प्रो० शेवेलियर आदि ने इसकी परिभाषा दी है। अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन सभी देशों की विदेश नीतियों और उससे होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव का समग्र चित्र प्रस्तुत करता है।

इस विषय के जन्म के लिए अनेक प्रवृत्तियाँ उत्तरदायी हैं। इनमें दो युद्धों के

फलस्वरूप विनाश, आर्थिक संकट, राष्ट्रसंघ व सामूहिक सुरक्षा प्रणाली की असफलता, फासिस्टवाद व नाज़ीवाद, महायुद्धों से उत्पन्न अनेकानेक समस्याओं को निपटाने की आवश्यकता, भयंकर यांत्रिक विकास, राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न, नये राष्ट्रों का जन्म, संयुक्त राष्ट्र संघ में अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासकों की आवश्यकता आदि ने इसे एक अनुशासन के रूप में जन्म दिया है।

सन् 1900 में पॉल रीछ ने इस विषय की प्रथम महत्वपूर्ण पुस्तक 'विश्व राजनीति' लिखी। कारनेगी तथा बोस्टन शांति संगठन ने भी प्रशंसनीय योग दिया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय संबंध, विश्व राजनीति, शक्ति राजनीति, अन्त-र्राष्ट्रीय संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय सरकार, सामाजिक मनोविज्ञान आदि नामों से पुस्तकें लिखी गईं। लंदन, न्यूयार्क, पेरिस, जेनेवा, मास्को में विशिष्ट संस्थाएँ स्थापित की गईं। इनका प्रभाव यह हुआ कि विश्व के चेतन एवं प्रगतिशील विश्वविद्यालयों ने इस विषय को अपने यहाँ स्थान दिया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सायमन, वेर, जिमारन, क्विन्सी राइट, वेली, किर्क, मैनिंग आदि विद्वानों ने इस विषय का गहन अध्ययन किया व रसेल ने इस विषय का इतिहास लिखा।

भारत में इस विषय का आरम्भ 1947 के एशियाई राष्ट्रों के पारस्परिक संबंधों के सम्मेलन से हुआ। 1955 में स्वर्गीय पं० नेहरू, श्री हृदयनाथ कुंजरू व डा० अप्पादोराय के प्रयत्नों से भारत में "अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन के लिए भारतीय स्कूल" की स्थापना हुई। इस संस्था के प्रधान डा० एम० एस० राजन हैं।

इसके अध्यापन में कुछ कठिनाइयाँ हैं। इनमें उग्र राष्ट्रीयता, योग्य शिक्षकों का अभाव, तानाशाही देशों में शैक्षणिक स्वतंत्रता का अभाव और विदेशी एवं अन्तर्रा-ष्ट्रीय समस्याओं की अपेक्षा घरेलू गतिविधियों में ही अधिक रुचि सम्मिलित हैं।

सभी सामाजिक विज्ञानों का पारस्परिक संबंध इतिहास, राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, संगठन, अर्थशास्त्र, शिक्षा, समाजशास्त्र, औपनिवेशिक प्रशासन, कूटनीति व विदेश नीति आदि से है।

इसके विषय क्षेत्र के अन्तर्गत राष्ट्रों की विदेश नीति का अध्ययन, पारस्परिक व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए संस्थाओं के सबंध तथा कानूनी व नैतिक सिद्धान्त आदि सम्मिलित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संबंध के अध्ययन के लिये ऐतिहासिक व्याख्यात्मक प्रणाली, विश्लेषणात्मक पद्धति, समन्वय प्रयोगात्मक पद्धति व सांख्यिकी पद्धति का अवसरानुकूल प्रयोग किया जाता है।

कुछ विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय संबंध को अनेक विषयों की खिचड़ी मात्र कहते है। यह सभावनाओं को लेकर आगे बढ़ता है, अत. निश्चित उत्तर दिया जाना कठिन होता है।

घटनाओं का तिथि क्रम

17 वीं सदी	रिचार्ड जौच	'राष्ट्रों के नियम' शब्द का प्रयोग
18 वीं सदी	जर्मी बैंथम	'अंतर्राष्ट्रीय संबंध' का उल्लेख

1900 ईस्वी	पॉल रीछ	'विश्व राजनीति' ग्रन्थ
1910 ई०	कारनेगी	शांति के लिये अंतर्राष्ट्रीय संगठन
1947 (मार्च)	28 एशियाई राष्ट्रों के पारस्परिक संबंधों का सम्मेलन (नई दिल्ली)	
1955		'अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन के लिये भारतीय स्कूल', सप्रू हाउस, दिल्ली
1961		'अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन'—त्रैमासिक पत्रिका
1965		'अंतर्राष्ट्रीय संबंध और क्षेत्रीय अध्ययन की गोष्ठी

सहायक अध्ययन

Goodwin, G. L., ed. : **The University Teaching of International Relations.** (Oxford : 1951)

Indian School of International Studies : **Annual Report**, Oct., 1964, Sept. 1965, (Sapru house, New Delhi : 1966)

Kirk, Grayson : **The Study of International Relations in American Colleges and Universities.** (New York : 1947)

Manning, C. A. W. : **The University Teaching of Social Sciences, International Relations.** (UNESCO : 1954)

Wilson, H. F. : **Universities and World Affairs.** (New York : 1951)

Wright, Quincy : **The Study of International Relations.** (New York : 1955)

प्रश्न

1. 'अन्तर्राष्ट्रीय संबंध' से आप क्या समझते है ? इस विषय के जन्म के लिए कौन-कौन सी प्रवृत्तियाँ उत्तरदायी हैं ?

2. अन्तर्राष्ट्रीय संबंध का एक विषय के रूप में विकास किस प्रकार हुआ ? भारत में इस क्षेत्र में क्या कार्य हुआ है ?

3. अन्तर्राष्ट्रीय संबंध के अध्ययन का किसी राष्ट्र के लिए क्या महत्व है ? इस विषय के निष्पक्ष अध्ययन में क्या कठिनाइयां हैं ?

4. क्या अन्तर्राष्ट्रीय संबंध अन्य विषयों का ऋणी है? अन्तर्राष्ट्रीय, कानून, इतिहास व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से इसके संबंध को स्पष्ट करें।

5. अन्तर्राष्ट्रीय संबंध के अध्ययन के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए इसके विषय क्षेत्र पर संक्षेप में प्रकाश डालें।

6. अन्तर्राष्ट्रीय संबंध के अध्ययन की कौन-कौन सी प्रणालियाँ हैं? आपकी दृष्टि में कौन-सी प्रणालियाँ अधिक उपयोगी हैं?

7. "अन्तर्राष्ट्रीय संबंध एक अज्ञात व्यक्ति के लिए एक टोकरी में रखी वस्तुओं की खिचड़ी के समान है; किन्तु एक समझदार दुकानदार के लिए, जो उन वस्तुओं की विशेषताएँ जानता है, वह टोकरी एक वरदान है।" इस कथन को स्पष्ट करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन की विषय-वस्तु और उसके अध्ययन के महत्व को समझायें।

2 पेरिस का शांति सम्मेलन

"मैंने एक सद्भावपूर्ण संधि को पसन्द किया होता"।

—कर्नल हाउस

"यह एक कठोर किन्तु न्यायपूर्ण संधि है।"

—लॉयड जार्ज

"यह शांति संधि नहीं, 20 वर्ष के लिए विराम संधि है।"

—फौश

"हमसे स्वयं का हत्यारा बनने की, आशा न करें।"

—एर्जबर्गर

जर्मनी के प्रधानमंत्री बिस्मार्क ने एक बार कहा था, "मेरी मृत्यु के बीस वर्ष बाद मैं अपने कफन से बाहर आना चाहता हूं और यह देखना चाहता हूँ कि दुनियाँ में जर्मनी की प्रतिष्ठा कायम है या नही।" प्रिंस बिस्मार्क सन् 1898 में चल बसे। अगर वह 1918 में पुनर्जीवित हो गये होते तो अपने उत्तराधिकारियों की विचार-शून्यता और अयोग्यता को देखकर अत्यन्त ही क्रुद्ध होते। सच तो यह है कि मृत्यु के बहुत पूर्व ही उन्हें इस स्थिति का ज्ञान हो गया था। सम्राट् कैसर विलियम द्वितीय (1888-1918) के बारे में उन्होंने कहा था, "यह युवक किसी दिन अपने राज्य को विनष्ट कर देगा।" यह भविष्यवाणी सन् 1918 ई० में सच निकली। प्रथम महायुद्ध शुरू होने में कुछ ही महीनों पूर्व बर्न हार्डी लिखित "विश्व साम्राज्य अथवा विनाश" (World Empire or Downfall) नामक एक कुख्यात पुस्तक प्रकाशित हुई और जर्मनी ने इसका विचित्र उत्साह के साथ स्वागत किया। 3 नवम्बर 1918 को जर्मन नाविकों ने सरकार के प्रति विद्रोह कर इस पुस्तक की भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध किया। इसका लेखक बर्न हार्डी सफल रहा। विद्रोह के परिणामस्वरूप अनेक जर्मन शहरों पर लाल झंडा फहरा दिया गया। 9 नवम्बर तक बर्लिन में भी क्रांति की लहर फैल गई और प्रजातंत्र का निर्माण किये जाने की घोषणा की गई। उसी दिन सम्राट् ने अपना पद त्याग दिया और राजकुमार के साथ वह हालैंड चले गये। दो दिन पश्चात् जर्मनी ने मित्र राष्ट्रों के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया और युद्ध समाप्त हो गया।

युद्ध कालीन शांति प्रस्ताव

प्रथम महायुद्ध छिड़ने के कुछ दिन पहले अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन के प्रतिनिधि कर्नल हाउस यूरोप आये एवं जर्मन सम्राट् विलियम कैसर द्वितीय तथा ब्रिटेन के विदेश मंत्री लार्ड एडवर्ड ग्रे से सम्पर्क स्थापित कर युद्ध को रोकने के लिए असफल प्रयास किया। दूसरी बार फिर विलसन के आग्रह से कर्नल हाउस 1915 में यूरोप आये और समुद्र पर गमनागमन की स्वतंत्रता के लिए अनिवार्य समझकर सम्बन्धित राष्ट्रों से वार्ता प्रारम्भ की। परन्तु उन्ही दिनों 'लुसि-टानिया' नामक अमेरिकन जहाज जर्मन पनडुब्बी द्वारा डुबो दिया गया। अमेरिकन जहाज के डुबो दिये जाने पर स्वयं कर्नल हाउस ने अमेरिका के युद्ध-प्रवेश की सहमति प्रकट की। फिर भी कर्नल हाउस शांति-प्रयास से हटे नहीं और तीसरी बार 1916 में पुनः मित्र राष्ट्रों तथा जर्मनी के बीच शांति स्थापना के हेतु मध्यस्थता का कार्य शुरू किया। लार्ड ग्रे को लिखे गये एक स्मरण पत्र में उन्होंने यह भी बता दिया कि मध्य-स्थता के बावजूद भी शांति स्थापित नहीं हुई तो अमेरिका मित्र राष्ट्रों की तरफ से युद्ध में सम्मिलित होगा। इसके बाद मित्र राष्ट्रों की विजय स्पष्ट दिखाई देने लगी। अन्त मे शांति के प्रयास ठन्डे पड़ गये।

परन्तु दूसरी ओर से तटस्थ शक्तियों ने भी शांति-स्थापना के अनेक प्रयास किये। उदाहरण के लिए पोप बेनेडिक पन्द्रहवें ने दोनों पक्षों से सम्पर्क स्थापित कर

शांति स्थापना का प्रयास किया। इतना ही नहीं पोप ने यूरोप के प्रमुख राष्ट्रों को ध्यान युद्ध के भीषण परिणामों की ओर आकर्षित किया। युद्ध के तीन वर्ष बाद पोप ने निश्शस्त्रीकरण, क्षति-पूर्ति तथा नये क्षेत्रों पर अधिकार नहीं करने के आधार पर शांति-समझौते की रूपरेखा तैयार की परन्तु जर्मनी द्वारा बेल्जियम की पुनर्स्थापना को अस्वीकार करने से यह प्रयास विफल रहा। इधर आस्ट्रिया में युद्ध के समय ही नवम्बर 1916 में सम्राट् फ्रांसिस जोसेफ की मृत्यु के बाद आर्च ड्यूक चार्ल्स इसके सम्राट् बने और सम्राज्ञी जीढा के प्रभाव से चार्ल्स ने अपने ज्येष्ठ भ्राता 'प्रिंस सिक्टटी' को मध्यस्थ बना शांति-स्थापना हेतु पेरिस भेजा। प्रिंस सिक्टटी ने स्विट्जरलैंड को केन्द्र बनाकर फ्रांस को अलसेस तथा लारेन देने, बेल्जियम की क्षतिपूर्ति के साथ पुर्नस्थापना व सर्बिया को एड्रियाटिक समुद्रतट देने के सम्बन्ध में वार्ता चलाई। परन्तु फ्रांस के प्रधानमंत्री ब्रियाँ के पतन के बाद नवीन प्रधानमंत्री रिबांट ने इस वार्ता को असफल बना दिया।

सन् 1918 में जर्मन विदेश मन्त्री (वान कुहलमैन) ने भी शांति के लिये विशेष प्रस्ताव रखे। इनमें प्रमुख रूप से यह बताया गया कि यदि मित्र राष्ट्र युद्ध से पूर्व की, यथावत् स्थिति को मान्यता देने को तैयार हों तो इस ओर आगे कदम बढाया जा सकता है। परन्तु जर्मन ससद तथा अनुदार दल के विरोध के कारण वॉन कुहलमैन को त्यागपत्र देना पड़ा। इस प्रकार युद्धकालीन शाति प्रयास असफल रहे।

शांति सम्मेलन के आधार

पेरिस के ऐतिहासिक शाति-सम्मेलन का महत्वपूर्ण निर्णय पूर्व निश्चित् था। तत्कालीन परिस्थितियों ने, विजयी राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को, विशेष रूप से प्रभावित किया। यह अनुमान, कि न्याय और शांति के आधार पर नवीन विश्व की रचना की सपूर्ण शक्ति विजेता राष्ट्रों के पास थी, तथ्यहीन है। वास्तव में युद्धकालीन गुप्त संधियों, मित्र राष्ट्रों की घोषणायें, पूर्वी व दक्षिणी यूरोप में राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रोत्साहन, यूरोप के प्रमुख राष्ट्रों में केन्द्रीय शक्तियों के विरुद्ध बदला लेने की भावना, राष्ट्रीय स्वार्थ की पूर्ति के लिये किये गये कार्य तथा रूस की क्रांति के प्रभाव आदि ने शाति सधियों के निर्णयों को कुछ सीमा तक पहले से ही निश्चित कर दिया था।

प्रसिद्ध अमेरिकी इतिहासकार आर्थर बुलार्ड ने "महायुद्ध की कूटनीति" नामक पुस्तक में 1916 मे यह भविष्यवाणी की थी कि "विजेताओं की चाल स्पष्ट है : उनकी पहली चाल जर्मन गुट के सम्मुख अपनी सम्मिलित मांग रखना है और दूसरी चाल विजित देशों की सपत्ति को बाँटने के लिये विजेताओं का एक सम्मेलन बुलाना है—एक ऐसा सम्मेलन जिसमे विजित राष्ट्र अनुपस्थित हों।" वास्तव में 1919 मे इस क्रम को मित्र राष्ट्रों ने अपनाया था; परन्तु इसमें इतना अन्तर था कि प्रथम चाल को द्वितीय स्थान दिया गया तथा द्वितीय को प्रथम।

इस पृष्ठभूमि में ही हम शांति समझौते के मुख्य कारणों का विवेचन करेंगे।

I. विराम संधि :—जर्मन विराम संधि के विषय में अनौपचारिक रूप से वार्ता मित्र राष्ट्रों ने पेरिस में प्रारंभ की। 26 अक्टूबर 1918 को राष्ट्रपति विलसन के निजी सहायक कर्नल हाउस के पेरिस आगमन से, 14 बिन्दुओं के आधार पर, मित्र राष्ट्रो से विचार-विमर्श शुरू हुआ। मित्र राष्ट्रों ने 14 बिन्दुओं में निम्न संशोधन किये :

1. समुद्र पर यातायात की सुविधा एवं स्वतंत्रता दिये जाने के उत्तरदायित्व से मुक्ति ;

2. शत्रु द्वारा जल, थल व नभ से किये नागरिक सम्पत्ति पर आक्रमण की क्षति-पूर्ति और ;

3. आस्ट्रिया-हंगरी की स्वायत्त शासन की मांग का स्वतंत्रता मे परिवर्तन। कोम्पेगनी वन के रैथोन्ड्स (Rethondes) नामक स्थान पर 8 नवम्बर को मार्शल फौश ने जर्मन विरामसंधि आयोग के अध्यक्ष मथियास एर्जवर्गर का स्वागत किया। वे एक विशेष रेलगाड़ी में यात्रा कर रहे थे और उसी में 11 नवम्बर को प्रात: 5 बजे विराम सधि पर हस्ताक्षर हुए। युद्धबंदी की घोषणा करते हुये जर्मनी ने निम्न शर्तों पर आत्म-समर्पण किया था :—

1. हस्ताक्षर के 6 घण्टे बाद युद्ध बन्द हो।

2. आक्रान्त देशों—बेल्जियम, फ्रांस, अलसेस-लारेन, लक्समबर्ग—से 14 दिनों के भीतर जर्मन फौज हटा ली जाय।

3. विशेष युद्ध-सामग्री सौंप दी जाय, जैसे 1700 विमान, 500 रेल के इंजिन, 500 भारी मोटरें और सभी पनडुब्बियां।

4. बड़े समुद्री बेड़ों को समुद्र मे डुबो दिया जाय।

5. राइन नदी के बायें तट को मित्र राष्ट्र की फौज के सुपुर्द कर दिया जाय, जिसका खर्च जर्मनी दे।

6. युद्ध बन्दियों की स्वदेश वापसी।

7. विराम संधि की अवधि 36 दिन तक रहे। आगे चलकर 13 दिसम्बर 1918, 16 जनवरी और 16 फरवरी 1919 को अनिश्चित काल के लिये अवधि बढ़ा दी गई।

8. 3 मार्च 1917 को रूस के साथ की गई ब्रेस्ट लिटोवस्क की सधि एवं 7 मई 1917 को बुल्गेरिया के साथ की गई बुकारेस्ट की सधि बलवत नही रहेगी।

9. स्थायी संधि का आधार राष्ट्रपति विलसन के 14 बिन्दु और 27 दिसम्बर 1918 का भाषण होना चाहिये।

II. गुप्त संधियाँ :—प्रथम विश्वयुद्ध के समय मित्र राष्ट्रों ने कई गुप्त संधियाँ की, जिनसे उनकी विजय निश्चित् हो गई। इनमें विजित राष्ट्रों व उपनिवेशों को

आपस में बाँटने का निश्चय किया गया था। इन संधियों में अमेरिका शामिल नहीं था; इसीलिये पेरिस मे राष्ट्रपति विलसन ने इन संधियों का विरोध किया। इटली और रूमानियां गुप्त संधियों के कारण ही युद्ध में शामिल हुए थे। निम्न गुप्त सधियां महत्वपूर्ण थीं :—

1. ब्रिटेन, फ्रांस व रूस में गुप्त संधि :—12 मार्च 1915 में इन तीन राष्ट्रों ने तय किया कि तुर्की से कुस्तुन्तुनिया जलडमरू, कालासागर के कुछ द्वीप और समुद्र तट रूस को मिलेंगे। जलडमरू सब राष्ट्रों के व्यापार के लिये खुला रहेगा। मुसलमानों के पवित्र स्थान तुर्की के अधीन रहेंगे। इराक और ईरान में ब्रिटेन का प्रभाव क्षेत्र माना गया। मिश्र में यथास्थिति ही रहेगी। रूस ने फ्रांस को मौखिक आश्वासन दिया कि जर्मनी में राइन नदी के बाम तट पर प्रयोजन होने पर वह उस पर अधिकार कर सकेगा।

2. लंदन की गुप्त संधि :—लन्दन तथा एड्रियाटिक संधि 26 अप्रैल 1915 में ब्रिटेन, फ्रांस, रूस और इटली के मध्य हुई। इस संधि द्वारा इटली ने जर्मनी व आस्ट्रिया का साथ छोड कर मित्र राष्ट्रों के पक्ष में युद्ध मे भाग लिया था। इटली की सहायता के बदले उसे ट्रेन्टिनो, ट्रीस्ट, दक्षिण टाइरोल (यहाँ ढाई लाख जर्मन निवासी थे), अडिस्का, डालमेशियन तट, अल्बेनिया, वेलोना, डोडेकेनीस (संपूर्ण निवासी यूनानी), इस्ट्रिया, तुर्की का एक अंश आदि देने का आश्वासन दिया गया। तीनों राष्ट्रों ने इटली को अफ्रीका में विस्तार व युद्ध के हरजाने के उचित भाग का अधिकार दिया। शाति सम्मेलन में मित्र राष्ट्रों ने पोप को शामिल नहीं करने का आश्वासन दिया। इस सधि से युगोस्लाविया अत्यन्त असन्तुष्ट हो गया। पेरिस मे फ्रांस व इंग्लैण्ड ने अपने आश्वासन पूरे नहीं किये।

3. साइक्सपीको संधि :—16 मई 1916 को फ्रांस व ब्रिटेन के मध्य साइक्सपीको सधि हुई। इसके अनुसार फ्रांस को सीरिया में एकर नगर पर्यंत एवं इराक में टाईग्रीस नदी के पीछे का क्षेत्र दिया गया। इंग्लैण्ड को भूमध्यसागर के मुख्य बन्दरगाह एकर और हाइफा दिये गये और इराक में उसे बगदाद से लेकर फारस की खाड़ी तक का क्षेत्र देना निश्चित हुआ। 19 अप्रैल 1917 को जीन डी मोरिये की गुप्त सधि द्वारा इटली को तुर्की का स्माइर्ना एवं अडालिया दिया गया। फ्रास को साइलेशिया का इलाका मिला।

4. मित्र राष्ट्र व रूमानियां की संधि :—18 अगस्त 1916 को रूमानियां ने फ्रांस, रूस, इटली व ब्रिटेन से गुप्त समझौते किये। रूमानियां को ट्रासिलवेनियां, बुकोविना, बनात आदि स्थान देने का वचन दिया गया, जो कि आस्ट्रिया का प्रदेश था। मित्र राष्ट्रों ने रूमानियां की सेना की सामरिक सहायता का वचन दिया। इसके बदले मे रूमानियां मित्र राष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित हुआ।

5. आंग्ल-जापान संधि :—17 फरवरी 1917 को जापान व ब्रिटेन की संधि के

ग्रनुसार जापान ने भूमध्य सागर में मित्र राष्ट्रों की सहायतार्थ जर्मनी के विरुद्ध जहाजी बेड़ा भेजना निश्चित् किया । चीन में जर्मन अधिकृत शान्टूग प्रदेश एवं प्रशांत महासागर में भूमध्य रेखा के उत्तर के जर्मन द्वीपों पर जापान का अधिकार और इस रेखा के दक्षिण में जर्मन टापूओं पर ब्रिटेन का अधिकार माना गया ।

6. सैजोनोभ-पैलियोलोग संधि :—11 मार्च 1917 को रूस के विदेशमंत्री सैजोनोभ और रूस में फ्रांस के राजदूत पैलियोलोग ने एक गुप्त समझौता किया । इसके अनुसार फ्रांस को सार प्रदेश और अलसेस-लोरेन दिया जाना निश्चित हुआ । जर्मनी को विभाजित करके राइनलैण्ड को एक स्वतंत्र एवं निष्पक्ष राज्य बनाया जायेगा । जर्मनी की पश्चिमी सीमा निश्चित् करने का अधिकार फ्रांस को मिला । इसी प्रकार जर्मनी की पूर्वी सीमा के निर्णय का अवसर रूस को प्राप्त हुआ । काला-सागर और फारस के बीच 60 हजार वर्गमील की भूमि को भी रूस को देना तय हुआ ।

नवीन साम्यवादी रूसी सरकार ने 1917 के अन्त में आंग्ल-जापानी संधि को छोड़कर अन्य सभी गुप्त संधियों को प्रकाशित कर दिया । पेरिस में विलसन ने इन संधियों का विरोध किया; परन्तु शांति समझौते में इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली तथा जापान के पारस्परिक आश्वासनों को आंशिक रूप से स्वीकार किया गया । रूस ने पहले ही जर्मनी से 5 मार्च 1918 को ब्रेस्टलिटोवस्क की संधि कर ली थी एवं साम्राज्यवाद विरोधी नीति की घोषणा की थी। इसीलिये रूस को इन गुप्त संधियों से कोई लाभ नहीं हो सका ।

III. **युद्धकालीन घोषणायें** :—ब्रिटिश प्रधानमंत्री लायड जार्ज द्वारा दिया गया 5 जनवरी 1915 का भाषण एवं 5 जनवरी 1915 का संसद भाषण और अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन द्वारा घोषित 8 जनवरी 1918 के चतुर्दश बिन्दु शांति सधि के मूल आधार थे । शत्रु पक्ष की युद्ध घोषणाओं का, पराजय के कारण कोई भी ऐतिहासिक महत्व नही था । वास्तव मे ये घोषणायें केवल प्रचार मात्र के उद्देश्य से मित्र राष्ट्रों ने की थीं । इसीलिये समय और परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने पर शांति समझौते के समय कथित घोषणाओं एवं संधि में अन्तर पाया जाता है ।

विलसन के चौदह बिन्दु—(8 जनवरी 1918)

युद्धकालीन सभी घोषणाओं में, अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन के कांग्रेस में दिये भाषण के चौदह बिन्दु अधिक महत्वपूर्ण हैं । समझने के लिये इनको हम 3 भागों में बांट सकते है :—

(क) मौलिक सिद्धान्त ।
(ख) भौमिक व्यवस्था ।
(ग) राष्ट्रसंघ ।

(क) **मौलिक सिद्धान्त** :—ये प्रथम 5 विन्दुओं में निहित हैं जो कि निम्नलिखित हैं :—

1. गुप्त राजनयिक वार्ता सार्वजनिक कर दी जाय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार जनता के समक्ष स्पष्ट रूप से रखा जाय।

2. बीच के समुद्रों पर शांति व युद्ध के समय सभी राष्ट्रों को यातायात की पूर्ण स्वाधीनता हो; परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही के लिये समझौते द्वारा किसी भी समुद्र को आंशिक या पूर्ण रूप से बंद किया जा सकता है।

3. शांति प्रिय राष्ट्रों को समान व्यापारिक सुविधा देने के लिये सभी प्रकार के आर्थिक अवरोधों को हटाया जाय।

4. प्रत्येक राष्ट्र से शस्त्रीकरण को निम्नतम सीमा तक घटा देने का आश्वासन लिया जाय।

5. सभी औपनिवेशिक दावों का निष्पक्ष रूप से निपटारा किया जाय। औपनिवेशिक सरकार के न्यायपूर्ण प्रभुसत्ता के अधिकार को स्वीकार करते समय जनता के हितों को भी समान महत्व दिया जाय।

(ख) **भौमिक व्यवस्था** :—यह 6 से 13वें विन्दु तक निहित है, जो कि निम्नलिखित हैं :—

6. रूस से सम्पूर्ण विदेशी सेना हटा ली जाय तथा उसको राजनीतिक विकास और राष्ट्रीय नीति को निर्धारित करने की पूर्ण स्वाधीनता दी जाय।

7. बेल्जियम को पुनः स्वतत्र राष्ट्र के रूप में स्वीकार किया जाय और उसकी प्रभुसत्ता को सीमित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाय। बेल्जियम का पुर्नस्थापन अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सर्वमान्य बनायेगा।

8. समस्त फ्रांसीसी प्रदेशों को शत्रु सेना से मुक्त कर दिया जाय। 1871 में फ्रांस के साथ अल्सेस-लोरेन के विषय में जो अन्याय हुआ था, उसे संशोधित किया जाय, ताकि पिछले 50 वर्ष की अशांति समाप्त हो जाय एवं सभी के लिये शांति संभव हो।

9. इटली की सीमाओं को राष्ट्रीयता के आधार पर स्पष्ट रूप से पुनः निर्धारित किया जाय।

10. सभी राष्ट्रों में आस्ट्रिया-हंगरी के निवासियों के स्थान को सुरक्षित करने के लिये उन्हें स्वशासित विकास की पूर्ण सुविधा दी जाय।

11. रूमानियाँ, सर्विया एवं मान्टीनीग्रो से विदेशी सेना हटा ली जायें। सर्विया को समुद्र तट तक पहुँचने का पूर्ण अवसर दिया जाय। बाल्कन राज्यों की सीमाओं को पारस्परिक मित्रता तथा राष्ट्रीयता की इतिहास सम्मत रेखाओं के आधार पर निर्धारित किया जाय। बाल्कन राज्यों के राजनैतिक, आर्थिक तथा भूमि की अखंडता की अन्तर्राष्ट्रीय गारण्टी हो।

12. तुर्की की प्रभुसत्ता का आश्वासन दिया जाय; परन्तु तुर्की के शासन के अधीन अन्य राष्ट्रीयताओं को सुरक्षा तथा स्वतंत्र विकास का पूर्ण अवसर दिया जाय। डार्डेनीलिस के जलडमरू को सभी देशों के जहाजों व व्यापार के लिये स्थायी रूप से खोल दिया जाय।

13. पौलैण्ड को एक स्वतंत्र राष्ट्र बनाया जाय, जिसमें असंदिग्ध रूप से पोल जाति के लोग ही रहते हों। उसे समुद्र तट तक जाने के लिये एक स्वतंत्र और सुरक्षित मार्ग दिया जाय और उसे अपनी राजनैतिक व आर्थिक स्वाधीनता तथा प्रादेशिक अखंडता का, अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के द्वारा आश्वासन दिया जाय।

(ग) राष्ट्रसंघ :—चौदहवें बिन्दु में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सुझाव था। निश्चित शर्तों के आधार पर सभी राष्ट्रों का एक ऐसा व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाया जाय, जिसमे बड़े और छोटे सभी राष्ट्रों को राजनैतिक स्वतंत्रता और प्रादेशिक अखंडता की पारस्परिक गारंटी दी जाय।

चार सिद्धान्त :—11 फरवरी 1918 को विलसन ने कांग्रेस में चार मुख्य सिद्धान्तों की घोषणा की :—

1. शांति संधियों का प्रत्येक भाग न्याययुक्त एवं स्थायी हो।

2. दूसरे, जनता और प्रदेशों को घरेलू सामान की भांति एक प्रभु से दूसरे प्रभु को हस्तान्तरित नहीं किया जाय।

3. तीसरा सिद्धान्त यह था कि प्रत्येक भूमि सम्बन्धी परिवर्तन वहां के निवासियों के हित में किया जाय।

4. प्रत्येक स्पष्ट राष्ट्रीय आकांक्षा की अधिकतम संतुष्टि की उचित व्यवस्था हो।

4 जुलाई के चार लक्ष्य :—4 जुलाई के माउन्ट वरनन के भाषण में विलसन ने स्पष्ट कहा था, "अमेरिका का महान् उद्देश्य संगठित जनमत एवं शासितों की इच्छा से विश्व में कानून के आधार पर शांति स्थापना है।"

विलसन के चार लक्ष्य —(1) हर एक निरंकुश शक्ति की समाप्ति, चाहे वह किसी भी स्थान पर क्यों न हो; (2) किसी भी प्रश्न का हल वहां के संबंधित लोगों के द्वारा न कि भौतिक हितों के आधार पर; (3) राष्ट्रों के लिए बनाये गये नियमों व संबंधों के आधार पारस्परिक आदर व सभ्य समाज के सामान्य सिद्धान्तों के प्रति श्रद्धा और (4) एक ऐसी संस्था की स्थापना जो शांति बनाये रखेगी व न्याय की व्यवस्था करेगी, थे।

पांच टिप्पणियां :—न्यूयार्क में 27 सितम्बर को विलसन ने पांच टिप्पणियों की घोषणा की थी। जो संक्षेप में ये हैं :—

1. निष्पक्ष न्याय

2. किसी भी एक राष्ट्र अथवा गुट के विशेष हित की स्वीकृति नहीं दी जाय,

3. राष्ट्रसंघ मे कोई विशेष सधि अथवा स्वार्थपूर्ण समझौता नही हो।

4. राष्ट्रसंघ के सदस्यों में किसी प्रकार का भेदभाव अथवा स्वार्थपूर्ण आर्थिक गुटबन्दी, न हो।

5. अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों का विश्व मे प्रचार होना चाहिए। आदर्शवादी विलसन ने पेरिस जाने से पहले ही इस प्रकार की योजना प्रस्तुत की थी। उन्होंने यह भी घोषित किया कि यदि उनकी कल्पना साकार नहीं होने पावेगी तो वे प्रशान्त महासागर के किसी अनजान टापू में अपना शेष जीवन बिता देंगे।

IV. रूसी क्रांति का शांति सम्मेलन पर प्रभाव :—7 नवम्बर 1917 की महान् रूसी क्रान्ति ने निरंकुश जारशाही शासन का अन्त कर दिया। लेनिन के नेतृत्व में नई सोवियत सरकार स्थापित हुई। विलसन और लायड जार्ज रूसी प्रतिनिधि को पेरिस के शांति सम्मेलन में भाग लेने के लिये बुलाना चाहते थे। परन्तु क्लीमेन्सो और ओरलैण्डो ने इसका तीव्र विरोध किया। विलसन के निजी प्रतिनिधि बुलिट ने एजियन समुद्र के प्रीकिपो द्वीप मे रूसी प्रतिनिधियों से वार्तालाप किया। लेनिन ने पेरिस सम्मेलन में भाग लेने के लिये केवल साम्यवादी सरकार के प्रतिनिधित्व की ही मांग की, जो मित्र राष्ट्रों ने अस्वीकार की और वार्तालाप असफल रहा। परिणामस्वरूप शाति सम्मेलन मे रूस ने भाग नही लिया। रूसी क्रांति के शाति सधि पर निम्नलिखित प्रभाव पड़े :—

1. जिन गुप्त संधियों में रूस था, उनको व्यावहारिक रूप न दिया जा सका। फलस्वरूप कुस्तुन्तुनिया तुर्की के अधिकार में रह गया।

2. रूमानियां का विस्तार एवं पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया का निर्माण, जो कि आंशिक रूप से अतीत के रूसी क्षेत्रों से हुआ था, संभव हो सका।

3. फ्रांस के परम मित्र रूस ने उसका साथ छोड़ दिया एवं सुरक्षा की खोज में फ्रांस पूर्वी यूरोप के नये राष्ट्रों से सधि करने का प्रयास करने लगा।

4. किसी भी बड़े राष्ट्र ने साम्यवादी रूसी सरकार को मान्यता नही दी और इसी कारण 15 वर्ष तक रूस राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वंचित रहा।

5. रूस की अनुपस्थिति मे समस्त युद्धोत्तर शांति व्यवस्था का निर्माण किया गया। विश्वक्रांति की रूसी नीति ने मित्र राष्ट्रो को इतना प्रभावित किया था कि वे शांति समझौते में इसके लिये पूर्ण सतर्क रहे। धीरे-धीरे रूस एक शक्तिशाली अपरिचित राष्ट्र के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधि में भाग लेने लगा।

V. प्रमुख मित्र राष्ट्रों की राष्ट्रीय नीति :—प्रमुख मित्र राष्ट्रो में ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, इटली एवं जापान थे। इन सबमें अमेरिका के अतिरिक्त सभी की राष्ट्रीय नीति स्वार्थपूर्ण थी। इसकी पूर्ति के लिये सभी सचेष्ट थे तथा अपने स्वार्थों की रक्षा का आश्वासन जनता को दे चुके थे। इस कारण शाति समझौते की संधियां इनकी

नीतियों से प्रभावित थी। यहाँ संक्षेप में विभिन्न देशों के दृष्टिकोणों का वर्णन किया जा रहा है :—

ब्रिटेन :—भौगोलिक स्थिति, इतिहास, आर्थिक नीति, औद्योगिक स्वार्थ, शक्ति संतुलन, औपनिवेशिक साम्राज्य, पूँजी की वृद्धि आदि तत्वों ने ब्रिटेन की विदेश नीति को अधिक प्रभावित किया। पेरिस सम्मेलन में ब्रिटेन नौशक्ति में प्राधान्य, निजी व्यापार के लिये औपनिवेशिक व्यापारिक मार्गों का संरक्षण और इच्छानुसार शक्ति सन्तुलन बनाये रखने का एकाधिकार चाहता था। फ्रांस से मित्रता, इटली से बन्धुत्व, अमेरिका से मैत्री तथा जर्मनी की सम्पत्ति को हथिया लेना, ब्रिटेन की नीति के आधार एवं उद्देश्य थे।

फ्रांस :—इतिहास, भूगोल तथा जनसंख्या की वृद्धि ने फ्रांस को जर्मन विरोधी राष्ट्र बना दिया था। 50 वर्ष में दो बार आक्रमणों द्वारा जर्मनी ने फ्रांस को पराजित किया था। इस कारण फ्रांस जर्मनी की शक्ति को पूर्ण रूप से नष्ट कर देना चाहता था। जर्मनी के पश्चिमी क्षेत्र में प्राकृतिक सीमान्त—कोयला व लोहे की खान—पर आधिपत्य, जर्मनी का पूर्ण निःशस्त्रीकरण, भारी क्षति-पूर्ति, आस्ट्रिया व जर्मनी के एकीकरण को रोकना, समुद्र पार के जर्मन उपनिवेशों पर अधिकार करना आदि फ्रांस के उद्देश्य थे।

अमेरिका :—अमेरिका निर्दिष्ट सिद्धान्तों के आधार पर नीति निर्धारित कर उसको व्यावहारिक रूप देना चाहता था। इन प्रमुख सिद्धान्तों में से आत्म-निर्णय का सिद्धान्त, खुली वार्ता, उन्मुक्त आवागमन, निःशस्त्रीकरण, समान आर्थिक सुविधायें, औपनिवेशिक जनता के विकास की व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सहयोग आदि महत्वपूर्ण हैं। परन्तु वास्तव में इन सभी सिद्धान्तों को पूर्ण रूप से व्यावहारिक रूप न दिया जा सका; क्योंकि अन्य राष्ट्रों के स्वार्थों को भी स्वीकार करना आवश्यक था।

इटली :—इटली ने प्रथम विश्वयुद्ध में निजी स्वार्थ की पूर्ति के लिये मित्र-राष्ट्रों से आश्वासन प्राप्त करने के पश्चात् युद्ध में योगदान किया था। साधारणतः इटली की नीति सीमान्त में इटली निवासियों को इटली के आधीन बनाना, सुरक्षा प्रदान करना, युगोस्लाविया के विस्तार का विरोध और एड्रियाटिक समुद्र पर प्रभुत्व एवं उत्तरी-अफ्रीका में औपनिवेशिक साम्राज्य का विस्तार, मुख्य उद्देश्य थे। भूमध्यसागर को इटली अपनी झील बनाना चाहता था। आत्मनिर्णय के सिद्धान्त, सामरिक महत्व एवं सुरक्षा की पूर्ति, ऐतिहासिक तथ्य आदि इटली के दावे के विशेष आधार थे। परन्तु ब्रिटेन, फ्रांस या अमेरिका की अपेक्षा इटली की आन्तरिक दुर्बलता के कारण पेरिस में उसका प्रभाव अत्यन्त सीमित था। उसकी मांगों, विशेषकर फ्यूम समस्या, ने स्थिति को गंभीर बना दिया था। इस प्रकार इटली की राष्ट्रीय नीति अन्तर्राष्ट्रीय भावना की पूर्ण विरोधी थीं। इटली का सन्तुष्टिकरण, सम्मेलन के लिये एक कठिन समस्या था।

जापान :— जापान की नीति साम्राज्यवादी थी। वह एशिया में अपना विस्तार करना चाहता था। प्रथम विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्र के पक्ष में योगदान देकर जापान एक महान् शक्ति बन गया। शांति सम्मेलन में जापान का मुख्य उद्देश्य गुप्त-संधियों को क्रियान्वित करना था, जिसमे ब्रिटेन ने उससे प्रशान्त महासागर में जर्मन उपनिवेशों के अंश देने का वायदा किया था। परन्तु विलसन के विरोध के कारण प्रशान्त महासागर के जर्मन द्वीपों को राष्ट्रसंघ के नियंत्रण में 'स' श्रेणी का आदिष्ट क्षेत्र बना दिया गया। शान्टूग प्रश्न ने इतना गम्भीर रूप धारण किया कि अन्त में यह समझौता हुआ कि शान्टूग पर जर्मनी का अधिकार समाप्त कर दिया जाय। परन्तु उस पर किसका अधिकार होगा; इसकी व्यवस्था संधि में नहीं की गई थी। वास्तव मे इस पर 1915 से ही जापान का सामरिक अधिकार था। क्योंकि यह स्थान चीन ने जर्मनी को पट्टे पर दिया था, इसलिए चीन ने इसकी मांग की। परन्तु मित्र राष्ट्रों ने इस पर कोई निर्णय नही लिया। इससे असन्तुष्ट होकर चीन ने संधि पर हस्ताक्षर नहीं किये। इस प्रकार जापान सम्मेलन मे अपना स्वार्थ पूरा करने मे ही लगा था। उसने अपना स्वार्थ पूरा करने के लिये धमकी से ही काम लिया।

VI. राष्ट्रीयता का उदय :—जब यूरोप की महान् शक्तियाँ अपनी सुरक्षा के लिये योजनायें प्रस्तुत कर रही थी, तब दक्षिण-पूर्वी यूरोप के क्षेत्रों में नवीन राष्ट्रीयता की लहर दौड रही थी। इनमें से कुछ क्षेत्रो से संबंधित राष्ट्रीय सरकारें पहले ही बन चुकी थी और देश अथवा विदेश मे राष्ट्रीय मान्यता के लिये कार्यरत थीं। इन्हे मान्यता देने का प्रश्न, एक बड़ी सीमा तक, निम्न कारणों ने पहले ही निश्चित कर दिया था :—

(1) यूरोपीय शक्तियाँ विश्व के भयंकरतम युद्ध से थकी हुई थी, उन्हें शांति और विश्राम की इतनी आवश्यकता थी कि वे किसी अन्य सैनिक कार्यवाही के लिये प्रस्तुत न थीं। अत: उनमें इस नई राष्ट्रीयता की लहर को दबाने की इच्छा व साधनो का अभाव था।

(2) दूसरे, शाति-संधि के पूर्व के वक्तव्यों व 14 बिन्दुओं में यह स्पष्ट किया गया था कि यूरोप के नये मानचित्र के निर्माण करते समय राष्ट्रीयता की भावना का ध्यान रखा जायेगा।

(3) तीसरे, यूरोप के जिन दक्षिण-पूर्वी क्षेत्रो में नवीन राष्ट्रों की मांग की जा रही थी, उनमें महान् शक्तियों की व्यक्तिगत रुचि नहीं थी। अत. उन्होंने इस मांग का सबल विरोध नही किया।

(4) चौथे, इन राष्ट्रो में कुछ सच्चे देश भक्तों ने सर्वस्व त्याग करके विदेश में स्वाधीनता संग्राम प्रारंभ कर दिया था और वे अपने राष्ट्र की मान्यता के लिये गुप्त रूप से कार्य कर रहे थे। इन्ही के प्रयत्नों के फलस्वरूप चैकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया पोलैंड आदि नवीन राष्ट्रों का निर्माण हो सका।

1. चैकोस्लोवाकिया :—आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य के अधीन स्लाव जाति की दो प्रमुख शाखायें थीं—चैक और स्लोवाक्स. इन दोनों शाखाओं ने मिलकर चैकोस्लोवाकिया के निर्माण के लिये राष्ट्रीय संघर्ष प्रारंभ किया। देशभक्त लोग आस्ट्रिया के शासन से असन्तुष्ट थे और उनका कहना था कि वे 1620 के पूर्व स्वतंत्र थे। इसी आधार पर बहुत समय तक प्राग विश्वविद्यालय राष्ट्रवादी विचार-धाराओं और कार्यक्रमों का केन्द्र रहा। यहीं दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक थोमस गैरीग्यु मैसेरिक (1850—1937) और उनके प्रतिभावान शिष्य एडवर्ड बेनेस (1884—1948) ने भी राष्ट्रीयता-आन्दोलन गुप्त रूप से प्रारंभ किया। मैसेरिक ने इटली, फ्रांस, रूस व अमेरिका की यात्रा कर वहां चैकोस्लोवाकिया के निर्माण के पक्ष में जनमत तैयार किया व अपने कार्य-क्रमों के लिये धन एकत्रित किया। उन्हें अमेरिका स्थित 10 लाख चैक लोगों की सहानुभूति भी प्राप्त हुई। मैसेरिक ने बेनेस से गुप्त पत्र-व्यवहार जारी रखा। उसने 1915 में पेरिस में 'चैक राष्ट्रीय समिति' की स्थापना की और उसकी शाखायें लन्दन व वाशिंगटन में स्थापित की। मई 1918 मे वे राष्ट्रपति विलसन से मिले और उन्होंने चैकोस्लोवाकिया के स्वतंत्र राष्ट्र के संबंध में आश्वासन प्राप्त किया। 3 सितम्बर 1918 को जर्मनी की पराजय के पूर्व ही पेरिस मे मित्र राष्ट्रो ने चैकोस्लोवाकिया की यथार्थ प्रभुता स्वीकार कर ली। यह चैकोस्लोवाकिया के राष्ट्रप्रेमी लोगों की महान् विजय थी। 18 अक्टूबर 1918 को चैकोस्लोवाकिया की पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा की गई और हैप्सबर्ग वंश का पतन हो गया। 10 दिन पश्चात् गुप्त रूप से प्राग में अस्थायी सरकार की स्थापना व आस्ट्रिया सरकार के प्रभुत्व की समाप्ति की घोषणा कर दी गई। 14 नवम्बर को मैसेरिक राष्ट्रपति, व बेनेस विदेशमंत्री घोषित किये गये। इस प्रकार घटना-क्रमो ने चैकोस्लोवाकिया के भाग्य को पेरिस सम्मेलन के पूर्व ही निश्चित कर दिया।

2. युगोस्लाविया :—सर्वस, क्रोट व स्लोविन जातियों ने संयुक्त रूप से एक राष्ट्र की मांग प्रारंभ की। प्रथम महायुद्ध के पूर्व ही इन लोगों ने अपने आन्दोलन को गति दे दी और विदेशों में भी युगोस्लाविया के निर्माण के लिये जनमत तैयार करना प्रारंभ किया। सर्व जाति संयुक्त रूप से महान् सर्बिया की मांग व आस्ट्रिया से मुक्ति का आन्दोलन कर रही थी। इनमें तीन प्रमुख वर्ग—सर्वस, क्रोट व स्लोविन—सम्मिलित थे। इस आन्दोलन के फलस्वरूप ही सिराजिवो का हत्याकाण्ड और फिर प्रथम महायुद्ध प्रारंभ हुआ। देशभक्त सर्वो ने मई 1915 में लन्दन में युगोस्लाव समिति की स्थापना की व इसकी शाखा वाशिंगटन मे खोली। सर्व लोग बोसनिया, सर्विया व मोन्टिनीग्रो में फैले हुये थे और यह समिति इन्हें संयुक्त कर एक राष्ट्र युगोंस्लाविया का निर्माण करना चाहती थी। 1917 में सर्विया की पराजय पर प्रधानमंत्री निकोल पासिच ने कोर्फ्यू द्वीप मे शरण ली। यहीं युगोस्लाव राष्ट्रीय समिति के प्रतिनिधि भी आये और यहां 20 जुलाई 1917 को स्वतंत्रता की घोषणा की गई और निर्वाचित वैधानिक सभा द्वारा संविधान बनाना निश्चित हुआ। यही घोषणा स्वतंत्र

युगोस्लाविया की जन्म तिथि मानी जाती है। इन घटनाओं ने भी पेरिस सम्मेलन में युगोस्लाविया के भाग्य को पूर्व निर्णित कर दिया। अतः अक्टूबर 18, 1918 को उसकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली गई। इसी सिलसिले मे राष्ट्रपति विलसन ने कहा कि युगोस्लाविया के लोगों की आकांक्षाओं को देखते हुये केवल उनके स्वशासन से ही उनकी इच्छायें पूर्ण नहीं होंगी और आस्ट्रिया हंगरी की सरकार ही सही निर्णायक है कि वह उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता दे।

3. पोलैण्ड :—बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ मे पोलैण्ड बन्धनों में था। लगभग ढाई करोड़ पोल्स विदेशी प्रभुसत्ता के अधिकार में थे। 1795 के विभाजन के बाद से ही ये आस्ट्रिया, रूस व जर्मनी के अधिकार क्षेत्र में बिखरे हुये थे। जब प्रथम महायुद्ध प्रारंभ हुआ तो पोलिस स्वतंत्रता प्रेमी रोमन डमोवस्की स्विट्जरलैण्ड भाग गया और वहाँ उसने नवम्बर 1915 में एक पोलिस-राष्ट्रीय समिति संगठित की, जिसे बाद में पेरिस स्थानान्तरित कर दिया गया। इस समिति ने पोलिस स्वतन्त्रता के लिये धन दिया एव उन 50 हजार पोल स्वयंसेवकों की एक सेना निर्मित की, जो मित्र-राष्ट्रों के साथ लड़े थे। एक वर्ष पश्चात् रूस ने पोल लोगों को एक संयुक्त व स्वशासित राज्य का एवं जर्मनी ने एक स्वतंत्र राजतंत्र व संविधान का वायदा किया। 1917 में प्रसिद्ध नेत्रहीन संगीतज्ञ इगनेस पेडरोवस्की के प्रचार एवं प्रयास से उक्त समिति को मित्र राष्ट्रों की मान्यता प्राप्त हुई। 1918 में पेडरोवस्की राष्ट्रपति विलसन से भी मिले और उन्होंने स्वतंत्र पोलैण्ड की मांग को 13 बिन्दुओं में स्थान दिलवाया। 6 अक्टूबर 1918 को राज परिषद् ने एक स्वतंत्र व संयुक्त पोलैण्ड की घोषणा की। पेडरोवस्की ने अब परिषद् को भग कर दिया और राज्य के सर्वोच्च पद पर आसीन हो गये। ये सब घटनायें शांति सम्मेलन के प्रारंभ होने के पूर्व ही घट चुकी थी; संयुक्त पोलैण्ड की कल्पना ने साकार रूप धारण कर लिया था और शांति सम्मेलन मे पेडरोवस्की का कार्य अब मात्र नवीन पोलैण्ड की सीमा निर्धारण करवाना था।

4. अन्य प्रदेशों में राष्ट्रीय आन्दोलन :—जब प्रथम महायुद्ध चल रहा था, तभी राष्ट्रीय राज्यों के जन्म हेतु बाल्टिक राज्यों में क्रांति हुई। इसके फलस्वरूप नवीन राष्ट्रों—यथा लैटविया, लिथुआनिया, फिन्लैंण्ड, एस्थोनिया व युक्रेन का जन्म हुआ उधर लेनिन ने अल्प-संख्यकों के लिये आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को मान्यता दी थी और परिणाम स्वरूप अजरबाजान, जोर्जिया, अर्जेनिया, मोल्डेविया आदि नवीन गणतंत्रों का जन्म हुआ।

महायुद्ध के समय ही 2 नवम्बर 1917 को बालफोर ने फिलस्तीन में 'यहूदियों को एक राष्ट्रीय स्थान' दिलवाने की घोषणा की। अरबों को भी गुप्त संधि द्वारा एक स्वतंत्र अरब राष्ट्र का आश्वासन दिया गया। बवेरिया (जर्मनी) आस्ट्रिया व हंगरी में भी क्रांतिकारी सरकारें स्थापित हुई व उन्होंने गणतंत्र की घोषणा कर प्रजातंत्र के पुजारी राष्ट्रपति विलसन से निरंकुश शासन के विरुद्ध सहानुभूतिपूर्ण प्रजातांत्रिक शर्तों की मांग की। बल्गेरिया जर्मनी व आस्ट्रिया में क्रमशः राजा फर्ड-

रिक, कैसर विलियम द्वितीय व चार्ल्स ने स्वेच्छा से सिंहासन छोड़ दिया। तुर्की में मुस्तफा कमाल पाशा ने भी सुलतान मुहम्मद षष्ट के निरंकुश शासन के विरुद्ध गणतन्त्र की मांग की, जिन्हें अन्त में अपने लक्ष्य में सफलता मिली।

VII. अन्यान्य तत्त्व—पेरिस के शांति सम्मेलन को प्रभावित करने वाले कुछ अन्य महत्वपूर्ण तत्व भी थे। इनमें मित्र-राष्ट्रों के व्यक्तिगत इतिहास पर आधारित वे पारस्परिक प्रजातीय, आर्थिक, सांस्कृतिक, सीमा-संबधी, राजनैतिक विचार, राष्ट्रीय सम्मान, सुरक्षा व सामरिक भेद थे, जो युद्धकाल में ओझल हो गये थे, किन्तु अब वे फिर उभर आये थे और सभी राष्ट्र इनके प्रति सजग थे। दूसरे, महत्वपूर्ण व्यक्तित्वों, यथा—आदर्शवादी विलसन, प्रतिहिंसापूर्ण क्लीमेन्सो, दूरदर्शी लायड जार्ज व अवसरवादी ओरलैण्डो की भी शांति संधि पर छाप पड़ी। तीसरे शांति सम्मेलन का स्थान पेरिस महानगरी जर्मनी के विरुद्ध प्रतिहिंसा की भावना से ओत-प्रोत थी। यहां का दूषित वातावरण एवं फ्रांसीसी प्रेस का हिंसात्मक प्रचार निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण शांति के लिये उपयुक्त न था। मित्र राष्ट्रों की तात्कालिक आर्थिक व सामरिक स्थिति, उनके राष्ट्रों का जनमत, पुनर्वास की समस्या आदि ने भी पेरिस सम्मेलन को प्रभावित किया। इसी प्रकार के अनेक अन्य कारणों ने भी—जो कि युद्ध की पृष्ठभूमि व युद्धकाल में थे—पेरिस सम्मेलन के नाटक को पूर्व निश्चित कर दिया था।

पेरिस का शांति सम्मेलन (18 जनवरी से 28 जून 1919)

विराम संधि शांति के लिये पहला सोपान है। स्थायी शांति के लिये काफी समय तक गंभीर विचार करना पड़ता है। युद्ध बन्द होने और शांति सम्मेलन की प्रथम बैठक होने तक दो महीने बीत गये। विलम्ब का कारण, इंग्लैण्ड में 14 दिसम्बर 1918 को सम्पादित आम चुनाव था। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी हुआ कि राष्ट्रपति विलसन दिसम्बर से पूर्व यूरोप नहीं पहुँच सके।

पेरिस का शांति सम्मेलन अपने आप में एक अभूतपूर्व एवं महत्वपूर्ण सभा थी। इसमें भूतपूर्व संधियों की अपेक्षा अनोखी बात यह थी कि संधि की शर्तें निश्चित् करने के लिये दोनों पक्षों के बदले केवल विजयी पक्ष ने ही समस्त निर्णय किये। इस संधि की दूसरी विशेषता यह थी कि इसने अधिनायकवाद, सन्तुष्टीकरण की नीति एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के बीज अंकुरित किये।

जनवरी 1919 का यूरोप का मानचित्र 1914 के मानचित्र से भिन्न था। 1919 ने 1914 के बड़े साम्राज्यों का पतन देखा, जिसमें जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस व तुर्की के साम्राज्य सम्मिलित थे।

पेरिस, सम्मेलन के केन्द्र के रूप में

सम्मेलन की सभा का केन्द्र कहाँ हो, यह विषय बड़ा विवादास्पद था। इसके लिये पेरिस, लंदन, बर्लिन, जेनेवा, ब्रुसेल्स आदि के पक्ष में तर्क दिये गये। फ्रांसीसियों ने अपने पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत किये, जिनमें से उल्लेखनीय पेरिस का जर्मनी द्वारा

दो बार घेरा जाना व गोला बारी करना (1870 एवं 1911); फ्रांस के मार्शल फौश, जो कि मित्र राष्ट्रीय सेना का सेनापति था, के नेतृत्व में जर्मनी को पराजित करने का श्रेय व भौगोलिक दृष्टि से पेरिस के केन्द्र में स्थित होने और सभी राष्ट्रों के सहज ही पहुँच सकने की सुविधा, आदि थे। इसके अतिरिक्त, फ्रांस की दृष्टि से 1870 ई० में वार्साई के शीश महल में ही जर्मनी का एकीकरण निश्चित् हुआ था। अतः फ्रांस ने मांग की, "इस संधि के हस्ताक्षर स्थल का श्रेय भी शीश महल को ही प्राप्त हो। फ्रांस ने यह तर्क भी प्रस्तुत किया कि उसे ही सबसे अधिक विनाश का सामना करना पड़ा है; अतः सम्मेलन के केन्द्र का सम्मान उसे ही प्राप्त होना चाहिये। इन सब बातों को देखते हुये अंतिम रूप से पेरिस को ही शांति सम्मेलन का केन्द्र बनाना निश्चित् हुआ।

रचना

जिन राष्ट्रों ने पैरिस के शांति सम्मेलन में भाग लिया उनमें विशेषज्ञ युद्ध समाप्त होने के पूर्व ही संधि संबंधी विशिष्ट तैयारी मे काफी समय से संलग्न थे। फ्रांस में दो विशेष आयोगों की स्थापना की गई थी। इनमे से एक आयोग, प्रसिद्ध इतिहास-प्राध्यापक लैविसे की अध्यक्षता मे बनाया गया था—जिसका कार्य यूरोप की ऐतिहासिक, भूमि संबंधी तथा जातिगत समस्याओं का विस्तृत अध्ययन करना था। दूसरा आयोग सिनेटर मोरेल के नेतृत्व में बनाया गया, जिसका कार्य आर्थिक प्रश्नों का विवेचन करना था। इन दोनों आयोगों की सिफारिशों का, आन्द्रे तारदयु ने, समन्वय कर, अपने ठोस सुझावों को उसने सम्मेलन में प्रस्तुत किया। ब्रिटेन में इसी प्रकार लार्ड राबर्ट सिसिल ने योजना प्रस्तुत की। जनरल जॉन स्मट्स ने भी ब्रिटेन के दृष्टिकोण का विस्तृत अध्ययन कर अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की। अमेरीका के राष्ट्रपति विलसन ने कर्नल हाउस की अध्यक्षता मे प्रसिद्ध इतिहासकार, अर्थ विशेषज्ञ, सांख्यिकी पंडितों एवं राजनयिकों को आमंत्रित कर स्थायी विश्वशांति के लिये आवश्यक तत्वों को एकत्रित किया।

सन् 1919 के आरम्भ से ही राष्ट्रों के प्रतिनिधि मंडल वहाँ आने लगे। कई मंडलों की प्रतिनिधि संख्या सैकड़ों तक थी, जिनमें सुशिक्षित कूटनीतिज्ञ, उच्च जल, थल व नभ, सैनिक पदाधिकारी, नागरिक प्रशासक, कानून विशारद, वित्त पंडित, उद्योग निर्देशक, मजदूरों के नेता, राज्य मंत्री, संसदीय सदस्य और सभी प्रकार के पत्रकार और प्रचारक सम्मिलित थे।

इस सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों की संख्या 70 थी, जिन्होंने 32 राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व किया था। बड़े 5 राष्ट्रों — अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन, इटली तथा जापान — के प्रत्येक के पाँच-पाँच प्रतिनिधि थे। बेल्जियम, सर्बिया (युगोस्लाविया) तथा ब्राजील के प्रत्येक के तीन प्रतिनिधि थे। 12 अन्य देशों के, जिनमें 4 अंग्रेजी अधिराज्य भी (भारत सहित) सम्मिलित थे, दो-दो प्रतिनिधि थे। अन्य 12 छोटे

राज्यों (देशों) के एक-एक प्रतिनिधि थे। (तालिका—देखिए)।

शान्ति सम्मेलन के प्रारम्भिक अधिवेशन में निम्न शक्तियां थीं :—

राष्ट्र	स्थान	राष्ट्र	स्थान	राष्ट्र	स्थान
संयुक्त राज्य अमेरीका	5	भारत	2	गौटेमाला	1
		चैकोस्लोवाकिया	2	हैटी	1
ब्रिटेन	5	यूनान	2	होन्डुराज	1
फ्रांस	5	हेजाज	2	लाइबेरिया	1
इटली	5	चीन	2	निकारागुआ	1
जापान	5	पोलैण्ड	2	पनामा	1
बेल्जियम	3	पुर्तगाल	2	पेरू	1
ब्राजील	3	रूमानिया	2	उरागुआ	1
युगोस्लाविया (सर्बिया)	3	स्याम	2		
		न्युज़ीलैण्ड	1	कुल स्थान	70
केनेडा	2	बोलिविया	1		
ग्रास्ट्रेलिया	2	क्यूबा	1	कुल राष्ट्र	32
दक्षिणी अफ्रीका	2	इक्वेडोर	1		

परन्तु चीन के विभाजित होने के कारण वहाँ के दो प्रतिनिधियों ने शांति सम्मेलन में भाग लिया। इस प्रकार इसमें 3 राष्ट्रपति, 11 प्रधानमन्त्री और 12 विदेशमन्त्री उपस्थित हुये। सबसे बड़ा प्रतिनिधि मंडल ब्रिटेन का था, जिसमें 600 सदस्य थे। पराजित राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को आमंत्रित नहीं किया गया क्योंकि उनका काम था तैयार किये गये संधि नियमों पर हस्ताक्षर मात्र करना। यह शांति संधि विजयी राष्ट्रों के दबाव से हुई थी, विजित राष्ट्रों के साथ समझौते से नहीं।

संगठन

सन् 1919 की 18 जनवरी को फ्रांस के विदेश सचिवालय में फ्रांस के राष्ट्रपति श्री प्वाइनकर ने शांति सम्मेलन के प्रारम्भिक अधिवेशन का उद्घाटन किया। फ्रांस के प्रधानमन्त्री श्री क्लीमेन्सो सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गये और सम्मेलन की कार्यवाही को व्यवहारिक रूप से चलाने के लिए बड़े पांच को ही नेतृत्व दिया गया। इस निर्णय से छोटे राष्ट्र हताश हो गये और उन्होंने यह सोच लिया कि सभी प्रमुख निर्णय बड़े राष्ट्रों द्वारा ही किये जायेंगे।

बड़े दस की परिषद्

10 जनवरी 1919 को सम्मेलन के उद्घाटन के एक सप्ताह पूर्व ही अनौपचारिक रूप से बड़े 10 का अधिवेशन हुआ। इनमें 5 प्रमुख राष्ट्रों के दो-दो प्रतिनिधियों को सम्मिलित कर 10 सदस्यों की एक परिषद् बनाई गई, जिसका संगठन इस प्रकार था : फ्रांस के प्रधानमंत्री क्लीमेन्सो और विदेशमंत्री पाल पिचो ; ब्रिटेन

के प्रधानमंत्री डेविड लायड जार्ज और विदेश सचिव आर्थर बालफोर ; अमेरीका के राष्ट्रपति विलसन और परराष्ट्र सचिव रावर्ट लान्सिग ; इटली के प्रधानमंत्री ओरलैंडो और विदेश मंत्री बेरोन सोनिनो एवं जापान के राजदूत मेकिनो व मातसूई । इस परिषद् के कुल 145 अधिवेशन हुये । 24 मार्च को यह परिषद् दो उपसमितियों में विभाजित हो गई — एक बड़े चार की समिति व दूसरी छोटे पाँच की समिति । बड़े चार में विलसन, क्लीमेन्सो, लायड जार्ज व ओरलैंडो थे व छोटे पाँच में विदेश मंत्री । छोटे पाँच की समिति बड़े चार द्वारा प्रस्तुत विवादास्पद विषयों पर पुनर्विचार करती व अपनी सिफारिशों को बड़े चार के सम्मुख अंतिम निर्णय के लिये रखती थी । फ्यूम के प्रश्न को लेकर अप्रेल 24 को जब राष्ट्रपति विलसन ने इटली की जनता से इस पर से अपना अधिकार छोड देने की अपील की तब ओरलैंडो और सोनिनो ने परिषद् का त्याग कर दिया । इस प्रकार बड़े चार की परिषद् बड़े तीन में परिवर्तित हो गई ।

बड़े चार

बड़े चार के प्रभावशाली व्यक्तित्व ने संधि के स्वरूप पर पर्याप्त प्रभाव डाला । संधि के अंतिम स्वरूप पर इनकी अमिट छाप पड़ी है । अतः बड़े चार के विचारों और व्यक्तित्व को समझना, पेरिस शांति सम्मेलन को भली भाँति ग्राह्य करने के लिये आवश्यक है ।

आदर्शवादी विलसन

63 वर्षीय राष्ट्रपति विलसन दो बार, सन् 1913 व 1917 में अमेरीका के राष्ट्रपति चुने गये; किन्तु नवम्बर 1918 के सिनेट के चुनावों में इनके प्रजातंत्रीय दल का बहुमत न रहने के बावजूद ये पेरिस सम्मेलन के सर्वोच्च पुजारी थे । निस्सदेह उन्होंने सम्मेलन के प्रारम्भ में ही ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त की और नयी दुनियाँ बसाने के लिये प्रयत्न किये । उनके साथी कर्नल हाउस ने लिखा है, "वह अपने प्रभाव और शक्ति के शिखर पर थे । कोई भी अन्य व्यक्ति ऐसा नहीं था जो उनसे अधिक महान् हो सकता था, क्योंकि उस समय वह दुनियाँ के नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियों के प्रवक्ता थे ।" पेरिस में उन्होंने निःस्वार्थ से सब विचार विनिमय में भाग लिया था । विख्यात जीवनी लेखक रेस्टेनर्ड बेकर का कहना है कि "जिस किसी ने भी राष्ट्रपति विलसन को काम करते देखा, उसने विलसन के समक्ष अथवा उनकी पीठ पीछे भी उनकी सहनशीलता अथवा साहस की निन्दा करने की चेष्टा नहीं की ।" उनके निजी सचिव लान्सिग ने उसी समय लिखा था, "प्रतिनिधियों में विलसन के प्रति यह साधारण भावना थी कि वह अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता व न्याय की प्रतिमूर्ति हैं ।"

आलोचकों में उनकी योग्यता के विषय में मतभेद है । निष्पक्ष लेखक विलसन हैरिस के अनुसार, "वह 14 बिन्दुओं के आधार पर विश्वशांति की स्थापना करने में आंशिक रूप से असफल रहे, परन्तु इसका कारण यह नहीं था कि उनके पास साधन

अर्थवी प्रयत्न की किसी प्रकार की कमी थी। उनके सामने केवल दो मार्ग थे, जिनमें से एक को उन्हें चुनना था या तो वह एक दोषपूर्ण समझौते को स्वीकार करें या सम्मेलन को छोड़ दें। उन्होंने प्रथम मार्ग को ही चुना और वास्तव में इतना अधिक त्याग किया, जिसका उनको स्वयं को भी अनुमान नहीं था। उनका दृढ़ विश्वास था कि राष्ट्रसंघ की स्थापना से ही धीरे-धीरे संधि की सारी त्रुटियाँ दूर की जा सकेंगी।"

ब्रिटेन के अर्थशास्त्री लार्ड कीन्स का कहना था कि "विलसन वीर या धर्मावतार नहीं थे; वे एक दार्शनिक भी नहीं थे; उनमें प्राक्चिंतन नहीं था और जब कार्य करने का अवसर आता था तो उनके विचार अपरिपक्व और अपूर्ण होते थे। उनमें शासकीय बौद्धिकता का अभाव था और उनके पास कोई पूर्व रचित योजना भी नहीं थी; न कार्यक्रम था और न ही किसी प्रकार के रचनात्मक सुझाव ही थे। वे एक ऐसे पादरी के समान थे, जिसके विचार किसी अन्य व्यक्ति से मिलते ही न थे।" विलसन की कार्य प्रणाली की गल्तियों का कारण उनका चरित्र और व्यक्तित्व था। यूरोपीय समस्याओं और राष्ट्रीय सम्बन्धों की उनकी जानकारी अत्यन्त सीमित थी। इतना होते हुये भी शांति-सम्मेलन के सब प्रतिनिधियों में राष्ट्रपति विलसन पेरिस में सबसे अद्वितीय व्यक्ति थे।

दूरदर्शी लायड जार्ज

55 वर्षीय डेविड लायड जार्ज ब्रिटेन के प्रधानमंत्री थे। वह उदार दल के नेता थे और 1916 में प्रथम बार प्रधानमंत्री बने थे। ब्रिटेन की जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिये उन्होंने 14 दिसम्बर, 1918 में आम निर्वाचन करवाये। उनके दल को बहुमत प्राप्त हुआ और कुल 632 सीटों में से संयुक्त दल को 484 स्थान प्राप्त हुये (जिसमें अनुदार को 338, उदार को 136 और श्रमिक को 10 स्थान मिले)। पेरिस सम्मेलन में लायड जार्ज का व्यक्तित्व बड़ा ही प्रभावशाली था। उस समय उनकी ख्याति चरमसीमा पर थी। वे कुशाग्र बुद्धि वाले दूरदर्शी एवं सजग और आकर्षक व्यक्ति थे। डा० ग्रुच ने ठीक ही कहा है, "अभी तक कोई भी कूटनीतिज्ञ लायड जार्ज के समान, विस्तृत ज्ञान से एक नष्ट प्रायः विश्व के पुनर्निर्माण के लिये समर्थ नहीं हुआ है। जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिये उनकी उपस्थित बुद्धि ने शांति सम्मेलन की धाराओं के निर्णय पर बड़ा प्रभाव डाला। वे सदा ही दूसरों की बात सुनने के लिये प्रस्तुत रहते थे।"

प्रसिद्ध ब्रिटिश आर्थिक परामर्शदाता कीन्स ने कहा है, "लायड जार्ज के पास अन्तर्दृष्टि थी। उनके पास 6 या 7 ऐसी ज्ञानेन्द्रियाँ थीं, जो साधारण व्यक्तियों के पास नहीं होतीं; जिनकी सहायता से वे दूसरे के चरित्र, स्वभाव तथा मन की भावनाओं का सही रूप से पता लगा लेते थे। वे मनोवैज्ञानिक कुशलता के कारण दूसरे को अत्यन्त प्रभावित करते थे; परन्तु वे सिद्धान्त-हीन और दृढ़ता रहित थे।" लान्सिग ने भी लायड जार्ज के बारे में कहा है, "बड़े चार प्रतिनिधियों मे वे सबसे कुशल,

सैजंग मस्तिष्क वाले और बुद्धिमान थे । यदि कोई प्रतिनिधि अपने अधूरे ज्ञान द्वारा गलती करते थे तो वे हँसकर उसे मजाक में टाल देते थे । वे प्रसन्नमुख, व्यवहार शिष्ट, स्वभाव में सरल एवं सभी दृष्टि से आकर्षक व्यक्ति थे । परन्तु उनका मन स्थिर नहीं रहता था और वादविवाद में वह बहुत तीव्र विरोधी थे । कूटनीतिक कला का उनमे अभाव था ।" पेरिस में उनकी सफलताओं का बहुत कुछ श्रेय उनके परामर्शदाताओं को ही है ।

संक्षेप में, लायड जार्ज के 3 मुख्य उद्देश्य थे—(1) जर्मनी को स्थल अथवा समुद्र पर इतना कमजोर बना दिया जाय कि उसमें फिर से आक्रमण करने का सामर्थ्य न हो (2) जर्मनी अपने उपनिवेशों को मित्र राष्ट्रों को दे दे और (3) जर्मनी जितना हो सके युद्ध का हर्जाना दे और युद्ध के अपराधियों को, विचार के लिये, मित्र राष्ट्रों को सौंप दे । यूरोप में शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने के उद्देश्य से वे फ्रांस को अधिक शक्तिशाली नही बनाना चाहते थे । जर्मनी की दुर्बलता से फ्रांस का ही एकमात्र लाभ हो, इस विचार के वे विरोधी थे । विन्स्टन चर्चिल ने लायड जार्ज को ही अपना एकमात्र पथप्रदर्शक माना है । उनके अनुसार, "वह एक महान् ज्ञाता थे, क्योंकि उन्होने असंपूर्ण तथ्यों को संपूर्ण किया और वाद-विवाद को समाप्त करके सफल निर्णय लिया । कोई भी ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, घटनाओं और व्यक्तियों को प्रभावित करने में, उनसे अधिक योग्य नही था । 20वी सदी के प्रथम युद्ध के इतिहास में शांति और युद्ध दोनों का ही इस एक व्यक्ति ने निर्णय किया ।"

युद्धमंत्री जान बुकन के अनुसार लायड जार्ज क्रामवेल और चैथम की श्रेणी में आते हैं । हैरोल्ड निकोलसन के मत मे उनकी कार्य प्रणाली में तीव्र गति होती थी; परन्तु उसमें उद्देश्य छिपा हुआ और पर्वत के समान स्थायी होता था । सच्ची-देशभक्ति और अन्याय के प्रति घृणा होते हुये भी उन पर यह आरोप लगाया गया कि वह चंचल और अवसरवादी थे । एक ओर सिद्धान्तवादी विलसन और दूसरी ओर प्रत्यक्षवादी क्लीमेन्सो के बीच उन्होने ऐसा सामन्जस्य स्थापित किया कि जिससे सम्मेलन सफल हुआ और इंग्लैण्ड का हित हुआ ।

प्रत्यक्षवादी क्लीमेंसो

78 वर्षीय जार्ज क्लीमेंसो की प्रतिष्ठा लायड जार्ज से किसी भी प्रकार कम नही थी । उन्हे 'शेर' का नाम दिया गया था । वह अमेरीकी 'गृह युद्ध' के समय वहाँ एक पत्र-संवाददाता थे । क्लीमेंसों का पिछला जीवन बड़ा संघर्षमय था और यह अपने वामपंथी विचारों और अपने निर्णयों पर अडिग रहने के लिये प्रसिद्ध थे । उनके विभिन्न प्रकार के अनुभव और उनकी लोकप्रियता के कारण ही 1917 से 1920 तक उन्हें फ्रांस का प्रधानमंत्री और युद्धमंत्री का पद मिला ।

शायद क्लीमेंसो पेरिस सम्मेलन में सबसे अच्छे कूटनीतिज्ञ थे । विश्व राजनीति और मानव स्वभाव का ज्ञान क्लीमेंसो में अपने साथियों की अपेक्षा अधिक था ।

वह अपने साथियों की हँसी उड़ाया करते थे। एक अवसर पर उन्होंने कहा था, "ईसा मसीह भी 'दस आदर्शों' से सन्तुष्ट हो गये थे, लेकिन विलसन 14 बिन्दुओं पर जोर दे रहे हैं।" क्लीमेंसो ने एक अन्य स्थान पर कहा था, "लायड जार्ज सोचते है कि वह नेपोलियन हैं और प्रेसीडेन्ट विलसन सोचते हैं कि वह ईसा मसीह हैं।"

वह अपने देश को बहुत महत्व देते थे। चाहे कुछ भी हो पर उनका राजनीतिक सिद्धान्त बिस्मार्क का सा था। शांति-सम्मेलन में क्लीमेंसो की कूटनीतिज्ञता का वर्णन करते हुये लान्सिंग ने लिखा है कि 'उनमे महान् नेतृत्व के सभी आवश्यक गुण थे; वह अच्छी तरह जानते थे कि कब विरोध करना चाहिये और वह जो कुछ भी हाथ में लेते, उसमें सफल होते थे।" कर्नल हाउस का कहना है कि "पेरिस सम्मेलन के अपने साथियों में वह सबसे अधिक प्रभावशाली थे। क्लीमेंसो के बारे में कोई बात छिपी नहीं है। उन्होने शांति और युद्धकाल में समान रूप से संघर्ष किया और अपने देश फ्रांस के लिये निर्भीक देशभक्त सिद्ध हुये। बहुतो को उनसे स्नेह होता था और सब ही उनकी प्रशंसा करते थे। वह स्पष्ट रूप से पुरानी व्यवस्था के पक्ष में थे।" समकालीन ब्रिटेन के अर्थ-विशेषज्ञ लार्ड कीन्स ने लिखा है, "फ्रांस के प्रति उसका वही दृष्टिकोण था जो पेरीक्लीज का एथेन्स के सम्बन्ध में—उसके प्रति अगाध स्नेह; उसके सामने एक आकर्षण था—फ्रांस; और एक अनाकर्षण—मानवता, जिसमें फ्रांस के निवासी और विशेषकर उसके सहयोगी भी सम्मिलित थे। उनका विश्वास था कि आप किसी जर्मन के साथ न तो कभी बातचीत कर सकते हैं और न उसे कभी सन्तुष्ट कर सकते है; उसे तो आज्ञा ही दी जा सकती है।" क्लीमेन्सो ने अपने देश के राष्ट्रपति प्वाइनकर और विदेश मंत्री पिचो को सम्मेलन की रंगभूमि में नही आने दिया।

क्लीमेन्सो में दो अन्य विशेषतायें थीं। वह द्विभाषी था और फ्रेंच व अंग्रेजी पर उसे अधिकार था। अतः वह दो पक्षों की बातें समझ सकता था व अपने विचार सफलतापूर्वक प्रकट कर सकता था। दूसरी ओर वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कुशल प्रणाली का प्रयोग करता था। वह भावपूर्ण एवं ओजपूर्ण भाषणों द्वारा अपने तर्क प्रस्तुत करता था, विरोधियों को धैर्यपूर्वक सुनता था एवं पहले ही बहुत बड़ी-बड़ी माँगें प्रस्तुत करता था ताकि फ्रांस के हित में उसे यथेष्ट लाभ हो जाय। फ्रांस के लिये तीन उद्देश्यों को अपने सम्मुख रखकर उसने सम्मेलन की गतिविधियों में भाग लिया। ये उद्देश्य भूमि-लाभ (अल्सेस-लोरेन व अफ्रीका में जर्मन उपनिवेशों की प्राप्ति), जर्मनी पर ऊँची क्षति-पूर्ति की रकम लादकर उसे दुर्बल बनाना व उसका नि.शस्त्रीकरण करना था। संक्षेप में, फ्रांस की सुरक्षा, उसका प्रमुख लक्ष्य था, जिसमें उसे सफलता प्राप्त हुई। इस संधि के कुछ कटु आलोचकों का यह कहना है कि अन्तिम रूप में यह सधि राष्ट्रसंघ के अनुच्छेद को छोड़कर क्लीमेन्सो की संधि थी।

अवसरवादी ओरलैण्डो

इटली का प्रधानमंत्री ओरलैण्डो विद्वान्, सहृदय और कुशल वक्ता था

सिसली का भूतपूर्व कानून का अध्यापक और चालाक कूटनीतिज्ञ था। इटली के प्रतिनिधि मंडल का यही प्रधान था। यद्यपि वह तथ्ययुक्त बात करने में कुशल था; परन्तु उसे अंग्रेजी भाषा पर अधिकार नही था। इसीलिये वह सम्मेलन में प्रमुख भाग नहीं ले सका। वह केवल उन्ही प्रश्नों को उठाता था जिनका उसके देश से सम्बन्ध था, जैसे कि पथूम प्रश्न। इसके अतिरिक्त वह इटली के विदेश मन्त्री सोनिनो के प्रभाव में भी था। इटली के शासकों में सोनिनो बड़ा जिद्दी और उग्र राष्ट्रवादी था।

जब जर्मनी के साथ समझौता करने के मसविदे पर विचार होने लगा तो चारों मुख्य राजनीतिज्ञों में विवाद उठ खड़ा हुआ। टारड्यू का कहना है कि "इस विवाद का स्वर साधारण वार्तालाप का सा था—यह तीन प्रतिनिधियों का संभाषण था जो कभी विनोद-पूर्ण और कभी भयानक रूप धारण कर लेता था। विलसन विद्वान की तरह बहस करता था, जैसे कि किसी लेख की समालोचना करता हो। लायड जार्ज पार्लियामेण्ट की प्रतिक्रिया के प्रति सदैव सचेष्ट रहते थे और कुशल निशानेबाज की तरह अपना मुँह खोलते थे। क्लीमेन्सो की तर्क विद्या बड़ी-बड़ी बातों से युक्त एवं तर्क संगत होती थी।" इन सभी के व्यक्तित्व की छाप शांति समझौते में होने वाली सभी संधियों पर पड़ी और इसी आधार पर इस शांति समझौते की आलोचना भी की जाती है।

अन्य प्रतिनिधि

इस सम्मेलन में अनेक प्रभावशाली व्यक्तियो ने भाग लिया था। इनमें यूनान के प्रधानमंत्री वेनीजेलोस प्रमुख थे जिनकी काली टोपी, सफेद मूँछें, प्रसन्न मुख व नुकीली दाढ़ी दर्शनीय थी। इन्होंने अपनी युक्ति और तर्क द्वारा अल्प-संख्यक यूनानियों के लिये तुर्की के कुशासन से मुक्ति प्राप्त की। चैकोस्लोवाकिया के युवा एवं उत्साही विदेश मंत्री एडवर्ड बेनेस इतने अधिक बुद्धिमान एवं जानकार व्यक्ति थे कि उन्होंने अपने राष्ट्र की स्वतंत्रता एवं मान्यता के लिये सफलतापूर्वक अपनी दलीलें प्रस्तुत कीं। जनरल स्मट्स ने, जो कि दक्षिण-अफ्रीका के प्रधान-मंत्री थे और अपनी सत्यनिष्ठा एवं निष्पक्ष विचारों के लिये प्रसिद्ध थे, ने राष्ट्रसंघ की विश्व में स्थायी शांति के लिये स्थापना का जोरदार समर्थन किया। प्रतिभावान लार्ड कीन्स जो कि ब्रिटेन के अर्थशास्त्री थे एवं अनुभवी राबर्ट लान्सिग जो कि अमेरिका के परराष्ट्र मंत्री थे, क्रमशः लायड जार्ज और राष्ट्रपति विलसन के लिये अनुपयोगी रहे, क्योंकि इनके पारस्परिक विचारो में भारी मतभेद था।

सम्मेलन के कार्य

जब सम्मेलन प्रारम्भ हुआ, तब उसके सम्मुख निम्नलिखित मुख्य समस्यायें थीं :—

(1) राष्ट्रसंघ की स्थापना।

(2) फ्रांसीसी सुरक्षा एवं जर्मनी की सीमायें।

(3) जर्मनी के उपनिवेशों का भविष्य।

(4) क्षति-पूर्ति प्रश्न।

(5) निःशस्त्रीकरण समस्या।

(6) जर्मनी की व्यापारिक व्यवस्था।

(7) युद्ध अपराधियों के लिये दण्ड का प्रबन्ध।

(8) फ्यूम प्रश्न।

(9) शान्टूग समस्या।

(1) राष्ट्रसंघ की स्थापना :—राष्ट्रसंघ संबंधी आयोग का अध्यक्ष राष्ट्रपति विलसन को चुना गया। कानून विशेषज्ञ स्मट्स और राबर्ट सिसिल ने विलसन को इस कार्य में योग दिया। विलसन इस संघ को राष्ट्रों से सर्वोपरि बनाकर उसे शक्तिशाली बनाना चाहते थे, किन्तु ब्रिटेन और फ्रांस ने इसे ऐच्छिक और दुर्बल संघ बना दिया। 28 अप्रैल को 26 संशोधनों के पश्चात् शांति सम्मेलन ने राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव को अंतिम रूप से स्वीकार कर लिया। अमेरिका के मनरो सिद्धान्त को मान्यता दी गई परन्तु जापान के सुझाव—राष्ट्रों के समान अधिकार को, ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया के विरोध के कारण अस्वीकृत कर दिया गया।

(2) फ्रांसीसी सुरक्षा एवं जर्मनी की सीमायें :—फ्रांस के क्लीमेंसो ने फ्रांस और रूस की गुप्त संधि (1917) और फ्रांस की सुरक्षा तथा जर्मनी के बार-बार आक्रमण को दृष्टि में रखते हुये यह मांग की कि जर्मनी को दो भागों में बांट दिया जाय। सम्पूर्ण जर्मनी से राइन प्रदेश, जिसका क्षेत्रफल 16,000 वर्ग किलोमीटर है व जिसमें 55 लाख जर्मनवासी है, को एक स्वतंत्र राष्ट्र घोषित कर दिया जाय। लायड जार्ज ने इसका तीव्र विरोध करते हुये कहा कि वे एक नये अल्सेस-लारेन के समान समस्या खड़ी करना नहीं चाहते। विलसन ने भी इस दृष्टिकोण का समर्थन किया। क्लीमेंसो ने इस पर विलसन पर जर्मन-पक्षी होने का आरोप लगाते हुये सभा कक्ष से प्रस्थान कर दिया। स्थिति इतनी गंभीर हो गई कि सम्मेलन की भंग होने की घड़ी आ गई और राष्ट्रपति विलसन ने अपने जहाज वाशिंगटन को बुलाये जाने की आज्ञा दे दी। ऐसी परिस्थिति में क्लीमेंसो ने विलसन से समझौता कर लिया। राइनलैण्ड पर जर्मनी की प्रभुसत्ता मान ली गई, परन्तु इस क्षेत्र को जर्मनी के लिये सेना-रहित क्षेत्र घोषित किया गया। 15 वर्ष के लिये इस क्षेत्र पर मित्र राष्ट्रों की सेना का अधिकार होना निश्चित हुआ। सार की कोयला खानों के क्षेत्र को 15 वर्ष के लिये फ्रांस को दे दिया गया। फ्रांस की सुरक्षा हेतु उसे जर्मन आक्रमण से रक्षा का वचन देते हुये ब्रिटेन और अमेरिका ने उसके साथ संधि की। इस समझौते के कारण क्लीमेंसो, यद्यपि वह फ्रांस के हित में ही कार्य करने का प्रयास कर रहे थे, अप्रिय हो गये और कुछ ही महीनों बाद होने वाले राष्ट्रपति पद के चुनाव में हार गये। 'आत्म-निर्णय' के सिद्धान्त को लेकर क्लीमेंसो व लायड जार्ज में तीव्र मतभेद हो गया। क्लीमेंसो ने इसकी आलोचना

करते हुये कहा कि ब्रिटेन केवल अपने स्वार्थ को देखता है और फिर 'आत्म-निर्णय' जैसे आदर्श की आड़ मे दूसरों के तेल में अपना 'प्रतिष्ठा रूपी दिया' जलाने का प्रयास करता है। इधर विलसन और लायड जार्ज के पक्ष के मजबूत होने के कारण अन्त में आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को अनेक स्थानों पर लागू किया गया, जैसे उपरी साइलेशिया, स्लेजविग, यूपेन, मोरेसनेट, मालमेडी एवं सार (१५ वर्ष पश्चात्)। डानजिंग, मेमल एवं उपनिवेशों पर इस सिद्धान्त का प्रयोग नही किया गया।

(3) **जर्मनी के उपनिवेशों का भविष्य :**—राष्ट्रपति विलसन प्रारम्भ से ही उपनिवेशों को हड़पने की नीति के विरोधी थे। परन्तु फ्रांस, ब्रिटेन, दक्षिण-अफ्रीका आदि गुप्त संधि की आड़ में इन्हें अपने राज्य में मिलाना चाहते थे। जनरल स्मट्स के सुझाव पर उपनिवेशों का बँटवारा कर उन्हें आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत राष्ट्र संघ के निरीक्षण में रखा गया। यह एक प्रकार से हड़प नीति व उपनिवेशों के आत्म-निर्णय, के बीच एक मध्यम मार्ग व समझौते की नीति थी।

(4) **क्षति-पूर्ति प्रश्नः**—क्षति-पूर्ति की समस्या अत्यंत जटिल थी। उधर लायड जार्ज ने दिसम्बर 1918 के चुनाव में जनता से वायदा किया था कि संधि शर्तों द्वारा जर्मनी से सभी प्रकार की सामरिक व नागरिक क्षतियों का हरजाना वसूल किया जायेगा। ब्रिटेन के अर्थ विशेषज्ञ लार्ड कीन्स ने इसका जर्मनी के ध्वंस हो जाने के आधार पर तीव्र विरोध किया और पद त्याग भी कर दिया। क्षति-पूर्ति की समस्या सुलझाने में दो जटिल समस्यायें थीं—(1) क्षति के क्षेत्र का निर्णय एवं (2) क्षति का हरजाना, किस रूप में और कितने समय में वसूल हो। सम्मेलन ने यह निश्चित किया कि क्षति-पूर्ति का आंशिक भुगतान पाँच अरब डालर 1921 तक दे दिये जाएँ। पूर्ण राशि का निर्णय क्षति-पूर्ति आयोग को सौंपा गया।

(5) **नि.शस्त्रीकरण समस्या :**—फ्रांस को अपनी सुरक्षा के प्रति सबसे अधिक भय था। अतः फ्रांस ने जर्मनी के निःशस्त्रीकरण की माँग की जो विलसन के चतुर्थ बिन्दु के विपरीत थी। लायड जार्ज जर्मनी की नौशक्ति को भी कम करना चाहता था ताकि इंग्लैण्ड का समुद्रों पर भी प्रभुत्व बना रहे। अंत में इसका निर्णय यही हुआ कि जर्मनी की थल और जल सेना सीमित कर दी जाय। जर्मनी के अस्त्र-शस्त्रों के उत्पादन पर प्रतिबंध लगा दिया गया। एक निःशस्त्रीकरण आयोग की स्थापना भी की गई जो विश्व में निःशस्त्रीकरण की समस्या पर सुझाव दे।

(6) **जर्मनी की व्यापारिक व्यवस्था:**—जर्मनी की पनडुब्बियों ने अमेरीकी व ब्रिटिश जहाजों को भारी हानि पहुँचाई थी। अतः लायड जार्ज ने जर्मनी के व्यापार को सीमित करने के लिये उनके जहाजों (1600 टन से ऊपर) की माँग की। जर्मनी की खानों से फ्रांस, बेल्जियम व इटली को 10 वर्ष तक कोयला देने ; 3 वर्ष तक फ्रांस को रासायनिक पदार्थ देने; उपनिवेश में चल सम्पत्ति को जब्त करने; राइन नदी के नौका द्वारा व्यापार को नियंत्रित करने आदि आदेशों को जर्मनी पर जारी किया गया।

(7) युद्ध अपराधियों के लिये दण्ड का प्रबन्ध :—लायड जार्ज और क्लीमेंसो ने जर्मनी को ही इस युद्ध के लिये उत्तरदायी ठहराया। अन्तर्राष्ट्रीय शांति संधि को भंग करने के अपराध में कैसर विलियम द्वितीय को दण्ड देने का कार्य एक विशेष न्यायालय को सौंपा गया। कुल 890 जर्मन अधिकारियों को अपराधियों की सूची में सम्मिलित किया गया। इनमें से फ्रांस व बेल्जियम—प्रत्येक ने 334 व ब्रिटेन ने 97 अपराधियों के नाम प्रस्तुत किये, परन्तु हालैंड द्वारा कैसर को आश्रय देने से विचार करना असंभव हो गया। अन्त में केवल 6 अधिकारियों को ही जर्मन सरकार द्वारा सामान्य दण्ड दिया गया।

(8) फ्यूम प्रश्नः—सन् 1915 में की गई लंदन गुप्त संधि के अनुसार इटली ने शांति सम्मेलन मे फ्यूम की मांग, निम्न आधारों पर की :—

(i) यहां इटलीवासी अधिक संख्या में थे;

(ii) जलमार्ग द्वारा यह इटली से मिला हुआ था, जबकि पहाड़ों ने इसे अन्य राज्यों से अलग कर दिया था।

(iii) ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह इटली को मिलना चाहिये, क्योंकि यह रोमन साम्राज्य का अंग था तथा 1797 तक यह वेनिस के गणतंत्र के आधीन रह चुका था।

परन्तु वास्तव में फ्यूम पर अधिकार करने का इटली का मूल उद्देश्य एड्रियाटिक समुद्र पर नियंत्रण तथा युगोस्लाविया के विस्तार को रोकना था। इस उद्देश्य की पूर्ति का स्वर्णावसर उसे आस्ट्रियन साम्राज्य के विघटन से मिला था।

विलसन ने इन आधारों पर इटली की मांग का विरोध कियाः— (i) यदि फ्यूम इटली को दिया जाय तो इससे आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का खंडन होता है, क्योंकि फ्यूम शहर में इटली के समर्थक बहुसंख्यक थे, परन्तु आस-पास के इलाकों में स्लाव जाति का आधिक्य था जो कि इटली से मिलना नहीं चाहते थे; (ii) यदि फ्यूम इटली को मिल जाता तो इससे पूर्वी तथा केन्द्रीय यूरोप के नव-निर्मित राष्ट्रों को समुद्र तट तक पहुँचने का मार्ग न मिल पाता; और (iii) इटली के पास एड्रियाटिक सागर में वेनिस नामक बन्दरगाह था। इस कारण फ्यूम की मांग निराधार थी। इन विरोधी विचारों के कारण इस समस्या का समाधान न हो सका। इसके पश्चात् 23 अप्रेल 1919 को राष्ट्रपति विलसन ने इटली की संसद के निम्न सदन में व्यक्तिगत रूप से यह अपील की कि वह अपने इस स्वार्थ को त्याग कर न्याय एवं शांति के आधार पर इस समस्या का निर्धारण करें। इटली के प्रधानमंत्री ओरलैण्डो विलसन के इस कार्य से रुष्ट होकर सम्मेलन से रोम लौट आये। ओरलैण्डो ने अपने देश की संसद के समर्थन से प्रेरित होकर पुनः पेरिस सम्मेलन मे भाग लिया। कुछ समय पश्चात् गृहनीति मे मतभेद के कारण 19 जून को उसने पद त्याग दिया। उसके स्थान पर निटि प्रधान मंत्री बने। इस समस्या के समाधान में विलसन को आंशिक सफलता

प्राप्त हुई। फ्यूम मित्र-राष्ट्रों को इस शर्त पर दिया गया कि वे यहां के निवासियों के के हित को ध्यान में रखकर उसके भाग्य का निर्णय करेंगे। इस निर्णय से क्रुद्ध होकर इटली के 10,000 उग्र राष्ट्रवादी युवक देशभक्तों ने गेब्रियल डी एनोनजियो के नेतृत्व में अल्प काल के लिये इस पर अधिकार कर लिया। युगोस्लाविया ने इटली के आक्रमण की निन्दा कर मित्र राष्ट्रों से सहायता की प्रार्थना की। 1924 की रपोलों की संधि के अनुसार इटली का फ्यूम नगर तथा संलग्न क्षेत्र-वेरोस बन्दरगाह यूगोस्लाविया को मिला। इस प्रकार इस समस्या का हल हुआ।

(9) शान्टूग समस्या :—पेरिस के शांति-सम्मेलन में चीन से दो सरकारों के प्रतिनिधि आये थे। केन्टन की सरकार का प्रतिनिधित्व वेलिंगटन ने व पेकिंग का अल्फेड ने किया था। शान्टूग प्रदेश, 1915 की पेकिंग संधि के अनुसार चीन की पेकिंग स्थित सरकार ने जापान को दे दिया था। यह प्रदेश 1898 में चीन ने 99 साल के लिये जर्मनी को पट्टे पर दिया था। इस संधि को केन्टन सरकार ने मान्यता नहीं दी। साथ ही उसने पेरिस के शांति सम्मेलन में इस बात की मांग की कि शान्टूग प्रदेश चीन को दे दिया जाये। उसने जापान पर यह आरोप भी लगाया कि उसने बल प्रयोग द्वारा इस प्रदेश को जर्मनी से हड़प लिया था।

इसके उत्तर में जापान ने इस पर अधिकार बनाये रखने के लिये निम्न तर्क दिये :—

प्रथम, जापान का यह कहना था कि इस प्रदेश पर जापान के अधिकार को चीन ने 1915 की संधि में स्वीकार किया है। इस कारण इस पर उसका कानूनी अधिकार है।

दूसरे, जापान ने मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध घोषणा कर सैनिक अभियान द्वारा इस प्रदेश पर अधिकार किया है। इस कारण विजयी मित्र राष्ट्र के रूप में उसका इस पर अधिकार है। अमेरिका के आदर्शवादी राष्ट्रपति विलसन ने जापान का विरोध किया। इस पर जापान ने सम्मेलन त्याग देने की धमकी दी। परन्तु साथ ही यह मौखिक आश्वासन दिया कि यदि अभी यह प्रदेश उसी के पास छोड़ दिया जाय तो वह भविष्य मे चीन से वार्ता कर प्रत्यक्ष रूप से इस प्रश्न के हल की चेष्टा करेगा। इससे पेरिस के शांति सम्मेलन में लिखित रूप से शान्टूग प्रदेश जापान को दे दिया गया, जिससे असन्तुष्ट चीन के दोनों ही प्रतिनिधियों ने सम्मेलन त्याग दिया एवं वर्साय की संधि पर भी हस्ताक्षर नहीं किये।

संधि पर हस्ताक्षर

शांति सम्मेलन ने 1646 बैठकें करके अपने 58 आयोजकों
जर्मनी संधि का मसविदा तैयार किया। 29 अप्रेल को जर्मन प्रति
मित्र राष्ट्रों के अफसर उनकी सुरक्षा की देखभाल कर रहे
"ट्रायनन पैलेस होटल" में ठहराया गया। यह होटल ...

था और जर्मन प्रतिनिधियों को मित्र-राष्ट्रों के किसी भी प्रतिनिधि से किसी प्रकार का सम्पर्क रखने की मनाही थी। 7 मई को 230 पृष्ठों की मित्र-राष्ट्रों की संधि की शर्तें जर्मन प्रतिनिधियों को दी गई जिन पर विचार-विमर्श करने के लिये उनको एक सप्ताह का समय दिया गया। क्लीमेंसो ने इस अवसर पर कहा, "समय आ गया है कि अब सारा हिसाब-किताब पूरा कर लिया जाय। आपने शांति की मांग की थी, यह हमने आपको दी; किन्तु यह हमें बहुत मँहगी पड़ी। अब हम उन सब कदमों को उठायेंगे जिनसे कि एक स्थायी शांति की स्थापना हो सके।"

शिष्टाचार के विरुद्ध, बैठे हुये ही, जर्मन विदेश मंत्री ब्रोक डोर्फ रैन्ट जोव ने रोषपूर्ण भाषा में उत्तर दिया, "हमे अपनी पराजय के विषय में कोई भ्रम नही है; हम उस घृणा की भावना से भली-भाँति परिचित हैं, जिससे कि हमारा स्वागत किया जा रहा है। हमें ही युद्ध के लिये पूर्ण रूप से उत्तरदायी ठहराया गया है, किन्तु ऐसा मेरे द्वारा कहना झूठ होगा। राष्ट्रपति विलसन के सिद्धान्त दोनों पक्षों को ही मान्य होने चाहिये।" 22 दिन पश्चात् जर्मनी ने संधि-शर्तों पर विरोधी प्रस्ताव प्रस्तुत किये। प्रस्तावों में शिकायत की गई थी कि जर्मनी ने जिन शर्तों पर आत्मसमर्पण किया था, उन सिद्धान्तों का संधि प्रस्तावों में उल्लंघन किया गया है। उनका कहना था कि नई सरकार सम्पूर्ण गणतंत्री है और वह समान अधिकार के आधार पर राष्ट्र-संघ में प्रवेश की प्रार्थी है तथा निःशस्त्रीकरण की शर्त केवल जर्मनी पर ही नहीं, अपितु समस्त राज्यों पर लागू की जाये। जर्मनी के प्रस्तावों में इस बात को अस्वीकार कर दिया गया कि सभी शर्तों को मानना संभव है। जर्मनी का कहना था कि यह वह मसविदा नही है जिसका कि आश्वासन उसको दिया गया था। संधि की शर्तें आत्म-समर्पण की शर्तों की बिल्कुल विरोधी हैं। जर्मन राष्ट्र को कुचलकर तथा उसे गुलाम बनाकर स्थायी शांति कायम नहीं हो सकती। जर्मनी ने अपर साइलेशिया, मेमल, डानजिग व सार के छीन लिये जाने का भी विरोध किया; आस्ट्रिया व बोहेमिया के लिये आत्म निर्णय की मांग की व युद्ध के उत्तरदायित्व के लिये निष्पक्ष जाँच का अनुरोध किया।

16 जून को मित्र-राष्ट्रों ने अपने उत्तर में सामान्य परिवर्तन किया, विशेषकर पोलैण्ड की सीमा के सम्बन्ध में। जर्मनी को पांच दिन के भीतर ही संशोधित संधि पर हस्ताक्षर करने को कहा गया अन्यथा आक्रमण की धमकी दी गई। शिडेमान सरकार ने सधि को अस्वीकार कर दिया और त्यागपत्र दे दिया। इसके बाद गुस्टाव-बौर प्रधानमंत्री हुये। सरकार में परिवर्तन होने के कारण मित्र-राष्ट्रों ने अंतिम तारीख में दो दिन और बढ़ा दिये। 23 जून को निर्धारित समय से दो घण्टे पहले जर्मनी के नये प्रतिनिधि हैनियल ने संधि पर हस्ताक्षर करना स्वीकार किया। उसने कहा कि "मेरा देश दबाव के कारण आत्म-समर्पण कर रहा है, परन्तु जर्मनी यह कभी नहीं भूलेगा कि यह अन्यायपूर्ण संधि है।"

राजकुमार फर्डीनेण्ड की हत्या के पाँच वर्ष पश्चात् 28 जून को दिन के 3 बजे "शीश महल" में चीन को छोड़कर जर्मनी तथा अन्य 31 मित्र राष्ट्रों ने संधि पर हस्ताक्षर किये। भारत की ओर से इस संधि पर बीकानेर के महाराजा गंगासिंह और लार्ड सिन्हा ने हस्ताक्षर किये। कर्नल हाउस ने इस उत्सव का वर्णन करते हुए लिखा है, "इसमें सद्भावना का पूर्ण रूप से अभाव था।" जर्मन प्रतिनिधि हर्मन मूलर ने जब पेरिस छोड़ा तो उन पर पत्थरों की वर्षा की गई। एक दिन पश्चात् बर्लिन के एक समाचार पत्र ने लिखा कि "हमें भूलना नही चाहिये कि जर्मन जनता को विश्व राष्ट्रों मे उपयुक्त स्थान प्राप्त करना है और तब ही वे 1919 के इस अपमान का बदला ले सकेंगे।"

शांति की संधियाँ

शांति की शर्तें पाँच संधियों में रखी गई जिनके नाम इस प्रकार हैं : जर्मनी के साथ वर्साय की संधि (28 जून 1919), आस्ट्रिया के साथ सेंट जर्मेन की संधि (10 सितम्बर 1919), बल्गारिया के साथ निऊली की संधि (27 नवम्बर 1919), हंगरी के साथ ट्रायनन की संधि (4 जून 1920), तुर्की के साथ सेवर्स की संधि (10 अगस्त 1920)। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जर्मनी के साथ संधि ही शांति-सम्मेलन की सबसे महत्वपूर्ण सफलता थी।

वर्साय की संधि (28 जून 1919)

वर्साय का संधिपत्र इतिहास में सबसे बड़ा संधि-पत्र है। इसमें 200 पृष्ठ, 80,000 शब्द, 15 भाग तथा 440 धारायें हैं। इस संधि की शर्तें निम्नलिखित हैं—

1. **राष्ट्रसंघ** :—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को कायम रखने के उद्देश्य से वर्साय की संधि ने स्थायी राष्ट्रसंघ का निर्माण किया। वर्साय की संधि की धाराओं में से प्रथम 26 धारायें 'राष्ट्रसंघ' से सम्बन्धित थीं।

2. **भूमि सम्बन्धी निर्णय** :—वर्साय की संधि की सबसे महत्वपूर्ण शर्तें भौमिक सीमाओं का निर्धारण था। इस सम्बन्ध में जो निर्णय किये गये थे उनके दो पक्ष हैं। इन निर्णयों का प्रथम भाग तो यूरोप में जर्मन की सीमाओं के निर्धारण से संबंधित है तथा इसके दूसरे भाग में जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य का बँटवारा किया गया है।

(क) जर्मनी की सीमाओं का निर्धारण :—जर्मनी की पश्चिमी सीमा पर अलसेस और लारेन (5,608 वर्ग मील) फ्रांस को दे दिये गये। मित्र-राष्ट्रों की सेना राइन नदी के बायें तट पर 15 वर्ष तक रहेगी। नदी के दक्षिणी तट के 50 किलोमीटर तक के क्षेत्र को सेना-रहित क्षेत्र कर दिया गया। यह व्यवस्था इस उद्देश्य से की गई थी की यदि जर्मनी का आकस्मिक आक्रमण हो तो उससे फ्रांस की रक्षा की

जा सके । 723 वर्ग मील के सार प्रदेश, जिसमें साढ़े छः लाख जर्मन वासी थे, की कोयले की खानें फ्रांस को दे दी गई । इस प्रदेश का शासनाधिकार राष्ट्रसंघ को दिया गया । इसके भाग्य तथा भविष्य का निर्णय 15 वर्ष पश्चात् जनमत निर्णय द्वारा करना निश्चित् हुआ । जनमत निर्णय जान लेने के पश्चात् प्रशा के मोरेसनेट, यूपेन एवं मालमेडी के क्षेत्र जो कि 384 वर्ग मील में थे तथा जिनमें 70,000 जनसंख्या थी (83% जर्मनवासी) बेल्जियम को दे दिये गये । फलस्वरूप बेल्जियम की सीमा में वृद्धि हो गई । नेपोलियन के काल के अलावा सदा ही यह प्रदेश जर्मनी के आधीन रहे थे ।

उत्तरी सीमा-प्रान्त पर स्लेजविग की समस्या का भी हल किया गया । इस प्रदेश को जर्मनी ने 1866 में बलप्रयोग द्वारा डेन्मार्क से छीन लिया था । उसी समय प्राग की 1866 की संधि की; 5वीं धारा में यह कहा गया था कि इस प्रदेश के भविष्य का निर्णय जनमत निर्णय द्वारा होगा । परन्तु यह निर्णय अब तक नहीं किया गया था । साथ ही डेन्मार्क ने राष्ट्रीयता एवं ऐतिहासिक दृष्टि से इस प्रदेश की मांग की । अन्त में जनमत निर्णय के अनुसार 1538 वर्ग मील के स्लेजविग क्षेत्र को डेन्मार्क को दे दिया गया ।
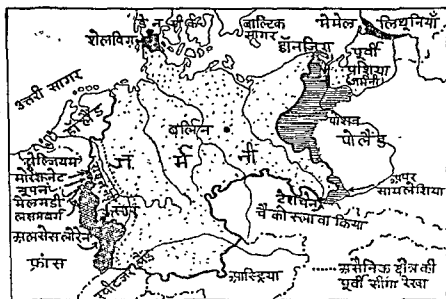
मानचित्र—1

क्षेत्र, जो जर्मनी ने प्रथम विश्व युद्ध में खोए

पूर्वी सीमा के निर्धारण की समस्या अत्यन्त जटिल थी ; क्योंकि अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन ने 13वीं शर्त में स्वतंत्र पोलैण्ड के निर्माण की मांग की थी । 13वीं सदी में बनाया गया डानजिग नामक बन्दरगाह (729 वर्ग मील) राष्ट्रसंघ के संर-

क्षण में रखा गया। केवल व्यापारिक सुविधा एवं आर्थिक अधिकार पोलैण्ड को दिये गये। बाल्टिक तट के क्षेत्र को जर्मनी से लेकर पोलैण्ड को दे दिया गया, जिसके फलस्वरूप पूर्वी एवं पश्चिमी पाकिस्तान की भाँति पूर्वी प्रशा भी जर्मनी से अलग हो गया। नवीन एवं विस्तृत पोलैण्ड के निर्माण हेतु पश्चिमी प्रशा एवं पोसेन (260 मील लम्बा एवं 80 मील चौड़ा, जनसंख्या 30 लाख) जर्मनी से लेकर पोलैण्ड को दे दिये गये। इस प्रकार पोलैण्ड को 17,806 वर्ग मील का क्षेत्र जर्मनी से मिला। मेमल नामक बाल्टिक तटवर्ती बन्दरगाह (910 वर्ग मील, जनसंख्या 25 हजार) मित्र-राष्ट्रों को दिया गया। इस प्रदेश पर 1923 में लिथुआनिया का अधिकार हो गया। मित्र-राष्ट्रों के संरक्षण में ऊपरी साइलेशिया के भविष्य के निर्णय के लिये जनमत संग्रह किया गया। प्रदेशों का आदान-प्रदान किया गया। परन्तु इसमें अधिक लाभ पोलैण्ड को हुआ था, क्योंकि उसे औद्योगिक एवं आर्थिक दृष्टि से उन्नत प्रदेश मिले; जबकि जर्मनी को कृषि प्रदेश मिला था। पोलैण्ड को 67 कोयले की खानों में से 53 मिलीं; 14 लोहे एवं इस्पात के कारखानों में से 9 मिले; 16 शीशे एवं जस्ते के कारखानों में से 11 कारखाने मिले। इसके फलस्वरूप जर्मनी की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गई। ऊपरी साइलेशिया का छोटा प्रदेश (टस्कन) जो कि 100 वर्ग मील का था, जर्मनी ने चैकोस्लोवाकिया को दिया।

इस प्रकार जर्मनी को यूरोप में कुल 28 हजार वर्ग मील की हानि हुई, जिसकी कुल जनसंख्या 65 लाख थी।

(ख) जर्मन उपनिवेश :—पेरिस शांति सम्मेलन साम्राज्यवाद-विरोधी भावनाओं से पूर्ण था। परन्तु तब भी मित्र राष्ट्रों को अपने स्वार्थों की रक्षा एवं जर्मनी के उपनिवेशों के बँटवारे से प्रदेश प्राप्त करने की लालसा थी। इसकी पूर्ति के लिये राष्ट्रसंघ के आधीन 'आदिष्ट-प्रणाली' को अपनाया गया। इस प्रकार जर्मन उपनिवेशों को विभिन्न मित्र राष्ट्रों ने अपने शासनाधिकार में ले लिया; यद्यपि इनके निरीक्षण एवं निर्देशन का अधिकार राष्ट्रसंघ के पास था। केमेरून तथा टोगोलैण्ड का विभाजन फ्रांस एवं इंग्लैण्ड में किया गया। संपूर्ण जर्मन-पूर्वी-अफ्रीका इंग्लैण्ड को मिला। रूआण्डा एवं अरुंडी वेल्जियम को आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत मिले।

जर्मन दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका, ब्रिटिश दक्षिणी संघ को आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत मिला। प्रशान्त महासागर में विषुवद रेखा के उत्तर में जर्मनी उपनिवेश मार्शल, मेरियानाडा, केरोलाइन्स आदि जापान को मिले एवं दक्षिणी द्वीप समूह, पूर्वी-न्यूगिनी एवं नाउरू आस्ट्रेलिया को तथा सेमोआ न्यूजीलैण्ड को मिला। साथ ही इन उपनिवेशों में दो उपनिवेश ऐसे भी थे जो कि आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत न होकर पूर्ण रूप से दूसरे राज्यों को दिये गये। कियोंगा नामक प्रदेश पुर्तगाल को दिया गया था तथा कियाउचाऊ या शान्टुग नामक प्रदेश जापान को दिया गया। इस प्रकार से स्पष्ट है कि ये सभी निर्णय शांति संधियों से पूर्व की गई गुप्त संधियों के आधार पर

किये गये थे। संक्षेप में, जर्मनी को प्रशान्त महासागर में 92 हजार 198 वर्ग मील एवं अफ्रीका में 60 लाख 36 हजार 800 वर्ग मील की हानि उठानी पड़ी। इस क्षेत्र की कुल जनसंख्या एक करोड़ 50 लाख थी।

मानचित्र—2

अफ्रीका में जर्मन उपनिवेशों की क्षति

3. निःशस्त्रीकरण :—जर्मन सैनिकों की संख्या 12 वर्ष के लिये एक लाख कर दी गई। जर्मन प्रधान सैनिक कार्यालय उठा दिया गया। अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद तथा अन्य युद्ध सामग्रियों का उत्पादन सीमित कर दिया गया; अनिवार्य सैनिक सेवा बन्द कर दी गई; एक साल में सारी फौज के 5 प्रतिशत से अधिक को घटाने पर रोक लगा दी गई। जलसेना 6 युद्धपोत, 6 हल्के गश्ती जहाज, 12 विध्वंसक और 12 टारपीडो जहाज तक सीमित कर दी गई और स्वयंसेवक सेना घटाकर 15 हजार कर दी गई। राइन के पूर्वी किनारे पर 30 मील तक असैनिकीकरण किया गया। पनडुब्बी जहाज का बनाना बन्द कर दिया गया। साथ ही सामरिक जहाज, जहरीली गैसें, चार इंच से अधिक मुँह की बन्दूक आदि के निर्माण को भी रोक दिया गया। विदेशों से भी, जर्मनी अस्त्र-शस्त्र नहीं खरीद सकता था और जर्मनी में भी इनका निर्माण एक सीमा तक ही हो सकता था। बाल्टिक सागर पर किलेबन्दी

की रोक लगा दी गई और हेलीगोलैण्ड का किला तोड़ दिया गया। जर्मनी के खर्च से मित्र राष्ट्रों ने अपना एक कमीशन नियुक्त किया जिसे निःशस्त्रीकरण धाराओं को क्रियान्वित किये जाने के निरीक्षण के लिये कहा गया।

4. युद्ध अपराध :—धारा 231 के अनुसार जर्मनी के सम्राट् विलियम द्वितीय को सार्वजनिक तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय नीति और संधियो के विरुद्ध अपराध करने का दोषी ठहराया गया। मित्र राष्ट्रों में अमेरीका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली और जापान ने मिलकर एक मित्र-राष्ट्रीय अदालत नियुक्त की जिसको विलियम द्वितीय के मुकदमे की जांच का भार दिया गया; परन्तु हालैण्ड, जो कि विलियम द्वितीय का आश्रय-दाता था, ने उसे सौपने से इन्कार कर दिया। 890 अन्य जर्मन अधिकारियों को भी दंड देना निश्चित् किया गया, परन्तु वास्तव मे 6 को ही दण्ड मिला।

5. क्षति-पूर्ति :—मित्र राष्ट्रों ने सारी क्षति और नुकसान की पूर्ति का उत्तर-दायी जर्मनी को ठहराया। जर्मनी से कहा गया कि 5 प्रतिशत सूद के हिसाब से वह सारी राशि बेल्जियम को लौटा दे, जो कि उसने (बेल्जियम ने) युद्ध काल में मित्र-राष्ट्रों से ऋण लिया थी। संधि में एक क्षति-पूर्ति आयोग नियुक्त करने का आदेश दिया गया था। इस आयोग का कार्य यह निश्चय करना था कि जर्मनी 1 मई 1929 से 30 वर्षों तक कितनी राशि क्षति-पूर्ति के लिये देता रहे। इसी बीच में सोना, जहाज और सिक्युरिटी कुल मिलाकर 25 अरब रुपये देने को कहा गया। जर्मनी से कहा गया कि उसके पास 44 हजार 8 सौ मन से अधिक वजन के जितने व्यापारी जहाज हैं वे सभी मित्र राष्ट्रो को सौंप दे और 5 वर्षों तक मित्र राष्ट्रों के लिये प्रतिवर्ष 56 लाख मन वजन के जहाज बनाता रहे।

6. आर्थिक :—जिन क्षेत्रों पर आक्रमण हुआ था, उन क्षेत्रों के पुनर्निर्माण के लिये जर्मनी को आर्थिक साधन लगाने को कहा गया। जर्मनी ने 10 वर्षों तक प्रतिवर्ष निम्नलिखित हिसाब से कोयला देना मंजूर किया : 19 करोड़ 60 लाख मन फ्रांस को, 22 करोड़ 40 लाख मन बेल्जियम को व 19 करोड़ 60 लाख मन इटली को। इसके अतिरिक्त उसने प्रतिवर्ष फ्रांस को 9 लाख 80 हजार मन बेन्जोल, 14 लाख मन कोलतार, 8 लाख 40 हजार मन अमोनियम सल्फेट आदि देना स्वीकृत किया।

7. विशेष शर्तें :—सन् 1870 के युद्ध मे जर्मनी ने फ्रांस से जो ट्राफी, झंडा व कलात्मक वस्तुएँ प्राप्त की थी, उन्हें लौटाने के लिये कहा गया। लीमेन विश्वविद्यालय के कागजात और हस्तलेख जो युद्ध में नष्ट कर दिये गये थे, उनकी प्रति लौटाने को कहा गया। हैजाज के बादशाह को खलीफा ओथमन के मूल कुरान को लौटा देने को कहा गया और जर्मनी से पूर्वी अफ्रीका के सुल्तान मकावा की खोपड़ी ब्रिटेन को देने को कहा गया।

8. प्राविधिक :—संधि की बहुत सी धाराओं में टेक्निकल बातों के सम्बन्ध में आदेश दिया गया था, जैसे युद्धबन्दी, हवाई-यातायात, कर्ज-सम्पत्ति अधिकार, ठेका

आदि। अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन निम्नलिखित नदियों पर नियंत्रण के लिये नियुक्त किये गये। ये नदियाँ राइन, ओडर, एल्ब, निमेन और डेन्यूब थीं, ताकि जमीन से यूरोपीयन देशों को व्यापारिक मार्ग मिले। हेम्बर्ग और स्टेटिन के बन्दरगाहों में जर्मनी ने चेकोस्लोवाकिया को 99 साल के लिये स्वतंत्र क्षेत्र दिये। कील नहर सबके लिये मुफ्त घोषित की गई।

9. संधिपालन की विशेष व्यवस्था :—संधि में ही इसे कार्यान्वित करने की कुछ व्यवस्थायें की गई थीं। राइन नदी से पश्चिम की ओर का जर्मन देश का हिस्सा और उसके साथ सैनिक चौकियाँ मित्र राष्ट्रों के सैनिकों को संधि के होने की 15 तारीख को दे दिया गया। अगर जर्मनी की कार्यवाही संधि के खिलाफ सिद्ध हो तो अधिकारी-फौजो का जर्मनी पर 'फौजी अधिकार' अनिश्चित् काल के लिये बढ़ा दिया जाय। यंग-योजना के प्रयोग किये जाने के बाद सन् 1930 में मित्र राष्ट्रों की सारी फौजें हटा ली गई।

आलोचना

वार्साई संधि के जहाँ समर्थक व्यक्ति थे, वहाँ आलोचक भी थे। तत्कालीन शांतिस्थापकों के समक्ष शांति स्थापित करने का कार्य अत्यन्त जटिल था; क्योंकि एक ओर तो यह मामला ही पेचीदा था तथा दूसरी ओर पारस्परिक स्वार्थों का इसमें भीषण टकराव पड़ता था। सिद्धांत की दृष्टि से किसी पूर्ण तथा निष्पक्ष समझौते पर सर्वसम्मत मोहर लगानी असंभव थी। अतः क्रियात्मक हल सोचने के लिये तथ्य को विकृत अवस्था में पेश करना अनिवार्य सा ही हो गया था। साथ ही, शत्रुओं द्वारा अधिकृत प्रदेशों में जिस घृणा के बीज बोये जा चुके थे, उसे ओझल भी नहीं किया जा सकता था। जिनको किसी भी दुर्भाग्य का सामना न करना पड़ा था भले ही उन्होंने अपने आपको निष्पक्ष तथा दयालु प्रकट किया; परन्तु युद्ध में जिन्होने जन, धन तथा सम्बन्धी खोये थे, उनसे वैसी आशा रखना व्यर्थ ही था। वास्तव मे संधि उस समय सम्पन्न हुई जबकि मित्र राष्ट्रों की क्षति चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी तथा जर्मन अत्याचारों के घाव बिल्कुल ताजे ही थे। मित्र राष्ट्रों से मृदु व्यवहार की आशा करते समय, 'ब्रेस्ट लिटोविस्क' संधि में किये जर्मनी के व्यवहार को नही भूलना चाहिये। इस संधि के समय विजेता जर्मनी ने रूसियों के साथ बड़ा ही निर्मम और कठोर व्यवहार किया था। इसीके परिणाम-स्वरूप जर्मनी के लिये किसी प्रकार की सुविधा की चर्चा का नैतिक अधिकार, विजेता मित्र राष्ट्रों के लिये सोचने मात्र को नही रहा था। जर्मनी द्वारा की गई संधि की दो मुख्य धाराओ को स्वयं जर्मन, वर्तमान संधि से पूर्व ही तोड़ चुके थे। प्रथम तो जर्मन नौ बेड़े को 'स्केमा फ्लो' में डुबोना; दूसरा बर्लिन में फ्रेडरिक महान् की मूर्ति के समक्ष राष्ट्रीय मान के साथ फ्रांसीसी राष्ट्रध्वज का जलाना जोकि 1870 में जर्मनी ने फ्रांस में लूटा था। इसमें कोई
नहीं कि संधि के समय मित्र राष्ट्रों ने पुराने अनुभव से शिक्षा के आधार

निहित स्वार्थों की रक्षा के उद्देश्य से संधि उल्लंघन की रोक-थाम पर कड़ी निगरानी की हो।

ब्रिटिश पार्लियामेंट में संधि की शर्तों को उपस्थित करते हुये इस देश के प्रधानमंत्री लायड जार्ज ने इस संधि के विषय में निम्न उद्गार प्रकट किये थे; "प्रस्तावित संधि को जर्मनी के साथ किसी प्रकार का अन्याय नहीं कहा जा सकता। इस संधि पर केवल वही अन्याय का आरोप लगा सकता है जो कि जर्मनी के युद्ध कार्यों को भी न्यायसंगत ही समझता हो। कुछ विषयों में शर्तें अवश्य भयानक जँचती हैं, पर भीषण कुकृत्य स्वयं ही इस भयानकता का समाधान भी करते हैं। यदि कहीं जर्मनी जीत जाता तो इससे भी अधिक भयावह परिणामों का हमें सामना करना पड़ता।" "आज संसार शत्रु के असफल प्रहारों से डाँवाँडोल है, यदि ये प्रहार सफल हो जाते तो यूरोप की स्वतंत्रता समाप्त थी।" संधि के भौमिक निर्णय की चर्चा करते हुये लायड जार्ज ने घोषणा की कि "अल्सेस-लोरेन, श्लेसविग और पोलैण्ड को लेना, अधिकारी को सौंपना मात्र ही है इससे अधिक कुछ नहीं।" संधि की अतिरिक्त धाराओं की चर्चा करते हुये उन्होंने कहा कि "जर्मन उपनिवेशों के आदि निवासियों की शासन संबंधी सही शिकायतों को सुनने के बाद फिर वे उपनिवेश जर्मनी के ही हवाले कर देना एक आधारभूत कृतघ्नता ही कही जाती। अब युद्ध के लिये जिम्मेदार व्यक्तियों के मुकद्दमे की बात लीजिये। यह एक असाधारण कदम था और साथ ही एक दयनीय स्थिति थी। यदि यह पहले ही हो गया होता तो संसार में इतने युद्ध न होते।"

प्रधानमंत्री ने अन्य युक्तियाँ उपस्थित करते हुये कहा कि यह संधि बदला लेने के लिये नहीं की गई। "जर्मनों ने युद्ध का समर्थन किया, अतः यह आवश्यक हो जाता है कि जो राष्ट्र अकारण ही आक्रान्त बन जाता है उसे यही शिक्षा मिलनी चाहिये और पड़ौसियों पर हमला करने वालों के भाग्य पर ऐसी ही मोहर लगनी चाहिये।" "विलसन के सिद्धान्तों का इसमे निचोड़ पाया जाता है, किसी भी अंश में उन सिद्धान्तों से हम भटके नहीं। इस संधि मे किसी अन्तर्राष्ट्रीय अशांति तथा असुरक्षा के कण भी नहीं मिलते।"

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि वास्तव में पेरिस सम्मेलन प्रधानमंत्रियों के एक विशेष गुट की स्वेच्छाचारिता का नमूना था। अन्त मे ये भी सन् 1815 के वियना सम्मेलन के विचारों के प्रवाह के शिकार हो गये। युद्ध की लूट को बाँटने का कार्य पहला था। इसके लिये कुछ विजेताओं ने उपनिवेश संभाले तथा कुछ ने यूरोपीय भूमि पर आधिपत्य जमाया और क्षति-पूर्ति योजना बनाई। विजेताओं ने राष्ट्रीयता की आड़ में पराजितों को खूब रौंदा। प्रधानमंत्रियों का यह गुट सफल राजनैतिक खिलाडी रहा जो अपने-अपने देशों को लड़ाई में से सही सलामत और सुरक्षित निकाल ले गया। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की जानकारी इन लोगों को अधूरी थी। इसी कारण

समझौते के काम को वे अपने से अधिक योग्य व्यक्तियों के हवाले न कर सके। सम्मेलन की कार्यवाही में खरेपन का साफ अभाव था। मि० वेल्स के शब्दों में सम्मेलन "पुराने दर्जे का एक कूटनीतिक षड्यंत्र" मात्र था। राष्ट्रपति विलसन का कहना था कि "संसार को जनतन्त्र पद्धति के लिये सुरक्षित रखना ही होगा।" क्लीमेंसो ने विलसन के इस प्रकार विचार प्रकट करने पर टिप्पणी की, "वे ईसा मसीह की तरह बोल रहे हैं।" कहा जाता है कि यही, फ्रांस के प्रधानमंत्री, प्रातः उठते ही रट लगाते थे, "मैं राष्ट्रसंघ में विश्वास रखता हूँ।" ओरलैण्डो ने राष्ट्रसंघ के बारे में सावधानता से टिप्पणी करते हुये कहा, "मैं राष्ट्रसंघ में तो विश्वास रखता हूँ, परन्तु फ्यूम के मसले को पहले तय किया जाना आवश्यक है।" सम्मेलन की एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना का जिक्र भी करना यहाँ आवश्यक है। वह यह कि अमेरिका ने जापान के जाति-समानता के निर्दोष सिद्धान्त को मानने से इन्कार कर दिया। मित्र राष्ट्रों द्वारा सहयोग के उदाहरण के अभाव में, पेरिस सम्मेलन में भाग लेने वाले अन्य राष्ट्रों में भी अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास की सम्भावना समाप्त हो गई।

वास्तव में संधि की धारायें अत्यन्त कठोर थीं। लौजान की संधि के अतिरिक्त शेष सब संधियाँ विजेताओं ने पराजितों पर मढ़ी थीं, न कि वे आदान-प्रदान की भावना से तैयार की गई थी। मित्र राष्ट्रों का दृष्टिकोण, संधि के विषय में, ब्रिटिश प्रधानमंत्री लायड जार्ज के निम्न वाक्य से साफ झलकता है, "इस संधि की धारायें युद्ध में मृत शहीदों के खून से लिखी गई हैं; परमात्मा का आदेश पालन करना हम सब का इस समय का कर्तव्य है। जो लोग इस लड़ाई में प्रवृत्त हो गये हैं, हमें उन्हे दुबारा ऐसा न करने की शिक्षा अवश्य देनी है। आज जर्मन इस संधि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार करते हैं; हमारा उनसे यही कहना है, 'महानुभाव ! आपको यह करना ही होगा। आज जो *वर्साय में नहीं होगा, कल वही बर्लिन में मानना पड़ जायगा*।' मामूली शिष्टाचार के अभाव तथा सार्वजनिक प्रतिष्ठा से परेशान होकर एक जर्मन प्रतिनिधि को भी कहना ही पड़ा, "हमारे प्रति फैलाई गई उग्र घृणा की भावना से हम आज सुपरिचित हैं।"

चौदह बिन्दु संधि के आधार के रूप में

अंग्रेजी प्रतिनिधिमंडल के अनुभवी इतिहासकार हैरोल्ड निकोलसन, जो कि पेरिस में स्वयं उपस्थित थे, ने लिखा है, "यद्यपि जर्मनी ने राष्ट्रपति विलसन के चतुर्दश बिन्दुओं के आधार पर विराम संधि की थी, परन्तु वर्साय की संधि मे उनको व्यावहारिक रूप नही दिया गया।"

विलसन का प्रथम बिन्दु गुप्त राजनीतिक वार्ता को समाप्त कर देने से संबंधित था। परन्तु वास्तव में इसका उल्लंघन किया गया था, इन संधियों के सभी निर्णय गुप्त वार्ता से बड़े चार राष्ट्रो के प्रतिनिधियों ने ही किये थे।

पैरराष्ट्र सचिव लानसिंग जो कि अमेरिका के प्रतिनिधि-मंडल के द्वितीय उच्च-अधिकारी थे, ने राष्ट्रपति विलसन की गुप्त वार्ता पर आरोप लगाया और लिखा कि "अमेरिका की योजना व कार्य-प्रणाली के बारे में प्रतिनिधि-मंडल सम्पूर्णतः अपरिचित था। कई बार तो समस्या इतनी गंभीर रूप धारण कर लेती थी कि विलसन को स्वय ही टिप्पणी करनी पड़ती थी। इस प्रकार संधि की शर्तों के निर्णय में 20वी सदी में इससे अधिक गुप्त विचार-विनिमय नही हुआ था।"

विलसन के द्वितीय बिन्दु का भी उल्लंघन किया गया था; क्योंकि संधि में कहीं पर भी समुद्र पर समान अधिकार का उल्लेख नहीं था। इंग्लैण्ड भी समुद्र पर अपने प्रभुत्व को बनाये रखना चाहता था। साथ ही, दूर प्राच्य में अमेरिका जापान को समुद्र पर प्रधानता देने का इच्छुक नहीं था। इस प्रकार सामुद्रिक स्वतंत्रता के विषय में कोई निर्णय नहीं हुआ।

तृतीय बिन्दु का भी पालन नही किया गया और आर्थिक प्रतिबन्ध नहीं हटाये गये थे। एक इतिहासकार ने ठीक ही कहा है कि यदि हम युद्ध पूर्व एवं युद्ध पश्चात् की स्थिति की तुलना करें तो युद्ध के पश्चात् अधिक आर्थिक प्रतिबन्ध दृष्टिगोचर होंगे, क्योकि 19 राष्ट्रो के स्थान पर अब अकेले यूरोप मे 26 राष्ट्र बने। अतः तट कर की वृद्धि होने के कारण व्यापारिक सुविधा प्रत्येक राष्ट्र को नही मिल सकी। परन्तु इसका प्रयोग पराजित राष्ट्रो तक ही सीमित था।

नि.शस्त्रीकरण से सबधित चौथे बिंदु का प्रयोग एकपक्षीय था। केवल पराजित राष्ट्रो की सैनिक शक्ति सीमित कर दी गई। परन्तु विजेता राष्ट्रों ने अपने अस्त्र-शस्त्रों को सीमित करने का कोई प्रयत्न नही किया। इसीलिये संधि के 13 वर्ष पश्चात् अस्त्र-शस्त्र की होड़ पुनः प्रारम्भ हो गई, जिससे युद्ध अवश्यम्भावी हो गया।

पांचवां बिन्दु उपनिवेशों के निष्पक्ष बँटवारे तथा शासनाधिकार के विषय मे था। यह बिन्दु अस्पष्ट तथा विवादास्पद बन गया। उपनिवेशवाद की समाप्ति नही की गई, केवल उपनिवेश की जनता के शोषण को बन्द करने की ही चेष्टा की गई। उपनिवेशो का बँटवारा जनमत के आधार पर नही, वरन् बड़े राष्ट्रों के स्वार्थो को ध्यान में रखकर किया गया। उपनिवेशों पर राष्ट्रसघ का नियंत्रण, आदिष्ट प्रणाली के अनुसार, नाममात्र का था। केवल राष्ट्र द्वारा प्रस्तुत वार्षिक रिपोर्ट पर ही वह नियमित रूप से बहस तथा सिफ़ारिश करता था। उपनिवेशों पर प्रत्यक्ष शासन व जांच का कोई अधिकार उसे प्राप्त नही था।

भौमिक निर्णयों में रूस के विषय में छठे बिन्दु की पूर्ण रूप से अवहेलना की गई थी। साम्यवादी नवीन सोवियत सरकार को मित्र राष्ट्रों ने मान्यता नही दी। साइबेरिया में अमेरिका ने 7 हजार सेना उतारकर जापान के साथ 1922 तक इसे अपने अधिकार में रखा। नवीन रूस को उन्नति का अवसर नहीं दिया गया। जारशाही के समर्थकों को साम्यवादी सरकार के विरुद्ध सामरिक सहायता दी गई एवं उसे राष्ट्र-संघ की सदस्यता से भी वंचित रखा गया।

9वें बिन्दु के अनुसार इटली की सीमा का निर्धारण राष्ट्रीयता के आधार पर होना था। परन्तु इसको पूर्ण नही किया गया : क्योंकि टाइराल में ढाई लाख जर्मन-वासी थे; एवं ईस्ट्रीया में 52 प्रतिशत गैर-इटली निवासी थे। इनको इटली को दे देने से राष्ट्रीयता का उल्लंघन हुआ था।

13वां बिन्दु पोलैण्ड से संबंधित था। परन्तु जिस नवीन पोलैण्ड का निर्माण किया गया, उसमें भी डॉजिग में जर्मन निवासियों का बहुमत था।

अंतिम बिन्दु में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (राष्ट्रसंघ) की स्थापना की व्यवस्था थी। परन्तु यह सिद्धान्त तक ही सीमित रही, क्योंकि इसकी सदस्यता सभी राष्ट्रों को प्राप्त नही थी। उदाहरणार्थ, जर्मनी, रूस आदि। साथ ही, प्रारम्भ से ही राष्ट्रसंघ में छोटे व बड़े राष्ट्रों में भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जाता था। अमेरीका, जो कि स्वयं इसका प्रमुख जन्मदाता था, प्रारम्भ से ही इसका सदस्य नहीं रहा।

निकोलसन का कहना है कि इस प्रकार से राष्ट्रसंघ के निर्माण से प्रतिद्वन्द्वी राज्यों के स्वार्थों में तत्कालीन स्थिति में अस्थायी समझौता हो गया, जिसमें भविष्य के संघर्ष के कारण निहित थे।

इन बिन्दुओं की अपूर्णता का विरोध करते हुए कार्लो स्फोरजा ने कहा है, "यह वह प्रथम प्रलेख था जिसकी तीन विशेषतायें थीं। यह एक ही साथ मित्र राष्ट्रों व शत्रु पक्ष दोनों के लिये लाभकारी था; इसमें एक ही समय मे जनता व सरकारों के लिये प्रावधान था व जितना यह समाचार-पत्रों पर निर्भर था उतना ही कूटनीतिक पत्र-व्यवहार पर।"

विक्टर एल्बजर्ग के शब्दों में, "इन चतुर्दश बिन्दुओं का प्रयोग उस समय किया गया जबकि इनसे विजेताओं को लाभ होता था; परन्तु जहां कही भी इनसे जर्मनी को लाभ होता था इन्हे स्वीकार नही किया जाता था। जर्मनवासी यह कह सकते है कि उनको धोखा दिया गया एवं विश्व के जनमत ने उनके इस कथन का समर्थन किया था।"

शांति सम्मेलन की संधियों की आलोचना न केवल पराजित राज्यों के विचारकों ने ही की, वरन् विजेता राष्ट्रों के दूरदर्शी कूटनीतिज्ञों एवं विद्वानों ने भी की है। अमेरिका के परराष्ट्र सचिव लॉसिग के इस कथन पर आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि "मैं इस संधि को अत्यन्त कठोर तथा अपमानजनक मानता हूँ और इसकी कुछ धाराओं को तो बिल्कुल ही अव्यवहार्य समझता हूँ।" मि० केनीस ने तो क्षति-पूर्ति की कठोर शर्तों के विरोध में अपना पद-त्याग कर दिया था तथा इस संधि को 'कार्थेजियन' संधि कहकर पुकारा था। इसकी चर्चा संसार में बहुत दिनो तक रही।

इस संधि की आलोचना करते हुये चर्चिल ने लिखा, "इतिहास ने इन सब घटनाओं की बुद्धिहीनता तथा जटिल मूर्खता को स्पष्ट कर दिया है, जिसको लिखने में आवश्यकता से अधिक गुण एवं बुद्धि का प्रयोग किया गया था।"

जर्मन दृष्टिकोण

शांति संधियों की शर्तों की आलोचना करते हुये जर्मन राष्ट्रपति हर्बर्ट ने कहा, "यह शत्रु की प्रतिहिंसापूर्ण नीति का परिणाम है।" इसी प्रकार जर्मन प्रधान-मंत्री गुस्टाव बौर ने कहा, "मैं स्वतन्त्र जर्मन में, आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के उपहास का और जर्मन जनता की दासता का विरोध करता हूँ, क्योंकि यह शांति संधियों के छद्मवेश में शांति के लिये घातक है।" जर्मन विदेशमंत्री डा० हर्मन मूलर ने कहा, "हमें अब रेगिस्तान में चालीस वर्ष के सफर के लिये तैयार हो जाना चाहिये। संधि को पूर्ण करने में जो यातनायें हमें उठानी पड़ेंगी, उनको मैं अन्य किन्हीं शब्दों में प्रकट नहीं कर सकता।" जर्मनी मे तो इस संधि-पत्र की अत्यन्त कठोर आलोचनायें हुई। जर्मनी के एक भूतपूर्व चांसलर वैथमैन-हालवेग ने इसके बारे में एक स्मृति-पत्र में लिखा, "पराजित को गुलाम बनाने की इससे बढ़कर विश्व ने कभी भी भयानक प्रणाली नही देखी।" फ्रांक-फर्टर जाइटुंग नामक एक समाचार-पत्र में टिप्पणी हुई, "हम जर्मन आज अधिकार की कब्र के किनारे खड़े है। हमें सन्देह है कि यह कब्र कही सारे जर्मन राष्ट्र के लिये तो नही है।"

प्रसिद्ध इतिहासकार 'कार' के मत में "यह एक थोपी हुई शांति है।" उनके स्वयं के शब्दों में "इन अनावश्यक निंदनीय अत्याचारों से जर्मनवासियों मे यह भावना उत्पन्न हो गई कि यह एक थोपी हुई संधि है। साथ ही उनको यह विश्वास हो गया कि संधि पर जो हस्ताक्षर उन्होंने किये है उससे वे नैतिक दृष्टि से बाध्य नही हैं।" इस भावना से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय विश्व-युद्ध की आरम्भिक पृष्ठभूमि यहीं से बनती है। इसी के फलस्वरूप हिटलर का भी उदय संभव हो सका। विक्टर एल्वजर्ग के अनुसार यद्यपि आत्म-निर्णय का सिद्धान्त नवीन यूरोप के निर्माण का आधार था, परन्तु वास्तव में इसका प्रयोग पूर्ण रूप से कहीं भी नहीं किया गया। शुमैन के अनुसार जर्मनी को बुरी तरह कुचला गया और उसे राष्ट्रसंघ में भी शामिल न होने दिया गया।

परिणाम

वर्साय की संधि के फलस्वरूप जर्मनी को यूरोप में अपने भू-भाग के 13 प्रतिशत क्षेत्र (25 हजार वर्गमील) से वंचित हो जाना पड़ा। इसके साथ उसे निम्न क्षतियां और उठानी पड़ी :—

आबादी के 12 प्रतिशत (60 लाख) आदमी कम हो गये। कच्चे लोहे के भंडार का 65 प्रतिशत, कोयले का 45 प्रतिशत, कच्चे जस्ते का 72 प्रतिशत, शीशे का 57 प्रतिशत, कृषि-उत्पादन का 12 से 15 प्रतिशत और तैयार किये माल के लगभग 10 प्रतिशत भाग से उसे हाथ धोना पड़ा। जर्मनी की नौ-सेना समाप्त कर दी गई तथा फौज की संख्या बेल्जियम की सेना के बराबर कर दी गई। जर्मनी के खर्च पर ही, विदेशी सेनाओं को उसके देश में रखा गया। विदेशी व्यवस्थापकों को जर्मनी के

आर्थिक तथा सैनिक जीवन में हस्तक्षेप का अधिकार दे दिया गया। जर्मनी को क्षति-पूर्ति के लिये एक कोरे चैक पर हस्ताक्षर करने पड़े, यही इस संधि का सार था।

सेंट जर्मेन की संधि (10 सितम्बर 1919)

10 सितम्बर 1919 में पेरिस के निकट सेंट जर्मेन नामक स्थान पर 382 धारा वाली संधि पर हस्ताक्षर हुये। आस्ट्रिया-हंगरी की सम्राटशाही के बदले में आस्ट्रिया को प्रजातन्त्र बनाया गया। संधि में जर्मनी के साथ आस्ट्रिया को मिलाने पर रोक लगा दी गई। इटली को आस्ट्रिया ने दक्षिणी टाइरॉल दे दिया (यद्यपि उसमें ढाई लाख जर्मन थे)। ट्रन्टिनो, ट्रिस्ट इस्ट्रिया और डालमेशियन तटवर्ती दो द्वीप भी इटली को दिये गये। चेकोस्लोवाकिया को आस्ट्रिया ने बोहेमिया, मोराविया, साइलीशिया तथा निम्न आस्ट्रिया दिया। पोलैण्ड को गलेशिया; रूमानिया को बोको-

मानचित्र—3
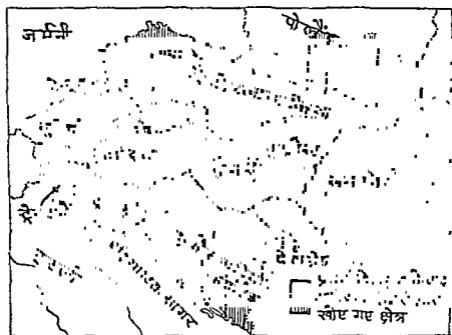
सेंटजर्मेन की संधि के पश्चात् आस्ट्रिया-हंगरी

विना; युगोस्लाविया को बॉसनिया, हर्जेगोविना और डालमेशियन तट और स्टीरिया तथा कार्निबोला देने पड़े। क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से आस्ट्रिया को तीन चौथाई हिस्से की हानि हुई। डेन्यूब नदी का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करने का आदेश दिया गया। परन्तु आस्ट्रिया को एड्रियाटिक सागर तक स्वतंत्र मार्ग मिला। फौज की संख्या घटाकर 30 हजार कर दी गई। आस्ट्रिया को युद्ध अपराधियों के समर्पण के लिये 30 वर्ष तक मुआवजा देने को कहा गया। राष्ट्रीय कला की निधियाँ 20 वर्ष के लिये जब्त करली गयीं।

आस्ट्रिया का क्षेत्रफल 1 लाख 36 हजार वर्गमील से घटकर 32 हजार वर्ग मील हो गया एवं जनसंख्या 3 करोड़ 7 लाख से घटकर 65 लाख हो गई।

निऊली की संधि (27 नवम्बर 1919)

27 नवम्बर 1919 को निऊली की संधि के अनुसार बल्गेरिया को उन जमीनों का बहुत-सा भाग लौटा देना पड़ा, जो उसने 1912-13 में युद्ध में जीता था। उसे उन विजित क्षेत्रों को भी लौटाना पड़ा जो उसने विश्वयुद्ध में जीते थे। डोब्रुजा रूमानिया को दिया गया तथा मकदूनियां का अधिकांश हिस्सा युगोस्लाविया और थ्रेस का किनारा यूनान को दिया गया। युद्ध की क्षति-पूर्ति के लिये बल्गेरिया ने 2 अरब 50 करोड़ रुपया देने का वायदा किया और सेना की संख्या घटाकर 33 हजार कर देने का भी वायदा किया गया। मित्र राष्ट्रों ने बल्गेरिया से वायदा किया कि वे एजियन सागर तक उसके आर्थिक यातायात को सुरक्षित रखेंगे। 1914 में जिस बल्गेरिया का क्षेत्रफल 48 हजार वर्गमील था और जनसंख्या 55 लाख थी, वह घटकर 40 हजार वर्गमील एवं जनसंख्या 45 लाख रह गई।

मानचित्र—4
निऊली की संधि में बुल्गेरिया की प्रादेशिक हानि

ट्रायनन की संधि (4 जून 1920)

ट्रायनन की संधि 4 जून 1920 को हुई। इसके अनुसार हंगरी ने स्लोवाकिया चेकोस्लोवाकिया को; ट्रांसिलवेनिया, रूमानिया को तथा क्रोशिया, युगोस्लाविया को दिया। बनात को युगोस्लाविया और रूमानिया ने आपस में बाँट लिया। आस्ट्रिया को हंगरी का पश्चिमी हिस्सा, बुरगनलैण्ड मिला। हंगरी को समुद्र तक मार्ग एवं फ्यूम प्रश्न का हल इटली और युगोस्लाविया के समझौते पर छोड़ दिया गया। परन्तु हंगरी को इससे हाथ धोना पड़ा। उसकी सेना घटाकर 35 हजार कर

दी गई। इस प्रकार इससे हंगरी को 72 प्रतिशत भूमि एवं 64 प्रतिशत जनसंख्या, 57 प्रतिशत कृषि योग्य भूमि, 85 प्रतिशत जंगलात, 65 प्रतिशत रेल्वे एवं मवेशी आदि की हानि हुई।
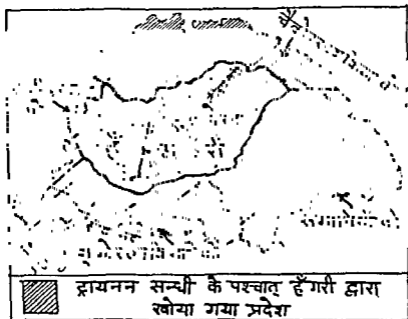
मानचित्र—5
ट्रायनन सन्धि के पूर्व और पश्चात् का हंगरी

सेवर्स की संधि (10 अगस्त 1920)

10 अगस्त 1920 को सेवर्स की संधि हुई जिसको तुर्की के सुल्तान ने कभी मंजूर नहीं किया। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय पाठकों के लिये इसका महत्व है। इस संधि के अनुसार सुल्तान को मिश्र, अरब, सूडान, साइप्रस, ट्रिपोलियनिया, मोरक्को, ट्यूनिशिया, फिलस्तीन, मेसोपोटामियां, अर्मीनियां और थ्रेस में अपने सारे अधिकार त्यागने को कहा गया। यूनान को स्मायना तथा दक्षिण-पश्चिमी एशिया माइनर दिया गया। इटली को रोड्स तथा डोडेकेनीस द्वीप सौंपा गया। फ्रांस को अनाटोलिया तथा सीरिया मे प्रभाव क्षेत्र दिया गया और ब्रिटेन को ईराक एवं पूर्वी एनाटोलिया प्राप्त हुआ। कुर्दीस्तान को स्वायत्त शासन दिया गया। अर्मीनियां को एक स्वतंत्र राष्ट्र माना गया, परन्तु इसकी सीमाओं का निर्धारण अमेरीका पर छोड़ दिया गया। संक्षेप में, गैर तुर्की क्षेत्र तुर्की के नियंत्रण से स्वतंत्र हो गया। तुर्की का क्षेत्रफल दो लाख 95 हजार वर्ग मील हो गया एवं जनसंख्या 1 करोड़ 30 लाख हो गई।

इस संधि को तुर्की की राष्ट्रवादी पार्टी ने अस्वीकार कर दिया। जुलाई 1919 में राष्ट्रवादी पार्टी ने मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व में एक पृथक् सरकार की अंकारा में स्थापना कर ली थी, जबकि सुल्तान की सरकार कुस्तुन्तुनिया में थी। राष्ट्रवादी

तुर्कियों ने यूनानियों को दो वर्ष के लगातार युद्ध के बाद अपने देश से मार भगाया और मित्र राष्ट्रों को सेवर्स की संधि बदलने के लिये मजबूर किया।

लोजान की संधि (24 जुलाई 1923)

24 जुलाई 1923 को ब्रिटिश विदेशमंत्री लार्ड कर्जन के प्रयत्न से लोजान की संधि पर हस्ताक्षर हुये। इस संधि के अनुसार यूनान ने तुर्की को पूर्वी थ्रेस, एड्रियनेपोल तथा इम्ब्रोज और टेनेडोस के द्वीप दे दिये। अडालिया, स्माईना, साइलिशिया, थ्रेस, कुस्तुन्तुनिया, और अनोटोलिया को तुर्की के अधिकार में छोड़ दिया गया; जिस पर उसका सर्वाधिकार स्वीकृत किया गया। सेवर्स की संधि की धारायें, जिनका संबध जुर्माना, हर्जाना और निःशस्त्रीकरण से था, हटा दी गई। तुर्की ने इटली को रोड्स, डोडेकानिज और कास्टेलोरी दे दिया। मेसोपोटामियाँ, अरब, सीरिया, फिलीस्तीन, मिश्र, सूडान और साइप्रस पर से तुर्की ने अपना सारा अधिकार त्याग दिया। राष्ट्रसंघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय जलडमरू आयोग नियुक्त किया गया। इसका काम डार्डनेलिस के निकटवर्ती जलडमरू पर नियंत्रण करना था, जो कि कालासागर और एजियन समुद्र को जोड़ता है। इस स्थान पर सभी राष्ट्रों के समान उपयोग के लिये व्यवस्था की गई और इसको सेना-रहित क्षेत्र बना दिया गया। आधुनिक इतिहास में यही संधि प्रथम सधि थी, जिसमें निवासियों की अदला-बदली का अनिवार्य रूप से प्रबन्ध किया गया—यूनानी मुसलमानों को तुर्की तथा उग्र तुर्कियों को अपने देश जाने को बाध्य किया।

कमाल पाशा की, तुर्की के लिये लोजान की संधि, एक बड़ी विजय थी। तुर्की ने वे समस्त लक्ष्य प्राप्त कर लिये जिनके लिये वे लड़े थे। ये थे सांस्कृतिक सीमाबन्दी, अन्तर्राष्ट्रीय गुलामी से मुक्ति तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता। अक्टूबर 1923 ई० में तुर्की की राष्ट्रीय महासभा ने तुर्की को प्रजातंत्र, कमाल पाशा को पहला राष्ट्रपति और अंकारा को राजधानी बनाया। सन् 1924 ई० में खलीफाशाही का अन्त कर दिया गया और धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र की घोषणा की गई।

अल्पसंख्यकों की रक्षा संबंधी संधियाँ

नवीन यूरोप की सीमाओं का निर्णय करने के पश्चात् भी दक्षिण-पूर्वी यूरोप के सभी राष्ट्रों मे अल्प-संख्यकों की समस्या का कोई हल नही हो पाया। इन अल्पसंख्यक वर्गों के हितों की रक्षा करने के लिये मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी, आस्ट्रिया, बल्गेरिया, हंगरी और तुर्की के साथ जो पृथक संधि की, उसमें विशेष-धारायें प्रस्तुत कीं। इसी प्रकार पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया रूमानिया, युगोस्लाविया तथा यूनान के साथ भी विशेष सधि की व्यवस्था की गई। इन सब संधियो मे अल्पसंख्यकों संबधी धारायें समान थीं। इनमें जाति, धर्म, भाषा, सामाजिक एवं आर्थिक समानता की विशेष सुविधा अल्प-संख्यकों को दी गई। इन संधियो के प्रयोग के लिये राष्ट्रसघ को उत्तरदायी बनाया गया। इन धाराओं का सशोधन केवल राष्ट्रसंघ की परिषद्

द्वारा ही संभव था। कुछ समय पश्चात् एस्योनिया, लेटविया लिथुआनिया और अलवेनिया ने भी इस प्रकार के प्रबन्ध को स्वीकार किया। एक अनुभवी विचारक के दृष्टिकोण में ये संधियां त्रुटिपूर्ण थीं, क्योंकि मित्र राष्ट्रों ने निजी अल्प-संख्यकों की रक्षा करने के लिये इस प्रकार की किसी व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया।

संयुक्त राज्य अमेरीका और शांति संधियां

मार्च 1920 में अमेरीका की सिनेट ने 51 पक्ष और 35 विपक्ष में मत के आधार पर उपरोक्त संधियों की सम्पुष्टि नही की ; क्योंकि राष्ट्रसंघ की सदस्यता से उत्पन्न समस्याओं में वे संलग्न होना नही चाहते थे। संधियों के अनुमोदन के लिये सिनेट का दो तृतीयांश बहुमत आवश्यक था। राष्ट्रपति विलसन व उनके डेमोक्रेटिक दल की हार हुई। यह बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण बात थी कि जिस देश के नेता ने विश्व शांति और मानवता के हित के लिये त्याग किया, उसी देश ने उसका साथ नही दिया। कांग्रेस ने 2 जुलाई 1921 को, औपचारिक रूप से, युद्ध समाप्ति की घोषणा की। अमेरीका ने पराजित राष्ट्रो से अगस्त 1921 में पृथक संधि की, जिसमें राष्ट्रसंघ से संबंधित धाराओं का कोई उल्लेख नही किया। इस प्रकार अमेरीका ने संधियों से सब प्रकार का लाभ उठाया; परन्तु शांति के लिये कोई भी जिम्मेदारी नही ली, और न ही पराजित राष्ट्रों का घृणापात्र बना।

आलोचना

आस्ट्रिया को समुद्री सीमा से वंचित कर दिया गया और जर्मनी को उसे सहयोग देने की मनाही कर दी गई ; वोहेमिया से उसे कोयला खरीदना मना कर दिया गया। हंगरी से अनाज और मांस लेना आस्ट्रिया के सामर्थ्य से दूर हो गया। इस प्रकार गणतंत्र आस्ट्रिया 20 लाख आबादी के बोझ को लिये एक कटे सिर वाले शरीर की भांति हो गया। एक लाख 25 हजार वर्गमील क्षेत्र वाले हंगरी की 2 करोड़ 20 लाख आबादी को सिकोड़ कर 37 हजार वर्गमील का क्षेत्र और 80 लाख की आबादी कर दी गई। बल्गेरिया को एजियन समुद्र तट से दूर करके उसे बाल्कन देशों में क्षेत्रफल, आबादी, साधन-सम्पन्नता और सामरिक दृष्टि से सबसे छोटा राज्य बना दिया गया। रूसी, जर्मनी, तुर्की तथा आस्ट्रियन साम्राज्यों के अवशेषों पर नवीन यूरोप का निर्माण पेरिस के शांति सम्मेलन में हुआ। इससे यूरोप का उपविभाजन हो गया, जिससे यूरोप में 19 के स्थान पर 26 राज्य हो गये। 3 करोड़ अल्पसंख्यक अपनी मातृभूमि के बाहर हो गये। आन्तरिक अव्यवस्था और आर्थिक दुर्व्यवस्था की आड़ में कुछ राज्यो मे तानाशाही प्रवृत्तियों का जन्म तथा विकास संभव हुआ।

मूल्यांकन

विलसन के अनुसार संधि समझौते ने भावी युद्धों का अन्त करने वाले प्रथम विश्वयुद्ध का अन्त कर दिया। यह युद्ध 1565 दिनों तक चला। इसमें 20 प्रतिशत व्यक्ति मारे गये तथा 33 प्रतिशत सैनिक घायल हुये। निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाये तो

यह स्वीकार करना पड़ेगा कि संधियों की धारायें न केवल एक पक्षीय थीं, बल्कि अस्थायी समझौते की गन्ध लिये हुई थीं। उनमें आदर्शवाद के स्थान पर भौतिकवाद की छाया थी और भविष्य में झगड़े के बीज छिपे हुये थे। जनरल स्मट्स ने ठीक ही कहा था कि "मैंने सधि पर हस्ताक्षर इसलिये नही किये कि वह एक सन्तोषजनक समझौता है; बल्कि केवल इसलिये कि इससे युद्ध बंद होता है। हमें केवल अपने शत्रुओं के हृदयों को ही नहीं बदलना है; अपितु हमें अपने हृदयों में भी परिवर्तन करना है। क्षत-विक्षत ईसाई समाज को सान्त्वना देने तथा उनके शोक और दु:ख को भुलाने के लिये इस युग के प्रत्येक निवासी को अपने हृदय में एक नवीन, उदारता तथा मानवीयता की उमग को स्थापित करना होगा।"

सारांश

प्रथम महायुद्ध के समय अनेक स्रोतों से युद्ध विराम के सुझाव आये; जिनमे कर्नल हाउस, पोप बेनेडिक्ट 15वें और प्रिंस सिक्सटी के सतत प्रयत्न उल्लेखनीय हैं। यह अनुमान कि नवीन विश्व की रचना की सम्पूर्ण शक्ति विजेता राष्ट्रों के पास थी, तथ्य हीन है। वास्तव में युद्ध काल में की गई गुप्त सधियाँ, मित्र-राष्ट्रों की घोषणाएँ, पूर्वी यूरोप में राष्ट्रीय आन्दोलन, यूरोप के प्रमुख राष्ट्रों में केन्द्रीय शक्तियों के विरुद्ध बदले की भावना, राष्ट्रीय स्वार्थ, रूसी क्रांति का प्रभाव आदि ने शांति सधियों के निर्णयों को पूर्व निश्चित कर दिया था। 11 नवम्बर 1918 को विलसन के 14 बिन्दुओं के आधार पर जर्मनी ने मित्र-राष्ट्रों से विराम संधि की।

पेरिस का शांति सम्मेलन 18 जनवरी से 28 जून 1919 तक चला। इसमें 32 राष्ट्रों के 71 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। फ्रांस के प्रधानमंत्री क्लीमेन्सो इसके अध्यक्ष चुने गये। अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन, ब्रिटेन के प्रधानमत्री लायड जार्ज और इटली के प्रधानमंत्री ओरलैण्डो और जापानी प्रतिनिधि मैकीनो इस सम्मेलन के बड़े 5 राष्ट्र थे। सधि का मसविदा बड़े राष्ट्रों की परिषद् ने प्रस्तुत किया। शांति सम्मेलन में 58 आयोगों ने 1646 बैठकों में जर्मन सधि का मसविदा तैयार किया। जर्मन प्रतिनिधियों को चुनौती देकर संधि पर हस्ताक्षर करने के लिये बाध्य किया गया।

वर्साय की संधि

इतिहास में यह सबसे बड़ी संधि है, जिसकी 439 धाराएँ थी। इसमें राष्ट्र-संघ की स्थापना, जर्मनी की सीमाओं का निर्धारण, जर्मन उपनिवेशों की व्यवस्था, नि:शस्त्रीकरण, युद्ध अपराध, क्षति पूर्ति, आर्थिक तत्व, कुछ विशेष शर्तें और संधि पालन का विशेष प्रबंध निश्चित् किया गया।

अन्य संधियाँ

आस्ट्रिया के साथ सेन्ट जर्मेन की संधि (10 सितम्बर 1919), बल्गेरिया के साथ निऊली की संधि (27 नवम्बर 1919), हंगरी के साथ ट्रायनन की संधि

(4 जून 1920), तुर्की के साथ सेवर्स की संधि (10 अगस्त 1920) पर हस्ताक्षर हुये।

आलोचना (वर्साय की संधि)

लायड जार्ज ने ब्रिटिश संसद में संधि के विषय में विचार प्रकट करते हुए कहा, "कुछ विषयों में जर्मनी के लिए शर्तें भयानक अवश्य जँचती हैं, परन्तु उसके भीषण कुकृत्य स्वयं ही इस भयानकता का समाधान भी करते हैं।" वास्तव में संधि की धाराएँ अत्यन्त कठोर थीं। लौजान की संधि के अतिरिक्त शेष सब संधियां विजेताओं ने पराजितों पर मढ़ी थीं और आदान-प्रदान की भावना का तनिक भी ध्यान नहीं रखा गया था।

चौदह बिन्दु संधि के आधार के रूप में

अनुभवी इतिहासकार हैरोल्ड निकोलसन जो कि स्वयं पेरिस में उपस्थित थे, का कहना है कि "यद्यपि जर्मनी ने राष्ट्रपति विलसन के 'चतुर्दश आधार' पर विराम संधि की थी, परन्तु नियामक वर्साय संधि में इन्हें व्यवहारिक रूप नहीं दिया गया।" विक्टर एल्जबर्ग के शब्दों में, "चतुर्दश बिन्दुओं का प्रयोग केवल विजेता राष्ट्रों के हित में किया गया था। जब जर्मन संबंधी प्रश्न खड़े होते, तब बिन्दुओं की ओर आंखें मूंद ली जाती थीं।"

जर्मन दृष्टिकोण

जर्मन राष्ट्रपति इबर्ट ने कहा, : "यह संधि शत्रु की प्रतिहिंसापूर्ण नीति का परिणाम है।" थुर्मन के विचार में "जर्मनी को बुरी तरह कुचल दिया गया और उसे राष्ट्रसंघ में भी शामिल न होने दिया।" प्रसिद्ध इतिहासकार 'कार' ने कहा, "यह एक थोपी हुई शांति है।"

परिणाम

वर्साय की संधि के फलस्वरूप जर्मनी को 13 प्रतिशत भू-क्षेत्र (25 हजार वर्गमील), 12 प्रतिशत जनसंख्या (60 लाख व्यक्ति) व अनेक खनिज पदार्थों से वंचित होना पड़ा। उसकी फौज कम कर दी गई। उसके आर्थिक व सामरिक जीवन में हस्तक्षेप किया गया व भारी क्षति-पूर्ति के लिए उसे जिम्मेदार ठहराया गया।

अन्य संधियों की समीक्षा

अन्य संधियों पर हस्ताक्षर किये जाने के फलस्वरूप भी यूरोप के मानचित्र में प्रभावशाली परिवर्तन हुए। आस्ट्रिया व बल्गेरिया समुद्र तट से दूर हो गये। रूसी, जर्मन, तुर्की तथा आस्ट्रियन साम्राज्यों के अवशेषों पर नये राज्यों का निर्माण हुआ और पहले के 19 राज्यों की अपेक्षा अब 26 राज्य हो गये।

मूल्यांकन

विलसन के अनुसार : "संधि समझौते ने भावी युद्धों का अन्त करने वाले

प्रथम विश्वयुद्ध का अन्त कर दिया।" जनरल स्मट्स के शब्दों में, : "मैंने संधि पर हस्ताक्षर इसलिए नहीं किये कि वह एक सन्तोषजनक समझौता है, बल्कि केवल इसलिए कि इससे युद्ध बन्द होता है। युद्ध बन्दी द्वारा विजित ही नहीं, विजेता राष्ट्रों के हृदय का भी परिवर्तन किया जाना है।"

घटनाओं का तिथि क्रम

1915 12 मार्च—ब्रिटेन, फ्रांस व रूस में गुप्त संधि।
26 अप्रैल—इटली से लन्दन की गुप्त संधि।
23 मई—मित्र राष्ट्रों के पक्ष में इटली का योगदान।

1916 16 मई—फ्रांस और ब्रिटेन में साइक्सपीको गुप्त संधि।
18 अगस्त—मित्र राष्ट्रों की रूमानिया से गुप्त संधि।

1917 17 फरवरी—आंग्ल-जापान गुप्त संधि।
3 मार्च—रूस-जर्मन ब्रैस्ट-लिटोवस्क संधि।
11 मार्च—सैजोनौभ-पैलियोलोग संधि।
6 अप्रैल—संयुक्त राज्य अमेरिका की युद्ध घोषणा।
7 मई—जर्मन-रूमानिया बुखारेस्ट संधि।
20 जुलाई—युगोस्लाविया की स्वतन्त्रता।

1918 8 जनवरी—राष्ट्रपति विलसन की चौदह बिन्दुओं की घोषणा।
11 फरवरी—विलसन के चार सिद्धान्त।
4 जुलाई—विलसन के चार लक्ष्य।
27 सितम्बर—विलसन की पाँच टिप्पणियाँ।
30 सितम्बर—बुल्गेरिया से विराम संधि।
31 अक्टूबर—तुर्की से युद्ध विराम।
3 नवम्बर—आस्ट्रिया से युद्ध बंदी।
9 नवम्बर—कैसर विलियम का राज्य-त्याग।
11 नवम्बर—जर्मनी से विराम संधि।
13 दिसम्बर—लायड जार्ज का पुनर्निर्वाचन और विलसन का पेरिस आगमन।

1919 18 जनवरी—पेरिस सम्मेलन का उद्घाटन।
15 फरवरी—विलसन का अमेरीका लौटना।
14 मार्च—विलसन का पुनः पेरिस आगमन।
23 अप्रैल—विलसन का इटली की संसद् को फ्यूम प्रश्न पर निवेदन।
28 अप्रैल—राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव का अनुमोदन।
7 मई—संधि का प्रारूप जर्मनों को दिया जाना।

29 मई—जर्मनों का संधि के प्रति संशोधन प्रस्ताव।
16 जून—मित्र राष्ट्रों का संधि में आंशिक सशोधन।
21 जून—जर्मन चांसलर शिडेमान का त्याग-पत्र।
23 जून—जर्मनी का सधि को स्वीकार करना।
28 जून—वर्साय संधि पर हस्ताक्षर (31 राष्ट्र)।
10 सितम्बर—आस्ट्रिया से सेंट जर्मेन की संधि।

1920 4 जून—हंगरी से ट्रायनन की संधि।
10 अगस्त—सेवर्स की संधि।

सहायक अध्ययन

Bailey, T. A. : **Woodrow Wilson and the Lost Peace** (1945)

Gathorne-Hardy, G. M. : **The Fourteen Points and the Treaty of Versailles.** (1939)

Keynes, J. M. : **The Economic Consequences of the Peace** (1920).
Essays in Biography (1933)

Lansing, Robert : **The Peace Negotiations : A Personal Narrative.** (1921)

Lloyd George, D. ; **Memoirs of the Peace Conference** (2 Vols. 1939)
War Memoirs (6 Vols. 1933-36).

Nicolson, H. : **Peace Making, 1919.** (1939)

Tardieu, A. : **The Truth About the Treaties.** (1921)

Temperley, H.W.V., ed. : **A History of the Peace Conference of Paris.** (6 Vols. 1920-24)

United States Department of State : **Foreign Relations of the U. S. : The Paris Peace Conference.** (13 Vols. 1942-47)

प्रश्न

1. वर्साय-सधि की मुख्य भौमिक धाराओं का वर्णन कीजिये। सधि ने किस सीमा तक जर्मन सैन्य शक्ति को नष्ट किया? (रा० वि० 1956, 1959)

2. 'लॉयड जार्ज की पात्रता का वर्णन प्रायः सही रूप से नही किया जाता है।"—इस कथन के प्रकाश में ब्रिटेन के वर्साय की संधि में लिये गये भाग की विवेचना कीजिये। (रा० वि० 1957)

3. राष्ट्रपति विलसन के 14 उद्देश्यों की योजना की समीक्षा करते हुए

बताइये कि किस सीमा तक वर्साय की संधि 'विलसन का समझौता' थी ? संयुक्त राज्य अमेरिका ने इस संधि का अनुमोदन क्यों नहीं किया ?

(पं० वि० 1965; रा० वि० 1958, 1964, 1967)

4. किन दृष्टियों से वर्साय की सधि जर्मनी के लिए अन्यायपूर्ण थी ? आपके मत में जर्मनी के साथ न्यायपूर्ण समझौता क्या होता ? (आ० वि० 1958, 1967)

5. "वर्साय समझौते की असफलता का कारण सम्मेलन मे विलसन के 14 बिन्दुओं मे निहित सिद्धान्तों का अतिक्रमण था।"—इस कथन की विश्लेषणात्मक परीक्षा करें। (आ० वि० 1959)

6. राष्ट्रपति विलसन के 14 बिन्दुओं में से उन पर टिप्पणी लिखें, जिन्होंने भविष्य में युद्ध को रोकने के विचार का प्रतिपादन किया। (रा० वि० 1960)

7. वर्साय की सधि के प्रावधानो को स्पष्ट करते हुए जर्मनी पर इसके परिणामों की व्याख्या करें। यह भी बताये कि कौन-से प्रावधान द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण बने। (पं०वि० 1966; रा० वि० 1961, आ० वि० 1963, 1965)

8. 'प्रथम विश्वयुद्ध का आरोपित शांति समझौता नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के लिए एक नाजुक नींव सिद्ध हुई।" विवेचना करें। (आ० वि० 1961)

9. 1919 के शांति सम्मेलन मे विलसन और लायड जार्ज की पात्रता की समालोचना कीजिये। (जो० वि० 1964; रा० वि० 1962)

10. 1919 के शांति सम्मेलन मे संयुक्त राज्य अमेरिका के क्या उद्देश्य थे ? इन्हें उसने किस सीमा तक प्राप्त किया ? (आ० वि० 1962)

11. क्या आप इससे सहमत हैं कि यूरोप का 1919 से 1939 तक का इतिहास वर्साय की सधि की प्रमुख गलतियों को विनष्ट करने की कहानी है ?

(रा० वि० 1963)

12. 1919-20 का शांति समझौता किस सीमा तक विजेताओं के स्वार्थों का समाधान करता है ? (उ० वि० 1965; रा० वि०, 1965)

13. यह कहा गया है कि वर्साय की शांति स्वयं अपनी प्रकृति के फलस्वरूप एक अस्थायी युक्ति थी और विश्व में शांति बनाये रखने में असमर्थ थी। क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? शांति समझौते की प्रकृति के विषय में अपना मूल्यांकन दें।

(रा० वि० 1966; पं० वि० 1964; जोधपुर 1966, आ०वि० 1966)

14. "वर्साय संधि के कर्णधारों ने ऐसी शांति स्थापित की जो शांति नहीं थी।"—इस कथन की समीक्षा कीजिये। (उ० वि० 1967)

15. 1919 के शांति समझौते पर बड़ी शक्तियों के मध्य हुए गुप्त समझौतों के क्या प्रभाव पड़े ? (जोधपुर वि० 1967)

3 राष्ट्रसंघ-एक महान् परीक्षण

"राष्ट्रसंघ अप्रतिष्ठित माता की असम्मानित कन्या थी।"
—नार्मन बेन्टविच

"आज एक सजीव संस्था का जन्म हुआ है; आक्रमण को रोकने के लिए 'प्रतिश्रव' शब्द की निश्चित गारण्टी है।"
—विलसन

शांति के लिए पूर्व प्रयास

विश्व शांति के लिए प्राचीनकाल से ही मानव-समाज प्रयत्न कर रहा है। प्रथम महायुद्ध से पूर्व शांतिप्रिय व्यक्ति 222 बार अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ स्थापित करने की दिशा मे प्रयास कर चुके थे। फास के पियरे दुबोय और इटली के दांते ने 14वी शताब्दी में दो योजनायें प्रस्तुत की। पेरिस विश्वविद्यालय में शिक्षित पियरे दुबोय ने 'दी रैस्टोरेशन ऑफ दी होली लैण्ड' (1306) पुस्तक में शांति स्थापना के लिए एक स्थायी सघ की योजना बनाई। इसमें सिफारिश की गई थी कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिए राष्ट्रों की एक समिति स्थापित की जाय। यह समिति आक्रामक राज्यो को उचित दड दे, जो कि आर्थिक प्रतिबन्ध तथा सामूहिक सामरिक कार्यवाही हो सकते हैं। फ्लोरेन्स निवासी दांते ने 'दी मोनारकिया' (1310) पुस्तक मे एक महान् शासक के नेतृत्व में यूरोप के विभिन्न राज्यों को शांति के लिए एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया था। उनके विचार में—शांति सभ्यता के लिए आवश्यक है और शांति के लिए सरकार।

सत्रहवीं शताब्दी :—17वी सदी में फ्रांस के सम्राट् हेनरी चतुर्थ के मंत्री ड्यूक-डी-सली ने अपनी पुस्तक 'ग्रान्ड डिजाइन' में एक प्रस्ताव रखा। इसमें यूरोप मे स्थायी शांति के लिए 15 समान आकार और शक्ति वाले राज्यों के एक ईसाई राष्ट्र-मण्डल की स्थापना की व्यवस्था थी। रूस और तुर्की को इसमें सम्मिलित नहीं किया गया था। इसमें 6 प्रादेशिक समितियाँ और उनके ऊपर 66 कमिश्नरों की एक महा-समिति की व्यवस्था थी, जो कि 15 राष्ट्रों द्वारा 3 वर्षों के लिए चुने जायेंगे। निर्णयों को व्यावहारिक रूप देने के लिए एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सेना, जिसमें दो लाख 60 हजार पैदल, 90 हजार घुडसवार, 200 तोपें और 120 जहाज, सदस्य राष्ट्रों की सहायता से रखे जाने थे। यह योजना राष्ट्रसघ के लिए एक महान् प्रेरणा थी। एक अज्ञात पादरी, अमेरिक क्रूसे ने 'दी न्यू सोसाइटी' (1623) ग्रंथ मे, एक विश्वव्यापी संगठन की—जिसमें तुर्की, फारस और चीन भी हों और पंच फैसले के लिए एक न्यायालय की कल्पना की। विलियम पेन ने अपनी रचना 'ऐसेज टुवर्डस दी प्रैजेन्ट एण्ड फ्युचर पीस ऑफ यूरोप' (1693) में सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का अनिवार्य रूप से निपटारा करने के लिए एक यूरोपीय संसद् का प्रस्ताव रखा था।

अठारहवीं शताब्दी :—1712 में यूरोप के 24 ईसाई राज्यों के एक स्थायी संगठन की व्यवस्था एबे-डी-सेन्ट पियरे ने 'प्रोजेक्ट ऑफ परपीट्युअल पीस' में प्रकाशित की। इसमें यह सुझाव रखा गया था कि एक सिनेट अपने दो तृतीयांश बहुमत से विवादों का शांतिपूर्ण हल करेगी और अपने निर्णयों को सामूहिक रूप से प्रयोग में लाने के लिए एक स्थायी सेना की सहायता लेगी। रूसो ने (1761) अपने एक ग्रंथ में इसका समर्थन किया था। जर्मनी के शासक फ्रेडरिक महान् के शब्दों मे, "यह योजना अत्यन्त व्यावहारिक है, केवल यूरोप के राष्ट्रों की सम्मति ही आवश्यक है।"

फ्रांस के मंत्री कार्डिनल फ्ल्यूरी ने इसे "अपूर्व योजना" कहा; किन्तु यूरोप के राजाओं के हृदय परिवर्तन के लिये इसमें कोई व्यवस्था नहीं थी। इसी प्रकार प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक इमैन्युवल कान्ट ने अपनी पुस्तक 'एसे ऑन इन्टरनल पीस' (1795) में इन्हीं विचारों का प्रतिपादन किया था।

उन्नीसवीं शताब्दी :—किसी भी संगठन का जन्म एकाएक नहीं होता। इसी प्रकार राष्ट्रसंघ के जन्म के पीछे मानव समुदाय के 19वीं शताब्दी के ठोस शांति-प्रयत्नों का इतिहास छिपा हुआ है। शांति के लिये समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के परीक्षण, नेपोलियन के पतन के पश्चात्, यूरोप में किये गये। एक पंचमुखी संधि हुई, जिसमें फ्रांस, रूस, प्रशा, आस्ट्रिया और ब्रिटेन थे। 1818 से 1822 तक इसके चार शांति सम्मेलन—एलाशेपल, ट्रोपाउ, लाइबक व भेरोना में हुए। स्पेन और इटली के विद्रोहों का दमन किया गया। परन्तु पारस्परिक मतभेद के कारण यह प्रयास असफल रहा। समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने के लिए यूरोप की प्रमुख शक्तियों की गोष्ठियाँ होती रहीं। 1839 में लंदन का सम्मेलन और 1856 में पेरिस कांग्रेस तथा 1878 के बर्लिन कांग्रेस ने निकट पूर्वी समस्या का समाधान किया। 1884-85 में द्वितीय बर्लिन कांग्रेस ने केन्द्रीय अफ्रीका में साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा को नियंत्रित किया। 1906 और 1912 के अल्जि-सिराज सम्मेलन में मोरक्को संकट को सुलझाया गया और 1912-13 के लंदन सम्मेलन ने बलकान युद्ध से उत्पन्न गंभीर समस्याओं को निपटाया। परन्तु 1914 में सिराजेवो हत्याकाण्ड से उत्पन्न गंभीर स्थिति को सुलझाने में असफलता रही।

राष्ट्रसंघ के जन्म की परिस्थितियाँ

यूरोपीय शक्ति गोष्ठियों में तीन बड़ी कमियाँ थीं, जिनके कारण शांति पर उनके स्थायी प्रभाव नहीं पड़े। पहली कमी यह थी कि वे नियमित समय पर नहीं मिलती थीं और शांति के लिये उनका कोई स्थायी संगठन नहीं था। आवश्यकता पड़ने पर ही ये शक्तियाँ विचार-विमर्श करती थीं। इस कारण तुरन्त कार्यवाही का अभाव रहा। इसकी दूसरी कमी आर्थिक प्रतिस्पर्धा, साम्राज्यवादी भावना, उग्र राष्ट्रीयता तथा सामरिकता थी। तीसरी कमी यह थी कि बड़े राष्ट्रों ने गुटबंदी करके छोटे राष्ट्रों को दबाने का प्रयत्न किया, जिससे सामूहिक हितों की रक्षा नहीं हो पाई। परन्तु ये कमियाँ होते हुये भी आगे चलकर इन्हीं के फलस्वरूप राष्ट्रसंघ का जन्म हुआ।

राष्ट्रसंघ के जन्म का दूसरा स्रोत निःशस्त्रीकरण और पंच-प्रणाली द्वारा शांति स्थापना का प्रयास रहा। निःशस्त्रीकरण के प्रयत्नों में 1899 का प्रथम और 1907 का द्वितीय हेग सम्मेलन प्रसिद्ध है। रूस के जार निकोलस द्वितीय के आग्रह से 26 राष्ट्रों का प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय शांति सम्मेलन हेग में बुलाया गया। इस अवसर पर जार ने कहा, "शांति कायम रखना ही आज अन्तर्राष्ट्रीय नीति का ध्येय है।"

इस सम्मेलन मे निःशस्त्रीकरण पर कोई समझौता नहीं हो सका; किन्तु युद्ध के समय कुछ घातक शस्त्रों के प्रयोग पर रोक, अन्तर्राष्ट्रीय कानून संग्रह करने तथा पच न्यायालय की स्थापना के लिये आवश्यक कदम उठाया गया । 1907 के द्वितीय सम्मेलन में 44 राष्ट्रों ने भाग लिया । इसमें भी शस्त्रीकरण पर प्रतिबंध के विषय में समझौता नही हो पाया । परन्तु युद्ध को रोकने के लिये तृतीय पक्ष की मध्यस्थता और समय-समय पर शांति सम्मेलन को बुलाने की सिफारिश की गई । तीसरा हेग सम्मेलन 1915 में होने वाला था । किन्तु विश्वयुद्ध के छिड़ जाने से इसको स्थगित करना पड़ा ।

राष्ट्रसंघ के जन्म का तीसरा प्रमुख कारण अन्तर्राष्ट्रीय संघों का सफलतापूर्वक कार्य कर सकना था । इनमें राइन नदी आयोग (1804), डेन्यूब आयोग (1856), अन्तर्राष्ट्रीय तार संघ (1865), यूनिवर्सल पोस्टल यूनियन (1878) के नाम उल्लेखनीय हैं । इन विश्वव्यापी सस्थाओं के सफल कार्यों से जनता में विश्वास एवं शांति की भावना जाग्रत हुई । इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों ने सामूहिक प्रयत्नों से राष्ट्रसंघ के जन्म की आधारशिला को तैयार किया ।

राष्ट्रसंघ का प्रारूप

राष्ट्रसंघ के अतिम प्रारूप के तैयार होने के पूर्व चार ओर से सुझाव आ चुके थे । इस विषय में अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति विलियम हावर्ड टैफ्ट की योजना उल्लेखनीय है, जिसका समर्थन राष्ट्रपति थियोडोर रूसवेल्ट और सिनेटर हेनरी कैबट लाज ने किया था ।

टैफ्ट योजना

जून 1915 ई० मे अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति टैफ्ट ने शांति स्थापना के हेतु फिलाडेलफिया में एक सम्मेलन बुलाया । इस सम्मेलन ने शांति के लिये एक स्थायी संघ के लिए सिफारिश की । इसमें चारसूत्री कार्यक्रम निश्चित हुआ :— (1) सब अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता से निपटाया जाय । (2) दूसरे प्रकार के विवादों को समझौते के लिए एक समिति के सामने रखा जाय । (3) यदि कोई राष्ट्र शांतिपूर्ण हल को स्वीकार न करके युद्ध छेड़ दे तो उसके विरुद्ध अन्य सब राष्ट्र आर्थिक और सामरिक कार्यवाही करें । (4) समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून संग्रह के लिए सम्मेलनों का आयोजन किया जाय ।

इन सिफारिशों को व्यावहारिक रूप देने के लिए मई 1916 में वाशिंगटन में एक और सम्मेलन बुलाया गया । 22 जनवरी 1917 को राष्ट्रपति विलसन ने सिनेट मे भाषण देते हुए, "शांति के लिए विश्व संघ" की आवश्यकता पर बल दिया । उनके शब्दों में, "संसार में शांति स्थापना तभी संभव है, जब बड़े राष्ट्र आपसी समझौते को मान लें और यदि कोई राष्ट्र युद्ध करने लगे तो उस पर तुरन्त सामूहिक कार्यवाही की जाय । हमारा विश्वास है :—(1) विश्व के प्रत्येक समुदाय को अपनी सरकार

के चुनने का अधिकार है; (2) विश्व के छोटे राज्यों को अपनी संप्रभुता और प्रादेशिक अखंडता को कायम रखने का उतना ही अधिकार है, जितना कि बड़े राज्यों को और (3) किसी भी मूल्य पर आक्रमण को समाप्त करके विश्वशांति बनाये रखना सबका अधिकार है।

ब्राइस सुझाव

मई 1916 में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री हर्बर्ट ग्रासविथ और विदेश सचिव एडवर्ड ग्रे ने स्थानीय राष्ट्रसंघ समिति की स्थापना का समर्थन किया। लार्ड ब्राइस ने एक बीस सूत्री योजना में निम्नलिखित सुझाव दिये :—

(1) न्याययोग्य विवादों का निपटारा एक पंच-न्यायालय द्वारा हो।

(2) अन्य विवादों का निर्णय एक समझौता-समिति करे, जिसके सदस्य प्रारम्भ में केवल बड़ी शक्तियाँ हों।

(3) इस योजना को स्वीकार करने वाले राष्ट्रों को सभी विवादों को अनिवार्य रूप से समिति को सौंपना होगा और एक वर्ष तक फैसले के लिए प्रतीक्षा करनी होगी।

(4) यदि कोई शक्ति पंच निर्णय को अस्वीकार करे तो सामूहिक कार्यवाही के लिए एक सम्मेलन बुलाया जाय।

(5) जाँच-पड़ताल के पश्चात् सर्वसम्मति से अपराधी राष्ट्रों के विरुद्ध आर्थिक और सामरिक प्रतिबंध लागू हो। परन्तु इस प्रकार की कार्यवाही मे दो तृतीयांश बहुमत आवश्यक हो।

फिलीमोर योजना

दिसम्बर 1916 में ब्रिटेन के नये विदेशमंत्री बालफोर ने न्यायाधीश सर वाल्टर फिलीमोर के सभापतित्व में राष्ट्रसंघ का प्रारूप प्रस्तुत करने के लिए एक समिति स्थापित की। इस समिति की रिपोर्ट 20 मार्च 1918 में राष्ट्रपति विलसन को भेजी गई। फिलीमोर योजना ने मित्र राष्ट्रों के संघ की बजाय, पारस्परिक संधि के आधार पर युद्ध को रोकने के लिए सिफारिश की। इसके अनुसार प्रत्येक मित्र राष्ट्र ने युद्ध नहीं करने का वचन दिया। इसमें सभी राष्ट्रों के सम्मेलन के निर्णय का पालन करने का प्रस्ताव था। वचन भंग होने पर अपराधी राष्ट्र के विरुद्ध अन्य राष्ट्रों द्वारा सामूहिक रूप से आर्थिक और सामाजिक दंड देने की व्यवस्था थी।

फ्रांसीसी दस्तावेज

जुलाई 1917 में फ्रांस के प्रधानमंत्री रिबोट ने कानून विशेषज्ञ लियोन बुर्जुवा के सभापतित्व में 14 व्यक्तियों की एक समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने राष्ट्रसंघ के दस्तावेज जून 1918 में प्रस्तुत किये। इसमें सभी विवादों के कानूनी समाधान की व्यवस्था थी। अन्तर्राष्ट्रीय पंच, बड़ी शक्तियों के विदेशमंत्रियों की बैठक,

निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए कूटनीतिक, आर्थिक एवं सामरिक प्रतिबंध का प्रयोग आदि सम्मिलित था। फ्रासीसी विचार मे शांति के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-सेना का प्रयोजन अत्यन्त आवश्यक था। यह योजना भी पेरिस में राष्ट्रसंघ आयोग को विचार के लिए दी गई।

विदेश मंत्रालय का स्मरण-पत्र

ब्रिटेन के विदेश मत्रालय के विशेषज्ञों ने नवम्बर 1918 मे एक स्मरण-पत्र प्रस्तुत किया। इसमें वास्तविक सामूहिक संधि के आधार पर राष्ट्रसंघ की स्थापना का सुझाव था। एक अन्य प्रस्ताव विवादों को हल करने के लिए महाशक्तियों के विदेश मंत्रियों का वार्षिक सम्मेलन था। इसमें एक अन्तर्राज्य सभा और स्थायी सचिवालय तथा जनता में प्रचार की आवश्यकताओं पर बल दिया गया था। हेग स्थिति पच-न्यायालय को इसका अंग बनाने व पांच साल बाद छोटे राष्ट्रों के विदेश मंत्रियों को भी सम्मेलन में भाग लेने की सुविधा देना, इसके अन्य सुझाव थे।

स्मट्स की सिफारिश

कुछ विचारकों ने सेनापति स्मट्स को राष्ट्रसघ का पिता कहा है, क्योंकि उन्होंने ही अपनी पुस्तक, 'दी लीग ऑफ नेशन्स : ए प्रैक्टिकल सजैशन' में सबसे पहले सघ के ढांचे और सगठन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया था। इसका प्रकाशन 16 दिसम्बर 1918 में हुआ। इसमे कार्यकारिणी के रूप में एक परिषद् के स्थापित करने की सिफारिश थी, जिसमें बड़े राष्ट्र स्थायी सदस्य हों और छोटे अस्थायी। उपनिवेश के शासन के लिये आदिष्ट प्रणाली का प्रयोग करने के लिये कहा गया था। किन्तु स्मट्स आस्ट्रिया के साम्राज्य पर इस प्रणाली का प्रयोग करना चाहते थे, अफ्रीका के जर्मन उपनिवेशों पर नही। नि शस्त्रीकरण को सघ का प्रधान कार्य कहा गया, जिसमें अनिवार्य सैनिक सेवा पर रोक, घातक हथियारो में कमी करना और अस्त्र-शस्त्र के कारखानों का राष्ट्रीयकरण करना शामिल था। संघ के निर्णय के लिए एक मत के स्थान पर दो तृतीयाश बहुमत ही पर्याप्त था। अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन को स्मट्स ने अव्यवहारिक कहा, परन्तु औपनिवेशिक जनता के हित के लिये संघ का नियंत्रण और देखभाल अत्यन्त आवश्यक समझी गई।

विलसन का मसविदा

8 जनवरी 1918 को राष्ट्रपति विलसन ने अपनी 14 विन्दु योजना के अंतिम विन्दु में एक स्थायी राष्ट्रसंघ का प्रस्ताव रखा। इसी समय विलसन ने अपने परामर्श-दाता कर्नल हाउस की सहायता से एक योजना तैयार की। 25 जनवरी 1919 को पेरिस मे ब्रिटेन की तरफ से लार्ड सिसिल हर्स्ट और अमेरिका के हन्टर मिलर ने उपरोक्त योजनाओं को कानूनी रूप दिया। 19 सदस्यों की राष्ट्रसंघ समिति ने 3 से 16 फरवरी तक इस पर विचार किया। इस समिति के सभापति विलसन स्वयं थे। 28 अप्रैल को संशोधित प्रारूप सम्पूर्ण सम्मेलन ने सर्वसम्मति से प्रतिश्रव

के रूप में स्वीकार किया। विलसन के शब्दों में, "आज एक सजीव संस्था का जन्म हुआ है। इसकी धारायें लचीली और साधारण हैं, परन्तु एक विषय में यह दृढ़ है। आक्रमण को रोकने के लिये 'प्रतिश्रव' शब्द की निश्चित गारण्टी है। सामरिक शक्ति इन शब्दों के पीछे छिपी हुई है। यदि विश्व की नैतिक शक्ति शांति के लिये पर्याप्त नहीं हो तो दैहिक शक्ति का प्रयोग करना ही होगा। परन्तु यह अंतिम निर्णय होगा; क्योंकि यह संघ शांति का प्रतीक है, युद्ध का नही। यह ऐसा संघ है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में सहयोग की भावना को प्रोत्साहित करता है।" जिमरैन के अनुसार प्रतिश्रव में पाँच प्रमुख प्रणालियों का समन्वय था :—

(1) एक उन्नत एवं विस्तृत शक्तिगोष्ठी का नियमित सम्मेलन; (2) एक संशोधित विश्वव्यापी मुनरो सिद्धान्त, जिसका आधार पारस्परिक स्वतंत्रता एवं भूमि की अखण्डता की गारण्टी था; (3) हेग-सम्मेलन द्वारा स्थापित मध्यस्थ समझौता एवं जाँच की प्रणाली का प्रयोग; (4) यूनिवर्सल पोस्टल यूनियन एवं विभिन्न जनहितकारी संस्थाओं का एक स्थायी सचिवालय; (5) युद्ध के विरुद्ध शोरगुल और रोदन को सघ के राजनैतिक सम्मेलन के माध्यम से विश्वव्यापी चिन्ता का विषय एवं मानव समुदाय के विरुद्ध एक अपराध घोषित करना। राष्ट्र सघ का जीवन 10 जनवरी 1920 से औपचारिक रूप से प्रारम्भ हो गया।

राष्ट्रसंघ का संगठन

प्रतिश्रव

शाति संधियों में प्रथम 26 धाराये राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव से संबंधित हैं। प्रतिश्रव मे वर्णित इस संघ के चार उद्देश्य हैं :—(1) युद्ध निवारण, (2) शांति की स्थापना, (3) सधियों के नियमों तथा उपनियमों को लागू करना व (4) मानव समाज की भौतिक तथा नैतिक उन्नति के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित करना।

1. युद्ध निवारण :—धारा दस के अनुसार संघ के सदस्यों को, स्थित राजनीतिक स्वतंत्रता और प्रादेशिक अखंडता के सम्मान और सुरक्षा को, बाह्य आक्रमण से बचाने के लिये कार्यवाही करने का अधिकार दिया गया। ग्यारहवी धारा के अनुसार राष्ट्रसंघ शांति की सुरक्षा के लिये उचित और प्रभावशाली कदम उठा सकता है। बारहवी धारा मे यह वैध है कि विवादलिप्त सदस्य या तो पंच फैसले को स्वीकार करें अथवा परिषद् द्वारा स्थानीय जाँच को स्वीकार करें। विवादलिप्त सदस्य पंच निर्णय के तीन मास पश्चात् तक किसी भी हालत में युद्ध नही छेड़ सकेंगे। 13वीं धारा में इस बात पर बल दिया गया कि पंच निर्णय को सही रूप में क्रियान्वित किया जाय और पंच निर्णय के पालन करने वाले सदस्य देश से युद्ध को अवैध माना गया। 16वी धारा के अनुसार यदि कोई सदस्य-देश प्रतिश्रव की धाराओं की अवहेलना करके युद्ध घोषणा करे तो अन्य समस्त सदस्य देशो के विरुद्ध युद्ध का अपराधी माना जायगा। 17वी धारा मे स्पष्टतया कहा गया कि यदि

राष्ट्र संघ का संगठन

(1920—1946)

- साधारण सभा 60 सदस्य (1935)
  - परिषद 4 स्थायी, 11 अस्थायी (1936) (3 वर्ष)
    - आदिष्ट आयोग 11 सदस्य
    - अल्पसंख्यक संरक्षण आयोग
    - डानजिग प्रशासन
    - सार प्रशासन
    - निःशस्त्रीकरण आयोग
  - सचिवालय
    - आर्थिक एवं वित्तीय आयोग
    - अंतर्राष्ट्रीय कानून संग्रह
    - संचार तथा यातायात संगठन
    - शरणार्थी संगठन
    - बौद्धिक सहयोग
    - स्वास्थ्य समिति
    - नशीली दवाओं पर प्रतिबंध
  - अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय 15 न्यायाधीश (9 वर्ष)
  - अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ
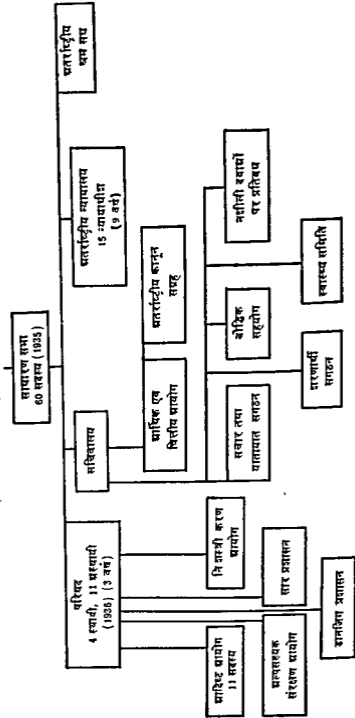
वह देश जो राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं है, राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य देश के विरुद्ध युद्ध छेड़े तो उसके साथ 16वीं धारा के अनुसार व्यवहार किया जायगा।

प्रतिश्रव के द्वारा युद्ध पूर्णरूप से अवैध न था। अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध भी उसी समय वैध माना जा सकता था जबकि उन देशों का विवाद पहले राष्ट्रसंघ में मध्यस्थता के लिये रखा गया हो और वह उसे निर्विरोध सुलझाने में असमर्थ रहा हो। प्रतिश्रव की अवहेलना कर यदि कोई राष्ट्र युद्ध छेड़ दे तो धारा 16, राष्ट्रसंघ के सदस्यों को युद्ध-रत सदस्य राष्ट्र और गैर सदस्य राष्ट्र के साथ आर्थिक, व्यापारिक और वैयक्तिक संबंध तोड़ने के लिये बाध्य करती थी। ऐसी स्थिति होने पर परिषद् द्वारा राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्रों को प्रतिश्रव की व्यवस्था कायम रखने के लिये प्रभावशाली सैनिक, नौ सैनिक तथा वायुसेना के प्रयोग करने का अधिकार था।

2. शांति की स्थापना:—युद्ध बन्द करने के निषेधात्मक प्रयत्नों के साथ-साथ राष्ट्रसंघ युद्धोत्पादक कारणों को भी दूर करने के लिये सक्रिय तौर पर सचेष्ट था। इसके लिये प्रतिश्रव ने गुप्त सधि प्रथा रद्द कर दी। ऐसी व्यवस्था की गई कि कोई भी संधि तब तक व्यवहार में नही आ सकती, जब तक कि उसे राष्ट्रसंघ के सचिवालय की स्वीकृति न मिल जाय। इसके अतिरिक्त सदस्य देशों ने एक प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर भी किये, जिसके अन्तर्गत उन्होने उन सब पुरानी सधियों को रद्द कर दिया जो कि प्रतिश्रव की मूल नीति से टकराती थी तथा भविष्य में प्रतिश्रव के सिद्धान्तों के अनुकूल ही नई सधिया करने का वचन दिया। प्रतिश्रव में, "यथास्थिति" को बहुत अधिक महत्व दिये जाने को नियन्त्रण में रखने के लिये उन संधियों पर पुनः विचार करने की व्यवस्था की, जो कि अव्यवहृत हो चुकी थीं और जिनके चालू रहने से संसार की शांति को खतरा था।

प्रतिश्रव शस्त्रों की होड़ को घटाने के लिये सक्रिय और सचेष्ट था। इस कार्य सिद्धि के लिये उसने सदस्य देशों को प्रेरित किया कि "वे केवल राष्ट्रीय सुरक्षा के निमित्त ही शस्त्र-सज्जा रखें और व्यक्तिगत उद्योगों के द्वारा अस्त्र-शस्त्रों का तैयार करना भयंकर प्रतिवाद का सामना करना समझें।" प्रतिश्रव ने परिषद् को अस्त्र-शस्त्रों को घटाने के स्पष्ट निर्देश दिये।

3. पेरिस संधि को अमल में लाना:—श्लेसविग, पूर्वी प्रशा और ऊपरी साइलेशिया में जनमत का निरीक्षण राष्ट्रसंघ का दायित्व था। 15 वर्ष तक डार्नजिग नगर की व्यवस्था तथा सार के शासन प्रबन्ध का भार भी इसे उठाना था। अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिये इसे विशेष संधियों का प्रबन्ध करना था।

4. मानवीय सहयोग को प्रोत्साहन:—मनुष्य मात्र से सम्बन्ध रखने वाले मामलों में मनुष्यता के आधार पर सहयोग स्थापित करना भी राष्ट्रसंघ का एक ध्येय रहा। इसके अन्तर्गत पुरुष, स्त्री और बच्चों के उपयुक्त ही श्रम-व्यवस्था कायम

करना उपनिवेशों के आदि-निवासियों के प्रति न्याय-पूर्ण बर्ताव करना, राष्ट्रसंघ के सदस्य देशों में परस्पर युक्तिसगत समान व्यवसाय और संचार स्थापित करना व अफ़ीम जैसे मादक तथा हानिकारक द्रव्यों तथा अस्त्र-शस्त्रों का सदस्य देशों के साथ व्यापार नियमित करना था। बीमारियों की रोकथाम और निराकरण का उत्तरदायित्व भी संघ ने ले लिया था। संसार के कष्टों का उन्मूलन करने के लिये राष्ट्रीय आधार पर रेडक्रास को संगठित करना भी इसके उद्देश्यों के अन्तर्गत था, जिसमें शांति-पूर्ण सहयोग के आधार पर सार्वजनिक सुरक्षा की सुदृढ़ नीव खड़ी की जाय।

सदस्यता

राष्ट्रसंघ के प्रारम्भिक सदस्य 31 हस्ताक्षरकर्ता थे, जिनके नाम प्रतिश्रव के परिशिष्ट में उल्लिखित हैं। चीन सेन्ट जर्मेन की संधि पर हस्ताक्षर करके 32 वां सदस्य बन गया। इनमें से तीन राष्ट्र—इक्वेडोर, हेजाज और अमेरिका—सधि की सम्पुष्टि नही करने से सदस्य नहीं रहे। 1935 में अधिकतम सदस्य संख्या 60 हो गई, जिनमे भारत भी एक था। कोई भी संप्रभु देश, उपनिवेश अथवा राज्य इस सघ का सदस्य तभी हो सकता था, जब उसे साधारण सभा के दो तिहाई मत प्राप्त हो तथा वह अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के पालन करने का विश्वास दिला सके।

तीन प्रकार से सदस्यता समाप्त हो सकती थी—प्रथम, दो वर्ष की अग्रिम सूचना देकर कोई भी सदस्य, राष्ट्रसंघ का परित्याग कर सकता था—(धारा प्रथम); दूसरा, सशोधन से असन्तुष्ट होकर सघ को छोड़ सकता था (धारा 26); तीसरा, यदि कोई राष्ट्र अपना उत्तरदायित्व निबाहने में असमर्थ हो तो परिषद् की सर्व-सम्मति से उसे बहिष्कृत किया जा सकता था और वह राष्ट्र इस मतदान में भाग नही ले सकता था। प्रारंभ में महाशक्ति—जैसे अमेरिका, जर्मनी व रूस राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं थे। जर्मनी 1926 मे और रूस 1934 में सदस्य बने; परन्तु जर्मनी ने 14 अक्टूबर 1933 को और जापान ने 27 मार्च 1933 को राष्ट्रसघ का परित्याग कर दिया। इटली ने 11 दिसम्बर 1937 में राष्ट्रसंघ छोड़ देने की सूचना दे दी। 14 दिसम्बर 1939 में रूस को बहिष्कृत किया गया। इस प्रकार अप्रैल 1946 में महासभा के अंतिम अधिवेशन के समय केवल 34 राष्ट्र इसके सदस्य थे।

साधारण सभा

रचना :—इसमें समस्त सदस्य देशों के प्रतिनिधि थे। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र के 3 प्रतिनिधि हो सकते थे, परन्तु उनका मत एक ही माना जाता था। सभा अपने अध्यक्ष का निर्वाचन एक वर्ष के लिये छोटे राष्ट्रों में से स्वयं करती थी। इसके 8 उपाध्यक्ष भी होते थे। इसकी छः स्थायी समितियां होती थीं, जिनमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्र के प्रतिनिधि होते थे। ये समितियां इस प्रकार से थीः—कानूनी तथा सवैधानिक; तकनीकी संस्थायें; अस्त्र-शस्त्र; बजट; सामाजिक एव साधारण; राज-

नैतिक। साधारण सभा के गंभीर विचार विनिमय और समझौते के निर्णय इन्हीं समितियों में हुआ करते थे। इसके अलावा 17 सदस्यों की दो विशेष समितियाँ भी होती थीं। साधारण सभा के वार्षिक अधिवेशन सितम्बर में जेनेवा में हुआ करते थे। आवश्यकता पड़ने पर विशेष अधिवेशन भी बुलाया जा सकता था—जैसे फिलस्तीन के प्रश्न साधारण सभा के 1920 से 46 के बीच कुल 21 अधिवेशन हुए। इसका कार्यक्रम महामंत्री तैयार करते थे।

अधिकार क्षेत्र

धारा तीन और चार के अनुसार सभा का कार्य-क्षेत्र परिषद् की भाँति अत्यन्त व्यापक था। विश्वशांति के लिये संघ की आवश्यक कार्यवाही करने का अधिकार सभा को दिया गया था। प्रारम्भ से ही सभा उन सब विषयों पर विचार करने लगी, जो कि परिषद् के भी कार्यक्षेत्र में थे। जैसे आदिष्ट प्रणाली, अल्प-संख्यकों को संरक्षण आदि। केवल तीन ही विवादों—चीन-जापान युद्ध ; बोलिविया और पैरागुवे में ग्रान चाको विवाद ; और 1939 के रूस-फिनलैंड युद्ध में महासभा ने महत्वपूर्ण भाग लिया। परिषद् के साथ सम्मिलित रूप से सभा ने इटली-इथोपिया विवाद में निर्णय लिया था।

साधारणत सभा की रुचि तीन विषयों में रहती थी—1. चुनाव सम्बन्धी विषयों में, 2. प्रतिश्रव के संशोधन मे और 3. परामर्श देने में। चुनाव सम्बन्धी कार्य प्रणाली में सभा के निम्न कर्त्तव्य थे : दो तिहाई मतों से नये राष्ट्रों को संघ का सदस्य बनाना ; बहुमत द्वारा परिषद् के तीन अस्थायी सदस्यों को चुनना ; प्रति नौ वर्ष में स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के लिये 15 न्यायाधीशों को चुनना एवं परिषद् के साथ मिलकर सामान्य बहुमत से सघ के महामंत्री की नियुक्ति में स्वीकृति देना। प्रतिश्रव में संशोधन सर्व सम्मति से स्वीकार करना, ताकि सदस्य राष्ट्र उसका अनुमोदन करें। परामर्श के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय हित से संबध रखने वाले कार्यों—जैसे, संधियों में संशोधन, आर्थिक और राजनैतिक विषयों का विचार, परिषद् के निर्णयों का अनुमोदन तथा वार्षिक बजट तैयार करना, आदि—को करना था।

पाँच करोड़ रुपयों के वार्षिक बजट को साधारणत: तीन मुख्य मदों पर व्यय किया जाता था :—

1. सचिवालय, 2. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय और 3. स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय। बजट को 923 इकाइयों में विभाजित किया जाता था, जिनमें ब्रिटेन को 108, रूस को 94, भारत को 49 और अल्बेनिया को केवल एक इकाई अदा करनी होती थी। धारा पाँच में सभा के सभी निर्णय उपस्थित सदस्यों की सर्वसम्मति से लिये जाते थे। धारा 15 में विवादों को निपटाने के लिये सभा को सीमित कानूनी अधिकार दिया गया था। राजनीतिक विषयों में सभा का मुख्य कार्य सदस्यों में वार्तालाप एवं समझौता था।

आलोचना

संक्षेप में, सभा की सफलता निम्न प्रकार से थी :—

1. इसने अन्तर्राष्ट्रीय मंच के रूप में कार्य किया।
2. संघ की मूल प्रशासनिक एवं राजनीतिक नीति को निर्दिष्ट किया।
3. संघ की अन्यान्य संस्थाओं का साधारण निरीक्षण किया।
4. शांतिपूर्ण ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के लिये अप्रत्यक्ष रूप से सदस्यों को प्रभावित किया।
5. अपनी सिफारिशों द्वारा सदस्य राष्ट्रों के लिये अन्तर्राष्ट्रीय विधान का निर्माण किया।
6. विश्व जनमत को शिक्षित और संगठित किया।

परिषद् की अपेक्षा सभा का सम्मान और प्रभाव क्रमशः बढ़ता गया। इसके दो कारण थे—प्रथम यह कि छोटे राष्ट्र सभा के सदस्य होने से सभी वादविवादों में भाग लेते थे और द्वितीय, सभा की सिफारिश सर्वसम्मति से होने के कारण सभी राष्ट्रों का सहयोग इसे प्राप्त होता था (छोटे राष्ट्रों का वास्तविक प्रतिनिधित्व सभा मे ही था)। प्रतिवर्ष सभा के प्रारम्भिक काल में "विश्व की परिस्थिति" पर बहस होती थी, जिसमें छोटे-बड़े सभी राष्ट्र भाग लेते थे। संक्षेप में राष्ट्रसंघ की महासभा को विश्व का विवेक कहा गया है। जिमरेन के शब्दों में, "विश्व में नियमानुकूल राज्य का, राष्ट्रसंघ, प्रथम बाह्य एवं स्पष्ट प्रदर्शन था।"

परिषद् (कौन्सिल)

रचना :—प्रारम्भ में परिषद् में महाशक्तियों के बहुमत की व्यवस्था थी। कुल सदस्य नौ थे। पाँच स्थायी—अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान तथा चार अस्थायी सभा द्वारा बहुमत के आधार पर दो वर्ष के लिये चुने जाते थे। अमेरिका के संधि की पुष्टि नहीं करने से स्थायी व अस्थायी सदस्यों की संख्या समान हो गई। परन्तु धीरे-धीरे अस्थायी सदस्यों का बहुमत बन गया। 1922 में अस्थायी सदस्यों की संख्या दो और बढ़ गई और 1936 मे कुल अस्थायी सदस्यों की संख्या 11 तथा उनका कार्यकाल 3 वर्ष हो गया। 4 स्थायी सदस्यों को मिलाकर परिषद् में इस समय 15 सदस्य थे। 1939 मे इटली के पृथक हो जाने से स्थायी सदस्य तीन और कुल सदस्य 14 रह गये।

1926 के पश्चात् वर्ष में चार बार इसका अधिवेशन नियमित रूप से होता था और अतिरिक्त अधिवेशन भी बुलाया जाता था; जबकि इसके पूर्व वर्ष में केवल तीन अधिवेशन होते थे। फ्रांसीसी वर्णमाला के आधार पर सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि बारी-बारी से इसके अध्यक्ष चुने जाते थे। परिषद् की कोई स्थायी समिति नहीं थी। बड़े विवादों का निपटारा करने के लिये परिषद् अनुसंधान एवं उचित सिफारिश के लिये प्रतिवेदक नियुक्त करती थी। 20 वर्ष तक यह प्रणाली सफलतापूर्वक कार्य

करती रही। परिषद् के कुल 107 अधिवेशन हुये। प्रथम अधिवेशन पेरिस में 16 जनवरी 1920 व अंतिम अधिवेशन 14 दिसम्बर 1939 में हुआ।

कार्य क्षेत्र:—प्रतिश्रव की धारा चार के अनुसार परिषद् विश्वशांति से संबंधित किसी भी विषय पर विचार कर सकती थी। जब भी युद्ध हो अथवा युद्ध की संभावना हो, तब यद्यपि यह कार्य संघ से सम्बन्धित था, सबकी आँखें परिषद् की ओर ही लगी रहती थी। इसके सब निर्णय सर्व सम्मति से होते थे। परन्तु कार्यवाही सम्बन्धी विषयों में केवल बहुमत ही पर्याप्त था। यद्यपि इसका अधिकार-क्षेत्र सभा से जुड़ा हुआ था —परन्तु कई विषयों में यह पृथक निर्णय ले सकती थी। सचिवालय के अधिकारियों की नियुक्ति एवं प्रतिश्रव भंग करने पर किसी सदस्य को संघ से बहिष्कृत करने का अधिकार इसको था। स्थायी आदिष्ट आयोग की वार्षिक रिपोर्ट पर विचार, सामरिक प्रतिबन्ध का प्रयोग, निःशस्त्री-करण योजना, सार प्रदेश तथा डानजिग नगर की प्रशासनिक व्यवस्था, अल्प सख्यकों के हितों की रक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा आदि का उत्तरदायित्व परिषद् पर था। संक्षेप में, इसके मुख्य कार्य निम्न थे—

1. साधारण सभा के प्रस्तावों को व्यावहारिक रूप देना,
2. कुछ विशेष प्रशासनिक कार्य करना,
3. अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के लिये समझौता कराना,
4. सामरिक प्रतिबन्ध का प्रयोग करने के लिये सिफ़ारिश करना।

सचिवालय

संगठन:—पेरिस सम्मेलन के अनुसार राष्ट्रसंघ के लिये एक स्थायी सचिवालय की भी स्थापना की गई। सचिवालय का प्रधान अधिकारी महासचिव था, जिसकी नियुक्ति परिषद् और महासभा के पृथक्-पृथक् बहुमत से 5 वर्ष के लिये की जाती थी। प्रथम महासचिव ब्रिटेन के 40 वर्षीय सर एरिक ड्रमंड (1920 से 32), जो कि ब्रिटेन की प्रशासनिक सेवा में 20 वर्ष के अनुभवी थे, नियुक्त किये गये। 12 वर्ष पश्चात् द्वितीय महासचिव फ्रांस के जोसेफ ऐवेनेल बने, जो 10 वर्ष तक उपमहासचिव रह चुके थे। 1940 में उनके त्यागपत्र देने के कारण आयरलैंड के सीन लेस्टर तीसरे महासचिव नियुक्त किये गये। 1946 तक वे इस पद पर कार्य करते रहे।

सचिवालय के अन्य अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार महासचिव को दिया गया। 50 सदस्य राष्ट्रों में से कुल 750 योग्य अधिकारियों को सचिवालय में नियुक्त किया गया था। विश्व इतिहास में यह प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासनिक सेवा का संगठन था। प्रत्येक अधिकारी को राष्ट्रसंघ के प्रति निष्ठा की शपथ लेनी पड़ती थी। सचिवालय के अधिकारियों ने निष्पक्षता, कर्तव्य-परायणता और योग्यतापूर्वक कार्य करके अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहित किया।

सचिवालय के लिये दो उपसचिव थे तथा विभिन्न संचालकों के अधीन 15 विभाग होते थे। इसके अतिरिक्त पुस्तकालय और प्रशासनिक सेवा विभाग भी था।

कार्यविधि

महासचिव साधारण सभा और परिषद् के सब अधिवेशनों की कार्यवाही के लिये उत्तरदायी था। सदस्य राष्ट्रों के अनुरोध पर वह परिषद् का विशेष अधिवेशन बुला सकता था (धारा 11)। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का अनुसंधान और परिषद् को सूचित करने का अधिकार महासचिव को था (धारा 15)। परन्तु सदस्यों द्वारा की गई समस्त संधियों के अभिलेख (रजिस्ट्रेशन) तथा प्रकाशन के लिये भी वही उत्तरदायी था। सचिवालय ने कुल 4 हजार 733 संधियों का प्रकाशन किया था। राष्ट्रसंघ के विचारार्थ जटिल समस्याओं की सदस्यों को सूचना देना, अधिवेशन का कार्यक्रम प्रस्तुत करना, वाद-विवादों का अंग्रेजी व फ्रैंच भाषा में अनुवाद करना, राष्ट्रसंघ के पत्रिका (Official Journal) सभा तथा परिषद् की कार्यवाहियों को प्रकाशित करना आदि सचिवालय के प्रमुख कार्य थे।

राष्ट्रसंघ की सहायता के लिये तकनीकी संस्थाओं तथा सलाहकार समितियों की स्थापना की गई थी। पाँच उल्लेखनीय तकनीकी संस्थायें इस प्रकार थी—

1. स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
2. अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसघ
3. आर्थिक तथा वित्तीय सघ
4. सवाहन तथा यातायात व्यवस्था
5. स्वास्थ्य सघ

परामर्श समितियों में 'अफीम व नशीली-औषधि समिति', स्थायी आदिष्ट आयोग और बौद्धिक सहयोग संस्था मुख्य थी।

संक्षेप मे, सचिवालय की सफलतायें निम्नलिखित थी।

1. राष्ट्रसंघ की विभिन्न संस्थायो में समन्वय स्थापित करना।
2. संघ की विभिन्न संस्थाओं के सभी कार्यों का लिखित रिकार्ड रखना।
3. सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को आवश्यक सूचना व जानकारी देना।
4. विभिन्न संस्थाओ द्वारा लिये गये निर्णयों को क्रियान्वित करना।
5. संघ को नीति-निर्धारण करने में सहायता देना तथा विवादो के समझौते के लिये सदस्यों को प्रभावित करना।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

प्रतिश्रव की धारा 14 के अनुसार स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय राष्ट्रसंघ के प्रमुख न्याय अंग के रूप मे स्थापित किया गया था। इसके कार्य दो प्रकार के थे—प्रथम उन सब विवादों का निर्णय करना जो राष्ट्र उसके समक्ष प्रस्तुत करें और द्वितीय महासभा अथवा परिषद् द्वारा रखे गये किसी भी प्रश्न पर परामर्श देना। न्यायालय की संविधि को प्रस्तुत करने के लिये 1920 में कानून विशेषज्ञों का एक

आयोग नियुक्त किया गया, जिसके अध्यक्ष अमेरिका के इलीहू रूट थे। सितम्बर 1921 में यह संविधि 28 सदस्य राष्ट्रों की सम्पुष्टि के पश्चात् लागू की गई। 15 फरवरी 1922 को हेग महानगरी में शांति प्रासाद में इस न्यायालय का उद्घाटन किया गया।

संगठन

इस न्यायालय में प्रारम्भ मे 11 न्यायाधीश व 4 उप-न्यायाधीश थे, जो कि 9 वर्ष के लिये पृथक् रूप से परिषद् और महासभा के बहुमत से चुने जाते थे। एक ही राष्ट्र के दो न्यायाधीश नही होते थे। न्यायाधीशों का चुनाव योग्यता व ईमानदारी के आधार पर किया जाता था। वे कानून के महान् ज्ञाता होते थे। न्यायाधीश दोबारा भी चुने जा सकते थे। न्यायालय अपना सभापति व उप-सभापति 3 वर्ष के लिये स्वयं चुनता था। 1930 में न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाकर 15 कर दी गई और 6 साल बाद उप-न्यायाधीशों के पद का अन्त कर दिया गया। कोई भी न्यायाधीश बरखास्त नही किया जा सकता था। न्यायालय का केन्द्र हालैण्ड के प्रसिद्ध नगर हेग में था। प्रतिवर्ष 15 जून को इसकी बैठक आरम्भ होती थी। राष्ट्रसंघ इसके लिए 5 लाख डालर सालाना व्यय करता था। न्यायालय स्वयं एक पृथक् रजिस्ट्रार नियुक्त करता था। न्यायाधीशों का वार्षिक वेतन भत्तों के अतिरिक्त 30 हजार डालर था। फ्रैंच व अंग्रेजी दोनों भाषाओं का प्रयोग होता था। सभी न्यायाधीश अपनी सरकार के प्रतिनिधि के रूप में नही; किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारी के रूप में कार्य करते थे।

अधिकार-क्षेत्र

न्यायालय का अधिकार क्षेत्र दो प्रकार का था—ऐच्छिक तथा अनिवार्य। ऐच्छिक धारा को स्वीकार करने वालों को निम्न कानूनों व झगड़ों में न्यायालय का निर्णय मानना पड़ता था :—

1. किसी सधि का स्पष्टिकरण,
2. अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी कोई भी प्रश्न,
3. किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का उल्लंघन करना,
4. इस प्रकार से उल्लंघन होने पर जो हर्जाना देना पड़े, उसका रूप और मात्रा तय करना।

1939 तक 47 राष्ट्रों ने न्यायालय की इस प्रकार की शर्तों को स्वीकार किया। अनिवार्य अधिकार क्षेत्र के अनुसार एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को न्यायालय के सामने पेशी के लिये बुला सकता था। यदि दूसरा राष्ट्र अनुपस्थित हो तो न्यायालय अपने आप निर्णय कर सकता था। जब दो राष्ट्र पारस्परिक सम्मति से आपस के झगड़े को न्यायालय में पेश करते थे तो उस समय इसका कार्य-क्षेत्र ऐच्छिक धारा के अनुसार होता था।

मूल्यांकन

स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय हेग में स्थापित (1899) पंच न्यायालय से

संपूर्ण पृथक् संस्था थी। पंच न्यायालय में केवल 132 प्रमुख कानून विशेषज्ञों की सूची होती थी, जिसमें से विवादास्पद राष्ट्र 4 पंच चुन सकते थे। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय एक स्थायी कानूनी न्यायालय था, जिसका काम अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या करना और संधि के उल्लंघनों पर निर्णय देना था; पंच निर्णय नहीं। संक्षेप में, इस न्यायालय ने राष्ट्रों के बीच विवादों को सुलझाने के लिये महत्वपूर्ण तथा सफल प्रयास किये। शूमैन के शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के 17 वर्ष के रिकार्ड बड़े मूल्यवान सिद्ध हुए, क्योंकि राष्ट्रों के बीच के विवादों के निपटारे और परिषद् को परामर्श देने में इस संस्था ने नया मार्ग प्रदर्शित किया।" न्यायालय ने अपने जीवनकाल में (1922 से 40) 32 महत्वपूर्ण निर्णय, 27 परामर्श और 200 से अधिक छोटे-मोटे आदेश जारी किये। वास्तव में न्यायालय राष्ट्रसंघ की सबसे अधिक कुशल और प्रभावशाली संस्था थी। यही कारण था कि आगे चलकर इसे संयुक्त राष्ट्रसंघ का भी एक अंग बना दिया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ

स्थापना

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ पेरिस शान्ति-सम्मेलन द्वारा राष्ट्रसंघ की स्वशासित शाखा के रूप में स्थापित किया गया। धारा 23 के अनुसार श्रमिक वर्ग के हितों की रक्षा के लिये सदस्य राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय संगठन से आवश्यक सहायता प्राप्त करने के लिये कहा गया। पेरिस की अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समिति (1900), रूसी क्रांति (1917) और अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी और व्यापारिक कांग्रेस (1918) आदि की मांग की पूर्ति के लिये इस संस्था का जन्म हुआ।

उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के निम्नलिखित उद्देश्य थे :—

1. सामाजिक न्याय की उन्नति से स्थायी शान्ति-स्थापना में योग देना,

2. अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही द्वारा श्रमिकों के जीवन-स्तर, श्रमिक कानून, आर्थिक एवं सामाजिक स्थिरता में सुधार करना,

3. श्रम कानून में समानता लाने के लिये सरकार, श्रमिक और मालिकों में सम्पर्क स्थापित करना,

4. श्रमिकों के लिये अधिकतम काम के घण्टे निश्चित करना; बेकारी को समाप्त करना; उचित वेतन दिलवाना; वेतन सहित छुट्टी; बीमारी एवं दुर्घटनाओं से रक्षा करना; स्त्री और बालक श्रमिकों के हितों का संरक्षण; विदेशों में श्रमिक वर्गों की देखभाल; बुढ़ापे में पेंशन की व्यवस्था; मनोरंजन की सुविधा; समान काम के लिये समान वेतन के सिद्धान्त का प्रयोग करना एवं श्रमिक संगठन स्थापित करने की स्वतंत्रता दिलवाना।

संगठन

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के तीन अंग थे— 1. साधारण सम्मेलन, 2. प्रशासकीय परिषद् और 3. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय। साधारण सम्मेलन में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र के चार प्रतिनिधि थे—दो प्रतिनिधि सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत, एक मजदूर वर्ग द्वारा चुना हुआ और एक मालिक वर्ग द्वारा चुना हुआ। इसकी बैठक वर्ष में एक बार होती थी और प्रत्येक प्रतिनिधि व्यक्तिगत रूप से मत देते थे। यह दो तृतीयांश बहुमत से अभिसमय या सिफारिशों को स्वीकार करता था, जो कि एक वर्ष के भीतर सदस्य राष्ट्रों की सरकार द्वारा संपुष्टि के लिये रखी जाती थी।

प्रशासकीय परिषद् में कुल 32 सदस्य होते थे, जिनको कि 3 वर्ष के लिये साधारण सम्मेलन मे अपने-अपने वर्ग में से चुना जाता था। इन सदस्यों में से 16 सदस्य सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते थे, जिनमें से 8 प्रमुख औद्योगिक राष्ट्रों के प्रतिनिधि होते थे—ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी, रूस, अमेरिका, जापान और भारत। 8 सदस्य साधारण सम्मेलन के मालिक वर्ग द्वारा और शेष 8 श्रमिक वर्ग द्वारा चुने जाते थे। इसकी बैठक प्रत्येक 3 मास बाद होती थी। परिषद् सम्मेलनों का कार्यक्रम बनाती थी, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के संचालक की नियुक्ति करती थी और संघ की अन्यान्य उप-समितियो की देखभाल और वार्षिक बजट प्रस्तुत करती थी। विचार-विनिमय के पश्चात् श्रम संबंधी अभिसमय को सम्मेलन के समक्ष रखती थी।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय, जिसमें 350 विशेषज्ञ होते थे, श्रमिक संघ के सचिवालय के रूप में जेनेवा में कार्य करता था। 1940 में द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण इसका कार्यालय केनेडा में मांट्रीयल में चला गया। सयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के पश्चात् यह कार्यालय पुनः जेनेवा में आ गया। इसका प्रमुख कार्य आवश्यक सूचनाओं का सकलन तथा सदस्य राष्ट्रों में प्रचार, सम्मेलन के निर्णयों के आधार पर अभिसमय का मसविदा तैयार करना और सदस्य सरकार की प्रार्थना पर उनको सहयोग देना, किसी श्रम संबंधी विषय पर अनुसंधान करना तथा श्रमिक सघ की सफलता के लिये आवश्यक साधन उपलब्ध करना और अन्य श्रम कल्याण सस्थाओं से सम्पर्क स्थापित करना था। यह 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम रिव्यू' और 'सरकारी बुलेटिन'; अनेक रिपोर्ट और दस्तावेज प्रकाशित करता था। इसके संचालक अल्बर्ट थामस (अप्रैल 1932 तक), हैरोल्ड बटलर, जान विनान्ट एवं एडवर्ड फैलन रहे। श्रम संघ का व्यय राष्ट्रसंघ के बजट से ही होता था। आजकल यह सघ, संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक अंग है।

आलोचना

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ श्रमिकों के हितों के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय मंच था। यह संस्था त्रिकोण-सहयोग सिद्धान्त पर आधारित थी, जिसमें सदस्य राष्ट्रों की सरकारें मालिक तथा श्रमिक वर्गों की सद्भावना तथा सहयोग से श्रमिकों का कल्याण किया

जाना था। यह स्मरण रखना चाहिये कि श्रमिक संघ द्वारा प्रस्तुत अभिसमय का मसविदा सदस्य राष्ट्र द्वारा संपुष्टि किये जाने पर ही बाध्य होता था। द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व 50 अभिसमयों में से केवल एक की संपुष्टि की गई थी। संपुष्टि के पश्चात् भी इसका क्रियान्वित करना सदस्य राष्ट्रों की इच्छा पर ही निर्भर था। इसलिये इस संघ से श्रमिकों को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। प्रथम 31 वर्ष में 98 अभिसमयों में से 56 की सम्पुष्टि की गई थी। सदस्य सरकारें साधारणतः श्रमिकों के वेतन की मात्रा निश्चित करने के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय सिफारिशों को अस्वीकार करती थीं इस प्रकार इस संस्था के कार्य केवल परामर्श तक ही सीमित थे और इसको आशा-जनक सफलता प्राप्त नहीं हुई। लियोनार्ड के शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की सफलतायें मित्रों की आशाओं से कम ; परन्तु शत्रुओं की आशाओं के प्रतिकूल थीं।"

राष्ट्रसंघ के कार्य

विश्व इतिहास में राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना के लिये एक महान् परीक्षण था। इसके प्रधान कार्यों मे निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—

1. अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण समझौता
2. प्रशासनिक व्यवस्था
3. आदिष्ट प्रणाली
4. अल्पसंख्यकों का संरक्षण
5. आर्थिक, सामाजिक एवं मानव कल्याण के लिये कार्य।

1. अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांति-पूर्ण समझौता :—शांति और सुरक्षा राष्ट्रसंघ का प्रमुख उद्देश्य था। अन्तर्राष्ट्रीय विवादो का निपटारा करने के लिये राष्ट्र-संघ ने तीन विशेष उपायों का प्रयोग किया। प्रथम, महाशक्तियों को प्रत्यक्ष वार्तालाप द्वारा शांतिपूर्ण समझौते के लिये प्रोत्साहित करना; द्वितीय, सदस्य राष्ट्रों को स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अधिकार क्षेत्र स्वीकार कराके विवादों के कानूनी हल के लिये प्रस्तुत करना ; तृतीय, प्रतिकूल परिस्थिति में परिषद् द्वारा आक्रमक राष्ट्रों को उचित दंड देने की व्यवस्था।

अपने जीवनकाल में राष्ट्रसंघ के समक्ष कुल 44 अन्तर्राष्ट्रीय विवाद लाये गये। इनमें से 9 विवाद ऐसे थे, जिनमें संघर्ष अथवा आक्रमण नही हुआ था; परन्तु फिर भी संघ केवल 4 को ही सुलझा पाया। इनमें से ये चार इस प्रकार थे:—स्वीडेन और फिनलेण्ड के बीच आलैण्ड द्वीप विवाद (1921); ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य ट्यूनिशिया-मोरक्को राष्ट्रीयता कानून विवाद (1922) ; पोलेण्ड व चैकोस्लोवाकिया के बीच जावोर्जिना सीमा विवाद (1923-24) और रूमानियां में हंगेरियन की संपत्ति से संबंधी विवाद (1923-30)।

अन्य विवादों में 11 ऐसे प्रश्न थे, जिनमें आक्रमण एवं दोनों पक्षों में सैनिक

संघर्ष हुआ था। ऐसे तीन ही प्रश्नों में संघ को सामान्य सफलता प्राप्त हुई :—यूनान और युगोस्लाविया के बीच अल्बेनिया सीमा विवाद (1921-24) ; यूनान-बलगेरियन विवाद (1925-26) और पीरू और कोलम्बिया के बीच लेटिशिया विवाद (1932-33)।

8 ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय विवाद थे—पोलैंड व लिथुआनिया के बीच विलना विवाद (1920-23), इटली और यूनान में कार्फू विवाद (1923), पेरागुवे और बोलिविया में ग्रान चैको विवाद (1928-33), मंचूरिया घटना (1931-33), इथोपिया और इटली का संघर्ष (1935-36), स्पेन का गृह-युद्ध (1936-39), चीन-जापान अघोषित युद्ध (1937-45) और रूस फिनलैंड युद्ध (1939)—जिनमें राष्ट्रसंघ पूर्णतः असफल रहा।

विलना विवाद (1920-23)

मध्य काल में विलना नगर लिथुआनियां की राजधानी थी; परन्तु 18वी सदी मे इस पर रूस का अधिकार हो गया था। रूसी क्रांति तथा जर्मनी की पराजय के पश्चात् पोलैण्ड और लिथुआनियां—दोनों ही इस पर अधिकार करने की मांग करने लगे। वर्साय संधि के अनुसार एक अस्थायी सीमा, कर्जन रेखा, अंकित की गई, जिससे विलना लिथुआनियां को दिया गया। परन्तु साम्यवादी रूस ने विलना पर अधिकार कर लिया और मास्को संधि (12 जुलाई 1920) मे इस स्थान को लिथुआनियां में मिला दिया। 5 सितम्बर 1920 को पोलैण्ड ने परिषद् में अपील की। इस समय पोलैण्ड ने युद्ध प्रारम्भ किया और विलना पर अधिकार कर लिया। परिषद् ने एक सैनिक आयोग जांच के लिये भेजा और 7 अक्टूबर को एक युद्ध विराम पर दोनों पक्षों का समझौता हो गया। यह समझौता 10 अक्टूबर से लागू होने वाला था, किन्तु एक दिन पहले पोलिस-सेनापति जेलीगोस्की ने लिथुआनियन लोगों को विलना से बाहर निकाल दिया। पोलैण्ड सरकार ने इस सैनिक कार्यवाही का समर्थन नहीं किया और जनमत संग्रह की मांग करने लगी। परिषद् दो वर्ष तक इस विवाद को सुलझाने में असमर्थ रही। अन्त में 13 जनवरी 1922 को परिषद् ने विलना से जांच आयोग को वापस बुला लिया और समस्या को हल करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। इस बीच विलना में निर्वाचित एक विधान सभा ने इस स्थान को पोलैण्ड में मिलाने के पक्ष में मत दिया। विवश होकर 3 फरवरी 1923 को परिषद् ने यथास्थिति को स्वीकार किया और विलना को पोलैण्ड में मिलाने को मंजूर कर लिया। लिथुआनियां इसका विरोध करता रहा, परन्तु उसका सब प्रयास विफल रहा। इस प्रकार शक्ति प्रयोग करके पोलैण्ड ने विलना पर अधिकार कर लिया।

कार्फू विवाद (1923)

1923 में परिषद् को एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय विवाद का सामना करना पड़ा, जिसमें इटली जैसी महाशक्ति सम्मिलित थी। 27 अगस्त को यूनान और अल्बेनिया की सीमा निर्धारित करने वाले आयोग के इटली के सेनाध्यक्ष तेलीनी और अन्य चार

इटालियनों की यूनान के शहर जानीना में हत्या कर दी गई। मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली सरकार ने तुरत यूनान को 24 घण्टे की एक चुनौती दी, जिसमें यूनान को सरकारी तौर पर क्षमा याचना, राष्ट्रीय पताका को झुकाना, अपराधियों को 5 दिन के भीतर प्राण दण्ड देना और इटली को 5 करोड लीरा की क्षति-पूर्ति देने की मांग की। यूनान ने इस चुनौती को अस्वीकार कर दिया और राष्ट्रसंघ में अपील की। अधीर होकर इटली ने 31 अगस्त को यूनान के द्वीप कार्फू पर बम वर्षा की और वहां अपनी सेना उतार दी। परिषद् में इटली के प्रतिनिधि सलान्ड्रा ने इस मामले को राष्ट्रसंघ के अधिकार क्षेत्र के बाहर माना, इसे अपनी घरेलू समस्या कहा और घोषणा की "राष्ट्रसघ के हस्तक्षेप को इटली सहन नही करेगा।" अन्त में पेरिस में राजदूतों के सम्मेलन को यह मामला सुपुर्द कर दिया गया। उन्होंने यह तय किया कि (1) इटली के अधिकारियो की यूनान में की गई हत्या गैरकानूनी थी; परन्तु इटली की चुनौती भी बड़ी अन्यायपूर्ण थी; (2) यूनान को पाँच करोड़ लीरा क्षति-पूर्ति देने के लिये बाध्य किया गया। 27 सितम्बर को इटली ने अपनी सेना कार्फू से हटा ली। निस्सन्देह इस घटना में इटली ने राष्ट्रसंघ की सम्पूर्ण रूप से अवहेलना की और शक्ति के बल पर दुर्बल यूनान से अपनी माग पूरी करवा ली।

ग्रान चैको विवाद (1928-33)

दक्षिण अमेरिका में बोलिविया और पेरागुवे के मध्य ग्रान चैको प्रदेश में तेल के कुओं का पता लगने से दोनों देशों के बीच विवाद उत्पन्न हुआ। इस क्षेत्र की सीमा निर्दिष्ट नही होने से दिसम्बर 1928 में पेरागुवे ने आक्रमण करके मैनगुवाड़िया पर अधिकार कर लिया। इस पर अन्तर्अमेरिकन सघ ने चार वर्ष तक समझौते का असफल प्रयत्न किया। जनवरी 1933 में परिषद् ने एक विशेष जाँच आयोग चैको भेजा। फलस्वरूप दोनों देशो के बीच विराम सधि हो गई। अप्रैल 1934 में परिषद् ने दोनों देशों पर अस्त्र-शस्त्र भेजने का प्रतिबंध लगा दिया। परिषद् का सुझाव बोलविया ने स्वीकार किया, परन्तु पेरागुवे ने इसका तीव्र विरोध किया। इसीलिये परिषद् ने बोलिविया पर से अस्त्र-शस्त्र का प्रतिबंध हटा लिया। परन्तु पेरागुवे पर रोक लगी रही। असन्तुष्ट होकर पेरागुवे ने राष्ट्रसघ का परित्याग किया। 1938 में अन्तर्अमेरिकन सघ ने चैको प्रदेश को दोनो देशों के बीच विभाजित करके शांति स्थापित की। इस घटना से स्पष्ट है कि इस विवाद मे राष्ट्रसघ असफल रहा।

मंचूरिया घटना (1931-33)

1915 की पेकिंग सधि के अनुसार जापान को दक्षिण मंचूरिया में रेल क्षेत्रों में अपने हितों की रक्षा के लिये 15 हजार सैनिक रखने का अधिकार प्राप्त हुआ। मंचूरिया चीन का एक प्रदेश था। 18 सितम्बर 1931 की रात को राजधानी मुकडेन के पास रेलवे लाइन पर एक बम का विस्फोट हुआ। तुरन्त जापानी सेनाओं ने मुकडेन पर अधिकार कर लिया और घोषणा की कि यह कार्यवाही जापानी जान और माल

की रक्षा के लिये आवश्यक थी। तीन दिन बाद चीन ने धारा 11 के अनुसार रक्षा के लिये राष्ट्रसंघ में अपील की। 30 सितम्बर को परिषद् ने चीन और जापान को शांतिपूर्ण समझौता करने के लिये जापानी सेना को हटाने का आग्रह किया। परन्तु जापान ने इसकी उपेक्षा की और किरीन प्रदेश पर अधिकार कर लिया। पुनः चीन ने राष्ट्रसंघ का ध्यान जापान के आगे बढ़ने की ओर आकर्षित किया। 24 अक्टूबर को परिषद् ने दूसरी बार जापान को सिफारिश की, "जापान को तीन सप्ताह के भीतर मंचूरिया के रेलवे क्षेत्र से अपनी सेना हटा लेनी चाहिये।" किन्तु जापान ने परिषद् में इसका तीव्र विरोध किया और शनैः शनैः उत्तरी मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। 10 दिसम्बर को परिषद् ने जापान के प्रस्ताव को स्वीकार करके लार्ड लिटन के सभापतित्व में 5 सदस्यों के एक जाँच आयोग की स्थापना की।

इसी समय एक जापानी भिक्षु की हत्या के कारण जापान ने चीनी बन्दरगाह शघाई पर अधिकार कर लिया। 29 जनवरी 1932 को चीन ने धारा 10 और 15 के अनुसार साधारण सभा से जापान के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की मांग की। परन्तु 11 मार्च 1932 को साधारण सभा ने एक विशेष अधिवेशन में सर्वसम्मति से दो प्रस्ताव पास किये। एक में शघाई से जापानी सेना को अविलम्ब हटाने की मांग की गई और दूसरे में अमेरिकी प्रस्ताव के आधार पर मंचूरिया में जापानी शासन को मान्यता नहीं देने का सुझाव था। 19 व्यक्तियों की एक विशेष समिति लड़ाई समाप्त करने के लिये नियुक्त की गई और मई में जापान ने शघाई से अपनी सेना हटा ली।

जापान ने समस्त मंचूरिया पर कब्जा कर लिया और 18 फरवरी को स्वतंत्र मंचूको नामक नये राज्य की घोषणा की। फरवरी से लेकर अक्टूबर तक लिटन आयोग ने स्थानीय जाँच पूरी की और राष्ट्रसंघ को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया, इसमें मंचूरिया पर चीन की प्रभुसत्ता को स्वीकार किया गया और जापान की आक्रमक नीति की निन्दा की गई। दोनों देशों के बीच प्रत्यक्ष वार्तालाप द्वारा उचित आधार पर समझौता करने की सिफारिश की गई। 24 फरवरी 1933 को साधारण सभा ने 19 सदस्यों की कमेटी की रिपोर्ट पर एक प्रस्ताव पास किया कि जापान ने प्रतिश्रव को भग किया और मंचूरिया पर आक्रमण किया। परिषद् ने लिटन रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया और शांति-पूर्ण ढंग से समझौते की सिफारिश की। साधारण सभा के 43 सदस्यों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया, केवल जापान ने इसका विरोध किया। 27 मार्च को जापान ने राष्ट्रसंघ के परित्याग के लिये दो वर्ष की अग्रिम सूचना दे दी। इस प्रकार राष्ट्रसंघ जापानी आक्रमण से मंचूरिया में चीन के अधिकारों की रक्षा नहीं कर सका। राष्ट्रसंघ के अन्य सदस्यों ने केवल मंचूको को मान्यता नहीं दी।

इथोपिया और इटली का संघर्ष (1935-36)

इथोपिया, पूर्वी अफ्रीका का एक स्वतंत्र राष्ट्र तथा राष्ट्रसंघ का सदस्य था।

इटली के तानाशाह मुसोलिनी ने साम्राज्यवादी नीति अपनाकर इथोपिया को हड़पने का प्रयास किया। 5 दिसम्बर 1934 में इथोपिया की सीमा में ओगाडेन रेगिस्तान में वाल-वाल क्षेत्र मे इथोपिया और इटली की फौजों के बीच गोली चल गई। इसमे 30 इटालियन और तीन गुने इथोपियन मारे गये। 14 दिसम्बर 1935 को इथोपिया के सम्राट् हेलेसिलासी ने इटली के आक्रमण के विरुद्ध राष्ट्रसंघ में अपील की। 3 जनवरी 1935 को पुन: इथोपिया ने धारा 11 के अनुसार रक्षा के लिये राष्ट्रसंघ से अनुरोध किया। इटली तुरन्त पंच-फैसले के लिये प्रस्तुत हो गया और अपनी फौज को इरीट्रिया और सुमेरीलैण्ड मे भेज दिया। परिषद् ने मई के महीने में दोनों के परामर्श से एक निष्पक्ष पच को नियुक्त किया, जिसे तीन महीने के अन्दर निर्णय देने के लिये कहा गया। 5 सदस्यों का पंच-फैसला 3 सितम्बर 1935 को दिया गया, जिसमें वाल-वाल संघर्ष के लिये दोनों देशों को ही उत्तरदायी नहीं ठहराया गया।

3 अक्टूबर को इटली ने इथोपिया के विरुद्ध "आत्मरक्षा" के बहाने से युद्ध घोषित कर दिया। तुरन्त परिषद् ने 6 सदस्यों की एक समिति नियुक्त की, जिसमें ब्रिटेन, फ्रांस, चिली, डेनमार्क, पुर्तगाल और रूमानिया के प्रतिनिधि थे। 7 अक्टूबर को इस समिति ने इटली को आक्रामक राष्ट्र घोषित किया। इटली के विरोध के बावजूद परिषद् ने सर्वसम्मति से इसे स्वीकार किया और साधारण सभा का आपात्-कालीन अधिवेशन बुलाया। 11 अक्टूबर को साधारण सभा ने परिषद् के प्रस्ताव को स्वीकार किया और इटली के विरुद्ध आवश्यक आर्थिक प्रतिबंध लगाने के लिये 18 सदस्यों की समन्वय समिति की स्थापना की। 19 अक्टूबर को केवल आस्ट्रिया, अल्बेनिया, हंगरी और इटली को छोड़कर सभी राष्ट्रों ने इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबंध का निर्णय लिया, जो एक महीने बाद लागू किया गया। राष्ट्रसंघ के इतिहास में यह प्रथम अवसर था, जब आर्थिक प्रतिबंध का प्रयोग एक बड़े राष्ट्र के विरुद्ध किया गया। परन्तु तेल पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाया गया। समन्वय समिति ने इस प्रश्न पर अनेक बार विचार किया, परन्तु फ्रांस व ब्रिटेन के इटली का पक्ष लेने से इस विषय में कोई भी निर्णय नहीं लिया जा सका। इसीलिये राष्ट्रसंघ की कार्यवाही असफल रही। इथोपिया के सम्राट् ने देश छोड़कर जेनेवा में आश्रय लिया और 9 मई 1936 को इथोपिया इटली के साम्राज्य का अंग बना लिया गया। अन्त में जुलाई 4, 1936 को राष्ट्रसंघ की साधारण सभा के सभापति के कहने पर जुलाई 15 से आर्थिक प्रतिबंध को समाप्त कर दिया गया। इस समय सम्राट् हेलेसिलासी ने सभा में कांपते हुए शब्दो मे कहा था, "यदि कोई शक्तिशाली राष्ट्र निर्बल जनता को कुचल रहा हो तो उस परिस्थिति में जनता को यह हक है कि वह राष्ट्रसंघ के न्याय की आशा करे और वह निष्पक्ष होकर मानवता के नाम पर उसकी सहायता करे; ईश्वर और इतिहास आपके निर्णय का साक्षी है।"

पक्ष मे 39 और विरोध में 4 मत से सितम्बर 1936 को इथोपिया को सभा

में आसन दिया गया; यद्यपि राष्ट्र के रूप में इथोपिया का विनाश हो चुका था। इसके विरोध में इटली ने राष्ट्रसंघ का परित्याग कर दिया। 1938 में परिषद् ने घोषणा की, "इथोपिया पर इटली के अधिकार की मान्यता का निर्णय प्रत्येक सदस्य राष्ट्र स्वयं करें।" ब्रिटेन और फ्रांस ने इटली की इथोपिया विजय को स्वीकृति प्रदान की और इसके साथ इथोपिया समस्या अपने आप हल हो गई।

स्पेन का गृह-युद्ध (1936 39)

जुलाई 1936 में स्पेन के मोरक्को स्थित सेनापति फ्रैंको ने गणतंत्रवादी स्पेन-सरकार के प्रति विद्रोह की घोषणा कर दी। विद्रोहियों ने इटली और जर्मनी की सैनिक सहायता प्राप्त की और रोम तथा बर्लिन ने 18 नवम्बर 1936 को फ्रैंको की अस्थायी सरकार को मान्यता दे दी। गणतंत्रवादी स्पेन-सरकार ने रूस का समर्थन प्राप्त किया। इस प्रकार स्पेन का गृह-युद्ध प्रजातंत्र और तानाशाही, साम्यवादी और फासिस्टवादी विचारधाराओं के संघर्ष का एक बड़ा अखाड़ा बन गया। वास्तव में स्पेन सरकार ने नवम्बर 1936 में धारा 11 के अनुसार राष्ट्रसंघ को रक्षा के लिये अपील की थी। 12 दिसम्बर को परिषद् ने प्रस्ताव पास करके स्पेन समस्या को ब्रिटेन व फ्रांस द्वारा स्थापित अहस्तक्षेप समिति पर छोड़ दिया और महासचिव को कहा कि आवश्यकता होने पर राष्ट्रसंघ उचित तकनीकी सहायता प्रदान करे। स्पेन सरकार ने प्रतिबंध लगाने की कोई मांग नहीं की थी। परन्तु परिषद् ने अहस्तक्षेप के प्रस्ताव को ब्रिटेन व फ्रांस के विरोध के कारण अस्वीकार किया। 11 मई 1938 को पुनः अपने कानूनी अधिकार की पुनर्स्थापना के लिये स्पेन सरकार ने रूस के समर्थन का अनुरोध किया। 2 अक्टूबर 1937 को साधारण सभा ने स्पेन से अविलम्ब विदेशी सेना हटाने के लिये एक अपील जारी की। इटली और जर्मनी ने इसे अस्वीकार किया। गृह-युद्ध चलता रहा और मार्च 1939 में राजधानी मैड्रिड पर फ्रैंको के नेतृत्व में विद्रोहियों का कब्जा हो जाने से लड़ाई समाप्त हो गई। इस प्रकार शक्तिशाली तानाशाही राष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ की उपेक्षा करके स्पेन के गणतंत्रीय शासन का विनाश कर दिया। इस घटना से राष्ट्रसंघ की दुर्बलता प्रकट हुई।

चीन जापान अघोषित युद्ध (1937-45)

7 जुलाई 1937 को मार्कोपोलो पुल में संघर्ष के कारण जापान ने चीन पर बिना युद्ध घोषणा किये ही आक्रमण कर दिया। जापान इस समय राष्ट्रसंघ का सदस्य नही था। सितम्बर मे चीन ने राष्ट्रसंघ से अपील की। यह समस्या संघ ने एक सुदूर पूर्वी परामर्श समिति को सौंपी। इस समिति ने जापान को अपराधी पाया, जिस पर साधारण सभा ने 6 अक्टूबर को यह प्रस्ताव पास किया कि "राष्ट्रसंघ के सदस्य ऐसी कोई भी कार्यवाही न करें, जिससे चीन की प्रतिरोध शक्ति कम हो जाय और यह विचार करें कि वे कहाँ तक चीन को व्यक्तिगत रूप से मदद दे सकते हैं।" 16 सितम्बर 1938 को साधारण सभा में चीन ने जापान के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबंध

के लिये अपील की। अन्त में यह स्पष्ट कहा गया कि इस प्रकार की कार्यवाही सदस्य राष्ट्रों की इच्छा पर निर्भर है और उन पर यह थोपा नहीं जा सकता। चीन को राष्ट्रसंघ से कोई सहायता नहीं मिली। साम्राज्यवादी जापान ने चीन के अधिकांश प्रदेशों पर कब्जा कर लिया और 1945 तक शासन करता रहा। इस प्रकार इस घटना से राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा एशिया में और भी कम हो गई।

रूस-फिनलैण्ड युद्ध (1939)

रूस ने 30 नवम्बर 1939 को फिनलैण्ड पर हमला किया। विवश होकर फिनलैण्ड ने धारा 11 व 15 के अनुसार राष्ट्रसंघ से अपील की। अर्जेन्टाइना के प्रतिनिधि ने रूस को राष्ट्रसंघ से बहिष्कृत करने का परिषद् में प्रस्ताव रखा। 14 दिसम्बर को परिषद् ने सर्वसम्मति से प्रस्ताव को स्वीकार किया और धारा 16 के अनुसार रूस का संघ से बहिष्कार कर दिया गया। राष्ट्रसंघ के इतिहास में यह प्रथम अवसर था, जब किसी आक्रामक राष्ट्र का संघ से बहिष्कार किया गया हो। रूस ने फिनलैण्ड को हड़प लिया। इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व राष्ट्रसंघ, महाशक्तियों—प्रधानतः जापान, इटली व रूस से सम्बन्धित विवादों के शांतिपूर्ण समाधान में पूर्णतः असफल रहा।

2. **प्रशासनिक व्यवस्था** :—शांति-सम्मेलन में राष्ट्रसंघ को मेमेल, सार प्रदेश तथा डानजिग पर प्रशासन का अधिकार दिया गया। लिथुआनिया ने मेमेल पर कब्जा कर लिया और 1923 मे मित्र राष्ट्रों ने इसकी स्वीकृति प्रदान की। किस प्रकार निम्न दो स्थानों पर राष्ट्रसंघ ने शासन किया, इसका वर्णन यहाँ दिया जा रहा है :—

सार का प्रशासन

वर्साय संधि के अनुसार राष्ट्रसंघ को सार प्रदेश पर 15 वर्ष तक शासन करने का अधिकार मिला। शासन के लिये 5 सदस्यों का एक आयोग—जिसमें फ्रांस, सार एवं अन्य तीन सदस्य (जर्मनी को छोड़कर)—परिषद् द्वारा एक वर्ष के लिये नियुक्त किया गया। 1920 मे परिषद् ने विक्टर रोल्टा को इस आयोग का सभापति नियुक्त किया। आयोग में फ्रांस का प्रभाव अधिक होने के कारण सार में 5 हजार फ्रांसीसी सैनिकों को शांति के लिये भेजा गया और फ्रैंक मुद्रा को लागू किया गया। बच्चों को फ्रांसीसी स्कूलों में भर्ती होने के लिये बाध्य किया गया। 1923 में जब सार के खनिकों ने वेतन वृद्धि की मांग करते हुए हड़ताल कर दी तो आयोग ने उनके विरुद्ध दमन नीति अपनाई। फलस्वरूप आयोग के विरुद्ध तीव्र प्रतिवाद और व्यापक आंदोलन आरम्भ हो गया। परिषद् ने आयोग के अत्याचार की निन्दा की और फ्रांसीसी सेना को हटाकर वहाँ स्थानीय पुलिस की नियुक्ति का सुझाव रखा। इस पर रोल्ट ने इस्तीफा दे दिया (1926)। उनके स्थान पर क्रमशः जार्ज स्टिफेन्स, सर अर्निष्ट विल्टन (1927) और जोफेर नोक्स (1932) आयोग के सभापति नियुक्त किये गये। इन परिवर्तनों से सार में फ्रांस विरोधी भावना कम हो गई और धीरे-धीरे वहाँ से

सेना हटा ली गई। 1935 में अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण में वहाँ जनमत-संग्रह किया गया। मतदान में लगभग 90 प्रतिशत जनता ने सार जर्मनी को वापिस करने के पक्ष में मत दिया। 1 मार्च 1935 को सार जर्मनी को लौटा दिया गया।

डानजिग पर शासन

वर्साय संधि के अनुसार डानजिग एक स्वतन्त्र नगर घोषित कर दिया गया, जिसके निरीक्षण का भार राष्ट्रसंघ के हाथ में रहा। राष्ट्रसघ की परिषद् ने शासन के लिये एक उच्चायुक्त की नियुक्ति की। 1920 मे डानजिग की संविधान सभा वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी गई। 15 नवम्बर को डानजिग को एक स्वतंत्र नगर घोषित कर दिया गया, और मई 1922 में उसका सविधान स्वीकार कर लिया गया। इसके अनुसार संसद् के दो सदन थे—22 सदस्यों की एक सिनेट तथा 120 सदस्यों की एक विधान सभा। दोनों सदनों का अधिकारक्षेत्र समान था। यदि किसी विषय में मतभेद हो तो उस विषय पर जनमत-संग्रह आवश्यक था। 8 सदस्यों की कार्यकारिणी, जो कि सिनेट द्वारा चुनी जाती थी, शासन के लिये उच्चायुक्त को परामर्श देती थी। नगर के विदेशी सम्बन्ध तथा सुरक्षा पोलैण्ड के अधिकार क्षेत्र में थी। डानजिग बन्दरगाह का नियंत्रण एक विशेष आयोग को सौंपा गया था। इसमे पोल तथा डानजिग निवासियों के बराबर-बराबर संख्या के सदस्य थे। परन्तु इसके सभापति निष्पक्ष थे। पोलैण्ड को निःशुल्क डानजिग बन्दरगाह का उपयोग करने की सुविधा दी गई थी। उच्च आयुक्त का मुख्य कार्य पोलैण्ड और डानजिग के बीच विवादों को निपटाना था। इसके लिये न्यायालय की भाँति उच्चायुक्त विचार करता था। असन्तुष्ट पक्ष संघ की परिषद् तक अपील कर सकते थे। कई बार दोनों के बीच आर्थिक तथा राजनैतिक विवादों ने गभीर रूप धारण किया, किन्तु उच्चायुक्त तत्परता से समझौता करने में सफल हो गये। डानजिग में पोलैण्ड की डाक सेवा के विषय में मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तक पहुँच गया। परन्तु आर्थिक दृष्टि से डानजिग ने काफी उन्नति की और उसका व्यापार 1914 से चौगुना अधिक हो गया। अगस्त 1939 में डानजिग किस प्रकार जर्मन आक्रमण का शिकार बना, उसकी चर्चा पृथक् अध्याय में की जायेगी।

3. आदिष्ट प्रणाली :—वर्साय सधि के अनुसार जर्मनी और तुर्की के उपनिवेशों को आदिष्ट प्रणाली के आधीन कर दिया गया। धारा 22 में निम्नलिखित व्यवस्था थी :—(1) शासन करने वाले राज्य उस आदिष्ट देश की प्रगति की वार्षिक रिपोर्ट परिषद् को प्रस्तुत करें; (2) प्रत्येक आदिष्ट प्रदेश पर नियंत्रण परिषद् के आदेशानुसार होगा और (3) आदिष्ट राज्यों के शासन का निरीक्षण एक स्थायी आदिष्ट आयोग करेगा।

तीन वर्ग

आदिष्ट प्रदेशों को उनकी राजनैतिक चेतना तथा भौगोलिक स्थिति के आधार पर "अ", "ब" और "स" तीन वर्गों में विभाजित किया गया।

वर्ग "अ" में तुर्की के तीन भूतपूर्व प्रदेश ईराक, सीरिया—लेबनान, फिलस्तीन तथा ट्रांसजोर्डन रखे गये। ये प्रदेश इतने विकसित थे कि एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन सकते थे। किन्तु उनमें प्रशासकीय योग्यता का कुछ अभाव था। इसलिये उन्हें विकसित राज्यों के अधीन रखा गया।

"ब" वर्ग में केन्द्रीय अफ्रीका के छः आदिष्ट प्रदेशों को रखा गया। ये क्षेत्र स्वायत्त शासन के योग्य नहीं थे। इसीलिये शासक राष्ट्रों को इन क्षेत्रों में दास प्रथा को बन्द करने, मुक्त व्यापार और निःशस्त्रीकरण का आदेश दिया गया। यहाँ के निवासियों को सेना में भर्ती नहीं किया जा सकता था।

"स" वर्ग वाले पांच आदिष्ट प्रदेश दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका तथा प्रशान्त महासागर के कुछ द्वीप थे। इनमें आबादी की कमी, सीमित क्षेत्रफल तथा अत्यन्त अविकसित होने के कारण शासक राष्ट्रों के अविभाज्य अंग के रूप में उनके शासित होने की व्यवस्था की गई थी।

आदिष्ट राज्यों का वितरण

आदिष्ट राज्यो का वितरण मित्र राष्ट्रों ने अप्रैल 1920 में सानरीमो सम्मेलन में किया। "अ" क्षेत्र में ईराक, फिलस्तीन और ट्रांसजोर्डन ब्रिटेन को मिले; और सीरिया तथा लेबनान फ्रांस को सौंपे गये। परन्तु यहां की जनता से बिना पूछे ही शासक देश की नियुक्ति की गई थी। वर्ग "ब" में केमरून, टोगोलैण्ड का एक तिहाई भाग व टांगानाइका ब्रिटेन को मिले। केमरून के शेष भाग एवं टोगोलैण्ड के शेष भाग फ्रांस को दिये गये। अरूंडा-अरूडी बेल्जियम के आधीन कर दिये गये। "स" वर्ग में जर्मन दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका, दक्षिण अफ्रीकी संघ को दिया गया। जर्मन समोआ, न्यूजीलैंड को प्राप्त हुआ। नौरू द्वीप ब्रिटिश सरकार, न्यूजीलैण्ड और आस्ट्रेलिया को दिया गया। भूमध्य रेखा के दक्षिण में स्थित न्यूगिनी आस्ट्रेलिया को और भूमध्य रेखा के उत्तर में स्थित प्रशान्त सागर के जर्मन द्वीप जापान को दे दिये गये। इस प्रकार अफ्रीका और प्रशान्त महासागर के जर्मन उपनिवेशों का कुल क्षेत्रफल दस लाख वर्गमील व आबादी एक करोड़ 40 लाख थी। तुर्की का क्षेत्र, जो कि मध्यपूर्व में सीमित था, का कुल क्षेत्रफल दो लाख वर्गमील और आबादी 60 लाख थी।

स्थायी आदिष्ट आयोग

सन् 1920 में एक स्थायी आदिष्ट आयोग की स्थापना धारा 22 के अनुसार की गई। प्रारम्भ में इसमें 9 सदस्य थे, जिनमें अधिकांश सदस्य गैर आदिष्ट प्रदेशों के सदस्य थे—स्वीडेन, स्पेन, पुर्तगाल, हालैण्ड आदि। 1927 में इनकी संख्या बढ़कर 11 हो गई। दो नये सदस्यों में से एक जर्मनी का और एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ का प्रतिनिधि था। इस आयोग का मुख्य कार्य परिषद् को आदिष्ट क्षेत्रों की वार्षिक रिपोर्ट पर परामर्श और वहाँ की जनता के हितों के लिये सुझाव देना था। प्रचार एवं

आलोचना ही आदिष्ट शासकों को नियंत्रित करने का उपाय था। स्थानीय जाँच, निवासियों के प्रार्थना-पत्र पर विचार, शासक राष्ट्रों से विचार विनिमय आदि द्वारा शासन के दोषों को दूर किया जाता था। सदस्य राष्ट्रों को समान व्यापारिक सुविधा, भूमि प्रबंध, धार्मिक स्वतन्त्रता, दास प्रथा की समाप्ति, अस्त्र-शस्त्र का क्रय-विक्रय निवासियों के उचित वेतन और स्वास्थ्य आदि के प्रति आयोग ने विशेष ध्यान रखा। साल में दो बार इसका अधिवेशन जेनेवा में होता था। परन्तु इसकी कार्यवाही गुप्त होती थी। यद्यपि आयोग केवल परामर्श ही देता था, परन्तु फिर भी यह एक निष्पक्ष और अनुभवी अदालत की तरह था।

आलोचना

इस प्रणाली के विरुद्ध मध्यपूर्व में अरबों में व्यापक असंतोष था; क्योंकि आदिष्ट शासकों के निर्णय में जनता की इच्छा की उपेक्षा की गई थी। बादशाह हुसैन के शाहजादे फैजल को ईराक का शासक नियुक्त किया गया, परन्तु यहाँ के अरबों ने विद्रोह कर दिया। विवश होकर ब्रिटेन ने ईराक को स्वतन्त्र घोषित कर दिया और 3 अक्टूबर 1932 को ईराक राष्ट्रसंघ का 57 वाँ सदस्य बना। अरबों पर फ्रांस का शासन अत्याचार पूर्ण था। 1925 के विद्रोह के कारण आदिष्ट आयोग ने सीरिया में फ्रांस के शासन की तीव्र निन्दा की। शासन में सामान्य सुधार हुआ, परन्तु सीरिया राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वंचित रहा। 1944 में वह गणतंत्र घोषित किया गया। परन्तु यहाँ से फ्रांसीसी सेना दो वर्ष पश्चात् ही हटायी गई। संयुक्त राष्ट्र-संघ ने सीरिया व लेबनान को सदस्यता प्रदान की। ट्रांसजोर्डन 1946 में स्वतन्त्र बना; परन्तु फिलस्तीन में अरबों और यहूदियों के बीच संघर्ष चलता रहा और ब्रिटेन उनमें समझौता कराने में पूर्णतः असफल रहा। "ब" और "स" श्रेणी के आदिष्ट क्षेत्र 1946 तक आदिष्ट आयोग के निरीक्षण में थे। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इन सब प्रदेशों को सरक्षण प्रणाली के अधीन बना दिया। इस सबंध में चर्चा संयुक्त राष्ट्र-संघ के अध्याय में की जायेगी।

इस प्रणाली की विद्वानों ने बड़ी आलोचना की है। क्वीन्सीराइट के मत में, "यह प्रणाली पिछड़े हुए क्षेत्रों पर अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण का एक महान् परीक्षण था; परन्तु शासक राष्ट्रों ने अपनी प्रभुसत्ता और अधिकार का पूर्णरूप से प्रयोग किया।" इस प्रणाली की सबसे बड़ी कमी यह थी कि शासक राष्ट्र राष्ट्रसंघ के अधिकारों को कम करने का प्रयत्न करते थे, ताकि इन क्षेत्रों को वे हड़प सकें। 1929 में सभी शासक राष्ट्रों ने आयोग को स्पष्ट रूप से कह दिया था कि उनके प्रशासन में संघ की हस्तक्षेप की नीति को सहन नहीं किया जायेगा। प्रशान्त महासागरीय द्वीपों में जापान ने संधियों को भंग करके सैनिकीकरण किया था, जिसका प्रमाण द्वितीय विश्व-युद्ध में मिला। डा० चौधरी के मत में, "आदिष्ट व्यवस्था एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अप्रत्यक्ष शासन प्रणाली थी। 20 वीं सदी के औपनिवेशिक इतिहास में इसकी महत्वपूर्ण देन को

अस्वीकार नही किया जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार और अपमान इसका विशेष अस्त्र था।" विश्व राजनीति में इस प्रणाली ने उपनिवेशवादी राष्ट्रों को अधिक उत्तरदायी बना दिया था। औपनिवेशिक शासन में अनुभवों का आदान-प्रदान और आदिष्ट शासकों में सद्भावना और सहयोग इसकी महत्वपूर्ण देन है।

4. अल्प-संख्यकों का संरक्षण :—राष्ट्रों में अल्पसंख्यकों का असन्तोष युद्धों की पृष्ठभूमि तैयार कर देता है। शक्तिशाली राष्ट्र अपनी ही जाति के अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिये अन्य देशों के शासन में हस्तक्षेप करते हैं। अतः विश्व में स्थायी शांति रखने और युद्धो से बचने के लिये अल्पसंख्यकों को सन्तुष्ट रखना आवश्यक है। इसी से प्रभावित होकर विलसन के पंचम विन्दु के अनुसार पेरिस सम्मेलन ने भी "आत्मनिर्णय" सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की।

शांति संधियों में अल्पसंख्यक

यूरोप के पुर्ननिर्माण के समय राष्ट्रसंघ को करीब 3 करोड़ अल्पसंख्यकों की समस्या का सामना करना पड़ा। इनमें से अधिकांश को अल्पसख्यकों के लिये हुई संधियों के अन्तर्गत संरक्षण प्राप्त था[1]। ये सन्धियाँ मित्र राष्ट्रों ने दक्षिणी-पूर्वी यूरोप के 15 राज्यो के साथ की थीं। इन सन्धियों की मुख्य धारायें इस प्रकार थी :—

1. धर्म, जाति, भाषा, राष्ट्रीयता एवं जन्म के भेदभाव के बिना संरक्षित लोगों की संपत्ति तथा जीवन की रक्षा की व्यवस्था,

2. अल्पसंख्यको को नागरिक अधिकार,

3. धार्मिक स्वतन्त्रता

4. कानून के समक्ष समानता

5. न्यायालय, व्यापार, सभा, प्रकाशन तथा व्यक्तिगत वार्तालाप में निजी भाषा के प्रयोग की स्वतन्त्रता,

6. अल्पसख्यकों को अपनी भाषा में शिक्षा की उचित व्यवस्था।

7. योग्यता के अनुसार सार्वजनिक सेवायें प्रदान करना और राष्ट्रीय व्यय का उचित अंश उनके विकास के लिये खर्च करना।

अल्पसंख्यकों की गारण्टी का प्रयोग

राष्ट्रसंघ की परिषद् विशेष रूप से अल्पसख्यकों के सरक्षण के लिये उत्तरदायी थी। परिषद् ने इस विषय मे अपनी कार्यविधि को प्रस्तुत करने के लिये राजनीतिक महत्व तथा मानव कल्याण को ध्यान में रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण एवं संप्रभुता के बीच समझौता किया। इसके अनुसार निम्न प्रकार के साधनो का प्रयोग किया गया :—

1. शांति सम्मेलन का अध्याय देखो।

(i) अल्प संख्यकों का प्रार्थना-पत्र :—प्रार्थना पत्र में अधिकारों के भंग होने के संदेह की सूचना परिषद् को दी जाती थी। साधारणतः कोई भी अल्पसंख्यक व्यक्ति अथवा संगठन अथवा अन्य राज्य संधि की धाराओं की अवहेलना का आरोप लगाते थे। परन्तु आवेदन-पत्र की कार्यवाही के लिये कुछ आवश्यक तथ्य देने पड़ते थे। इसमें दृष्टान्त सहित नई जानकारी, जिसकी जाँच हो सके, देनी पड़ती थी। परन्तु अल्पसंख्यकों की पृथक्करण की मांग को स्वीकार नहीं किया जाता था। परिषद् इन आवेदन-पत्रों पर विचार के लिये बाध्य नही थी।

(ii) सचिवालय का अल्पसंख्यक विभाग :—आवेदन-पत्र स्वीकार किया जाय या नहीं, अर्थात् वह पत्र आवश्यकताओं के अनुसार है या नहीं—इसका निर्णय यह विभाग करता था। आवश्यक तथ्यों के आधार पर पत्र को संबंधित राष्ट्र को स्पष्टिकरण के लिये भेजा जाता था। यदि उक्त राज्य सुधार का आश्वासन देता था, तो समस्या हल हो जाती थी; अन्यथा राज्यों का उत्तर परिषद् के सदस्यों की व्यक्तिगत जानकारी के लिये भेजा जाता था। परन्तु परिषद् सामूहिक रूप से इस पर कोई कार्यवाही नहीं करती थी।

(iii) अल्पसंख्यक-समिति :—1929 में इसमें परिषद् के सभापति और दो निष्पक्ष सदस्य होते थे। यह समिति आवेदन-पत्र, उत्तर और सचिवालय द्वारा प्रस्तुत प्रयोजनीय तथ्यों के आधार पर आवेदन-पत्र का अध्ययन करती थी। अल्पसंख्यक राष्ट्र के साथ अनौपचारिक वार्तालाप के माध्यम से समिति विवाद का निपटारा करती थी। अधिकांश शिकायतों का हल इसी प्रकार से होता था। इस प्रकार के प्रयत्न असफल होने से अपील के आधार पर संपूर्ण परिषद् विवाद पर विचार करती थी।

(iv) परिषद् :—इसकी पूर्व कार्यविधि गुप्त होती थी; परन्तु अपील के पश्चात् सार्वजनिक रूप से समस्या का निर्णय किया जाता था। प्रचार, परिषद् का दवाव डालने का, एक मात्र अस्त्र था। परिषद् के एक सदस्य को प्रतिवेदक नियुक्त किया जाता था, जो आवश्यक तथ्यो को संग्रह करके परिषद् को प्रेषित करता था। साधारणतः इस प्रकार के प्रोत्साहन से समझौता हो जाता था। परिषद् अपने निर्णय को शक्तिशाली बनाने के लिये कई अपीलों को स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सुपुर्द कर देती थी, जिससे निर्णय में संदेह नही रहता था।

आलोचना

राष्ट्रसंघ को अल्पसंख्यकों के संरक्षण के सम्बन्ध में सदस्यों की आलोचना का सामना करना पड़ता था। सांख्यिकी दृष्टिकोण से संघ की सफलता अत्यन्त व्यापक थी। 1935 तक 400 से अधिक आवेदन-पत्रों की जांच की गई थी। इनमें से 192 के संतोषजनक उत्तर दिये गये। इस प्रकार अल्पसंख्यकों के प्रति अत्याचार, शक्तिशाली राष्ट्रों के हस्तक्षेप का प्रतिरोध और अन्तर्राष्ट्रीय चेतना का विकास परिषद् की मुख्य देन थी।

परन्तु राष्ट्रसंघ अल्पसंख्यकों की समस्या का संपूर्ण समाधान करने में असफल रहा। भेदभाव की शिकायत क्रमशः बढ़ती गई। परिषद् समझौते के लिये इतनी उत्सुक थी कि धाराओं के पालन के लिये उदासीन हो गई। इस प्रकार की सन्तुष्टिकरण नीति ने केवल टालमटोल तथा विलम्ब को प्रोत्साहित किया। इस प्रणाली का उद्देश्य भी अस्पष्ट था। क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करना ही इसका लक्ष्य था, समस्याओं का सन्तोषप्रद हल नहीं। इसीलिये 1935 के पश्चात् पोलैण्ड ने अल्प-संख्यकों की रक्षा करने में संघ के सुझाव को अस्वीकार किया। अन्य राष्ट्रों ने भी इसी नीति का अनुसरण किया। जर्मनी ने 1935 के नूरेम्बर्ग कानून के अनुसार यहूदी अल्प संख्यकों को नागरिकता से वंचित कर दिया और भयानक अत्याचार तथा आतंक फैला दिया। राष्ट्रसंघ इसके विरुद्ध कोई कदम नहीं उठा सका। फलस्वरूप अल्पसंख्यक समस्या द्वितीय विश्वयुद्ध का एक अन्तर्निहित कारण बना।

5. **आर्थिक, सामाजिक एवं मानव कल्याण के लिये कार्य—आर्थिकः—**राष्ट्र-संघ के व्यापक कार्य क्षेत्र में मानव कल्याण के कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। निस्सदेह संघ अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक विवादो को सफलतापूर्वक सुलझाने में निहायत विफल रहा। परन्तु जनसेवा क्षेत्र मे किये गये उसके कार्य इतने प्रशंसनीय हैं कि समग्र विश्व उन्हें लीग की विशेष सफलता मानता है। शांति को स्थायी बनाने के लिये इसके कार्य अत्यन्त धीमे थे, परन्तु उनका प्रभाव दूरगामी था। गैर राजनैतिक क्षेत्र में किये गये संघ के कार्यों से साधारण जनता अपरिचित थी। परन्तु वास्तव में वे अप्रत्यक्ष रूप से शांति को स्थायी बनाने के लिये उपयोगी सिद्ध हुए। क्योंकि गैर राजनैतिक क्षेत्र में सहयोग और सद्भावना होना हो स्थायी शांति का आधार है।

आर्थिक और वित्तीय संगठन

आर्थिक और वित्तीय समिति परिषद् को सदस्य सरकार को आर्थिक सहायता देने के लिये परामर्श देती थी। इस समिति ने आस्ट्रिया, हंगरी और यूनान को आवश्यक कर्ज दिया। आस्ट्रिया की गणतंत्रीय सरकार की आर्थिक स्थिति प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् अत्यन्त डाँवाँडोल हो गई थी। हालत को सुधारने के लिये ब्रिटेन, फ्रांस व इटली ने मिलकर 5 करोड़ डालर पेशगी दिये। अमेरिका ने भी इसकी आधी रकम पृथक् रूप से दी। 1921 तक अन्तर्राष्ट्रीय कोष से उसे 10 करोड डालर ऋण प्राप्त हुआ। इस प्रकार आस्ट्रिया की आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाया गया। मुद्रा के अवमूल्यन को रोक कर कागजी क्राउन की कीमत सोने के क्राउन के बराबर कर दी गई। 80 हजार अधिकारियों को बरखास्त करके राष्ट्रीय व्यय में बचत की गई। 1926 तक आस्ट्रिया से संघ का आर्थिक नियन्त्रण हटा लिया गया।

1932 में परिषद् ने हंगरी के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिये एक योजना प्रस्तुत की। इसके अनुसार मुद्रा-स्फिति को रोकना, एक स्वतंत्र बैंक की स्थापना, बजट को सन्तुलित करना, 25 करोड़ स्वर्ण क्राउन का ऋण तथा राष्ट्रसंघ द्वारा नियन्त्रण आदि

की व्यवस्था थी। यह योजना मई 1924 में लागू की गई; और अमेरिका के जेरेमिया स्मिथ संघ की ओर से हंगरी के आर्थिक प्रशासक नियुक्त किये गये। 1926 में संघ ने हंगरी की आर्थिक स्थिति सुधर जाने से नियन्त्रण हटा दिया। 1924 में संघ ने यूनान को 5 करोड़ डालर की आर्थिक सहायता शरणार्थियों को बसाने के लिये दी।

मुद्रा एवं आर्थिक सम्मेलन

आर्थिक समिति ने 1927 में विश्व-आर्थिक सम्मेलन और 1933 में मुद्रा एवं आर्थिक सम्मेलन का आयोजन किया। 1927 के सम्मेलन में 50 देशों के प्रतिनिधियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की विभिन्न प्रकार की बाधाओं को हटाने के लिये अपील की। फलस्वरूप प्रस्तावित तटकर वृद्धि को तत्काल में ही रोक दिया गया। अन्य किसी विषय में इस सम्मेलन को सफलता नहीं मिली। 1933 के मुद्रा एवं आर्थिक सम्मेलन ने पिछले 4 वर्ष की आर्थिक मंदी से उत्पन्न समस्या पर विचार किया। कीमतों की कमी को रोकने के लिये, मुद्रा को स्थिर बनाने, आदान-प्रदान की बाधाओं को हटाने एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को स्वतन्त्र बनाने के लिये विचार-विमर्श किया गया। इसी समय राष्ट्रपति विलसन ने नाटकीय ढंग से घोषणा की कि अमेरिका स्वर्ण की कीमत को स्थिर बनाने के लिये किसी भी योजना में सम्मिलित नहीं होगा। इसीलिये यह सम्मेलन असफल हो गया और आर्थिक राष्ट्रीयता ने अधिक उग्र रूप धारण कर लिया। अन्त में यही द्वितीय विश्व-युद्ध का एक मुख्य कारण बना। आर्थिक अन्तर्राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित करने में संघ असफल रहा। परन्तु इसने कई आर्थिक विषयों में विशेष अध्ययन किया था—जैसा, व्यापारिक विवाद का पंचनिर्णय, मुद्रा स्थिरता, तटकर नियम में एक रूपता, आर्थिक सांख्यिकी, स्वतन्त्र प्रतियोगिता आदि। कुछ विषयों में समझौते के फलस्वरूप स्थिति में सुधार हुआ। किन्तु अधिकांश विषयों में यह विफल रहा। समिति द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट तत्कालीन आर्थिक स्थिति के अध्ययन के लिये मूल्यवान् साधन हैं।

संचार तथा यातायात संगठन

प्रतिश्रव की धारा 23 के अनुसार संचार और यातायात संगठन स्वशासित संस्था के रूप में 1920 में स्थापित किया गया। नदी आयोग, श्रम संघ, रेलवे एवं हवाई यातायात समितियों के साथ, इस संगठन ने सम्पर्क स्थापित किया और कई अभिसमयों के मसविदे प्रस्तुत करके सदस्य राष्ट्रों से इन्हें कानूनी रूप देने का आग्रह किया। निम्न विषयों में इसकी विशेष रुचि थी:—अन्तर्राष्ट्रीय यातायात में पूर्ण सुविधा, प्रैस-सुविधा और सही संवाद का प्रकाशन, नदियों पर गमनागमन का नियम, अन्तर्राष्ट्रीय मोटर चालकों को लाइसेन्स, रेलवे, बिजली, केलेन्डर का सुधार, बन्दरगाह रेडियो एवं पर्यटन आदि की बाधाओं को दूर करना। 1921 में इस संगठन का प्रथम महत्वपूर्ण सम्मेलन स्पेन में बार्सीलोना में हुआ। तभी दो अभिसमयों द्वारा इस सम्मेलन ने यह निश्चय किया कि यदि पर्यटक एक देश से तीसरे देश में जाते हैं तो बीच में

आने वाला देश उन पर अनावश्यक कर तथा तलाशी आदि नहीं ले। 1923 में जेनेवा में द्वितीय सम्मेलन में, अन्तर्राष्ट्रीय रेल यातायात, बन्दरगाहों मे विदेशी जहाजों को समान सुविधा एवं अन्तर्राष्ट्रीय विद्युत वितरण, विषय में समझौता हुआ। इस प्रकार पासपोर्ट प्रणाली में एक रूपता संभव हुई और वीसा (विशेष अनुमति-पत्र) समाप्त कर दिया गया।

बौद्धिक सहयोग

इस संगठन की कार्य विधि अन्य संस्थाओं से दो बातों में पूर्णतः भिन्न थी। प्रथम, इसने विभिन्न देशों के कलाकार, वैज्ञानिक और साहित्यिक तथा विद्वानों को एक दूसरे से मिलाकर बौद्धिक सहयोग के लिये कार्य किया। द्वितीय, यह एक नवीन प्रयत्न था, जिसमे सरकार के केवल सीमित सहयोग का प्रयोजन था। 1922 में परिषद् ने बेल्जियम के प्रस्ताव के आधार पर बौद्धिक सहयोग के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति की स्थापना की, जिसमें 17 सदस्य थे। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में समन्वय स्थापित करना इसका मुख्य उद्देश्य था। 1926 में पेरिस मे बौद्धिक सहयोग संस्थान की स्थापना की गई। विज्ञान, साहित्य और कला के प्रसार द्वारा मानव ज्ञान का विकास करना इस संस्था का प्रधान कार्य था। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना का प्रसार करने के लिये राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने एक विशेष समिति की स्थापना की, जिसके सदस्य प्रो० आइन्स्टीन, गिल्बर्ट मरे और मेडम क्यूरी थे। इस समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें की :—

1. प्रत्येक बालक की शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के पाठ हों।
2. शिक्षकों का आदान-प्रदान और प्रौढ़शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाय।
3. विशेषज्ञों द्वारा इस विषय पर विशेष साहित्य की रचना तथा प्रचार हो।
4. जेनेवा में शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का अध्ययन हो।
5. कानून के सब विद्यार्थियों के लिये अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अध्ययन अनिवार्य हो।
6. छात्रों को छात्रवृत्ति द्वारा जेनेवा भ्रमण की व्यवस्था हो, ताकि वे सब की कार्यवाही से परिचित हो सकें।

इन सिफारिशों के प्रयोग के लिये प्रत्येक राष्ट्र द्वारा शिक्षक, प्रशासक एवं गैर सरकारी संस्थाओं का एक राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया जाय। संघ की प्रगति की जानकारी के लिये प्रत्येक राष्ट्र में एक सूचना-केन्द्र खोला जाय। 1928 तक 25 सदस्य राष्ट्रों ने इन सिफारिशों को स्वीकार किया। जेनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के अध्ययन के लिये एक विशेष स्कूल खोला गया, जिसमें इस समय 29 राष्ट्रों से 311 विद्यार्थी अध्ययन के लिये आये थे। इस प्रकार नवयुवकों मे ज्ञान का आदान-प्रदान और

बौद्धिक विकास के लिये समुचित व्यवस्था की गई। सदस्य राष्ट्रों ने पाठ्य-पुस्तकों में सुधार करके अन्तर्राष्ट्रीय भावना को अंकुरित किया।

स्वास्थ्य समिति

राष्ट्रसंघ की धारा 23 में बीमारियों की रोकथाम एवं नियंत्रण एक अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारी बताया गया है। 1923 में संघ ने एक स्वास्थ्य समिति और विभाग स्थापित किया। इस समिति में स्वास्थ्य विशेषज्ञ थे, जिन्होंने कोढ़, तपेदिक, मोतीझरा, हैजा, कैंसर, मलेरिया आदि बीमारियों पर अनुसंधान किया। सदस्य सरकारों के साथ सहयोग स्थापित करके महामारियों को रोका गया और कई महत्वपूर्ण सम्मेलनों का आयोजन किया गया। यूनानी शरणार्थियों में चेचक की बीमारी और पोलैण्ड में मोतीझरे के विस्तार को सफलता पूर्वक नियंत्रित किया गया। विटामिन, वायरस, सीरम, हारमोन्स आदि में अन्तर्राष्ट्रीय माननिर्धारण किया गया। कण्ठ रोग, धनुर्वात, पेचिश आदि की बीमारी की नई दवा निकाली गई। जनस्वास्थ्य की उन्नति के लिये स्वास्थ्य अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया गया। सिंगापुर में एक स्थायी महामारी सूचना केन्द्र स्थापित किया गया, जो कि संक्रामक रोगों के आंकड़े एकत्रित करके साप्ताहिक तथा त्रैमासिक बुलेटिन में प्रकाशित करता था। इस संस्था ने संतुलित भोजन, बालकों की अकाल मृत्यु की रोक, प्लेग का नियंत्रण आदि महत्वपूर्ण कार्य किये।

नशीली दवाओं के क्रय-विक्रय पर प्रतिबंध

सामाजिक क्षेत्र में अफीम और गांजा जैसी नशीली दवाओं पर नियंत्रण राष्ट्रसंघ का मुख्य कार्य था। 1923 में एक अभिसमय द्वारा अफीम का आयात केवल औषधि और वैज्ञानिक आवश्यकताओं के ही लिये सीमित कर दिया गया। दूसरे अभिसमय में नशीली दवाओं के उत्पादन और अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेन पर 60 राष्ट्रों द्वारा रोक लगाई गई। एक स्थायी केन्द्रीय बोर्ड की स्थापना की गई, ताकि प्रत्येक देश की नशीली दवा की आवश्यकता के आंकड़े एकत्रित किये जा सकें और अधिक क्रय-विक्रय को लाइसेन्स द्वारा नियंत्रित किया जा सके। 1931 में एक और समझौते के द्वारा पाँच साल के अन्दर सम्बन्धित राष्ट्रों को अफीम का तस्कर व्यापार समाप्त करने के लिये कहा गया। अफीम की खेती को सीमित करने के लिये कार्यवाही की ही गई थी कि द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून संग्रह

अन्तर्राष्ट्रीय कानून संग्रह करना राष्ट्रसंघ की सबसे महान् देन है। राज्य का उत्तरदायित्व, समुद्र तटवर्ती अधिकार क्षेत्र, राष्ट्रीयता आदि विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून बनाये गये। स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इन कानूनों को मान्यता प्रदान की और जटिल कानूनी विवादों का निपटारा किया।

शरणार्थी संगठन

मानव कल्याण का सबसे प्रमुख कार्य 1920 में 26 राष्ट्रों के 5 लाख युद्ध-बंदियों के पुनर्वास की व्यवस्था था। अगले 14 वर्ष में 40 लाख यूनानी और रूसी शरणार्थियों को आवश्यक सहायता दी गई। डॉ० नानसेन ने 1920 से 30 तक कमिश्नर के रूप में अत्यन्त सराहनीय कार्य किया। उनकी मृत्यु के पश्चात् शरणार्थियों के लिये उनके नाम से नानसेन अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी कार्यालय की स्थापना की गई, जो आज भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के आधीन जीवित है।

दास प्रथा के उन्मूलन और बेगारी के विषय में 1925 में जेनेवा में एक विशेष समझौता हुआ। परन्तु सम्पूर्ण रूप से इस विषय में सफलता प्राप्त नहीं हुई। 1933 मे विशेषज्ञों की एक स्थायी परामर्श-समिति स्थापित की गई। अफ्रीका के कुछ अंश, सऊदी अरेबिया, नेपाल, तिब्बत आदि को छोड़कर बाकी सभी राष्ट्रों ने कानूनी तौर पर दास प्रथा को समाप्त कर दिया। लाइबीरिया, इथोपिया और बर्मा ने दासों को मुक्त कर दिया। 1930 में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ ने बेगारी को समाप्त करने के लिये सिफारिश की।

राष्ट्रसंघ ने महिलाओं व बालकों का क्रय-विक्रय, जेल-सुधार, अश्लील साहित्य के प्रचार पर रोक, शिशु-कल्याण, अनाथ, अंधे, गू गे और बहरे बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था आदि विषयों में विशेष रूप से कार्य किया। संक्षेप में, राष्ट्रसंघ ने सभी सदस्य राष्ट्रों में गैर राजनैतिक क्षेत्रो मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को प्रोत्साहित किया।

आर्थिक विषय को छोड़कर सभी राष्ट्रों ने मानव-कल्याण के लिये राष्ट्रीय स्वार्थों का त्याग किया। अमेरिका के सचिव कार्डल हल के शब्दों में, "इतिहास में कोई अन्य ऐसा संगठन नही हुआ है, जो राष्ट्रसंघ की भाँति मानव-कल्याण और विज्ञान की उन्नति के लिये उत्तरदायी रहा हो।" इस प्रकार राष्ट्रसंघ ने ऐसा ठोस परिवर्तन प्रारम्भ किया, जिससे मानव समाज शांति की ओर अग्रसर हुआ।

अन्त्येष्टि

प्रतिश्रव का उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध की नीति नितान्त असफल सिद्ध हुई। 27 मार्च 1933 में जापान ने मंचूरिया समस्या से असन्तुष्ट होकर राष्ट्रसंघ से अलग होने की सूचना दे दी। इसी वर्ष 16 अक्टूबर को जर्मनी ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। इस प्रकार 2 वर्ष पश्चात् (1935 तक) दो महान् राष्ट्र, राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं रहे। सितम्बर 1934 मे रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया। किन्तु 6 वर्ष पश्चात् फिनलैण्ड पर आक्रमण के कारण बहिष्कृत किया गया। 9 मई को इटली ने इथोपियां को हड़प लिया और राष्ट्रसंघ से दिसम्बर

1937 में त्याग-पत्र दे दिया । 8 अन्य राष्ट्रों ने भी राष्ट्रसंघ से पृथक् होने की सूचना दे दी[1] ।

यद्यपि द्वितीय विश्वयुद्ध के रोकने में राष्ट्रसंघ असफल रहा, किन्तु उसने रूस के फिनलैण्ड पर आक्रमण करने पर उसे 14 दिसम्बर 1939 को राष्ट्रसंघ की सदस्यता से बहिष्कृत कर दिया गया । 8 अप्रैल 1946 को द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ की महासभा की अंतिम बैठक जेनेवा में हुई । इसमें 34 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया । महासभा के अध्यक्ष ने अपने अंतिम भाषण में कहा, "हम में नैतिक उत्साह का अभाव है और यह भी कि कई जगह जहाँ हमें सख्ती से काम लेना चाहिए था वहाँ हमने ढिलाई की तथा अपने निर्णय एवं नियमों को लागू करवाने में निहायत असफल रहे ।" अध्यक्ष के भाषण के बाद उपाध्यक्षों का चुनाव हुआ । अर्जेण्टाइना हार गया और वह भवन त्याग कर बाहर चला गया । इस पर सर हार्टलेशा क्रास ने कहा, "लेकिन यह तो राष्ट्रसंघ की अन्त्येष्टि-क्रिया का समय है । इस समय इस प्रकार का विरोध करने से क्या लाभ है ?" इस तरह राष्ट्रसंघ को 19 अप्रैल 1946 को एरियाना पार्क में दफना दिया गया । राष्ट्रसंघ के शेष प्रस्ताव मे कहा गया : "आज से राष्ट्रसंघ की कोई बैठक नहीं होगी और वह सदा के लिये समाप्त हो गया । उसने अपनी सम्पत्ति व कागजात संयुक्त राष्ट्रसंघ नामक नवीन संस्था को सौंप दिये ।"

राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण

इसमें सन्देह नही कि युद्ध को समाप्त कर शांति स्थापना के लिये राष्ट्रसंघ का निर्माण मानवता के इतिहास में एक अपूर्व प्रयास था । यद्यपि अपने उद्देश्यों तक पहुँचने में यह पूर्ण रूप से सफल नहीं रहा, किन्तु शांति का यह प्रयास अत्यन्त महत्व-पूर्ण था । इसकी असफलता को देखकर सभी व्यक्तियों के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि राष्ट्रसंघ, जो कि 1920 से 1946 तक कार्य करता रहा, क्यों असफल हो गया ? इस प्रश्न का उत्तर देना असम्भव नही, तो कठिन तो अवश्य है । फिर भी अनेक विद्वानों ने इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा की है । कुछ विद्वानों का मत है कि राष्ट्रसंघ की दुर्बलता और असफलता का एक प्रमुख कारण संयुक्त राज्य अमेरिका का इस संगठन में सम्मिलित न होना था ; जबकि राष्ट्रपति विलसन स्वयं इस संगठन के मुख्य संस्थापक थे । संयुक्त राज्य अमेरिका ने इसकी सदस्यता स्वीकार नहीं की, यह ठीक है ; किन्तु यह कौन कह सकता है कि सदस्य बन जाने पर भविष्य में भी वह संघ से त्याग-पत्र नहीं देता । यह कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण होगा कि

---

1. त्यागपत्र देने वाले राष्ट्रों की सूची इस प्रकार है :—

पैराग्वे—फरवरी 1935, निकाराग्वे—जून 1935, ग्वाटामाला—मई 1936, होन्डूरास—जुलाई 1937, एल सल्वेडोर—जुलाई 1937, वेनिजुएलास—जुलाई 1938, हंगरी—अप्रैल 1939, स्पेन—मई 1939 ।

अमेरिका के सदस्य रहने मात्र से ही संघ के बड़े राष्ट्रों में सहयोग व सद्भावना बनी रहती। हंस मोर्गेन्थ्यू के मत में राष्ट्रसंघ की एक बड़ी दुर्बलता यह थी कि कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में सदस्य राष्ट्र द्वारा युद्ध करना, राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों को भंग करना नहीं था। इस प्रकार युद्धों का राष्ट्रसंघ के अनुच्छेदों के अनुसार पूर्ण रूप से निराकरण नहीं हुआ था।

I. वार्साय संधि का अंग :—राष्ट्रसंघ का निर्माण, वार्सायी तथा अन्य शांति संधियों के एक अभिन्न अंग के रूप में, किया गया था। इस कारण जब कुछ राष्ट्रों ने इन संधियों की उपेक्षा की तो राष्ट्रसंघ की उपेक्षा भी स्वाभाविक थी। वार्सायी संधि मे विलसन के आदर्शवाद, लायड जार्ज के साम्राज्यवाद, क्लीमेन्सो के भौतिकवाद के साथ-साथ घृणा तथा प्रतिहिंसा की भावना निहित थी। 1932 मे जापान का मंचूरिया पर आक्रमण, 1933 में 'विश्व नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन' से जर्मनी का त्यागपत्र, 1935 में इटली का इथोपिया पर आक्रमण आदि ऐसी घटनायें है, जिनके पश्चात् ये राष्ट्र, राष्ट्रसंघ से अलग हो गये। इस प्रकार नार्मन बेन्टविच के शब्दो में, "राष्ट्रसंघ अप्रतिष्ठित माता की असम्मानित कन्या थी।"

II राष्ट्रसंघ की सीमायें और शक्तिहीनता :—जिस समय राष्ट्रसंघ काफी प्रभावशाली रूप में था, उस समय भी उसका प्रभाव समस्त विश्व पर नही था ; बल्कि कुछ राष्ट्रों तक ही सीमित था और यही कारण है कि उसका प्रभाव सार्वलौकिक नही था। आरम्भ में ही अमेरिका के राष्ट्रसंघ से अलग हो जाने से शांति की रक्षा के ध्येय को और राष्ट्रसंघ के प्रयास और प्रभाव को भारी धक्का लगा। इसके अतिरिक्त जापान, जर्मनी तथा इटली जैसे बड़े राष्ट्रों के त्यागपत्र दे देने से राष्ट्रसंघ और भी अधिक कमजोर पड़ गया और उसकी सीमा और संकुचित हो गई। इसके साथ ही राष्ट्रसंघ ने जानबूझकर अपने कार्यों की सीमा कम कर ली। 1926 में, मैक्सिको गुप्त रूप से निकारगुआं सरकार के राजनीतिक दुश्मनों को सहायता दे रहा था। निकारगुआं सरकार ने राष्ट्रसंघ में मैक्सिको के खिलाफ अपील की। अमेरिकी सरकार ने अपने नागरिकों की रक्षा करने के लिये निकारगुआं में नौसेना भेज दी। इस पर राष्ट्रसंघ ने घोषणा की कि केन्द्रीय अमेरिका में शांति स्थापित करना उसके अधिकार से बाहर की बात है। इधर मिश्र, यद्यपि वह 1922 में एक स्वतंत्र राज्य माना जा चुका था, राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वंचित रखा गया। इस तरह आंग्ल-मिश्री झगड़ों को अन्तर्राष्ट्रीय विवाद नहीं माना गया। इसके अतिरिक्त चीन और बड़े राष्ट्रों के बीच विवाद भी राष्ट्रसंघ के क्षेत्र से बाहर रखा गया। इन सीमित अधिकारों तथा कार्यवाहियों के कारण राष्ट्रसंघ एक दुर्बल संस्था बन गई। राष्ट्रसंघ की एक अन्य विशेष कमी यह भी थी कि वह रचनात्मक कार्यों की अपेक्षा भाषणों और बहस में अधिक व्यस्त रहता था। उसकी जो कुछ व्यावहारिक कार्यवाहियाँ हुई भी, वह इतनी सुस्त और कमजोर थीं कि वह किसी बड़े राष्ट्र पर प्रभाव न जमा सकीं।

III. प्रतिश्रव में अविश्वास और उसके प्रति उल्लंघन की भावना :—राष्ट्रसंघ के जीवन में कुछ ही उसके ऐसे सदस्य थे, जो अपने वायदों और शपथ के पक्के थे। प्रतिश्रव का उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध आर्थिक बहिष्कार-नीति नितान्त अप्रभावशाली सिद्ध हुई। इटली-इथोपियन विवाद में इटली के विरुद्ध आर्थिक बहिष्कार नीति का कोई भी परिणाम नही निकला। इटली ने अकेले होने पर भी राष्ट्रसंघ के आदेश का उल्लंघन किया। जापान ने न केवल राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप का तिरस्कार किया, बल्कि उसने खुले आम प्रतिश्रव की भी अवहेलना की। अगस्त 1939 में जब रूस ने जर्मनी के साथ परस्पर आक्रमण न करने की संधि की, उस समय ही प्रतिश्रव के प्रति उसका अविश्वास प्रकट हो गया। यही नहीं, फिनलैण्ड पर आक्रमण और पोलैण्ड को राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वंचित करने के लिये बाध्य करने की उसकी कार्यवाहियों से यह और भी साफ प्रकट हो गया कि वह राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों पर चलने के लिये तैयार नही। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का गिर जाना ही राष्ट्रसंघ की असफलता का कारण बना। हॉब्स ने ठीक ही कहा था कि "बिना विश्वास के प्रतिश्रव बेकार है।"

IV. सार्वलौकिक हित की भावना का अभाव :—एक सबसे बड़ी कमजोरी राष्ट्रसंघ के संचालकों में यह थी कि उनमें सार्वलौकिक हित की भावना नही थी। इसके अतिरिक्त छोटे राज्यों के आक्रमण तथा अत्याचार से रक्षा करने की शक्ति भी उनमें नहीं थी। राष्ट्रसंघ सत्ताधारी राष्ट्रों के बीच सहयोग स्थापित करने का एक यंत्र बन गया। इसके अतिरिक्त सदस्य राष्ट्रों में भी परस्पर सुसंबंध नही थे और उनकी जनता में संकुचित राष्ट्रीयता की भावना काफी तीव्र थी। इसी कारण सार्वलौकिक हित की भावना का उनमे अभाव था। शूमैन के अनुसार "राष्ट्रसंघ और उसकी एजेन्सियाँ मानव कल्याण तथा विश्व-मैत्री की स्थापना में कभी भी सफल सिद्ध नहीं हुई।"

V. एकमत का सिद्धान्त :—राष्ट्रसंघ के संविधान में कई बड़ी-बड़ी कमजोरियाँ तथा त्रुटियाँ थी। प्रतिश्रव में धारा पांच के अनुसार किसी भी बैठक का निर्णय राष्ट्रसंघ की बैठक में उपस्थित सभी सदस्य राष्ट्रों की सहमति से होता था और विवाद में लिप्त राष्ट्रों से कोई सहमति नहीं ली जाती थी। प्रतिश्रव के संशोधन पर परिषद् की स्वीकृति तथा सदस्य राष्ट्रों की पुष्टि आवश्यक होती थी। जहाँ तक राष्ट्रसंघ की महासभा से सम्बन्ध है, धारा 15 में सिफारिशों तथा निर्णयों में अन्तर स्पष्ट कर दिया गया है। सिफारिशों के मामलों में साधारण बहुमत तथा निर्णय के लिये, निर्विरोध मत लेना पड़ता था। इस तरह राष्ट्रसंघ की तमाम कार्यवाहियाँ व्यावहारिक दृष्टि से सिफारिशो के रूप में होती थी। फल यह होता था कि राष्ट्रसंघ किसी भी राज्य को वैधानिक तौर पर बाध्य नहीं कर सकता था। इस तरह 'एकमत शासन' अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिये बहुत बड़ा बाधक सिद्ध हुआ। राष्ट्रसंघ प्रतिश्रव

में दूसरी कमी यह थी कि वह संधियों के संशोधन के लिये उचित कदम नहीं उठाता था। तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री का मत है कि "एक राष्ट्र का एकमत, राष्ट्रसंघ की सबसे बड़ी कमजोरी थी। जिससे कोष्टारिका ब्रिटेन के बराबर तथा साइबेरिया रूस के समान हो गया; यद्यपि वास्तव में इनकी शक्ति, स्थिति व साधन में बड़ा अन्तर था।"

VI. निःशस्त्रीकरण—राष्ट्रसंघ को शस्त्रीकरण की सीमा निर्धारित करने का अधिकार नही था; यद्यपि लायड जार्ज ने सुझाव दिया था कि शस्त्रीकरण का सीमा सम्बन्धी समझौता सदस्य राष्ट्रों में होना चाहिये। उन्होंने कहा था कि राष्ट्रसंघ तभी सफल हो सकता है जब सेना के निर्माण तथा संगठन में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस तथा इटली के बीच प्रतियोगिता न होकर सहयोग कायम हो और प्रतिश्रव पर हस्ताक्षर होने से पूर्व जब तक उक्त समझौता नही हो जाता, तब तक राष्ट्रसंघ केवल छलमात्र ही है। यद्यपि धारा 8 के अनुसार राष्ट्रीय शस्त्रीकरण में इतनी कमी कर देनी चाहिये थी कि वह केवल आत्म-सुरक्षा ही कर सके। किन्तु फिर भी राष्ट्रसंघ, सामूहिक सुरक्षा सम्बन्धी विश्वास सदस्य राष्ट्रों में पैदा नहीं कर सका। जहाँ एक राष्ट्र में शस्त्रीकरण में वृद्धि शुरू हुई कि दूसरे राष्ट्रों में भय, असंतोष तथा खलबली मचने लगी और उनकी सुरक्षा कार्यवाही दूसरों के लिये आक्रमणकारी कार्यवाही मालूम हुई। इस तरह विश्व में ऐसी स्थिति पैदा हो गई कि राष्ट्रों में परस्पर तनाव और झगड़ा बढ़ने लगा। आखिर शस्त्रीकरण में विघटन की धारा निहायत असफल रही।

VII. प्रतिरोधक शक्ति का अभाव—सर सेमुएल होर ने 1935 में जेनेवा में अपने वक्तव्य में कहा था कि राष्ट्रसंघ कोई ऐसी संस्था नही जिसका तमाम राज्यो पर प्रभाव हो अथवा यह कोई ऐसी स्वतन्त्र सस्था नही जिसमे सभी देशों के प्रतिनिधि हों और जो स्वतन्त्र हों तथा जिसके निर्णय पर सभी अमल कर सकें। इसमे तो वही राष्ट्र हैं जो विवाद पैदा करते हैं और अपने वायदों और शपथ का उल्लंघन करते है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ के पास कोई अन्तर्राष्ट्रीय हवाई, जल तथा स्थल सेना नही थी जिससे कि वह अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के भंग करने वालो के खिलाफ जोरदार कार्यवाही कर सके। यही कारण था कि राष्ट्रसघ उन राजनैतिक विवादों को सुलझाने में असफल रहा, जिनमें बड़े राष्ट्रों का हाथ था। राष्ट्रसंघ के पास जो कुछ सैनिक ताकत अथवा प्रतिरोधक शक्ति थी, वह इतनी कमजोर तथा प्रभावहीन थी कि शांति स्थापना का काम उसके बस का नही था। राष्ट्रसघ में एक दूसरी बड़ी कमी यह थी कि जब तक कोई विवाद खतरनाक तथा गभीर स्थिति तक न पहुँच जाता, वह उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। परिणामस्वरूप उसे विवाद संभालने मे कठिनाई हो जाती थी और अन्त में वह असफल हो जाता था। 1921 में राष्ट्रसंघ की द्वितीय महासभा ने सर्वसम्मति से निर्णय किया कि प्रतिश्रव का उल्लंघन हुआ या

नहीं, इसका निश्चय प्रत्येक सदस्य राष्ट्र स्वयं करेगा। दो वर्ष पश्चात् धारा 10 पर टिप्पणी करते हुये महासभा ने घोषणा की, "आक्रमण अथवा संकट की स्थिति का सामना करने के लिये सामूहिक सामरिक कार्यवाही के निर्णय, भौगोलिक स्थिति एवं प्रत्येक राष्ट्र की विशेष दशा को ध्यान में रखते हुये, लिया जायेगा।" इस प्रकार राष्ट्रसंघ की प्रतिरोधक शक्ति सीमित हो गई।

VIII. तानाशाही राज्यों की आक्रमणकारी मनोवृत्ति :—राष्ट्रसंघ को गिराने और असफल बनाने में सबसे बड़ा हाथ तानाशाही राज्य जर्मनी, इटली और जापान का था जो विभाजन और आक्रमण से विश्व पर अपना शासन कायम करना चाहते थे। उन्हें राज्यों में समानता लाने की नीति में विश्वास नहीं था और सामूहिक सुरक्षा के वे सख्त विरोधी थे। मुसोलिनी ने एक बार कहा था—"वह अधिकार जो बिना शक्ति अथवा संघर्ष के प्राप्त हुआ हो, बेकार और अस्थायी है।" इस तरह जर्मनों के पुनः शस्त्रीकरण, इथोपिया पर इटली के आक्रमण, चीन पर जापानी हमले तथा बर्लिन-रोम-टोकियो समझौता से राष्ट्रसंघ की शांति स्थापना तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का आन्दोलन भंग हो गया और वह सदा के लिये समाप्त हो गया।

IX. आंग्ल-फ्रांसीसी सन्तुष्टिकरण नीति :—ब्रिटेन और फ्रांस ने अपनी परम्परागत राष्ट्रीय नीति को कायम रखने के लिये राष्ट्रसंघ को एक हथियार की तरह प्रयोग किया। फ्रांस के लिये राष्ट्रसंघ केवल मित्रराष्ट्रों की एक व्यवस्था थी, जिससे जर्मनी के आतंक से उसकी रक्षा की जा सकती थी। इधर ब्रिटेन ने अपनी परम्परागत राष्ट्रीय नीति पर अमल करते हुये आक्रमणकारियों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही में भाग लेने से अपने को अलग रखा। इस तरह आंग्ल-फ्रांसीसी सन्तुष्टिकरण नीति से कमजोर राष्ट्रों पर शक्तिशाली राष्ट्रों के आक्रमण को रोका नहीं जा सका और अन्तर्राष्ट्रीय कानून को भंग करने वाले सजा पाने से वंचित रहे। यद्यपि राष्ट्रसंघ को आक्रमणकारियों के विरुद्ध सामूहिक सैनिक कार्यवाही करने का अधिकार था; किन्तु चूँकी उसमें, आक्रमणकारियों को खुश रखने वाले तत्वों का अधिक प्रभाव था, इसलिये वह कमजोर राष्ट्रों के लिये बेकार सिद्ध हुआ।

X. संकीर्ण राष्ट्रीयता :—प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् जनता के विचारों में संकीर्ण राष्ट्रीय भावना की प्रधानता थी। फ्रांस अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा को महत्व दे रहा था, जापान विश्व शक्ति के रूप में प्रधानता पाकर दुर्बल राष्ट्रों को जीत कर साम्राज्य विस्तार कर रहा था, इटली आक्रामक सैनिक अभियानों द्वारा अपने खोये हुये सम्मान को पुनः प्राप्त करना चाहता था। अमेरिका ने पृथकवादी नीति अपना ली थी। जर्मनी तथा साम्यवादी रूस मित्रराष्ट्र की आपसी फूट का लाभ उठा रहे थे। इसी प्रकार राष्ट्रीय महत्वाकांक्षायें विश्व शांति के मार्ग में बाधक सिद्ध हुईं। प्रोफेसर गूच के मत में, "अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय मस्तिष्क के न होने पर उसी प्रकार से खोखली हैं, जिस प्रकार बिना जनता की भावना के प्रजातन्त्र।"

राष्ट्रसंघ—एक महान् परीक्षण

XI. धाराओं में अपूर्णता :—संगठन की दृष्टि से भी राष्ट्रसंघ में कुछ कमियाँ थीं। धारा 9 में अस्त्र-शस्त्रों को सीमित करने की व्यवस्था, धारा 10 व 16 मे आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा, धारा 12 से 15 तथा 17 में शांतिपूर्ण ढंग से समस्याओं का निराकरण और धारा 19 में शांतिपूर्ण परिवर्तन की व्यवस्था थी। होगान के अनुसार ये चार स्तम्भ सम्मिलित रूप से सन्तुलित नहीं थे और राष्ट्रसंघ के भंग होने के ये मुख्य कारण बने। शांति और परिवर्तन की व्यवस्था में प्रथम पर अर्थात् शांति पर अधिक जोर दिया गया। परन्तु आवश्यक सामाजिक व राजनैतिक परिवर्तनों पर ध्यान नहीं दिया गया। इस प्रकार उपरोक्त धारायें राष्ट्रसंघ के ढांचे को दुर्बल बनाने का कारण बनी।

मूल्यांकन

डा० ओपनहाइम का विचार है कि, "राष्ट्रसंघ संगठित राष्ट्रों का एक परिवार है।" राष्ट्रसंघ के विषय में आलोचना की जाती है कि यह युद्ध को रोकने और शांति बनाये रखने मे नितान्त असफल रहा। यथार्थ में राजनीतिक पटल पर राष्ट्रसंघ को आंशिक सफलता मिली। वह केवल छोटे झगड़ों और उन समस्याओं का ही हल कर सका, जिनमें बड़े राष्ट्रों के स्वार्थ सम्मिलित न थे। किन्तु इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक क्षेत्र में अपूर्व सफलता मिली।

राष्ट्रसंघ के प्रारम्भिक जीवन में बड़े राष्ट्रों की गतिविधियों को देखकर हैले सिलासी ने भविष्यवाणी की थी, "राष्ट्रसंघ आगे चलकर भंग हो जायेगा और पश्चिमी राज्य नष्ट हो जायेंगे।" रूमानियन कूटनीतिज्ञ टिट्लेस्क ने सत्य ही कहा है, "राष्ट्रसंघ की असफलता का उत्तरदायित्व उसके प्रतिश्रव पर न होकर, उन्हें काम में लेने वाले व्यक्तियों पर है।" वाल्टर्स के शब्दो में, "एक कार्यकारिणी संस्था के रूप में यद्यपि राष्ट्रसंघ का अस्तित्व आज नहीं है, परन्तु इसके उच्च आदर्श विश्व-शांति स्थापित करने की हमें प्रेरणा देते हैं; क्योंकि इस संस्था ने यह शिक्षा दी है कि आक्रामक युद्ध मानवता के प्रति एक दण्डनीय अपराध है।" इस कारण सभी राष्ट्र पारस्परिक सहयोग द्वारा विश्वशांति स्थापित कर सकते हैं। राष्ट्रसंघ के इतिहास का विश्लेषण इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि वैज्ञानिक तथा यांत्रिक उन्नति की तुलना में नैतिक प्रगति बहुत पीछे रह गई है, जबकि विश्वशांति के लिये किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की सफलता दोनों के समन्वय पर निर्भर है।

सारांश

शांति के लिए पूर्व प्रयास

प्रथम महायुद्ध से पूर्व शांतिप्रिय व्यक्ति 222 बार अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें स्थापित करने की दिशा में कार्य कर चुके थे। इनमें पियरे दुबोय (1306) और दांते (1310) के नाम उल्लेखनीय हैं। 17वीं सदी में डक डी सली व विलियम पेन ने और 18वीं सदी में एबेसेन्ट पियरे व रूसो ने शांति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की योजनाएँ

प्रस्तुत कीं। 19वीं शताब्दी में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों ने यूरोपीय समस्याओं को सुलझाने में सहायता दी। इन यूरोपीय शक्ति गोष्ठियों की तीन कमियां थीं—नियमित सभा व स्थायी संगठन का अभाव; आर्थिक प्रतिस्पर्धा, उग्र राष्ट्रीयता व सामरिकता और बड़े राष्ट्रों में गुटबन्दी।

प्रारूप

राष्ट्रसंघ के प्रारूप के तैयार होने के पूर्व अनेक ओर से सुझाव आ चुके थे। इनमें टैफ्ट योजना, ब्राइस सुझाव, फिलीमोर योजना, फ्रांसीसी दस्तावेज, ब्रिटेन के विदेश मन्त्रालय का स्मरण-पत्र व स्मट्स की सिफारिश उल्लेखनीय हैं। अन्त में स्थायी शांति की दृष्टि से 8 जनवरी 1918 को राष्ट्रपति विलसन ने अपनी 14 बिन्दु योजना के अंतिम बिन्दु में एक स्थायी राष्ट्रसंघ का प्रस्ताव रखा, जिसे शांति सम्मेलन ने स्वीकार कर लिया।

संगठन

शांति संधियों में प्रथम 26 धाराएँ राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव से संबंधित हैं। इसके चार उद्देश्य—युद्ध निवारण, शांति की स्थापना, संधियों के नियमों व उपनियमों को लागू करना तथा मानव समाज की भौतिक तथा नैतिक उन्नति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित करना था।

राष्ट्रसंघ के प्रारम्भिक सदस्य 31 और बाद में अधिकतम सदस्य संख्या 62 हो गई, जिनमे भारत भी एक था। साधारण सभा में समस्त सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि थे। इसके कुल 21 अधिवेशन हुए। साधारण सभा का कार्यक्षेत्र व्यापक था—(1) चुनाव (2) प्रतिश्रव में संशोधन (3) परामर्श। निर्णय सर्वसम्मति से होते थे।

परिषद् में प्रारम्भ में कुल सदस्य नौ थे--पाँच स्थायी और चार अस्थायी। आगे चलकर वे क्रमशः 4 और 11 हो गये। सचिवालय के प्रथम महासचिव ब्रिटेन के सर एरिक ड्रमड थे। महासचिव समस्त अधिवेशनों की कार्यवाही के लिए उत्तरदायी था। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में 15 न्यायाधीश थे, जो सभा और परिषद् द्वारा 9 वर्ष के लिए चुने जाते थे। न्यायालय का अधिकार क्षेत्र ऐच्छिक और अनिवार्य दो प्रकार का था। मजदूरों की भलाई के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ की भी स्थापना की गई।

कार्य

प्रधान कार्य—(1) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण समझौता, (2) प्रशासनिक व्यवस्था, (3) आदिष्ट प्रणाली, (4) अल्पसंख्यकों का संरक्षण एवं (5) आर्थिक, सामाजिक व मानव कल्याण के लिए कार्य। राष्ट्रसंघ के सम्मुख 44 अन्तर्राष्ट्रीय विवाद लाये गये। 8 ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय विवाद थे, जिनमें राष्ट्रसंघ पूर्णतः असफल रहा। राष्ट्रसंघ ने सार प्रदेश तथा डानजिग पर सफलतापूर्वक प्रशासन-कार्य

किया। आदिष्ट प्रदेशों को 'अ' 'ब' और 'स'—तीन वर्गों में विभाजित किया गया था। राष्ट्रसंघ ने तीन करोड़ अल्पसंख्यकों को संरक्षण दिया।

आर्थिक, सामाजिक एवं मानव-कल्याण के लिए कार्य

1923 में परिषद् ने हंगरी के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए एक योजना प्रस्तुत की। 1927 और 1933 में विश्व आर्थिक सम्मेलनों का आयोजन किया गया। प्रतिश्रव की धारा 23 के अनुसार संचार और यातायात संगठन, बौद्धिक सहयोग संगठन व एक स्वास्थ्य समिति की स्थापना की गई और अन्तर्राष्ट्रीय कानून संग्रह किया गया।

19 अप्रैल 1946 को द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ की 34 सदस्यों की महासभा की अंतिम बैठक जेनेवा में हुई।

असफलता के कारण

विश्वशांति के क्षेत्र में राष्ट्रसंघ एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय परीक्षण था। विभिन्न प्रकार के कारणों ने इसे असफल बना दिया: वर्साय संधि का इसका अंग होना, राष्ट्रसंघ की सीमाएँ और शक्तिहीनता, प्रतिश्रव में अविश्वास और उसके प्रति उल्लंघन की भावना, सार्वलौकिक हित की भावना का अभाव, 'एकमत' का सिद्धान्त, निःशस्त्रीकरण शक्ति का अभाव, प्रतिरोधक शक्ति का अभाव, तानाशाही राज्यों की आक्रमणकारी मनोवृत्ति, आंग्ल-फ्रांसीसी सन्तुष्टिकरण नीति, संकीर्ण राष्ट्रीयता, धाराओं में अपूर्णता आदि इनमें प्रमुख थे।

घटनाओं का तिथि-क्रम

1919 25 जनवरी—सिसिल हर्स्ट एवं मिलर रिपोर्ट।
16 फरवरी—प्रतिश्रव का प्रारूप प्रस्तुत हुआ।
28 अप्रैल—संशोधित प्रारूप की सम्मेलन द्वारा स्वीकृति।

1920 10 जनवरी—राष्ट्रसंघ का जन्म दिवस।
15 नवम्बर—साधारण सभा का प्रथम अधिवेशन।

1922 15 फरवरी—अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना।

1923 3 फरवरी—विलना-विवाद का निर्णय।
27 सितम्बर—कार्फ्यू-विवाद का समाधान।

1926 8 सितम्बर—राष्ट्र-संघ मे जर्मनी का प्रवेश।

1931 21 सितम्बर—मंचूरिया घटना पर राष्ट्रसंघ में प्रथम बार विचार।
24 अक्टूबर—सेना हटाने के लिए परिषद् की जापान से अपील।
10 दिसम्बर—लिटन आयोग की नियुक्ति।

1933 24 फरवरी—साधारण सभा ने जापान को आक्रामक घोषित किया।

27 मार्च—जापान द्वारा राष्ट्रसंघ परित्याग।

1935 3 अक्टूबर—इटली का इथिओपिया पर आक्रमण।

19 ,, —राष्ट्रसंघ के इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध।

1936 15 जुलाई—प्रतिबन्धों की समाप्ति।

12 दिसम्बर—स्पेन का गृह-युद्ध ग्रहस्तक्षेप समिति को सौंपा गया।

1939 14 ,,—राष्ट्रसंघ से रूस का बहिष्कार।

1946 19 अप्रेल—राष्ट्रसंघ की अंत्येष्टि।

सहायक अध्ययन

Burton, M.E. : **The Assembly of the League of Nations.** (1943).

Cecil, Viscount R. : **A Great Experiment** (1941).

Chowdhury R.N. : **International Mandates and Trusteeship Systems.** (The Hague : 1956).

Conwell-Evans, T.P. : **The League Council in Action.** (1929).

Hudson, M.O. : **The Permanent Court of International Justice, 1920-1942.** (1943).

League of Nations Secretariat : **Ten Years of World Co-operation.**(1930).

Walters, F.P. : **A History of the League of Nations.** 2 Vols. (1952).

World Organization : **A Balance Sheet of the First Great Experiment.** (1942).

Zimmern, Alfred. : **The League of Nations and the Rule of Law.** (1936).

प्रश्न

1. 1922 से 1939 के मध्य राष्ट्रसंघ को मिली सफलता व असफलता का संक्षिप्त विवरण दें। (रा० वि०, 1954 आ० वि० 1966)

2. जब राष्ट्रसंघ शक्तिशाली था, उसने विश्व शांति में क्या योग दिया? अंत में यह असफल क्यों रहा?

(पं० वि० 1962, जो० वि० 1965, रा० वि०, 1957)

3. "संघ का मुख्य कार्य, और जो कि होना भी चाहिए था, झगड़ों के शांतिपूर्ण निपटारे द्वारा युद्धों को रोकना था।"—क्या आप इस कथन से सहमत हैं?

(रा० वि०, 1962)

4. राष्ट्रसंघ की उत्पत्ति, और अन्त में उसके विनष्ट हो जाने के कारणों की व्याख्या करें। (रा० वि०, 1963; आ० वि०, 1961)

5. आदिष्ट प्रणाली किस प्रकार प्राचीन उपनिवेश प्रणाली में एक सुधार थी ? आदिष्ट प्रणाली ने व्यवहारिक रूप में अपने आप में क्या दोष पाये ? क्या इस प्रथा के कुछ उल्लेखनीय परिणाम हुए ?

(जो० वि० 1963, पं० वि० 1964, आ० वि० 1961, रा० वि०, 1963)

6. "1925 से 30 राष्ट्रसंघ के उन्मत्त यौवन का समय था।"—व्याख्या व परीक्षा करें। (रा० वि०, 1964, प० वि० 1962)

7. एबीसीनिया के विरुद्ध इटली की कार्यवाही राष्ट्रसंघ के लिए किस प्रकार एक घातक प्रहार था ? (रा० वि०, 1965)

8. "पिछड़े क्षेत्रों पर अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण में आदिष्ट प्रणाली एक साहसिक कार्य था"। आदिष्ट प्रणाली की विवेचना करें। (आ० वि०, 1961)

9. राष्ट्रसंघ के विघटन की क्रमिक अवस्थाओं को स्पष्ट कीजिये। इस विघटन में किन-किन तत्वों का हाथ था ?

(पं० वि० 1966, जो० वि० 1963, रा० वि० 1967; उ० वि० 1967)

10. अंतर्राष्ट्रीय विवादों को निबटाने में राष्ट्रसंघ के किये गये कार्यों का मूल्यांकन करें। (जोधपुर वि०, 1966)

क्षतिपूर्ति की समस्या

आर्थर सॉल्टर के अनुसार, "क्षतिपूर्ति, युद्धोत्तर यूरोप का इतिहास है।" जिस प्रकार जुए में हारे हुये व्यक्ति को दण्ड भुगतना पड़ता है, उसी प्रकार युद्ध में पराजित राष्ट्र को क्षतिपूर्ति करनी होती है। वर्साय की संधि में भी जर्मनी के साथ इसी सिद्धान्त को अपनाया गया। शांति समझौतों के बाद यूरोप के कूटनीतिज्ञों के सामने वर्साय संधि के अन्तर्गत क्षतिपूर्ति की व्यवस्था एक जटिल तथा विवादास्पद समस्या थी। क्षतिपूर्ति का विषय सारे राष्ट्रों का ध्यान आकृष्ट किये हुये था और सर्वत्र इसकी चर्चा रहती थी।

वास्तव में क्षतिपूर्ति समस्या इतनी अधिक जटिल तथा तकनीकी थी कि इससे न केवल करोड़ों व्यक्तियों के जीवन पर असर पड़ा; बल्कि युद्धोपरान्त विजयी राष्ट्रों में भी मतभेद पैदा हो गया। यद्यपि मित्र राष्ट्रों को जर्मनी से युद्ध का सारा खर्च वसूल करने का नैतिक दावा था, किन्तु धारा 232 में यह स्पष्ट था कि संपूर्ण क्षतिपूर्ति करना जर्मनी की शक्ति से बाहर की बात है और किसी विशेष प्रकार से क्षति के सम्बन्ध में, जिसमें मित्र राष्ट्रीय सेनाओं की पेन्शनें तथा भत्ते भी शामिल थे, जर्मनी नामजूर कर सकता था। फिर भी जर्मनी पर, उसने जो सैनिक अर्थात् भूमि, जल व वायु सेना द्वारा और असैनिक क्षति पहुँचाई थी, उसकी पूर्ति का उस पर बोझ लादा गया। साथ ही, मित्र राष्ट्रों के सैनिकों के पारवारिक भत्तों व जर्मन भूमि पर नियुक्त नियंत्रणकारी सेना का व्यय भार देने को भी उसे बाध्य किया गया। संधि पत्र में जर्मनी द्वारा दी जाने वाली क्षतिपूर्ति की मात्रा निर्धारित नहीं की गई थी। जर्मन क्षतिपूर्ति की समस्या को समझने के लिये दो बातें ध्यान में रखनी आवश्यक हैं :—

पहली यह है कि युद्ध के कारण जर्मनी के साधन शिथिल पड़ गये थे और उसके उपनिवेश तथा औद्योगिक केन्द्र भी उसके हाथ से निकल गये थे। दूसरी यह है कि मित्रराष्ट्रों में दो प्रमुख देश ब्रिटेन और फ्रांस में परस्पर तनाव पैदा हो गया। एक ओर फ्रांस जर्मनी का सम्पूर्ण ह्रास चाहता था तथा दूसरी ओर ब्रिटेन की नीति परास्त राष्ट्र जर्मनी के आर्थिक पुनरुत्थान की ओर थी। इस प्रकार के मतभेद से जर्मन क्षतिपूर्ति की समस्या का सन्तोषजनक समाधान अनिश्चित काल के लिये स्थगित रहा।

सम्पूर्ण राशि निर्धारित करने का प्रश्न

शांति-सम्मेलन का अंतिम निर्णय यह था कि युद्ध के समय में जर्मनी को मित्र राष्ट्रों की शांतिपूर्ण जनता तथा उसकी सम्पत्ति को हुई क्षति के बदले में सोना या अन्य सामान देना होगा। राशि निर्धारित करने का काम एक आयोग को सौंपा गया। इस आयोग में ब्रिटेन, इटली और फ्रांस के प्रतिनिधि थे तथा संबंधित विशेष स्वार्थ की रक्षार्थ बेल्जियम, जापान और युगोस्लाविया को भी बुला लिया जाता था। जर्मनी को

अधिकार था कि वह आयोग के समक्ष अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करे। इधर जर्मनी को अन्तरिम काल में विजयी मित्र राष्ट्रों को नकद या माल के रूप में एक अरब पौण्ड अदा करना था। इस राशि से जर्मनी में पड़ी मित्र राष्ट्रों की सेनाओं का खर्च चलाना था और इससे बाकी बची राशि को क्षतिपूर्ति राशि के रूप में स्वीकार कर लेना था। 10 जनवरी 1920 को वर्साय संधि के लागू होने के बाद क्षतिपूर्ति समस्या किस तरह हल की जाय, यह प्रश्न उठा। इसमें प्रथम समस्या यह थी कि जर्मनी क्षतिपूर्ति कितनी दे और किस तरीके से दे? जर्मनी से कहा गया कि वह क्षतिपूर्ति की अदायगी के निमित्त कुल कितनी रकम देगा; इसकी सूचना मित्र राष्ट्रों को शीघ्र दे।

स्पा सम्मेलन

5 से 16 जुलाई 1920 में जर्मनी ने अपने प्रस्ताव 'स्पा सम्मेलन' में रखे। यद्यपि ये प्रस्ताव बेहूदे और बेकार कह कर अस्वीकार कर दिये गये; किन्तु अगले 6 मास तक जर्मनी कितना कोयला देगा, इस संबंध में एक समझौते पर हस्ताक्षर हो गये। सम्मेलन का महत्वपूर्ण निर्णय मित्र राष्ट्रों को दी जाने वाली क्षतिपूर्ति का वितरण था। अदा की जाने वाली रकम के प्रतिशत को इस प्रकार बांटा गया :—

मित्र राष्ट्र	पूर्ण राशि का प्रतिशत
फ्रांस	52 %
ब्रिटेन	22 %
इटली	10 %
बेल्जियम	8 %
रूमानिया युगोस्लाविया यूनान	6·50 %
जापान	0·75 %
पुर्तगाल	0·75 %

पेरिस का निर्णय

24 से 30 जनवरी 1921 को जर्मन तथा मित्र-राष्ट्रीय विशेषज्ञ पेरिस में मिले। इस सम्मेलन में जर्मनी से 11 अरब पौंड की माँग की गई जो कि 42 वार्षिक किश्तों में अदा करनी थी। इसके अतिरिक्त जर्मनी से यह भी माँग की गई कि वह अपने निर्यात व्यापार की आय का 12 प्रतिशत भी दे। इस प्रस्ताव से जर्मनी में विरोध की भावना भड़क उठी। जर्मन लोगों ने कहा कि यह योजना योग्य तथा विश्वसनीय विशेषज्ञों के सम्मेलन में नहीं बनाई गई; इसे पागलखाने में रहने वाले व्यक्तियों ने बनाया है। मित्र राष्ट्रों ने उक्त योजना स्वीकार किये जाने के लिये जर्मनी पर दबाव नही डाला।

प्रथम लन्दन सम्मेलन (21 फरवरी—14 मार्च 1921)

21 फरवरी से 14 मार्च 1921 के प्रथम लन्दन सम्मेलन में अपना उत्तर देने के लिये जर्मनी को बुलाया गया। जर्मनी ने इस बुलाने के उत्तर में अपना जो प्रस्ताव रखा, उसमें 1½ अरब पौंड क्षतिपूर्ति नकद देने तथा ऊपरी साइलेशिया पर अधिकार रखने और सारे व्यापारिक प्रतिबन्धों को उठा लेने का उल्लेख था। क्षतिपूर्ति की अदायगी के लिये जर्मनी ने यह शर्त रखी कि विजयी राष्ट्र अपनी तमाम सेनाएँ जर्मनी से हटा लें। मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी के इस प्रस्ताव को बिल्कुल वेहूदा बताया। इस प्रकार क्षतिपूर्ति वार्ता बिना किसी समझौते के समाप्त हो गई। मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी द्वारा अन्तरिम क्षतिपूर्ति न देने पर राइन नदी के तट पर स्थित डुजेलडोर्फ, डयूसवर्ग तथा रूरोर्ट के औद्योगिक केन्द्रों पर कब्जा कर लिया। जर्मनी ने राष्ट्रसंघ में अपील की। उसने कहा कि उसने आरम्भ की क्षतिपूर्ति अदा कर दी है। लेकिन जर्मनी की अपील वेकार सिद्ध हुई। इस विवाद को पुन: क्षतिपूर्ति आयोग के सामने रखा गया। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में जर्मनी के दावे को झूठा बताया। उसने कहा कि जर्मनी ने अपना उक्त दावा अब तक दिये गये माल की कीमत अत्यधिक निर्धारित करके किया है। आयोग ने बताया कि जर्मनी को अन्तरिम क्षति-पूर्ति का 60 प्रतिशत अभी और देना बाकी है।

द्वितीय लंदन सम्मेलन में राशि निर्धारण (28 अप्रैल—5 मई 1921)

जब प्रत्यक्ष वार्ता असफल हो गई तो क्षतिपूर्ति निर्धारित करने का मामला क्षतिपूर्ति आयोग ने अपने हाथ में लिया। उसने 28 अप्रैल 1921 को जर्मनी द्वारा दी जाने वाली क्षतिपूर्ति की राशि निर्धारित कर दी। अदायगी का ब्यौरा अ, ब, स तीन प्रकार के बौण्डों में विभक्त किया गया। 'अ' और 'ब' बौंड में सम्पूर्ण क्षति-पूर्ति का एक तिहाई भाग अर्थात् 2 अरब 60 करोड़ पौंड था, जो कि जर्मनी को एक अरब पौंड वार्षिक के हिसाब से अदा करना था। इसके अतिरिक्त उसे प्रति-निर्यात मूल्य का 25 प्रतिशत भी देना था। 'स' बौंड की अदायगी, जो कि कुल राशि का दो तिहाई अर्थात् 4 अरब पौंड थी, अनिश्चित् काल के लिये स्थगित कर दी गई। आयोग ने घोषणा की कि 1 मई 1921 तक जर्मनी ने जो राशि अदा की है, वह जर्मनी में पड़ी विजयी राष्ट्रों की सेनाओं के लिये व्यय के लिये अपर्याप्त थी।

इस प्रकार जर्मनी द्वारा अब तक अदा की गई राशि को बिल्कुल महत्व नहीं दिया गया। 5 मई 1921 को जर्मनी को चुनौती दी गई कि यदि वह उक्त योजना स्वीकार न करेगा तो मित्र राष्ट्र रूर पर कब्जा कर लेंगे। चुनौती की अवधि समाप्त होने के एक दिन पूर्व वर्थ के संरक्षण मे नये जर्मन मन्त्रिमंडल ने इन शर्तों को मंजूर कर लिया और इस प्रकार क्षतिपूर्ति समस्या का पहला चरण समाप्त हो गया।

क्षतिपूर्ति वसूल करने में असुविधायें

यद्यपि जर्मनी ने लंदन सम्मेलन की राशि को स्वीकार कर लिया, किन्तु

जर्मनी से क्षतिपूर्ति की रकम वसूल करने में अनेक प्रकार की बाधायें उत्पन्न हुई, जो निम्नलिखित हैं :—

1. जर्मनी में सोने का अभाव :—क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी से विश्व के समस्त सोने के भी तीन गुने सोने की मांग की। अतः स्वाभाविक ही था कि जर्मनी में सोने का अभाव हो गया और वह इतना अधिक स्वर्ण देने में असमर्थ था।

2. युद्ध के बाद आर्थिक और मानसिक दृष्टि से शोचनीय दशा :—जर्मन जनता में, युद्ध के पश्चात् हीन आर्थिक स्थिति और निराशा के वातावरण में बड़ी शोचनीय स्थिति उत्पन्न हो गई थी। उनमें क्षतिपूर्ति करने के लिये, ऐसी स्थिति में, कोई उत्साह शेष नहीं रह गया था।

3. जर्मनी के आर्थिक स्रोतों का छीन लिया जाना :—क्षतिपूर्ति देने में तीसरी बाधा, जर्मनी के उपजाऊ इलाकों, जहाजी बेड़े व समुद्र-पार उपनिवेशों का छीन लिया जाना था। इस प्रकार जर्मनी के हाथ से उसके आर्थिक स्रोत निकल गये। इससे उसके आयात बढ़ गये और निर्यात घट गये।

4. कर व चुंगी रूपी दीवारें :—क्षतिपूर्ति करने में जर्मनी के लिये चौथी बाधा कर व चुंगी रूपी दीवारें थी ; जिन्हें कि अन्य पड़ौसी राष्ट्रों ने जर्मनी के माल के आयात के विरुद्ध खड़ी की थीं। वे नही चाहते थे कि उनके माल की अपेक्षा जर्मनी का माल उनके देश में बिके। इस प्रकार जर्मनी धनोपार्जन न कर सका और क्षतिपूर्ति करने में असफल रहा।

5. जर्मनी द्वारा अपने को अपराधी नहीं मानना :—जर्मनी अपने आपको युद्ध अपराधी नहीं मानता था। अतः वह क्षतिपूर्ति करने के लिये प्रस्तुत नहीं था। इसीलिये उसने अपने देश की 800 करोड़ रुपये की पूँजी 1919 से 1923 के मध्य विदेशों में व्यापार और बड़े उद्योगों में लगा दी; ताकि मित्र राष्ट्र उनके देश में से उनसे क्षतिपूर्ति का धन वसूल न कर सकें। इधर जर्मनी के बड़े उद्योगपतियों ने भी सरकार को सहयोग देने से इन्कार कर दिया। इन सब कारणों से जर्मनी किसी भी रूप में—नकद अथवा माल अदायगी न कर सका।

6. फ्रांस तथा इंग्लैण्ड के बीच मतभेद :—छठी बाधा मित्र राष्ट्रों की स्वयं की नीति के रूप में प्रस्तुत हुई। फ्रांस यह चाहता था कि क्षतिपूर्ति, जो कि उसे मिलती है, उसकी एक-एक पाई वसूल ही जाये और जर्मनी आर्थिक दृष्टि से बिल्कुल दब जाये। उधर इंग्लैण्ड के विदेश-मंत्री बालफोर ने दिसम्बर सन् 1922 में घोषणा की, "हम जर्मनी से केवल इतनी ही क्षतिपूर्ति की रकम चाहते हैं, जिससे कि अमेरिका से लिये गये ऋण की पूर्ति हो जाय।" इस प्रकार इंग्लैण्ड और फ्रांस के बीच मतभेद पैदा हो गया। जर्मनी ने उनके इस मतभेद का लाभ उठाया और क्षतिपूर्ति के लिये रकम के दिये जाने की गति बहुत मन्द कर दी।

जर्मनी की असमर्थता (1919-22)

अगस्त 1921 तक जर्मनी ने समझौते के अनुसार 5 करोड़ पौण्ड की प्रथम

किश्त अदा कर दी ; किन्तु मुद्रा की कीमत में गिरावट आ जाने से उसे अदायगी अगले वर्ष तक के लिये स्थगित करने के लिये अपील करनी पड़ी। जर्मनी की इस प्रार्थना पर जनवरी 1922 में कैनिस सम्मेलन में विचार किया गया। निर्णय हुआ कि जर्मनी अदायगी का कुछ अंश आगे के लिये स्थगित कर सकता है। इधर जर्मनी की मुद्रा की कीमत निरंतर गिरती गई। जर्मन सरकार ने आर्थिक संकट के आधार पर क्षतिपूर्ति नकद देने में असमर्थता प्रकट की और मांग की कि नकद अदायगी 1925 तक के लिये स्थगित कर दी जाय। इस मांग ने ब्रिटेन और फ्रांस के कूट-नीतिक सम्बन्धों मे तनाव पैदा कर दिया। ब्रिटेन के लायड जार्ज, बालफोर तथा बोनरला, जो जर्मनी के पुर्ननिमाण के पक्ष में थे, का विचार था कि क्षतिपूर्ति की अदायगी के पहले जर्मनी का आर्थिक दृष्टि से पुनरुत्थान जरूरी है। किन्तु दूसरी ओर फ्रांसीसी नेताओं की राय क्षतिपूर्ति की शीघ्र अदायगी के पक्ष में इसलिये थी कि उसे युद्ध से वर्बाद अपने लगभग 13 हजार वर्ग मील क्षेत्र को आर्थिक दृष्टि से स्वस्थ बनाना था। फ्रांसीसी नेता प्वाइनकर का कहना था कि जर्मनी को क्षतिपूर्ति की अदा-यगी के लिये और अधिक समय न दिया जाय। इधर जर्मनी फ्रांस को निर्धारित मात्रा की लकड़ी सप्लाई नही कर सका। इसका फल यह हुआ कि (जनवरी 1923) पेरिस सम्मेलन में क्षतिपूर्ति आयोग ने बहुमत से जर्मनी को अपराधी घोषित कर दिया। 10 जनवरी 1923 में जब क्षतिपूर्ति समस्या की दूसरी अवधि समाप्त हो गई तो फ्रांस ने घोषणा की कि नियंत्रकों का एक शिष्टमंडल शीघ्र रूर भेजा जायगा।

रूर पर अधिकार (10 जनवरी—26 सितम्बर 1923)

क्षतिपूर्ति समस्या का तीसरा चरण उस समय प्रारम्भ हुआ, जब फ्रांसीसी व बेल्जियम सेनाओं ने रूर पर कब्जा कर लिया। प्वाइनकर ने घोषणा की, "रूर पर कब्जा करने का फ्रांस का कोई इरादा नहीं है ; क्षतिपूर्ति न मिलने तक ही हम उस पर अधिकार रखना चाहते हैं।" इस क्षेत्र की लम्बाई 60 मील और चौड़ाई 28 मील थी और यह जर्मनी का एक विशाल औद्योगिक केन्द्र था। अनुमान लगाकर बताया गया था कि जर्मनी के कोयला, लोहा व इस्पात उत्पादन का 80 प्रतिशत तथा 70 प्रतिशत माल व रेलों का खनिज यातायात रूर पर निर्भर करता था। इसके 9 नगर थे और जर्मन आबादी की 10 प्रतिशत जनता यहाँ निवास करती थी।

जब फ्रांस ने रूर पर अधिकार कर लिया तो जर्मन सरकार ने विरोध व असहयोग की नीति अपनाई। उन्होंने फ्रांसीसियों व नियंत्रणकारी सेनाओं को पानी, बिजली, टेलीफोन व अन्य दैनिक जीवन की सुविधायें देना बन्द कर दिया। उधर फ्रांस का नियंत्रण और भी कठोर होता गया। उन्होंने रूर के बैंकों व छोटे-बड़े सरकारी तथा गैर सरकारी उद्योगों पर अधिकार कर लिया। उन्होंने यह भी प्रयत्न किया कि शेष जर्मनी से रूर के जर्मन-निवासियों का राजनीतिक संबंध टूट जाय। इसके लिये उन्होंने दक्षिण-पश्चिमी जर्मनी के इस इलाके में छोटे-छोटे गणतंत्रों की स्थापना कर दी। फ्रांस ने रूर से तैयार माल बाहर भेजना बन्द कर दिया ; जर्मनी पर भारी

जुर्माने किये गये, सजायें दी गईं, समाचारपत्रों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, निजी सम्पत्ति जब्त कर ली गई और सैकड़ों जर्मन अधिकारियों व नागरिकों को रूर से निकाल दिया गया। जर्मनी के विरुद्ध फ्रांस व बेल्जियम की कार्यवाही में 76 जर्मन मारे गये व 82 घायल हुये। इससे जर्मनी भुखमरी, गरीबी और राष्ट्रीय ह्रास के गड्ढे में जा गिरा।

फ्रांस द्वारा रूर पर अधिकार किये जाने से भी फ्रांस को कोई लाभ नहीं हुआ। एक ओर तो जर्मनी ने क्षतिपूर्ति की किश्त बन्द कर दी और दूसरी ओर असहयोग आन्दोलन प्रारंभ कर दिया। फ्रांस को जितना कोयला मिलने की आशा थी, उसका भी उसे केवल 1/4 भाग ही मिला। उसके सैनिकों का खर्चा भी रूर में उसके लिये एक भार हो गया। उधर जर्मनी में मुद्रा की स्थिति गिरती जा रही थी और मुद्रा स्फिति की स्थिति उत्पन्न हो गई। दिसम्बर 1922 तक 35 हजार मार्क का मूल्य केवल एक पौण्ड रह गया और 1923 के अन्त तक इसका मूल्य एक पौण्ड के मुकाबले 50 हजार अरब हो गया। नोट केवल कागज के टुकड़े मात्र रह गये।

ऐसी स्थिति में जर्मनी ने फ्रास से वार्ता शुरू की और रेलों को गिरवी रख कर अदायगी की गारंटी का वायदा किया। लेकिन प्वाइनकर ने घोषणा की, "जर्मनी को पहले अपना विरोधी आन्दोलन समाप्त करना होगा तथा रूर को उसी समय मुक्त किया जायेगा, जब जर्मनी अदायगी करने को तैयार हो जायगा।" 12 अगस्त 1923 को चांसलर कूनो को त्यागपत्र देना पड़ा और स्ट्रैसमैन के नेतृत्व में एक नया मंत्रिमण्डल बनाया गया। उसने 26 सितम्बर को असहयोग आन्दोलन समाप्त किये जाने की घोषणा की। प्वाइनकार की जीत हुई। अन्त में क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी की अदायगी स्थिति का पता लगाने के लिये आर्थिक विशेषज्ञों की एक निष्पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय कमेटी नियुक्त की।

डावेस योजना (1924-1929)

डावेस समिति

30 नवम्बर 1923 को क्षतिपूर्ति आयोग द्वारा विशेषज्ञों की समितियाँ नियुक्त किये जाने पर क्षतिपूर्ति समस्या का चौथा चरण प्रारंभ हुआ। पहली समिति के अध्यक्ष अमेरिका के चार्ल्स जी डावेस थे और इस कमेटी का नाम डावेस कमेटी रखा गया। इस कमेटी में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, व बेल्जियम के दो-दो प्रतिनिधि थे और इसका काम जर्मन बजट का सन्तुलन तथा जर्मन सिक्के का स्थिरीकरण करना था। दूसरी समिति में उक्त प्रदेशों के एक-एक प्रतिनिधि थे और इसके अध्यक्ष ब्रिटेन के रेजिनाल्ड मैक कन्ना थे। इसका काम जर्मनी द्वारा आयात किये गये सामान की कीमत आँकना तथा उसको वापस मांगने के साधनों पर विचार करना था। इन समितियों ने 14 जनवरी 1924 को पेरिस में अपना काम शुरू किया और 9 अप्रैल को 124 पृष्ठों की अपनी रिपोर्ट क्षतिपूर्ति आयोग को पेश की।

डावेस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि जर्मनी को प्रोत्साहित किया जाय कि जहाँ तक हो सके वह कर्जे को अदा करे। रिपोर्ट में कहा गया कि जर्मनी के

लोग बड़े उद्योगी और टैक्निकल दृष्टि से भारी कारीगर हैं। उसके पास औद्योगिक विकास के पर्याप्त साधन हैं। इससे वह विश्व प्रतियोगिताओं में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकेगा। जर्मनी को क्षतिपूर्ति अदा कर सकने योग्य बनाने के लिये कमेटी ने अपनी सिफारिशें प्रस्तुत कीं।

डावेस प्रतिवेदन

डावेस रिपोर्ट में निम्नलिखित सिफारिशें की गई :—

रूर से विजयी राष्ट्रों की सेना हटा ली जाय, जिससे कि जर्मनी की आर्थिक स्थिति सुधर जाय। दूसरी सिफारिश यह की गई कि जर्मनी क्षतिपूर्ति की अदायगी की सिक्योरिटी के रूप में चुंगी, यातायात कर, रेलवे बौण्ड, तटकर, शराब, तम्बाकू तथा चीनी पर कर से प्राप्त होने वाली आय वार्षिक किश्त के रूप में दिया करे। रिपोर्ट में यह भी कहा गया कि वार्षिक क्षतिपूर्ति की अदायगी 5 करोड़ पौण्ड से शुरू होनी चाहिये और धीरे-धीरे $12\frac{1}{2}$ करोड़ पौण्ड की सामान्य राशि तक पहुँच जानी चाहिये। इसकी सूची निम्न प्रकार है :—

डावेस योजना

(करोड़ों में स्वर्ण मार्क)

	प्रथम वर्ष	द्वितीय वर्ष	तृतीय वर्ष	चतुर्थ वर्ष	पंचम वर्ष
रेलवे से	20	59·5	55 0	66·0	66·0
क्षतिपूर्ति ऋण	80				
यातायात कर से		25	29	29	29
उद्योगों से		12·5	25	30	30
रेलवे कम्पनी के विशेष पुर्जों के विक्रय से आय में से		25			
सामान्य बजट से			11	50	125
अतिरिक्त बजट से			30		
करोड़ों में स्वर्ण मार्क की कुल राशि	100	122	150	175	250

डावेश रिपोर्ट में चौथी सिफारिश यह की गई कि भविष्य की अदायगी उन्नति के आँकड़ों के साथ घटती या बढ़ती रहे। पाँचवीं बात रिपोर्ट में यह कही गई कि जर्मनी को चार करोड़ पौंड का विदेशी ऋण दिया जाय, जिससे कि वह करेंसी कोष कायम कर सके और क्षतिपूर्ति की प्रथम किश्त अदा कर सके। छठवें, पचास वर्ष के लिये अधिकृत, एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय, जो कि करेंसी जारी करे। इसका काम 7 जर्मनों और 7 विदेशियों के नियंत्रण में रहे। सातवें, नये नोट जारी किये जायँ।

डावेश रिपोर्ट के अन्त में इस बात की ओर संकेत किया गया था कि योजना कार्यान्वित करने में देरी न हो। यह तब ही लागू हो सकती है, जबकि जर्मनी की आर्थिक स्थिति पहले जैसी हो जाय। इस योजना का लागू होना तब तक के लिये स्थगित किया जा सकता है; जब तक आर्थिक स्थिति न सुधर जाय। रिपोर्ट मिलने के दो दिन बाद क्षतिपूर्ति आयोग ने क्षतिपूर्ति समस्या के समाधान के लिये इन सिफारिशों को व्यावहारिक आधार पर स्वीकार कर लिया। जर्मनी, ब्रिटेन, बेल्जियम व इटली ने अपनी स्वीकृति दे दी; लेकिन फ्रांस ने जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति न देने पर स्वतन्त्र स्वीकृतियों के लिये अपने अधिकारों को छोड़ना अस्वीकार कर दिया। अन्त में 16 जुलाई से 16 अगस्त में लंदन सम्मेलन में डावेस योजना को कार्यान्वित करने के लिये एक समझौते का मसविदा तैयार किया गया। फ्रांस ने यह स्वीकार किया कि जर्मनी ने क्षतिपूर्ति अदा करने में कोई आनाकानी अथवा विरोधी कार्यवाही अपनायी तो उसकी गलती क्षतिपूर्ति आयोग को सर्वसम्मति से ठहरानी होगी, जिसमें अमेरिका भी शामिल रहे। सितम्बर 1924 को योजना लागू की गई और 31 जुलाई 1925 को अंतिम फ्रांसीसी व बेल्जियम सैनिक दस्तों ने रूर छोड़ दिया। राइन नदी के दोनों ओर अन्त में आर्थिक स्थिरता ने राजनैतिक गतिरोध पर विजय पाई।

मूल्यांकन

डावेस योजना का मूल्यांकन करने के लिये इसके गुण-दोषों पर विचार करना आवश्यक है।

गुण

डावेस योजना को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। सितम्बर 1924 से सितम्बर 1928 के संघर्षमय वर्षों में डावेस के प्रयास से जर्मनी ने अपने साधन पर किसी प्रकार का दबाव न पड़ने देकर क्षतिपूर्ति की अदायगी पूरी की। यह बात माननी पड़ेगी कि इसकी सफलता इसी बात पर आधारित थी कि यह कार्य क्षतिपूर्ति आयोग के क्षेत्र से हटाकर आर्थिक विशेषज्ञों की एक समिति को सौंप दिया गया। समिति ने इसका हल केवल एक व्यापारिक दृष्टिकोण से किया। इस योजना की सबसे बड़ी विशेषता आर्थिक सम्पन्नता अथवा उन्नति के आधार पर अदायगी थी। इसके अनुसार जर्मनी की आर्थिक सम्पन्नता बढ़ने अथवा घटने पर किश्त की रकम का बढ़ाना अथवा घटाना

निर्भर था। तीसरा गुण इसमें यह था कि जर्मन अर्थ-व्यवस्था को प्रोत्साहित करने के लिये भी इसमें उचित व्यवस्था थी। उदाहरण के लिये, विदेशी कर्जा, अधिकतम वार्षिक किश्त को निर्दिष्ट करना एवं अप्रत्यक्ष कर के जरिये से हरजाना वसूल करना। चौथे, कर्ज देने वालों को भी पूँजी की सुरक्षा की पर्याप्त व्यवस्था थी। पाँचवें, इस योजना में सामरिक प्रतिबन्ध की कोई व्यवस्था नहीं थी। जर्मनी को क्षतिपूर्ति अदा न करने पर केवल क्षतिपूर्ति आयोग के सब राष्ट्रों की सम्मति पर ही, उसे दोषी ठहराया जा सकता था, अकेले फ्रांस पर ही यह निर्भर नहीं था।

दोष

डावेस योजना यद्यपि तात्कालिक दृष्टि से सफल रही, तथापि इसमें कई त्रुटियाँ भी थीं। इनमें से एक त्रुटि यह थी कि जर्मनी को जितनी वार्षिक किश्तें देनी थीं, उसका तीन गुणा उसने ऋण लिया। ऋण लेकर उसने अपनी सम्पन्नता बढ़ाई और किश्तें अदा की। 1925-29 में उसने जो ऋण लिया, उसका प्रतिशत इस प्रकार है :—

देश	कुल ऋण का प्रतिशत
अमेरिका	41 %
ब्रिटेन	15 %
हालैण्ड	14 %
स्विट्जरलैण्ड	12·5 %
फ्रांस	4·8 %

इस योजना में क्षतिपूर्ति की कुल राशि का निर्धारण नही किया गया था। इस कारण 5 वर्ष पश्चात् जर्मनी के लिये क्षतिपूर्ति का क्या रूप होगा—इस विषय में उसे शंका पैदा हो गई। इस योजना के अनुसार जर्मनी ने एक सौ अरब 30 करोड जर्मन-मार्क क्षतिपूर्ति के लिये अदा किये और इसके विपरीत 180 अरब 30 करोड़ मार्क विदेशियों से कर्ज के रूप में लिया।

डावेस योजना का एक और दोष क्षतिपूर्ति की निश्चित अवधि का अभाव था। एक ओर तो जर्मनवासियों की किश्त की रकम उनकी सम्पन्नता के आधार पर बढ़ती जाती थी और दूसरी ओर किश्तें चुकाने की समयावधि निश्चित् नहीं थी। अतः जर्मनी में आर्थिक शिथिलता आ गई और जनता निरुत्साही हो गई। उन्होंने किश्तों की रकम अधिक बढ जाने के भय के कारण सम्पन्नता में अधिक वृद्धि करना उचित नहीं समझा।

यंग योजना (1929)

यंग समिति

सितम्बर 1928 में जर्मनी की आर्थिक स्थिति पुनः शोचनीय हो गई। अमेरिकी डालर का निर्यात जर्मनी में अकस्मात् घट गया। बेकारी बढ़ गई और युद्धोत्तर कालीन

जर्मनी की आर्थिक प्रगति रुक गई। इसी समय चांसलर मूलर, राइख बैंक के अध्यक्ष स्कट और अमेरिका के क्षतिपूर्ति एजेन्ट जनरल सिमूर पार्कर गिल्बर्ट ने मिलकर यह निश्चय किया कि डावेस योजना के समाप्त होने के कारण क्षतिपूर्ति समस्या का समाधान किया जाय। जर्मनी सम्पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता चाहता था। इसी समय राष्ट्रसंघ की नवीं असेम्बली के अधिवेशन में फ्रांस, ब्रिटेन, बेल्जियम, इटली, जापान और जर्मनी के प्रतिनिधियों ने व्यक्तिगत रूप से क्षतिपूर्ति समस्या का हल करने के लिये अंतिम निर्णय तथा राइन प्रदेश को शीघ्र खाली किये जाने के लिये विचार विमर्श किया। यह निश्चय किया गया कि आर्थिक विशेषज्ञों की एक विशेष समिति नियुक्त की जाय जिसमें उपरोक्त प्रतिनिधियों के अतिरिक्त अमेरिका को भी शामिल किया जाय। इस निर्णय के अनुसार एक नई समिति ने 19 जनवरी 1929 को पेरिस में अपना काम प्रारम्भ किया। प्रसिद्ध अमेरिकी प्रतिनिधि ओवन डी० यंग इसके अध्यक्ष चुने गये, जिन्होंने डावेस योजना के निर्माण में भी महत्वपूर्ण भाग लिया था। उनके ही नाम पर इस समिति की कार्यवाही को "यंग योजना" कहा जाता है। इस समिति का कार्य क्षतिपूर्ति की पूर्ण राशि व अवधि निश्चित करना था। इस कमीशन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें समानता के आधार पर दो जर्मन प्रतिनिधियों—हलमार्ग शप्ठ व एल्वर्ट भोगलर को सम्मिलित किया गया था। लगभग 4 मास के कठिन परिश्रम के पश्चात् समिति ने 7 जून 1929 को क्षतिपूर्ति आयोग के समक्ष अपनी 40 पृष्टों की रिपोर्ट प्रस्तुत की।

यंग रिपोर्ट

संक्षेप में, यंग समिति ने निम्नलिखित सिफारिश कीं :—

1. क्षतिपूर्ति की कुल राशि 5 अरब 75 करोड़ निश्चित की गई। यह रकम 59 वार्षिक किश्तों में जर्मनी से वसूल की जाय। क्षतिपूर्ति राशि वसूल करने के दो तरीके हों—प्रथम अनिवार्य किश्त और द्वितीय परिस्थिति पर निर्भर ऐच्छिक किश्त द्वारा।

2. प्रथम, 37 वर्षों में वार्षिक किश्त लगभग 10 करोड़ पौंड होनी चाहिये। डावेस योजना मे अधिकतम राशि $12\frac{1}{2}$ करोड़ पौण्ड थी। शेष 22 वर्षों में प्रत्येक वर्ष उक्त राशि की औसतन तीन-चौथाई रकम अदा की जाय। संक्षेप में यह रकम 1988 तक वसूल की जाय।

3. प्रत्येक वार्षिक किश्त का एक तिहाई अंश अर्थात् 3 करोड़ 33 लाख पौंड बिना किसी शर्त अनिवार्य रूप से चुका देना पडेगा। इसमें किसी प्रकार का बहाना नही स्वीकार किया जावेगा। इस राशि में से ढाई करोड़ पौण्ड फ्रांस को मिलेगा और शेष, 37 वर्ष तक के लिये कर्जा देने वाली 10 सरकारों को बांट दिया जावेगा।

4 औद्योगिक रेलवे बौण्डों को समाप्त किया जावेगा और क्षतिपूर्ति आयोग द्वारा स्थापित विदेशी नियंत्रण हटा लिया जावेगा।

5. प्रथम 37 वर्षों में वार्षिक किस्त दो प्रकार से प्राप्त की जाय—प्रथम 37 वर्ष की किस्त जर्मन रेलवे कम्पनी के लाभ से तथा दूसरे, 22 वर्ष की किस्त जर्मन राष्ट्र के वार्षिक बजट से। जर्मन रेलवे को कम से कम 3 करोड़ 33 लाख पौण्ड टैक्स जर्मन सरकार को देना पड़ेगा। शेष 22 वर्ष की पूरी किस्त जर्मन बजट से वसूल की जायेगी।

6. एक सितम्बर 1929 के बाद राइन नदी क्षेत्र के अधिकार के खर्चे से जर्मनी को मुक्त कर दिया जाय और 30 जून 1930 तक राइनलैण्ड को मित्र राष्ट्र पूर्णरूप से खाली कर दें।

7. क्षतिपूर्ति के लेन-देन और उसके वार्षिक भुगतान के लिये, अन्तर्राष्ट्रीय कर्ज की अदायगी तथा व्यापारिक कर वसूल करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक की स्थापना की जाय। क्षतिपूर्ति के एजेन्ट जनरल के पद को समाप्त कर दिया जाय।

8. बैंक के नियंत्रण और प्रबन्ध यग समिति के सात राष्ट्रों के प्रतिनिधियों की डाइरेक्टर्स की एक समिति को सौंपा जाय।

9. जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति की किस्त को स्वेच्छा से बंद कर देने पर उसके अपराध का निर्णय और उचित दण्ड की व्यवस्था स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय करेगा।

10. यह भी निर्णय किया गया कि क्षतिपूर्ति की अदायगी से ही अन्तर्मित्र राष्ट्रीय युद्ध-ऋण का भुगतान होगा। लेकिन हर्जाने की रकम वसूल करने तथा उसे कर्जदारों मे बाँटने का उत्तरदायित्व जर्मनी को ही सौंपा गया। यदि जर्मनी की आर्थिक स्थिति दुर्बल हो जाय तो एक विशेष परामर्श दाता समिति की सिफारिश पर वार्षिक किस्त आंशिक या पूर्ण रूप से, दो वर्ष के लिये 3 माह की अग्रिम सूचना के पश्चात् स्थगित की जा सकती थी।

11. क्षतिपूर्ति आयोग की समाप्ति एवं माल के रूप में भुगतान, 10 वर्ष के लिये क्रमशः कम करते हुये समाप्त करने की सिफारिश की गई, ताकि जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था पर एकदम बोझ नही पड़े।

डावेस योजना की अपेक्षा यंग योजना के लाभ पर प्रकाश डालते हुये यंग रिपोर्ट मे कहा गया, "प्रस्तावित योजना डावेस योजना की पूरक है एवं जर्मनी की आर्थिक स्थिति को संपूर्ण रूप से दृढ़ बनायेगी।" जर्मनी के कर्ज को केवल कम ही नहीं किया गया; परन्तु सदा के लिये निर्दिष्ट कर दिया गया। वार्षिक किश्तों को सहज और प्रगतिशील बनाया गया एवं नये बैंक की स्थापना से कर्जदारों को नियमित रूप से भुगतान की उचित व्यवस्था की गई। इस प्रकार क्षतिपूर्ति की समस्या का अन्तर्राष्ट्रीय समझौते से स्थायी रूप से समाधान किया गया। यंग योजना को क्रियान्वित करने के लिये हेग मे 20 जनवरी 1930 को कुछ परिवर्तन के पश्चात् स्वीकार कर लिया गया। प्रमुख 5 राष्ट्रों—ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, इटली

ग्रौर जापान ने इसका ग्रनुमोदन किया। ग्रन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक की स्थापना की गई ग्रौर क्षतिपूर्ति ग्रायोग को समाप्त कर दिया गया। मित्र राष्ट्रों की सेना ने 30 जून 1930 तक राइन प्रदेश को खाली कर दिया। संपुष्टि के ग्रंतिम सोपान में जर्मनी में योजना पर जनमत लिया गया। राइख बैंक के संचालक हलमर शस्ट ने घोषणा की कि जर्मनी के लिये यंग योजना द्वारा निर्धारित राशि ग्रदा करना ग्रसंभव है। परन्तु जनमत के ग्राधार पर 9 मई 1930 को जर्मनी ने यंग-योजना की संपुष्टि की ग्रौर उसी तिथि से यह योजना कार्यान्वित की गई।

मूल्यांकन

यंग योजना का मूल्यांकन करने के लिये इसके लाभ ग्रौर हानियों पर विचार करना ग्रावश्यक है।

लाभ

क्षतिपूर्ति के इतिहास में यंग योजना का स्थान ग्रत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस योजना से जर्मनी को कई लाभ हुये। क्षतिपूर्ति की कुल राशि के निर्धारण ग्रौर 59 सालाना किश्तों में वसूल करने की व्यवस्था ने दस वर्षीय पुरानी ग्रनिश्चितता को समाप्त कर दिया। परिस्थिति के ग्रनुसार जर्मनी की किश्त दो वर्ष के लिये, विशेष परामर्श-दाता समिति के सुझाव पर, स्थगित भी की जा सकती थी। दूसरे, जर्मनी के ग्रार्थिक जीवन में माल के रूप में दस वर्ष के लिये भुगतान की सुविधा ग्रत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुई। वास्तव में माल द्वारा भुगतान की मात्रा पहले से घटाकर ग्राधी कर दी गई थी। तीसरा लाभ यह हुग्रा कि यंग-योजना ने भी डावेस योजना की भाँति ग्रन्तर्राष्ट्रीय बैंक के द्वारा क्षतिपूर्ति समस्या को राजनैतिक क्षेत्र से हटा कर ग्रार्थिक समस्या में परिणित कर दिया था। यह बैंक स्विट्जरलैंड में बाजेल में स्थापित किया गया था एवं जर्मनी से हर्जाने की रकम को वसूल करके दूसरे देशों को भुगतान की व्यवस्था करता था। इस प्रकार जर्मनी के लिये विदेशी मुद्रा की समस्या उत्पन्न नही हुई।

जर्मनी को इस योजना से चौथा लाभ यह हुग्रा कि क्षतिपूर्ति ग्रायोग तथा विदेशी नियंत्रण की समाप्ति से जर्मनी की ग्रार्थिक व्यवस्था पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो गई एवं उसे हरजाने को ग्रदा करने के लिये उत्तरदायी बना दिया गया। पांचवें, समस्त योजना एक सम्पूर्ण ग्रार्थिक संस्था के ग्राधीन बना दी गई, जिसमें जर्मनी का प्रमुख स्थान था। इसके ग्रतिरिक्त जर्मनी की वार्षिक किश्त को मित्र राष्ट्रों के युद्ध-ऋण के साथ जोड़ दिया गया। यदि कर्जदार राष्ट्र युद्ध ऋण मे छूट प्राप्त करे तो प्रथम 37 वर्ष में उस छूट का $\frac{2}{3}$ भाग जर्मनी को प्राप्त होगा एवं शेष 22 वर्षों में सम्पूर्ण छूट जर्मनी के हर्जाने से घटा दी जायगी। ग्रन्त में 30 जून 1930 को मित्र राष्ट्र की सेना को राइनलैण्ड से हटा दिया गया।

इस प्रकार क्षतिपूर्ति ग्रायोग की समाप्ति से हर्जाने की जटिल समस्या का ग्रंतिम ग्रौर पूर्ण रूप से समाधान हो गया।

हानियाँ

जर्मन दृष्टिकोण से यंग योजना की अनेक त्रुटियाँ थी। इसकी पहली कमी कुल राशि 5 अरब 75 करोड़ जर्मनी की तत्कालीन आर्थिक दशा को देखते हुये अत्यन्त अधिक थी। दूसरे, इस हर्जाने की रकम का भुगतान 1988 तक रखा गया जो कि दीर्घकालीन था। इसीलिये राष्ट्र की आर्थिक प्रगति के लिये इसे हानिकारक समझा गया। तीसरे, अनिवार्य किस्त, 10 करोड़ पौण्ड वार्षिक, ने जर्मन उद्योगों के विकास को रोक दिया एवं जनता के जीवन-स्तर को स्थिर बना दिया। विदेशी ऋण बन्द हो जाने से 1929 के पश्चात् जर्मनी की पूँजी कम हो गई। जर्मनी ने आर्थिक मंदी के कारण दो वर्ष में ही वार्षिक किस्त देना बन्द कर दिया। बेकारी और मुद्रा-ह्रास के कारण जर्मनी की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई और नाजी-वाद का उत्कर्ष हुआ। राइख बैंक के गवर्नर शख्ट ने यंग-योजना के विरोध में अपने पद से त्यागपत्र दे दिया; क्योंकि वार्षिक किस्त की अदायगी जर्मनी की शक्ति से बाहर थी। इस प्रकार क्षतिपूर्ति समस्या का 5 वाँ परिच्छेद 13 महीने बाद समाप्त हुआ।

हूवर विलम्ब काल

4 मार्च 1929 को अमेरिका के राष्ट्रपति हूवर ने घोषणा की कि "विश्व इतिहास में सर्वोच्च आराम और सुरक्षा की स्थिति मे हम पहुँच चुके हैं। हमारा भविष्य उज्ज्वल है।" इसके थोड़े समय बाद ही सम्पूर्ण विश्व में भयानक आर्थिक मंदी उत्पन्न हो गई। इस आर्थिक संकट ने लगभग चार वर्ष तक समग्र विश्व को प्रभावित किया। कीमतों में भारी गिरावट आ गई, क्योंकि उत्पादन क्रमशः बढ़ता ही गया और लोगों की क्रय शक्ति कम हो गई थी। सब देशों में रोजगार का अभाव हो गया। अमेरिका में सोना संचित हो गया। संचित हो जाने के कारण उसका अप्रत्यक्ष अभाव हो गया। सुरक्षा कर और निर्धारित मात्रा (Quota) का प्रयोग होने के कारण माल का आवागमन रुक गया। आवास पर प्रतिबन्ध लगाने से अतिरिक्त आबादी दूसरे देशों में जाकर बस नहीं पायी। विदेशी कर्जों में ह्रास हुआ, जिससे पूँजी का अभाव हो गया। सिक्कों पर प्रतिबन्ध के कारण व्यापारिक लेन-देन स्थिर हो गया। अनिश्चित अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के साथ-साथ कई प्रमुख राष्ट्रों की, जिनमें ब्रिटेन भी था, स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा। 1933 में जर्मनी मे आर्थिक मंदी ने इतना भीषण रूप धारण किया कि विदेशी ऋण के अतिरिक्त बजट में 12 अरब राइख मार्क का घाटा रहा। विश्व में मंदी के कारण जर्मन माल की खपत भी बन्द हो गई। इस प्रकार निर्यात 56 प्रतिशत घट गया और बेकारो की संख्या 60 लाख तक पहुँच गई। मार्च 1930 में चांसलर ब्रूनिंग द्वारा बजट में कटौती और छटनी करके मंदी को रोकने का प्रयास विफल रहा। मई 1931 में आस्ट्रियन बैंक 'क्रैडिट-आन्स्टाल्ट' को बैंक आफ इंग्लैण्ड द्वारा 60 लाख पौण्ड अग्रिम ऋण दिये जाने के कारण दिवालियापन से बचा लिया गया। लेकिन

जर्मनी के लोगों में इतना डर समा गया कि तीन सप्ताह के अन्दर राइख बैंक से 1 अरब राइख मार्क निकाले जाने के कारण उसने अपने सोने के रिजर्व का 41 प्रतिशत भाग खो दिया। ऐसी संकटकालीन स्थिति को देखते हुये अमेरिका के राष्ट्रपति हूवर ने विश्व की आर्थिक स्थिति में सुधार होने के लिये एक वर्ष के विलंबकाल का प्रस्ताव रखा। इस विलंबकाल में निम्न व्यवस्था थी :—(1) एक वर्ष के लिये (1 जुलाई 1931 से 30 जून 1932 तक) सब अन्तर्सरकारी कर्जों व क्षतिपूर्तियों को—असल और सूद दोनों को ही स्थगित किया जाय। (2) जर्मनी यंग योजना की अनिवार्य क्षतिपूर्ति किश्त की भुगतान जारी रखे। (3) एक जुलाई 1933 से 10 बराबर किश्तों में क्षतिपूर्ति की बकाया रकम की वसूली जर्मनी से की जाय। (4) छोटे राज्यों को कर्ज दिये जायें, जिनकी आर्थिक स्थिति क्षतिपूर्ति अदायगी होने से दुर्बल हो गई है। (5) जर्मनी इस बात की गारण्टी दे कि विलंबकाल के कारण जो धन बचेगा उसे केवल आर्थिक उन्नति के लिये ही प्रयोग किया जायेगा।

यह योजना 1 जुलाई 1931 को लागू की गई जबकि राइख बैंक दिवालिया होने ही वाला था। एक सप्ताह बाद प्रसिद्ध "डार्मस्टेडर एण्ड नेशनल बैंक" ने भुगतान बन्द कर दिया। अगले दिन सरकार ने स्थायी रूप से सब जर्मन बैंकों को बन्द कर दिया। लदन सम्मेलन में जर्मनी में आर्थिक संकट समाप्त करने के सतत प्रयत्न के बाद अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से समिति की रिपोर्ट पर एक यथास्थिति समझौते पत्र पर हस्ताक्षर हुये, जिसमें जर्मनी के कर्ज की अवधि को 6 मास के लिये बढ़ा दिया गया।

लौजान सम्मेलन (1932)

नवम्बर 1931 में चांसलर ब्रूनिग ने घोषणा की कि गम्भीर आर्थिक स्थिति के कारण जर्मनी क्षतिपूर्ति की अदायगी नहीं कर सकता। ब्रिटेन भी इस समय आर्थिक मंदी से प्रभावित था। इसका परिणाम यह हुआ कि लौजान मे एक दूसरा क्षतिपूर्ति सम्मेलन करने का निश्चय किया गया। विश्व को आर्थिक मंदी से मुक्त करने के प्रयास में सम्मेलन 16 जून 1932 को लौजान में आरम्भ हुआ। जुलाई 9 को 3 सप्ताह के विचारविमर्श के बाद जर्मनी, बेल्जियम, फ्रांस, ब्रिटेन, इटली और जापान, जर्मनी से कुल 15 करोड़ पौण्ड लेकर सारी क्षतिपूर्ति को छोड़ देने के लिये राजी हो गये। यह राशि पांच प्रतिशत बौंड के रूप में अदा करने को कहा गया। शर्त के अनुसार तीन साल के बाद बौंडों को खुले बाजार में बेचा जा सकता था। ऐसा न होने पर 15 वर्ष के बाद वे अपने आप रद्द हो जायेंगे। यह भी निश्चय हुआ कि इस समझौते का पालन तभी किया जायेगा, जब कर्जदार ब्रिटेन और फ्रांस अमेरिका से युद्धकालीन ऋण के विषय में सन्तोषप्रद समझौता करें। वास्तव में इस निर्णय के अनुसार क्षतिपूर्ति को पूर्ण रूप से समाप्त कर देना था। परन्तु लौजान समझौता असफल हो गया, क्योंकि इस समझौते की सम्पुष्टि नहीं हो पाई। परिणाम यह हुआ कि जर्मनी ने इसके बाद मित्र राष्ट्रों को क्षतिपूर्ति देना अस्वीकार कर दिया। जर्मनी की नाजी

पार्टी के नेता हिटलर ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर दी कि जर्मनी ने सारी क्षतिपूर्ति अदा कर दी है और वह आगे किसी प्रकार की रकम अदा करने को तैयार नही है। इस प्रकार से क्षतिपूर्ति समस्या अप्रत्यक्ष रूप से हल हो गई।

वास्तव में जर्मनी से क्षतिपूर्ति वसूल करने की मित्र राष्ट्रों की नीति असफल रही। 1921 से 32 तक के काल में जर्मनी ने केवल 5 वर्ष ही अपनी किश्त का भुगतान किया था। क्रमशः क्षतिपूर्ति की कुल राशि घटती गई और अन्त में जर्मनी को 95 करोड पौंड अन्तर्राष्ट्रीय कर्ज के रूप में मिला, जिसमें से कुल 85 करोड़ पौंड जर्मनी ने अदा किया था। इस नीति से फ्रांस को अत्यन्त सामान्य आर्थिक लाभ हुआ और जर्मनी का औद्योगिक विकास संभव हुआ। अप्रत्यक्ष रूप से अमेरिका को ही सबसे अधिक आर्थिक हानि हुई, क्योंकि उसे अन्तर्मित्रराष्ट्रीय-युद्धकालीन-ऋण की वसूली की आशा छोड़ देनी पड़ी।

मित्रराष्ट्रीय युद्ध-ऋण

प्रथम विश्व युद्ध में अमेरिका ने मित्रराष्ट्र गुट के 20 राष्ट्रों को दो प्रतिशत की दर पर 1035 अरब डालर ऋण दिया था। यह राशि 3 से 5 प्रतिशत सूद को मिलाकर बढ़कर कुल 1346 अरब डालर हो चुकी थी। 1922 मे अमेरिका ने सूद के अदा करने वाले कर्जदारों से ऋण वसूल करने के लिये एक विश्वयुद्ध विदेशी कर्ज कमीशन की नियुक्ति की। कमीशन के हस्तक्षेप करने पर निर्णय हुआ कि कर्जदार 62 किश्तों में ऋण वापस कर दें। 1923 से 30 तक कर्जदार राष्ट्र नियमानुसार किश्त से ऋण अदा करते रहे। यह राशि उन्होंने उसी रकम से दी जो उन्हें क्षतिपूर्ति के रूप में जर्मनी से प्राप्त हुई थी। हूवर प्रस्ताव से 1931-32 से मित्र राष्ट्रों को क्षतिपूर्ति मिलनी रुक गई। राष्ट्रपति रूजवेल्ट के चुनाव के बाद 1932 में फ्रांस और ब्रिटेन ने उनसे अनुरोध किया कि वह मित्रराष्ट्रों को अमेरिका से युद्ध-काल में मिले ऋण के मामलों में हस्तक्षेप करें, किन्तु रूजवेल्ट ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। इस तरह कर्ज का प्रश्न अनिर्णीत ही रहा। 1933 मे ब्रिटेन ने अमेरिका को एक करोड़ डालर चांदी में सांकेतिक भुगतान किये, किन्तु अन्य कर्जदारों ने अदायगी नही की। केवल फिनलैंड ही ऐसा था, जिसने सारा कर्ज अदा किया।

विश्व के राष्ट्रों में मित्र राष्ट्रों से अमेरिका द्वारा युद्धकालीन कर्ज की वसूली पर गंभीर मतभेद था। निम्न तर्कों के आधार पर कुछ विचारकों ने रकम की अदायगी को समाप्त कर देने की नीति का समर्थन किया :—

(1) माफी कर देने से यूरोप के कर्जदार राष्ट्र अमेरिका के प्रति आभारी रहेंगे और उसके साथ उनकी मैत्री दृढ़ होगी। (2) नैतिक दृष्टि से कर्जदार राष्ट्र अमेरिका की दया के पात्र थे, क्योंकि अमेरिका सम्पन्न राष्ट्र है और विनाशकारी युद्ध के कारण यूरोप का काफी नुकसान होने से आर्थिक दृष्टि शोचनीय हो गई थी। (3) यह रकम वसूल नही करने से यूरोप के व्यापार में वृद्धि होगी और वह अमेरिका

से माल खरीदने में समर्थ होगा, इससे आर्थिक मंदी में सुधार होगा। (4) युद्ध में लिप्त मित्र राष्ट्रों में से अमेरिका प्रमुख राष्ट्र होने से कर्ज की रकम को अमेरिका का विश्वशान्ति के लिये अनुदान समझना चाहिये।

विरोधी पक्ष का विचार भिन्न था। उनका दृष्टिकोण निम्न प्रकार था :—

(1) कर्जदारों को माफी करना कानूनी दृष्टिकोण से समझौते को भंग करना था। (2) इस प्रकार की नीति अमेरिका की टैक्स देने वाली जनता के प्रति अन्याय होगा ; क्योंकि दूसरों की लड़ाई के लिये उन पर करों का भार बढ़ेगा। (3) यूरोप के राष्ट्र कर्ज चुका सकते थे, यदि उनमें निश्चय या दृढता होती ; क्योंकि 1931 के बाद वे हथियारों पर इतना अधिक व्यय कर रहे थे कि इससे कुछ अंश अमेरिका को कर्ज चुकाने के लिये दे सकते थे। जानसन कानून के अनुसार अन्त मे 1934 मे अमेरिका ने सांकेतिक अदायगी को रद्द करके यह घोषणा की कि अमेरिका के कर्जदार राष्ट्रों को भविष्य में कभी ऋण नहीं दिया जायेगा।

विश्व आर्थिक-सम्मेलन

लौजान सम्मेलन के अनुसार 1933 में विश्व आर्थिक-सम्मेलन बुलाने का निश्चय हुआ। अमेरिका ने निमन्त्रण का जवाब दिया कि वह सम्मेलन में उसी हालत में शामिल हो सकता है यदि उसमें अन्तर्मित्रराष्ट्रीय कर्ज के मामले पर विचार न किया जाय। 6 जून 1933 में भयंकर आर्थिक संकट की समस्या पर विचार करने के लिये लंदन में 67 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों की बैठक हुई। अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक मंदी इतनी व्यापक हो गई कि पारस्परिक समझौते से ही उसे संभालना जरूरी हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार 60 प्रतिशत कम हो गया, बेकारों की संख्या तीन करोड़ तक पहुँच गई और इसके साथ ही कई देशों मे राष्ट्रीय आय 40 प्रतिशत घट गई। लंदन के सम्मेलन में यूरोपियन देशों (फ्रांस, इटली, बेल्जियम, स्विटजरलैण्ड और नीदरलैण्ड) ने मिलकर स्वर्ण गुट बनाया और इस बात पर जोर दिया कि मुद्रा की हालत सुदृढ़ बनाने के लिये तटकर में कमी की जाय और व्यापारिक रुकावटें समाप्त की जायँ। लेकिन अमेरिका ने स्वर्ण की उपेक्षा करते हुये "पुनर्निर्माण नीति" अपना ली। इस नीति से उसका उद्देश्य डालर के मूल्य को घटाकर वस्तुओं के दाम बढ़ा देने का था। मुद्रा-प्रश्न पर कोई समझौता न हो सकने के कारण सम्मेलन आर्थिक खींचातानी को समाप्त करने में असफल रहा। 27 जुलाई 1933 को यह अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दिया गया। इस तरह आर्थिक और राजनैतिक दोनों दृष्टियों से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग कायम करने का प्रयास असफल रहा।

नवीन आर्थिक नीति

प्रसिद्ध फ्रांसीसी अर्थशास्त्री चार्ल्स रिस्ट ने लिखा है, "यह बड़े ही आश्चर्य का विषय है कि विश्व आर्थिक सम्मेलन उस समय बुलाया गया, जबकि आर्थिक मंदी अपने चरम शिखर से गुजर कर पुनः सुधर रही थी।" वास्तव में 1933 से 39 का

समय आर्थिक राष्ट्रीयता एवं व्यापार पर नियंत्रण का काल कहा गया है। आर्थिक इतिहास में इसे आत्मनिर्भरता कहा गया है। यूरोप के प्रमुख राष्ट्रों ने आर्थिक स्वतंत्रता की नीति को अपनाया, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में स्थिरता उत्पन्न हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा मालों के सरलता से आदान-प्रदान में बाधा उत्पन्न हुई, जिसके कई कारण थे। अधिक तटकर व्यापार की रुकावट का मुख्य कारण था। परन्तु नये गणतन्त्रो की स्थापना से बाधा और भी बढ़ गई। दूसरा—निर्धारित मात्रा के प्रयोग से आयात सीमित हो गया और गृह बाजार में विदेशी मालों के साथ होड़ असंभव हो गई। तीसरा—पररपर लेन-देन की व्यवस्था। इसके आधार पर जो देश जितना माल किसी देश को निर्यात करता था उतना ही माल उसे उस देश से आयात भी करना पड़ता था, जिससे आयात और निर्यात का सन्तुलन कायम रह सके। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्वतन्त्रता में बाधा उपस्थित हो गई। चौथा—प्रत्यक्ष विनिमय अर्थात् माल के बदले माल लेने से व्यापार विकसित नही होने पाया। पाँचवां कारण जो व्यापार में बाधा बना, वह था रकम के निर्यात पर कई राज्यों द्वारा लागू किये गये नियन्त्रण। इससे माल की माँग और सप्लाई व्यवस्था बिल्कुल बेकार हो गई और व्यापारिक स्वतंत्रता समाप्त हो गई। छठा—मुद्रा के विनिमय मूल्य में गिरावट आ जाना। सातवाँ—अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहायता लेन-देन बन्द हो जाना। आठवाँ—राष्ट्रों में असुरक्षा की भावना ने व्यापार की प्रगति में बाधा उपस्थित की। नवाँ—अधिक से अधिक राष्ट्रीय साधनों को हथियारों के लिये व्यय करना, जिससे वे विदेश से माल कम खरीदने लगे।

इन सब कारणों का प्रभाव यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग कायम न हो सका और देशों को अपने-अपने साधनों पर निर्भर रहना पड़ा। 1936 में जब चार वर्षीय योजना लागू की गई तो तीसरी जर्मन सरकार की राइख (समद) ने एक नई आर्थिक नीति अपनायी। इसका नारा 'मक्खन की जगह बंदूक' था। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनने के उद्देश्य का मतलब था घरेलू प्रयोग के लिये कच्चे माल के उत्पादन को बढ़ाना। बाहर से आयात होने वाली वस्तुओं की जगह बनावटी माल तैयार किये गये, जिससे कि विदेशी माल की जरूरतों को पूरा किया जा सके। इस सम्बन्ध में नये आविष्कार किये गये। विदेशों से आयात को रोकने के लिये नये किस्म के ऊन और रबड़ तैयार किये गये। कोयले से तरल पदार्थ निकाला गया, जिसे ईंधन के रूप में प्रयोग किया जा सकता था। अन्न के आयात को बन्द करने के लिये बेकार जमीनों को खेती योग्य बनाया गया तथा आलू और चुकन्दर का उत्पादन बढ़ाया गया। इसका फल यह हुआ कि बेकारी समाप्त हो गई व सैनिकवाद का विस्तार होने लगा। जर्मनी को घमंड था कि आर्थिक आत्मनिर्भरता से जर्मनी न केवल आर्थिक दृष्टि से सबल हो जायगा, बल्कि युद्ध के समय कम से कम 30 वर्षों तक सामुद्रिक नाकाबंदी का मुकाबला कर सकेगा। इटली में फासिस्टवाद के उदय से वहाँ भी जर्मनी की तरह

स्थिति पैदा हो गई। 1936 में जब इथोपिया का युद्ध चल रहा था, मुसोलिनी ने घोषणा की, "आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता अर्थहीन है। आर्थिक युद्ध, जिसका जेनेवा में इटली के विरुद्ध सबसे पहले प्रयोग किया गया था, अन्त में शत्रुओं को संपूर्ण रूप से पराजित कर देगा।" इटली के पास पेट्रोल, रबड़ तथा अच्छे किस्म के कोयले जैसे कच्चे माल का अभाव था। दूसरी तरफ उसके पास ऊन का उत्पादन इतना नहीं था कि वह अपनी जरूरतों को पूरा कर सके। अपनी मांग को पूरा करने के लिये उसने बनावटी किस्म का माल बनाना आरम्भ किया। अन्न की दृष्टि से आत्मनिर्भर बनने के लिये उसने गेहूँ उत्पादन की मात्रा काफी बढ़ा दी। इसका परिणाम यह हुआ कि अन्न के अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन पर आधारित विश्व आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध, प्रतिक्रियायें शुरू हो गईं। इसके अतिरिक्त कच्चे माल के समान वितरण तथा अतिरिक्त आबादी के लिये बस्तियों तथा उपनिवेशों की व्यवस्था करने संबंधी समस्यायें उठ खड़ी हुईं, जिससे यूरोपीय देशों के भावी सम्बन्ध और भी अधिक खराब हो गये।

आलोचना

वास्तव में दो विश्वयुद्धों के बीच के काल में राजनैतिक और आर्थिक तत्वों का सम्मिश्रण परस्पर इतना जटिल था कि उसका विश्लेषण करना अत्यन्त कठिन है। यह कहना मुश्किल था कि राजनैतिक सुरक्षा का अभाव ही, जिससे राष्ट्रों में परस्पर सहयोग तथा निःशस्त्रीकरण कायम होने में रुकावट पैदा हुई, आर्थिक मंदी का कारण था अथवा आर्थिक संकट तथा उग्रराष्ट्रवाद के कारण वे एक दूसरे के समीप न आ सके। यूरोप के राजनयिकों में इस विषय पर मतभेद था कि आर्थिक प्रश्नों का हल पहले होना आवश्यक है या राजनैतिक प्रश्नों का। 1930 में फ्रांस के प्रधानमंत्री ब्रियाँ ने यूरोप के संयुक्त राज्य की संस्थापना के स्मरणपत्र में लिखा था, "आर्थिक एकता के सब प्रश्न सुरक्षा के प्रश्न पर आधारित हैं, इसीलिये राजनैतिक स्तर पर रचनात्मक कार्य सबसे पहले प्रारम्भ होने चाहिये।" इनके आलोचकों का यह तर्क था कि "हथियारों की कमी का स्वाभाविक परिणाम राष्ट्रों के बीच वाणिज्य के क्षेत्र में अधिक निकटता के सम्बन्ध स्थापित होना होगा।"

इस काल में राजनैतिक राष्ट्रीयता ने ही आर्थिक राष्ट्रीयता को जन्म दिया, जिसका परिणाम द्वितीय महायुद्ध (1939) था। प्रसिद्ध लेखक टायनबी के शब्दों में "यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि प्रत्येक राष्ट्र ने शक्ति प्रयोग से आर्थिक और व्यापारिक रुकावटों को दूर करना समयानुकूल समझा। अन्त में विश्व के विभिन्न राष्ट्र आर्थिक जीवन की जटिल समस्याओं को हल करने के लिये प्राचीन शस्त्र तलवार का प्रयोग करने के लिये बाध्य हुये।"

सारांश

जर्मन क्षतिपूर्ति समस्या में निम्नलिखित दो मुख्य बातें थी—

(1) जर्मनी की क्षीण आर्थिक स्थिति व (2) फ्रांस की इच्छा उसके आर्थिक पतन और ब्रिटेन की इच्छा उसके क्रमिक आर्थिक विकास की थी। इन तथ्यों ने मिलकर क्षतिपूर्ति की समस्या को जटिल बना दिया।

सम्पूर्ण राशि निर्धारित करने का प्रश्न जटिल था। स्पा सम्मेलन (जुलाई 1920) में यह निर्णय हुआ कि अगले 6 मास तक जर्मनी कितना कोयला देगा।

पेरिस निर्णय (29 जनवरी 1921) के अनुसार जर्मनी को 11 अरब पौंड, 42 वार्षिक किश्तों में अदा करने की योजना निश्चित की गई। मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी द्वारा अन्तरिम क्षतिपूर्ति न देने पर राइन नदी के तट पर स्थित डुजेलडोर्फ, डयूसबर्ग तथा रूरोर्ट के औद्योगिक केन्द्रों पर कब्जा कर लिया।

लंदन सम्मेलन (28 अप्रैल 1921) में कुल राशि 6 अरब 60 करोड़ पौंड निश्चित की गई। 'अ' और 'ब' बोण्डों मे 2 अरब 60 करोड़ पौंड वार्षिक किश्त दी जानी थी और 'स' में ४ अरब, स्थगित कर दिया गया। जर्मनी द्वारा अब तक दी गई राशि को कोई महत्व नही दिया गया।

जर्मनी से क्षतिपूर्ति वसूल करने में अनेक असुविधाएँ थीं—जैसे जर्मनी में सोने का अभाव; शोचनीय आर्थिक व मानसिक स्थिति; कर व चुंगी की दीवारें; जर्मनी का अपने को अपराधी न मानना तथा फ्रांस व इंग्लैंड के मध्य मतभेदों से उत्पन्न परिस्थिति आदि। मुद्रा की कीमत निरंतर गिरने से जर्मनी को अपराधी घोषित किया गया।

फ्रांसीसी व बेल्जियम सेनाओं ने रूर पर कब्जा कर लिया। जर्मनी ने किश्त बन्द कर दी और असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी की अदायगी की स्थिति का पता लगाने के लिए अमेरिका के डावेस के नेतृत्व में एक कमेटी नियुक्त की।

डावेस योजना

9 अप्रैल 1924 को डावेस कमेटी ने निम्न सिफारिशें कीं—(1) जर्मनी की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए रूर से विदेशी नियंत्रण की समाप्ति व (2) कुछ विशिष्ट करों से प्राप्त होने वाली आय देना निश्चित हुआ। यह राशि 5 से $12\frac{1}{2}$ करोड़ पौंड प्रतिवर्ष तक, धीरे-धीरे पहुँचने को थी। 1924-28 के सघर्षमय काल में इसे अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। आर्थिक विशेषज्ञों की समिति, आर्थिक सम्पन्नता में निरंतर वृद्धि, कर्ज देने वालों की पूँजी की सुरक्षा आदि इसकी विशेषताएँ थीं। परन्तु इस योजना में कुल राशि व अदायगी के समय का निर्धारण नहीं था।

जर्मनी की आर्थिक स्थिति पुनः बिगड़ने से यंग के नेतृत्व में पेरिस में, एक नई समिति ने 5 अरब 75 करोड़ की कुल राशि निश्चित की। इसे 59 वार्षिक किश्तों में अदा किया जाना था। जर्मन दृष्टिकोण से यह राशि बहुत अधिक थी।

विश्व में भयंकर आर्थिक मंदी के फलस्वरूप अमेरिका के राष्ट्रपति हूवर ने

एक वर्ष के विलंब काल की घोषणा की। यह योजना 1 जुलाई 1931 को लागू की गई। 16 जून 1932 को एक सम्मेलन लोजान में हुआ। परन्तु हिटलर ने इसके द्वारा निश्चित 15 करोड़ पौंड देने से इन्कार कर दिया।

मित्र राष्ट्रीय युद्ध ऋण

प्रथम विश्व युद्ध में अमेरिका ने 20 मित्र राष्ट्रों को 1035 अरब डालर ऋण दिया था। जर्मनी के अदायगी स्थगित करने पर इन राष्ट्रों ने भी ऋण की अदायगी स्थगित कर दी। अन्त मे 1934 मे अमेरिका ने सांकेतिक अदायगी को रद्द कर अमेरिका के कर्जदारों को भविष्य में कभी ऋण नही देने की घोषणा की।

1933 में लंदन में मुद्रा प्रश्न पर 67 राष्ट्रों का एक सम्मेलन बुलाया गया। परन्तु यह प्रयास असफल रहा। चार्ल्स रिस्ट ने लिखा है, "यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि विश्व आर्थिक सम्मेलन उस समय बुलाया गया जबकि आर्थिक-मंदी अपने चरम शिखर से गुजर कर पुनः सुधर रही थी।" अनेक कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग कायम न हो सका। जर्मनी और इटली ने आर्थिक आत्मनिर्भरता की नीति अपनायी। उन्होंने कच्चे माल से बनावटी माल बनाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र ने शक्ति प्रयोग से आर्थिक और व्यापारिक रुकावटों को दूर करना समयानुकूल समझा।

घटनाओं का तिथिक्रम

1920 5 से 16 जुलाई—स्पा सम्मेलन

1921 24 से 30 जनवरी—पेरिस सम्मेलन
 21 फरवरी से 14 मार्च—प्रथम लन्दन सम्मेलन
 28 अप्रैल से 5 मई—द्वितीय लन्दन सम्मेलन

1923 10 जनवरी से 26 सितम्बर—फ्रांस और बेल्जियम का रूर पर अधिकार
 26 सितम्बर—जर्मन असहयोग आन्दोलन समाप्त
 23 नवम्बर—डावेस समिति की नियुक्ति

1924 9 अप्रैल—डावेस प्रतिवेदन
 16 जुलाई से 16 अगस्त—लन्दन सम्मेलन में डॉज-योजना की स्वीकृति

1929 19 जनवरी—यंग समिति की नियुक्ति
 7 जून—यंग-रिपोर्ट

1930 9 मई—यंग योजना प्रारम्भ
 30 जून—मित्र राष्ट्रीय सेना राइनलैण्ड से हटी

1931 1 जुलाई—हूवर विलम्ब काल

1932 16 जून से 9 जुलाई—लोजान सम्मेलन

1933 6 जून से 27 जुलाई—विश्व आर्थिक सम्मेलन

1934 जॉनसन-कानून—मित्र राष्ट्रीय कर्जे की समाप्ति
1936 जर्मनी की चार वर्षीय योजना

सहायक अध्ययन

Borsky, G. : **The Greatest Swindle in the World : The Story of German Reparations.** (1942)

Lloyd George, D. : **The Truth about Reparations and War Debts.** (1932)

Lloyd, W. : **The European War Debts and Their Settlement.** (1934)

Mantoux, E. : **The Carthaginean Peace or The Economic Consequences of Mr. Keynes.** (1946)

Wheeler-Bennett, J. W. : **The Wreck of Reparations.** (1933)

प्रश्न

1. प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् क्षतिपूर्ति की क्या समस्यायें थीं ? उन्हें किस प्रकार निपटाया गया ? (रा० वि० 1956, जो० वि० 1965)

2. डावेस-योजना का वर्णन कीजिये। इस योजना के क्या गुण-दोष थे ? (उ० वि० 1965; जो० वि०, 1967, रा० वि०, 1957, 1959, 1960, 1963, 1965)

3. "फ्रांस की मांग थी कि उसकी भौतिक सुरक्षा की गारण्टी दी जाय।" उसे प्राप्त करने में उसे कहाँ तक सफलता मिली ? (रा० वि०, 1958)

4. 'यंग-योजना' ने किन-किन समस्याओं को सुलझाया ? इसे अन्तिम स्वरूप प्राप्त करने के पूर्व किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा ? (रा० वि०. 1959)

5. "क्षतिपूर्ति एक ऐसी रियायत थी, जिसका कि कोई व्यवहारिक मूल्य न था; यह जर्मनी को भुगतान के लिए बाध्य करने का व्यर्थ प्रयत्न था।"—उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिये। (रा० वि०, 1962)

6. किस सीमा तक 'डावेस-योजना' क्षतिपूर्ति समस्या का सन्तोषजनक उत्तर था ? (रा० वि०, 1965)

7. युद्ध सम्बन्धी भुगतानों (रिपेरेशन्स) की समस्या से आप क्या समझते हैं ? इस सम्बन्ध में डावेस कमीशन की सिफारिशों की परीक्षा कीजिये। (रा० वि० 1967)

8. जर्मनी क्षतिपूर्ति करने में असमर्थ क्यों रहा ? फ्रांस ने रूर पर अधिकार किन परिस्थितियों में किया ? इसके परिणामों पर प्रकाश डालिये। (आ० वि० 1966)

9. 'हूवर विलम्ब काल' से क्या तात्पर्य है ? मित्र-राष्ट्रीय युद्ध ऋण समस्या का हल किस प्रकार हुआ ?

10. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखें :—

(1) स्पा सम्मेलन

(2) विश्व आर्थिक सम्मेलन (जो० वि० 1963)

(3) लौजान सम्मेलन

(4) आर्थिक आत्म-निर्भरता

5 सुरक्षा की खोज में

"लोकार्नो समझौता, युद्ध व शांति के वर्षों के मध्य की वास्तविक विभाजन रेखा है।" —आस्टिन चेम्बरलेन

"यह सच है कि अब भी (लोकार्नो समझौता) हममें मतभेद हैं किन्तु अब यह न्यायाधीन का अधिकार होगा कि वह निर्णय दे······और यह सब कुछ होगा, बन्दूकों और तोपों की आवाज से दूर······समझौते, पंच फैसले और शांति के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए।"—ब्रियाँ

"यह (पेरिस की संधि) एक ऐसा चुम्बन है जिसमें भविष्य के लिए कोई भी आश्वासन नहीं है।"

—नोरमेन पेन्टविच

"नाजी-सोवियत समझौते ने अनेक वर्षों की ब्रिटिश-फ्रांसीसी विदेश नीति एवं कूटनीति का अन्त कर दिया······दोनों ही जानते थे कि यह एक अस्थायी उपकरण है।" —चर्चिल

सुरक्षा की खोज में

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात्, यूरोप के प्रमुख राष्ट्रों ने सुरक्षा के लिए प्रयास किये। 1894 की फ्रांस और रूस की मैत्री, रूसी क्रांति के फलस्वरूप, 1917 में समाप्त हो गई थी। इसीलिए फ्रांस ने अपने आपको अकेला पाया और छोटे राष्ट्रों से संधि करके नये गुट की स्थापना की। साथ ही राष्ट्रसंघ ने सामूहिक सुरक्षा के लिए संधि का नया मसविदा प्रस्तुत किया। परन्तु अस्त्र-शस्त्रों में कमी करने के लिए कोई भी राष्ट्र प्रस्तुत नहीं हुआ। यद्यपि वे दूसरा विश्वयुद्ध नहीं चाहते थे, फिर भी उनके सामने मुख्य प्रश्न यह था कि अपने को किस प्रकार अधिक से अधिक सुरक्षित बनाया जाय। नतीजा यह हुआ कि जहाँ एक देश ने अपनी सुरक्षा के लिए नया कदम उठाया तो वह दूसरे देश के लिए असुरक्षा का विषय बन गया। नवीन शक्ति संतुलन का प्रयास होता रहा। एक ओर धुरी राष्ट्र और दूसरी ओर मित्र राष्ट्र—दोनों मे गुटबन्दी शुरू हो गई। छोटे राष्ट्रो ने लघु मैत्री और बल्कान समझौता किया। अन्त मे कूटनीतिक विप्लव के परिणाम से नाजी-सोवियत अनाक्रमण संधि हुई, जिससे द्वितीय विश्वयुद्ध निश्चित हो गया। इस प्रकार दो विश्वयुद्धो के बीच के युग की ऐतिहासिक गतिविधियाँ, पारस्परिक मैत्री और सुरक्षा का असफल प्रयास था।

सामूहिक सुरक्षा

सामूहिक सुरक्षा राष्ट्रसंघ का प्रमुख सिद्धान्त था। प्रारम्भ से ही सुरक्षा के प्रश्न को राष्ट्रसंघ ने प्राथमिकता दी थी। कुछ राष्ट्रो ने पारस्परिक आश्वासन दिया था कि यदि उनमे से कोई भी राज्य आक्रान्त हो जाय, तो सभी उसे सामूहिक रूप से आक्रमणकारी के विरुद्ध सहायता देंगे। वास्तव में लार्ड रॉबर्ट सिसिल ने घोषणा की थी, "शांति अविभाज्य है"; युद्ध को समाप्त करने का यही एक मात्र उपाय था"। इस दिशा मे पाँच महत्वपूर्ण कदम उठाये गये। इनमें से चार राष्ट्रसंघ द्वारा व एक उसके बाहर अमेरिका व फ्रांस द्वारा, 'पेरिस संधि' था। इनका वर्णन नीचे दिया जा रहा है।

पारस्परिक सहायता संधि का मसविदा

1922 में राष्ट्रसंघ की तीसरी साधारण सभा ने अस्थायी संयुक्त कमीशन से अनुरोध किया कि पारस्परिक सुरक्षा संबंधी एक संधि का मसविदा प्रस्तुत करे। लार्ड रॉबर्ट सिसिल और कर्नल रेक्विन ने दो मसविदे प्रस्तुत किये, जिनको मिलाकर संधि का प्रारूप बनाया गया। सिसिल के मत में विश्व की तत्कालिक स्थिति में अधिकांश राज्यों की सुरक्षा की संतोषजनक व्यवस्था तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि वे राज्य शस्त्रीकरण में स्वयं कमी न करें। सामूहिक व्यवस्था तभी व्यवहारिक मानी जायेगी, जब सब सदस्य राष्ट्र इस बात को स्वीकार करें और निश्चित वायदे करें।

संधि के मसविदे में निम्न व्यवस्था थी (1) संधि पर हस्ताक्षर करने वालों

को आश्वासन देना पड़ेगा कि उनमें से किसी पर आक्रमण होने पर उसी महाद्वीप के बाकी हस्ताक्षरकर्ता देश उसकी सहायता करेंगे ; (2) हस्ताक्षरकर्ता देश अपनी सुरक्षा के लिए परस्पर समझौता कर सकते हैं, लेकिन इसकी शर्तें राष्ट्रसंघ के सचिवालय में पहले रजिस्टर करनी होंगी ; (3) आक्रमण की हालत में आक्रमणकारी कौन है, इसका निर्णय राष्ट्रसंघ परिषद् ही कर सकेगी । निर्णय के चार दिन के भीतर ही राष्ट्रसंघ यह भी निश्चय करेगा कि वह संधि के अन्तर्गत आक्रान्त राष्ट्र को आर्थिक और सैनिक सहायता की व्यवस्था करेगा कि नहीं ; (4) ऐसे राज्य जो परिषद् द्वारा निर्धारित शस्त्रीकरण के अनुसार दो वर्ष के भीतर अपना शस्त्रीकरण सीमित नही कर पायें, वे पारस्परिक सहायता पाने के अधिकारी नहीं होंगे और ; (5) संधि के अनुसार आक्रमणकारी के विरुद्ध की गई कार्यवाहियों का सारा व्यय आक्रमणकारी राज्य को सहन करना होगा ।

सितम्बर 1923 में राष्ट्रसंघ की चौथी साधारण सभा में उक्त संधि का प्रारूप निर्विरोध स्वीकार कर लिया गया और उसकी प्रतियाँ समस्त राष्ट्रों को प्रेषित कर दी गईं । संधि पर प्राप्त उत्तरों से पता चला कि 18 राष्ट्रों ने जिनमें फ्रांस, इटली और जापान भी है, सैद्धान्तिक तौर पर सधि को स्वीकार कर लिया है और 12 राज्यों ने जिनमें ब्रिटेन, जर्मनी, अमेरिका तथा रूस है, सधि को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है । सधि को अस्वीकार करने वाले राज्यों की शिकायत थी कि सधि के प्रारूप में आक्रमण की परिभाषा स्पष्ट नही की गई है तथा आक्रमणकारी राज्य के साथ कठोर व्यवहार करने के लिए राष्ट्रसघ परिषद् को पर्याप्त अधिकार नही प्राप्त हुआ है । विरोधी राज्यों का यह भी कहना था कि यह सधि निश्चित तथा विश्वसनीय नही है, जो कि निःशस्त्रीकरण का आवश्यक आधार है ।

जेनेवा प्रोटोकोल (समझौता)

सितम्बर 1924 में ब्रिटेन और फ्रांस के दोनों समाजवादी प्रधानमंत्री— रेमजे मेकडोनाल्ड तथा हेरियो ने सुरक्षा, नि.शस्त्रीकरण तथा न्याय पर आधारित एक सयुक्त प्रस्ताव राष्ट्रसंघ की पाँचवी साधारण सभा मे प्रस्तुत किया । इस प्रस्ताव के फलस्वरूप पोलिटीस तथा बेन्स ने अन्तर्राष्ट्रीय विवाद के निबटारे के लिए एक संधि का मसविदा तैयार किया । यह मसविदा 2 अक्टूबर 1924 को राष्ट्रसंघ की साधारण सभा में निर्विरोध स्वीकार कर लिया गया । तथाकथित जेनेवा सधि की प्रमुख बातें निम्न प्रकार थीं : (1) आक्रमण अथवा युद्ध एक अन्तर्राष्ट्रीय अपराध है और प्रतिश्रव को पालन करने वाले देशों पर आक्रमण करना भारी अपराध होगा; (2) वैधानिक विवादों को अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की स्थायी अदालत सुलझायेगी और राजनैतिक झगड़ों को राष्ट्रसंघ परिषद् निबटायेगी ; (3) विवादो पर जिस समय न्यायालय अथवा परिषद् में विचार हो रहा हो उस काल मे सैनिक संगठन नही किया जा सकता ; (4) जो राष्ट्र विवादास्पद मामले को न्यायालय मे नही रखेगा अथवा

जो न्यायालय के निर्णय को स्वीकार न कर आक्रमण करता रहेगा, वह आक्रमणकारी समझा जायगा ; (5) आक्रमणकारी राष्ट्र के साथ आर्थिक बहिष्कार और जरूरी समझा गया तो प्रतिश्रव की धारा 16 के अन्तर्गत उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की जायगी ; (6) युद्ध का सारा खर्चा आक्रमणकारी राष्ट्र को अदा करना होगा और (7) शस्त्रीकरण में विघटन समस्या पर निःशस्त्रीकरण सम्मेलन विचार करेगा और उसका निर्णय मान्य होगा। यह सम्मेलन 15 जून 1925 को होगा।

जेनेवा संधि पर केवल उन्हीं 17 राज्यों ने हस्ताक्षर किये, जिन्होंने सिद्धान्ततः पारस्परिक सहायता संधि को स्वीकार किया था। ब्रिटेन ने कई कारणों से संधि पर अपनी संपुष्टि देने से इन्कार किया। वे कारण निम्न प्रकार हैं : (1) इससे अमेरिका से उसका युद्ध छिड़ सकता है जो कि राष्ट्रसंघ में न होने के कारण किसी सदस्य राष्ट्र से झगड़ा करने पर आक्रान्ता घोषित किया जा सकता है ; (2) अनिवार्य पंच समझौता किसी सार्वभौमिक सत्ता प्राप्त राज्य की आत्मसुरक्षा के अधिकार में हस्तक्षेप कर सकता है ; (3) नाकाबंदियों में यह विचार आतंकपूर्ण था कि राष्ट्रसंघ का प्रमुख काम युद्ध संगठन करके शांति स्थापित करना है और संभवतः बड़े पैमाने पर युद्ध छेड़ना है ; (4) यह व्यवस्था कि आक्रान्ता को युद्ध का सब खर्चा भुगताना पड़ेगा, अविवेकी है, क्योंकि इससे राष्ट्रसंघ की कार्यवाहियाँ नियमित एवं सीमित हो जायेंगी और (5) पाबंदियों का प्रश्न, संधि पत्र में ठीक से स्पष्ट नहीं किया गया है, यद्यपि राष्ट्रसंघ के निर्णय का उल्लंघन करने की नई संभावनाएँ पैदा हो गई हैं। इसलिए 'जेनेवा संधि' रद्द कर दी गई। इसके इतनी जल्दी रद्द किये जाने के भी कई कारण है। माडारियागा, जो कि संधि पत्र के मूल संयोजकों में से एक था, के मत में "नवम्बर 1924 में मेकडोनाल्ड का पतन तथा बाल्डविन का अनुदारदलीय सरकार का बनाना, संधि-पत्र के अस्वीकार किये जाने के मुख्य कारण थे।" इस समझौते के अनुच्छेद 11 के अधीन घरेलू क्षेत्राधिकार के मामलों सम्बंधी विवाद राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत किये जा सकते थे। कार के मत में इस संधि में दो बड़ी त्रुटियाँ थीं जिन्होंने उसकी सम्पुष्टि को असंभव बना दिया। उनके अनुसार यदि हस्ताक्षर करने वाली सरकार सत्तारूढ़ भी होती, तो भी वह (1) यह स्वीकार न करती कि ब्रिटिश अधिराज्यों के प्रवास संबंधी कानूनों पर किसी भी स्थिति में राष्ट्रसंघ में चर्चा हो या उन्हें चुनौती दी जाय और (2) ब्रिटिश कामन सभा भी समझौते के अंतर्गत अपने उत्तरदायित्वों का और अधिक बढ़ना स्वीकार नहीं करती। गैथोन हार्डी के विचार मे "इस समझौते के विरोध के मूल में अधिराज्यों के ब्रिटेन से विशेष संबंधों के कारण, दण्डादेश के कारण उत्पन्न होने वाली समस्याओं में से उलझना नही चाहते थे। भारत को भी, एशिया में खतरा उत्पन्न होने पर अपना दायित्व बढ़ने की संभावना थी।" कैनेडा के प्रतिनिधि डान्डुरंड ने साधारण सभा में घोषणा की थी, "इस समझौते में युद्ध रूपी अग्नि के विरुद्ध किये गये पारस्परि-

बीमा में, समस्त सदस्यों का दायित्व समान नहीं रखा गया है। हम अग्नि-सुरक्षित भवन में निवास करते हैं जहाँ से ज्वलनशील वस्तुएँ बहुत दूर हैं।"

लोकार्नो समझौता

कारण

जेनेवा समझौता यद्यपि कार्यान्वित नहीं हुआ, इसने जर्मनी और फ्रांस के मध्य सम्बन्धों को नया मोड़ दिया। आक्रामक राष्ट्र को जब दण्डादेश की विधि स्वीकृत नही हुई तब पश्चिमी राष्ट्र अपनी सुरक्षा के लिये 'प्रादेशिक समझौता व्यवस्था' पर निर्भर रहने लगे। प्रादेशिक समझौते द्वारा सुरक्षा के लिये अनेक कारण उत्तरदायी थे, (1) प्वाइनकर की अपेक्षा नये प्रधानमंत्री हेरियो की सरकार का जर्मनी के प्रति अधिक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण था। 1922 मे जर्मनी ने फ्रास, ब्रिटेन और बेल्जियम के साथ अनाक्रमण संधि का प्रस्ताव रखा था जिसे फ्रांस ने अस्वीकार कर दिया। किन्तु अब 9 फरवरी 1925 को कोडसी प्रस्ताव के रखे जाने पर फ्रांस ने उस पर विचार करना स्वीकार किया। गैस्टोव स्ट्रेसमैन का 1923 में उदय हुआ। उसने सर्वप्रथम सार घाटी से समझौते द्वारा फ्रांसीसी आधिपत्य को समाप्त करवाया। 1924 में उन्ही के प्रयत्नों से डाज योजना सफल हुई। (2) जर्मनी के इन विदेश-मंत्री स्ट्रेसमैन ने युद्धोत्तर कालीन जर्मन प्रतिशोध की भावना का अंत करने व फ्रांस के साथ अच्छे पड़ोसी के सम्बन्ध बनाने की नीति को अपनाया। उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि जर्मनी, फ्रांस व ब्रिटेन के मध्य एक संधि हो जिसमें ब्रिटेन जर्मनी को फ्रांस के आक्रमण के विरुद्ध व फ्रांस को जर्मनी के आक्रमण के विरुद्ध सहायता दे। जर्मनी आल्सेस-लारेन पर अधिकार के दावे को समाप्त कर देगा और वर्साय़ी संधि मे निर्दिष्ट पश्चिमी सीमा को मान लेगा। (3) ब्रिटेन तीन बार महाद्वीपेय समझौतों (1919 की फ्रास की सुरक्षा संधि, 1923 की पारस्परिक सहायता संधि व 1924 के जेनेवा समझौते) से अलग रह चुका था। अब 1924 के अंत में अनुदार दल के आस्टिन चैम्बरलेन विदेश-मंत्री चुने गये जिन्होंने महाद्वीपीय गतिविधियों में अभिरुचि का सांकेतिक प्रदर्शन किया। फ्रास ने जर्मनी में साम्राज्यवादी हिन्डनबर्ग के राष्ट्रपति चुने जाने पर आशंका प्रकट की। ब्रिटेन ने इस अवसर का लाभ उठाकर यूरोप में शक्ति सतुलन अपने पक्ष में बनाये रखने के लिये वहाँ की गतिविधियों में पुनः भाग लेना निश्चित किया। (4) ब्रिटेन के बर्लिन स्थित राजदूत एबरनोन का यह मत था कि पश्चिमी यूरोप में यूरोपीय शक्तियों के एक ठोस गुट के निर्माण द्वारा विस्तारवादी रूस के विस्तार को रोका जाय। इसलिये फ्रांस जर्मन सद्भावना को प्रोत्साहित किया गया। इन्हीं के प्रयत्नों से संधि के प्रारूप पर लदन में 1925 को ग्रीष्म ऋतु मे प्रारंभिक वार्ता आरम्भ हुई। (5) वर्साय़ी संधि के अनुसार पाँच वर्ष पश्चात् अर्थात् 1925 में राइनलैण्ड से सेना को हटाने का प्रथम सोपान प्रारम्भ किया जाना था। किन्तु नियंत्रण

आयोग ने सिफारिश की, "जर्मनी ने निःशस्त्रीकरण का पूर्ण रूप से पालन नहीं किया है, अतः सेना अभी नहीं हटाई जाय।" जर्मनी इससे चिन्तित हो उठा। अब वह यह चाहने लगा कि राष्ट्रसंघ का सदस्य बनकर अपनी परेशानियों को विश्व जनमत के सम्मुख रखे और किसी अन्य समझौते अथवा संधि द्वारा गतिरोध को समाप्त करें।

सम्मेलन

इस पृष्ठभूमि में लोकार्नो संधि के प्रस्ताव पर विचार प्रारम्भ हुआ जिसका प्रारूप जर्मनी ने ही प्रस्तुत किया था। जर्मनी के प्रस्ताव में पांच मध्यस्थता संधियों की व्यवस्था थी। परन्तु जर्मनी ने प्रारम्भ से यह स्पष्ट कर दिया कि (1) जर्मनी राष्ट्रसघ का सदस्य हो, (2) बेल्जियम समझौते मे शामिल हो, (3) जर्मनी के पूर्वी सीमांत को स्थायी नही समझा जाय, (4) फ्रांस सारे राइनलैण्ड प्रदेश को खाली कर दे, (5) जर्मनी की रूस के साथ रैपालो संधि होने के कारण वह राष्ट्रसघ की किसी रूस विरोधी कार्यवाही मे भाग नही लेगा, (6) फ्रांस और जर्मनी की सीमा को सुरक्षित करने के लिये ब्रिटेन को भी संधि मे शामिल किया जाय। जर्मनी को यह अनुमति दी गई कि वह रूस विरोधी राष्ट्रसघ की कार्यवाहियों मे अपनी सैनिक व भौगोलिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए भाग ले सकता है। फ्रांस ने इसी समय यह स्पष्ट कर दिया कि वह किसी भी ऐसे समझौते में भाग नही लेगा जिससे कि उसके पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया के साथ तात्कालिक संबंधों पर प्रभाव पड़े।

वार्तालाप अत्यन्त जटिल हो गया क्योंकि ब्रिटेन ने राइनलैण्ड को तो खाली करने का वचन दे दिया परन्तु जर्मनी की पूर्वी सीमा की गारंटी के विषय मे आशंका प्रकट की। अप्रैल 1925 में फ्रांस की हेरिओ सरकार का पतन हुआ और प्रधानमंत्री पैनलीव और विदेशमंत्री ब्रियाँ ने बड़ी उत्सुकता के साथ वार्ता को जारी रखा। 5 अक्टूबर 1927 में 7 राष्ट्रों—जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन, इटली, बेल्जियम, पोलैण्ड व चैकोस्लोवाकिया के प्रतिनिधियों की वार्ता स्विट्जरलैण्ड के मेग्योर झील के तट पर छोटे से नगर लोकार्नो मे प्रारम्भ हुई। ब्रिटेन के प्रतिनिधि विदेशमंत्री आस्टिन चैम्बरलेन, फ्रांस की ओर से ब्रियाँ, जर्मनी के प्रधान मत्री हूसलूथर और विदेशमंत्री स्ट्रेसमैन और इटली के अधिनायक मुसोलिनी ने इस सम्मेलन मे भाग लिया था। 16 अक्टूबर 1925 को लोकार्नो संधि पर हस्ताक्षर हुए जिसकी सम्पुष्टि लंदन मे 1 दिसम्बर को हुई।

लोकार्नो की सात संधियाँ

लोकार्नो की सात संधियाँ, फ्रांस, बेल्जियम, ब्रिटेन, जर्मनी और इटली में हुई थी। चार मध्यस्थता संधियों में एक ओर जर्मनी और दूसरी ओर पृथक रूप से फ्रांस, बेल्जियम, पोलैण्ड व चैकोस्लोवाकिया थे। अंतिम दो संधियों में एक ओर फ्रांस और दूसरी ओर पृथक रूप से चैकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड को गारंटी दी गई थी।

प्रथम संधि, जिसे पारस्परिक सुरक्षा गारंटी संधि अथवा लोकप्रिय रूप मे 'राइनलैण्ड संधि' कहा जाता है, में पांच प्रमुख राष्ट्र थे—जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन, इटली

: बेल्जियम। धारा एक के अनुसार एक ओर जर्मनी और दूसरी ओर फ्रांस और बेल्जियम की सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से यथास्थिति की गारंटी दी गई। इसके साथ राइनलैण्ड के पूर्व में अंकित 50 किलोमीटर लाइन तक जर्मन सीमा को सैनिक रहित क्षेत्र घोषित किया गया। धारा 2 के अनुसार जर्मनी, बेल्जियम और फ्रांस ने निम्नलिखित स्थिति को छोड़कर एक दूसरे पर आक्रमण न करने का निश्चय किया: (क) न्यायसगत सुरक्षा (ख) सैनिक रहित क्षेत्र मे उपरोक्त समझौते का उल्लघन (ग) राष्ट्रसघ द्वारा किसी राज्य के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही। यह भी निश्चित हुआ कि पारस्परिक विवाद यदि कूटनीतिक तरीके से न सुलझाये जा सकें तो उन्हे शांतिपूर्ण ढग से सुलझाने के प्रयास किये जायेंगे।

यदि धारा (1) अथवा (2) का गंभीर उल्लंघन हो तो हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र आहत राष्ट्र को तत्काल सहायता प्रदान करेंगे। सदेहपूर्ण उल्लंघन के मामले में इस प्रश्न पर राष्ट्रसघ की परिषद् विचार करेगी। यह भी निश्चय हुआ कि यदि परिषद् मान ले कि शर्त का उल्लंघन किया गया है तो सभी राष्ट्र अपने उत्तरदायित्व को पूरा करेंगे। इस समझौते से वर्साय़ी सधि के अनुसार राष्ट्रो के अधिकार और दायित्व पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा। जर्मनी के राष्ट्रसघ के सदस्य बनते ही यह समझौता लागू होगा। यह उस समय तक लागू रहेगा जब तक कि परिषद् दो तिहाई बहुमत से यह निश्चय न करले कि "राष्ट्रसघ, समझौता करने वाले राष्ट्रों को पर्याप्त रक्षा का आश्वासन देता है।" चार मध्यस्थता संधियों में एक ओर जर्मनी और दूसरी ओर क्रमश: फ्रांस, बेल्जियम, पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया थे। इन सधियो द्वारा राष्ट्रों ने सामूहिक रूप से विवादो का शांतिपूर्ण तरीके से निपटारा करने का निश्चय किया और आवश्यकता पड़ने पर मध्यस्थ अथवा अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा सुलझाने की व्यवस्था की, यदि कूटनीति के सामान्य साधनो से हल निकालना असंभव हो। इन सधियो मे स्पष्ट कहा गया कि उन पुराने विवादो पर यह सधि लागू नही होगी जैसे कि पोलैण्ड-गलियारे विवाद अर्थात् इस सधि पर हस्ताक्षर के पश्चात् जो विवाद उत्पन्न होगा, उसी पर विचार होगा।

दो गारंटी सधियों में एक ओर फ्रांस तथा दूसरी ओर क्रमश: पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया थे। इन संधियों मे यह तय किया गया कि यदि हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र लोकार्नो में उल्लिखित प्रतिज्ञाओं का पालन करने में असमर्थ हो तो युद्ध की स्थिति में बिना कारण युद्ध छिड जाने मे, एक दूसरे को तात्कालिक सहायता देंगे। सधि मे एक विशेष धारा के अनुसार ब्रिटेन और भारत के अधिराज्य को यूरोपीय सुरक्षा के उत्तरदायित्व से मुक्त किया गया। जर्मन संसद मे इस संधि की काफी आलोचना रही और यह 174 के विरुद्ध 291 मत से पारित हुई।

मूल्यांकन

तात्कालिक विचार

यद्यपि उग्र राष्ट्रवादियों ने इस सधि का जर्मनी और फ्रांस में विरोध किया,

साधारणत: इसे 'युगान्तकारी' कहा गया। इस संधि ने विजित और विजेता राष्ट्रों में एक समझौते की भावना उत्पन्न की। विलियम आर्म्सबी गौर, ब्रिटेन के अनुदार दल के सदस्य, ने कहा "लोकार्नो का महत्व अत्यधिक था। इसने जर्मनी को रूस से पृथक कर दिया और उसके भविष्य को पश्चिमी राष्ट्रों के साथ जोड़ दिया।" स्ट्रेसमैन, जो इस संधि के मुख्य निर्माताओं में था, ने कहा, "हममें से प्रत्येक अपने राष्ट्र का नागरिक है, किन्तु हम यूरोप के भी नागरिक हैं, हम सब सभ्यता की महान् भावना से प्रेरित हो एक हो गये हैं, हमे यूरोपीय भावनाओं से विचार व्यक्त करने में गर्व है।" फ्रांस के विदेशमंत्री ब्रियां ने फ्रैंको-जर्मन संबंधों पर बल देते हुए कहा, "हमने जर्मनी और फ्रांस के लिये शांति प्राप्त कर ली है इसका अर्थ यह है कि हमने उन दीर्घ रक्त रंजित युद्धों से मुक्ति प्राप्त कर ली है जिन्होंने इतिहास के पन्नों को काला कर दिया था। हमने झगड़ों के निबटारे के बर्बर और रक्त प्रिय व युद्ध के तरीकों का अन्त कर दिया है। यह सच है कि अब भी हममें मतभेद है किन्तु अब यह न्यायाधीश का अधिकार होगा कि वह निर्णय दे·········और यह सब कुछ होगा बन्दूकों और तोपों की आवाज से दूर!·········समझौते, पंच फैसले और शांति के मार्ग को प्रशस्त करने के लिये।" आस्टिन चैम्बरलेन ने कहा कि लोकार्नो की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि "उसने ब्रिटेन के रक्षा उत्तरदायित्वों को उस क्षेत्र में सीमित कर दिया जहां की शांति उसका विशेष स्वार्थ था।" उसने इस बात पर जोर दिया कि "लोकार्नो किसी दिशा में भी एक संधि नही थी, वरन् अतीत के शत्रुओं में एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध न करने का समझौता था। साधारणत: संधि कुछ राष्ट्रों द्वारा दूसरे राष्ट्रों के विरुद्ध की जाती है किन्तु इस समझौते ने झगड़ों के शांतिपूर्ण निबटारे की एक पारस्परिक गारंटी दी।" जब वर्साय़ी की संधि पारित हुई तब लोगों के हृदयों में युद्ध की भावना का अन्त नही हुआ था, वह काम लोकार्नो ने 1925 में किया और इसीलिये इसे आस्टिन चैम्बरलेन ने "युद्ध व शांतिकाल के मध्य की वास्तविक विभाजन रेखा" कहा। चर्चिल ने इसे "यूरोप में शांति पुर्नस्थापना की चरम सीमा बताया।" चैकोस्लोवाकिया के विदेश-मंत्री बेनेस ने कहा, "लोकार्नो भावना ने राइन प्रदेश में जिस शांति की स्थापना की वह पूर्वी यूरोप में डैन्यूब नदी तक फैल गई।"

तात्कालिक आलोचकों ने यह कहा "यह व्यवहारिक न होकर राजनीति में मरीचिका को स्थान देने वाला समझौता है।" जर्मनी के कर्नल रोडनबर्ग ने कहा "राष्ट्रसंघ की सदस्यता अलाभकारी है और स्ट्रेसमैन हत्यारा है—क्योंकि शांति के नाम पर जर्मनी के अधिकारों को ठुकरा दिया गया है।" संधि का प्रतिवाद करते हुए ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधानमंत्री रैमजे मैकडोनाल्ड ने कहा कि, यह कपोत छिद्र समझौता है, जिसमे ब्रिटेन ने रूस के विरुद्ध पश्चिमी सभ्यताओं को संगठित किया है।"

आधुनिक विचार

लैंगसम का कहना है कि, "यह नये युग का मार्ग प्रदर्शक था।" गैथोन हार्डी ने कहा कि "इसमें ब्रिटिश और फ्रांसिसी गारंटियों ने लोगों के मस्तिष्क मे सुरक्षा

ता को और अधिक दृढ़ कर दिया······बिना गहराई से विचार किये कि ये किस सीमा तक अपने उत्तरदायित्व को निबाह सकते हैं।" वाल्टर्स ने कहा कि जर्मन लोगों ने इस शान्ति समझौते को केवल इसलिये स्वीकार किया कि शांति रहने पर ही उन्हें और अधिक अमेरिकी पूँजी मिलने की संभावना थी।" कार के विचार में "लोकार्नो समझौता, बाद में चलकर, वर्साय़ी संधि व राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव, दोनों के ही लिये हानिप्रद सिद्ध हुआ। इसने उन दोनों भावनाओं को प्रोत्साहित किया जिनके अनुसार एक ओर तो बिना अन्य स्वैच्छिक समझौतों के वर्साय़ी संधि में बाध्यता का अभाव था और दूसरी ओर सरकारें उन सीमाओं की रक्षार्थ कदम नहीं उठा सकती जिनकी सुरक्षा के लिये उनका प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व नहीं है। दस वर्ष पश्चात् लगभग सभी सरकारें इन भावनाओं के आधार पर कार्य करती दिखाई दी।" शार्प और कर्क के अनुसार, 'लोकार्नो समझौता एक ऐसी पारस्परिक गारंटी थी जिसने उसे उन सब सुरक्षा समझौतो से अलग कर दिया, जिनमें केवल फ्रांस की सुरक्षा की बात की गई थी। अब जर्मनी को समान सुरक्षा का आधार मिलना था जिसे उसने प्रायः फ्रांसिसी सैनिक साम्राज्यवाद की संज्ञा दी।"

लोकार्नो समझौते के परिणाम

(1) 1919 के पश्चात् यह पहला सम्मेलन था जिसमें जर्मनी ने अन्य राष्ट्रों के साथ समानता और स्वतंत्रता के आधार पर शांति वार्ता में भाग लिया। इस सम्मेलन की एक अन्य विशेषता जर्मनी द्वारा स्वेच्छा से, आल्सेस लारेन पर अधिकार का परित्याग व पश्चिमी सीमांत को मान्यता देना; और फ्रांस द्वारा राइन क्षेत्र को संरक्षित प्रदेश बनाने की इच्छा का त्याग था, जिसने समझौते की पवित्रता को बढ़ाया और उसे स्थायी रूप दिया। संक्षेप में जर्मनी और फ्रांस की मांगों में न्यायोचित संतुलन स्थापित हुआ। (2) यह पहला अवसर था जबकि ब्रिटेन ने बीच में पड़कर यूरोपीय राष्ट्रों, फ्रांस, बेल्जियम व जर्मनी की सीमा के विषय में गारंटी दी। (3) डॉज योजना ने जर्मनी को उचित स्थान देने के जिस कार्य को प्रारंभ किया था उसे लोकार्नो समझौते ने पूरा किया। जर्मनी को राष्ट्रसंघ का सदस्य (8 सितम्बर 1926) बनाया गया और उसे परिषद् में भी स्थान दिया गया। (4) इस समझौते से जर्मनी को दो स्थूल लाभ हुए—एक तो दिसम्बर 1925 मे समझौते पर हस्ताक्षर किये जाने के दिन से ही राइन प्रदेश से मित्र राष्ट्रीय सेना के हटने का कार्य प्रारम्भ हो गया और दूसरा जनवरी 1927 तक 'नियन्त्रण-आयोग' को भी समाप्त कर दिया गया।

(2) इस समझौते की सबसे बड़ी कमी यह थी कि जर्मनी की पूर्वी सीमा की सुरक्षा का उत्तरदायित्व किसी ने भी नहीं लिया। दूसरे शब्दों में जर्मनी ने यह समझा कि वह कानूनी रूप से तात्कालिक पूर्वी सीमा से बंधा हुआ नहीं है। (1) यह कहना कि लोकार्नो समझौते ने फ्रांस और जर्मनी को निकट ला दिया और उनमें शांति, विश्वास और सहयोग की भावना ने जन्म लिया इन तथ्यों से गलत साबित

होता है कि एक वर्ष बाद ही 1926 में, जब परिषद् की स्थायी सदस्यता का प्रश्न खड़ा हुआ, फ्रांस ने जर्मनी का विरोध कर पोलैण्ड का समर्थन किया व कुछ समय बाद ही उसने चैकोस्लाविया व पोलैण्ड से पारस्परिक सहायता संधि की। (2) रूस में लोकार्नो समझौते स्वयं को ही बड़े संदेह की दृष्टि से देखा गया। साधारणत: यह कहा गया था कि लोकार्नो ने साम्यवाद का विरोध कर पश्चिमी राष्ट्रों को संगठित किया है। किन्तु 26 अप्रैल 1926 को जर्मनी ने साम्यवादी रूस के साथ तटस्थता और मैत्री की संधि कर यह निश्चित किया कि वे किसी गुट द्वारा दोनों में से किसी के भी विरुद्ध किये गये आर्थिक बहिष्कार का वे विरोध करेंगे व राष्ट्रसंघ द्वारा किसी के विरुद्ध की गई कार्यवाही में योग नहीं देंगे। प्रत्यक्ष में जर्मनी ने यह कहा कि वह लोकार्नो भावना को पूर्वी यूरोप में बढ़ा रहा है, किन्तु पश्चिमी राष्ट्रों के लिये रूस-जर्मन संधि एक अप्रत्याशित घटना थी। (3) आज के प्रत्यक्षवादी आलोचकों का कहना यह है कि तथाकथित महान् लोकार्नो समझौते के द्वारा जर्मनी ने किसी ऐसे नये उत्तरदायित्व को ग्रहण नहीं किया जो उसने वर्साय संधि में स्वीकार नही किया हो। दूसरी ओर उसने लोकार्नो सद्भावना की आड़ में निःशस्त्रीकरण की धाराओं को ताक पर रखकर राष्ट्रीय व विदेशी स्रोतों से सैन्य शक्ति को बढ़ाया।

लोकार्नो समझौते का प्रभाव सीमित व अल्पकालीन था। कुछ वर्षों तक अवश्य संधि, और संधि द्वारा ही सुरक्षा की भावना बुलंद रही। इसी ने 1928 के शांति प्रयास कैलोग-ब्रियाँ संधि को प्रेरित किया जिसमें अमेरिका भी सम्मिलित हुआ था। इस समझौते द्वारा यह आशा की गई थी कि राष्ट्रसंघ मजबूत होगा और निःशस्त्रीकरण के प्रयास आगे बढ़ेंगे। किन्तु दोनों ही क्षेत्रों में यह असफल सिद्ध हुआ। जर्मनी ने इस समझौते के 8 वर्ष पश्चात् 16 अक्टूबर 1933 को राष्ट्रसंघ से परित्याग कर दिया। उसने अपना शस्त्रीकरण भी जारी रखा और 7 मार्च 1936 को राइन प्रदेश का सैनिकीकरण कर दिया। जर्मनी ने किस प्रकार लोकार्नो समझौते को भंग कर दिया, इसकी चर्चा 'हिटलर का उदय' अध्याय में की गई है यह समझौता, पारस्परिक गारंटी द्वारा क्षेत्रीय सुरक्षा को बनाये रखने में असफल रहा।

1928 का सामान्य कानून

सितम्बर 1928 में राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण हल के लिये, पंच फैसले के लिये एक सामान्य कानून की 'आदर्श संधि' प्रस्तुत की। इसमें तीन पृथक व्यवस्थायें थी। प्रथम में इस कानून को स्वीकार करने वाले सभी राज्य "एक स्थायी समझौता आयोग" की स्थापना करें, जिसका मुख्य कार्य उनके विवादों के शांतिपूर्ण हल करने के लिये सिफारिश करना था। दूसरे मे सभी कानूनी विवादों को अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय में प्रस्तुत किये जायें और उनका निर्णय बाध्यता मूलक हो। तीसरे में सभी गैर कानूनी वाद-विवाद एक पंच समिति

के सामने प्रस्तुत किये जायेंगे जिसके अध्यक्ष का चुनाव अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय करेगा। इसमें इतना लचीलापन था कि सम्बन्धित राष्ट्रों को यह अधिकार दिया गया कि वह इसको पूर्ण रूप से, आंशिक रूप से अथवा अपनी इच्छानुकूल विशिष्ट ढंग से इनका परिपालन करें। जिमरमैन के मत में "सामूहिक सुरक्षा के क्षेत्र में यह प्रयास सबसे अधिक महत्वपूर्ण कदम था।" परन्तु अनेक आलोचकों ने इसे राष्ट्रसंघ का अत्यन्त शक्तिहीन प्रतीक कहा। 1935 तक केवल 23 राज्यों ने इस अधिनियम को स्वीकार किया था अर्थात् संक्षेप में अधिकांश राज्यों ने इसे मान्यता प्रदान नहीं की। इस प्रकार सामान्य कानूनों का कोई उपयोग नहीं किया गया।

पेरिस का समझौता

पृष्ठभूमि

पेरिस के समझौते की पृष्ठभूमि में अनेक कारण कार्य कर रहे थे। इनमें (1) संयुक्त राज्य अमेरिका में लैविनसन व शौटवेल का शांतिवादी आंदोलन व युद्ध को गैर कानूनी घोषित करने के प्रयास; (2) राष्ट्रसंघ का 1927 का युद्ध निवारण का प्रस्ताव; (3) दिसम्बर 1928 का सर्व अमेरिकी समझौता व (4) फ्रांस के विदेशमंत्री ब्रियां की इस समझौते की शुरूआत व संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेशमंत्री कैलोग का समर्थन उल्लेखनीय है।

लेविनसन-शौटवेल के शांति प्रयास

1900 के बाद ही संयुक्त राज्य अमेरिका में अधिकाधिक लोग शांति आंदोलन के प्रति जागरूक हो गये। यह आंदोलन शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया और व्यक्ति बिना दलबन्दी अथवा वर्ग भेद के इसमें भाग लेने लगे। प्रतियोगी एवं प्रतिद्वन्दी, दोनों प्रकार की संस्थाओं ने शांति आंदोलन में योग दिया और इन सबका उद्देश्य युद्ध को रोकना था। 1910 में एन्ड्रयु कारनेगी ने एक अरब डालर की राशि से "अन्तर्राष्ट्रीय शांति संस्था" स्थापित की जो 'इन्टरनेशनल कन्सीलियेशन' नामक पत्रिका भी प्रकाशित करती है। विश्व शान्ति के लिये स्थापित दो अन्य संस्थायें, वर्ल्ड पीस फाउन्डेशन (1910) व वुडरो विल्सन फाउन्डेशन (1923) थीं। कुछ उग्र संस्थाओं जो राष्ट्रसंघ विरोधी व पृथकवादी थीं, ने भी शान्ति की खोज में योग दिया। इनमें वीमेन्स इन्टरनेशनल लीग फार पीस एण्ड फ्रीडम, अमेरिकन नेशनल कॉन्सिल फार दी प्रिवेन्सन आफ वार, के नाम उल्लेखनीय हैं।

9 दिसम्बर 1921 को लेविनसन ने युद्ध को गैर कानूनी घोषित करने वाली अमेरिकन समिति को जन्म दिया। वह रिपब्लिकन दल से संबंधित था और एक सफल यहूदी वकील था। इसके मत में, युद्ध की कानून द्वारा समाप्ति और बाध्यतामूलक पंच-फैसला ही शान्ति के सच्चे आधार हैं। इन पंच फैसलों के उद्देश्य उन व्यक्तियों के विरुद्ध दण्डादेश था जिन्हें युद्ध प्रारम्भ करने के लिये उत्तरदायी ठहराया

जाता। लेविनसन ने अपने मुख्य शिष्य सिनेटर बोरा की सहायता से उपरोक्त योजना को कांग्रेस की कार्यसूची में स्थान दिलाया और इनकी दस लाख प्रतियाँ जनता में बाँटी गई। कुलीज और कैलांग ने इस योजना का समर्थन नहीं किया। 1927 में कुलीज ने स्पष्ट घोषणा की थी "लोगों को इस प्रकार के प्रस्ताव में कोई रूचि नहीं है और वे सोचते हैं कि यह अव्यवहारिक है।"

दो अमेरिकी शांतिवादी विद्वान—निकॉलस मरे बटलर (जून 1926) व ऐतिहासिक जेम्स शोटवेल (22 मार्च 1927) अलग-अलग समय मे फ्रांस के विदेश-मंत्री ब्रियाँ से मिले। बटलर ने ब्रियाँ को "युद्ध, राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में" लेख पढ़ने को दिया। शोटवेल जो कि उस समय बर्लिन विश्वविद्यालय में अमेरिका की ओर से अतिथि-अध्यापक थे, ने अपनी मुलाकात में ब्रियाँ को युद्ध को गैर कानूनी घोषित करने के लिये केवल प्रभावित ही नहीं, अपितु अमेरिका को एक संदेश भेजने के लिये स्वयं ही उसकी विज्ञप्ति प्रस्तुत की। इस प्रकार लेविनसन, बटलर तथा शोटवेल ने पेरिस संधि की पृष्ठभूमि तैयार की।

राष्ट्रसंघ का 1927 का प्रस्ताव

लोकार्नो समझौते से प्रेरित हो 24 सितम्बर 1927 को संघ की साधारण सभा ने पोलैण्ड का प्रस्ताव पारित किया कि, "सभी प्रकार के युद्ध निषिद्ध हैं। विभिन्न राष्ट्रों के मध्य, किसी भी ही प्रकृति के झगड़े क्यों न हों, उनको निबटाने में सभी प्रकार के शांतिपूर्ण तरीकों को काम मे लाना चाहिये और संघ के सदस्यों का उत्तर-दायित्व है कि वे इन सिद्धान्तों का पालन करें।"

सर्व अमेरिकी संघ का प्रयास

हवाना में आयोजित छठवें सर्व अमेरिकी सम्मलन में मेक्सिको का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ जिसमें आक्रामक युद्ध का निषेध किया गया और विवादों को निबटाने के लिये समझौते व पंच फैसले का प्रारूप प्रस्तुत हुआ। अर्जेन्टाइना के कहने पर सभी राष्ट्रों ने युद्ध विरोधी समझौतों पर हस्ताक्षर किये। इस प्रकार गैथोर्न हार्डी के शब्दों में 'सर्व अमेरिकी संघ' को पेरिस के समझौते की शुरूआत करने का श्रेय है।

ब्रियाँ व कैलोग का योग

युद्ध को राजनीतिक स्तर पर गैर कानूनी घोषित करने का श्रेय फ्रांस के विदेश मंत्री ब्रियाँ को है। 6 अप्रैल 1927 को अमेरिका के युद्ध प्रवेश की दसवी वर्षगाँठ के अवसर पर उन्होंने अमेरिका के सम्मुख एक प्रस्ताव रखा जिसमें, दोनों राष्ट्रों के मध्य झगड़ा होने की परिस्थिति में युद्ध के बजाय शांतिपूर्ण तरीके से हल ढूँढने का प्रयत्न किया जाना था। जिमरमैन के अनुसार न्यूयार्क टाइम्स मे डाक्टर बटलर ने, 25 अप्रैल को इस घटना का उल्लेख कर अमेरिकी जनता का ध्यान आकर्षित किया।

20 जून को संधि का प्रारूप ब्रियाँ ने अमेरिका को प्रस्तुत किया जिसमें युद्ध निषेध और झगड़ों के शांतिपूर्ण निबटारे का उल्लेख था।

ब्रियाँ के दो उद्देश्य थे। फ्रांस की तात्कालिक सुरक्षा की नीति, उसकी युद्ध-कालीन ऋण चुकाने में असमर्थता और राष्ट्रपति कुलीज द्वारा आयोजित नौ निःशस्त्रीकरण सम्मेलन (1927) में भाग लेने से प्वाइनकर की तात्कालिक आलोचना का उपचार करना था। दूसरे फ्रांस यह चाहता था कि अमेरिका समस्त यूरोपीय मामलों में निर्लिप्त रहे।

6 महीने विचार विनिमय के पश्चात् अमेरिकी विदेशमंत्री ने 28 दिसम्बर 1927 को ब्रियाँ के प्रस्ताव का उत्तर दिया जिसमें उन्होंने कहा कि यह संधि दो राष्ट्रों में सीमित न होकर बहुराष्ट्रीय हो। ब्रियाँ ने इसका तत्काल ही उत्तर न देकर कहा कि राष्ट्रसंघ का सदस्य होने के नाते शांति का जो उसका उत्तरदायित्व है उसे निबाहना उसके लिये कठिन हो जायेगा। अप्रैल 1928 में कैलोग ने ब्रिटेन, जर्मनी, इटली और जापान के विचार जानने के लिये उन्हें इस प्रारूप की सूचना भेजी। 13 अप्रैल को जर्मनी ने सर्वप्रथम इस सुझाव का अनुमोदन करते हुए कहा कि इससे लोकार्नो व संघ मजबूत हो जायेंगे। इटली व जापान ने भी इसका अनुमोदन किया। ब्रिटेन ने उनके साम्राज्य रक्षा के उत्तरदायित्व के कारण अपनी असमर्थता प्रकट की। फ्रांस ने 'आत्मरक्षा' व 'युद्धोत्तर संधि व्यवस्था के संरक्षण' की विशेष सुविधा की माँग की। 23 जून को संधि के अंतिम मसविदे को कैलोग ने 14 राष्ट्रों को भेजा जिसमें यह स्पष्टीकरण किया गया कि केवल निम्न दशा में शस्त्र का प्रयोग हो सकता है—(1) जब निजी सुरक्षा का प्रश्न हो, (2) संधि का उल्लंघन करने वाले राज्य के विरुद्ध, (3) संधि के पालन में उत्पन्न कठिनाइयों के विरुद्ध और (4) ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिये।

27 अगस्त 1928 को पेरिस के विदेश मंत्रालय में 15 राज्यों के प्रतिनिधि एकत्रित हुए जिनमें ब्रिटेन, अमेरिका, जर्मनी, इटली, जापान, बेल्जियम, चैकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, भारत और पांच ब्रिटिश अधिराज्य व फ्रांस सम्मिलित थे। इन प्रतिनिधियों ने 'पेरिस की संधि' पर हस्ताक्षर किये। इस संधि की निम्नलिखित धारायें थीं—(1) हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्र अपनी जनता के नाम पर पवित्र घोषणा करते हैं कि वे युद्ध का राष्ट्रीय नीति के अंग और अंतर्राष्ट्रीय विवादों को निबटाने के तरीके के प्रारूप में परित्याग करते हैं; (2) वे इस पर भी सहमत हैं कि उनमें उत्पन्न होने वाले झगड़े, चाहे वे किसी भी प्रकृति के हों अथवा किसी भी कारण से उत्पन्न हुए हों, का निबटारा वे केवल शांतिमय तरीकों से ही करेंगे। और (3) राष्ट्रों द्वारा इस समझौते की सम्पुष्टि के परिपत्रों के वाशिंगटन में जमा होते ही यह लागू हो जायेगा, विश्व का कोई भी राष्ट्र इसका सदस्य बन सकेगा व कोई भी राष्ट्र यदि अपने स्वार्थों के कारण युद्ध में लिप्त होता है तो उसे इस संधि के अन्य लाभों से वंचित कर दिया जायेगा।

24 जुलाई 1929 को राष्ट्रपति हूवर ने इस संधि को लागू किया और 2 वर्ष के भीतर 65 राष्ट्रों ने इसे मान्यता दी। रूस के विदेशमंत्री लिटविनोफ ने 9 फरवरी 1929 को रूस, पोलैण्ड और लिथुआनिया के बीच इस संधि के आधार पर 'लिटविनोफ समझौता' किया। केवल 5 राज्य अर्जेन्टाइना, ब्राजील, बोलिविया, अलसेल्वेडोर व येमन इस संधि में सम्मिलित नहीं हुए। इस प्रकार विश्व के अधिकांश राष्ट्रों ने, जिसमें सभी बड़ी शक्तियाँ सम्मिलित थी, इसका अनुमोदन किया।

मूल्यांकन

पेरिस की सधि, अंतर्राष्ट्रीय इतिहास में, एक महत्वपूर्ण घटना है। प्रोफेसर कार के शब्दों में, "यह प्रथम राजनीतिक समझौता है जोकि अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल कर सकता था।" प्रोफेसर गैथोन हार्डी के अनुसार, "नैतिक दृष्टिकोण से इस समझौते ने एक नवीन युग की सृष्टि की। पेरिस समझौते में युद्ध का परित्याग करने का ही संकल्प नहीं था अपितु यह एक ऐसी व्यवस्था थी जिसमें राष्ट्रसंघ के बाहर के राज्य संयुक्त राज्य अमेरिका व रूस प्रत्यक्ष रूप से शांति के सामूहिक संगठन में भाग ले सकते थे।" जियरमैन के विचार में, "इस समझौते ने दो मुख्य तथ्यों को जन्म दिया। इसने इस भावना को अमर कर दिया कि राष्ट्रों के मध्य सदा के लिये युद्ध समाप्त हो सकते हैं और अंकुरित रूप में ही सही, इसने विश्व समाज की संभावना को जन्म दिया।" दो विश्व युद्धों के मध्य सामूहिक सुरक्षा की जिस भावना ने समझौतों, पंच फैसले व लोकार्नो समझौते को जन्म दिया उसकी यह चरम सीमा थी।

विचारशील व्यक्तियों ने इस समझौते में अनेक कमियाँ बताईं। नौरमैन बैन्टविच ने इसे एक ऐसा अंतर्राष्ट्रीय चुम्बन बताया 'जिसमें भविष्य के लिये कोई भी आश्वासन नहीं था।" शूमैन के अनुसार, "यह मूल में ही निर्बल था।" (1) कोई भी राष्ट्र झगड़ों के शांति-पूर्ण निबटारे के लिये प्रत्यक्ष रूप से बाध्य नहीं था और इससे युद्ध की संभावना समाप्त नहीं हुई। (2) केवल आक्रामक युद्ध को ही समाप्त किया गया था किन्तु कोई भी राष्ट्र आत्मरक्षा के नाम से युद्ध कर सकता था। आत्मरक्षा की परिभाषा के अभाव में ही जापान ने मंचूरिया में 1931 में; चीन में 1937 मे; व पर्ल हार्बर पर 1941 में अघोषित युद्ध प्रारम्भ कर दिया था। (3) सधि के पालन के निरीक्षण के लिये कोई नियंत्रण व दण्डादेश व्यवस्था नहीं थी। केवल यह उल्लेख किया गया था कि जो राष्ट्र इसका उल्लंघन करेगा उसे इस संधि के लाभों से वंचित होना पड़ेगा (वास्तव में इस सधि का कोई स्थूल लाभ था भी नही)। (4) सभी सदस्य राष्ट्रों ने अपने हितों की रक्षा के लिये संरक्षित धाराओ की घोषणा की व संधि का इच्छानुसार पालन किया। अमेरिका ने अपने संरक्षितों के जीवन व सम्पत्ति रक्षा की कार्यवाही करने हेतु; जापान ने मंचूरिया व मंगोलिया में अपने प्रभाव क्षेत्र में कार्य करने; ब्रिटेन ने

साम्राज्य रक्षा के लिये शस्त्र प्रयोग की; व फ्रांस ने इस संधि से पूर्व की गई संधियों की रक्षा के लिये कदम उठाने की घोषणा की। इस प्रकार कोई भी ऐसी स्थिति न बची जिसकी आड़ में युद्ध न हो सके और संधि का मसविदा नाममात्र का रह गया। (5) इस संधि ने राष्ट्रसंघ के अस्तित्व को चुनौती दी। राष्ट्रसंघ का जन्म युद्ध बंदी के लिये हुआ था और इस संधि ने एक प्रकार से राष्ट्रसंघ की धाराओं में संशोधन किया जो उसके सम्मान और प्रभाव के लिये हानिप्रद सिद्ध हुआ। (6)शूमैन के अनुसार "यदि कोई एक राष्ट्र संधि का उल्लंघन करे तो अन्य राष्ट्र उससे स्वतः मुक्त हो जाते थे।" इससे प्रकट है कि इस संधि का कोई ठोस आधार नहीं था। कार के अनुसार "यह एक नैतिक घोषणा थी जिसका आधार युद्ध, पाप की सामान्य भावना थी।"

पेरिस समझौते की भावना केवल 2-3 वर्ष तक ही रही और इसके बाद एक-एक करके जापान, इटली, जर्मनी व रूस ने इसकी अवहेलना की। यह संधि केवल 'ऊँची दुकान फीके पकवान' के समान थी।

राष्ट्रसंघ के बाहर सुरक्षा के प्रयास

यूरोप के असंतुष्ट राष्ट्र सदैव शांति और सुरक्षा के लिये नये-नये मार्ग ढूँढते रहते थे। 1919 के बाद के सामूहिक सुरक्षा प्रयत्न व राष्ट्रसंघ के सुरक्षा सम्बन्धी प्रयत्नों से यूरोपीय राष्ट्रों को संतोष नहीं हुआ। सामूहिक सुरक्षा प्रयत्न भी सकट की स्थिति मे खरे नही उतरे। राष्ट्रीय स्वार्थ और इनमें व्यवहारिकता के अभाव ने इन्हें असफल बना दिया। उधर कुछ राष्ट्र ऐसे थे जो पेरिस सम्मेलन में दबाये गये थे जैसे जर्मनी व रूस; और कुछ ऐसे थे जिन्हे पेरिस की शांति संधि से असंतोष था और वे उसका संशोधन चाहते थे जैसे इटली व जापान। इन राष्ट्रों ने सुरक्षा की दृष्टि से अपने को पृथक पाया। अतः सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था व राष्ट्र-संघ के प्रयत्नों के उपरांत सुरक्षा की खोज में ये नवीन मार्गों को ढूँढने लगे जिनका परिणाम था यूरोप में शक्ति संतुलन की नई व्यवस्था। कुछ द्विराष्ट्रीय व बहुराष्ट्रीय समझौते हुए, धुरी राष्ट्रो का जन्म हुआ और यूरोप की समस्त कूटनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन हो गया। हिटलर के उदय, नवीन शक्ति संतुलन; पृथक अनुभव करने वाले राष्ट्रों के, सुरक्षा प्रयत्न; और नये गुटों का जन्म तथा फ्रांस की लघुमैत्री, छोटे राष्ट्रों का बल्कान समझौता, रूसी गुट व इटली-जर्मनी-जापान समझौते ने यूरोप को युद्ध के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया।

फ्रांसीसी सुरक्षा मैत्री

1919 के पश्चात् यूरोप में सबसे महत्वपूर्ण सिर दर्द का विषय फ्रांस की सुरक्षा की माग बनी हुई थी। सभी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेने का फ्रांस का केवल एक ही उद्देश्य था कि उसे जर्मनी के पुनः आक्रमण की संभावना से बचाने की व्यवस्था की जाय। जर्मनी की बढ़ती हुई आबादी; वर्साय की आरोपित संधि

के पश्चात् भी उसकी बढ़ी हुई सैनिक शक्ति, औद्योगिक साधन, जर्मन जनता की परम्परा और प्रतिशोध की भावना, फ्रांसीसी राजनीतिज्ञों की दृष्टि में फ्रांस के लिये नया संकट था।

पिछले अध्याय में हमने अध्ययन किया कि किस प्रकार भावी जर्मन आक्रमण से फ्रांस की सुरक्षा के लिये राइन नदी के पश्चिमी तट पर मित्र राष्ट्रीय सेना ने 15 वर्ष के लिये अधिकार कर लिया। इसी क्षेत्र को सैनिक रहित क्षेत्र बनाया गया था। जिस दिन वर्साय संधि पर हस्ताक्षर हुए, उसी दिन (28 जून 1919), फ्रास ब्रिटेन और अमेरिका ने एक नई संधि की। इसके अनुसार यदि जर्मनी फ्रांस पर बिना कारण आक्रमण करे तो अमेरिका और ब्रिटेन तुरंत फ्रांस की सहायता करेंगे। परन्तु अमेरिका ने पेरिस संधि की संपुष्टि नहीं की और ब्रिटेन भी इससे मुक्त हो गया, क्योकि संधि में यह स्पष्ट उल्लेख था कि अमेरिका के सहायता देने पर ही ब्रिटेन का भाग लेना निर्भर होगा।

विवश होकर फ्रांस ने अपनी सुरक्षा के लिए छोटे राष्ट्रों की ओर हाथ बढ़ाया। इस ओर पहला कदम जो उसने उठाया वह बेल्जियम के साथ 7 सितम्बर 1920 का समझौता था। यद्यपि यह समझौता राष्ट्रसंघ मे दर्ज कर दिया गया था, परन्तु इसकी महत्वपूर्ण शर्तें गुप्त रखी गईं। परन्तु यह स्पष्ट था कि फ्रास और बेल्जियम मिलकर जर्मनी के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए सैनिक दृष्टि से एक हो गये थे। इसी बीच फ्रांस ने, पोलैण्ड को वहाँ के साम्यवादियों से रक्षा के लिये एक सैनिक मिशन (शिष्ट मंडल) भेजा। इसके बाद 19 फरवरी 1921 को फ्रांस और पोलैण्ड के बीच एक संधि हुई। दोनों देशों में यह निश्चय हुआ कि बाहरी आक्रमण से निजी भूमि और स्वार्थ की रक्षा के लिए वे एक दूसरे का साथ देंगे। इस संधि की अवधि 10 वर्ष थी। इसकी पुष्टि 1922 में हुई और 1932 मे इसे पुनः बढ़ा दिया गया। इस प्रकार इन दो संधियों से फ्रांस को यह लाभ हुआ कि यदि जर्मनी ने उस पर हमला किया तो पूर्व में पोलैण्ड और पश्चिम में बेल्जियम से उसे सामरिक सहायता मिलेगी।

परन्तु इतने पर भी फ्रांसीसी राजनयिक संतुष्ट नहीं थे और उन्होंने ब्रिटेन के साथ संधि करने का प्रयत्न किया। दिसम्बर 1921 मे फ्रांस ने ब्रिटेन के साथ एक निश्चित राजनीतिक समझौता करने का प्रस्ताव रखा। प्रारभ के वार्तालाप में ब्रिटेन ने फ्रांस के झगड़े में लिप्त होना अस्वीकार कर दिया। किन्तु बाद में फ्रांसीसी प्रधानमंत्री ब्रियाँ की निरंतर चेष्टा से ब्रिटेन एक संधि करने के लिये राजी हो गया। इस संधि के प्रारूप में यह स्पष्ट कहा गया कि यदि फ्रांस की 'निजी भूमि' पर, जर्मनी द्वारा प्रत्यक्ष और अकारण आक्रमण हुआ तो ब्रिटेन फ्रांस को सैनिक सहायता देगा। इसकी अवधि भी 10 वर्ष रखी गई। यह व्यवस्था 12 जनवरी 1922 को केनिस में की गई। दूसरे दिन दुर्भाग्यवश ब्रियाँ को प्रधानमंत्री पद से त्यागपत्र देना पड़ा। उसके स्थान पर

युद्ध-प्रिय प्वाइनकर प्रधान मंत्री नियुक्त हुए। इन्होंने मांग की कि ब्रिटेन के साथ संधि का जो प्रारूप तय हुआ, वह एकपक्षीय न होकर पारस्परिक सुरक्षा के आधार पर होना चाहिए। इसलिए फ्रांसीसी 'भूमि' को हटाकर केवल फ्रांस रखा जाय, ताकि उसके उपनिवेशों की रक्षा की जा सके। दूसरे इसकी अवधि 10 वर्ष से बढ़ा कर 30 वर्ष कर दी जाय। इस पर ब्रिटेन ने यह कह कर कि अन्य राष्ट्रों में इस सैनिक संधि से विरोधी भावना पैदा हो जायेगी और गुटबंदी शुरू हो जायेगी, संधि करने से इन्कार कर दिया। अन्त में जुलाई 1922 में जब क्षतिपूर्ति मामलों पर दोनों देशों में मतभेद अधिक हो गया तो वे एक दूसरे से और भी दूर हो गये।

वास्तव में रूर पर अधिकार प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्वाइनकर योजना का फल था *। इस योजना के तीन उद्देश्य थे : (1) जर्मनी को क्षतिपूर्ति का भुगतान करने के लिए बाध्य करना, (2) जर्मनी के औद्योगिक विकास में हस्तक्षेप करना, जिससे कि उसका आर्थिक पुनरुत्थान रुक जाय, और (3) राइन प्रदेश में एक पृथकवादी आंदोलन को जन्म देकर दोनों के बीच एक मध्यस्थ राज्य स्थापित करना।

सुरक्षा के लिए फ्रांस और चैकोस्लोवाकिया ने 25 जनवरी 1924 को एक संधि पर हस्ताक्षर किये। यह निश्चय हुआ कि विदेशी नीति से सम्बन्धित मामलों पर दोनों देश एक दूसरे से परामर्श लेंगे और आस्ट्रिया और जर्मनी के विलय अथवा हंगरी एवं जर्मनी में राजतंत्र के पुनर्स्थापन से उत्पन्न स्थिति का सामूहिक रूप से विरोध करेंगे व आवश्यकता पड़ने पर एक दूसरे की सहायता करेंगे। इसी प्रकार की संधि, 1926 में फ्रांस और रूमानिया तथा 1927 में फ्रांस और यूगोस्लाविया के बीच हुई। इस तरह फ्रांस ने सुरक्षा के नाम पर यूरोप में एक नया आधिपत्य कायम किया। लिथुआनिया के विरुद्ध पोलैण्ड का, हंगरी के विरुद्ध चैकोस्लोवाकिया का और बल्गेरिया के विरुद्ध यूगोस्लाविया और रूमानिया का साथ देना ही फ्रांस की नीति थी। फ्रांस ने जर्मनी के संभावित भय का सामना करने के लिये यूरोप में अपनी स्थिति मजबूत कर ली।

निःसन्देह फ्रांस की सुरक्षा व्यवस्था में उपरोक्त 6 देशों के साथ विभिन्न संधियां फ्रांस को बड़ी महंगी पड़ी। इसके कई कारण थे : (1) फ्रांस के ये मित्र आर्थिक दृष्टि से इतने दुर्बल थे कि फ्रांस को सदा ही इन्हे ऋण देना पड़ा; (2) इनकी आन्तरिक स्थिति अत्यन्त अनिश्चित थी और भौगोलिक दृष्टिकोण से वे फ्रांस से काफी दूर थे; (3) छोटे होने के कारण इनके पास सैनिक साधन पर्याप्त नहीं थे; (4) इन संधियों के कारण फ्रांस पूर्वी यूरोप के राज्यों के पारस्परिक विवादों में लिप्त हो गया, जिससे जर्मनी को अविश्वास और इटली को शंका पैदा हो गई। इस प्रकार फ्रांस ने अपनी सुरक्षा को मजबूत बनाने के लिए गुटबंदी प्रारंभ की।

---

* क्षतिपूर्ति की समस्या—अध्याय 4 देखो।

रैपालो संधि (1922)

16 अप्रैल 1922 को जब जेनेवा (इटली) में उपराष्ट्रों का आर्थिक सम्मेलन हो रहा था तब वहाँ से जर्मनी के विदेश-मंत्री वाल्टर राथेनाश्रो और रूस के विदेश-मंत्री जार्ज चिचेरिन, रैपालो के समुद्री तट की ओर खिसक गये, और उन्होंने इस संधि को जन्म दिया। इस संधि की धारायें निम्नलिखित थीं :—(1) रूसी सरकार को मान्यता और पारस्परिक मित्रता की पुर्नास्थापना। (2) जर्मनी के प्रति रूसी ऋण का अंत व एक गुप्त समझौते द्वारा जर्मनी ने रूस में शस्त्राशस्त्र निर्माण के कारखाने स्थापित करने व रूसी फौज के प्रशिक्षण के लिए जर्मन अफसर भेजना निश्चित किया (3) पारस्परिक व्यापार की सुविधा। इस संधि के तीन महत्वपूर्ण परिणाम हुए :—(1) इसने अन्य राष्ट्रों को भी रूस से व्यापारिक व राजनीतिक समझौते करने के लिये प्रेरित किया, (2) रूस व जर्मनी को अपनी राष्ट्रीय शक्ति में आत्म-विश्वास दिलाया व अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उन्हें कूटनीतिक क्रय-विक्रय की शक्ति प्रदान की और इस सधि ने यूरोपीय मित्र राष्ट्रों (पश्चिमी राष्ट्रों) के सम्मुख, वर्साय़ी के बाद की यथास्थिति बनाये रखने के भयावह परिणामों (यथा रूसी-जर्मन सधि)की ओर सकेत किया।

रूस ने पश्चिमी राष्ट्रों के भय के कारण पड़ौसी राष्ट्रों से अनाक्रमण एवं तटस्थता की नीति को अपनाया और तुर्की (1925), अफगानिस्तान व लिथुआनिया (1926), ईरान (1927) व पोलैंण्ड, एस्थोनिया, लैंटविया और फिनलैण्ड (1931) से संधि की। अप्रैल 1926 में जर्मनी के साथ की गई सधि में यह निश्चित हुआ कि किसी अन्य पक्ष के एक दूसरे पर आक्रमण करने की दिशा में वे तटस्थ रहेंगे। 1929 में पेरिस संधि के आधार पर रूस ने लिटविनोफ समझौता किया। 1933 में रूस ने लंदन में अपने नौ पड़ौसी राष्ट्रों से सधि कर (1) उनकी भौमिक अखंडता (2) स्वतंत्रता की रक्षा व (3) अनाक्रमण संधि की सम्पुष्टि की। इस प्रकार से रूस ने एक नवीन गुट का निर्माण किया ताकि उसकी सुरक्षा बनी रह सके।

लघुमैत्री (Little Entente)

पृष्ठभूमि

युद्धोपरान्त, 1920-21 में पूर्वी यूरोप के छोटे राष्ट्रों में अपनी शान्ति व्यवस्था, व सुरक्षा को दृष्टि मे रख जो सौहार्द उत्पन्न हुआ उसके फलस्वरूप तीन राष्ट्रों—चैकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, व रूमानिया—ने जिस गुट को बनाया, उसे 'लघु मैत्री' कहते है। इस मैत्री के जन्म के अनेक कारण थे,(1)आस्ट्रिया-हंगरी के हैप्सबर्ग वंश के पतन के पश्चात, चैकोस्लोवाकिया व युगोस्लाविया राजतंत्र के आधिपत्य से स्वतंत्र हो चुके थे और अपनी स्वाधीनता की सुरक्षा के इच्छुक थे। (2) लघुमैत्री का एक अन्य उद्देश्य पूर्वी यूरोप मे शक्ति संतुलन बनाये रखना था। पूर्वी यूरोप के इन तीनों छोटे राष्ट्रों ने लघु मैत्री द्वारा इस ध्येय को पूर्ण करने की चेष्टा की। (3) छोटे राष्ट्रो की समान समस्याओं, यथा अल्पसंख्यकों की समस्या, भूमि लाभ

की सुरक्षा की समस्या, थोड़े बुद्धि जीवी व बड़े कृषक समुदाय, ने भी उन्हें एक सूत्र में पिरोने के लिये प्रेरित किया। युगोस्लाविया में सर्व, क्रोट्स व स्लोवेन्स, चैकोस्लोवाकिया में चैक व स्लोवाक और रूमानिया में रूसी, यहूदी व हंगेरियन अल्पसंख्यकों की समान समस्याएँ थी। (4) हंगरी तीनों छोटे राष्ट्रों का समान शत्रु था, क्योंकि तीनों के निर्माण में तीनो को ही हंगरी की भूमि प्राप्त हुई थी। इनमें से युगोस्लाविया को सबसे अधिक भूमि प्राप्त हुई थी। (5) लघुमैत्री के निर्माण में व्यक्तियों का भी योगदान था जिनमें चैकोस्लोवाकिया, रूमानिया व युगोस्लाविया के विदेशमंत्री क्रमश: वेनेस, ट्रेक जेनेस्कु व ट्रम्बिक सम्मिलित थे। (6) असंतुष्ट राष्ट्र आस्ट्रिया व हंगरी शान्ति सन्धि का संशोधन चाहते थे और यह भी एक कारण था जिसने संशोधन विरोधी राष्ट्रों को लघुमैत्री मे सयुक्त कर दिया।

संधियां

विराम संधि के बाद ही तीनों राष्ट्रों में वार्तालाप प्रारंभ हुई थी और पेरिस सम्मेलन की अवधि में यह जारी रही। इस सबके फलस्वरूप प्रथम संधि अगस्त 4, 1920 ई० को चैकोस्लोवाकिया के विदेशमत्री वेनेस और युगोस्लाविया के विदेश मंत्रालय के वरिष्ठ अधिकारी नेनचिक ने बैलग्रेड मे पारस्परिक मैत्री सधि पर हस्ताक्षर किये। इसमे अकारण हगरी द्वारा आक्रमण करने की दिशा में पारस्परिक सुरक्षा की व्यवस्था थी। आस्ट्रिया-हंगरी मे पुन: राजतत्र की स्थापना के विरुद्ध संयुक्त कार्यवाही व पारस्परिक सुरक्षा का प्रबन्ध था। इसी संधि के आधार पर चैकोस्लोवाकिया के विदेशमंत्री वेनेस और रूमानिया के विदेशमंत्री जेनेस्कु ने 23 अप्रैल 1921 की बुखारेस्ट (हंगरी) से सामूहिक रक्षा के लिये संधि की। इसी प्रकार युगोस्लाविया के विदेशमंत्री ट्रम्बिक और रूमानिया के विदेशमंत्री में 7 जून 1921 को वैलग्रेड मे मैत्री सधि हुई।

इन तीनों पड़ोसी राज्यों में मैत्री स्थापना से पेरिस के शान्ति सम्मेलन में जो मानचित्र प्रस्तुत किया गया था उसे और स्थिरता मिली। 1921 में हैप्सबर्ग वंश के राजा कार्ल की पुर्नस्थापना, इस मैत्री संघ के कारण विफल हुई। 1922 में इन्ही तीनों राष्ट्रों ने हंगरी को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनवाया व उसे आक्रमण करने के पूर्व पंच फैसले के लिये राजी किया। इस सबके फलस्वरूप 1922 के पश्चात से हंगरी विरोधी भावना कम होती गई।

ट्रायनन की संधि

तीनों राष्ट्र जब काफी निकट आ गये और इनकी शक्ति बढ़ गई तो इन्होंने यूरोप के बड़े राष्ट्रों से भी सम्पर्क स्थापित किया। इन्होंने फ्रांस से संधि की व एक और पड़ौसी राष्ट्र पोलैण्ड, जिसकी समान समस्याएँ थी, से 1922 में सामूहिक रूप से संधि की। कार के शब्दों में, "पौलैण्ड आदि लघुमैत्री के देशों के साथ समझौते

सुरक्षा संधियाँ

फ्रांसीसी सुरक्षा व्यवस्थाएँ
7 सितम्बर, 1920
19 फरवरी, 1921
25 जनवरी, 1924
10 जून, 1926
11 नवम्बर, 1927
बल्कान समझौता
9 फरवरी, 1934
बेल्जियम
फ्रांस
पोलैण्ड
चेकोस्लोवाकिया
रूमानिया
यूगोस्लाविया
तुर्की
यूनान
26 जनवरी, 1934
जर्मनी
2 मई 1935
25 जनवरी, 1932
5 मई, 1934
3 मार्च, 1921
23 अप्रैल, 1921
7 जून, 1921
14 अगस्त, 1920
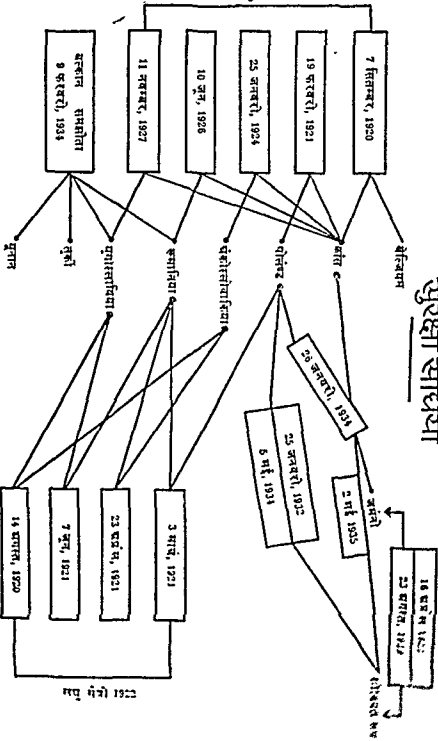
कर 'पवित्र मैत्री' का आधुनिक प्रतिरूप तैयार किया।" इससे फ्रांस (1924-27) ने यह वचन दिया कि वह लघुमैत्री के सभी राष्ट्रों की हंगरी से व युगोस्लाविया की इटली से रक्षा करेगा। दूसरी ओर फ्रांस की सुरक्षा सीमा की अभिवृद्धि पूर्वी यूरोप तक हो गई। इस प्रकार प्रथम 10 वर्षों में लघुमैत्री ने यूरोप में यथास्थिति कायम रखने में बड़ी सहायता दी।

लघुमैत्री का भंग होना

लघुमैत्री के लिये एक महान शंका तब आई जबकि जर्मनी में हिटलर का उदय और नाजीवाद का प्रसार हुआ। सन् 1933 के पश्चात् से उसकी शस्त्रीकरण की नीति व चैकोस्लोवाकिया के जर्मन अल्पसंख्यकों के असंतोष ने भी लघुमैत्री को नवीन मोड़ दिया। 16 फरवरी 1933 को लघुमैत्री के तीनों विदेशमंत्री बेनेस (चैकोस्लोवाकिया), जैप्टिक (युगोस्लाविया) टिटुलस्कू (रूमानिया) ने एक संगठन उप-सधि पर हस्ताक्षर किये। सधि के अनुसार 'साधारण नीति का सम्पूर्ण एकीकरण', नियमित रूप से विदेश मन्त्रियों के विचार विमर्श के लिये एक स्थायी परिषद की स्थापना और लघुमैत्री को चिरस्थायी बनाये रखने का निश्चय किया गया। बल्कान समझौते के राष्ट्र बुल्गेरिया ने, लघुमैत्री के राष्ट्र युगोस्लाविया से जनवरी 1937 में शान्ति और मैत्री की संधि कर सुरक्षा सधि के प्रभाव क्षेत्र को समस्त पूर्वी यूरोप में फैला दिया। म्युनिख समझौते से लघुमैत्री का अन्त प्रारंभ हुआ। स्वयं फ्रांस ने हिटलर द्वारा चैकोस्लोवाकिया के पश्चिमी भाग पर अधिकार के प्रस्ताव का अनुमोदन कर दिया। सितम्बर 1940 में जर्मनी ने रूमानिया से संधि कर उसे अपनी ओर कर लिया व 6 अप्रैल 1941 को युगोस्लाविया पर आक्रमण कर लघुमैत्री का उसने अन्त कर दिया। 1 मार्च 1941 को जर्मनी बुल्गेरिया से पहले ही सधि कर उससे गेहूं व तेल प्राप्त कर चुका था। इस प्रकार लघुमैत्री व उसमें फ्रांस और बल्कान समझौते के राष्ट्रों का योग समाप्त हो गया।

मूल्यांकन

स्फोरजा के अनुसार लघुमैत्री ने विश्व के छोटे राष्ट्रों के लिये एक नये मार्ग का प्रदर्शन किया। इसने यह सिद्ध किया कि छोटे राष्ट्र भी पारस्परिक सहयोग द्वारा अपना विकास और क्षेत्रीय सुरक्षा स्थापित कर सकते है। शक्तिशाली रूस, इटली व जर्मनी जो कि लघुमैत्री सदस्यों के निकटवर्ती राष्ट्र थे, इसके पतन के लिये उत्तरदायी है। संक्षेप में, जर्मनी में हिटलर व नाजीवाद का उदय, हिटलर की विस्तारवादी नीति, फ्रांस की सन्तुष्टीकरण नीति और रक्षा करने में समर्थ होने के उपरान्त भी चैकोस्लोवाकिया की रक्षा करने की अनिच्छा व लघुमैत्री सदस्यों में सैनिक शक्ति के अभाव ने इस सस्था का अन्त ला दिया। गैथोन हार्डी के अनुसार लघुमैत्री का 'समान मोर्चा, समान हितों पर आधारित नही था'। यही कारण था कि जब जर्मनी ने चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण किया, रूस ने बेसारेबिया (रूमानिया) पर

दावा किया और इटली ने अल्बानिया और युगोस्लाविया को हड़पने का प्रयत्न किया, तब लघुमैत्री सदस्य पृथक ही रहे; उसमें उन्होंने व्यक्तिगत हानि नही देखी और एक दूसरे की रक्षा में सहयोग नहीं दिया।

बल्कान समझौता

प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व राष्ट्रीयता बल्कान राष्ट्रों के लिए विनाशकारी सिद्ध हुई। यहाँ की विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों व समूहों में भेद-भाव की भावना और अधिक बढ़ी। इस भेद-भाव का एक दूसरा कारण जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस जैसी शक्तियों का हस्तक्षेप भी था। बल्कान प्रदेशों के भेद-भाव और विभाजन की इस प्रक्रिया को 'बल्कानीकरण' कहा गया है। किन्तु युद्ध पश्चात् बल्कान के विभिन्न समूहों में यह स्पष्ट हो गया कि उनकी विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति, 'एक बल्कान संघ' के निर्माण और एकता द्वारा ही संभव है।

पृष्ठभूमि

विश्व युद्ध के पश्चात् बदली हुई अनेक परिस्थितियों ने 'बल्कान संघ' आंदोलन को प्रभावित किया। (1) तुर्की की साम्राज्यवादी नीति, कमाल पाशा के नये नेतृत्व, उसके घरेलू समस्याओं में उलझने और उसकी उदार नीति के कारण शिथिल हो गई। वहां के राष्ट्रवादियों ने भी बल्कान राष्ट्रों मे उत्पन्न राष्ट्रीय भावना का समर्थन किया। (2)उधर लघु संघ के निर्माता(पृष्ठ 151)चैकोस्लोवाकिया, रूमानिया व युगोस्लाविया और रूमानिया व यूगोस्लाविया के सुरक्षा संघ ने भी बल्गारिया के लिए संकट उपस्थित कर दिया। प्रथम विश्व युद्ध में वह हार ही चुका था और विइंली की सधि उस पर थोपी गई थी। इससे वह असंतुष्ट था। (3) सर्व-स्लाव आंदोलन, बल्कान एकता के लिये क्रमशः जोर पकड़ता गया और इसकी दक्षिण स्लाव शाखा ने राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण कर 'राज्य संघ' बनाने पर जोर दिया। (4) रूस में नवीन साम्यवादी सरकार की साम्राज्य विरोधी नीति ने भी बल्कान राष्ट्रों की नवीन संघीय प्रवृत्ति के विकास में योग दिया। (5) जेनेवा में राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा के परियोजना, लोकार्नो सधि, पेरिस संधि व लिटविनोव अनुसधि ने भी क्षेत्रीय सुरक्षा की भावना को प्रोत्साहित किया।

तीन ठोस कदम

बल्कान संघ की योजना को ठोस रूप देने के लिये तीन महत्वपूर्ण कदम उठाये गये। इनमें से पहला था बल्कान राज्यों में कृषक दलों का निर्माण व कृषि क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग का विकास। बुलेरिया के कृषक अधिनायक एलैक्जेन्डर स्टाम्बुलिस्की ने प्रथम विश्व युद्ध के पहले कृषकों के संघ की स्थापना की थी। प्रभावशाली वक्ता स्टीफैन राडीख और उनके भाई आन्टी राडीख ने क्रोट कृषक दल की स्थापना की। सन् 1920 में स्टाम्बुलिस्की के नेतृत्व में दक्षिण पूर्वी यूरोपीय कृषक

दलों का 'हरा अन्तर्राष्ट्रीय' (Green International) संगठन स्थापित किया गया। 1923 में स्टाम्बुलिस्की के दुःखद स्वर्गवास और 1928 में स्टीफन राडीख की मृत्यु से भी आन्दोलन की गति में कोई बाधा नहीं आई और 1930 में कृषक आंदोलन बल्कान संघ का अंग बन गया, जहाँ के 75 प्रतिशत लोग कृषक थे। स्टाम्बुलिस्की ने 'कृषक लोकतन्त्र' के विचार को जन्म दिया। उसके मत में कृषक और राज्य के बीच व्यापारी रूपी मध्यस्थ का अंत और भूमिपति कृषक ही वास्तविक प्रजातन्त्र के आधार थे। वह कहता था कि भूमिहीन कृषक को विचार स्वातन्त्र्य और मत स्वातंत्र्य प्राप्त नहीं हो सकता। इन्हीं विचारों के फलस्वरूप 'कृषक लोकतन्त्र' के क्षेत्र में उसका नाम अमर हो गया।

दूसरा कदम जो बल्कान संघ की परिकल्पना को सार्थक रूप देने के लिये उठाया गया, उद्योग और व्यापार के विकास द्वारा आर्थिक सहयोग था। बल्कान आर्थिक आन्दोलन को इस कार्य के लिये जन्म दिया गया। इसी दिशा में 'निष्पक्षता' और 'पंच फैसले' के आधार पर 1920 के बाद बुल्गेरिया को छोड़ सभी बल्कान राज्यों ने पारस्परिक व्यापार संधि की। तुर्की और यूनान जो कि इतने दिनों से शत्रु थे,,उनमें भी 1930 तक आर्थिक क्षेत्र में समझौता हो गया।

तीसरा कदम, क्षेत्रीय सुरक्षा और पारस्परिक स्वार्थों की रक्षा हेतु बल्कान राज्यों द्वारा समय-समय पर कूटनीतिक सम्मेलन बुलाया जाना और उनमें विचार विमर्श करना था। अक्टूबर 1929 में यूनान की राजधानी एथेन्स में वहाँ के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री एलैकजैण्डर पापानास्तासियु के सभापतित्व में 'विश्व शांति कांग्रेस' आमंत्रित की गई। इसमें एक स्थायी बल्कान संघ के निर्माण का प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। इसके ठीक एक वर्ष पश्चात् ऐथेन्स में 'बल्कान एकता संघ' के लिये बुल्गेरिया और तुर्की सहित 6 बल्कान राज्यों का एक सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में यूनान के प्रधानमन्त्री वेनीजैलोस ने इस बात पर जोर दिया कि उन विषयों पर विचार किया जाय जिनके प्रति मतैक्य हो और जो बल्कान एकता में सहायक हों। असंतुष्ट बुल्गेरिया और अल्बेनिया ने अल्पसंख्यकों के जटिल प्रश्न को प्रस्तुत किया किन्तु रूमानिया, तुर्की, यूनान और चैकोस्लोवाकिया ने इसे बहुमत से अस्वीकार कर दिया। अंत में (अक्टूबर 1930) यह निश्चित हुआ कि एक बल्कान संघ स्थापित किया जाय जिसकी एक वर्षीय सभा होगी और निम्न अंग होंगे—(1) एक स्थायी परिषद (2) महासभा (3) सचिवालय व (4) पारस्परिक विशेष समस्याओं को हल करने के लिये 6 आयोग।

बल्कान सम्मेलन

वार्षिक सदस्यता, आरंभ में, अनौपचारिक और ऐच्छिक थी। नेता लोग व्यक्तिगत रूप से सम्मेलनों में भाग लेते थे न कि सरकारी प्रतिनिधियों के रूप में, और सम्मेलन के प्रस्तावों की सम्पुष्टि करने के लिए बाध्य नहीं थे। 1930 और

1934 के बीच में चार बल्कान सम्मेलन क्रमशः एथेन्स, स्तानबुल, बुखारेस्ट और सालोनिका में हुए। इन सम्मेलनों के फलस्वरूप पारस्परिक सहयोग में आशातीत वृद्धि हुई और अनेक नवीन संगठनों का जन्म हुआ, जिनमें बल्कान व्यापार एवं उद्योग संघ, बल्कान कृषि समिति, बल्कान पर्यटन संघ, बल्कान स्वास्थ्य संघ, बल्कान न्यायाधीश आयोग, बल्कान समुद्र-तटीय कार्यालय, उल्लेखनीय हैं।

तृतीय बल्कान सम्मेलन मे बल्कान संधि का प्रारूप प्रस्तुत किया गया जिनमें पारस्परिक विवाद को शांतिपूर्ण तरीके से हल करने की व्यवस्था थी। परंतु इसे सब राज्यों ने स्वीकार नहीं किया। सितम्बर 14, 1933 को तुर्की और यूनान ने 10 वर्षीय अनाक्रमण संधि की जिसमें अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में दोनों ने एक ही प्रतिनिधि भेजना निश्चित किया जो कि विश्व इतिहास में मैत्री का एक अनुपम उदाहरण है। इसी बीच तुर्की और यूगोस्लाविया के बीच पंच फैसला, समझौता और अनाक्रमण के आधार पर एक समझौता हुआ। 1933 में युगोस्लाविया के शासक राजा एलैक्जेण्डर और बुल्गेरिया के राजा बोरिस ने एक दूसरे के राज्यों में भ्रमण किया। दिसम्बर 1933 मे रूमानिया के उदारवादी प्रधानमंत्री योनडूका की नाजियों ने हत्या का षडयंत्र किया। रूमानिया के विदेशमंत्री निकोलस टिटूलैस्कू ने घबड़ाकर बल्कान समझौते के लिये प्रयत्न किया।

बल्कान समझौता

समझौते के प्रारूप के विषय में राज्यों में मतभेद था अतः केवल यूनान, तुर्की, रूमानिया और युगोस्लाविया ने ऐथेन्स में 9 फरवरी 1934 को हस्ताक्षर किये। बुल्गेरिया और अल्बेनिया ने इसे अस्वीकार किया।

बल्कान समझौते की मुख्य धारायें: (1) पेरिस संधि की भावना के आधार पर बल्कान में शांति को बनाये रखना (2) पारस्परिक सीमा और सुरक्षा की गारंटी (3) स्वार्थों के खतरे में पड़ने पर आवश्यक कार्यवाही के लिये पारस्परिक विचार विमर्श थे। एक गुप्त उपसंधि में समझौते की पूर्ण व्याख्या की गई और विशेषतः आक्रामक की परिभाषा दी गई। यूनान और तुर्की ने यह स्पष्ट कर दिया कि किसी बल्कान राज्य द्वारा शक्तिशाली आक्रामक राज्य को सहायता दी जाने की दिशा में वे आक्रामक के विरुद्ध सहायता नहीं देंगे।

यूनान के भूतपूर्व प्रधानमंत्री पापानास्तासियु ने इस मत पर बल दिया कि केवल सीमा सुरक्षा संधि की अपेक्षा 'अनाक्रमण और विवादों के शांतिपूर्ण निपटारे' की संधि अधिक प्रभावशाली व स्थायी होगी। उन्होंने सावधान किया कि अपने आपको सीमा सुरक्षा तक ही सीमित करने वाली संधि "बल्कान राज्यों की व्यापक एकता के लिये एक महान बाधा होगी।" बल्कान सुरक्षा के मार्ग में इतनी बाधायें थीं कि सदस्यों में गम्भीर मतभेद के कारण अन्तर्राष्ट्रीय [illegible] [illegible] फलीभूत न हो सका। युगोस्लाविया के प्रतिनिधि के अनुसार [illegible] [illegible] ने ही सम्मेलन के

कार्य को पूरा कर दिया और इसलिये सम्मेलन अनावश्यक था। बुल्गेरिया के अनुसार या तो समझौता ही स्वीकार किया जाय अथवा सम्मेलन क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं। अल्बेनिया ने तो स्पष्ट ही कह दिया कि वह किसी अन्य बल्कान सम्मेलन में भाग ही नहीं लेगा। इतने अधिक निराशापूर्ण वातावरण के बावजूद यूनान ने एक घोषणा पत्र का प्रारूप प्रस्तुत किया जिसमें स्तानबुल में एक स्थायी संसद और सांस्कृतिक संघ निर्माण की योजना सम्मिलित थी। इस प्रकार तात्कालिक अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों से प्रभावित हो बल्कान राज्यों ने आर्थिक, कृषि और सांस्कृतिक योजनाओं की अपेक्षा राजनीतिक और सुरक्षा सम्बंधी योजनाओं को अधिक बल दिया। 1938 में विवश होकर बुल्गेरिया बल्कान संघ में शामिल हो गया।

विघटन

विचारकों के अनुसार 'बल्कान सघ' ने एक नवीन युग का सूत्रपात किया। 1935 और 1940 के मध्य जर्मनी व रूस की शत्रुता इतनी अधिक बढ़ी की बल्कान राज्य आशंकित हो गये। 1935 में चैकोस्लोवाकिया ने सोवियत रूस से सधि की और अगले वर्ष जर्मनी और इटली ने राष्ट्रसंघ की अवहेलना कर रोम बर्लिन धुरी की स्थापना की। 1937 में धुरी राष्ट्रों ने बल्कान समझौते के राज्यों को निर्बल करने का प्रयत्न किया। युगोस्लाविया, यूनान, रूमानिया और तुर्की ने पृथकवाद की नीति को अपनाया। 1938 में जर्मनी ने चैकोस्लोवाकिया को हड़पने के पश्चात् बल्कान में अपना प्रभाव विस्तृत किया। द्वितीय विश्व युद्ध प्रारंभ होने के पश्चात् जर्मनी ने 1941 में बुल्गेरिया, रूमानिया एवं यूनान पर आक्रमण करके अधिकांश क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार बलकान संधि समाप्त हुई। इसका एक अन्य कारण इन राज्यों में अधिनायकवाद का जन्म था—रूमानिया में राजा कैरोल (1938 के बाद), यूनान में राजा जार्जव जनरल मैटाक्सेस (अगस्त 1936), बुल्गेरिया में राजा वोरिस (1935), युगोस्लाविया में राजा पॉल (1934) और अल्बेनिया में राजा जौग प्रथम (1928)। 14 अप्रैल 1939 को इटली के राजा विक्टर ह्यूगा तृतीय ने अल्बेनिया को हड़प लिया और राजा जौग यूनान भाग गया। इस प्रकार बल्कान राज्यों की पारस्परिक फूट और स्वार्थ की भावना, धुरी राष्ट्रों की विस्तारवादी नीति और बल्कान राज्यों में अधिनायकवाद के जन्म ने, 'बलकान समझौते' का अंत ला दिया। ऐतिहासिक दृष्टि से वल्कान समझौते का महत्व यह है कि छोटे राष्ट्र भी अपनी सुरक्षा और सहयोग के लिये प्रयत्न कर सकते हैं। दूसरे, इस समझौते के प्रयोग ने द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् जन्म लेने वाली अनेक क्षेत्रीय सुरक्षा योजनाओं की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की।

चार राष्ट्रीय समझौता

फ्रांस द्वारा लघुमैत्री और रूस द्वारा अनाक्रमण संधियों ने यूरोप में नये गुटों को जन्म दे दिया और इटली जो कि अपने आपको बड़ी शक्ति समझता था, अकेला

पड़ गया। मुसोलिनी के उदय, फासिस्टो के उग्र राष्ट्रवाद, विस्तारवादी नीति, शस्त्रा-शस्त्रों में फ्रांस की बराबरी के अभिलाषा और 1919 की पेरिस संधि की संशोधन नीति से प्रेरित हो इटली ने पड़ौसी राज्यों से मैत्री संधियों की एक नई परम्परा कायम की। चैकोस्लोवाकिया व युगोस्लाविया (1924); रूमानिया व स्पेन (1926); व हंगेरी के साथ (1927) में संधियां की गई। अल्बानिया के साथ एक पृथक सुरक्षा संधि (1927) में की गई।

जर्मनी में हिटलर व इटली में मुसोलिनी का संशोधनवाद व उपनिवेशों के नवीन बंटवारे की मांग ने यूरोप में तनाव की स्थिति को बहुत अधिक बढ़ा दिया। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री रैंमजे मैंकडोनाल्ड व विदेशमन्त्री जार्ज साइमन ने 18 मार्च 1933 को रोम की यात्रा कर मुसोलिनी से तनाव की स्थिति को कम करने के लिये वार्ता की। यही, मुसोलिनी ने इटली व जर्मनी को फ्रांस व ब्रिटेन के समकक्ष लाने के लिये चार राष्ट्रीय समझौते का सुझाव दिया।

7 जून 1933 को इटली, फ्रांस, जर्मनी व ब्रिटेन ने चार राष्ट्रीय समझौते पर हस्ताक्षर किये। इसकी धारायें निम्न थीं:—(1) हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्र प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय, राजनीतिक व आर्थिक समस्याओं पर पारस्परिक विचार-विमर्श करेंगे, (2) नि.शस्त्रीकरण को सफल बनाने के लिये राष्ट्रसंघ के ढांचे के अंतर्गत प्रयत्न करेंगे, (3) प्रतिश्रव की धारा 19 के संधि संशोधन के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए राष्ट्रसघ में सहयोग करेंगे। (4) इस संधि की अवधि 10 वर्ष होगी।

मूल्यांकन

इस संधि ने इटली को चार बड़ी यूरोपीय शक्तियों में से एक बना दिया। यूरोप में फ्रांस का एक मात्र प्रभुत्व, विशेषकर लघुमैत्री राष्ट्रों के संदर्भ में, समाप्त हो गया। रैंमजे मैंकडोनाल्ड के सधि पर हस्ताक्षर ने, जर्मनी के प्रति वर्सायी संधि में हुई कठोरता को कुछ कम करने का प्रयास किया। किन्तु स्पष्ट है कि यहीं से ब्रिटेन की संतुष्टीकरण नीति का प्रारंभ हुआ।

रोम इस समय तक कूटनीतिक क्रिया कलापों का केन्द्र बन चुका था और इटली, फ्रांस के लघुमैत्री राष्ट्रों के क्षेत्र मे अपने प्रभाव को बढ़ाने का स्वप्न देखने लगा। इसी उद्देश्य से उसने डैन्यूब घाटी स्थित आस्ट्रिया के प्रधानमन्त्री डालफस व हगेरी के प्रधानमन्त्री गैम्बोस को रोम आमन्त्रित किया व मार्च 1934 में उनके साथ एक सधि की। इसकी दो निम्नलिखित धारायें थीं—(1) आर्थिक सम्बन्धों का विस्तार व (2) सभी समान स्वार्थों के विषयों पर समय समय पर बातचीत। इसी प्रकार इटली ने फ्रांस व युगोस्लाविया के साथ पृथक रूप से सधि कर इथोपिया को हड़पने की पृष्ठभूमि बनाई।

वर्ष 1935 कूटनीतिक इतिहास में एक मुख्य तिथि है जिसने अनेक नवीन समझौतों को देखा जिन्होने यूरोपीय शक्ति संतुलन में नवीन परिवर्तन कर दिये। इसी

वर्ष इटली-फ्रांस में मुसोलिनी लावेल समझौता हुआ, ब्रिटेन की संतुष्टीकरण नीति ने ब्रिटेन-जर्मन नौ समझौते को जन्म दिया, रूस ने जर्मनी की शका की दृष्टि से देखते हुए रूसी-फ्रांस समझौता किया व रोम और बर्लिन निकट आये जिन्होने आगे चलकर धुरी राष्ट्रों की स्थापना की। 1935 की इन घटनाओं ने द्वितीय विश्व युद्ध की नींव डाल दी।

युगोस्लाविया के राजा ऐलक्जेंडर 1934 में फ्रांस पधारे। वहाँ एक हंगेरियन द्वारा उनकी हत्या हो गई। इस पर इटली व फ्रांस ने बीच में पड़कर युगोस्लाविया को शांत किया, साथ ही ये राष्ट्र एक दूसरे के निकट भी आ गये। 1 जनवरी 1935 को मुसोलिनी-लावेल समझौता हुआ। इसके अनुसार आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता की इन्होंने गारंटी दी। इटली को फ्रांस से औपनिवेशिक लाभ व इथोपिया के साथ झगड़े में फ्रास की तटस्थता प्राप्त हुई।

फ्रांसीसी-रूसी सन्धि

फ्रांस ने 29 नवम्बर 1932 को सोवियत रूस के साथ अनाक्रमण संधि की। वहाँ उदार साम्राज्यवादी नेता हैरियो ने 11 जनवरी 1934 को रूस के साथ एक वर्षीय व्यापारिक सधि की व उन्ही के प्रयत्नो से सितम्बर 1934 में रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य बना। उधर हिटलर ने 'मैनकैम्पफ' (मेरा संघर्ष) नामक आत्मकथा में जर्मनी के रूसी भूमि में विस्तार का संकेत किया था व वर्साय़ी की सधि की आलोचना की थी, जिससे रूस मन ही मन असंतुष्ट हो गया। रूस को जापान की ओर से खतरा व अपनी उन्नति के लिये शाति वनाये रखने की नितान्त आवश्यकता थी। अतः इन परिस्थितियों के संदर्भ मे 2 मई 1935 को पारस्परिक सहायता सम्बन्धी पंचवर्षीय फ्रैंको-सोवियत समझौता हुआ। इसके अनुसार किसी भी यूरोपीय शक्ति द्वारा दोनों में से किसी पर भी आक्रमण होने की दिशा मे वे एक-दूसरे की सहायता करेंगे। फ्रैंको-सोवियत समझौते का प्रभाव यह हुआ कि फ्रांस को जर्मनी के आक्रमण का भय जाता रहा व रूस को अपनी पश्चिमी सीमायें सुरक्षित जान पड़ी। 21 मई 1935 को हिटलर ने एक भाषण में टिप्पणी की, "फ्रास व रूस मे सैनिक समझौता हो जाने से लोकार्नो समझौता असुरक्षित हो गया है किन्तु वह पहला राष्ट्र नही होगा जो इस समझौते से अलग हो। उसने अनाक्रमण सधि का सुझाव रखा किन्तु पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा इसके स्वीकार न किये जाने पर उसने लोकार्नो का अत कर दिया। उपरोक्त समझौते का यह भी प्रभाव हुआ कि जर्मनी अपने आपको घेरे में समझने लगा और अपनी सुरक्षा के लिये अन्य समझौते प्रारम किये। पश्चिमी विचारकों के अनुसार रूस का फ्रांस के साथ समझौता केवल दिखावा मात्र था और वह अवसरवादी था। उनका कहना है कि इसीलिये उसने 1940 मे समझौते के समाप्त होने के पूर्व ही 1939 मे नाजी-सोवियत समझौता कर लिया। रूसी विद्वानों का कहना है कि पश्चिमी राष्ट्रों ने उसे सदैव संदेह की दृष्टि से देखा, म्युनिख समझौते में उससे कोई राय नहीं ली व चैकोस्लोवाकिया की रक्षा नही की गई और इसीलिये उसने बाध्य होकर जर्मनी से संधि की।

इसी प्रकार 16 मई 1935 को रूस ने चैकोस्लोवाकिया के साथ पारस्परिक सहायता सम्बन्धी संधि की। इस संधि के अनुसार चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण होने की स्थिति में यदि फ्रांस उसकी सहायता करे तो रूस भी ऐसा करेगा।

रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी संधि

1936 में ऐसे राष्ट्रों ने जो कि 1919 की शांति सन्धि से असंतुष्ट थे, अपने उत्तरदायित्वों से मुक्त होने की मांग की। इन संशोधनवादियों ने नई गुटबंदी द्वारा विश्व राजनीति में एक नया मोड़ उपस्थित किया। इसी का परिणाम रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी का जन्म था। 'धुरी' शब्द का पहली बार प्रयोग मुसोलिनी ने मिलान में दिये एक भाषण में 1 नवम्बर 1936 को किया था। उसके अनुसार इस समझौते के द्वारा "एक ऐसे संघ की स्थापना थी जिसमें सहयोगी एवं शांति चाहने वाले राज्य मिलकर काम कर सकते थे।" चार राष्ट्रीय समझौते के बाद 14 जून से 16 जून 1934 को हिटलर वेनिस गया और मुसोलिनी से मिला। इस समय मुसोलिनी ने कहा, "हमारी आत्मायें अत्यंत निकट रही हैं, इन क्षणों में, जो कि हमने साथ मिलकर गुजारे हैं।"
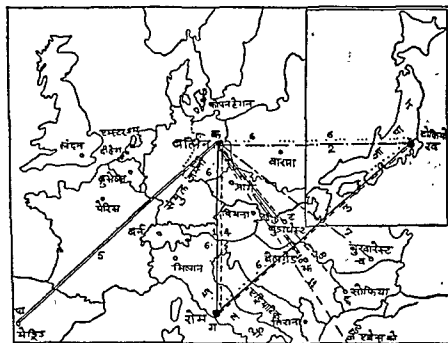
मान चित्र—6

रोम-बर्लिन—टोकियो धुरी

1. रोम-बर्लिन धुरी (25 अक्टूबर, 1936)
2. बर्लिन-टोकियो धुरी (25 नवम्बर, 1936)
3. रोम-टोकियो धुरी (6 नवम्बर, 1937)
4. रोम-बर्लिन इस्पात समझौता (22 मई, 1939)

5. बर्लिन-मैड्रिड संधि	(7 अप्रैल, 1939)
6. रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी	(27 सितम्बर, 1940)
7. बर्लिन-बुखारेस्ट संधि	(23 नवम्बर, 1940)
8. बर्लिन-सोफिया समझौता	(1 मार्च, 1941)
9. बर्लिन-बुडापेस्ट संधि	(20 नवम्बर, 1940)
10. बर्लिन-बैलग्रेड समझौता	(25 मार्च, 1941)
11. बर्लिन-एथेन्स संधि	(27 अप्रैल, 1941)

कारण

(1) 1936 में जर्मनी, इटली व जापान का पृथक पड़ जाना :—1936 में जर्मनी, इटली व जापान का पृथक पड़ जाना, धुरी संधि के जन्म का एक प्रमुख कारण था। 1933 में मचूरिया पर आक्रमण के कारण भर्त्सना किये जाने पर जापान ने संघ को छोड़ दिया। हिटलर की अध्यक्षता में नाजी जर्मनी ने भी यूरोप में अपने को अकेला पाया। 1934 में जर्मनी के आस्ट्रिया में प्रत्यक्ष विद्रोह का इटली ने विरोध किया। 1935 के फ्रैंको-रूसी समझौते ने भी उसे यूरोप से अलग कर दिया। इटली के इथोपिया पर आक्रमण की दिशा में उस पर संघ के दण्डादेश जारी किये गये जिनमें ब्रिटेन ने उनका तिरस्कार करने में प्रमुख भाग लिया। इन शक्तियों की भौमिक महत्वाकांक्षाओं, वर्साय संधि की निंदा व शस्त्रीकरण की नीति ने उन्हें अन्य यूरोपीय शक्तियों से अलग और उन्हें स्वय की विजय के मार्ग में आगे बढ़ने के लिये, परस्पर निकट ला दिया। बेनिस का कहना है, "यह अवश्यंभावी था, कि ये असंतुष्ट राष्ट्र जो कि 1931-36 के मध्य अपनी आक्रामक कार्यवाहियों से विश्व शांति को भंग कर रहे थे, और 1936 तक अपनी नीतियों के कारण बिलकुल पृथक पड़ गये थे, पारस्परिक सहयोग के लिये निकट आते।"

(2) रोम व बर्लिन में सहयोग :—सैद्धांतिक रूप से इटली में फासिज्म की सफलता का नाजीवाद पर भारी प्रभाव पड़ा। दोनों ही अधिनायकों ने एक दूसरे की प्रशंसा की, विशेषकर तब जबकि अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने उन्हें एक दूसरे के निकट आने के लिये बाध्य किया। इटली ने जर्मनी के प्रति आभार प्रदर्शन किया कि उसने उस पर संघ के दण्डादेश लागू किये जाने में ब्रिटेन व फ्रांस का साथ नहीं दिया। गैथोर्न हार्डी के शब्दों में "यह जर्मनी के पृथकवाद के लिये स्वर्णिम अवसर था;—क्योंकि इटली हारता अथवा जीतता पेरिस व लंदन से उसका दूर हो जाना निश्चित था।" जून 1936 के मान्ट्रयु समझौते के अनुसार लौसेन की संधि का संशोधन हुआ जिसका परिणाम तुर्की के जलडमरू मध्य का उसके (तुर्की के) द्वारा सैनिकीकरण था। इटली व जर्मनी दोनों ने ही इसका तीव्र विरोध किया जिससे कि मुसोलिनी की विस्तारवादी नीति में बाधा पड़ती थी। 11 जुलाई 1936 के आस्ट्रिया-जर्मन समझौते, जिसके द्वारा कि आस्ट्रिया की प्रभुता को मान्यता दी गई थी, ने दोनों राष्ट्रों को और निकट ला दिया।

(3) स्पेन के युद्ध में संयुक्त हस्तक्षेप :—स्पेन के गृहयुद्ध में इटली व जर्मनी की सामान्य नीति ने रोम-बर्लिन धुरी की महत्वपूर्ण नींव डाली क्योंकि इसके आधार पर दोनों राष्ट्रों में अधिकाधिक सहयोग हुआ। हिटलर की नीति चतुराई से पूर्ण, नपी तुली व दूरदर्शी थी। हिटलर के पकड़े गये परिपत्रों से सिद्ध होता है कि वह स्पेनिश गृहयुद्ध की अवधि को बढ़ाने में रूचि रखता था ताकि पश्चिमी राष्ट्र व इटली दूर-दूर रहें और इटली उसके सन्निकट आये। हिटलर ने इन शब्दों में अपने विचार विदेश-मंत्री को प्रकट किये, "जर्मन दृष्टिकोण से विजय शत-प्रतिशत लाभकारी नहीं है। हम लोग युद्ध को जारी रखने व भूमध्यसागर में तनाव बनाये रखने के इच्छुक हैं।" रोम में जर्मनी के राजदूत हैसेल्स ने लिखा, "स्पेन में राजनीतिक प्रभुत्व के लिये संघर्ष ने इटली व फ्रांस में स्वाभाविक मतभेद को जन्म दिया है और पश्चिमी भूमध्य सागर में इटली की स्थिति ने उसे ब्रिटेन के साथ संघर्ष में ला खड़ा किया है। इन सबसे इटली को यह और अधिक स्पष्ट हो जायेगा कि पश्चिमी राष्ट्रों से मुकाबले के लिये उसका जर्मनी से सहयोग ही उपयुक्त है।"

(4) साम्यवाद विरोधी नीति :—भौमिक विस्तारवाद के उद्देश्य में फ्रांस व रूस को संतुलित करने के लिये जर्मनी को एक शक्तिशाली मित्र की आवश्यकता थी। सैद्धांतिक रूप से नाजीवाद व फासिज्म, साम्यवाद के विस्तार के विरूद्ध थे। जापान व जर्मनी ने एक ऐसी विश्व क्रांति की कल्पना की जिसके द्वारा उनकी श्रेष्ठ नस्ल का सर्व संसार में प्रभुत्व हो जाये। मंचुकों की सीमाओं पर रूसी आक्रमण से असंतुष्ट जापान की नियत साइबेरिया पर थी। जापान, जर्मनी से संधि करने को तैयार था बशर्ते की रूस पर पूर्व व पश्चिम दोनों ओर से, एक ही साथ आक्रमण हो। हिटलर ने कॉमिन्टर्न के प्रति सामान्य अविश्वास व साम्यवाद विरोधी भावना का पूरा लाभ उठाया।

(5) जर्मन कूटनीति :—जर्मन कूटनीति का एक उद्देश्य, इटली पर दबाव डालना था। अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में हिटलर ने हीनता की भावना वाले एक निरंकुश शासक के अहं से खिलवाड़ किया। उसने 23 सितम्बर 1936 को अपने न्याय-मंत्री हेन्स फ्रैंक के द्वारा इटली को संदेश भेजा, "जर्मनी भूमध्यसागर को केवल इटालियन समुद्र मानता है।" उसने मुसोलिनी के दामाद और विदेश-मंत्री सियानो से कहा, "मुसोलिनी एक ऐसा महान् राजनीतिज्ञ है जिसके साथ तुलना की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता।" दोनों मिलकर, वे न केवल साम्यवाद, वरन् पश्चिम की भी विजय कर सकते हैं। 25 सितम्बर 1937 को जब मुसोलिनी बर्लिन पहुंचा, हिटलर ने उससे कहा, "वह युग के उन अकेले व्यक्तियों में है जिन पर इतिहास नहीं प्रयोग करता वरन् वह इतिहास बनाते हैं।" हिटलर ने इथोपिया, स्पेन व भूमध्यसागर में इटली की महत्वाकांक्षाओं का शोषण कर उसे अपनी ओर मिला लिया।

जर्मन विरोधी कार्यवाहियाँ

7 मार्च 1936 को राइन प्रदेश में पुर्नसैनिकीकरण ने ब्रिटेन को फ्रांस के सन्निकट ला दिया। अप्रैल में बेल्जियम, फ्रांस व ब्रिटेन के सेनापतियों ने जर्मनी के संभावित आक्रमण के विरूद्ध रक्षात्मक उपायों पर विचार किया। लघुमैत्री के सदस्य राष्ट्रों ने मध्य यूरोप में आस्ट्रिया व जर्मनी के संघ बनने की दिशा में संयुक्त सैनिक मोर्चे की कार्य प्रणाली पर विचार किया। जुलाई में रूमानिया ने चैकोस्लोवाकीया ऋण से एक सैनिक रेल्वे लाइन बनाना मंजूर किया ताकि रूसी सैनिक जा सकें। उसी वर्ष फ्रांस और पोलैण्ड के सेनापतियों द्वारा एक दूसरे के देश में सद्भावना यात्रा ने जर्मनी के शस्त्रीकरण के विरूद्ध फ्रांस-पोलैण्ड के समझौतों को और अधिक दृढ़ किया। इन विभिन्न प्रकार के जर्मन विरोधी गठबंधों ने जर्मनी को अपने ही विचारों वाले राष्ट्रों का एक गुट बनाने के लिये प्रेरित किया।

रोम-बर्लिन धुरी (1936)

काउन्ट सियानो ने बर्लिन में एक समझौते पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार उन्होने दोनों देशों की विदेश नीतियों में सहयोग करना निश्चित किया। इस रोम-बर्लिन धुरी समझौते की विधिवत् घोषणा तब हुई जबकि इस पर 25 अक्टूबर 1936 को दोनों राष्ट्रों ने हस्ताक्षर किये। इसके अनुसार (1) दोनों राज्यों ने समानान्तर हितों के विषयों पर सहयोग करना, (2)स्पेन की भौमिक व औपनिवेशिक अखंडता की सुरक्षा, (3)यूरोपीय सभ्यता की साम्यवाद से सुरक्षा,(4) डैन्यूब क्षेत्र में आर्थिक सहयोग व (5) जर्मनी ने इटली के इथोपिया साम्राज्य को मान्यता व उसमें जर्मनी को विशेष आर्थिक रियायतें देना, निश्चित हुआ।

इस समझौते को पुन: दिसम्बर 1936 के इटली-जर्मन व्यापारिक समझौते द्वारा दृढ़ किया गया। इसके द्वारा जर्मनी को इटली के उपनिवेशों में भी आर्थिक रियायतें प्राप्त हुईं। इसने जल व रेल मार्ग को भी इस प्रकार विभाजित किया कि जर्मनी व इटली के बन्दरगाहों, क्रमश: हैम्बर्ग व ट्रीस्ट, को ही लाभ हो।

बर्लिन-टोकियो धुरी (नवम्बर 1936)

जर्मन विदेश-मंत्री रिबनट्रोप व बर्लिन में जापान के राजदूत मुशाकोजी ने 25 नवम्बर 1936 को एक साम्यवाद विरोधी समझौते पर हस्ताक्षर किये। दोनों इस बात पर सहमत हो गये कि, "कॉमिन्टर्न का ध्येय स्थित राज्यों का पतन व विश्व शांति को भंग करना है।" इसकी धारायें निम्नलिखित थीं: (1) 'अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद' के विरुद्ध कदम उठाने के लिये पारस्परिक विचार विमर्श; (2) किसी ऐसे तृतीय पक्ष के साथ सहयोग करने के लिये उसे आमंत्रित करना जिसकी कि घरेलू शांति को कॉमिन्टर्न ने भंग कर दिया हो; (3) यह तुरंत लागू हो जायेगा और इसकी अवधि 5 वर्ष होगी। एक गुप्त अभिधारा द्वारा यह भी निश्चित हुआ कि समान स्वार्थों की दृष्टि में रखते हुये दोनों 'अत्यंत संलग्न रूप से' अंतर्राष्ट्रीय

साम्यवाद से सुरक्षा के लिये कार्य करेंगे और इस उद्देश्य से एक 'स्थायी आयोग' बनायेंगे। दोनों ने बिना एक दूसरे के परामर्श के रूस से कोई राजनीतिक समझौता न करना भी निश्चित किया।

रोम-टोकियो धुरी (नवम्बर 1937)

रोम-बर्लिन धुरी को पारस्परिक विचार-विमर्श और सद्भावनाओं द्वारा और दृढ़ किया गया। 25 सितम्बर 1937 को जब मुसोलिनी बर्लिन पहुँचा, हिटलर ने विश्व के सम्मुख 11 करोड़ 50 लाख लोगों के एक द्विराष्ट्रीय ठोस गुट की घोषणा की। नभ-मंत्री गोरिंग (जनवरी) भूतपूर्व विदेश-मंत्री न्युरथ (मई) युद्ध-मंत्री ब्लोमबर्ग (जून) व विशेष दूत रिबिनट्रोप (अक्टूबर) ने रोम यात्रा की। इन सबका परिणाम यह हुआ कि इटली 6 नवम्बर 1937 को कॉमिन्टर्न विरोधी समझौते का सदस्य बन गया। उसी दिन रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी का भी प्रादुर्भाव हुआ। उक्त अवसर पर मुसोलिनी ने घोषणा की, "आज न केवल विचारों का, वरन् सामूहिक कार्यवाही का सामंजस्य हुआ है।"

इस्पात समझौता (1940)

धुरी राष्ट्र धीरे-धीरे अधिकाधिक एक दूसरे के निकट आते गये। 1937 में जापान ने चीन पर अघोषित आक्रमण किया। 1938 में जर्मनी ने आस्ट्रिया को हड़प लिया व म्युनिख समझौते में, जिसमें जर्मनी को चैकोस्लोवाकिया का एक भाग मिला, इटली ने महत्वपूर्ण भाग लिया और 1939 में जर्मनी ने मेमेल पर व इटली ने अल्बानिया पर अधिकार कर लिया। इसी पृष्ठभूमि में 22 मई 1939 को इटली व जर्मनी ने अपनी मैत्री को अधिक दृढ़ करने के लिये इस्पात समझौते पर हस्ताक्षर किये। इसकी धाराओं के अनुसार : (1) जर्मनी व इटली सहयोगपूर्वक और सम्मिलित शक्ति द्वारा नये निवास स्थान खोजने व शांति बनाये रखने के लिये कार्य करेंगे, (2) यदि उनके हितों पर किसी भी प्रकार की अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं द्वारा आँच आयेगी तो वे तुरंत उचित कार्यवाही के लिये विचार विमर्श करेंगे। यदि किसी एक की सुरक्षा व हित को खतरा होगा तो दूसरा उसे पूरा राजनीतिक व कूटनीतिक सहयोग देगा, (3) यदि कोई दोनों में से एक किसी दूसरे राष्ट्र अथवा राष्ट्रों से युद्ध रत होगा तो दूसरा मित्रवत अपनी जल-थल-नभ सेना सहित उसकी ओर से लड़ेगा, (4) यदि दोनों के विरूद्ध संघर्ष होगा तो दोनों पूर्ण सहमति व शांति के साथ एक दूसरे का सहयोग करेंगे। हिटलर ने इटली की दीर्घकालीन माँग को स्वीकार करते हुए जर्मन नागरिकों को इटली के दक्षिणी टाइरोल से वापिस बुलाना स्वीकृत किया और इस समझौते के अंतर्गत एक सैनिक आयोग की भी स्थापना की गई।

त्रिराष्ट्रीय समझौता (27 सितम्बर, 1940)

फ्रांस के पतन के पश्चात् द्वितीय युद्धकाल मे, धुरी शक्तियों ने 27 सितम्बर 1940 को एक त्रिराष्ट्रीय समझौते पर बर्लिन में हस्ताक्षर किये। जर्मनी, इटली व

जापान ने कहा, "शांति बने रहने की पूर्व शर्त यह है कि विश्व में प्रत्येक राष्ट्र को उतनी भूमि प्राप्त करने का अधिकार है जितने का वह हकदार है।" इसीलिये उन्होंने अपनी समृद्धि बढ़ाने के लिये पूर्वी संसार में 'विशाल पूर्वी एशिया' व यूरोप में 'एक नई व्यवस्था' बनाने के लिये पारस्परिक सहयोग और कार्यवाही का निश्चय किया। इस समझौते के अनुसार : (1) जापान ने यूरोप में नई व्यवस्था के लिये इटली और जर्मनी के प्रयत्नों को मान्यता दी, (2) जर्मनी व इटली ने जापान को 'विशाल पूर्वी एशिया' की नई व्यवस्था का नेता माना और (3) यह तय किया कि यदि कोई ऐसा राष्ट्र जो वर्तमान में यूरोपीय युद्ध में अथवा चीन-जापान युद्ध में लिप्त नहीं है और तीनों में से किसी पर आक्रमण करेगा···तो तीनों मिलकर एक दूसरे की राजनीतिक, आर्थिक व सैनिक सहायता करेंगे। कुछ दिन बाद ही हंगेरी, रूमानिया, चैकोस्लोवाकिया व युगोस्लाविया भी इस समझौते में सम्मिलित हो गये।

मूल्यांकन

धुरी, एक दलीय शासनतंत्र व प्रजातान्त्रिक जीवन प्रणाली के लिये एक चुनौती थी। मुसोलिनी ने कहा, "इन दो प्रणालियों के संघर्ष में किसी समझौते की गुंजाइश नहीं है, या तो हम ही रहेंगे या वे।" जैसा कि चर्चिल ने इंगित किया, इसने यूरोप को फिर से दो सैनिक शिविरों में बांट दिया, "अब युद्ध को टालने की तनिक भी आशा नहीं रह गई थी। यह केवल संयोग की बात है कि धुरी सहयोग के समय ही ब्रिटिश संतुष्टीकरण नीति चालू हुई।" इसके तात्कालिक परिणाम महत्वपूर्ण थे :—(1) इसने चैकोस्लोवाकिया के दुर्भाग्य को ला दिया, (2) जापान पर चीन के आक्रमण को प्रेरित किया, (3) इटली ने नवम्बर 1937 में व जर्मनी ने मई 1938 में मचुको को मान्यता दी, (4) 11 दिसम्बर, 1937 को इटली ने राष्ट्रसंघ का परित्याग कर दिया, (5) 1938 में जर्मनी ने चीन से अपने सैनिक सलाहकारों को वापिस बुला लिया, जो जापान के लिये लाभप्रद रहा, (6) स्पेन 7 अप्रैल, 1939 को धुरी राष्ट्रों के साथ शामिल हो गया और (7) इटली ने अल्बानिया और जर्मनी ने मेमल पर अधिकार कर डार्नजिग पर आक्रमण किया। लैंगसम का कहना ठीक ही है, "धुरी राष्ट्रों ने अपने उत्पाती स्वभाव से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में लाभ उठाया।"

किन्तु तीन सदस्यों में सहयोगी की अपेक्षा विभाजक तत्व अधिक थे। 13 अप्रैल 1941 को, जब कि जर्मनी रूस से युद्ध रत था, टोकियो ने बिना बर्लिन से परामर्श किये मास्को से तटस्थता समझौता कर लिया। इटली ने बिना सलाह किये फ्रांस के विरुद्ध युद्ध घोषणा व यूनान पर आक्रमण किया। रोम और बर्लिन के मध्य सैनिक सहयोग, झगड़े का कारण बन गया और मुसोलिनी हिटलर के लिये एक भार सिद्ध हुआ। अंत में 'धुरी' एक 'घातक' शब्द सिद्ध हुआ, जिसने तीनों राष्ट्रों का पतन कर दिया व जर्मनी के दो टुकड़े कर दिये, जो अब स्थायी ही प्रतीत होते हैं।

तटस्थ गुट

रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी का एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव छोटे राष्ट्रों द्वारा

तटस्थता, निष्पक्षता, अनाक्रमण व सहयोग के आधार पर नये समझौतों का प्रादुर्भाव था। जुलाई 1937 में अफगानिस्तान, तुर्की, ईराक व ईरान ने (1) अनाक्रमण व (2) पारस्परिक सहयोग और सहायता के आधार पर एक संधि की। 27 मई 1938 को नार्वे, स्वीडन, फिनलैण्ड व डेनमार्क ने (1) पारस्परिक सुरक्षा और सहायता व (2) तटस्थता के आधार पर एक समझौता किया। इसी प्रकार 22 जून 1938 को अपनी सुरक्षा को दृढ़ करने व तटस्थता के लिये बाल्टिक तट के राष्ट्रों, लैटविया, लिथुआनिया व एस्थोनिया ने एक संधि की।

नाजी-सोवियत समझौता

दो विश्व युद्धों के मध्य के इतिहास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना 23 अगस्त 1939 का नाजी-सोवियत समझौता था जिसने समस्त विश्व को चकित कर दिया। इस समझौते की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत हैं: विलियम शिरर के अनुसार इस समझौते का सुझाव पहली बार रूसी विदेश-मन्त्री मोलोटोव ने 15 अगस्त 1939 को दिया। टायनबी के मत में इस समझौते की नींव अक्टूबर 1938 के उप-समझौते में थी जिसके द्वारा म्युनिख समझौते के बाद रूस व जर्मनी ने एक दूसरे के विरुद्ध प्रचार पर प्रतिबंध लगाया। उनके अनुसार यहीं से दोनों में सामंजस्य की भावना प्रारंभ हुई। रूसी इतिहासकार निकोनोफ के मतानुसार 10 मार्च 1939 को रूस की नीति में एक निश्चित परिवर्तन हुआ। उसने पश्चिमी राष्ट्रों पर निर्भरता व विश्वास छोड़ दिया। रूस में अमेरिका के भूतपूर्व राजदूत जोसेफ डेविस ने ब्रुसेल्स में अपनी डायरी में 11 मार्च को लिखा, "हिटलर, स्टालिन को, फ्रांस व इटली से दूर ले जाने का प्रयत्न कर रहा है और किसी रोक के अभाव में वह अपने उद्देश्य में सफल हो जायेगा।"

कारण

(1) **सोवियत रूस का अलग पड़ जाना**:—कॉमिन्टर्न विरोधी समझौते (1936), आस्ट्रिया को साम्राज्य में मिला लेने (मार्च 1938) व म्युनिख समझौते (1938) के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में रूस बिलकुल अकेला पड़ गया। फ्रांस ने रूस को म्युनिख सम्मेलन में न बुलाकर और जर्मनी के विरुद्ध चैकोस्लोवाकिया की सहायता न करके, 1935 के रूसी-फ्रांसिसी समझौते का अन्त कर दिया था। जापान ने भी उसे मंगोलिया व मंचूरिया के सीमा-झगड़ों द्वारा पृथक कर दिया था। चैकोस्लोवाकिया के अन्तिम विभाजन व मार्च 1939 में मेमेल पर अधिकार ने, जर्मन सीमाओं को पूर्व में बढ़ा दिया और जर्मनी के सशस्त्र सैनिकों को रूस के सम्मुख ला खड़ा किया। इसीलिये मास्को स्वयं अपनी सुरक्षा के लिये एक सहयोगी की खोज में था।

(2) **स्टालिन की विदेश नीति में परिवर्तन**:—रूसी विदेश नीति के क्षेत्र में, 1939 की पहली महत्वपूर्ण घटना, साम्यवादी दल के अठाहरवें सम्मेलन के सम्मुख

10 मार्च का स्टालिन का भाषण था। उसने कहा, "अनाक्रामक राष्ट्रों, विशेषतः इंग्लैण्ड और फ्रांस, ने सामूहिक सुरक्षा प्रणाली—आक्रमणकारी का सामूहिक विरोध की नीति का त्याग कर दिया है और उन्होंने तटस्थता का तरीका अपना लिया है।" अहस्तक्षेप की इस नीति का कारण रूस के विरुद्ध जर्मनी को लड़ने के लिये प्रोत्साहित करना, एक-दूसरे को कमजोर करना व थका देना और कमजोर पक्षों को मनचाही शर्तें मानने के लिये बाध्य करना है।

3 मई को लिटविनोफ के स्थान पर मोलोटोव को विदेश-मंत्री बनाया गया। आंग्ल-फ्रांसीसी संधि मसविदे में आदान-प्रदान के सामान्य सिद्धांत के अभाव के कारण मोलोटोव ने 31 मई को इंग्लैंड और फ्रांस के साथ उस वार्तालाप को समाप्त कर दिया, जो 14 अप्रैल को प्रारम्भ हुआ था। उसने पश्चिम के साथ किसी भी संधि के लिये निम्न तीन अनिवार्य शर्तें रखी :(1) पारस्परिक सहायता के लिये एक सुरक्षा सम्बन्धी समझौता; (2) रूस की सीमा पर स्थित सभी राज्यों की सुरक्षा गारण्टी और (3) एक सैनिक समझौते पर हस्ताक्षर। मास्को ने जर्मनी के साथ भी वाणिज्य वार्ता प्रारम्भ कर दी।

· (3) **आंग्ल-फ्रांसीसी-रूसी वार्ता की असफलता** :—रूमानिया, यूनान व पोलैण्ड की आंग्ल-फ्रांसीसी गारंटी दिये जाने के पश्चात्, फ्रांस व ब्रिटेन के विदेश मन्त्रियों ने रूस को सम्भावित जर्मन आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा के लिये, 'पारस्परिक सहायता' का प्रस्ताव दिया। लन्दन व मास्को में 14 अप्रैल को वार्ता प्रारम्भ हुई। ब्रिटेन ने रूस द्वारा रूमानिया की एकपक्षीय सहायता देने की, घोषणा करने के लिये कहा। फ्रांस ने द्विराष्ट्रीय और रूस ने किसी भी यूरोपीय राष्ट्र (पूर्व यूरोपीय राष्ट्रों को मिलाकर) पर आक्रमण के विरुद्ध पारस्परिक सहायता के त्रिराष्ट्रीय, पाँच साला समझौते का सुझाव दिया। बाल्टिक राज्य, पोलैण्ड व रूमानिया किसी भी प्रकार की रूसी सहायता के विरुद्ध थे। 25 मई के समझौते के प्रारूप में, ब्रिटेन ने राष्ट्रसंघ की सोलहवी धारा के सिद्धांतों की ओर इंगित कर, पारस्परिक सहायता के तरीकों को प्रभावशाली बनाने के लिये वार्ता करने को कहा। रूस ने राष्ट्रसंघ की विलम्बकारी प्रणाली व बाल्टिक राज्यो को किसी प्रकार की सुरक्षा के अभाव का विरोध किया। इस प्रकार 31 मई को वार्ता का प्रथम चरण समाप्त हो गया।

वार्ता का द्वितीय चरण 1 जून को प्रारम्भ हुआ जो 4 अगस्त तक चलता रहा। ब्रिटेन ने विदेश मन्त्रालय के विलियम स्ट्रेंग को मास्को भेजा। 'अप्रत्यक्ष आक्रमण' की परिभाषा; फिनलैण्ड, लैटविया और एस्थोनिया को सुरक्षा गारंटी (जो कि रूसी गारंटी के विरुद्ध थे), एक सैनिक धारा जिसमें निश्चित सैनिक सहायता का उल्लेख हो, समस्याओं को लेकर मतभेद उत्पन्न हो गया। अंत में यह समझौता हुआ कि अंतिम निर्णयों पर पहुंचने के लिये राजनीतिक आधार पर सैनिक वार्ता हो।

तीसरा चरण मास्को में 12 अगस्त को प्रारंभ हुआ और 25 अगस्त तक

चलता रहा। ब्रिटेन के प्रतिनिधि मण्डल के नेता नौसेनाध्यक्ष ड्राक्स और फ्रांस के जनरल डुमेनेक व रूस के मार्शल वोरोशिलो थे। रूस ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह केवल इस शर्त पर सहायता दे सकता है कि पोलैण्ड और रूमानिया अपने भूक्षेत्र से रूसी सेना को जाने दे; जिसके लिये वे देश राजी नहीं हुए और परिणाम 'गतिरोध' हो गया। रूस की अन्य शर्तें उस पर आक्रमण की दिशा में ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा, रूस की कुल सेना के 70% द्वारा सहायता थी। लाल सेना में 120 डिवीजन तैयार थे जबकि ब्रिटेन के पास केवल 61 थे। फ्रांस, 22 अगस्त तक रूसी प्रस्तावों को स्वीकार करने के लिये राजी हो गया। रिबिनट्रोंप की मास्को यात्रा के विषय में सुन ब्रिटिश सरकार ने रूस को 'अविश्वसनीय' कह कर आरोपित किया। उधर मोलोटोव ने पश्चिमी राष्ट्रों को 'कपटी' कहा। सायं 7 बजे आंग्ल-फ्रांसीसी प्रतिनिधि मण्डलों को सूचित कर दिया गया कि "वार्ता बहुत लम्बी खिंच चुकी है" और "उन्होंने जर्मन प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया है।" नाजी-सोवियत अनाक्रमण संधि के दो दिन पश्चात्, 25 अगस्त को वोरोशिलो ने आंग्ल-फ्रांसीसी प्रतिनिधि मण्डलों से कहा' "परिवर्तित राजनीतिक स्थिति में अब वार्ता करने से कोई लाभ नहीं है।"

जर्मन आक्रमण के विरुद्ध बाल्टिक राज्यों, पोलैण्ड व रूमानिया को सुरक्षा गारंटी की ब्रिटेन व फ्रांस की अनिच्छा ने वार्ता को असफल बना दिया। पोलैण्ड के रूस के साथ किसी सैनिक समझौते के विरोध और जर्मन आक्रमण की दिशा में रूस को दी जाने वाली सैनिक सहायता के निर्धारण में असफलता ने गतिरोध ला दिया। रूस में आये प्रतिनिधि द्वितीय श्रेणी के व्यक्ति थे (जैसे ब्रिटेन के स्ट्रैंग)। मोलोटोव ने कहा, "उन्हें बिना राष्ट्रीय सरकारों की आज्ञा के कोई समझौता करने का अधिकार नहीं था।" इस प्रकार, रूसी कूटनीति में एक क्रांति आ गई।

स्टालिन के इस नये कदम उठाने के निम्न कारण थे; (1) उसे ब्रिटेन व फ्रांस से कोई ठोस सहायता न मिल सकी; (2) जर्मनी को पश्चिमी राष्ट्रों से एक लम्बी व खर्चीली लड़ाई में उलझा देना व अपनी सैनिक तैयारी के लिये समय चाहना। (3) पश्चिमी राष्ट्रों को एक महायुद्ध में अपनी समस्त शक्ति नष्ट कर लेने देना ताकि उनके पतन के पश्चात् यूरोप में वह सर्वाधिक प्रभावशाली राष्ट्र बन जाये।

(4) जर्मनी की नई नीति :—हिटलर पड़ोसी राष्ट्रों की उस भूमि को हस्तगत करने के लिये कटिबद्ध था जिनमें जर्मन लोग रहते थे। उसने चैकोस्लोवाकिया और मेमेल पर अधिकार कर लिया और अब डानजिग व पोलिश गलियारे की ओर दृष्टि की। 31 मार्च 1939 को ब्रिटेन व फ्रांस ने पोलैण्ड पर जर्मन आक्रमण की दिशा में उसे सहायता का वचन दिया। 5 अप्रैल को ब्रिटेन ने पारस्परिक गारंटी संधि पर हस्ताक्षर किये। इससे उत्तेजित हो जर्मनी ने 28 अप्रैल को, पोलैण्ड के साथ किये 1934 के अनाक्रमण समझौते व ब्रिटेन के साथ किये 1935 के नौ-समझौते का अन्त कर दिया। 13 अप्रैल को ब्रिटेन व फ्रांस ने अपनी सहायता को यूनान व रूमानिया तक विस्तृत कर दिया।

आंग्ल-फ्रांसीसी-रूसी वार्ता अप्रैल में आरम्भ हुई थी। हिटलर दो मोर्चों पर एक साथ लड़ने का अनिच्छुक था—पश्चिम में फ्रांस और पूर्व में रूस के विरुद्ध। वह यह भली भांति जानता था कि रूसी तटस्थता के बिना पोलैण्ड पर आक्रमण का अर्थ होगा, विश्व-युद्ध।

दिसम्बर 1938 में जर्मनी ने प्रेस द्वारा रूस विरोधी प्रचार पर रोक लगाई और रूसी-जर्मन व्यापार को 1939 व 1940 में 10 करोड़ मार्क तक बढ़ाने की वार्ता की। नये रूसी राजदूत मेरेकालोव का हिटलर ने मैत्रीपूर्ण स्वागत किया। नये विदेश-मन्त्री मोलोटोव की नियुक्ति के पश्चात्, बर्लिन स्थित रूसी राजदूत (एस्टारवोव) ने आश्वासन दिया, "रूसी-जर्मन विदेश नीति में कोई संघर्ष नहीं है और इसलिये किसी शत्रुभाव की आवश्यकता नही है।" आंग्ल-फ्रांसीसी वार्ता के प्रथम चरण के बाद ही 8 जून से 12 अगस्त तक की रूसी-जर्मन वार्ता प्रारम्भ हुई।

इस समय रूस, पोलैण्ड की समस्या का समाधान करने व जर्मनी से राजनीतिक संधि करने के लिये अत्यंत उत्सुक था। 12 अगस्त को हिटलर ने निर्णय किया कि रिबिनट्रोप मास्को जाकर दोनो देशों के मध्य प्रश्नों पर विचार करें और एक संधि करें। दूसरा चरण 19 अगस्त को आरंभ हुआ। उसी दिन दोनों देशों के बीच आर्थिक समझौता हुआ और अनाक्रमण संधि का प्रारूप हिटलर को भेजा गया। 23 अगस्त को रिबिनट्रोप मास्को आये और मोलोटोव के साथ अनाक्रमण संधि पर हस्ताक्षर किये। रिबिनट्रोप ने यह स्पष्टीकरण दिया कि 1936 की साम्यवाद विरोधी संधि रूस के विरुद्ध न होकर पश्चिमी लोकतंत्र के विरुद्ध थी। मुस्कराते हुए स्टालिन ने कहा कि, "उस संधि से केवल अंग्रेज दुकानदार ही भयभीत हुए होगे। (क्योंकि रूस-जर्मन संघर्ष की स्थिति में ब्रिटिश-रूसी व्यापार समाप्त होने की सम्भावना थी)।

मास्को आर्थिक समझौता

असाधारण कठिनाइयों पर विजय कर, 19 अगस्त को स्कूलेन बर्ग, "आर्थिक समझौते" पर हस्ताक्षर करने में सफल हुआ। इसके मुख्य बिन्दु निम्न थे ;—(1) जर्मनी ने रूस के लिये 20 करोड़ मार्क का ऋण स्वीकृत किया; (2) इस ऋण को जर्मन मशीनों व औद्योगिक सामग्री के क्रय के लिये काम में लाया जाना था और (3) जर्मन ऋण के बदले मे रूस को 18 करोड़ मार्क का कच्चा माल 2 वर्ष की अवधि में देना था। कच्चे माल में लकड़ी, रूई, चारा, फासफेट, प्लेटीनम, पैट्रोलियम आदि सम्मिलित थे। रूस-जर्मन संबंधों में परिवर्तन का यह पृथक निर्णायक कदम था।

नाज़ी-सोवियत समझौता

23 अगस्त 1939 को जर्मनी तथा रूस के मध्य दसवर्षीय मध्यस्थता एवं अनाक्रमण समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इस ऐतिहासिक संधि की धारायें निम्नलिखित

थीं—(1) एक पक्ष अन्य पक्ष के विरुद्ध अकेले अथवा अन्य किसी शक्ति के साथ मिलकर आक्रमण न करने अथवा आक्रमणों में भाग न लेने का वचन देगा। (2) यदि समझौता करने वाले दलों में से किसी एक पर कोई तीसरी शक्ति आक्रमण कर देती है तो दूसरा किसी भी प्रकार से तीसरी शक्ति को सहायता नहीं देगा। (3) भविष्य में समझौता करने वाली दोनों दलो की सरकारें सामान्य हितों से सम्बन्धित प्रश्नों के विषय में एक दूसरे को सूचना देने की दृष्टि से आपस में सलाह करती रहेंगी। (4) दोनों दलों में से कोई भी शक्ति के ऐसे समुदाय में सम्मिलित नहीं होगा, जो हाल में अथवा देर में दूसरे के विरुद्ध हो। (5) यदि समझौता करने वाले दोनों दलों के मध्य, किसी भी प्रकार का लड़ाई-झगड़ा उठ खड़ा होगा, तो दोनों हिस्सेदार उसको आपसी मत परिवर्तन के द्वारा आवश्यक हो तो पंचायती कमीशन के द्वारा तय कर लेंगे। (6) वर्तमान समझौता 20 वर्ष के लिये किया जाता है, इस शर्त के साथ कि यदि दोनों दलों में से एक भी उसकी मियाद समाप्त होने के एक वर्ष पूर्व उसे भंग न कर देगा तो वह अगले 5 वर्ष के लिये और बढ़ जायेगा। (7) वर्तमान समझौते को कम से कम समय मे पक्का कर दिया जायगा। स्वीकृति के दस्तावेजों की अदला बदली बर्लिन में की जायेगी। हस्ताक्षर होने पर संधि फौरन लागू हो जायेगी।

गुप्त समझौता

उपर्युक्त समझौते के साथ ही दोनों राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने पूर्वी यूरोप को प्रभाव क्षेत्रों में बांटने के सम्बन्ध में विचार विमर्श करके निम्न निर्णय लिए: (1) बाल्टिक-राज्यों (फिनलैंड, एस्थोनिया, लेटविया, लिथुआनिया) के क्षेत्रों की प्रादेशिक एवं राजनीतिक पुर्नव्यवस्था होने पर लिथुआनिया की उत्तरी सीमा, जर्मनी तथा सोवियत रूस के प्रभाव क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करेगी। इस सम्बन्ध में विलना क्षेत्र में लिथुआनिया के हित को प्रत्येक दल स्वीकार करता है। (2) पोलिश राज्यों की प्रादेशिक एवं राजनीतिक पुनर्व्यवस्था होने पर जर्मनी तथा सोवियत रूस के क्षेत्र की सीमा लगभग नरी, विस्टुला तथा सैन नदियों से निर्धारित हुई मानी जायेगी।

इस प्रश्न के विषय में आगे के राजनीतिक विकासों के अनुसार निश्चय किया जा सकता है कि एक स्वतन्त्र पोलिश राज्य को रखना दोनों दलों के हित में है अथवा नहीं, तथा इस प्रकार के राज्य की सीमा किस प्रकार की होगी। किसी भी स्थिति में दोनों सरकारें मित्रतापूर्ण समझौते के द्वारा इस प्रश्न को तय कर लेंगी।

(3) दक्षिण-पूर्व यूरोप के सम्बन्ध में, बैसारेबिया में सोवियत रूस के हित की ओर ध्यान आकृष्ट किया जाता है। जर्मन पक्ष, इन क्षेत्रों में पूर्ण राजनीतिक उपेक्षा की घोषणा करता है। (4) इस समझौते को दोनों पक्ष गुप्त रखेंगे।

इस समझौते पर रूस की तरफ से व्ही. मोलोटोव ने तथा जर्मनी की तरफ से व्ही. रिबेनट्रोप ने मास्को में 23 अगस्त 1939 को हस्ताक्षर किये थे।

समझौते का विच्छेद

नाजी-सोवियत समझौता दोनों पक्षों के लिये पूरे एक वर्ष तक बड़ा लाभप्रद सिद्ध हुआ। जर्मनी को दूसरे मोर्चे की चिन्ता की मुक्ति से पश्चिमी यूरोप की विजय में आसानी रही और रूस ने भी बाल्टिक सीमा को दृढ़ बनाया। 7 सितम्बर को सोवियत सेना ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया। 28 दिसम्बर को मास्को समझौते के अनुसार रूस व जर्मनी के बीच पोलैण्ड की जमीन का विभाजन हो गया। पूर्वी पोलैण्ड प्राप्त होने से रूस का रूमानिया तक सीधा सम्पर्क हो गया और गैलिशिया के तेल कूपों पर उसका नियंत्रण हो गया। 30 नवम्बर को फिनलैण्ड से अनाक्रमण संधि का अन्तकर, रूस ने उस पर आक्रमण कर दिया जिससे उसे राष्ट्रसंघ से बहिष्कृत कर दिया गया। फिनलैण्ड पर अधिकार के पश्चात् रूस ने लैटविया, एस्थोनिया व लिथुआनिया पर कब्जा कर लिया। इस प्रकार जर्मनी व रूस दोनों ने ही इस संधि से अपनी विस्तारवादी नीति का लाभ उठाया।

रूस-जर्मन आर्थिक लेन-देन भी दोनों के लिये लाभदायक हुआ। रूस को इस संधि के आधार पर मशीनें व युद्ध सामग्री प्राप्त हुई जबकि जर्मनी को कच्चा माल मिला—गेहूँ, तेल, रूई, रबर, सेम की फली व रसायन पदार्थ। परन्तु दोनों में पूर्वी यूरोप को लेकर क्रमशः मतभेद बढ़ता गया। 26 जून 1940 को फ्रास के पतन के बाद, रूस ने रूमानिया को चुनौती दी और चार दिन पश्चात् बेसारेबिया और बूकोविना पर अधिकार कर लिया। उस समय में नाजी-सोवियत समझौता प्रायः मृत हो गया।

पूर्वी यूरोप में जर्मनी अपना प्रभाव क्षेत्र विस्तृत करना चाहता था। 30 अगस्त, 1940 को विलना सम्मेलन में, जर्मनी के दबाव से रूमानिया हंगेरी को ट्रांसिलेवेनिया का आधा हिस्सा देने के लिये बाध्य हो गया। 23 सितम्बर को रूमानिया के अधिनायक जनरल एन्टोनिस्को ने जर्मनी के साथ सुरक्षा संधि कर ली। हिटलर ने रूमानिया के तेल क्षेत्र और सैनिक अड्डों पर अधिकार करने के लिये जर्मन सेना भेज दी। इस प्रकार बल्कान प्रदेश में बिना परामर्श के जर्मनी के बढ़ने से रूस और भी अधिक नाराज हो गया।

बढ़ते हुए तनाव को कम करने के लिये, जर्मनी ने रूसी विदेश-मंत्री मोलोटोव को बर्लिन आने का निमन्त्रण दिया। 27 सितम्बर 1940 को धुरी राष्ट्रों में त्रिराष्ट्रीय रक्षा संधि हुई थी (पृष्ठ 165)। मोलोटोव 13 नवम्बर को बर्लिन पहुँचा जबकि जर्मनी ने चार राष्ट्रीय संधि के प्रारूप, जिसमें इटली, जापान, जर्मनी व रूस को शामिल होने को प्रस्तुत किया। इसमें (1) रूस को दक्षिण एशिया के क्षेत्र को,—प्रभाव क्षेत्र के रूप में देने की व्यवस्था थी; व (2) पारस्परिक भौमिक प्रभाव क्षेत्रों के प्रति सम्मान व अहस्तक्षेप था। असंतुष्ट मोलोटोव ने तुरन्त कहा, "केवल तुर्की और बुल्गेरिया में ही नहीं अपितु रूमानिया और हंगेरी में भी रूस का विशेष स्वार्थ है।

जो समझौता हुआ है उसका पालन पहले होना चाहिये जबकि वर्तमान समझौता भविष्य के लिये है।" 25 नवम्बर को रूस ने निम्न मांगें रखीं—(1) फिनलैण्ड से जर्मन सेना का हटाना, (2) बुल्गेरिया के साथ रूस की पारस्परिक सहायता संधि और सैनिक अड्डे का अधिकार, (3) तुर्की के जलडमरू मध्य डार्डेनिलस में रूसी अड्डे, (4) उत्तरी ईरान में प्रभाव क्षेत्र, (5) उत्तरी साखालिन में जापान द्वारा तेल और कोयले के पट्टे की समाप्ति। इन मांगों से जर्मनी इतना क्रुद्ध हो गया कि उसने मास्को को कोई उत्तर नहीं दिया और सम्मेलन बिना निर्णय समाप्त हो गया।

मास्को में मोलोटोव के लौटने के 10 दिन बाद हंगेरी, रूमानिया और चैकोस्लोवाकिया ने धुरी राष्ट्रों में योगदान किया। पहली मार्च को बुल्गेरिया भी इसमें सम्मिलित हो गया। हिटलर ने अपने सैनिक अधिकारी को 18 दिसम्बर 1940 को ही रूस पर आक्रमण करने के लिये गुप्त आदेश (बाखरोसा काण्ड) दिये थे। इसमें 15 मई 1941 को रूस पर आक्रमण की तिथि निश्चित की गई थी। परन्तु युगोस्लाविया और यूनान को विजय करने में समय लग गया और इस आक्रमण की तिथि को पांच सप्ताह आगे खिसका दिया गया। युगोस्लाविया ने भी जर्मनी से सुरक्षा संधि की।

रूस फ्रांस के पतन के बाद से ही आशंकित था जो उपर्युक्त घटनाओं से और स्पष्ट हो गया। अपनी सुरक्षा को मजबूत बनाने के लिये उसने जर्मन सीमा पर विशाल स्टालिन रेखा का निर्माण किया। 6 मई 1941 को राष्ट्रपति पद को अपने हाथ में लेकर समस्त कार्यकारिणी शक्ति को उसने केन्द्रित कर दिया और रक्षा की तैयारी करने लगा। मास्को स्थित ब्रिटिश दूत ने भविष्यवाणी की थी कि 22 जून को जर्मन आक्रमण प्रारम्भ होगा। उसी दिन जर्मनी ने रूस के विरुद्ध अघोषित युद्ध प्रारम्भ कर दिया। किन्तु इस युद्ध ने न केवल हिटलर के पतन को ही उपस्थित किया वरन नाजीवाद के विनाश के भी बीज बो दिये।

मूल्यांकन

नाजी-सोवियत आक्रमण संधि के विषय में विश्व इतिहास में भिन्न-भिन्न मत हैं। तात्कालिक ब्रिटेन और फ्रांस के अधिकारियों ने रूस पर 'धोखेबाजी' का आरोप लगाया क्योंकि जब पश्चिमी राष्ट्रों के सैनिक प्रतिनिधि मंडल संधि के लिये वार्ता कर रहे थे उस समय इस समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। इसके दो दिन पश्चात् (25 अगस्त, 1933) ब्रिटेन और पोलैण्ड के बीच औपचारिक रूप से पारस्परिक संधि हुई जिससे युद्ध निश्चित हो गया। यही बात पश्चिमी राष्ट्रों के लिये भी सच है। रूस ने भी उसी नीति को अपनाया था जिसे कि फ्रांस व ब्रिटेन ने म्युनिख समझौते के पूर्व। ब्रिटेन व फ्रांस ने संतुष्टीकरण नीति के आधार पर छोटे राष्ट्रों का बलिदान कर जर्मनी से शांति खरीदी ताकि वे अपना शस्त्रीकरण कर सकें (जिसके लिये उन्हें 11 महीने प्राप्त हुए)। यही नीति नाजी-सोवियत समझौते द्वारा, पोलैण्ड का बलिदान कर, रूस ने अपनाई और उसे शस्त्रीकरण के लिये पश्चिमी

राष्ट्रों से दूना समय (22 महीने) मिला। यदि सितम्बर 1938 की नेवेल चैम्बरलेन की संतुष्टीकरण नीति युक्तिसंगत है तो स्टालिन का नाजी-सोवियत समझौता भी उसी श्रेणी में आता है।

रूस और जर्मनी के दृष्टिकोण में इस संधि ने दोनों देशों के सम्बन्धों को एक नया मोड़ दिया और पश्चिमी देशों को हास्यास्पद बना दिया।

मोलोटोव ने रूस-जर्मन संधि के महत्व के विषय मे कहा है, "इतिहास में 23 अगस्त 1939 एक मुख्य तिथि मानी जानी चाहिये। अनाक्रमण की इस रूस-जर्मन संधि ने इतिहास को एक नया मोड़ दिया। इस समझौते की विशेषता यह है कि इसने यूरोप की दो बड़ी शक्तियों के वैमनस्य को समाप्त कर शांति के तत्वों को प्रोत्साहित किया। इस मैत्री निर्णय ने यूरोप में युद्ध के खतरे को समाप्त कर दिया और इससे केवल संघर्ष प्रिय समूह ही असंतुष्ट हुए।"

रूसी इतिहासकार निकोनोव ने इस तथ्य की सफलतापूर्वक व्याख्या की है कि किस प्रकार पश्चिमी शक्तियों के पाखंड के फलस्वरूप 1939 में रूस ने अपनी नीति में अनायास परिवर्तन किया। 1955 मे उन्होंने लिखा, "ब्रिटेन, फ्रांस और संयुक्तराज्य अमेरिका ने पहले ही निष्कासित रूस के विरुद्ध, हिटलर के जर्मनी को गुप्त समझौतों व संधियों द्वारा भड़काया। पश्चिमी राष्ट्रों की उत्तेजनापूर्ण नीति के कारण रूस के सम्मुख जर्मनी से अनाक्रमण संधि करने के अतिरिक्त कोई मार्ग न रहा।"

चर्चिल के मत में, "इस समझौते ने अनेक वर्षों की ब्रिटिश-फ्रांसीसी विदेश नीति एवं कूटनीति का अंत कर दिया......दोनों ही जानते थे कि यह एक अस्थायी उपकरण है। स्टालिन भली-भांति जानता था कि हिटलर पश्चिमी शक्तियों की अपेक्षा कम खतरनाक होगा।" टौयनबी के अनुसार, "यह सोचना गलत होगा कि स्टालिन अनाक्रमण संधि के 10 वर्ष तक बने रहने में विश्वास करता था। वास्तव में रूस युद्ध के लिये तत्पर नही था और समय चाहता था। नाजी समझौता उसे यह दे सकता था, जबकि पश्चिमी समझौते से उसकी दुर्बलता प्रकट हो जाती।"

रूस द्वारा समझौते पर हस्ताक्षर कोई गलत कदम नही था। इसने इसको 18 महीने की शांति और हिटलर के आक्रमण की दिशा में उसे शस्त्रीकरण का अवसर दिया। यह निश्चित रूप से रूस के लिये लाभकारी और जर्मनी के लिये शोचनीय सिद्ध हुआ।

इस समझौते के भंग करने के लिए कौन दोषी था ? इसका उत्तर जर्मनी की पराजय के पश्चात् पाठक स्वयं दे सकते है। दोनों के पुराने सैद्धान्तिक मतभेद, पारस्परिक अविश्वास, विस्तारवाद नीति, विशेषतः बाल्टिक और बल्कान राष्ट्रों ने इस संधि को अस्थायी बना दिया। वास्तव में 20 वर्ष 9 महीने और 22 दिन की शांति के पश्चात् नाजी समझौता युद्ध का मुख्य कारण था। नाजी समझौते द्वारा स्टालिन ने तो सारे रूस को ही दाँव पर लगा दिया था; किन्तु एक अनहोनी घटना

ही थी कि हिटलर मास्को विजय न कर सका (जो रूस के लिये जीवन-लाभ रहा)।

सारांश

प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् यूरोप के प्रमुख राष्ट्रों ने सामूहिक सुरक्षा का प्रयत्न किया। इस दिशा में राष्ट्रसंघ ने पारस्परिक सहायता संधि का मस्विदा (1923), जेनेवा समझौता (1924), लोकार्नो समझौता (1925) व 1928 का सामान्य कानून प्रस्तुत किया। इनमें से केवल लोकार्नो समझौते को मान्यता प्राप्त हुई, जिसमें बड़े राष्ट्रों ने जर्मनी की पश्चिमी सीमा की गारंटी देकर सुरक्षा और शांति की भावना को दृढ़ किया। किन्तु पूर्वी सीमा के विषय में कोई निर्णय नही हुआ।

अमेरिका के लेविनसन-शोटवेल के शांति-प्रयास, राष्ट्रसंघ का प्रस्ताव, सर्व अमेरिकी संघ का प्रयास व ब्रियाँ और कैलोग के योग के फलस्वरूप 27 अगस्त 1928 को पेरिस का शांति समझौता हुआ जिसको कि 65 राष्ट्रों ने मान्यता दी। इस समझौते का विशेष उद्देश्य युद्ध का राष्ट्रीय नीति के अंग के रूप में परित्याग व अंतर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण ढंग से हल करना था। इसकी मुख्य कमी यह थी कि इसने केवल आक्रामक युद्ध का निषेध किया, रक्षात्मक का नहीं।

राष्ट्रसंघ के बाहर जो सुरक्षा प्रयास हुए, उसमें फ्रांसीसी सुरक्षा संधि (1919-22), रूस-जर्मन रैंपालो संधि (1922), लघुमैत्री (1921-37), बल्कान समझौता (1930-40), चार राष्ट्रीय समझौता (1933) और 1935 का फ्रांसीसी-रूसी समझौता था। प्रथम विश्व-युद्ध से असंतुष्ट वर्साय संधि के सशोधक राष्ट्रों—जर्मनी, इटली व जापान ने 1936-37 में रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी की स्थापना की। धुरी राष्ट्रों ने 1939 के इस्पात समझौते और 1940 के त्रिराष्ट्रीय समझौते द्वारा अपने संबंधों को दृढ़ किया।

परन्तु कूटनीतिक इतिहास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना 23 अगस्त 1939 का 10 वर्षीय नाजी-सोवियत अनाक्रमण समझौता था। इस समझौते के परिणामस्वरूप जर्मनी के पोलैण्ड पर आक्रमण के दो दिन वाद ब्रिटेन ने पोलैण्ड को रक्षा; और उधर रूस ने जर्मनी को तटस्थता की गारंटी दी। इस समझौते ने रूस को सैनिक तैयारी के लिए 18 महीने का अवसर दिया और हिटलर की यूरोप विजय की कल्पना को आगे बढ़ाया। यह समझौता 22 जून 1941 को जर्मनी के रूस पर आक्रमण से समाप्त हो गया।

घटनाओं का तिथिक्रम

1919 28 जून—फ्रांस-ब्रिटेन-अमेरिकी संधि।

1920 14 अगस्त—चैकोस्लोवाकिया-यूगोस्लाव संधि।

7 सितम्बर—फ्रांसीसी-वेल्जियम संधि।

1921 19 फरवरी—फ्रांस-पोलैण्ड संधि।
3 मार्च—रूमानिया-पोलैण्ड संधि।
23 अप्रैल—रूमानिया-चैकोस्लोवाकिया संधि।
7 जून—रूमानिया-यूगोस्लाविया संधि।
1922 16 अप्रैल—जर्मन-सोवियत रैपालो संधि।
1923 सितम्बर—पारस्परिक सहायता संधि का प्रारूप।
1924 25 जनवरी—फ्रांस-चैकोस्लोवाकिया संधि।
2 अक्टूबर—जेनेवा प्रोटोकोल।
1925 16 अक्टूबर लोकार्नो समझौता।
1926 10 जून—फ्रांस-रूमानिया संधि।
1927 11 नवम्बर—फ्रांस-यूगोस्लाव संधि।
1928 13 अप्रैल—कैलोग युद्ध निषेध योजना।
21 अप्रैल—ब्रियाँ की संधि का प्रारूप।
27 अगस्त—पेरिस का समझौता (कैलोग-ब्रियाँ)।
सितम्बर—सामान्य कानून।
1929 5 जनवरी—अंतर्अमेरिकी पंच समझौता।
9 फरवरी—लिटविनोफ समझौता।
1930 5-12 अक्टूबर—एथेन्स में प्रथम बल्कान सम्मेलन।
1932 25 जुलाई—सोवियत-पोलैण्ड अनाक्रमण संधि।
1933 7 जून—चार राष्ट्रीय समझौता।
1934 26 जनवरी—जर्मन-पोलैण्ड अनाक्रमण संधि (10 वर्षीय)।
9 फरवरी—बल्कान समझौता।
5 मई—सोवियत-पोलैण्ड संधि (10 वर्षीय)।
1935 2 मई—फ्रांस-सोवियत सहायता संधि।
16 मई—चैक-सोवियत संधि।
1936 25 अक्टूबर—रोम-बर्लिन धुरी।
25 नवम्बर—बर्लिन-टोकियो धुरी।
1937 6 नवम्बर—रोम-टोकियो धुरी।
1939 7 अप्रैल—बर्लिन-मैड्रिड (स्पेन) धुरी।
22 मई—रोम-बर्लिन इस्पात संधि।
19 अगस्त—जर्मन-सोवियत आर्थिक संधि।
23 अगस्त—नाजी-सोवियत अनाक्रमण संधि (10 वर्षीय)
1940 27 सितम्बर—रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी।

20 नवम्बर—बर्लिन-बुडापेस्ट (हंगेरी) संधि।
23 नवम्बर—बर्लिन-बुखारेस्ट (रूमानिया) संधि।
1941 1 मार्च—बर्लिन-सोफिया (बुल्गेरिया) समझौता।
25 मार्च—बर्लिन-बेलग्रेड (युगोस्लाविया) संधि।
27 अप्रैल—बर्लिन-एथेन्स (यूनान) संधि।

सहायक अध्ययन

Alexander, F. : **From Paris to Locarno and After : The League of Nations and the Search for Security, 1919-1928.** (1928)

Crane, J.O. : **The Little Entente.** (1931)

Ferrell, R.H. : **Peace in Their Time : The Origins of the Kellogg-Briand Pact.** (1952)

Namier, L.B. : **Europe in Decay : Study in Disintegration. 1936-40.** (1950)

Rappard, W.E. : **The Quest for Peace Since the World War.** (1940)

Rossi, A. : **The Russo-German Alliance, Aug. 1939 to June, 1941.** (1950)

Scott, William, E. : **Alliance Against Hitler : The Origins of the Franco-Soviet Pact.** (1962)

Wiskemann, E. : **The Rome-Berlin Axis.** (1949)

प्रश्न

लघुमैत्री

1. "लघु-मैत्री शक्ति संतुलन की पुनर्स्थापना के प्रयत्नों में एक अत्यंत रोचक कदम था" इस कथन का मूल्यांकन करें। यह मैत्री असफल क्यों हो गई ?
(राज० वि० 1956)

2. "लघु-मैत्री" का क्यों और किस प्रकार जन्म हुआ ? फ्रांस का इसमें क्या स्वार्थ था ? यह असफल क्यों रही ? (राज० वि० 1957, जो० वि० 1964, 1967)

3. "पोलैण्ड की अपेक्षा लघु-मैत्री के साथ, फ्रांसीसी संबंधों का आधार भिन्न था।" इस कथन की व्याख्या करें। (राज० वि० 1959)

4. "लघु-मैत्री की उत्पत्ति यथास्थिति को बनाये रखने के लिये की गई थी।"—क्या आप इस मत से सहमत हैं ? (जो० वि० 1965)

5. फ्रांस द्वारा अपनी सुरक्षा के लिये किये गये विभिन्न प्रयत्नों की विश्लेषणात्मक आलोचना करें। इस संदर्भ में लघु-मैत्री का महत्व बतायें।
(उ० वि० 1966)

6. दो विश्व-युद्धों के बीच लघु-मैत्री ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर क्या प्रभाव डाला ? विश्लेपण करें । (पं० वि०-1962)

लोकार्नो संधि

7. लोकार्नो सधि का विश्लेपणात्मक परीक्षण करें । यह किस सीमा तक वर्सायी सधि और प्रतिश्रव के लिये घातक रही ? (राज० वि० 1958)

8. लोकार्नो समझौते की रूपरेखा दें और यह समझायें कि इसने किस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय तनाव को कम किया । (राज० वि० 1960)

9. उन परिस्थितियों की व्याख्या करें जिनमें लोकार्नो समझौते ने जन्म लिया । इसने यूरोप मे किस सीमा तक सुरक्षा की भावना को उत्पन्न किया ? (राज० वि० 1961, जो० वि० 1963, 1967)

10. 1925 की लोकार्नो संधियों के कारण धारायें व परिणाम बतायें । (राज० वि० 1963, जो० वि० 1965)

11. "लोकार्नो ने यूरोप को आशा और शांति का युग प्रदान किया ।"—समझायें । (राज० वि० 1965, उ० वि० 1965)

12. "लोकार्नो संधियों ने एक नये युग का सूत्रपात किया ।" समझायें । (उ० वि० 1967)

13. क्या यह कहना ठीक होगा कि लोकार्नो समझौता युद्ध और शांति के वर्षों की वास्तविक विभाजन रेखा थी ? कारण बतायें । (पं० वि० 1965)

14. लोकार्नो सधियों और कैलोग-ब्रियाँ समझौते ने किस सीमा तक यूरोप में शांति और सुरक्षा की भावना उत्पन्न की ? ये अधिक समय तक क्यों नहीं सफल रहे ? (आ० वि० 1963)

विविध

15. समझायें कि वर्सायी सधि के पश्चात् लगभग सभी अतर्राष्ट्रीय समझौतों में फ्रांस की नीति हस्तक्षेप की क्यों रही । (राज० वि० 1960)

16. "1919 के पश्चात् की यूरोपीय समस्याओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव मात्र स्थायी तत्व 'फ्रांस द्वारा सुरक्षा की माँग' थी ।" समझायें और विवेचना करें । (राज० वि० 1964; आ० वि० 1964; पं० वि० 1962)

17. 1930 के पहले फ्रांस ने सुरक्षा के लिये क्या-क्या प्रयत्न किये ? ये समझौते किस सीमा तक राष्ट्रसंघ की विचारधारा के अनुकूल थे ? (जो० वि० 1966)

18. 1920 से 25 के मध्य राष्ट्रों द्वारा किये गये सामूहिक सुरक्षा के प्रयत्नों का मूल्यांकन करें । (जो० वि० 1964)

19. इस युग में (1919-45) किस ढंग से और किस सीमा तक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों ने कूटनीतिक संबंधों को प्रभावित किया ? (जो० वि० 1965)

20. "सामूहिक सुरक्षा (1919-39) वास्तविकता की अपेक्षा एक कहावत मात्र रही। अंतिम विश्लेषण मे यह अर्थहीन सिद्ध हुई।" किस सीमा तक इस कथन के लिये युद्धों के बीच की घटनायें उत्तरदायी हैं। (पं० वि० 1961)

21. 1913 से 1933 के मध्य पश्चिमी कूटनीतिज्ञों द्वारा किये गये सुरक्षा की खोज के प्रयत्नों का उल्लेख करें। (पं० वि० 1962)

22. 'जेनेवा समझौते' (1924) की उत्पत्ति का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें और इसे अस्वीकृत किये जाने के कारण बतायें। (राज० वि० 1966)

23. 'जेनेवा समझौते' ने किस सीमा तक फ्रांस की सुरक्षा की इच्छा को संतुष्ट किया ? कुछ राष्ट्रों द्वारा इसे अस्वीकार किये जाने के कारण बतायें। (राज० वि० 1959)

24. 1924 के 'जेनेवा समझौते' की धाराओं की विवेचना करें और यूरोपीय शक्तियों की इसके प्रति भावनाओं का विश्लेषण करें। (आ० वि० 1961, जो० वि० 1963)

25. 'कैलोग-ब्रियाँ-समझौते' की उत्पत्ति को समझायें और उसके महत्व का मूल्यांकन करें। (पं० वि० 1964, आ० वि० 1964)

26. रोम-बर्लिन धुरी के निर्माण के कारण बतायें। (राज० वि० 1964)

27. उन परिस्थितियों का वर्णन करें जिन्होंने रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी को जन्म दिया। (पं० वि० 1954, आ० वि० 1964)

28. उन परिस्थितियों का वर्णन करें जिनमें 23 अगस्त 1939 के नाजी सोवियत समझौते ने जन्म लिया। क्या आपके मत में इस समझौते के लिये ब्रिटिश व फ्रांसीसी राजनयिक उत्तरदायी थे ? तात्कालिक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर इस समझौते के क्या प्रभाव हुए ? (राज० वि० 1956, जो० वि० 1964, 1967)

29. उन परिस्थितियों का वर्णन करें जिनमें वैमर गणतंत्र व सोवियत रूस की संधि हुई और उसका महत्व बताएँ। (जो० वि० 1964)

30. "1939 के नाजी-सोवियत अनाक्रमण समझौते का आधार दोनों राष्ट्रों के बीच वास्तविक राजनीति थी" स्पष्ट करें। (आ० वि० 1961)

31. "म्युनिख समझौता आंग्ल-फ्रांसीसी कूटनीति का एक गंभीर दोषपूर्ण अनुमान था"—समझायें। (राज० वि० 1965, 66)

32. उन परिस्थितियों का उल्लेख करें जिन्होंने कॉमिन्टर्न विरोधी समझौते को जन्म दिया। इसने यूरोपीय राष्ट्रों के मध्य संबंधों व दूर पूर्व की स्थिति पर क्या प्रभाव डाला ? (राज० वि० 1965, जो० वि० 1964, उ० वि० 1965)

33. सुडेटन समस्या का मूल्यांकन करें। इसके विषय में बड़े राष्ट्रों की नीति क्या थी ? इसमें गंभीर अंतर्राष्ट्रीय समस्या के क्या अंकुर थे ? (राज० वि० 1966)

6 निःशस्त्रीकरण समस्या

"निःशस्त्रीकरण शस्त्राशस्त्र की दौड़ को रोकने के लिए किसी एक अथवा सब प्रकार के शस्त्रों की समाप्ति है। यह अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष व युद्ध को समाप्त कर शांति की नींव डालता है।" —हैन्स मारगेन्थु

"वर्सायी की संधि के बाद दो दशकों में हुए समस्त निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों के प्रवेश द्वार पर बड़े अक्षरों में लिखे 'अ स फ ल ता' ने पश्चिमी जगत का पूर्व निश्चित अधःपतन ला दिया।" —शूमैन

निःशस्त्रीकरण

मानव आत्म-रक्षा एवं अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिये आदिकाल से ही युद्ध करता रहा है। युद्ध का दूसरा कारण उसकी विस्तारवादी नीति और दूसरों की भूमि व सम्पत्ति हड़पना रहा है। मानव के विकास के साथ शस्त्रों की संख्या, प्रकार व भयंकरता में भी वृद्धि होती रही है। हैन्स मारगेन्थ्यु के विचार में, "नि.शस्त्रीकरण शस्त्राशस्त्र की दौड़ को रोकने के लिये किसी एक अथवा सब प्रकार के शस्त्रों की समाप्ति है। यह अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष व युद्ध को समाप्त कर शांति की नींव डालता है।"

1910 में विलियम जेम्स ने लिखा कि "हर आधुनिकतम शब्दकोष को युद्ध व शांति का एक ही अर्थ बताना चाहिये। यह भी तर्क सहित कहा जा सकता है कि राष्ट्रों द्वारा अत्यन्त प्रतियोगी युद्ध की तैयारी भी एक वास्तविक युद्ध है। स्थायी और निरंतर 'युद्ध', 'शांतिकाल में की गई तैयारी' का सार्वजनिक प्रदर्शन मात्र है।"

किसी एक राष्ट्र की सुरक्षा हेतु शस्त्र निर्माण से, पड़ौसी राष्ट्र चिंतित हो शस्त्र निर्माण करते हैं और शस्त्र निर्माण की होड़ प्रारम्भ हो जाती है। अधिक शस्त्र निर्माण का परिणाम छोटी-मोटी वारदातें, तनातनी में वृद्धि, क्षेत्रीय युद्ध और फिर बढकर विश्व युद्ध की संभावना हो जाती है। प्रथम व द्वितीय विश्व युद्ध के गर्भ में भी यही कारण थे। शार्प और कर्क के मत मे, "युद्ध के भय से शस्त्रों का निर्माण अधिक होता है; बजाय शस्त्रो की उपस्थिति से युद्ध प्रारम्भ होने के। शांतिवादियों ने अस्त्र-शस्त्रों को ही युद्ध का मुख्य कारण माना है।"

प्रारम्भिक प्रयास

नि.शस्त्रीकरण के इतिहास में सफलतायें कम और विफलतायें अधिक हैं। असफलताओं के बावजूद निःशस्त्रीकरण के कार्य में कोई कमी नहीं आई है और मनुष्य आज भी इसके लिये प्रयत्नशील हैं। स्वेच्छा से जिन व्यक्तियों ने निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र की ओर ध्यान दिया, उनमें राष्ट्रीय इतिहास में अशोक का नाम उल्लेखनीय है। कलिंग युद्ध के पश्चात् अस्त्र-शस्त्र परित्याग कर शांति की उन्होने सफल चेष्टा की थी। परन्तु अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रथम व्यवहारिक कदम रूस के जार अलैग्जैन्डर प्रथम का है। 1816 में उन्होंने ब्रिटेन के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि 'एक ही साथ', दोनों देशों की सभी प्रकार की फौजों में, समान कमी की जाय। ब्रिटेन ने अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने की मांग की लेकिन इसका कोई परिणाम नहीं निकला। इसी प्रकार फ्रांस के नैपोलियन तृतीय के भी प्रयत्नों का कोई परिणाम नहीं निकला। 1899 में हेग सम्मेलन में 28 राष्ट्रों ने सैनिक बजट और शस्त्राशस्त्र की कमी का प्रस्ताव पारित किया। इस सम्मेलन ने यह विचार प्रकट किया, "सैनिक बजट सभी राष्ट्रों पर एक बोझ के समान है और इसके घटाने से आर्थिक व नैतिक लाभ होगा।" सम्मेलन ने इसी विचार को क्रियान्वित करने के लिये सदस्य राष्ट्रों से अनुरोध किया

कि वे इस सुझाव पर विचार कर निःशस्त्रीकरण के किसी समझौते की रूप-रेखा प्रस्तुत करें।

1907 के द्वितीय हेग सम्मेलन में 'रक्षा भार' के व्यय बढ़ाने और पुराने समझौते के विचार को क्रियान्वित करने के लिये 44 सदस्य राष्ट्रों से और अधिक 'गम्भीर विचार' करने का अनुरोध किया। सम्मेलन के सभापति रूसी-प्रतिनिधि ने विचार प्रकट करते हुए कहा कि, इस विषय मे पिछले 8 वर्षों में कोई भी प्रगति नही हुई। शस्त्राशस्त्र की होड़ जारी रही और 1915 का प्रस्तावित तृतीय सम्मेलन प्रथम विश्वयुद्ध के छिड़ जाने के कारण नहीं हो सका।

निःशस्त्रीकरण का इतिहास (1919 से 1945)

1919 से 1945 के मध्य निःशस्त्रीकरण का अनेक पहलुओं से गहन अध्ययन किया गया और कुछ निर्णायक सिद्धांत निर्धारित किये गये। यह बताया गया कि निःशस्त्रीकरण का दो पहलुओं से—(1) संख्यात्मक व गुणात्मक और (2) सामान्य व विशिष्ट रूप—अध्ययन हो सकता है। ब्रिटेन ने 1932 में संख्यात्मक दृष्टि का सुझाव रखा जिसके अंतर्गत प्रत्येक राष्ट्र के अस्त्र-शस्त्रों की संख्या सीमित की जानी थी। गुणात्मक निःशस्त्रीकरण का सुझाव राष्ट्रसंघ में रखा गया, जिसके अनुसार शस्त्रों की सख्या उनकी मारक शक्ति के आधार पर निश्चित की जानी थी।

नि.शस्त्रीकरण का एक दूसरा रूप भी है, जिसे सामान्य अथवा विशिष्ट निः-शस्त्रीकरण कहा जाता है। विशिष्ट नि.शस्त्रीकरण के अंतर्गत दो अथवा कुछ राष्ट्र मिलकर शस्त्रीकरण की सीमा निर्धारित करते है। इस प्रकार के प्रयत्न का उदाहरण कैनेडा व संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य हुआ 1817 का रश-बैगोट समझौता है। इसका दूसरा रूप सामान्य नि.शस्त्रीकरण है, जिसके उदाहरण—1922 का वाशिंगटन सम्मेलन, जिसमे नौ शक्ति सीमित करने के समझौते हुए; 1932 का जेनेवा का विश्व नि.शस्त्रीकरण व 1919 से 1945 के मध्य के नि.शस्त्रीकरण प्रयत्न जो, राष्ट्र-संघ के भीतर व बाहर दोनों मे हुए है।

इस काल में चार मुख्य प्रश्नों पर विचार करना महत्वपूर्ण हो गया। इन्हीं पर सम्मेलन की सफलता निर्भर हो गई। ये चार प्रश्न थे—(1) राष्ट्रों के मध्य शस्त्राशस्त्र का अनुपात निर्धारण, (2) उस अनुपात मे शस्त्राशस्त्रों के श्रेणी का निश्चय, (3) शस्त्राशस्त्रों को आक्रमक और रक्षात्मक आधार पर बाँटना व (4) यह निर्धारित करना कि कोई विशिष्ट निःशस्त्रीकरण समझौता अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा पर क्या प्रभाव डालेगा।

राष्ट्रसंघ और निःशस्त्रीकरण

शान्ति सम्मेलन

राष्ट्रपति विलसन ने प्रथम युद्ध में सम्मिलित होते समय कहा, "हम इस युद्ध

में युद्ध का अंत करने के लिये सम्मिलित हो रहे है।" 8 जनवरी 1918 के कांग्रस के भाषण में उन्होंने 14 विन्दुओं पर प्रकाश डालते हुए विचार प्रकट किया, "शस्त्रों में इतनी कमी की जाय कि वह केवल राष्ट्र की सुरक्षा के लिये पर्याप्त हो।" पेरिस के शांति सम्मेलन में लायड जार्ज ने कहा कि राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव की स्वीकृति के पूर्व बड़ी-बड़ी शक्तियों के शस्त्रों के सीमित करने के समझौते पर हस्ताक्षर हो जाने चाहियें। उन्होंने यह भी कहा कि संघ की सफलता का आधार "बड़ी शक्तियों का थल व जल सेना की प्रतियोगिता को समाप्त करने का समझौता है अन्यथा राष्ट्रसंघ केवल ढोंग और उपहास मात्र रह जायेगा। यूरोप की छोटी शक्तियों में अनिवार्य प्रवेश की रोक भी आवश्यक है अन्यथा सीमा विवाद और पुनर्युद्ध की समस्या खड़ी हो जायेगी।" आशावादी मित्र राष्ट्रों ने, विजयोपरान्त, निःशस्त्रीकरण के लिये विलसन के चतुर्थ विन्दु को राष्ट्रसंघ की धारा आठ के रूप में सामान्य निःशस्त्रीकरण के लिये स्वीकृत किया।

प्रतिश्रव की धारा आठ में निम्नलिखित व्यवस्था थी (1) राष्ट्रसंघ के सदस्य शांति को बनाये रखने के लिए शस्त्राशस्त्रों में इस सीमा तक कमी करेंगे जितनी कि राष्ट्रीय सुरक्षा एवं अंतर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व निभाने के लिये पर्याप्त हों। (2) संघ प्रत्येक राष्ट्र की भौगोलिक स्थिति और परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए राष्ट्रों की सरकारों के विचार और कार्यवाहियों के लिये शस्त्रों की कमी करने की योजना प्रस्तुत करेगा।(3)इस प्रकार की प्रत्येक योजना पर प्रति दस वर्ष में आवश्यक संशोधन और पुनर्विचार किया जावेगा। (4)एक बार योजना के अंतर्गत शस्त्रीकरण की सीमा निर्धारित हो जाने के बाद, कोई राष्ट्र 'राष्ट्र परिषद्' की अनुमति के बिना इसमें वृद्धि नही करेगा।(5) सरकारी सदस्यों ने स्वीकार किया कि गैर सरकारी स्रोतों से होने वाले शस्त्राशस्त्रों का क्रय-विक्रय गंभीर आपत्ति का विषय है। किसी छोटे राष्ट्र के पास स्वयं के शस्त्राशस्त्र उत्पादन का स्रोत न होने की दिशा में परिषद् उसकी सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए आवश्यक परामर्श देगी। (6) सदस्य राष्ट्र शस्त्राशस्त्रों की मात्रा; थल, जल और नभ कार्यक्रम और युद्ध से सम्बंधित उद्योगों की स्पष्ट और पूर्ण जानकारी का पारस्परिक आदान-प्रदान करेंगे। धारा नौ में यह कहा गया कि जल-थल-नभ शस्त्राशस्त्र सम्बंधी एक स्थायी आयोग की स्थापना की जाय जो परिषद् को समय-समय पर परामर्श देती रहे। विराम संधि के पश्चात् जर्मनी ने अपने थल शस्त्र, नौ बेड़ा व लड़ाकू वायुयान समर्पित कर दिये थे। अनिवार्य सैनिक प्रवेश बंद कर दिया गया, थल सेना एक लाख व जल सेना 15,000 निश्चित कर दी गई और पनडुब्बियों व कुछ प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों पर रोक लगा दी गई। राइन नदी के दक्षिणी तट का असैनीकरण व 15 वर्ष तक उस पर मित्र-राष्ट्रीय सेना का अधिकार रहना था (जो कि वास्तव में 1930 में हटाली गई)। जर्मनी में एक मित्र-राष्ट्रीय आयोग को इस व्यवस्था को बनाये रखने के लिये 1927 तक रखा गया। आस्ट्रिया, हंगेरी व बुल्गेरिया के साथ की गई संधियों में उन्हें निःशस्त्रीकरण के

बाध्य किया गया जो कि विश्व नि.शस्त्रीकरण की दिशा में पहला सोपान था। जर्मनी पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबंधों द्वारा स्पष्ट था कि किस प्रकार से निम्नतम सीमा का निःशस्त्रीकरण किया जाय; किन्तु बड़े राष्ट्रों ने केवल टाल-मटोल की नीति को ही अपनाया।

अस्थायी मिश्रित आयोग (1921)

तात्कालिक राष्ट्रीय शस्त्राशस्त्रों के विषय में आंकड़े एकत्रित करने के लिये मई 1902 में परिषद् के सदस्यों के जल-थल-नभ विशेषज्ञों का परामर्शदात्री आयोग सगठित किया गया। 25 फरवरी 1921 को इसमें 6 नागरिक विशेषज्ञों को जोड़कर इसे अस्थायी मिश्रित आयोग बनाया गया। साधारण सभा को धारा 9 में दिये गये अनुच्छेदों के अनुसार योजना प्रस्तुत करने का कार्य दिया गया। आयोग के सभापति फ्रांस के विवियानी थे। 1922 में ब्रिटेन के प्रतिनिधि लार्ड ईशर ने इस आयोग के सम्मुख सुझाव रखा कि 30,000 की इकाई मानकर विभिन्न राष्ट्रों में एक निश्चित अनुपात का निश्चय किया जाय। फ्रांस के लिये 6 इकाई अथवा 1, 80,000 ; इटली के लिये चार इकाई अर्थात् 1,20,000 और ब्रिटेन के तीन इकाई अर्थात् 90,000 निर्दिष्ट किया जाना था। किन्तु इस प्रकार की इकाई से आक्रामक शक्ति का कोई निर्णय नहीं हो सकता था। इसीलिये सैनिक विशेषज्ञो ने इसे ठुकरा दिया। कुछ तकनीकी कठिनाइयो के आधार पर इस सुझाव को रद्द कर दिया गया। इसी बीच आयोग ने विभिन्न राष्ट्रों के सेना सम्बन्धी आंकड़ों को एकत्रित किया। आयोग की रिपोर्ट के आधार पर साधारण सभा ने प्रत्येक राष्ट्र के तात्कालिक सैनिक बजट को स्थिरता देने की सिफारिश की।

1922 में इस अस्थायी मिश्रित आयोग के सम्मुख ब्रिटेन के लार्ड सिसिल ने चार प्रस्ताव रखे—(1) शस्त्राशस्त्र में कमी सभी राष्ट्रों पर लागू हो, (2) यह कमी सुरक्षा की संतोषप्रद गारंटी पर निर्भर है, (3) यह गारंटी सामान्य हो और (4) यह गारंटी राष्ट्र के निःशस्त्रीकरण करने पर निर्भर हो। इसी के आधार पर सितम्बर 1923 में साधारण सभा ने पारस्परिक सहायता सम्बन्धी प्रारूप प्रस्तुत किया जिसमें 2 वर्ष के भीतर नि.शस्त्रीकरण की व्यवस्था थी। परन्तु ब्रिटेन के विरोध के कारण यह अस्वीकार किया गया और यह प्रयत्न असफल हो गया। एक वर्ष पश्चात् जेनेवा समझौते में सामान्य निःशस्त्रीकरण योजना प्रस्तुत हुई परन्तु इसे भी अंत में सभी राष्ट्रों ने अस्वीकार कर दिया। इस मध्य जेनेवा में एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें एक गैस समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अंतर्गत रासायनिक एवं कीटाणु-युद्ध की भर्त्सना की गई। 1925 के अंत तक 20 राष्ट्रों ने इस पर हस्ताक्षर किये जिनमें इटली भी एक था जिसने दस वर्ष पश्चात् इस संधि से परित्याग कर दिया।

प्रारम्भिक आयोग (1925)

1925 के दिसम्बर माम में राष्ट्रसंघ परिषद् ने नि.शस्त्रीकरण पर एक

'प्रारम्भिक आयोग' की स्थापना की। इसमें रूस, जर्मनी व अमेरिका के सम्मिलित होने व लोकार्नो समझौते पर हस्ताक्षर से 1926 के पश्चात् इस क्षेत्र में एक नई आशा का जन्म हुआ। अगले 5 वर्षों में जैसे-जैसे विचार-विमर्श बढ़ता गया, नई-नई कठिनाइयाँ सामने आती गईं : (1) प्रथम कठिनाई स्वयं अस्त्र-शस्त्रों की परिभाषा से सम्बन्धित थी। अस्त्र-शस्त्रों की निम्नतम सीमा के लिये दो तकनीकी उप-आयोग भी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। (2) सैनिकों की संख्या की गणना के तरीके पर गम्भीर मतभेद एक अन्य कठिनाई थी। ब्रिटेन, अमेरिका और जर्मनी सभी सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्तियों को गणना में सम्मिलित करना चाहते थे, जबकि फ्रांस केवल सेवारत व्यक्तियों को। फ्रांस अनिवार्य सैनिक प्रशिक्षण नीति पर चल रहा था और इसलिये वह यह चाहता था कि रक्षित सेना गणना में सम्मिलित नहीं की जाय। (3) रक्षा बजट के विषय में भी भिन्न विचार थे। फ्रांस के मत में रक्षा बजट को सीमित करना; और ब्रिटेन व इटली के अनुसार सैनिक बजट का विस्तृत प्रकाशन आवश्यक था। अमेरिका का कहना था कि बजट में कमी का सैनिकों की संख्या से कोई सम्बन्ध नहीं है और राष्ट्रों के जीवन-स्तर के आधार पर किसी राष्ट्र में अधिक व्यय होने पर भी कम सेना हो सकती है। अतः सेना में कमी ही महत्त्वपूर्ण तथ्य है। (4) सैनिक सामग्री की संख्या निर्धारण पर मतभेद एक अन्य कठिनाई थी। जर्मनी का कहना था कि जिस प्रकार उसकी सैनिक सामग्री की संख्या निश्चित की गई, उसी प्रणाली को सामूहिक रूप दिया जाय। अमेरिका ने इस बात की यह कहकर आलोचना की, "बिना अंतर्राष्ट्रीय निरीक्षण के यह पूर्ण रूप से अव्यवहारिक है।" (5) ब्रिटेन और अमेरिका यह चाहते थे कि नौ-शक्ति के अन्तर्गत प्रत्येक श्रेणी के जहाजों का वजन और तोपों का व्यास निश्चित किया जाय जबकि इटली व फ्रांस का मत था कि केवल कुल वजन निश्चित कर दिया जाय और यह राष्ट्रों पर छोड़ दिया जाय कि वह बड़े जहाज बनाये या छोटे। (6) रूसी प्रतिनिधि लिटविनोफ ने चमत्कारपूर्ण प्रस्ताव, 'सामान्य व सम्पूर्ण निःशस्त्रीकरण' का रखा। फ्रांस ने इस सुझाव को संदेह की दृष्टि से देखा और कहा कि इसके परिपालन के लिये एक अंतर्राष्ट्रीय निरीक्षण आयोग एवं 'पुलिस व्यवस्था' आवश्यक है। इस प्रकार आयोग में एक गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई और निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में कोई प्रगति न हो सकी।

निःशस्त्रीकरण प्रारूप

दिसम्बर 1930 में आयोग ने एक निःशस्त्रीकरण प्रारूप प्रस्तुत किया जिसमें कोई आँकड़े नहीं थे। इसे बहुमत के आधार पर स्वीकार किया गया। इसमें मुख्यतः सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से थल, जल व नभ सेना की सैनिक संख्या को सीमित करना; अस्त्र-शस्त्र पर सरकारी व्यय को स्थिर करना, विषाक्त गैसों के प्रयोग और सभी प्रकार के कीटाणु युद्ध पर प्रतिबंध और 1930 के लंदन नौ-संधि के आधार पर नौ-शक्ति को सीमित करना और एक स्थायी आयोग की नियुक्ति, जो कि निःशस्त्री

करण की प्रगति के विषय में सभी प्रकार की सूचना समय-समय परिषद् को देता रहेगा। अमेरिका ने इसमें एक 'सुरक्षित धारा' का प्रस्ताव रखा कि किसी राष्ट्र को खतरे की परिस्थिति में इस प्रारूप की किसी भी धारा को अस्थायी रूप से न मानने का अधिकार हो। इस प्रारूप के अंतर्राष्ट्रीय अनुमोदन के लिये विश्व नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन आमंत्रित किया गया।

विश्व निःशस्त्रीकरण सम्मेलन (1932-34)

प्रथम अधिवेशन

2 फरवरी 1932 को जेनेवा में विश्व निःशस्त्रीकरण सम्मेलन प्रारम्भ हुआ जिसमें 60 राष्ट्रों ने भाग लिया, जिनमें अमेरिका व सोवियत रूस भी शामिल थे। ब्रिटेन के भूतपूर्व विदेश-मंत्री और श्रमिक नेता आर्थर हैन्डरसन एक गैर सरकारी प्रतिनिधि के रूप में इस सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गये। 18 फरवरी को जर्मन प्रधान मंत्री ब्रूनिंग ने समानता की मांग की और सम्मेलन को याद दिलाया कि जर्मन निःशस्त्रीकरण विश्वव्यापी सामान्य निःशस्त्रीकरण का प्रथम सोपान था। उनके शब्दों में "यह जर्मनी का नैतिक व कानूनी अधिकार है जिसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। जर्मनी यह आशा करता है कि समानता और सामान्य निःशस्त्रीकरण के आधार पर यह सम्मेलन हल ढूंढ़ निकालेगा।"

निःशस्त्रीकरण समस्या का इतिहास अत्यन्त लम्बा एवं दुःखद है। 4 नवम्बर को फ्रांसिस वैंकूर ने एक स्मारक-पत्र में सामूहिक सुरक्षा के आधार पर फ्रांसीसी योजना प्रस्तुत की। इसकी मुख्य विशेषता यह थी कि इसमें एक ही केन्द्र से, तीन अलग-अलग घेरों की योजना प्रस्तुत की। सबसे बड़े घेरे में सम्मेलन में भाग लेने वाले सदस्य होंगे। 1928 की पेरिस की संधि के भंग होने की दिशा में ये सदस्य पारस्परिक विचार-विमर्श करेंगे; आक्रामक राष्ट्रों से आर्थिक संबंध नहीं रखेंगे; और अंतर्राष्ट्रीय संधियों के भग होने से उत्पन्न हुई नवीन स्थिति को मान्यता नही देंगे। द्वितीय घेरे में राष्ट्रसघ के सदस्य होंगे जो कि प्रतिश्रव की धारा 16 का प्रयोग करेंगे। सबसे छोटे घेरे में एक ऐसा संगठन होगा जिसमें सुरक्षा के लिये सामाजिक और राजनीतिक सधि की व्यवस्था होगी। इस योजना पर गभीर मतभेद होने के कारण, कोई प्रगति नही हुई। फ्रांस ने इस योजना को छोड़कर एक नवीन योजना प्रस्तुत की जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय 'पुलिस' और 'नियंत्रण' व विमान-व्यवस्था थी। किन्तु इसे भी काल्पनिक और अव्यवहारिक समझा गया।

ब्रिटेन के प्रधान मंत्री सर-जॉन साइमन ने गुणात्मक निःशस्त्रीकरण के लिये सुझाव दिया। इससे तात्पर्य यह था कि समस्त आक्रामक शस्त्रों का निषेध कर दिया जाय। इस प्रस्ताव का स्वागत किया गया और विशेषज्ञों की जल-थल-व नभ तीन समितियां, आक्रामक व सुरक्षा सम्बन्धी शस्त्रों की सूची तैयार करने के लिये, बनाई गई। विशेषज्ञों ने देखा कि आक्रामक एव सुरक्षा सम्बन्धी शस्त्रों के बीच एक बहुत

बारीक रेखा है और कोई सर्व-सम्मत सूची तैयार नही की जा सकती। उदाहरण के लिये पनडुब्बियों को ब्रिटेन व अमेरिका ने आक्रामक व फ्रांस ने रक्षा हेतु साधन माना। इसी प्रकार 25 टन के टैंक को फ्रांस रक्षात्मक व ब्रिटेन आक्रामक मानता था। जर्मनी ने स्पष्ट और तर्कपूर्ण ढंग से कहा, "वर्साय़ी सधि में जर्मनी के लिये जिन शस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाये गये थे वे आक्रामक और जिन्हें रखने की इजाजत दी गई, वे रक्षात्मक थे।" विशेषज्ञ इस नतीजे पर पहुँचे कि एक ही शस्त्र आक्रामक अथवा रक्षात्मक दोनों हो सकता है; वस्तुतः वह उनके प्रयोग में लिये जाने के उद्देश्य पर निर्भर करता है। रूस ने संख्यात्मक सुझाव देते हुए कहा, "शस्त्राशस्त्र में सामूहिक, सामान्य, आनुपातिक और क्रमिक दृष्टि से कमी होनी चाहिये ताकि निर्दिष्ट समय में संपूर्ण निःशस्त्रीकरण द्रुतगति से हो जाय।" इस प्रकार के किसी भी प्रस्ताव को सम्मेलन मे पूर्ण समर्थन प्राप्त नही हुआ और इसीलिये गतिरोध उत्पन्न हो गया।

22 जून को अमेरिका के राष्ट्रपति हूवर ने घोषणा की, "अब समय आ गया है जबकि दुनिया के भारी शस्त्राशस्त्र के बोझ में हम एक निर्दिष्ट व्यवस्था के अनुसार कमी करें।" उन्होंने प्रस्ताव रखा कि सेना को दो भागों में विभाजित किया जावे—(1) आतरिक सुरक्षा के लिये पुलिस व (2) बाह्य आक्रमण से रक्षा के लिये सेना। सेना में एक तिहाई कमी होनी चाहिये। ब्रिटेन व जापान ने इसका विरोध किया और यह घोषणा असफल हो गई। हूवर ने यह भी कहा कि जिन राष्ट्रों के अधिकार मे उपनिवेश है (ब्रिटेन आदि), उन्हे विशेष छूट दी जानी चाहिये।

20 जुलाई को 41 राष्ट्रों की सहमति, दो के विरोध (रूस व जर्मन) और 8 के मत (जिनमें इटली भी था) से एक प्रस्ताव पारित कर दिया गया। इसमें रासायनिक युद्ध व बमबारी का निषेध कर दिया गया और विमानों व टैंकों की संख्या व तोपों का व्यास निश्चित करना स्वीकृत हुआ। जर्मनी के नये पैंपेन मंत्रिमंडल ने घोषणा की, "राष्ट्रों के समान अधिकार के स्पष्ट और निश्चित रूप से मान्यता न देने की दिशा में, जर्मनी सम्मेलन मे भाग नहीं लेगा।" 11 दिसम्बर 1932 को बड़े पाँच राष्ट्रों के जेनेवा सम्मेलन में जर्मनी की माँग को स्वीकार करते हुए कहा गया, "समानता के अधिकार की ऐसी व्यवस्था की जायेगी जिसके अनुसार सभी राष्ट्रों की सुरक्षा हो सके।" इस पर जर्मनी ने सम्मेलन में भाग लेना पुनः स्वीकार कर लिया। जर्मनी को दिये गये आश्वासन के दो अर्थ निकाले गये। फ्रांस ने यह समझा कि सुरक्षा को प्राथमिकता दी जायेगी जब कि जर्मनी ने सोचा कि समानता को प्रमुख स्थान मिलेगा। इस प्रकार निःशस्त्रीकरण के मार्ग का प्रथम चरण 23 जुलाई 1932 को समाप्त हो गया।

द्वितीय अधिवेशन

द्वितीय चरण प्रारम्भ हुआ 2 फरवरी 1933 को हिटलर के प्रधानमंत्री बनने के तीन दिन पश्चात्। इसी समय जापान के प्रतिनिधि ने यह सूचना दी कि उसका

राष्ट्र, संघ से अलग हो जायेगा। ऐसे निराशामय वातावरण में गतिरोध को समाप्त करने के लिये ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैमजे मैकडोनल्ड ने स्वयं योजना प्रस्तुत की। इस योजना में पहली बार संधि का प्रारूप प्रस्तुत किया गया, जिसके पाँच भाग थे। भाग एक में यह था कि शांति भंग होने की दिशा में सम्मेलन बुलाया जायेगा, जिसमें निर्णय के लिये बड़ी शक्तियों में मतैक्य व छोटी शक्तियों का बहुमत आवश्यक होगा। दूसरे भाग के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र की सैन्य संख्या और अस्त्र-शस्त्रों की श्रेणी, व्यास व संख्या आदि निश्चित कर दी गई। इसका विवरण इस प्रकार था। सोवियत रूस के लिये 5 लाख, फ्रांस के लिये 2 लाख योरोप में और 2 लाख उपनिवेशों में; इटली के लिये 2 लाख योरोप में और समुद्र पार 50,000; पोलैण्ड और जर्मनी—प्रत्येक के लिये 2 लाख (यद्यपि जर्मनी की जनसंख्या पोलैण्ड से दुगनी थी); ब्रिटेन के लिये कोई निर्दिष्ट संख्या का उल्लेख नहीं किया गया। उपरोक्त संख्या 5 वर्ष की अवधि में पूरी होनी थी। सेना के लिये अधिकतम सेवा-काल 8 वर्ष रखा गया, तोप का अधिकतम व्यास 6·1" व टैंक का 16 टन वजन निश्चित किया गया। विमान संख्या प्रत्येक राष्ट्र के लिये 500 रखी गई।

तीसरे भाग में 1923 की लंदन नौ-शक्ति संधि को आधार मानकर 1935 में नौ-शक्ति को सीमित करने के लिये सम्मेलन बुलाने; और लड़ाकू विमानों की संख्या व असैनिक विमानों के लिये नियम प्रस्तुत करने की व्यवस्था थी। भाग चार में कीटाणु और रासायनिक युद्ध का निषेध किया गया। पाँचवें भाग में एक शक्ति सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण आयोग की व्यवस्था थी। संधि की इस योजना पर विभिन्न राष्ट्रों ने अलग-अलग टिप्पणी की। 7 जून को संधि के प्रारूप को सैद्धांतिक रूप से स्वीकार किया गया और इसके विस्तृत रूप पर आगे विचार करना निश्चित हुआ।

जून से अक्टूबर के मध्य हैन्डरसन ने यूरोपीय राष्ट्रों की यात्रा की। 14 अक्टूबर 1933 को जब सम्मेलन पुनः आरम्भ हुआ तो ब्रिटेन के प्रतिनिधि ने निःशस्त्रीकरण को दो सोपानों में विभाजित किया। प्रथम सोपान में निःशस्त्रीकरण के लिये प्रथम चार वर्ष में सेना के लिये निर्दिष्ट सेवाकाल का पालन व अस्त्र-शस्त्रों की बढ़ोतरी में रोक थी। दूसरे सोपान में निःशस्त्रीकरण संधि में उल्लिखित समानता के आधार पर शस्त्राशस्त्र को घटाने की व्यवस्था थी।

14 अक्टूबर 1933 को जर्मन प्रतिनिधि राइन बाबेन ने सम्मेलन के प्रारम्भ होने के पूर्व ही सम्मेलन व राष्ट्रसंघ से परित्याग की सूचना दी। जर्मनी के विदेश-मंत्री न्यूरेथ ने कहा, "सम्मेलन सामान्य निःशस्त्रीकरण का अपना उद्देश्य पूरा नहीं करेगा। इसका मुख्य कारण अत्यधिक शस्त्राशस्त्र से सुसज्जित राष्ट्रों का शस्त्रों में कमी न करना है.........और उनकी प्रकृति ने जर्मनी को समानता का अधिकार प्राप्त होना, असंभव कर दिया है।" जर्मनी के परित्याग के बाद यह सम्मेलन स्थगित कर दिया गया और मई 1934 में इसका अधिवेशन फिर प्रारम्भ हुआ। फ्रांस और

रूस ने सुरक्षा को प्रथम स्थान दिया व नि.शस्त्रीकरण को दूसरा। ब्रिटेन व अमेरिका ने निःशस्त्रीकरण को प्रथम स्थान दिया और सुरक्षा को इसका परिणाम माना। सम्मेलन ने चार प्रश्नों पर विचार किया (1) क्षेत्रीय सुरक्षा समझौता, (2) सुरक्षा गारंटियों का पालन, (3) वायुसेना, (4) शस्त्रास्त्र का उत्पादन और व्यापार। परन्तु इसका कोई स्थायी परिणाम नही निकला। हताश होकर 11 जून को हैन्डरसन ने सम्मेलन की असफलता के लिये फ्रांस को उत्तरदायी ठहराया। 7 मार्च 1030 को जर्मनी ने निःशस्त्रीकरण के स्थान पर पुनः शस्त्रीकरण प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार राष्ट्रसंघ द्वारा जर्मनी पर जो एक पक्षीय निःशस्त्रीकरण प्रारम्भ किया गया था, वह समाप्त हो गया। विश्व के प्रमुख राष्ट्र सुरक्षा की खोज में आत्महत्या की तैयारी करने लगे और उन्होने सामूहिक निर्बुद्धि का परिचय दिया।

असफलता के कारण

नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन की असफलता के अनेक कारण थे। सर अल्फ्रेड जिमरेन के शब्दों में, "निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों ने राजनीतिक रूप धारण कर लिया। इनमें अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अपेक्षा प्रतियोगिता की भावना अधिक थी। 50 राष्ट्रों की इस प्रतियोगिता में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन को सफल बनाना उतना ही कठिन था, जितना की एक घेरे को चौकोर बनाना। जेनेवा एक विशाल शतरंज-स्थल बन गया, जहाँ बड़ी शक्तियाँ छोटे-छोटे राष्ट्रों को प्यादे बनाकर अपनी स्वार्थपूर्ण चाल चल रही थीं। कार के शब्दों में, सम्मेलन की असफलता का कारण, "हैण्डरसन का गैर सरकारी प्रतिनिधि के रूप में अध्यक्ष बनना एक अप्रत्याशित दुर्योग था।" इस निः-शस्त्रीकरण सम्मेलन की असफलता का एक अन्य कारण सम्मेलन प्रारम्भ होने के पूर्व पूर्ण तैयारी का अभाव था। इस कठिन विषय पर मतैक्य के लिये पृष्ठभूमि में अप्रत्यक्ष वार्ता व तैयारी आवश्यक थी। उसके अभाव में राष्ट्रों में तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गई, मनोवैज्ञानिक उपचार न हो सका, राजनैतिक झगड़े उपस्थित हो गये और जर्मनी ने सम्मेलन से परित्याग कर दिया। फ्रांस का सुरक्षा को निःशस्त्री-करण की अपेक्षा अधिक महत्व देना, एक अन्य बाधा थी। एक और कठिनाई जल-थल-नभ विशेषज्ञों में आक्रामक व सुरक्षा सम्बन्धी शस्त्रों पर मतैक्य का अभाव था। आर्थिक मन्दी, जापान द्वारा मंचूरिया पर आक्रमण, साम्यवाद के प्रसार का भय, हिटलर का उदय, मित्रराष्ट्रीय कर्जे की अदायगी न होना, कुछ ऐसी परिस्थितियां थीं, जिन्होने निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के लिये अनुकूल वातावरण उपस्थित नहीं किया। प्रतिरक्षा, राष्ट्र अपना अधिकार मानते थे और अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण एवं नियंत्रण को उन्होंने अपनी संप्रभुता को सीमित करने का एक कदम समझा, जिसके लिये वे तैयार नहीं थे।

नौ नि.शस्त्रीकरण

दो विश्व युद्धों के बीच, राष्ट्रसंघ की अपेक्षा उसके बाहर अमेरिका के ...

नि:शस्त्रीकरण के प्रयत्न अधिक सफल हुए। 1817 में अमेरिका और कैनेडा के बीच रश-बैगोट समझौता हुआ जिसके अनुसार दोनों-देशों ने समान वजन और अस्त्रों वाले तीन जहाज बड़ी झीलों में रखना निश्चित किया। यह संधि आज भी लागू है। नौ-नि:शस्त्रीकरण की दिशा मे चार बड़े सम्मेलन हुए—(1) वाशिंगटन (1922); (2) जेनेवा (1927); (3) प्रथम लन्दन सम्मेलन (1930) और (4) द्वितीय लंदन सम्मेलन (1935-36)।

वाशिंगटन सम्मेलन (1922)

1917 से बड़ी शक्तियो में नौ-शक्ति की दौड़ प्रारम्भ हो गई और 1921 तक जापान ने नौ व्यय को 1 करोड़ 90 लाख पौंड से बढ़ाकर 5 करोड़ 40 लाख पौंड व अमेरिका ने 2 करोड़ 70 लाख पौड से बढ़ाकर 9 करोड़ 40 लाख पौंड प्रतिवर्ष कर दिया। 1902 की जापान के साथ की गई नौ संधि को ब्रिटेन 1922 में पुन: लागू करना चाहता था। अमेरिका ब्रिटेन-जापान की इस सधि के नवीनीकरण के बजाय प्रशांत महासागर में अपनी स्थिति को दृढ़ करने थे लिये व सुदूर पूर्व की समस्या को निबटाने के लिये एक नई सधि करना चाहता था। अत: राष्ट्रपति हार्डिज ने 1922 मे 9, *नौ-शक्तियों का वाशिंगटन मे सम्मेलन बुलाया जिनमें 5 बड़ी शक्तियां—अमेरिका,* ब्रिटेन, जापान फ्रांस व इटली थी। 6 फरवरी 1922 को पांच राष्ट्रीय नौ सधि हुई जिसकी धारायें निम्नलिखित थी—(1) 10 वर्ष के लिये (1931 तक) बड़े युद्ध जहाज न वनाने का निश्चय किया गया, (2) निर्माणाधीन व क्रियाशील जहाजों को निम्न प्रकार से नष्ट करना—अमेरिका 8,54,000 टन, ब्रिटेन 5,83,000 टन, जापान 4,35,000 टन। यह बड़े जहाजों में, उनकी तात्कालिक शक्ति का 40 प्रतिशत था। (3) बड़े युद्ध जहाज व विमानवाही जहाजों मे अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रांस और इटली में अनुपात क्रमश: 5 : 5 : 3 : 1·67 : 1·67 रखा गया जिसका वजन टनों में निम्नलिखित था—

राष्ट्रों के नाम	टनो में वजन	बड़े युद्ध जहाज (जहाजों की संख्या)	विमानवाही जहाज (टनों में वजन)
सं. रा. अमेरिका	5,25,000	15	1,35,000
ब्रिटेन	5,25,000	15	1,35,000
जापान	3,15,000	9	81,000
फ्रांस	1,75,000	5	60,000
इटली	1,75,000	5	60,000

निम्न प्रकार के जहाजों के आकार और तोपों का व्यास निर्धारित कर दिया

श्रेणी	अधिकतम आकार	तोप का अधिकतम व्यास
बड़े युद्ध जहाज	35,000 टन	16"
विमानवाहक जहाज	27,000 टन	8"
गश्ती जहाज	10,000 टन	8"

(4) ब्रिटेन, अमेरिका और जापान में प्रशांत महासागर में 'हवाई' और सिंगापुर के अतिरिक्त किलेबंदी की यथास्थिति बनाये रखना स्वीकृत हुआ। (5) इस संधि को दिसम्बर 1936 तक लागू रखना स्वीकृत हुआ और 2 वर्ष की अग्रिम सूचना देकर कोई भी सदस्य राष्ट्र इससे अलग हो सकता था।

ब्रिटेन के प्रेक्षक कर्नल रेपिंगटन ने इस संधि पर टिप्पणी करते हुए कहा, "अमेरिका के विदेश सचिव ह्यूजेस ने नौ सेना नायकों द्वारा एक शतक में डुबोये गये जहाजों से अधिक, 35 मिनिट में अपने भाषण में समाप्त कर दिये" इस संधि ने तत्काल ही जापान व सं. रा. अमेरिका मे वैमनस्य की भावना को समाप्त कर दिया। बुएल के शब्दों मे, "सामुद्रिक प्रभुत्व के लिये निश्चित सघर्ष को अंकुर में ही नष्ट कर दिया गया।" इस सधि ने विश्व इतिहास में पहली बार बड़ी शक्तियों के मध्य ऐसे समझौते को जन्म दिया जिसमे 1922 से 1936 तक की अवधि में कम से कम दो श्रेणी के जहाजों—बड़े युद्ध जहाज व विमानवाही जहाज में प्रतियोगिता ममाप्त हो गई। बड़े राष्ट्रों की जनता को भी इससे इस कारण राहत मिली कि उन पर करों का भार कम हो गया। क्लाइड के अनुसार, "इस सधि से जापान को विशेष लाभ हुआ। वह पश्चिमी प्रशांत महासागर में सर्वेसर्वा हो गया और किसी भी आक्रमण के विरुद्ध उसकी बीमा हो गई।" परकिन्स के अनुसार, "जापान को सुदूर पूर्व में इस संधि से विशेष सुविधा मिली, उसने यथास्थिति को न बनाये रखकर अपनी शक्ति को गुप्त रूप से बढ़ाया और अमेरिका ने स्वेच्छा से शक्ति सीमित कर पर्लहार्बर की घटना के लिये मार्ग प्रशस्त किया।" इस संधि ने यह भी सिद्ध कर दिया कि नि.शस्त्रीकरण जैसी जटिल समस्या राष्ट्रसंघ के बाहर भी सुलझ सकती है। यह एक प्रकार से राष्ट्रसंघ का अपमान था।

इस संधि में सीमित सफलता मिली। इसमें अनेक कमियाँ थीं: (1) इस संधि में नौ-निःशस्त्रीकरण बड़ा सीमित था जिसमें केवल बड़े युद्ध जहाजों व विमान वाहक जहाजों को छुआ गया और विध्वंसक गश्ती जहाजों और पनडुब्बियों की दौड़ को रोकने के लिये कुछ भी नही किया गया। अधिकांश राष्ट्र भी इस प्रकार के कम व्यय वाले जहाजों को बनाने में ही अधिक रुचि रखते थे। (2) दूसरी कमी इस सधि का पालन राष्ट्रों की स्वेच्छा व सद्भावना पर निर्भर था और इसमें किसी प्रकार की निरीक्षण अथवा दण्डादेश व्यवस्था का अभाव था। (3) नि.शस्त्रीकरण तभी पूर्णरूप से सफल हो सकता था जबकि नभ और थल नि.शस्त्रीकरण भी नौ निःशस्त्रीकरण के साथ किसी एक बड़ी योजना का अंग होता। (4) संधि पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र थोड़े थे और नियमित अवधि से बंधे थे।

1927 का त्रिराष्ट्रीय जेनेवा सम्मेलन

वाशिंगटन सम्मेलन में जो कमियां थीं, उन्हें दूर करने के लिये व गश्ती जहाजों में ब्रिटेन व जापान की दिन प्रतिदिन बढ़ती प्रतियोगिता को रोकने के लिये अमेरिका

ने 1927 में जेनेवा सम्मेलन बुलाया। फ्रांस और इटली ने यह कहकर सम्मेलन में भाग लेना अस्वीकार कर दिया कि इनमें छोटे राष्ट्रों की मांगों की अवेहलना की जाती है व 1925 में जेनेवा में जो आयोग पहले से ही इस समस्या पर विचार कर रहा है, उस पर इसकी गतिविधियों का प्रभाव पड़ सकता है। 20 जून 1927 में अमेरिका ब्रिटेन और जापान ने इस सम्मेलन में भाग लिया। इस सम्मेलन में ब्रिटेन के प्रतिनिधि ब्रिजमैन व सिसिल; जापान के प्रतिनिधि वाइकाउन्ट साइटों व ईशी; और अमेरिका के प्रतिनिधि गिब्सन ने भाग लिया। गश्ती जहाजों के आकार और संख्या के मामले को लेकर सम्मेलन में गतिरोध उत्पन्न हों गया। अमेरिका गश्ती जहाजों का कुल वजन 4 लाख टन चाहता था जिसमें 25 बड़े जहाज (प्रत्येक 10 हजार टन) व 20 छोटे जहाज (प्रत्येक 7½ हजार टन) हों जबकि ब्रिटेन 70 छोटे जहाजों के पक्ष में था। ब्रिटेन की दलीलें यह थीं कि उसे अपने विश्वव्यापी अड्डों, उपनिवेशों की रक्षा के उत्तरदायित्व को निबाहने, अपने अनेक व्यापारिक जहाजों की सुरक्षा व साम्राज्यवादी संचार व्यवस्था को बनाये रखने के लिये अनेक छोटे गश्ती जहाजों की आवश्यकता थी। विचार विनिमय पर्याप्त समय तक चलता रहा और अमेरिका को यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटेन के साथ जहाजों के कुल वजन व संख्या पर कोई समझौता नहीं हो सकेगा। ब्रिटेन व अमेरिका के प्रतिनिधियों के बीच गरमा-गरम बहस; और अमेरिका के शस्त्राशस्त्र निर्माताओं के स्वार्थ सिद्धि हेतु नियुक्त शेरर के, सम्मेलन की पृष्ठभूमि में उसे असफल बनाने की क्रियाओं के परिणाम स्वरूप 4 अगस्त को सम्मेलन असफल हो गया। सम्मेलन की तैयारी के लिये राष्ट्रीय सरकारों द्वारा विवादास्पद विषयों पर प्रारम्भिक वार्तालाप का अभाव, गैर सरकारी उद्योगपतियों का स्वार्थ और विलियम शेरर जैसे व्यक्तियों के क्रिया-कलाप, नौ-विशेषज्ञों द्वारा निःशस्त्रीकरण का विरोध, ब्रिटेन की गश्ती जहाजों के क्षेत्र में सर्वेसर्वा रहने की माँग व अमेरिका के सांख्यिकी समानता के सुझाव ने इस सम्मेलन को असफल बना दिया। सम्मेलन की असफलता ने अमेरिकी-ब्रिटिश तनाव को और अधिक बढ़ा दिया और अमेरिकी राष्ट्रवाद और पृथकवाद ने इसे उग्र रूप दे दिया।

लंदन नौ-संधि (1930)

फरवरी 1929 में राष्ट्रपति हूवर ने एक विमानवाहक जहाज और 15 गश्ती जहाजों के निर्माण के लिये 27 करोड़ डालर की स्वीकृति दी। ब्रिटेन के प्रधानमंत्री हूवर से रैंबीडेन (विर्जीनिया) में मिले जिसमें उन्होंने यह निश्चित किया कि नौ-निः शस्त्रीकरण के लिये, ब्रिटेन एक सम्मेलन आमंत्रित करे। 7 अक्टूबर 1929 को ब्रिटेन की ओर से यह निमंत्रण भेजा गया। 21 जनवरी 1930 को यह सम्मेलन लंदन में प्रारंभ हुआ जिसमें अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली व जापान सम्मिलित हुए। आरंभ से ही, वाशिंगटन सम्मेलन के सिद्धांत—अमेरिका व ब्रिटेन में सभी श्रेणी के जहाजों में समानता—को मान लिया गया। विश्व परिस्थिति में सुधार देखकर ब्रिटेन ने 70 गश्ती जहाजों की मांग को 50 तक सीमित कर दिया। फ्रांस ने तीन समुद्रों से

संबंध होने व उपनिवेशों में संचार व्यवस्था बनाये रखने के प्रश्नों को लेकर सांख्यिकी समानता के आधार का प्रतिवाद किया। इटली ने भी फ्रांस के लिये निर्धारित किये जाने वाले नये अनुपात के साथ ही समानता की मांग की (जैसा कि वाशिंगटन सम्मेलन में भी किया गया था)। जापान ने मांग की, " 8" व्यास, 10 हजार टन के गश्ती जहाजों के निर्माण में उसे अमेरिका के लिये निर्धारित संख्या का 70 प्रतिशत अधिकार व पनडुब्बियों के निर्माण में अमेरिका और ब्रिटेन के साथ समानता प्राप्त हो।".

तीन राष्ट्रों में मुख्य रूप से समझौता हुआ और 22 अप्रैल 1930 को अमेरिका, ब्रिटेन व जापान में संधि हुई। इसकी धारायें निम्न थीं :—(1) बड़े गश्ती जहाजों का अनुपात अमेरिका, ब्रिटेन व जापान में क्रमशः—10 : 10 : 6, विध्वंसक जहाजों में 10 : 10 : 7 व पनडुब्बियों में समानता थी। इनका निश्चित किया गया वजन निम्न तालिका से स्पष्ट है :

राष्ट्र	गश्ती जहाज * (टनों में)	विध्वंसक (टनों मे)	पनडुब्बियाँ (टनों में)
ब्रिटेन	3,39,000	1,50,000	52,700
सं. रा. अमेरिका	3,29,500	1;50,000	52,700
जापान	2,05,850	1,05,500	52,700

(2) वाशिंगटन सम्मेलन के अंतर्गत बड़े जहाजों को न बनाने का जो निश्चय 1931 तक के लिये किया गया था उसकी अवधि पांच वर्ष और बढ़ा दी गई। (3) इस संधि की अवधि 1936 तक रखी गई। (4) लदन सम्मेलन में भाग लेने के नियमों पर सहमत हुए, उन्होंने पनडुब्बियों का कुल वजन व गोलाबारी की शक्ति पर भी मान्यता प्रकट की और 1922 के वाशिंगटन सम्मेलन द्वारा निर्धारित विमान वाहक जहाजों के नियंत्रण की अवधि बढ़ाना भी निश्चित किया। (5) इसमें विध्वंसकों का अधिकतम वजन 1,850 टन व पनडुब्बियों का 2, 000 टन निर्धारित किया गया। इस संधि की एक विशेषता रक्षित धारा थी, जिसके अनुसार यदि संधि के हस्ताक्षर-कर्त्ताओं के अतिरिक्त कोई राष्ट्र नौ शक्ति बढ़ाकर किसी हस्ताक्षरकर्त्ता की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न करे तो वह हस्ताक्षरकर्त्ता इस संधि की बाध्यता से मुक्त हो सकता था।

---

* गश्ती जहाज 2 श्रेणी के थे :—(क) 8" व्यास, 10,000 टन प्रत्येक अमेरिका के 18, ब्रिटेन के 15 व जापान के 12 निश्चित किये गये (ख) 6" व्यास 10,000 टन, इसमें जहाजों की सख्या का बंटवारा न कर कुल वजन निश्चित कर दिया गया था—अमेरिका के लिये 143,500 टन, ब्रिटेन के लिये 192,200 टन और जापान के लिये 100,450 टन।

इस संधि की तीन देशों में तीव्र आलोचना हुई। अमेरिकी नौ सेना अधिकारियों का कहना था कि गश्ती जहाज की संख्या 21 से 18 करने व जापान के साथ पनडुब्बियों के वजन में समानता से अमेरिकी नौ शक्ति को धक्का लगेगा। ब्रिटेन के नौ सेनाध्यक्ष रिचमंड ने कहा, "ब्रिटेन के लिए इस संधि पर हस्ताक्षर, एक महान् भूल थी।" जापान में तो इसका इस सीमा तक विरोध हुआ कि अन्य राष्ट्रों के साथ समानता के अभाव में एक नौ सेनानायक काटो काजी ने आत्महत्या कर डाली। फ्रांस और इटली के इस संधि को पूर्ण रूप से स्वीकार न करने से, इस संधि का क्षेत्र और भी अधिक सीमित हो गया और अब मूल-संधि के केवल तीन सदस्य रह गये। इस संधि पर हस्ताक्षर से अमेरिकी जनता को 30 करोड़ डालर कर की राहत मिली और यह कहा गया कि निःशस्त्रीकरण की दिशा में बिल्कुल कार्य न होने की अपेक्षा कुछ कार्य होना कहीं अच्छा है।

द्वितीय लन्दन सम्मेलन (1936)

जापान के मंचूरिया पर आक्रमण और जर्मनी द्वारा शस्त्रीकरण ने, निःशस्त्रीकरण समस्या को गंभीर बना दिया। 19 दिसम्बर 1934 को जापान ने वाशिंगटन सम्मेलन के समझौतों और लंदन संधि से हटने का नोटिस दिया जिसके आधार पर वे 2 वर्ष पश्चात् पूर्णरूप से मुक्त हो सकते थे। 18 जून 1935 को ब्रिटेन व जर्मनी में एक समझौता हुआ जिससे पनडुब्बियों को छोड़कर अन्य प्रकार के जहाजों में जर्मनी को ब्रिटिश नौ शक्ति का 35 प्रतिशत बनाने का अधिकार दिया गया। द्वितीय लंदन सम्मेलन 9 दिसम्बर 1935 में प्रारम्भ हुआ, जिसमें पुराने पांच राष्ट्रों ने भाग लिया। ब्रिटेन ने यह सुझाव दिया कि नौ शक्ति के तात्कालिक स्वीकृत अनुपात को जारी रखा जाय, बड़े युद्ध-जहाजों के वजन को 35 हजार से 25 हजार टन कर दिया जाय, पनडुब्बियों का पूर्णरूप से निषेध कर दिया जाय व विध्वंसक जहाजों का भी आकार और वजन घटा दिया जाय। अमेरिका के प्रतिनिधि नोरमन डेविस ने ब्रिटेन का समर्थन करते हुए कहा कि नौ शक्ति अनुपात वही रखा जाय और सभी प्रकार के जहाजों में 20 प्रतिशत कमी की जाय। जापान के प्रतिनिधियों ने सभी प्रकार के युद्ध-जहाजों में समानता की मांग की और यह स्वीकृत न होने पर 15 जनवरी को वे सम्मेलन से हट गये और प्रेक्षक छोड़कर वापिस चले गये। हिटलर द्वारा राइन प्रदेश के पुनः सैनिकीकरण के 9 दिन पश्चात् 25 मार्च 1936 को द्वितीय लंदन नौ संधि पर फ्रांस, इटली, ब्रिटेन व अमेरिका ने हस्ताक्षर किये। इसके अनुसार (1) ब्रिटेन-अमेरिकी नौ शक्ति समानता को जारी रखा गया। (2) बड़े युद्ध-जहाजों का वजन 35,000 टन व तोपों का व्यास 14", विमान वाहक जहाजों का वजन 23,000 टन, हल्के गश्ती जहाज, 8,000 टन व पनडुब्बियों का 2,000 टन वजन निश्चित किया गया। (3) न तो जहाजो की संख्या घटाने और न ही संधि की अवधि पर कोई निर्णय हुआ। इसलिये 1937 से पुनः शस्त्रीकरण प्रारम्भ हो गया।

यह भी निश्चित हुआ कि नये जहाजों के निर्माण के संबंध में अग्रिम सूचना का आदान-प्रदान किया जायेगा।

1936 में जापान के पास 200 युद्ध जहाज थे, जिनका कुल वजन 7,57,000 टन था। 1941 तक यह बढ़कर 289 जहाज व 11 लाख टन वजन हो गया। 28 अप्रैल 1939 में हिटलर ने आंग्ल-जर्मन सधि को भी समाप्त कर दिया। इसी प्रकार अमेरिका ब्रिटेन व जापान ने भी अपनी नौ शक्ति में वृद्धि की। निम्न तालिकाओं से यह स्पष्ट है कि 1913 से 1939 के मध्य किस प्रकार सैनिक संख्या व सैनिक व्यय में वृद्धि हुई।

जल-थल-नभ सैनिकों की मात्रा की कुल तालिका :

राष्ट्र का नाम	वर्ष 1914 (हजारों में संख्या)	वर्ष 1939 (हजारों में संख्या)
ब्रिटेन	397	460
फ्रांस	834	864
रूस	1,254	2,269
जर्मनी	864	1,182
इटली	345	1,077
सं. रा. अमेरिका	165	551
जापान	301	900 से अधिक

दस लाख पौंडों में रक्षा व्यय

राष्ट्र	वर्ष 1913	वर्ष 1939
ब्रिटेन	77	382·5
फ्रांस	82	164
रूस	92	1575
जर्मनी	100	1000
इटली	29	170
जापान	12	107
स. रा. अमेरिका	64	267

अणु युग का आगमन

आइन्सटीन के सूत्र के अनुसार रोम विश्वविद्यालय के अध्यापक डा० एनरिको फर्मी ने परमाणु विषय में परीक्षण प्रारंभ किये। 4 वर्ष पश्चात् जर्मनी में ओटो हॉन ने यूरेनियम परमाणु का विभाजन किया, जिसकी जानकारी नील बोर को प्राप्त हो गई। जनवरी 1939 मे निर्वासित फर्मी ने अमेरिका के कोलम्बिया विश्व-विद्यालय में शरण ली। यहाँ पर 29 जनवरी को इन्होंने यूरेनियम-परमाणु का सरल विभाजन किया। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटीन के पत्र व्यवहार से रूजवैल्ट . .

निर्माण के लिये राजी हो गये। अणुबम की जन्म तिथि साधारणतः 2 दिसम्बर 1942 मानी जाती है, जब कि शिकागो विश्वविद्यालय के मैदान में फर्मी ने अणुबम से उत्पन्न प्रथम अग्नि शिखा को देखा। शिकागो विश्वविद्यालय में अणुबम भट्टी का निर्माण हुआ और परीक्षण जारी रहे। 16 जुलाई 1945 को, जर्मनी के आत्मसमर्पण के दो माह पश्चात् न्युमैक्सिको राज्य के आलमोगोर्डो नामक स्थान में प्रथम अणुबम का सफल विस्फोट हुआ। इस योजना को सफल बनाने के लिये अमेरिकी सरकार ने 2 खरब डालर का व्यय किया और 3 लाख श्रमिकों ने इसमें कार्य किया। 6 अगस्त 1945 को हिरोशिमा पर प्रथम अणुबम का प्रयोग हुआ जिसमें 92,000 जापानी नागरिकों की मृत्यु हुई व 37,000 घायल हुए। तीन दिन पश्चात् नागासाकी पर द्वितीय अणु-बम गिराया गया। इसमें लगभग 40,000 व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हुए और इनके परिणामस्वरूप जापान ने बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया।

असफलता के कारण

दो विश्व युद्धों के बीच राष्ट्रसंघ में व उसके बाहर नि.शस्त्रीकरण के लिये अनेक प्रयत्न हुए किन्तु किसी में भी पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई। केवल नौ शक्ति को सीमित करने मे 1936 तक आंशिक सफलता प्राप्त हुई। पहला युद्ध 1565 दिन तक चलता रहा तो दूसरा उससे भी अधिक अवधि, 6 वर्ष, तक चला। सभी युद्धों से दुःखी हैं, शांति की बात करते हैं और साथ ही सुरक्षा की आड़ में लड़ाई की तैयारी करते हैं। मानव जीवन की यही सबसे बड़ी विडम्बना है। यूरोप में तो कहावत ही प्रसिद्ध हो गई है कि शांति-वार्ता करो और लड़ाई की तैयारी करो। युद्ध का भय आज भी उतना ही है जितना कि पहले कभी रहा होगा। विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ इस समस्या की जटिलता भी दिन प्रतिदिन बढती जा रही है। यहाँ हम उन कारणों के विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे जो निःशस्त्रीकरण को असफल बनाते रहे हैं।

निःशस्त्रीकरण में सफलता प्राप्त करने मे सबसे बड़ी बाधा राष्ट्रों में प्रभुसत्ता की अटूट भावना है। वे इसमें किसी भी राष्ट्रोपरि संस्था को हिस्सेदार बनाना नहीं चाहते। युद्ध और सुरक्षा पर प्रत्येक राष्ट्र अपना मौलिक अधिकार समझते हैं। निःशस्त्रीकरण की बाधा 'भय' और दूसरे राष्ट्रों में विश्वास का अभाव रहा है। जब राष्ट्रों में पारस्परिक सद्भावना थी, राष्ट्रों ने लघु रूप में ही सही, आंशिक नि शस्त्री-करण में भाग लिया और पारस्परिक विश्वास के समाप्त होते ही भय के आधार पर शस्त्रास्त्रों की होड़ प्रारम्भ हो गई।

निःशस्त्रीकरण की सफलता में दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य, 'निर्दिष्ट समय में विश्व व्यापी सामान्य निःशस्त्रीकरण' है। कोई भी आंशिक नि.शस्त्रीकरण सफल नहीं हो सकता क्योंकि इसकी मूल भावना ही विश्व के समस्त राष्ट्रों के योग और उनके द्वारा सेना के सभी क्षेत्रों में नि.शस्त्रीकरण है। शांति सम्मेलन में निःशस्त्रीकरण केवल

एकपक्षीय था और केवल कुछ राष्ट्रों यथा, जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगेरी व बुल्गेरिया पर थोप दिया गया था। सम्मेलन की इस कल्पना को, कि धीरे-धीरे सभी राष्ट्र निःशस्त्रीकरण करेंगे, कभी कार्यान्वित नही किया गया। इस प्रकार से प्रतिशोध की भावना से ओत-प्रोत एक पक्षीय निःशस्त्रीकरण, एक पक्षीय शस्त्रीकरण में परिणत हो गया।

तीसरी कठिनाई है किसी राष्ट्र की तुलनात्मक सामरिक शक्ति का निर्णय करना। कोई समय था जब लुई चौदहवें ने युद्ध में कमी के लिये द्वन्द्व युद्ध के लिये प्रयोगित तलवार पर प्रतिबंध लगा दिया। किन्तु आज प्रत्येक राष्ट्र में स्थिति भिन्न और जटिल है। किसी राष्ट्र की सामरिक शक्ति को भी अनेक तत्व प्रभावित करते हैं और उसका सांकेतिक अनुमान कठिन है। इसको आंकने का कोई एक सामान्य आधार नहीं क्योंकि यह किसी राष्ट्र की जल-थल-नभ सेना की संख्या पर ही निर्भर न होकर उस राष्ट्र के आकार, आर्थिक साधन, भौगोलिक स्थिति, लोगों के चरित्र, प्रशिक्षण, औद्योगिक उत्पादन, आदर्श, सांस्कृतिक व राजनीतिक स्थिति आदि पर निर्भर करती है। इस समस्या ने भी नि.शस्त्रीकरण में किसी सामान्य निर्णय को कठिन बना दिया है।

नि.शस्त्रीकरण में चौथी कठिनाई निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों में निर्णय और प्रतिरक्षा वैज्ञानिकों के आविष्कारों के मध्य दौड़ है। ठीक उस समय जब कि आविष्कृत अस्त्र-शस्त्रों के निर्णय पर रोक और उनमें कमी के प्रस्तावों पर निर्णय लिये जाते हैं, रक्षा विभाग की वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में नवीन शस्त्रों के आविष्कार में संलग्न रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में कोई भी नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन सफल नही हो सकता है। उदाहरण के लिये जब कि 1932 में एक ओर नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन हो रहा था, ब्रिटिश वैज्ञानिकों ने 41,000 टन वाले बड़े जहाज 'हुड' का निर्माण किया, फ्रांस ने 23,000 टन का डन्कर्क जहाज बनाया व जर्मनी ने 10,000 टन व 11" व्यास वाली तोप बनाकर डोशलैंन्ड नामक नये पौकेट जहाज का निर्माण किया। इसी प्रकार जिस अणु बम का प्रयोग 1945 में हुआ उस पर प्रयोग की स्वीकृति राष्ट्रपति रूजवैल्ट 1939 में ही दे चुके थे। डा० राधाकृष्णन ने इस समस्या को इन शब्दों मे व्यक्त किया है, "हमारी चिन्तन धारा पीछे रह जाती है और वैज्ञानिकों के आविष्कार आगे चलते जाते हैं।" स्वाइटजर ने नोबेल पुरस्कार प्राप्त करते हुए कहा था, "पृथ्वी की छिपी हुई शक्तियों पर मानव विजय ने उसे महामानव बना दिया है।"

नि.शस्त्रीकरण की पांचवी बाधा गैर सरकारी उद्योगपतियों द्वारा शस्त्राशस्त्र का निर्माण और गैरकानूनी ढंग से उनका इस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार है। राष्ट्रीय सरकारें स्वयं द्वारा संचालित उद्योगों पर नियंत्रण का तो उत्तरदायित्व ले सकती हैं किन्तु गैर सरकारी उद्योगों पर पूर्ण नियंत्रण नहीं रख सकती। गैर सरकारी क्षेत्रों के उद्योगपति व्यक्तिगत हित को ध्यान मे रख शस्त्राशस्त्रों के निर्माण में

आने वाली सभी बाधाओं को कुचलने के लिये तत्पर रहते हैं। उन्हीं के प्रतिनिधि विलियम शेरर ने पृष्ठ भाग में रहते हुए 1927 के निःशस्त्रीकरण सम्मेलन को विफल करने की चेष्टा की। उद्योगपतियों की दूसरी दलील कारखाने बंद होने से बेकारी फैलने और राष्ट्र के समक्ष आर्थिक मंदी की समस्या उत्पन्न होने की है। उद्योगों से सम्बन्धित समस्या का एक और भी पहलू है। उद्योगों का विभाजन शांति उद्योग व शस्त्र उद्योगों के आधार पर नहीं किया जा सकता। साधारण अथवा बिना किसी परिवर्तन के भी बहुत से उद्योग युद्ध सामग्री निर्माण के लिये तत्काल ही परिवर्तित किये जा सकते हैं और ऐसी परिस्थिति में किसी राष्ट्र की वास्तविक सामरिक शक्ति का सही मूल्यांकन अत्यंत कठिन हो जाता है। यह समस्या निःशस्त्रीकरण को और भी जटिल बना देती है।

निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में अन्य कठिनाइयां राष्ट्रों के बीच सैनिक अनुपात का मान्य निर्धारण, बजट में रक्षा व्यय की सीमा के निष्कर्ष पर पहुँचना और अनुकूल अंतर्राष्ट्रीय वातावरण की आवश्यकता है। यह एक बड़ी जटिल समस्या है कि सही सैनिक अनुपात निर्धारित किया जा सके, क्योंकि यह किसी राष्ट्र के क्षेत्रफल, तट, भौगोलिक स्थिति, जनसंख्या, राष्ट्रीय आय व राष्ट्रीय सम्मान पर निर्भर है। इन सब का उपयुक्त समन्वय कर किसी एक निर्णय पर पहुँचना अत्यंत जटिल समस्या है। बजट प्रतिरक्षा व्यय की सीमा भी इस समस्या को हल नहीं कर सकती। कोई राष्ट्र कम राशि में भी अधिक सैन्य शक्ति का संचय कर सकता है जब कि अन्य अधिक में भी कम। निःशस्त्रीकरण अंतर्राष्ट्रीय वातावरण पर भी निर्भर है। 1919 से 1932 तक के आंशिक रूप से अनुकूल वातावरण में कुछ निःशस्त्रीकरण सम्मेलन सीमित रूप से सफल हुए जब कि उसके बाद वातावरण बिगड़ने के साथ-साथ शस्त्रीकरण की होड़ लग गई।

उपसंहार

शूमैन का कहना है, "वर्साय की संधि के बाद दो दशकों में हुए समस्त निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों के प्रवेश द्वार पर बड़े अक्षरों में लिखे 'अ स फ ल ता' ने पश्चिमी जगत का पूर्व निश्चित अधःपतन ला दिया"। निःशस्त्रीकरण में असफलता के दो परिणाम हुए। एक ओर तो शस्त्रास्त्र में होड़ के कारण युद्ध व्यय में वृद्धि हो गई और दूसरी ओर युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। दो विश्व युद्धों के मध्य विश्व-रक्षा व्यय 300 करोड़ से 1,000 करोड़ डालर प्रति वर्ष अर्थात् तिगुने से भी अधिक हो गया। लोकप्रिय तर्क कि बिना आक्रामक शस्त्रों के आक्रामक युद्ध नहीं होगा, असत्य है। अस्त्र-शस्त्र आक्रामक अथवा रक्षात्मक नहीं हैं, किन्तु उनके प्रयोग करने का उद्देश्य उन्हें इनमें से किसी भी श्रेणी में प्रतिष्ठित करता है। युद्ध शस्त्रों पर निर्भर नहीं है, उसका जन्म मानव के मस्तिष्क में होता है। यदि विश्व के समस्त अस्त्र-शस्त्र नष्ट भी कर दिये जायें तो क्या युद्ध समाप्त हो जायेगा...नहीं, फिर भी मुष्टि प्रहा-

श्रौर द्वन्द्व युद्ध सम्भव हैं। अब पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि युद्ध का अन्त करने में नि.शस्त्रीकरण का क्या महत्व है। विभिन्न प्रयासों की असफलता के कारण निःशस्त्रीकरण एक मरीचिका मात्र हो गया।

सारांश

मोरमेन्थ्यु के अनुसार, "निःशस्त्रीकरण शस्त्राशस्त्र की दौड़ को रोकने के लिये एक अथवा सब प्रकार के शस्त्रों की समाप्ति है। यह अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष व युद्ध को समाप्त कर शांति की नीव डालता है। निःशस्त्रीकरण के इतिहास में सफलतायें कम और विफलतायें अधिक है।

1919 से 1945 के मध्य निः शस्त्रीकरण का गहन अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सका कि इसके दो पहलू—(1) सख्यात्मक व गुणात्मक और (2) सामान्य व विशिष्ट, हैं। राष्ट्रपति विलसन ने राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव में निःशस्त्रीकरण पर जोर दिया था। किन्तु वास्तव में इसका प्रयोग केवल जर्मनी पर ही हुआ और अन्य राष्ट्रों ने आगे चल कर इस पर कोई ध्यान नहीं दिया।

1920 में राष्ट्रीय शस्त्राशस्त्र के आंकड़े एकत्रित करने के लिये परिषद् के सदस्यो का थल-जल-नभ विशेषज्ञों का परामर्श-दात्री आयोग बनाया गया। फरवरी 1921 में इसमें नागरिक विशेषज्ञ जोड़कर इसे मिश्रित आयोग की संज्ञा दी गई। इस आयोग ने कुछ सुझाव दिये पर इसे विशेष सफलता नही मिली। 1925 में राष्ट्रसंघ परिषद ने नि.शस्त्रीकरण पर प्रारंभिक आयोग की स्थापना की। इस आयोग के अध्ययन और सुझावों से निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में राष्ट्रो की कठिनाइयां सामने आईं।

फरवरी 1932 में विश्व नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन प्रारंभ हुआ, जिसमें 60 राष्ट्रों ने भाग लिया। प्रतिरक्षा राष्ट्र अपना अधिकार मानते थे। अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण एवं नियंत्रण को उन्होने अपनी सप्रभुता को सीमित करने का एक कदम समझा जिसके लिये वे तैयार नही थे।

दो विश्व युद्धों के बीच, राष्ट्रसंघ की अपेक्षा उसके बाहर अमेरिका के नौ नि.शस्त्रीकरण के प्रयत्न अधिक सफल हुए। 1817 में अमेरिका और कनाडा के बीच रश-बैगोट समझौता हुआ जिसमें दोनों ने झीलों पर जहाजों की व उनमें शस्त्रों की संख्या पर समझौता किया, जो आज भी लागू है।

वाशिंगटन के ऐतिहासिक सम्मेलन में ब्रिटेन, अमेरिका, जापान, फ्रांस व इटली में यथाक्रम से बड़े विमानवाही जहाजों में क्रमशः 5 : 5 : 3 : 1·67 : 1·67 के अनुपात का निश्चय हुआ। 10 वर्ष के लिये बड़े युद्ध जहाजों का निर्माण रोक दिया गया। यह संधि 1936 तक बलवत रही और इसी बीच जापान ने अपनी नौ शक्ति को बढ़ा लिया। छोटे जहाजों के विषय में 1927 के जेनेवा सम्मेलन में कोई सम-

झौता नहीं हुआ । 20 अप्रैल 1930 में पाँच राष्ट्रों का लंदन सम्मेलन हुआ । 22 अप्रैल 1923 को अमेरिका, ब्रिटेन व जापान में संधि हुई, जिसमें क्रमश: 10: 10: 6 विध्वंसक जहाजों; व पनडुब्बियों में 10: 10: 7 का अनुपात निश्चित हुआ । 1936 का लंदन सम्मेलन असफल रहा । केवल विभिन्न प्रकार के जहाजों की परिभाषा प्रस्तुत हुई । नि:शस्त्रीकरण में कोई सफलता नहीं मिली । नौ-शस्त्रीकरण में होड़ बढ़ती गई और युद्ध निश्चित हो गया । 2 दिसम्बर 1942 को अणुबम का जन्म हुआ जिसका सफल परीक्षण आलमोगोर्डो में 16 जुलाई 1945 को हुआ । 6 अगस्त को हिरोशिमा पर और 9 अगस्त को नागासाकी पर इनका प्रयोग हुआ, जिससे जापान ने आत्म-समर्पण कर दिया ।

नि:शस्त्रीकरण की असफलता के मुख्य कारण (1) राष्ट्रों में प्रभुसत्ता की भावना (2) जल-थल-नभ नि:शस्त्रीकरण में सहयोग का अभाव था (3) राष्ट्रों की तुलनात्मक सामरिक शक्ति आँकने में कठिनाई (4) वैज्ञानिकों द्वारा नये-नये अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार (5) गैर सरकारी फर्मों द्वारा शस्त्रास्त्र का उत्पादन व क्रय-विक्रय (6) अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण का अभाव (7) रक्षात्मक व आक्रामक शस्त्रों के निर्णय में कठिनाईयाँ थे, जिनका परिणाम द्वितीय विश्व युद्ध रहा ।

घटनाओं का तिथिक्रम

1921 25 फरवरी—अस्थायी मिश्रित आयोग की स्थापना ।

1922 12 नवम्बर—वाशिंगटन सम्मेलन ।

6 फरवरी—पाँच राष्ट्रीय नौ-संधि ।

1925 दिसम्बर—प्रारम्भिक आयोग ।

1927 20 जून-4 अगस्त—त्रिराष्ट्रीय नौ सम्मेलन ।

1930 21 जन०-22 अप्रैल—लंदन नौ सम्मेलन ।

22 अप्रैल—लंदन नौ संधि ।

6 नव०-9 दिसम्बर—नि:शस्त्रीकरण प्रारंभिक आयोग ।

1932 2 फरवरी—जेनेवा का विश्व नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन ।

1933 16 मार्च—मैकडोनाल्ड योजना ।

14 अक्टूबर—जर्मनी का नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन से परित्याग ।

1934 29 मई—11 जून—नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन का अन्तिम चरण ।

19 दिसम्बर—जापान का वाशिंगटन संधि परित्याग ।

1935 18 जून—आंग्ल-जर्मन नौ समझौता ।

9 दिसम्बर-
25 मार्च 1936] द्वितीय लंदन सम्मेलन।

1936 25 मार्च—द्वितीय लंदन नौ संधि।

1939 29 जनवरी—फर्मी द्वारा यूरेनियम-परमाणु का विभाजन।

1942 2 दिसम्बर—शिकागो विश्वविद्यालय में अणु बम का परीक्षण।

1945 16 जुलाई—अमेरिका के आल्मोगोर्डो में प्रथम अणु बम का सफल विस्फोट।

6 अगस्त—हिरोशिमा पर प्रथम अणु बम का प्रयोग।

9 अगस्त—नागासाकी पर द्वितीय अणु बम का प्रयोग।

सहायक अध्ययन

Buell, R. L.: **The Washington Conference, (1922).**

Engely, G.: **The Politics of Naval Disarmament (1932).**

Morgan, L. P.: **The problem of Disarmament. (1947).**

Myers, D. P.; **World Disarmament. (1932).**

Noel-Baker P.J.: **The Private Manufacture of Armaments (1937).**
The Arms Race- (1958).

Sloutzki, N. M.: **The World Armament Race, 1919-1939. (1941).**

Tate, Merze.: **The Disarmament Illusion- (1942).**
The United States and Armaments. (1948).

Wheeler-Bennett, J. W.: **The Pipe Dream of peace: The Story of the Collapse of Disarmament. (1935).**

प्रश्न

1. "युद्धोत्तर इतिहास में निःशस्त्रीकरण की क्रमिक मृत्यु अंतिम प्रमुख घटना थी।" शस्त्रीकरण को सीमित करने के प्रयासों के दृष्टिकोण से उपरोक्त कथन की व्याख्या करें। (राज० वि० 1962)

2. 1920 से 1932 में किये गये निःशस्त्रीकरण प्रयत्नो व इनकी असफलता के कारणों का उल्लेख करें। इस असफलता के क्या परिणाम हुए?
(आ० वि० 1961; 63, उ० वि० 1966)

3. निम्नलिखित पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखें :—

(अ) वाशिंगटन नौ समझौता

(ब) लंदन की संधि (1930) (जोधपुर वि० 1964,65)

4. दो युद्धों के मध्य निःशस्त्रीकरण के लिये किये गये महत्वपूर्ण प्रयत्नों का वर्णन करें। वे किस सीमा तक सफल हुए?

(पं० वि० 1962,66 आ० वि० 1965,67)

5. निःशस्त्रीकरण के लिये किये गये प्रयत्नों का पूर्णरूप से परीक्षण करें। इस क्षेत्र में वाशिंगटन सम्मेलन अथवा कैलोग समझौते का क्या महत्त्व था?

(राज० वि० 1966)

6. वाशिंगटन सम्मेलन ने किस सीमा तक निःशस्त्रीकरण क्षेत्र में योग दिया। (जो० वि० 1966)

7 इटली में फासिस्टवाद

"पुरुष के लिये युद्ध उतना ही आवश्क है, जितना कि स्त्री के लिये गर्भ।" —मुसोलिनी

"शक्ति को प्राप्त करने का उपाय है—या तो निर्वाचन में बहुमत प्राप्त करना या क्रांति के मार्ग द्वारा शासन को हथियाना। यदि प्रथम मार्ग असफल होता है तो विवशतः हमें दूसरा मार्ग अपनाना होगा।"—मुसोलिनी

"मेरे हृदय में ड्यूस के लिए स्नेह है किन्तु उसके साथ मैत्री घातक सिद्ध हुई है।" —हिटलर

"क्या राष्ट्रसंघ यह समझता है कि हम मुट्ठी भर नमक और धूल से भरी इस भूमि (इथोपिया) के इच्छुक हैं?" —मुसोलिनी

"यदि सम्पूर्ण इथिओपिया को एक तश्तरी मे हमारे सामने ले आयें, तो हम उसे स्वीकार नही करेंगे; क्योंकि शक्ति प्रयोग से ही उसे अधिकृत करने का हमने निश्चय किया है।" —मुसोलिनी (फ्रांस के राजदूत से)

विजयी, परन्तु पराजित इटली

प्रथम विश्वयुद्ध में यद्यपि इटली मित्र राष्ट्रों के साथ-साथ विजयी हुआ, किन्तु इसके बावजूद उसने अपने आपको पराजित और असन्तुष्ट अनुभव किया। इटली की साधारण जनता यह सोचने लगी कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हम लोग राष्ट्रीय स्वार्थ को सुरक्षित नहीं रख पाये हैं। हमने युद्ध में विजय प्राप्त की है; परन्तु शांति में पराजित हो गये हैं। भूमि के लालच मे इटली ने प्रथम विश्व युद्ध में योगदान किया था तथा जनसख्या एवं धन का त्याग भी पर्याप्त किया था। (साढ़े छः लाख इटली के नागरिकों ने प्राण खोये, 10 लाख आहत हुए तथा 75 सौ करोड़ रुपया व्यय हुआ)। किन्तु पेरिस के शांति सम्मेलन में उन्हें निराशा ही हाथ लगी। 26 अप्रैल 1915 की लंदन की गुप्त सधि के अनुसार इटली को दक्षिणी-अफ्रीका मे जर्मन उपनिवेशों के देने का वचन मित्र राष्ट्रों ने दिया था। परन्तु विजय के पश्चात् यद्यपि आठ हजार नौ सौ वर्ग मील भूमि इटली को यूरोप मे प्राप्त हुई थी, फिर भी बाल्कन प्रायद्वीप और अफ्रीका मे उन्हें कुछ भी नहीं मिला। यूरोप में विल्सन और क्लीमेन्सो के विरोध के कारण इटली के प्रधान मन्त्री ओरलैण्डो को फ्यूम, डोडेकेनीज तथा अल्बेनिया (जहाँ पर 1919 तक विजयी इटली की सेना थी और जिन्हें मित्र राष्ट्रों के दबाव पर अपसरण करना पड़ा) देने से साफ इन्कार किया गया। इस प्रकार इटली के सारे स्वप्न ओरलैण्डो आदि की कूटनीतिक दक्षता के बावजूद भी ढह गये।

आन्तरिक अव्यवस्था

युद्ध से लौटकर आये सैनिकों को इटली में रोजगार नहीं मिला। अतः वे असन्तुष्ट थे। इसके अतिरिक्त वे (अन्न वस्त्रो के अभाव में) सैनिक-वस्त्र धारण करते थे जिससे प्रजा उनसे बहुत नाराज थी। उधर राष्ट्रीय ऋण बढ़ कर छः गुना हो गया था एवं बजट में (14 करोड़ लीरा से भी अधिक) घाटा था। मुद्रा-स्फीति के कारण लीरा का मूल्य राष्ट्रीय विनिमय में घटकर $\frac{1}{4}$ रह गया था। औद्योगिक उत्पादन की कमी के कारण आवश्यक सामग्री का मूल्य बढ़ गया तथा सभी कर्मचारी वेतन संबंधी मांगों को पूरी कराने के लिये हड़ताल करने लगे।

राजनैतिक दृष्टिकोण से इटली की संसद में किसी भी दल को स्थायी रूप से बहुमत नहीं प्राप्त हुआ तथा तीन वर्ष में 6 प्रधानमंत्री बदले। नीटी जिओलिटी, बोनोमी और लुइगी फैक्टा प्रधान मन्त्री बने। प्रत्येक प्रधान मन्त्री ने जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिये झूठे-सच्चे सभी तरीकों से काम लिया तथा धीरे-धीरे राजनैतिक स्थिति अराजकता की ओर बढ़ने लगी। इस परिस्थिति के कारण समाजवाद ने जनता को आकृष्ट किया। समाजवादी दल की स्थापना मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित हो, इटली में 1882 में हुई थी। 1919 के सामान्य निर्वाचन में लोक सभा मे 534 में से 156 स्थान समाजवादी सदस्यों को

प्राप्त हुए, परन्तु साम्यवादी रूसी क्रांति के प्रभाव के कारण, ये लोग शक्ति प्रयोग करके शासन को हथियाना चाहते थे। दो वर्ष पश्चात् समाजवादी दल ने 504 स्थानों में से 128 स्थान प्राप्त किये। यद्यपि उदारवादी दल को 195 स्थान प्राप्त हुए थे पर वे इतने उदासीन थे कि देश की तत्कालीन समस्याओं को हल करने में समर्थ न हो सके। इसी कारण स्थिति बिगड़ती गई।

साम्यवाद का भय

उग्र साम्यवादियों ने अगस्त 1919 में कृषकों को भड़का कर व भूमिपतियों को मारकर लूटमार की। सम्पत्तिशाली व्यक्तियों को बहुत हानि पहुँचाई गई तथा ग्रामों में जाकर इन लोगों ने कृषक जनता को, जिनमें भूतपूर्व सैनिक भी थे, भड़काया, हड़तालें और दंगे हुए। इसका प्रभाव नगरों पर भी पड़ा तथा डाक, तार, पानी, आदि की आवश्यक व्यवस्था में गड़बड़ फैल गई। सितम्बर 1920 में 600 कारखानों, जिनमें पांच लाख श्रमिक कार्य करते थे, को उन्होंने बल प्रयोग करके अपने हाथ में ले लिया तथा सर्वहारा के एकतंत्रीय शासन की स्थापना की। प्रशासन की दुर्बलता के कारण अराजकता अधिक बढ़ती गई तथा जनता में एक दृढ़ और स्थायी शासन की इच्छा प्रकट होने लगी। समाजवादियों ने 15 मई 1921 के चुनाव के पश्चात् साम्यवादियों (16) को अपने दल से पृथक् कर दिया। शिक्षित वर्ग, धनी, मध्यम वर्ग, उद्योग तथा भूमिपति सभी लोग साम्यवाद के विरुद्ध हो गये।

मुसोलिनी का उदय

बैनिटो मुसोलिनी (1883-1945) एक लोहार का पुत्र होते हुए भी अच्छी शिक्षा प्राप्त तथा अत्यन्त उन्नत एवं प्रगतिशील विचारों का था। 29 वर्ष की अवस्था में वह इटली के समाजवादी मुख्य पत्र अवन्ती का प्रधान-सम्पादक बन गया तथा इसी दल का एक प्रमुख नेता बन गया। समाजवादियों की प्रमुखनीति विश्व युद्ध में निष्पक्ष रहने की थी। इसने इस नीति के विरुद्ध एक लेख लिखा, जिसमें इटली को युद्ध में योगदान के लिये (मित्र राष्ट्रों की ओर से) परामर्श दिया गया था जिसके कारण दल से इसे बहिष्कृत कर दिया गया। इसके पश्चात् साधारण सैनिक के रूप में सेना में भर्ती होकर वह युद्ध में भाग लेने चला गया और घायल होकर वापिस इटली लौटा। शांति-सम्मेलन के पश्चात् 23 मार्च 1919 में उसने अवकाश प्राप्त सैनिकों का एक सम्मेलन बुलाया एवं एक स्वयंसेवक दल की स्थापना की। 16 नवम्बर 1919 के चुनाव में इस दल को एक (फेसी-डी काम्बेटी मैन्टो) भी स्थान प्राप्त नहीं हुआ; किन्तु प्रदर्शन, प्रचार एवं भाषण की सहायता से इसने प्रत्यक्ष रूप से साम्यवादियो का विरोध किया। सैनिक लोग काली कुर्ती पहनते थे तथा बन्दूक, अंडी के तेल तथा चाकू से साम्यवादियों पर आक्रमण करते थे। प्रधान-मंत्री जिओलिटी*

*इटली के प्रधान मन्त्रियों के नाम—1919 से 1922

(1) फ्रांसेस्को नीटी—23 जून, 1919—21 मई, 1920

ने साम्यवादियों का विरोध करने में इस दल की सहायता की। 15 मई 1921 के सामान्य निर्वाचन में इस दल को लोक सभा में 35 स्थान प्राप्त हुए। फासिस्ट दल अब संगठित रूप से कार्य करने लगा। मुसोलिनी ने कहा था, "हमारा कार्यक्रम सरल है; हम इटली पर शासन करना चाहते हैं; लोग हम से हमारा कार्यक्रम पूछते हैं—हमारा कार्यक्रम है—फासिस्ट सिद्धान्तों द्वारा इटली के शासन को संचालित करना।"

फासीवाद के मूल तत्व

फासीवाद के मूल तत्व निम्नलिखित थे :—

1. उग्र राष्ट्रवाद
2. राज्य की व्यक्ति के ऊपर सत्ता
3. प्रजातंत्र का विरोध
4. एकतंत्रीय नेतृत्व में विश्वास
5. वैयक्तिक उद्योग को प्रोत्साहन
6. वर्ग-संघर्ष के स्थान पर वर्ग-सहयोग में आस्था
7. हिंसा द्वारा शक्ति संचय
8. अनुशासन तथा देश भक्ति पर बल

मुसोलिनी ने कहा था, "शक्ति को प्राप्त करने का उपाय है—या तो निर्वाचन में बहुमत प्राप्त करना या क्रांति के मार्ग से शासन को हथियाना। यदि प्रथम मार्ग, असफल होता है तो विवशत: हमें दूसरा मार्ग अपनाना होगा।" 3 अक्टूबर सन् 1922 को मुसोलिनी ने प्रधानमंत्री फैक्टा को चुनौती दी कि उनके मंत्रिमंडल में पाँच मंत्री उसके दल के हों। यह शासन को हथियाने की खुली चुनौती थी। परन्तु प्रधानमंत्री फैक्टा ने घोषणा की, "सरकार ऐसी धमकियों से डरने वाली नही, जब तक कि लोक सभा में उसे बहुमत प्राप्त है।" मुसोलिनी ने (26 अक्टूबर को) इसके उत्तर में कहा, "इतिहास में स्वार्थी तथा संकीर्ण विचारधारा वाले व्यक्तियों का विरोध सदा शक्ति से होता आया है और ऐसा समय भी आ गया है।" दूसरे दिन काली कुर्ती वाले सैन्यदल (50 हजार) को लेकर उसने रोम पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी। फैक्टा सैनिक कानून लागू करना चाहता था, परन्तु राजा की असहमति से विवश होकर उसने पद त्याग कर दिया। 30 अक्टूबर को मुसोलिनी ने मिली-जुली सरकार की स्थापना की। इस मंत्रिमंडल में 14 में से चार मंत्री उसके दल के थे। इस

(2) फ्रांसिस्को नीटी—21 मई, 1920—15 जून, 1920
(3) जिम्रोवानी जिम्रोलिटी—15 जून, 1920—4 जुलाई 1921
(4) आइमेनो बोनोमी—4 जुलाई, 1921—26 फरवरी, 1922
(5) लूइगी फैक्टा—26 फरवरी, 1922—1 अगस्त, 1922
(6) लूइगी फक्टा—1 अगस्त, 1922—31 अक्टूबर, 1922

प्रकार फासी-दल की विजय हुई, जिसके कई कारण थे—यथा, जनता में पेरिस के शांति सम्मेलन के विरुद्ध व्यापक असन्तोष, आन्तरिक अव्यवस्था, अस्थिर प्रशासन, साम्यवाद का भय, भूतपूर्व सैनिकों को नौकरी की आशा, सामान्य जनता की शांति एवं सुरक्षा की इच्छा, प्रजातंत्र की दुर्बलता, आर्थिक संकट, चिन्तित अमीरों तथा उद्योग-पतियों की दल को सहायता, सम्पत्तिवान मध्यम श्रेणी की सहानुभूति, साम्यवादी परीक्षण की असफलता, कुशल नेतृत्व एवं फासी दल का जोरदार प्रचार आदि। इन सबके अतिरिक्त प्रमुख कारण थे—मुसोलिनी का व्यक्तित्व, उग्र-राष्ट्रवाद तथा फासीदल के आकर्षक सिद्धान्त। 1922 में 30 अक्टूबर को धमकी देकर, बल प्रयोग द्वारा मुसोलिनी प्रधान मंत्री बन गया और 1943 तक एक तानाशाह के रूप में शासन करता रहा। मुसोलिनी का अधिनायकवाद, संसद द्वारा दिये गये 25 नवम्बर 1922 के शांति व सुधार के लिये विशेषाधिकार पर आधारित था।

फासिस्टों की विदेश-नीति

"विश्वास करो, आज्ञा मानो, लड़ो इल्ड्यूस सदा ठीक कहता है," मुसोलिनी का मूलमंत्र था। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रीय गौरव की स्थापना तथा सम्मानपूर्ण पद प्राप्त करना, ताकि इटली को कोई दुर्बल राज्य न समझे, यह इसका प्रथम उद्देश्य था। रोम के लुप्त गौरव की पुर्नस्थापना; इटली की शक्ति का सिक्का बिठाना, तथा औपनिवेशिक साम्राज्य की, इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु, प्राप्ति; और वर्सायी संधि का संशोधन करना जिससे कि इटली को दिये गये झूठे आश्वासनों का कुछ प्रतिकार हो, मुसोलिनी की प्रमुख आकांक्षा थी। मुसोलिनी ने 1923 में लोजान की संधि के अनुसार टर्की से डोडेकेनीज द्वीप को, जो कि इटली पहले खो चुका था, प्राप्त किया और इसका सैनिकीकरण करके इसे नौ-सेना का अड्डा बना दिया, ताकि पूर्वी भूमध्य सागर पर प्रभुत्व स्थापित रहे। यूनान के पाँच करोड़ लीरा क्षतिपूर्ण देने तक कार्फ्यू को इसने हथिया लिया; क्योंकि अल्बानिया-यूनान सीमा निर्धारण समिति के अध्यक्ष, जो इटालियन थे, उनकी हत्या कर दी गई थी। इस विषय का विशद् वर्णन हम संयुक्त राष्ट्रसंघ के अध्याय में कर चुके हैं। 27 जनवरी 1924 को रोम की संधि के अनुसार इटली ने यूगोस्लाविया से फ्यूम नगर को प्राप्त कर लिया, यद्यपि इसका बन्दरगाह बैरस यूगोस्लाविया के पास ही रहा। 27 नवम्बर 1926 में तिराना की संधि के अनुसार इटली ने अल्बानिया को आर्थिक सहायता दी तथा 20 वर्षीय रक्षात्मक संधि द्वारा अल्बानिया को अपने संरक्षण में ले लिया। 7 अप्रैल 1939 में अल्बानिया इटली में सम्मिलित कर लिया गया। जून 1928 में तँन्जीयर पर मुक्त नगरी के प्रशासन में इटली को स्थान दिया गया। सन् 1930 में लन्दन के नौ-सम्मेलन में इटली को फ्रांस के समान अधिकार की स्वीकृति प्राप्त हुई। संक्षेप में, विदेशी नीति की जो दुर्बलतायें 1919 तक थी, उनको इसने दूर किया तथा इटली को अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सम्मान दिलाया।
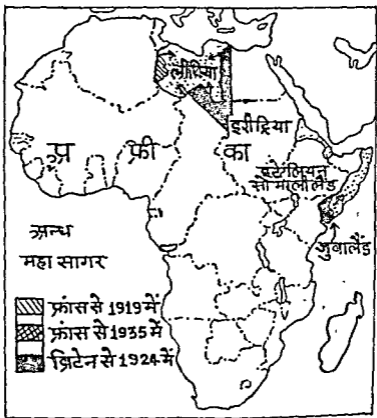
मान चित्र—7

अफ्रीका में इटली के उपनिवेश

उपनिवेश		क्षेत्रफल (वर्ग मील में)	जन-संख्या
1. सीरी नाइका	(लीबिया)	2,30,000	2,20,000
2. त्रिपोली टेनिया	(लीबिया)	3,50,000	5,50,000
3. इरिट्रिया		43,700	4,03,000
4. सोमाली लैण्ड		1,54,000	6,50,000
5. जूबा लैण्ड		34,000	16,000
	योग	8,11,700	18,39,000

औपनिवेशिक क्षेत्रों में इटली ने मित्र राष्ट्रों से, विशेषतः फ्रांस और ब्रिटेन से, उत्तर तथा पूर्वी अफ्रीका में अनेक क्षेत्र प्राप्त किये। सन् 1919 में 12 सितम्बर को फ्रांस ने गैडमैस तथा गैट के अड्डों को इटली को दिया, जो कि पश्चिमी लीबिया में थे। पाँच वर्ष पश्चात् 25 जुलाई, 1924 को इंगलैंड से जूबालैंड (38 हजार वर्ग

मील) प्राप्त हुआ, जो कि स्टालियन सीमालैंड के सीमान्त पर था (मानचित्र देखें)। दो वर्ष पश्चात् ब्रिटेन ने लीबिया में कूफ्सा का प्रदेश इटली को दिया। इस तरह ब्रिटेन ने 35 हजार वर्गमील भू-क्षेत्र इटली को दिया। 26 मई 1928 को मुसोलिनी ने एक महत्वपूर्ण घोषणा की, "जब 1935 और 1940 के मध्य हम लोग एक ऐसे मोड़ पर होंगे, जिसको कि मैं इतिहास में एक अति महत्वपूर्ण बिन्दु कहूँगा; हम लोग इस योग्य हो जायेंगे कि दुनिया हमारी आवाज सुने तथा हमारे अधिकारों को पहचान ले।" इसी उद्देश्य की पूर्ति-हेतु सन् 1935 मे, फ्रांस से सहारा मरुस्थल की 40 हजार वर्गमील भूमि इटली ने लेकर लीबिया में सम्मिलित कर ली।

इथोपिया पर आक्रमण

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

इथोपिया पूर्वी-अफ्रीका में पर्वतों और पठारों से घिरा 60 लाख जन-संख्या तथा तीन लाख 50 हजार वर्गमील क्षेत्र का एक स्वतंत्र देश था। यहाँ पर प्राचीन ईसाई, धर्मावलम्बी मुसलमान, आदि बसते थे। यहाँ का मुख्य धन्धा कृषि और पशुपालन था। राजनीतिक ढांचा परम्परागत प्राचीन सामन्त प्रणाली पर आधारित था। संक्षेप में, यह तिब्बत के समान, एक एकान्तवासी देश था। स्वेज नहर के निर्माण के 20 वर्ष पश्चात् इटली की सहायता से मैनिलीक ने उकियाली की संधि के द्वारा इथोपिया के शासन पर अधिकार किया, जिसके कारण इथोपिया इटली के प्रभाव-क्षेत्र मे आ गया। 1 मार्च, 1896 को एडवा के प्रसिद्ध युद्ध-क्षेत्र में मैनिलीक ने सम्पूर्ण रूप से इटली को पराजित कर दिया। इटली के दो सेनापति व चार हजार छ: सौ सैनिक मारे गये तथा एक हजार पाँच सौ गिरफ्तार हुए। इटली ने संधि के अनुसार इथोपिया की स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान की, एक करोड़ रुपया क्षतिपूर्ति दी तथा विवश होकर अपनी सेनाओं को हटा लिया। एक प्रसिद्ध इतिहासकार के शब्दों में "देशभक्त इटली के निवासियों के लिए एडवा एक राष्ट्रीय अपमान था।"

20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में फ्रांसीसियों ने अपने उपनिवेश जीबूती से इथोपिया की राजधानी अदिस अबाबा तक, एक रेलमार्ग का निर्माण किया। इसके पश्चात् अंग्रेज, अमेरिकन, डच आदि सभी ने इथोपिया के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये। सन् 1916 में मैनिलीक का भतीजा रासत फारी इथोपिया का सरक्षक बना। 1930 में इसी सम्राट् ने स्वयं को हैली-सिलासी के पद से विभूषित किया। इथोपिया राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया (1923) एवं इटली के साथ 1928 में एक मैत्रीपूर्ण संधि की। सन् 1935 के इटली-इथोपियन युद्ध के अनेक कारण थे, जो इस प्रकार हैं :—

अन्तर्निहित कारण

(अ) इटली की साम्राज्यवादी नीति :—1919 के प्रथम फासिस्ट सम्मेलन में मुसोलिनी ने घोषणा की थी, "जो जाति आर्थिक एवं आध्यात्मिक रूप से प्रसार

करना चाहती है, उसके लिए साम्राज्यवाद जीवन का मूलतत्व है—हम विश्व में एक स्थान चाहते हैं, क्योंकि हमें ऐसा अधिकार है।" उसने घर पर आवास करना, दीनता तथा साम्राज्यवादी भावना को वीरता तथा स्फूर्ति का द्योतक माना। परन्तु किसी भी बड़ी शक्ति से युद्ध करना उसके लिए घातक और विस्फोटक होता। अतः उसने घोषणा की, "इटली का साम्राज्य विस्तार 'शांतिपूर्ण प्रसार' होगा।" सन् 1934 में उसने घोषणा करते हुए कहा था, "हम विश्व में किसी की परवाह नहीं करते······और युद्ध तो राष्ट्र के लिए सर्वोच्च न्यायालय है।" इसके अतिरिक्त मुसोलिनी प्राचीन रोमन-गौरव की पुनर्स्थापना पर तुला हुआ था।

(आ) आर्थिक कारण :—इटली का भू-क्षेत्र केवल एक लाख 20 हजार वर्ग मील था तथा उसमें से केवल ⅔ भाग ही कृषि योग्य था। जनसंख्या बढ़ते-बढ़ते चार करोड़ हो गयी थी, क्योंकि वृद्धि दर चार लाख प्रतिवर्ष थी, जबकि स्वभावतः भू-भाग बढता ही नहीं। 1921 के पश्चात् से अमेरिका ने इटली के निवासियों का अमेरिका में आवास बन्द कर दिया था। 1929 की आर्थिक मंदी के कारण इटली के बजट में सदैव बने रहने वाले घाटे में वृद्धि होती ही गई तथा स्वर्ण की संचित पूंजी भी कम होने लगी। व्यापार असन्तुलित हो गया अर्थात् आयात अधिक एवं निर्यात कम होने लगा। नवीन कर लगाने के पश्चात् तथा विदेशी मुद्रा पर नियंत्रण करने पर भी आर्थिक संकट धीरे-धीरे बढ़ता ही गया। अतः मुसोलिनी ने जनता को राष्ट्र-गौरव की ओर ले चलने का विचार किया; क्योंकि इथोपिया में कच्चे माल की आशा, व्यापार वृद्धि, खनिज पदार्थों की प्राप्ति, उत्पादित माल की खपत आदि इटली के लिए बड़ा लालच था। इससे सुन्दर और कोई भुलावा नहीं हो सकता था।

(इ) इथोपिया की दुर्बलता :—भौगोलिक दृष्टि से इथोपिया, इटालियन सोमाली लैंड एवं इरीट्रिया के बीच मे था। अतः इथोपिया का भूगोल इटली के लिए एक आकर्षण था तथा यहाँ उसकी सामरिक विजय निश्चित थी। इसके अतिरिक्त बड़े राष्ट्रों में से किसी से भी इथोपिया में इटली का स्वार्थ नहीं टकराता था। सामन्तों में होने वाले सतत गृह-युद्ध तथा वहाँ के निवासियों की बर्बरता इटली के लिए आक्रमण के अच्छे बहाने थे। अतः अंधकार में पड़े अफ्रीकनों को सभ्य बनाने तथा उन्हें प्रगति की रोशनी दिखाने का भी बहुत सुन्दर बहाना इटली के पास था। वास्तव में इटली एडवा का प्रतिशोध लेने को आतुर था और अवसर की प्रतीक्षा में था।

इथोपिया का केन्द्रीय शासन दुर्बल था। सामन्त-प्रथा के कारण वातावरण दूषित था एवं वहां अनेक छोटे-छोटे राजा तथा उपराजा थे। इनमें आपस में संघर्ष होता रहता था। इस प्रकार अव्यवस्था तथा अशांति फैली हुई थी, जिसने कि इटली को आक्रमण के लिए प्रोत्साहित किया। यद्यपि इथोपिया की सेना व्यक्तिगत रूप से अत्यन्त साहसी थी; परन्तु सम्राट् के धनाभाव के कारण उसके पास हथियार कम

ही नहीं, अपितु पुराने ढंग के भी थे। सामन्त प्रणाली के कारण सैनिक-क्षेत्र में एक नेतृत्व तथा संगठन का अभाव था। इसलिये 1935 में जब युद्ध आरंभ हुआ तो इथोपिया की सेना के पास हथियारों की कमी इतनी रही कि प्रत्येक सैनिक के उपयोग के लिए केवल 150 कारतूस ही थे।

(ई) **अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति** :—जापान की मंचूरिय विजय (1931) ने राष्ट्रसंघ की कलई खोल दी। हिटलर के उदय के कारण जर्मनी में पुनः शस्त्रीकरण हो चुका था। यूरोप के राष्ट्र जर्मनी की समस्या में उलझे हुए थे। इन दिनों मुसोलिनी का इंगलैंड और फ्रांस से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था। सन् 1906 में फ्रांस और ब्रिटेन के साथ इटली ने इथोपिया को अपने प्रभाव-क्षेत्र में बाँट लिया था; यद्यपि हस्तक्षेप न करने की बात कही थी। अवसर देखकर 1932 में सेनापति डिबोनो को इथोपिया की जांच करने के लिए भेजा गया। उसने यह बताया कि राजनीतिक दृष्टि से वहाँ की स्थिति 'डाँवाडोल' थी तथा उसने वहाँ के कुछ अमीरों को घूस देकर भी मिला लिया, जो कि सम्राट् विरोधी थे। फ्रांसीसी तथा जर्मन डरे हुए थे। आक्रमण के भय से चिन्तित होकर वे इटली की मैत्री के इच्छुक थे।

तात्कालिक कारण

(i) **वाल्-वाल घटना** :—5 दिसम्बर सन् 1934 को इथोपिया के सीमान्त वाल्-वाल नगर में इटली और इथोपिया की सेना में मुठभेड़ हो गई। 15 सौ इथोपियन सैनिक तथा पाँच सौ इटली के सैनिक इस घटना में सम्मिलित हुए। दोनों पक्षों की हानि हुई। इथोपिया ने सन् 1928 में इटली से की गई मैत्री-संधि के अनुसार इस घटना का तीव्र विरोध किया एवं मध्यस्थता द्वारा शांतिपूर्ण तरीके से विवाद को सुलझाने का प्रस्ताव रखा। इटली ने इस प्रस्ताव को ठुकराते हुए लिखित क्षमा, क्षतिपूर्ण तथा इथोपियन अफसरों को दंडित करने की मांग की। विवश होकर इथोपिया इस समस्या को राष्ट्रसंघ में ले गया (3 जनवरी 1935)। राष्ट्रसंघ की समिति ने प्रारम्भ में इस विषय को इटली-इथोपिया के पारस्परिक विचार-विनिमय द्वारा हल कराने की असफल चेष्टा की। इटली के प्रतिनिधि बेरौन अलोइसी ने सितम्बर 1935 में राष्ट्रसंघ में घोषणा की, "वाल्-वाल में इटली ने आत्मसम्मान और आत्म-रक्षा के लिए ही कार्यवाही की थी।" आयोग ने यह मत प्रकट किया कि कोई भी पक्ष वाल्-वाल घटना के लिये दोषी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि दोनों ही मानते थे कि वे अपनी-अपनी भूमि पर युद्ध कर रहे थे।

इसके बाद ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने इस समस्या को निपटाने की चेष्टा की। परन्तु मुसोलिनी ने यह घोषणा की, "क्या राष्ट्रसंघ यह समझता है कि हम मुट्ठी भर नमक और धूल से भरी इस भूमि के इच्छुक हैं?" इस असफल चेष्टा के पश्चात् राष्ट्रसंघ ने इथोपिया को वहां के सम्राट् की अनुमति के आधार पर सहायता देने की योजना प्रस्तुत की।

(ii) मुसोलिनी-लवाल गुप्त समझौता :—7 जनवरी 1935 को फ्रांस के विदेश-मंत्री पेयर लवाल ने मुसोलिनी से इथोपिया की समस्या को हल करने के लिए रोम में एक संधि पर हस्ताक्षर किये। इस संधि के अनुसार निम्नलिखित क्षेत्र फ्रांस से इटली को मिले :—

(1) लीबिया के दक्षिण-पश्चिम रेगिस्तान घडामेस से तूंमो पर्यन्त,

(2) लीबिया के दक्षिण में तिवेस्ती रेगिस्तान,

(3) फ्रांसीसी सोमालीलैंड इरीट्रिया के बीच के लालसागर के समुद्र तट,

(4) इथोपिया की राजधानी अदिस अबाबा से फ्रांसीसी सोमालीलैंड के जीबूति पर्यन्त विस्तृत रेलमार्गों के दो हजार पाँच सौ शेयर (34 हजार 5 सौ में से) इटली ने फ्रांस से क्रय किये।

इसके अतिरिक्त दोनों आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता की रक्षा के हेतु विचार-विनिमय करेंगे एवं अकेले सैनिकीकरण नहीं करेंगे। फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध इटली का समर्थन करने के लिये वचन दिया। इस गुप्त संधि से इटली को फ्रांस से अप्रत्यक्ष सहायता मिली। ट्यूनिशिया में सन् 1896 की संधि के अनुसार जो सुविधा इटली के नागरिकों को दी गई थी, उस सबका इटली ने त्याग कर दिया। 30 वर्ष पश्चात् अर्थात् सन् 1965 से इटालियन माता-पिता का पुत्र फ्रांसीसी नागरिक बन जायेगा। इस प्रकार इस संधि से इटली को एक लाख दस हजार वर्ग मील भूमि फ्रांस से प्राप्त हुई। इथोपिया पर आक्रमण की तैयारी की गई। गुप्त विचार-विमर्श में इथोपिया को हड़पने के लिये इटली को कूटनीतिक समर्थन और अहस्तक्षेप नीति का वचन मिला। उसी समय डिबोनो को इरीट्रिया में इटली का उच्च आयुक्त बनाकर युद्ध की तैयारी के लिये भेजा गया। निस्सन्देह यह गुप्त समझौता आक्रमण का मुख्य कारण था।

मुसोलिनी ने रोम में फ्रांसीसी राजदूत को कहा था, "यदि सम्पूर्ण इथोपिया को एक तश्तरी में हमारे सामने ले आयें तो हम उसे स्वीकार नहीं करेंगे; क्योंकि हमने शक्ति प्रयोग करके उसको अधिकृत करने का निश्चय किया है। इटली और इथोपिया की समस्या अत्यन्त सामान्य एवं सरल है। इसका एक मात्र हल इसे इटली के साथ सम्मिलित करना है। हमारी नीति का परिणाम, सभ्यता का विकास और दास-प्रथा का अवसान होगा।" इस प्रकार मुसोलिनी ने पूर्वी अफ्रीका की सुरक्षा तथा इटली की जनता की आवश्यकता की पूर्ति के बहाने दुर्बल तथा स्वतंत्रता-प्रेमी इथोपिया पर बलपूर्वक अधिकार करने का निश्चय किया।

(iii) मैफी-रिपोर्ट :—स्वेज, मिश्र, सूडान, पूर्वी-अफ्रीका आदि के अधिकारी शक्तिशाली ब्रिटेन ने सन्तुष्टिकरण नीति को अपनाकर मुसोलिनी की साम्राज्यवादी नीति को प्रोत्साहित किया। 18 जून 1935 में मैफी रिपोर्ट ब्रिटिश विदेश-मंत्री सेमुअल होर को दी गई। इस रिपोर्ट में कहा गया कि इटली इथोपिया पर शीघ्र

अधिकार कर लेगा। परन्तु ब्रिटेन का ऐसा कोई निहित स्वार्थ नहीं था जो कि इथोपिया पर इटली के आक्रमण को रोकने के लिये बाध्य करे। वास्तव में यह कहा गया कि इथोपिया पर इटली का नियंत्रण होने से ब्रिटेन का लाभ ही होगा। यदि इटली इथोपिया को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लेता है तो अंग्रेजों को इथोपिया में 'टाना' झील पर अधिकार करके सूडान से मिला देना चाहिये। यदि अवसर मिले तो ब्रिटिश सोमालीलैण्ड, केन्या एवं सूडान की सीमा को भी बढ़ाना चाहिये। ब्रिटेन न तो सामाजिक सुरक्षा के लिये युद्ध ही चाहता था और न ही स्वेज नहर से युद्ध की जो सामग्री इथोपिया जा रही थी, उस पर प्रतिबन्ध लगाना चाहता था। इस प्रकार अंग्रेजों की नीति एवं इन परिस्थितियों से लाभ उठाकर मुसोलिनी ने इथोपिया पर आक्रमण किया।
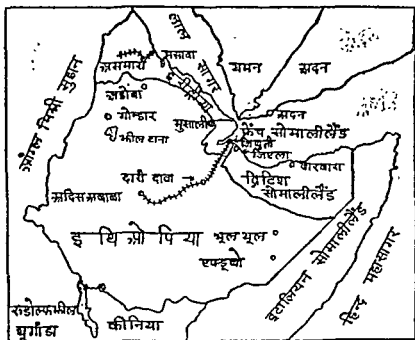
मान चित्र—8
इटली की इथोपिया विजय

युद्ध की घटना (3 अक्टूबर 1935 से 9 मई 1936)

इटली ने आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों (टैंक, मशीनगन, युद्ध-विमान) एवं अच्छी से अच्छी सेना, जिसमें ढाई लाख इटली के तथा ढाई लाख अफ्रीकी सैनिक थे, से सुसज्जित होकर 3 अक्टूबर 1935 को इथोपिया पर आक्रमण कर दिया। तीन दिन में एडवा को अधिकृत कर लिया तथा इथोपिया के तीन लाख सैनिक आक्रमण को रोक नहीं पाये। इस प्रकार 1896 का प्रतिशोध पूरा हुआ। नवम्बर सन् 1935 तक सेनापति डिबोनो ने अक्सूम तथा मकाले पर अधिकार कर लिया। इसी समय

डिवोनो को मुसोलिनी ने वापस बुला लिया और उसके स्थान पर मार्शल बाडोग्लियो को सेनापति नियुक्त किया। जनरल ग्राजिया ने, दक्षिण में गैर लोगूवी, गोराहाई, गावरेदार आदि स्थानों को हथिया लिया। अप्रैल 1936 में 'लेक आरांगी' के युद्ध में सम्राट् हेली-सिलासी पराजित हुए। 2 मई को एक अंग्रेज पोत में सम्राट् हेली सिलासी ने फिलिस्तीन की ओर पलायन किया। 3 दिन पश्चात् इटली की विजयी सेना ने इथोपिया की राजधानी अदिस-अबाबा मे प्रवेश किया। मई 9, 1936 को इथो-पिया को इटली के साम्राज्य मे मिलाने की घोषणा की गई। इटली के राजा विक्टर इमान्युयेल ने सम्राट् की पदवी धारण की। सेनापति मार्शल बाडोग्लियो इथोपिया के प्रथम राज्यपाल नियुक्त हुए।

राष्ट्रसंघ की प्रतिक्रिया

इटली को दो मोर्चों पर युद्ध करना पड़ रहा था। एक तो सामरिक अर्थात् इथोपिया से *प्रत्यक्ष युद्ध तथा दूसरे राष्ट्रसंघ से वाक्-युद्ध, जबकि राष्ट्रसंघ* के सदस्य सामूहिक कार्यवाही द्वारा एक दुर्बल राष्ट्र को बचाने की चेष्टा कर रहे थे। 7 अक्टूबर, 1935 को इथोपिया के अनुरोध पर विचार कर परिषद् ने इटली को राष्ट्रसंघ की धारा 12 के अनुसार दोषी ठहराया। इतिहास में यही एक प्रथम उदा-हरण है जबकि एक बड़े यूरोपियन राष्ट्र को राष्ट्रसंघ ने आक्रामक घोषित किया। राष्ट्रसंघ की महासभा ने भी इस निर्णय को मान्यता देते हुये नाकाबंदी के लिये धारा 16 के अनुसार एक समिति नियुक्त की। 19 अक्टूबर को इस समिति ने 5 प्रकार के निम्न प्रतिबन्धों का मसविदा प्रस्तुत किया :—

(1) कोई भी राष्ट्र इटली को अस्त्र-शस्त्र का विक्रय न करे; पर इथोपिया को यह सुविधा दी जाय।

(2) आर्थिक नाकाबन्दी।

(3) इटली के माल के आयात पर प्रतिबन्ध।

(4) किसी भी वस्तु के इटली को निर्यात पर रोक (विशेषतः युद्ध-सामग्री)

(5) जो राष्ट्रसंघ के सदस्य इटली को माल विक्रय करते थे, उनसे सभी राष्ट्र, माल क्रय करें।

18 नवम्बर, 1935 को महासभा ने इन सब प्रतिबन्धों को स्वीकृति देकर, इटली पर लागू कर दिया और सब राष्ट्रों से आर्थिक व व्यापारिक सम्बन्ध-विच्छेद करने का अनुरोध किया। यद्यपि कनाडा के प्रतिनिधि ने लोहे तथा इस्पात पर प्रति-बन्ध लगाने का सुझाव रखा; परन्तु फ्रांस तथा इंगलैण्ड के विदेश मंत्रियों ने इसे अस्वीकृत कर दिया। क्योंकि अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था तथा उस पर यह प्रतिबन्ध लागू नही होता था। अक्टूबर 1935 में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 1935 के निष्पक्षता कानून के अनुसार इटली और इथोपिया दोनों को ही अस्त्र-शस्त्र देना

अस्वीकार कर दिया। परन्तु इसमें भी तेल और लोहे आदि का कोई उल्लेख नहीं था। परिणामतः इटली ने अपनी इन सब वस्तुओं की मांग अमेरिका से पूरी की। इस प्रकार तीन सौ प्रतिशत अधिक व्यापार इन दोनों देशों के बीच होने लगा। इसने इटली की विजय को सुनिश्चित बना दिया।

राष्ट्रसंघ की दुर्बलता के कारण विचार-विनिमय में ही अधिक समय नष्ट हो गया और इंग्लैण्ड के विदेशमंत्री एन्थनी ईडन के तेल पर नाकाबन्दी के प्रस्ताव को फ्रांस ने स्वीकार नही किया। इस बीच में इटली ने सामरिक रूप से पूर्ण विजय प्राप्त कर ली और राष्ट्रसंघ बेचारा विचार ही करता रहा। 15 जुलाई, 1936 को राष्ट्रसंघ ने आर्थिक तथा अस्त्र-शस्त्र का जो प्रतिबन्ध इटली पर लगाया था, हटा लिया; परन्तु यह कहा, "बल प्रयोग करके किसी क्षेत्र को अपने राज्य में सम्मिलित करना राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव के विरुद्ध है।"

होर-लवाल गुप्त संधि

7 दिसम्बर 1935 को ब्रिटेन के विदेश-मंत्री सर सेमुअल होर एवं लवाल ने इटली के प्रति सन्तुष्टिकरण नीति अपनाने तथा इथोपिया की स्वतन्त्रता व अखण्डता स्थिर रखने के लिये यह निर्णय किया कि इटली को इथोपिया के भूभाग में आर्थिक विकास एवं आवास के लिये एक क्षेत्र दे दिया जाय। इसके विनिमय मे इटली के बन्दरगाह आसब को, जो कि इरीट्रिया में था, इथोपिया को दे दिया जाय, जिससे वह समुद्र से अपना सम्बन्ध स्थापित कर सके। दोनों ने निर्णय किया कि इटली इथोपिया और राष्ट्रसंघ की सहमति प्राप्त होने तक यह योजना गुप्त रखी जाय। पाँच दिन पश्चात् इसकी सूचना इटली तथा इथोपिया को दे दी गई। पर लवाल ने इस योजना को एक पत्र में प्रकाशित करवा दिया। परिणामतः ब्रिटिश विदेश-मन्त्री होर को पद त्याग करना पड़ा और कुछ दिन पश्चात् लवाल को भी अपमानित होकर सरकार को छोड़ना पड़ा।

अन्तर्राष्ट्रीय महत्व

राष्ट्रसंघ अपने एक छोटे सदस्य राष्ट्र इथोपिया की स्वतंत्रता की रक्षा करने में दुर्बल तथा पूर्ण असफल रहा। राष्ट्रसंघ की अकर्मण्यता और बड़े राष्ट्रों के विरुद्ध कदम उठाने की विवशता का उदाहरण जनता के सामने आया। इस प्रकार राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा एवं अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व का परीक्षण असफल हो गया। इथोपिया के राजा हेली-सिलासी ने राजधानी का त्याग करने के पश्चात् यह भविष्यवाणी की थी, "यदि एक शक्तिशाली राष्ट्र एक दुर्बल स्वतन्त्र देश को हड़प लेता है और अन्य राष्ट्र उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये सहायता नही देते हैं तो पश्चिमी राष्ट्रों का विनाश निश्चित है।" इस घटना ने आंग्ल-अमेरिकी गुट की सन्तुष्टिकरण नीति को भी पूर्ण स्पष्ट कर दिया; क्योकि यह सर्व विदित हो गया कि किस प्रकार फ्रांस तथा इग्लैंड की गुप्त संधि से अप्रत्यक्ष रूप से इटली को सहायता

मिली। सर सेमुअल होर तथा लवाल का अपमान तथा पतन भी इसी कारण हुआ। अमेरिका का इस समय निष्पक्षता कानून का प्रयोग करना, जो कि इटली के पक्ष मे और इथोपिया के विरोध में था, न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। केवल इटली ने ही 1914 की अपेक्षा 1935 में छः सौ प्रतिशत तेल अधिक खरीदा। इथोपिया के मिलने से इटली की राज्य सीमा का विस्तार तो हुआ, परन्तु इससे उसकी राज्य लिप्सा भी बढ़ गई और आर्थिक समस्याओं का पूरा हल भी नहीं हुआ। इटली के विदेश-मंत्री काउंट स्फोरजा के शब्दों में "इससे मुसोलिनी को स्पेन के गृह-युद्ध में भाग लेने के लिये प्रोत्साहन मिला।" 1937 के धुरी राष्ट्रों में इटली का मिलन तथा म्युनिख में हिटलर का समर्थन एवं फ्रांस और ब्रिटेन के विरुद्ध 10 जून 1940 को युद्ध-घोषणा अधिनायकवादियों की एक विजय थी।[1]

इथोपिया विजय के परिणाम

(1) **राष्ट्रसंघ की निर्बलता** :—इटली द्वारा इथोपिया विजय के निम्नलिखित परिणाम हुए। इथोपिया की घटना ने राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचाई, क्योंकि एक बड़े राष्ट्र ने छोटे राष्ट्र को हड़प लिया और सदस्य राष्ट्र दुर्बल राष्ट्र को सहायता देने में असमर्थ रहे। राष्ट्रसंघ के दण्डादेश में शक्ति का अभाव सर्वविदित हो गया। आक्रामक इटली ने राष्ट्रसंघ का परित्याग किया जिससे सामूहिक सुरक्षा सिद्धांत असफल हो गया। जर्मनी, जापान और अमेरिका पहले ही राष्ट्रसंघ से अलग थे। इस कारण यह और भी दुर्बल हो गया। राष्ट्रसघ की असफलता ने नाजीवाद को विस्तारवादी नीति को प्रोत्साहित किया।

(2) **रोम-बर्लिन मैत्री** :—इटली के विरुद्ध ब्रिटेन व फ्रांस के दण्डादेश लगाने के कारण मुसोलिनी असंतुष्ट हो गया और उसने जर्मनी-विरोधी नीति त्याग हिटलर से मित्रता स्थापित की। इस युद्ध की अवधि में ही 7 मार्च 1936 को हिटलर ने राइन प्रदेश का पुनर्शस्त्रीकरण किया। 11 जुलाई को आस्ट्रिया-जर्मन समझौते से स्पष्ट हुआ कि अब इटली, जर्मनी का पक्ष लेकर उसका विरोध नहीं करेगा। इस प्रकार 25 अक्टूबर को रोम-बर्लिन धुरी का निर्माण हुआ, जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। इस संधि से भूमध्यसागर इटली का विशेष प्रभाव क्षेत्र हो गया।

(3) **आंग्ल-फ्रांसीसी मतभेद** :—इथोपिया की घटना ने ब्रिटेन व फ्रांस में पारस्परिक मतभेद उत्पन्न किया। फ्रांस की दृष्टि में ब्रिटेन इटली के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिये प्रस्तुत नहीं था और इसीलिये उसने इटली के स्वेज नहर से युद्ध-पोत जाने पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया। लंदन के दृष्टिकोण में अदूरदर्शी फ्रांस राष्ट्रीय सुरक्षा पर ही बल देता था और इसीलिये दोनों में समन्वय असम्भव हो गया और दोनों ही सन्तुष्टिकरण नीति को अपनाने के लिये बाध्य हो गये।

1936 से 1940 तक इटली की विदेश नीति

प्रसिद्ध इटली के लेखक विलारी के अनुसार मुसोलिनी ने स्पेन में गणतंत्र-

---

1. हिटलर की विदेशी-नीति में विस्तृत वर्णन देखिये।

वादियों के विरुद्ध सहायता देकर यह प्रयत्न किया था कि वह साम्यवादियों का गढ़ न बन जाय। मुसोलिनी का विश्वास था कि वह स्पेन को सहायता देकर समस्त पश्चिमी सभ्यता की सहायता कर रहा है। विलारी कहता है, "अंतर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना करके भी मुसोलिनी ने जो स्पेन को सहायता दी, वह पश्चिमी राष्ट्रों की मास्को के साम्राज्यवाद से रक्षा थी और मुसोलिनी के पतन के बावजूद पश्चिमी राष्ट्र उसके ऋणी हैं।" 1936 मे इटली ने जर्मनी से मैत्री संधि की व 1937 में जापान से साम्यवाद विरोधी सधि और इस प्रकार धुरी राष्ट्रों का जन्म हुआ। इस सबके पीछे मुसोलिनी का उद्देश्य (1) रोम के गौरव का पुर्नस्थापन, (2) इटली के लिये उत्तरी अफ्रीका में उपनिवेश प्राप्ति व (3) भूमध्य सागर को इटली की झील बनाना था।

1938 में जर्मनी के आस्ट्रिया पर अधिकार करने पर मुसोलिनी ने शांत रह कर उसका अप्रत्यक्ष समर्थन किया। जब चैकोस्लोवाकिया का प्रश्न उठा तब मुसोलिनी ही था जिसने म्युनिख सम्मेलन में चार राष्ट्रों को आमन्त्रित करने का सुझाव रखा जिसमें स्वयं, चैकोस्लोवाकिया (जिसकी सम्पत्ति का बँटवारा होना था) व रूस अनुपस्थित रहते थे। उसके अनुसार, "पिछले 100 वर्षों में म्युनिख पहला अवसर था जब कि इटली के प्रभाव से विश्व की एक महत्वपूर्ण घटना का निवटारा हुआ। म्युनिख ने न केवल साम्यवाद को, वरन् यूरोप मे रूसी राजनीतिक प्रभाव को भी पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया।"

"युद्ध पुरुष के लिये उतना ही आवश्यक है जितना कि स्त्री के लिये गर्भ।"—मुसोलिनी का विचार था। इस नीति का अवलम्बन करते हुए उसने हिटलर से मित्रता की व 7 अप्रैल, 1939 को अल्बानिया पर अधिकार कर लिया। 22 मई को इटली ने जर्मनी के साथ इस्पात समझौता किया, जिसका उद्देश्य यद्यपि आक्रमक था, इसे रक्षात्मक घोषित किया गया। जब 1 सितम्बर को हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया तो इटली ने तटस्थता अपनाई और इस आक्रमण में भाग नहीं लिया। हिटलर ने इटली को यह सूचना दी थी कि सेना के लिए जनसंख्या पर्याप्त होते हुए भी वह 1943 के पूर्व काफी युद्ध सामग्री नहीं जुटा पायेगा। हिटलर केवल इटली की तटस्थता चाहता था, उसने उसकी सामरिक सहायता की चिन्ता नही की। रिबेनट्रोप को 10 मार्च, 1940 को हिटलर ने एक विशेष संदेश लेकर रोम भेजा, जिसमें यह कहा गया कि "दो राष्ट्र, दो राष्ट्रों की जनता, दो क्रांति और दो शासन के भविष्य निश्चित रूप से जुड़े हुए हैं।" 8 दिन पश्चात् ब्रेनर दर्रे में हिटलर व मुसोलिनी में मुलाकात हुई, जिसके फलस्वरूप इटली की विदेश नीति ने नया मोड़ लिया। मुसोलिनी ने कहा कि "यह अपमानजनक है कि जब दूसरे राष्ट्र इतिहास का निर्माण कर रहे हों, हम हाथ बांधे खड़े रहें।"

द्वितीय विश्व युद्ध में इटली (1940-43)

देखते-देखते जब हिटलर ने डेनमार्क, नार्वे, हालैण्ड व बेल्जियम पर अधिकार

कर लिया तब इटली ने 10 जून, 1940 को फ्रांस के विरुद्ध युद्ध में शामिल होने की घोषणा की। रूजवेल्ट ने इस पर कहा था, "इटली ने पड़ोसी की पीठ में छुरा भौंक दिया।" 24 जून 1940 को फ्रांस के आत्मसमर्पण के बाद, इटली को संधि में—जिबुती, नाइस, सॅवाय, कार्सिक ट्युनिस व सैनिक सामान फ्रांस से प्राप्त हुआ। फ्रांस की पराजय के पश्चात् त्रिराष्ट्रीय संधि हुई (27 सितम्बर 1940)।

इस समय इटली ने 10 युद्ध जहाज, 500 विमान व 2 लाख सेना के साथ अफ्रीका मे सोमालीलैण्ड पर अधिकार किया और केन्या व सूडान पर आक्रमण किया। ब्रिटिश सेना ने नवम्बर 1941 तक पूर्वी अफ्रीका में इसे हराकर, इथोपिया में प्रवेश किया। नवम्बर 1940 में इटली लीबिया में एक मोर्चा खोल मिश्र में 60 मील दूर तक पहुँच गया। ब्रिटेन के जनरल वेव्हल ने इटली को पराजित किया और लीबिया पर अधिकार कर लिया। 1300 तोप और 1 लाख इटली की सेना कैद हो गई।

1941 में जर्मनी ने प्रसिद्ध जनरल रोमेल को इटली की सहायता के लिये भेजा। वह बड़ी वीरता के साथ मिश्र की ओर बढ़ा। इसी समय इटली ने यूनान पर आक्रमण कर दिया। 1942 के मध्य तक अंग्रेजों के 250 टैंक उनके अधिकार में चले गये और एललालामैन का भयानक युद्ध हुआ। इस युद्ध में रोमेल हार गया और सामान की कमी के कारण उसे पीछे हटना पड़ा। वर्ष के अन्त तक रोमेल के पास केवल 400 तोप, 600 विमान व 90,000 सैनिक रह गये जब कि इस समय अंग्रेजों के पास इससे दूनी व्यवस्था थी। इस समय रोमेल ने कहा था कि वे 3-4 दिन में पुनः काहिरा पर अधिकार कर लेंगे। मुसोलिनी स्वयं अफ्रीका गया। इधर मोंटगेमरी ने 23 अक्टूबर को आक्रमण शुरू कर दिया। रोमेल घायल हो गया और इलाज के लिये जर्मनी चला गया। उसकी सेना ने 1400 मील पीछे हटने के बाद आत्म-समर्पण कर दिया।

8 नवम्बर 1942 को उत्तरी अफ्रीका में जनरल आईजनहावर ने इटली के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोला जिसमें 1 लाख 40 हजार फौज और 850 जहाजों ने भाग लिया। 13 मई 1943 को इटली के जनरल मैसी, 2 लाख, 67 हजार सेना के साथ कैद कर लिये गये। इस समय चर्चिल ने घोषणा की थी, "यह अन्त का आरंभ है।" ट्युनिशिया और सिसली पर अधिकार करने के बाद मित्र राष्ट्र इटली के भूखण्ड पर आक्रमण करने लगे। 19 जुलाई 1943 को रोम पर पहली बमबारी हुई। 6 दिन पश्चात् फासिस्ट महान् परिषद की बैठक (जो 1939 के बाद पहली बार बुलाई गयी थी) में मुसोलिनी को बर्खास्त किया गया। मुसोलिनी के दामाद सियानो के नेतृत्व में 19 विपक्ष व 7 पक्ष मे मतों के आधार पर उन्हें पद छोड़ने को बाध्य किया गया। विक्टर मैनुअल तृतीय ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया व मार्शल बाडोग्लियो को प्रधान मंत्री बनाया गया। फासिस्ट दल को विघटित कर दिया गया। 2 सितम्बर

में द्रुत गति से विकास एवं (2) प्राकृतिक साधनों का अभाव, जिसमें कोयला, लोहा व तेल प्रमुख थे। इसीलिये आर्थिक दृष्टि से इटली आत्मनिर्भर नहीं हो पाया। यहां तक कि खाद पदार्थ भी 30 प्रतिशत वाह्य देशों से मंगाने पड़ते थे। 1933 के पश्चात् व्यापार असतुलित था। इथोपिया पर आक्रमण के पश्चात् से सोने व विदेशी मुद्रा का अभाव हो गया। यद्यपि इटली ने आर्थिक आत्मनिर्भरता की नीति को अपनाया था किन्तु वह सफल नहीं हो पाया। उसने आर्थिक उन्नति के लिए 22 नियमों की स्थापना की व आर्थिक सत्ता को केन्द्रीभूत कर दिया किन्तु आवश्यक स्वतंत्रता के अभाव में आर्थिक प्रगति में गतिरोध आ गया।

(3) **उग्र राष्ट्रवाद** :—मुसोलिनी ने अपने प्रचार द्वारा इटली में जिस उग्र राष्ट्रवाद को जन्म दिया उसके दो परिणाम हुए :—(1) उसने अपनी साम्राज्यवादी नीति को आगे बढ़ाया। इसके फलस्वरूप उसने अल्बानिया व इथोपिया पर आक्रमण किया। इटली की महानता के पुनर्स्थापन के स्वप्न ने उसे अंधा बना दिया। उधर जनता भी उसके उत्तेजक प्रभाव मे अपना हित भूल गई। (2) दूसरी ओर उसे अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये स्वयं के पास पर्याप्त शक्ति न होने के कारण जर्मनी की ओर हाथ बढ़ाना पड़ा व धुरी राष्ट्रों को जन्म दिया। पर्याप्त साधनों के अभाव में सहायक होने के बजाय, उसने इटली को जर्मनी पर भार बना दिया। हिटलर ने अपने एक अंतिम पत्र में लिखा था, "मेरे हृदय में ड्यूस के लिये स्नेह है किन्तु उसके साथ मैत्री घातक सिद्ध हुई है।" अपने राष्ट्रवाद व साम्राज्यवाद के जोश मे द्वितीय विश्व युद्ध प्रारभ होने के पूर्व ही इथोपिया के युद्ध व स्पेन के गृह युद्ध मे इटली ने अपनी आधी शक्ति समाप्त कर दी। 1940 से 43 के मध्य उत्तरी अफ्रीका मे महत्वाकाक्षा की पूर्ति व नाइस, सँवोय, ट्युनिशिया पर विजय प्राप्ति की इच्छा में उसने अपनी बचीकुची शक्ति लगा दी। इस प्रकार इटली के उग्र राष्ट्रवाद ने उसका पतन ला दिया।

(4) **इटली पर मित्र-राष्ट्रीय आक्रमण** :—मुसोलिनी ने कहा था, "किसी राष्ट्र की पराजय आतरिक कारणों, नैतिक स्थिति, आर्थिक दबाव, दलबदी, शासन व्यवस्था पर निर्भर नहीं होती। उनकी हार का कारण बाह्य आक्रमण है।" इटली वाह्य आक्रमण का सामना नही कर सका। एक-एक करके उत्तरी अफ्रीका, सिली व रोम पर, मित्रराष्ट्रीय जनरल आईजनहावर, क्लार्क व मोंटगोमेरी ने आक्रमण किये। स्वयं इटली के उसके समर्थक व सेनाध्यक्ष वाडोग्लियो व सियानो उसके विरुद्ध हो गये। मुसोलिनी की यही शिकायत बनी रही कि उसे जर्मनी से पर्याप्त सहायता नही मिली और इन सबका परिणाम हुआ इटली की पराजय। अंत में, उनके पास विजय के लिये आवश्यक नैतिक बल का भी अभाव हो गया था।

मूल्यांकन

फासिज्म का जन्म साम्यवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। यह प्रजातंत्र को भी

अकुशल मान, उसका विरोधी था। फासिज्म की एक विशेष देन 'औद्योगिक प्रतिनिधि प्रणाली' है। इसके अनुसार उसने सभी उद्योगों को 22 विभागों में बांटकर औद्योगिक प्रतिनिधित्व का एक सफल प्रयोग किया और विश्व को प्रजातंत्र की चुनाव प्रणाली मे एक नई दिशा दी।

सारांश

प्रथम विश्व युद्ध में इटली मित्र राष्ट्र के साथ एक मुख्य विजयी राष्ट्र था परन्तु शांति संधि से इटली को कोई विशेष लाभ नहीं रहा। युद्धोपरान्त इटली की स्थिति गंभीर थी। मुद्रा स्थिति, सैनिकों को सेवा से मुक्ति, साम्यवादी प्रचार, श्रमिकों मे हड़ताल, प्रशासन की दुर्बलता, कृषकों में असंतोष तथा मुसोलिनी के उदय ने इटली में फासिस्टवाद को जन्म दिया।

उग्र राष्ट्रवाद से प्रेरित होकर इटली ने राष्ट्रीय गौरव को प्राप्त करने के लिये डोडेकानीज, फ्यूम के भग व अल्बेनिया से रक्षात्मक सधि की। ब्रिटेन ने ज्यूबालैंड और खुपसा और फ्रांस से सहारा के कुछ अंश प्राप्त किये। 13 अक्टूबर 1935 को इथोपिया की दुर्बलता का लाभ उठाकर, अनुकूल अंतराष्ट्रीय परिस्थिति और फ्रांस से गुप्त समझौता कर इथोपिया पर आक्रमण कर दिया। राष्ट्रसंघ ने अपने इतिहास में प्रथम बार 18 नवम्बर को आर्थिक प्रतिबंध लगाया, किन्तु ब्रिटेन और फ्रांस के गुप्त समर्थन के कारण यह असफल रहा। 9 मई को इटली ने इथोपिया को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

इसके परिणाम रोम-बर्लिन धुरी राष्ट्र की स्थापना, स्पेन के गृह युद्ध में तानाशाही फ्रैंको का समर्थन, वर्सायी संधि के संशोधन की मांग, म्युनिख समझौते में भाग लेना और हिटलर के साथ इस्पात समझौता आदि महत्वपूर्ण घटनाये थी। 7 अप्रैल 1939 को इटली ने अल्बेनिया पर अधिकार कर लिया और हिटलर की आक्रामक नीति का पूर्णतः समर्थन किया। 10 जून 1940 को अपनी तटस्थ नीति को त्यागकर मुसोलिनी ने फ्रांस के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की और जिभूति, नाइस, सैवॉय, कार्सिका, ट्युनिश पर अधिकार कर लिया। यूनान एवं उत्तरी अफ्रीका पर इटली का आक्रमण असफल हो गया। मित्र-राष्ट्रो ने नये मोर्चे खोल दिये और 25 जुलाई 1943 को मुसोलिनी को पद त्याग करने के लिये बाध्य कर दिया। उत्तरी इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिस्ट गणतंत्र, नाजी जर्मनी की कठपुतली था। रोम के पतन के साथ बढ़ती हुई मित्र राष्ट्रीय सेना ने उत्तर में प्रवेश किया। 28 अप्रैल को, जब मुसोलिनी इटली से पलायन का प्रयास कर रहा था, पकड़ लिया गया और मार दिया गया। एक दिन बाद इटली में जर्मन सेना ने आत्मसमर्पण कर दिया।

फासिस्टवाद के पतन के मुख्य कारण मुसोलिनी की अदूरदर्शिता, आंतरिक दुर्बल अर्थ-व्यवस्था, उग्र राष्ट्रवाद और मित्र-राष्ट्रीय आक्रमण के कारण युद्ध में पराजय, थे।

घटनाओं का तिथि-क्रम

1919 23 मार्च—फासिस्ट दल की स्थापना (मुसोलिनी)।
24 अप्रैल—इटली के प्रतिनिधि मण्डल द्वारा पेरिस के शान्ति सम्मेलन का परित्याग।
19 जून—ओरलैण्डो का पद त्याग और नीटी का नवीन मंत्रिमण्डल।
12 सितम्बर—अनुनजिओ का फ्यूम पर अधिकार।

1920 1 सितम्बर—कारखानों पर श्रमिकों का कब्जा।
12 नवम्बर—युगोस्लाविया से रैपालो संधि।
27 दिसम्बर—अनुनजिओ का फ्यूम खाली करना।

1921 27 फरवरी—फ्लोरेन्स में साम्यवादी-फासिस्ट संघर्ष।
15 मई—आम चुनावों में फासिस्टों को 35 स्थानों की प्राप्ति।

1922 26 फरवरी—फैक्टा का मंत्रि-मंडल।
24 अक्टूबर—नैपल्स में फासिस्ट कांग्रेस।
28 अक्टूबर—रोम पर चढ़ाई।
31 अक्टूबर—मुसोलिनी प्रधान मन्त्री बना।

1923 27 अगस्त—कार्फ्यू घटना।

1924 27 जनवरी—युगोस्लाविया के साथ रोम संधि।
25 जुलाई—इंग्लैण्ड ने इटली को जुबालैण्ड दिया।

1926 27 नवम्बर—अल्बानिया के साथ तिराना की संधि।

1928 2 अगस्त—इथोपिया से मैत्री संधि।

1933 15 जुलाई—चार राष्ट्रीय समझौता (इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली व जर्मनी)।

1934 14-15 जून—हिटलर की प्रथम इटली यात्रा।
5 दिसम्बर—वाल्वाल में इटली इथोपिया संघर्ष।

1935 7 जनवरी—मुसोलिनी-लवाल समझौता।
3 अक्टूबर—इथोपिया पर आक्रमण।
7 अक्टूबर—राष्ट्रसंघ परिषद् ने इटली को आक्रामक घोषित किया।
18 नवम्बर—राष्ट्रसंघ का दण्डादेश।

1936 9 मई—इथोपिया विजय।

1938 30 सितम्बर—म्युनिख समझौता।

1939 7 अप्रैल—अल्बानिया विजय।

1940 10 जून—फ्रांस के विरुद्ध युद्ध घोषणा।

1943 25 जुलाई—मुसोलिनी का पद त्याग।

सहायक अध्ययन

Baoglio, P : **The War in Abyssinina.** (1937)

Chabod, F. : **A History of Italian Fascism.** (1963)

Macartney, M. H. H. and Cremona, P. : **Italy's Foreign and Colonial Policy, 1914-37.** (1938)

Royal Institute of International Affairs : **Abyssinia and I Italy.** (1935)

Salvemini, G. : **Prelude to World War II.** (1953).

Sforza, Count Carlo : **Contemporary Italy.** (1944)

प्रश्न

1. किन कारणों ने इटली में फासिस्ट क्रांति का सूत्रपात किया। नयी फासिस्ट सरकार ने प्रशासन का पुनंगठन किस प्रकार किया ? (राज०वि० 1956,62)

2. 1919 के शांति सम्मेलन से इटली के असंतोष के कारणों पर प्रकाश डालिये। (राज० वि० 1957,59)

3. दो विश्व युद्धों के मध्य काल के इटली के अफ्रीका के साथ सम्बन्धों की विवेचना करें। (राज० वि० 1963)

4. दो विश्व युद्धों के बीच इटली की विदेश नीति की व्याख्या एवं आलोचना करें। (राज० वि० 1964, आ० वि० 1963)

5. किन परिस्थितियों में इटली ने इथोपिया का अपने राज्य में विलय किया और इसके क्या परिणाम हुए ? (जो०वि० 1964)

6. स्पष्ट करें कि किस प्रकार इटली की ऐबीसीनिया के विरुद्ध कार्यवाही राष्ट्रसंघ के लिये घातक सिद्ध हुई। (राज० वि० 1965, उ० वि० 1965)

7. मुसोलिनी की विदेश नीति का मूल्यांकन करें, यूरोप की शांति पर इसका क्या प्रभाव पड़ा ? (राज० वि० 1966, उ० वि० 1966)

8. दो विश्व युद्धों के बीच इटली के फ्रांस और इंग्लैंड से संबंधों की व्याख्या करें। (पं० वि० 1966)

9. ऐबीसीनिया पर आक्रमण के मुसोलिनी के उद्देश्यों का विश्लेषण कीजिये तथा इस विचार का विवेचन कीजिये कि 'इटली के नग्न और निर्लज्ज आक्रमण' ने मौलिक परिणामों सहित समस्त विश्व को प्रभावित किया।

(राज० वि० 1967, जो० वि० 1967)

8 स्पेन के गृह-युद्ध का अंतर्राष्ट्रीय महत्व

"फ्रैंको की सफलता ने 'भूमध्य सागर' को 'इटली की झील' बना दिया और ब्रिटेन व फ्रांस की नौ शक्ति को भारी धक्का लगा।" —एक इतिहासकार

"स्पेन में विदेशी शक्तियों के सफल हस्तक्षेप ने यूरोपीय युद्ध की निश्चित भूमिका तैयार कर दी।" —हैनेम

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

15 वी तथा 16 वी सदी में स्पेन एक शक्तिशाली राज्य था, परन्तु 20 वी सदी में उसकी इस शक्ति का अन्त हो चुका था तथा अराजकता की स्थिति व्यवहारिक रूप ले रही थी। लुई चतुर्दश और लुई नेपोलियन तृतीय के समय स्पेन की समस्या काफी महत्वपूर्ण थी। स्पेन यूरोप के राज्यों की पारस्परिक स्पर्धा का रण-क्षेत्र, कई बार वन चुका था। इसके दीर्घ इतिहास के अनुसार, यूनानी, कार्थेजियन, रोमन, गोथ, अरबों एवं फ्रांसीसियों ने यहाँ प्रवेश करके अपनी सांस्कृतिक देनें दी थीं। भौगोलिक स्थिति के कारण यहाँ की जनता के चरित्र में घमंड, स्वार्थ तथा संकुचित क्षेत्रीय भावना अधिक मात्रा में पाई जाती थी। इसी कारण वे राष्ट्रीय हित को अधिक महत्व न दे सके। यहाँ की आर्थिक स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय थी। यहाँ का सैनिक संगठन दुर्बल था। सेना में आवश्यकता से अधिक अधिकारी थे, जो केवल सम्पत्तिशाली होने के कारण इस पद पर पहुँचे थे। चर्च, क्राउन, सेना आदि केवल शोभा के लिये थे। 1931 में ही सात सौ सेनाध्यक्ष थे। इनको वेतन देने में ही राजकीय आय का आधा भाग व्यय हो जाता था। यही स्थिति चर्च की भी थी। वहाँ पर भी अकुशल अधिकारी व पादरियों की भरमार थी। अतः स्पष्ट है कि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति बहुत कम थे और गरीबों की संख्या अधिक थी। एक स्पेनिश इतिहासकार के शब्दो में "केवल अतीत के गौरव को छोड़कर सभी विशेषताओं का अन्त-सा हो गया था।" इस प्रकार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ही स्पेन की क्रांति हुई थी।

प्राइमो-डी-रिवेरा की तानाशाही (1923 से 1930)

स्पेन का राजा अल्फ़ंजो तेरहवां (1886-1930) जो कि बूर्बो वंश का था, 1902 में 16 वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा। वह स्पेन की जनता का हित व कल्याण चाहता था। परन्तु आन्तरिक स्थिति के कारण 1923 तक यहाँ पर 33 मंत्रिमण्डलों का शासन चला। प्रथम महायुद्ध मे स्पेन निष्पक्ष रहा; परन्तु युद्ध के पश्चात् इसमें आन्तरिक अव्यवस्था तथा अशान्ति फैल गई। निम्न कारणों से इसने इतना गंभीर रूप धारण कर लिया कि फलस्वरूप रिवेरा का पतन हुआ :—

1. मोरक्को के विद्रोह में सामरिक असफलता,
2. आकस्मिक मंदी के कारण व्यापारियों तथा श्रमिकों में असंतोष,
3. सैनिक अधिकारियों का शासन में हस्तक्षेप,
4. केटालोनिया नामक प्रदेश में पृथक्‌वादी आन्दोलन।
5. शासन व्यय के लिये करों में अधिकता,
6. पूर्ण हड़ताल के पश्चात् सैनिको व जनता में संघर्ष तथा 1921 में प्रधान-मन्त्री की हत्या, और
7. राष्ट्रीय संसद (कारटज) में जनता का अविश्वास।

उपरोक्त कारणों के परिणाम स्वरूप 13 सितम्बर, 1923 में मुसोलिनी का अनुकरण करते हुए रिवेरा ने सैनिक सहायता से षड्यंत्र द्वारा शासन पर अधिकार किया तथा राजनीतिज्ञों की असफल नीति की तीव्र निन्दा की। स्पेन के इतिहास में प्रथम वार किसी सैनिक अधिकारी ने शासन पर अधिकार किया था। इसने संवैधानिक शासन को उखाड़ फेंका, प्रेस तथा विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता छीन ली, व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाया, विश्वविद्यालयों पर नियंत्रण किया, आर्थिक पुनर्गठन का प्रयास किया, आदि। सन् 1926 में मोरक्को के पन्द्रह वर्षीय विद्रोह का अन्त कर उसने उसके नेता अब्दुल करीम आदि को दंड दिया। केटालोनिया के स्वायत्त शासन के आन्दोलन को समाप्त करने का असफल प्रयास किया। यद्यपि रिवेरा के आदर्श काफी उच्च थे, परन्तु दूरदर्शिता के अभाव के कारण वह न तो शासन मे कुशलता ला सका और न ही इन आदर्शों को व्यवहारिक रूप दे सका। इसी कारण निराश होकर जनवरी 1930 में सेनापति बेरेंगूर को शासन सौंप कर वह पेरिस चला गया। 16 मार्च को उसकी वहीं पर मृत्यु हो गई। उस ही के शब्दों में उसने 2336 दिन शासन किया था।

जनता में व्यापक असन्तोष तथा मंहगाई के कारण सम्राट अल्फेंजो तथा प्रधानमंत्री बेरेंगूर ने 1876 के संविधान को पुनः लागू करने का निश्चय किया। साथ ही राष्ट्रीय संसद के चुनाव, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, प्रकाशन स्वतंत्रता, आर्थिक सुविधा तथा बिना अपराध गिरफ्तार न करने का आश्वासन जनता को दिया गया। परन्तु श्रमिकों तथा बुद्धिजीवियों ने शासन का विरोध किया, क्योंकि संविधान का पालन नही हो सका। 30 दिन में चुनाव न हो सका। 1930 में पाँच सौ हड़तालें हुई थी। जिनकी संख्या बढ़कर 1931 में 600 हो गई। इस समय दमनकारी नीति अपनाई, परन्तु गणतंत्री नेता जमोरा ने 'राजा का नाश हो' का नारा लगाकर 14 फरवरी 1931 को बेरेंगूर को पद त्याग के लिये बाध्य किया।

गृह-युद्ध के कारण

स्पेन के गृह-युद्ध के अनेक कारणों में से प्रमुख निम्न हैं :—

1. युद्धोत्तर मंदी :—सन् 1929 के पश्चात् की आर्थिक मंदी का प्रभाव स्पेन पर बहुत अधिक पड़ा। 2 करोड़ 30 लाख में से 10 लाख व्यक्ति बेकार हो गए थे। बजट में निरन्तर असंतुलन तथा आयात-निर्यात का अन्तर था, जिससे समाज के सभी वर्गों को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। तात्कालिक शासन इसका स्थायी हल न ढूंढ सका। इस कारण जनता शासन वर्ग में परिवर्तन चाहती थी।

2. वैधानिक शासन की असफलता :—जनता में फैली निरक्षरता के कारण वैधानिक शासन वहाँ पर सफल व जनप्रिय न हो सका। साथ ही 1923 के पहले तथा 1930 के पश्चात् वहाँ पर स्थिर व स्थायी मंत्रिमंडल न बन सका। वैधानिक शासन की असफलता का एक अन्य कारण स्पेन के राजनीतिक दलों की अस्थिरता

थी ; विशेषतः राष्ट्रवादी दल तो विदेशी सहायता भी प्राप्त करना चाहता था। संक्षेप मे, संसदीय शासन सफल न हो सका।

3. **महत्वाकांक्षी सैनिक अधिकारी** :—आन्तरिक अव्यवस्था का मूल कारण सेना थी। उस समय 3 लाख 11 हज़ार की सेना के 369 सेनाध्यक्ष थे, जो कि सन् 1914 की जर्मन सेना से भी अधिक थे। इन सब ने अपने ही स्वार्थों को प्रधानता दी तथा गुटबन्दी द्वारा शक्ति केन्द्रित करने का प्रयास किया। रिवेरा, बेरेंगूर, अजनार सानजुर्जो एवं सेनापति फ्रैंको—ये सभी महत्वाकांक्षी थे। कहा जाता है कि इस समय सेना, राष्ट्र पर भरी बन्दूक के समान थी।

4. **स्वायत्त शासन आन्दोलन** :—आयरिश समस्या की भाँति केटालोनिया के स्वायत्त शासन की समस्या भी जटिल थी। यह क्षेत्रीय भावना से परिपूर्ण थी। यहां की जनता प्रशासनिक, वैधानिक, न्यायिक आदि सभी क्षेत्रों में स्वायत्त शासन चाहती थी। इसका प्रभाव बास्क तथा गेलीशिया नामक प्रदेशो पर भी पड़ा था। अल्फेंजो ने इनको कोई सुविधा नहीं दी थी। अजाना ने जो गृहशासन की सुविधा दी उसे लेरुक्स ने छीन लिया था। इस कारण यहाँ की जनता अत्यन्त असतुष्ट थी और स्वाभाविक ही था कि वह विद्रोहियों की मदद को भी तत्पर हो जाती।

5. **धुरी राष्ट्रों की सहायता** :—अधिनायक तंत्री देशों—इटली व जर्मनी ने गृहयुद्ध के एक सप्ताह पश्चात् ही हवाई जहाज, सैनिक तथा अन्य सहायता प्रत्यक्ष रूप से विद्रोहियों को दी। शताधिक जर्मन हवाई जहाज और एक लाख चालीस हजार इटालियन स्वयसेवकों ने फ्रैंको का साथ दिया था तथा समुद्र तट को घेर रखा था। पन्द्रह हज़ार जर्मन विमान चालक हिटलर के आदेश से स्पेन आये थे। साम्यवाद के प्रसार को रोकने तथा अधिनायक तंत्र के प्रचार के उद्देश्य से इटली व जर्मनी ने स्पेन को सहायता दी थी।

तात्कालिक कारण

अप्रल 1936 में, एक आज्ञा पारित कर उन सब अफसरों को पेंशन दे दी गई, जिन्होने राजनीति में सक्रिय भाग लिया था। अन्य, जो 'राजतंत्र' के पक्षपाती थे, समुद्र पार कार्यालयों मे स्थानान्तरित कर दिये गये। युद्ध-मंत्री गिल रोबेल्स के समय फ्रासिस्को फ्रैंको, जो कि मुख्य सेनापति था, कैनेरी द्वीप भेज दिया गया। जुलाई में फिर मोनाको स्थित विदेशी सेना के अफसरों को उनके पद से हटा दिया गया। इन विभिन्न प्रकार की कार्यवाहियों ने सैनिक सम्प्रदाय को अप्रसन्न कर दिया और उन्होंने सरकारी दल के उन्मूलन का निश्चय किया। इनको यह भी विश्वास था कि विद्रोह की स्थिति में इन्हे राजतंत्रवादियों, पुरोहितों, रूढिवादी गणतंत्रों व जमीदारों का सहयोग प्राप्त होगा। यह भी संभव है कि उन्हे इटली, जर्मनी व पुर्तगाल के नाजी व फासिस्ट नेताओं का गुप्त समर्थन रहा हो।

12-13 जुलाई 1936 को गृहयुद्ध का तात्कालिक कारण दो हत्यायें थीं। इनमें

एक था वामपंथी लैफ्टीनेन्ट कैस्टिलो और दूसरा काल्वो सोतेलो भूतपूर्व वित्तमंत्री, रूढ़िवादी व राजतांत्रिक। वह फासिस्ट व भविष्य का तानाशाह था। उसकी हत्या ने सेना को सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने को प्रोत्साहित किया। इसी समय जनरल सनजुरजो, जिन्होंने कि विद्रोह को संगठित किया था, सेविल प्रदेश में अकस्मात् विमान दुर्घटना में मारे गये। उनका स्थान जनरल फ्रैंको ने लिया। कुछ समय पहले जनरल फ्रैंको स्थल सेना के पद से हटाकर केनेरीज द्वीप में गवर्नर बनाकर उत्तरी अफ्रीका में भेजे गये थे। वह योग्य साहसी तथा महत्वाकांक्षी सैनिक अधिकारी थे। 17 जुलाई 1936 को फ्रैंको विमान द्वारा मोरक्को पहुँचे [illegible] विद्रोह की घोषणा कर दी। उन्होंने बरगोस में स्वर [illegible]
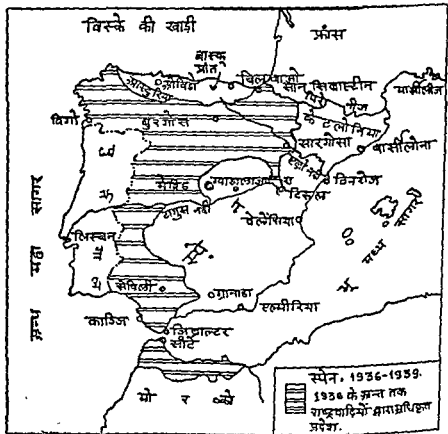
मान चित्र—9

स्पेन में गृह-युद्ध

जनरल फ्रैंको ने 22 नवम्बर 1966 को स्पेन की संसद में, स्वयं स्पेन के गृहयुद्ध के पूर्व की स्थिति पर संक्षेप मे प्रकाश डालते हुए कहा, "स्पेन एक निर्धन, जर्जर व पतनोन्मुख राष्ट्र था। अव्यवस्था ही शासन का सूत्र था। स्पेन के एक नागरिक को दूसरे नागरिक मे विश्वास नही था और कानून व व्यवस्था की नितान्त

आवश्यकता थी। दूसरे, स्पेन का संकट था विदेशी हस्तक्षेप। 'वह एक ऐसा गणतंत्र था जिसमें किसी को विश्वास न था और जिसे साम्यवाद का भय था।' ऐसी स्थिति में उसमें विदेशी हस्तक्षेप और उसकी स्वाधीनता को खतरे की संभावना थी। तीसरे, स्पेन के आर्थिक ढांचे में अव्यवस्था व्याप्त हो चुकी थी। उद्योगों में हड़तालें हो रही थीं और उत्पादन कम होता जा रहा था व कृषक त्रस्त थे और कृषि का ह्रास हो रहा था। स्पेन के ऐसे भयावह अराजक और अव्यवस्थित रूप को देखकर मैंने उसके सच्चे मार्ग प्रदर्शन के लिये आवश्यक कदम उठाये।"

अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया

यह निश्चित रूप से स्पष्ट नहीं कहा जा सकता है कि इटली, जर्मनी और रूस ने स्पेन के गृहयुद्ध के विभिन्न पक्षों को सहायता प्रारंभ की। वास्तव में इन तीनों शक्तियों ने 1936 के प्रथम भाग में स्पेन के गृहयुद्ध में हस्तक्षेप नीति को अपनाया था। स्पेन की आन्तरिक स्थिति, निर्बल प्रशासन, असन्तुष्ट कृषक और श्रमिक, सम्पत्तिशाली कुलीन, अत्याचारी गिरजाघर आदि ने सोवियत रूस की क्रान्ति के कारणों के समान ही पृष्ठभूमि प्रस्तुत की।

सोवियत रूस

रूस ने स्पेन के साम्यवादियों को केवल सैद्धान्तिक सहायता ही नहीं दी, अपितु आर्थिक और सैन्य सामग्री की सहायता भी प्रदान की थी, क्योंकि 1920 में हंगेरी और जर्मनी में साम्यवादी क्रान्ति असफल हो चुकी थी। कॉमिनटर्न ने स्पेन के गणतत्रवादियों से सम्पर्क स्थापित किया था। स्पेन के गृह-युद्ध का सरकारी तौर पर रूस ने स्वागत किया और गणतंत्रवादियों के पक्ष में रूस में जनता ने प्रदर्शन भी किया। सोवियत दूतावास ने स्पेन में स्पेन की सरकार को परामर्श तथा आवश्यक निर्देशन भी दिया था। एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना भी संगठित की गई थी, किन्तु सोवियत सहायता साधारण जनता को दृष्टिगत नहीं थी। गृहयुद्ध के संघर्ष में प्रत्यक्ष रूप से लिप्त होने की रूस की कोई इच्छा नहीं थी। इसीलिये प्रयोजनीय खाद्य सामग्री, यातायात के साधन, अस्त्र-शस्त्र आदि रूस पश्चिमी यूरोप से खरीद कर स्पेन को देने लगा। रूसी नौ-बेड़े के अभाव और भौगोलिक दूरी के कारण उसका सीधा लड़ाई मे शामिल होना संभव नहीं था। इसके अतिरिक्त रूस के पास अनुभवी सामरिक अधिकारियों की कमी थी।

जर्मनी

स्पेन के गृहयुद्ध में जर्मनी और इटली का प्रभाव प्रत्यक्ष था। तात्कालिक नाजी प्रेस ने स्पेन को साम्यवादी उपद्रव का अखाड़ा बताया है। विप्लवी सेनापति फ्रैंको के साथ जर्मनी का केवल सैद्धान्तिक गठबंधन ही न होकर, स्पेन के कच्चे माल को हथियाना तथा कोयला, लोहा, तांबा आदि रियायती मूल्य पर खरीदना था। फ्रांस के दक्षिणी भाग में अधिनायकवादी स्पेन का निर्माण, कूटनीति एवं सामरिक

दृष्टिकोण से जर्मनी के लिये लाभदायक था । भीगो, काडिज, अल्फेरोल आदि स्पेन के
बन्दरगाहों की, जर्मनी को अपनी पनडुब्बियों के अड्डों के रूप में आवश्यकता थी ।
इस समय तक जर्मनी ने अनेक नये-नये हथियारों का आविष्कार भी कर लिया था ।
स्पेन का युद्ध इन हथियारों के परीक्षण के लिए स्वर्णिम अवसर था । जर्मन सेना के
लिए नवीन प्रशिक्षण के पश्चात्, स्पेन ही लड़ाई का परीक्षण केन्द्र बना । आधुनिक
बमबारी, समुद्र पर लड़ाई, टैंकों के प्रयोग आदि से जर्मनी ने 1938 में एब्रो के युद्ध में
राष्ट्रवादियों को सफलता दिलाई ।

इटली

राष्ट्रवादी पक्ष के साथ इटली का भी घनिष्ट सम्बन्ध था । भूमध्य सागर
में साम्यवादी प्रसार नीति से इटली केवल भयभीत ही नहीं था, अपितु अधिनायकवाद
के सिद्धान्त मे विश्वास के कारण जनरल फ्रैंको का समर्थक भी था । सैनिकवाद,
साम्राज्यवादी विस्तार; भूमध्यसागर में ब्रिटेन और फ्रांस को हटाकर, इटली के
अधिकार क्षेत्र का विस्तार करना, उसके प्रमुख उद्देश्य थे । वह जिब्राल्टर, क्यूटा,
मेजोरका, आदि स्थानों पर भी प्रभुत्व स्थापित करने का स्वप्न देख रहा था ।
इथोपिया की विजय के पश्चात् मई 1936 में मुसोलिनी स्पेन को युद्ध क्षेत्र में
व्यस्त रखना चाहता था । जिससे कि वह पुनः विजयी हो जाये । इटली फ्रांस से
अल्जीरिया को हथियाने की कल्पना करने लगा । स्पेन के गृहयुद्ध में भाग लेने के
लिये इटली ने ब्रिटेन के साथ सामान्य समझौता 2 जनवरी 1937 को किया और
प्रत्यक्ष रूप से उसे सैनिक सहायता देने लगा ।

ब्रिटेन

इस समय सैनिक दृष्टिकोण से ब्रिटेन दुर्बल था । प्रधानमंत्री बोल्डविन के
नेतृत्व में अनुदारवादी दल की सरकार ब्रिटेन के लिये शान्ति नीति और सतर्कता पर
आधारित थी ।

पुर्तगाल के राष्ट्रपति एन्टोनियो कार्मोनो और प्रधानमन्त्री सालाजार ने
जनरल फ्रैंको को सहायता देने का इसलिए निश्चय किया कि पड़ोसी स्पेन में एक
साम्यवादी राज्य का निर्माण न हो जाय । अत. फासिस्ट आक्रमणकारी नीति का
विरोध नहीं किया गया, अपितु सन्तुष्टीकरण को ही उत्तम समझा गया । ब्रिटिश
मजदूर दल ने स्पेन के सरकारी पक्ष का समर्थन किया और अपनी सरकार से युद्ध
में हस्तक्षेप करने के लिए आग्रह किया । साधारण जनता ब्रिटेन को असलग्न रखना
चाहती थी, क्योंकि इथोपिया का पतन अत्यन्त निराशापूर्ण था । उसके विचार में
हस्तक्षेप का परिणाम असफलता ही सम्भव थी, क्योंकि 1919 में रूसी क्रान्ति में भिन्न
राष्ट्रों के हस्तक्षेप का कोई परिणाम नहीं निकला था । इसी समय नेविल चेम्बरलेन
ने ब्रिटिश विदेश नीति को नया मोड़ दिया । उन्होंने धुरी राष्ट्रों से, इटली को पृथक्
करने के लिए सन्तुष्टीकरण नीति को अपनाया । 2 जनवरी 1937 को ब्रिटेन और

इटली ने एक पारस्परिक साधारण समझौते पर हस्ताक्षर किये। ब्रिटेन-इटली के इस पारस्परिक समझौते से भूमध्य सागर में दोनों शक्तियों के पारस्परिक प्रभुत्व को मान्यता दी गई। उसी दिन 4 हजार इटालियन स्वयंसेवक काडिज में उतारे गये। थोड़े ही समय में कुल 40 हजार इटालियन सेना 4 वरिष्ठ जनरलों के नेतृत्व में गृह-युद्ध में भाग लेने लगी। मुसोलिनी ने घोषणा की, "स्पेन में साम्यवादी सरकार की स्थापना से यथास्थिति भंग हो जायगी और ब्रिटेन के साथ साधारण समझौता भग हो जायगा।" मई 1937 में चेम्बरलेन प्रधानमंत्री बने और अप्रैल 1938 में ब्रिटेन और इटली में एक और संधि हुई।

जुलाई 1937 में चीन पर जापान ने आक्रमण किया। इससे ब्रिटेन सुदूरपूर्व में अपनी स्वार्थ रक्षा के लिए चिन्तित हो उठा। यही कारण था कि ब्रिटेन स्पेन के गृह-युद्ध में लगभग उदासीन रहा।

1936 में फ्रांस के प्रधानमंत्री ब्लम ने, 'लोकप्रिय दल' सिद्धान्त के आधार पर स्पेन की गणतान्त्रिक सरकार का पक्ष लिया। फ्रांस की विदेश नीति का मूल आधार सदियों से स्पेन और जर्मनी को पृथक् रखना था। उस समय फ्रांस के वामपंथी दल गणतन्त्रवादियों की सहायता की माँग करने लगे। परन्तु फ्रांस की स्थिति अत्यन्त गम्भीर थी। दक्षिण में पैरीनीज पर्वत द्वारा पृथक् स्पेन में गृह-युद्ध के प्रभाव से फ्रांस आशंकित हो उठा। फ्रांस के दक्षिण पथी, फासिस्टवाद की अपेक्षा साम्यवाद से अधिक भयभीत थे। सक्षेप में फ्रांस की आन्तरिक स्थिति 1936 में इतनी शोचनीय थी कि अपने स्वार्थ की रक्षा के लिये किसी भी कीमत पर उसने शान्ति को खरीदना उचित समझा।

संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्पेन के गृह-युद्ध में इथोपिया के युद्ध की भाँति पूर्ण निष्पक्षता की नीति को अपनाया। अमेरिकी जनता प्रारंभ से गणतंत्र वादी सरकार के पक्ष मे थी और क्रमशः उसने उसे सहायता प्रदान करने की चेष्टा की। अमेरिकी सरकार ने, अपनी युद्ध-सामग्री के स्पेन को निर्यात पर रोक लगादी। अगस्त 1936 में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने घोषणा की, "मैंने युद्ध देखा है और मैं युद्ध से घृणा करता हूँ... ...हम, ऐसे राजनैतिक गठबंधन, जिससे विदेशी युद्ध मे लिप्त होने की संभावना हो, में विश्वास नही करते हैं। हम पृथक्वादी नही, केवल हम पूर्ण रूप से अपने को युद्ध से पृथक् रखना चाहते हैं।" जनवरी 1937 में कांग्रेस के एक प्रस्ताव के अनुसार, (1) 'तटस्थता' कानून एव (2)'अस्त्र-शस्त्र के निर्यात पर प्रतिबन्ध' कानून, गृह-युद्ध के दोनों पक्षों पर लागू किया गया। इस नीति से राष्ट्रवादी अधिनायक फ्रैंको को अधिक लाभ हुआ, क्योंकि उनको लगातार इटली और जर्मनी से आवश्यक हथियार और स्वयंसेवक मिलते रहे, जबकि सरकारी पक्ष को केवल रूस से सामान्य सहायता मिली।

अहस्तक्षेप समिति

30 जुलाई 1936 को इटली के तीन हवाई जहाज उत्तरी अफ्रीका के फ्रांसीसी उपनिवेश अल्जीरिया पर उतरे। वास्तव में इटली की सैनिक सहायता का यह प्रथम सोपान था। 1 अगस्त को फ्रांस ने एक ऐसे यूरोपीय समझौते का सुझाव दिया, जिसमें कोई भी राष्ट्र, स्पेन के विरोधी पक्षों को, सहायता न दे। ब्रिटेन ने इसी प्रस्ताव को सम्बन्धित सभी राज्यों को भेज दिया। अगस्त के अन्त तक फ्रांस, इटली, जर्मनी, ब्रिटेन, रूस और पुर्तगाल ने एक अहस्तक्षेप समझौते पर हस्ताक्षर किये। नौ सितम्बर से 15 राष्ट्रों की एक अहस्तक्षेप समिति लंदन में नियमित रूप से अधिवेशन करने लगी, जिसके बाद में चलकर 27 सदस्य हो गये। 1936 के अन्त तक इटली और जर्मनी को छोड़कर इस समिति की सिफारिशों को अन्य सभी राज्यों ने मान लिया। इसके प्रयत्नों में शीघ्र ही गतिरोध आ गया; क्योंकि रूस ने इटली और जर्मनी पर और इटली व जर्मनी ने रूस पर निरंतर स्पेन को सैनिक सहायता दिये जाने का आरोप लगाया। दूसरी जटिल समस्या विदेशी स्वयंसेवकों की थी, जिनका प्रवेश जारी था, जो स्पेनिश सेना के समान ही वस्त्र धारण करने के कारण पहचाने जाने कठिन थे। वास्तव में स्वयसेवकों का प्रश्न एक गम्भीर समस्या थी। गृह-युद्ध के प्रारंभ में ही अनेक अन्तर्राष्ट्रीय स्वयसेवक स्पेन में प्रवेश करने लगे थे। वे सरकारी पक्ष मे गणतंत्रवादी सेना में भर्ती हो गये। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सेना ने प्रथम बार नवम्बर 1936 में मैड्रिड की लड़ाई मे भाग लिया। परन्तु फासिस्ट और नाजी सेना हथियार, अनुशासन एवं रण कौशल में अधिक सुसगठित थी। इन सेनाओं को अभियान सेनाएँ कहा जाता था। अहस्तक्षेप समिति ने विदेशी स्वयंसेवकों को स्पेन से हटाने के लिए कई प्रस्ताव पारित किये और फरवरी 1937 में इसे सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया। इटली ने विशेष आज्ञा के द्वारा स्पेन में सैनिकों के भेजे जाने व नागरिकी सेवा किये जाने का निषेध कर दिया। परन्तु इन प्रस्तावों का प्रयोग असंभव रहा।

इसी प्रकार स्पेन के समुद्र-तट के निरीक्षण की समस्या अत्यन्त जटिल थी। जब तक समस्त स्पेन के तट के निरीक्षण की उचित व्यवस्था न हो, विदेशी सेना को हटाने की समस्या का हल नही हो सकता था। समिति ने स्पेन के समुद्र-तट के जल क्षेत्र के निरीक्षण को चार राष्ट्रों, फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी व इटली में विभाजित कर दिया। एक पृथक समझौते के अनुसार निष्पक्ष निरीक्षकों को, थल सीमा पर निगरानी रखने के लिये, नियुक्त किया गया। यह व्यवस्था अप्रैल 1937 मे प्रयोग में आई। परन्तु गणतंत्रवादियों ने जर्मनी के युद्ध-जहाज डासलैंड पर बमबारी की, (29 मई). जिसका प्रतिशोध जर्मन हवाई बेड़े ने भी लिया। इस घटना से असंतुष्ट होकर जर्मनी और इटली निगरानी योजना से पृथक् हो गये।

14 जुलाई 1937 को गतिरोध भंग करने की दृष्टि से ब्रिटिश प्रतिनिधियों ने अहस्तक्षेप समिति के सम्मुख निम्न 3 सुझाव रखे :—(1) समुद्री निरीक्षण समाप्त

कर स्पेन के बन्दरगाहों पर निरीक्षक नियुक्त किये जांय, (2) एक कमीशन की नियुक्ति की जाय, जो कि दोनों पक्षों से विदेशी स्वयंसेवकों के निष्कासन की व्यवस्था करें व (3) दोनों युद्ध-रत दलों को ही, निष्कासन के पश्चात्, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत मान्यता दी जाय। इन्हीं प्रस्तावों का एक वर्ष पश्चात् अहस्तक्षेप समिति ने अनुमोदन कर दिया।

इसी समय फ्रांस, ब्रिटेन और सोवियत जहाजों पर अज्ञात पनडुब्बियों के आक्रमण हुए। इस समस्या पर 10 सितम्बर 1937 को नीयोन (Nyon) सम्मेलन में विचार हुआ, जिसमें केवल फ्रांस, ब्रिटेन, रूस और अन्य राज्यों ने भाग लिया। जर्मनी और इटली ने पश्चिमी राष्ट्रों पर मिथ्या दोषों का आरोप लगाया। ब्रिटेन के विदेश-मन्त्री इडन ने धुरी राष्ट्रों की नीति की तीव्र निन्दा की। सम्मेलन में निम्न निश्चय हुआ :—(1) ब्रिटेन और फ्रांस के नौ-बेड़े को आक्रमणकारी पनडुब्बियों पर प्रत्याक्रमण करने का अधिकार दिया गया। (2) समुद्र पर अन्तर्राष्ट्रीय निगरानी की व्यवस्था 9 राज्यों ने की, जिसमें विशेष रूप से ब्रिटेन और फ्रांस ने ही भाग लिया। 30 सितम्बर 1937 में इटली भी इसमें शामिल हो गया।

अहस्तक्षेप समिति ने इस प्रकार निम्न 3 प्रमुख प्रश्नों पर विचार किया :(1) स्पेन में विरोधी पक्षों को शस्त्र सहायता देने पर रोक; (2) विदेशी स्वयंसेवकों को हटाने की व्यवस्था और (3) समुद्री डकैती से रक्षा का उपाय। यह समिति स्पेन में शस्त्रों के आगमन को रोकने में असमर्थ रही। इसे विदेशी स्वयसेवकों के आगमन को रोकने और उनके निष्कासन में भी सफलता नहीं मिली। 1938 में समानुपातिक रूप से विदेशी सेना हटाने की योजना भी सदस्य राज्यों के असहयोग के कारण फलीभूत न हो सकी, परन्तु समुद्री डकैती में रोकथाम के कार्य-क्षेत्र में इसे आंशिक सफलता मिली। 20 अप्रैल 1939 को राजधानी मैड्रिड के पतन के पश्चात् अहस्तक्षेप समिति को भंग कर दिया गया।

युद्ध की घटनाएँ

18 जुलाई 1936 में गृह-युद्ध की घटना अत्यन्त अस्पष्ट थी, झगड़े चल रहे थे, किन्तु कहीं भी गणतंत्रवादी सरकारी पक्ष और राष्ट्रीयवादी अधिनायक फ्रैंको के बीच प्रत्यक्ष संघर्ष नहीं हुआ था। सैनिक दृष्टिकोण से अनेक महत्वपूर्ण लड़ाइयाँ हुई।

गणतंत्रवादियों ने मैड्रिड और बारसीलोना पर अधिकार कर लिया। राष्ट्रवादियों का अधिकार तेरूल, सारागोसा, अलकाजार, बलियारिक द्वीप समूह और इबिजा पर हो गया।

इसके पश्चात् युद्ध में नई गतिशीलता उत्पन्न हुई। बास्क और अस्तुरिया प्रदेश पर सरकारी अधिकार समाप्त हो गया। इसी समय राष्ट्रवादियों ने इरून और सान सिबेस्टियन पर कब्जा कर लिया; जिससे मुख्य मार्ग पर उसकी प्रभुता हो गई।

18 नवम्बर 1936 को जर्मनी और इटली ने फ्रैंको की राष्ट्रवादी सरकार की राजधानी को मैड्रिड से भलोन्सिया स्थानान्तरित किया। मैड्रिड के चारों ओर घेरा डाला गया। गृह युद्ध एक लम्बी अवधि तक चलता रहा, जिसमें जान-माल की भीषण क्षति हुई। गुवाडालाजारा की लड़ाई में मुसोलिनी के स्वयंसेवकों को रूस समर्थित अन्तर्राष्ट्रीय सेना ने पीछे धकेल दिया।। इस प्रकार मैड्रिड का पतन द्वितीय बार टल गया।

1937 में जनरल फ्रैंको ने बिलवान पर कब्जा कर लिया, परन्तु बास्क प्रदेश में राष्ट्रवादी सेना की प्रगति रुक गई। मई 1937 में लार्गो केबालेरो के स्थान पर दक्षिण पथी समाजवादी डॉन जुआन नेग्रिन के नेतृत्व में एक संयुक्त दल सरकार की स्थापना हुई। अक्टूबर में गणतंत्रवादी सरकार राजधानी को बारसीलोना ले गये, इसी समय सामरिक राजनैतिक पुनर्गठन के परिणाम से गणतांत्रिक सेना ने तैरुल पर अधिकार कर लिया।

लंदन में अहस्तक्षेप समिति ने स्पेन से विदेशी सेना हटाने के लिये महत्वपूर्ण योजना प्रस्तुत की। गणतंत्रवादियों ने माँग की, "अहस्तक्षेप समिति की हास्यास्पद कार्यवाही समाप्त की जाय, ताकि सरकारी पक्ष को आत्मरक्षा के लिये आवश्यक हथियार खरीदने की सुविधा मिले। अप्रैल 1938 में ब्रिटेन और इटली के बीच विदेशी सैनिकों को हटाने के लिये "रोम समझौता" हुआ। अहस्तक्षेप समिति ने इसका अनुमोदन किया और उचित कार्यवाही करने लगे।

1938 में जनरल फ्रैंको को क्रमश: लड़ाई में सफलता प्राप्त होने लगी। इस समय फ्रैंको के हवाबाजों ने असहाय नागरिकों पर निष्ठुर बमबारी की। पोप, फ्रांस और ब्रिटेन ने इस प्रकार के सैनिक आक्रमणों का प्रतिवाद किया। परन्तु फ्रैंको की नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। फरवरी 1938 को उसकी सेना ने तैरुल पर और अप्रैल में विनारोज पर अधिकार कर लिया। गणतंत्रवादियों ने युद्ध को जारी रखा। अन्त में राजधानी बारसीलोना एवं मैड्रिड भी 28 मार्च 1939 में फ्रैंको के अधिकार में आ गये। इस प्रकार फ्रैंको विजयी हो गया और 19 मई 1939 को सेना की आम सलामी लेते हुए औपचारिक रूप से उसने गृह-युद्ध को समाप्त कर दिया।

फ्रैंको की विजय के कारण

1. जर्मनी और इटली की भारी सहायता :—स्पेन के गृह-युद्ध के प्रारम्भ होने के एक सप्ताह के भीतर ही प्रारंभ होने वाली 1936 से 1939 तक, इटली ने समुद्री जहाज, थल सेना व पनडुब्बियों की; व जर्मनी ने हवाई बेड़े (जिनमें लगभग 16,000 चालक थे) व टैंक की सहायता दी। जर्मनी ने इस योजना पर $\frac{1}{2}$ अरब मुद्रा व्यय की व स्पेन के तट की पनडुब्बियों द्वारा नाकेबंदी कर दी, ताकि अन्य राष्ट्र इसमें

हस्तक्षेप नहीं कर सकें। इस प्रकार फ्रैंको को दोनों राष्ट्रों से ही पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई।

2. अहस्तक्षेप समिति की कार्यवाही :—इस समिति में फ्रांस, जर्मनी, रूस, इटली आदि थे और उन्होंने सर्व-सम्मति से दोनों ही पक्षों को सहायता न देने का निश्चय किया था। इंग्लैण्ड के बाल्डविन व चैम्बरलेन मंत्रिमण्डल; और फ्रांस के ब्लम और दलादियर मंत्रिमण्डल, फासिज्म व नाजीवाद की अपेक्षा साम्यवाद से, अधिक भयभीत थे और इसीलिये उन्होंने स्पेन में कोई सहायता नहीं दी। रूस ने, जो प्रारंभ में स्पेन के गणतंत्रवादी दल को सहायता दे रहा था, 'अहस्तक्षेप समिति' की कार्यवाही के कारण धीरे-धीरे सहायता बंद कर दी।

3. गणतंत्रवादियों की दुर्बलता :—गणतंत्रवादियों में योग्य नेतृत्व का बड़ा अभाव था। राष्ट्रपति जमोरा के पश्चात् अजाना लोकप्रिय नहीं थे। प्रधानमंत्री शीघ्र परिवर्तित होने लगे, जैसे-कुईरोगा, नेगरिन, कैबालेरो आदि। अनिवार्य सैनिक सेवा से कृषक, श्रमिक व पुरोहित वर्ग असंतुष्ट हो गये। कैटेलन और बास्क प्रांत के स्वायत्त शासन आंदोलन पर नियंत्रण पाने में भी ये असमर्थ रहे; नैतिक बल पर्याप्त होते हुए भी (3 वर्ष तक तो संघर्ष करते रहे) इनके पास साधन बड़े सीमित थे। धुरी राष्ट्रों के निर्माण के बाद, विरोधी दल को विशेष सहायता भी, इनकी असफलता का एक कारण था।

4. जनरल फ्रैंको का योग्य नेतृत्व :—जनरल फ्रैंको की विशेषता यह थी कि वह युद्ध के साथ प्रशासन में सुधार का कार्य भी करता रहा, जिससे कि उसे जनता का समर्थन प्राप्त हो गया। विरोधियों के 65,000 के विरुद्ध फ्रैंको 27,000 सैनिकों से ही लड़ता रहा। उसने नौ-सेना का अच्छा प्रयोग किया व बार्सिलोना व मैड्रिड पर घेरा डाला। बर्गस में उसने अस्थायी सरकार की स्थापना की और इटली व जर्मनी ने उसे 18 नवम्बर 1936 को ही मान्यता प्रदान कर दी। विरोधी जनरल मियाजा व रोजा की सेना अनिवार्य सैनिक सेवा के कारण 65,000 से बढ़कर 8 लाख हो गई। किन्तु फिर भी अच्छे संगठन के अभाव में उन्हें सफलता नहीं मिली। उधर फ्रैंको ने आधे वर्ष में ही आधे से अधिक स्पेन पर अधिकार कर लिया।

5. अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति :—अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति भी सरकारी पक्ष के अनुकूल नहीं थी। ब्रिटेन व फ्रांस की धुरी राष्ट्रों के प्रति संतुष्टीकरण नीति, इटली व ब्रिटेन के मध्य 1937 का भूमध्य सागर संबंधी भद्र समझौता व अमेरिका के शस्त्रा-शस्त्र के निर्यात के संबंध मे स्पेन के प्रति तटस्थ नीति फ्रैंको के लिये ही अधिक लाभ-प्रद सिद्ध हुई। इस प्रकार गणतंत्रवादियों को विदेशी राष्ट्रों से प्रत्यक्ष सहयोग का अभाव रहा।

परिणाम

स्पेन में फ्रैंको की नीति के दो परिणाम हुए—आंतरिक व बाह्य। जहाँ तक

आंतरिक परिणामों का प्रश्न है, स्पेन में लगभग 10 लाख व्यक्ति गृह-युद्ध में मारे गये, 15 लाख से अधिक घायल हुए अथवा शरणार्थी हो गये ; बमबारी से सड़कें, पुल, उद्योग व कृषि नष्ट-भ्रष्ट हो गई व 38 करोड़ डालर से अधिक व्यय हो गया (जिसमें इटली व जर्मनी से प्राप्त सहायता सम्मिलित नहीं है)। जहां तक लाभ का प्रश्न है, फ्रैंको को सफलता मिली व उसने ध्वंस्त राष्ट्र का नये सिरे से निर्माण किया। वही एक नायक है जिसने द्वितीय युद्ध के पश्चात् भी अपनी स्थिति को बनाये रखा। उसने इटली व जर्मनी के अधिनायकों के क्रमश: ड्यूस व फ्यूरर पदों के आधार पर 'कोडिलो' पद से अपने आपको विभूषित किया। वह अपनी विदेश नीति में सफल रहा और पिछले 30 वर्षों में उसने स्पेन का सर्वांगीण विकास किया। 1939 में उसने धुरी राष्ट्रों का केवल नैतिक समर्थन किया। उनका क्रियात्मक सहयोग न कर और युद्ध में तटस्थ रहकर उसने अपने और स्पेन के अस्तित्व को बचा लिया। 1942 तक स्पेन का व्यापार 59% बढ़ गया। 22 नवम्बर 1966 को अपनी 30 वर्ष की निरंतर सत्ता के पश्चात् उसने संविधान में संशोधन कर घोषणा की, "मेरे पश्चात् स्पेन के पुराने राजवंश का व्यक्ति उत्तराधिकारी होगा।"

स्पेन के गृह युद्ध के व्यापक अंतर्राष्ट्रीय परिणाम हुए : (1) फ्रैंको के नैतिक समर्थन से धुरी राष्ट्रों को शक्ति मिली, उनके अंतर्राष्ट्रीय सम्मान में वृद्धि हुई व उनकी आक्रामक नीति को प्रोत्साहन मिला। (2) फ्रैंको की गृह-युद्ध में सफलता और पश्चिमी यूरोप के लोकतांत्रिक राष्ट्रों की तटस्थता ने यह सिद्ध कर दिया कि धुरी राष्ट्र अपनी विस्तारवादी नीति को जारी रख सकते हैं व छोटे राष्ट्रों को हड़प सकते हैं। उन्होंने यह भी समझ लिया कि जब तक उनकी मातृभूमि को ही संकट नहीं पहुँचेगा, वे संतुष्टीकरण की नीति जारी रखेंगे। (3) फ्रैंको की सफलता के साथ ही फ्रांस की सीमा पर एक तीसरा फासिस्ट शत्रु राष्ट्र उत्पन्न हो गया। इसने फ्रांस के दक्षिण व वामपथियों में मतभेद कर, जर्मनी के प्रधान शत्रु (फ्रांस) को क्षीण कर दिया। एबीसीनिया के युद्ध के पश्चात्, ब्रिटेन और फ्रांस के द्वारा इटली के साथ किसी समझौते पर पहुँचना, अब फ्रैंको की स्पेन में सफलता के बाद, कठिन हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसोलिनी हिटलर के और निकट आ गया। (4) फ्रैंको की सफलता ने एक और अधिनायक को सफलता प्रदान की। फलस्वरूप विश्व नेतृत्व में प्रजातंत्र राष्ट्रों की शक्ति व राष्ट्रसंघ की सत्ता क्षीण हो गई। इसने सोवियत रूस को पृथक् कर दिया। फ्रैंको की सफलता ने भूमध्य सागर को 'इटली की झील' बना दिया और ब्रिटेन व फ्रांस की नौ-शक्ति को धक्का लगा। बेनेस के अनुसार, "स्पेन में विदेशी शक्तियों के सफल हस्तक्षेप ने यूरोपीय युद्ध की निश्चित भूमिका तैयार कर दी।"

सारांश

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्पेन की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। केवल

अतीत के गौरव को छोड़कर, सभी विशेषताओं का अन्त-सा हो गया था। मोरक्को के विद्रोह, आकस्मिक मंदी, सैनिक हस्तक्षेप, केटालोनिया में पृथकवादी आन्दोलन, शासन व्यय में वृद्धि व श्रमिकों की हड़ताल ने 1923 से 30 तक प्राइमो-डी-रिवेरा के तानाशाही शासन को जन्म दिया। अल्फेन्जो तेरहवें ने शोचनीय परिस्थिति में सिंहासन त्याग किया, 7 वर्ष में 33 मंत्रिमण्डल बने।

स्पेन के गृह-युद्ध के मुख्य कारण: युद्धोत्तर आर्थिक मंदी, वैधानिक शासन की असफलता, महत्वाकांक्षी सैनिक अधिकारी, स्वायत्त शासन आंदोलन, धुरी राष्ट्रों की फ्रैंको को सहायता और ब्रिटेन, फ्रांस व अमेरिका की अहस्तक्षेप की नीति आदि थे। 1936 के चुनाव मे वामपंथियों की विजय, 13 जुलाई को कैस्टिलो और सोटिलो का हत्याकांड और जनरल सांजूर्यो की अकस्मात् मृत्यु ने 17 जुलाई को गृह-युद्ध का श्रीगणेश किया। इस घटना की अंतर्राष्ट्रीय प्रक्रिया महत्वपूर्ण थी। साम्यवादी रूस ने गणतंत्रवादियों का नैतिक समर्थन किया और युद्ध सामग्री दी। जर्मनी और इटली ने विद्रोहियों को प्रत्यक्ष सहायता, युद्ध सामग्री, स्वयंसेवक, सैनिकों, पनडुब्बियों आदि द्वारा दी।

लंदन की अहस्तक्षेप समिति, विदेशी स्वयंसेवकों [illegible] पनडुब्बियों के आक्रमण को रोकने में, असमर्थ हुई। युद्ध 17 जुलाई 1936 से 28 मार्च 1939 तक चलता रहा और राजधानी मैड्रिड के पतन के बाद जनरल फ्रैंको विजयी हो गये। जर्मनी और इटली को भारी सहायता, अहस्तक्षेप समिति की असफलता, गणतंत्रवादियों की दुर्बलता, जनरल फ्रैंको का योग्य नेतृत्व, अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति, आदि ने स्पेन में अधिनायकवाद के जन्म को सफल बनाया। इससे धुरी राष्ट्रों की विस्तारवादी नीति सफल हुई, एक नये फासिस्ट राष्ट्र का जन्म हुआ व लोकतंत्र की पराजय हुई। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् भी [illegible] अधिनायकवाद को चला सकने वाले एक मात्र व्यक्ति जनरल फ्रैंको ही हैं।

घटनाओं का तिथिक्रम

1919 24 जनवरी—कैटालोनिया में पृथकवादी आन्दोलन।
21 जुलाई—[illegible]
1923 13 सितम्बर—[illegible]
1930 28 जनवरी—[illegible]
1931 14 अप्रैल—[illegible]
9 दिसम्बर—[illegible]
1932 10 [illegible]
25 [illegible]
1933 8 [illegible]

स्पेन के [illegible]

1934 6 अक्टूबर—कैटेलोनिया के स्वतंत्रता की घोषणा।
1936 16 फरवरी—ग्राम चुनाव में जनवादी मोर्चे की सफलता।
10 मई—जमोरा के स्थान पर अजाना राष्ट्रपति बने।
12-13 जुलाई—कैस्टिलो और सोतेलो की हत्या।
18 जुलाई—जनरल फ्रैंको का विद्रोह : राष्ट्रवादी मोर्चा।
1 अक्टूबर—फ्रैंको की मुख्य अधिकारी के रूप में नियुक्ति।
18 नवम्बर—जर्मनी और इटली द्वारा स्पेन सरकार को मान्यता।
1937 17 मई—कैबालेरो के स्थान पर नैग्रीन गणतन्त्रवादी सरकार की स्थापना।
18 जून—विद्रोहियों का बिलबाव पर अधिकार।
23 जून—तटस्थ राष्ट्रों की गश्त-व्यवस्था से इटली व जर्मनी का परित्याग।
28 नवम्बर—फ्रैंको द्वारा तट की नाकेबंदी।
1938 15 फरवरी—फ्रैंको की सेना का तैरुल और विनारूज पर अधिकार।
1939 26 जनवरी—फ्रैंको का बर्सिलोना में प्रवेश।
27 फरवरी—इग्लैंड व फ्रांस द्वारा फ्रैंको सरकार की मान्यता : राष्ट्रपति अजाना का पद त्याग, नैग्रीन का पेरिस-पलायन।
28 मार्च—राजधानी मैड्रिड का पतन।
7 अप्रैल—स्पेन की धुरी राष्ट्रों के साथ संधि।
20 मई—जर्मन व इटालियन सेना स्पेन से हटी।

सहायक अध्ययन

Brenan, Gerald : **The Spanish Labyrinth: An Account of the Social and Political Background of the Civil War.** (1943)

Cleugh, James. : **Spanish feury.** (1962)

Esch, P. A. M. : **Prelude to War : The International Repurcussions of the Spanish Civil War.** (1952)

Kleine-Ahlbrandt, W. L. : ***The Policy of* Simmering : A Study of British Policy during the Spanish Civil War, 1936-1939.** (1963)

Puzzo, Dante A. : **Spain and the Great Powers.** 1936-41. (1963)

Sencourt, Robert. : **Spain's Ordeal : A Documented History of the Civil War.** (1940)

Thomas, Hugh : **The Spanish Civil War.** (1961)

प्रश्न

1. "कुछ ही सप्ताह में स्पेन के गृह-युद्ध ने समस्त यूरोप को दो गुटों में बँटने के लिये बाध्य कर दिया।" इस कथन की व्याख्या करें। (राज० वि० 1957)

2. क्या आप गैथोन हार्डी के इस मत से सहमत हैं कि स्पेन का गृह-युद्ध, "आगामी विश्व युद्ध का पूर्वाभ्यास था?" यूरोप की सामान्य स्थिति पर इसके प्रभावों का विश्लेषण करें। (राज० वि० 1961)

3. "प्राथमिक रूप से एक गृह-युद्ध होते हुए भी, स्पेन के गृह-युद्ध ने साम्यवादी व साम्यवाद विरोधी अधिनायकों की अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता को उत्पन्न कर दिया।" 1936-39 की अंतर्राष्ट्रीय विषमताओं के प्रकाश में इस कथन की विवेचना कीजिये। (राज० वि० 1963)

4. 'स्पेन के गृह-युद्ध' के अंतर्राष्ट्रीय महत्व का मूल्यांकन कीजिये।
(राज० वि० 1957, आ०वि० 1964, जोधपुर वि० 1964, 1967)

5. स्पेन के गृह-युद्ध के कारणों का वर्णन करें। किस सीमा तक इस घटना का अंतर्राष्ट्रीय महत्व है? (राज०वि० 1965, उदयपुर वि० 1965, जो०वि०, 1965)

6. उन परिस्थितियों की समीक्षा कीजिए, जिनके कारण 1936 में स्पेन का गृह-युद्ध छिड़ा। इसे 'एक अंतर्राष्ट्रीय घटना' क्यों माना गया है?
(राज० वि० 1967)

9 जर्मनी में नाजीवाद

"जर्मनी का इतिहास एक ग्रक्षर 'ह' (एच)—हिटलर से ग्रारम्भ हुग्रा ; ग्रौर चार 'ह' (एच)—हर्मन, होहेन स्टोफेन, हैप्सबर्ग, होहेन जोलर्न—ग्रौर हिटलर ने जर्मन शासन को चलाया ग्रौर बाद में एक 'ह' हिटलर से ही वह समाप्त हो गया।"
—शुमैन

"यह मानते हुए कि बुद्धिमान से बुद्धिमान मनुष्य भी भूलों से रहित नहीं हो सकता, हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि हिटलर में वास्तविक प्रज्ञता के गुण थे, चाहे उसकी प्रज्ञा ग्रासुरी ही क्यों न हो।"
—गैथोन हार्डी

"जर्मन राज्य में सभी जर्मन निवासी सम्मिलित हैं ग्रौर उसकी राजनीतिक सीमायें (लेबेन स्रोम) जर्मन जनसंख्या के सिद्धान्त पर निर्धारित की जायेंगी, जिससे जर्मन जनता के लिये पर्याप्त भूमि प्राप्त हो।"
—हिटलर (मीन कैम्फ)

1933 के बाद एडोल्फ हिटलर के नेतृत्व में जर्मन शक्ति के पुनरुत्थान से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बड़ी खलबली मची हुई थी। शूमैन का कहना था कि "जर्मनी का इतिहास एक अक्षर 'ह' (एच) हिटलर से आरम्भ हुआ; और चार 'ह' (एच)—हर्मन, होहेनस्टोफेन, हैप्सबर्ग, होहेन जोलर्न—और हिटलर ने जर्मन शासन को चलाया और बाद में एक 'ह' हिटलर से ही वह समाप्त हो गया।"

जर्मन पुनरुत्थान के अन्तिम नेता का वर्णन गैथोन हार्डी ने इस प्रकार किया है, "वह एक अत्यन्त साधारण अथवा हास्यास्पद शक्ल का था। अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे वह लगातार असफल रहा। वह अत्यन्त भावुक तथा अस्थिर चित्त वाला व्यक्ति था। उसकी शिक्षा बहुत कम थी तथा उसके विचार मौलिक अथवा नये नही थे। किन्तु उसकी सफलता को देखते हुए यह स्पष्ट है कि उसमें राजनीतिज्ञ अथवा नेता के गुण असाधारण मात्रा में थे। यदि हम उसकी ईमानदारी व मानवता आदि के गुणों के अभाव की ओर ध्यान न दें तथा उसकी भयंकर भूलों की अवहेलना करें; क्योंकि बुद्धिमान से बुद्धिमान मनुष्य भी भूलों से रहित नहीं हो सकता तो हम इस बात से इन्कार नही कर सकते कि उसमें वास्तविक प्रज्ञता के गुण थे, चाहे उसकी प्रज्ञा आसुरी ही क्यों न हो। बिना वास्तविक महानता के यह सम्भव नही था कि वह राजनीतिज्ञों तथा सैनिकों की आज्ञाकारिता एवं स्वामिभक्ति प्राप्त कर लेता। जर्मन जनता पर तो उसका प्रभाव और भी अधिक था।"

एडोल्फ हिटलर व्यवसाय से राजगीर था। सन् 1919 के युद्ध के पश्चात् उसने राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी के प्रचारक के रूप में अपना राजनीतिक जीवन आरम्भ किया। सन् 1923 में म्युनिख की शराब की भट्टी में आन्दोलन करने के फलस्वरूप उसे बवेरिया जेल में भेज दिया गया। जेल में हिटलर ने 'मीनकैम्फ' अथवा 'मेरा संघर्ष' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें उसने बहुमत पर आधारित पालियामेण्ट पद्धति का विरोध किया। उसने कहा कि जर्मनी वास्तव में ऐसा प्रजातंत्र होगा, जो स्वतन्त्र रूप से अपना नेता चुनेगा। इसके अनुसार प्रत्येक प्रश्न पर बहुमत की स्वीकृति न लेकर केवल एक व्यक्ति (नेता) की स्वीकृति से कार्य होगा। हिटलर ने अपनी पुस्तक में कई जगह जर्मनी की प्रादेशिक आकांक्षाओं की ओर भी सकेत किया था और आत्मनिर्भरता के सिद्धान्त का सहारा लेकर उसने लिखा था, "जर्मन रीश अथवा जर्मन राज्य में सभी जर्मन निवासी सम्मिलित हैं। जर्मनी की राजनैतिक सीमायें (लिबेन स्रोम) जर्मन जनसंख्या के सिद्धान्त पर निर्धारित की जायेंगी, जिससे जर्मन जनता के लिये पर्याप्त भूमि प्राप्त हो। हमें जर्मन जनता के रहने के लिये अधिक भूमि प्राप्त करनी है तथा जनसंख्या व भू-मात्रा के बीच असन्तुलन को दूर करना है तथा अपनी भूमि को जीविका के आधार के साथ ही अपनी शक्ति को बढ़ाने का साधन भी बनाना है। राष्ट्रों की सीमायें मनुष्य द्वारा रची गयी हैं और मनुष्य उन्हें बदल भी सकते हैं। जिन राष्ट्रों का विस्तार जरूरी है, उन्हे बढाना नैतिक कर्तव्य है।

यदि एक बड़ा राष्ट्र भूमि के अभाव के कारण बर्बाद हो रहा है तो उस हालत में आक्रमण करके उसका अपने लिये भूमि प्राप्त करना कर्तव्य हो जाता है।"

हिटलर ने लिखा, "जर्मनी के सीमा विस्तार का हल पूर्व में बढ़ने से ही हो सकता है। यदि हमें यूरोप में नयी भूमि की जरूरत है तो हमें रूस तथा सीमांत राष्ट्रों की ओर ही कदम बढ़ाना होगा।" हिटलर ने यह स्पष्ट कहा था कि फ्रांस जर्मनी का सदा का कट्टर शत्रु है।

हिटलर की राष्ट्रीय समाजवादी योजना मे 25 बातें थी। पहली माँग थी आत्मनिर्णय के सिद्धान्त पर तमाम जर्मन जनता को एक जर्मन राज्य के अन्तर्गत एक सूत्र में बांधना। दूसरी माँग थी वर्सायी संधि को भंग करना, युद्ध अपराधों को अस्वीकार करना व हर्जाने में एकदम परिवर्तन करना। तीसरी मांग थी जर्मनी की अतिरिक्त आबादी के लिये नये उपनिवेश खोजना। इसके अतिरिक्त अन्य मांगें निम्न प्रकार थीं : पेशेवर सेना के स्थान पर राष्ट्रीय सेना कायम करना, राज्य मे शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना, बिना मेहनत से होने वाली आयों को समाप्त करना, यहूदियों को जर्मन नागरिकता से वंचित करना, जर्मन जनता के लिये जीवन-यापन का जरिया निकालना, बेकारी दूर करना तथा अन्य बड़े राष्ट्रों के समान शस्त्रीकरण करना।

नाजी क्रांति

जर्मनी में राष्ट्रीय समाजवादी दल का विकास 1930 से ही आरम्भ हो गया था। 1930 के आम चुनाव में उक्त दल को 576 में से 107 सीटें प्राप्त हुईं। पहले इस दल को केवल 11 सीटें प्राप्त थी। इसके बाद 1932 में दो बार आम चुनाव हुए। दोनों बार राष्ट्रीय समाजवादी दल को 584 सीटों मे से 196 सीटें प्राप्त हुईं, जिसकी संख्या कुल सीटों की एक तिहाई से थोड़ी ही कम थी। इस तरह विधानसभा में राष्ट्रीय समाजवादी दल का बहुमत रहा और वह अन्य सभी दलों से शक्तिशाली सिद्ध हुआ। हिटलर संयुक्त मन्त्रिमंडल का चांसलर नियुक्त किया गया। संयुक्त मंत्रिमंडल में तीन नाजी और दो राष्ट्रवादी थे। 30 जनवरी 1933 को हिटलर ने विधान सभा (रीशस्टाग) को भंग करके 5 मार्च 1933 को नया चुनाव करने का आदेश दिया। आम चुनाव के केवल 6 दिन पूर्व विधान सभा (रीशस्टाग) का भवन रहस्यजनक स्थिति में जलता पाया गया। यह नाजियों के लिये अच्छा अवसर था। हिटलर ने राष्ट्रपति हिन्डेनबर्ग से कहा कि जर्मनी की स्वतंत्रता तथा सुविधाओं सम्बन्धी वैधानिक गारण्टियों पर नियंत्रण लगा दिया जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यक्तिगत सम्पत्ति पर कब्जा करने, किसी की सम्पत्ति को जब्त करने, समाचार पत्रों और सभा व पार्टियों को भंग करने का अधिकार सरकार को मिल गया। हिटलर ने स्थिति का फायदा उठाते हुये कम्युनिस्ट पार्टी को गैर कानूनी करार देकर उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया और सोशल डेमोक्रेट दल को आदेश दिया कि वह

अपने समाचार पत्रों का प्रकाशन और चुनाव प्रचार शीघ्र बन्द कर दे। इसके बाद जो आम चुनाव हुआ उसके कुल मतों का 44 प्रतिशत मत नाजी पार्टी के पक्ष में पड़ा। 1 अप्रैल को हिटलर और नाजीदल को चार वर्ष तक शासन संभालने का अवसर दिया गया। इसके बाद तीन मास के भीतर ही समस्त नाजी विरोधी दल सदा के लिये भंग कर दिये और जर्मनी की राजनीति पर एक ही दल, नाजी पार्टी की तानाशाही कायम हो गई। काला, लाल और सुनहले रंग का गणतंत्र झंडा हटा कर उसके स्थान पर दो प्रकार के झंडे एक पुरानी बादशाहत का, जो काला, श्वेत और लाल था और दूसरा नये राष्ट्रीयवाद का जिस पर स्वस्तिक चिन्ह था, फहराये गये। 2 अगस्त 1934 को जब राष्ट्रपति हिन्डेनवर्ग का देहान्त हो गया, तब राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री (प्रेसीडेन्ट और चांसलर) के पद मिलाकर एक कर दिये गये। हिटलर जर्मनी का नेता और चांसलर दोनों नियुक्त हुआ। इस तरह प्रजातांत्रिक जर्मन-गणतंत्र की समाप्ति के साथ हिटलर के नेतृत्व में नाजी तानाशाही की स्थापना होकर नाजी क्रांति सफलता के साथ समाप्त हो गई।

नाजीवाद के उत्थान के कारण

जर्मनी में नाजीवाद के उत्थान के अनेक कारण थे : (1) प्रथम कारण वर्सायी संधि की शर्तें थी जो इतनी सख्त और क्रूर थीं कि उससे जर्मन राष्ट्र के बिल्कुल नष्ट हो जाने का खतरा था। विजयी राष्ट्रों का उनके साथ व्यवहार बड़ा अत्याचार पूर्ण था। इससे जनता में क्रांति पैदा हुई और वे बदला लेने को तैयार हो गये। (2) जर्मनी में साम्यवाद का विकास होने पर धनी औद्योगिकों को खतरा पैदा होने लगा। इस अवसर का लाभ उठाकर नाजी पार्टी ने प्रचार करना आरम्भ किया कि यदि नाजी पार्टी का पतन हो गया तो जर्मनी में कम्युनिस्टों की संख्या एक करोड तक हो जायेगी। इसका असर पूंजीपतियों और औद्योगिकों पर पड़ा और उन्होंने नाजी पार्टी को हर तरह से सहयोग देना आरम्भ किया। इस तरह साम्यवाद के विरुद्ध नाजीवाद बहुत बड़ी चट्टान बन गया। (3) नाजी पार्टी ने बेकार और आर्थिक दृष्टि से पीड़ित जनता को सहायता पहुँचाना शुरू किया, जिससे वे नाजी पार्टी के साथ हो गये। (4) नाजियों ने जर्मन युवकों को सैनिक शिक्षा देने के लिये सरकारी फौज से अलग अपनी सेना तैयार करनी आरम्भ कर दी। (5) नाजी पार्टी द्वारा यहूदियों के विरुद्ध नीति अपनाने से वे लोग, जो यहूदियों को जर्मन जनता की कठिनाइयों के लिये उत्तरदायी समझते थे, नाजी पार्टी के साथ हो गये। (6) रीशस्टाग (विधान सभा) में पार्टियों की भरमार हो जाने से संसदीय मामलों में गतिरोध उत्पन्न होने लगा। इससे जनतांत्रिक व्यवस्था भंग होने लगी और तानाशाही के लिये रास्ता साफ हो गया। (7) जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिये नाजी पार्टी ने गलत और जनता को प्रभावित करने वाले प्रचारों का आश्रय लिया। (8) इटली की सफल फासिस्ट-वादी क्रांति का उदाहरण रखते हुए जनता से समर्थन की अपील की गई। कहा

कि जैसे इटली में फासिस्टवाद की विजय हुई है, वैसे ही जर्मनी में नाजीवाद की विजय होगी और वही जनता को तरक्की के रास्ते पर ले जायेगी। (9) नाजीवाद के विरोधियों में मतभेद होने से नाजीवाद को आगे बढ़ने में कोई रुकावट नहीं हुई। साम्यवादी इस भ्रम में थे कि नाजीवाद का पतन जरूर होगा और साम्यवाद-शासन में अवश्य आयेगा। (10) नाजी नेता हिटलर एक प्रभावशाली वक्ता था। उसकी उपस्थित बुद्धि और खतरे मे भी विचलित न होना व प्रभावशाली व्यक्तित्व, ये ऐसे कारण थे, जिनसे जर्मनी में नाजीवाद का उत्थान हुआ।

हिटलर की विदेश नीति

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, हिटलर का उद्देश्य (1) वर्सायी संधि को भंग कर देना, (2) एक राष्ट्र के अन्तर्गत, आत्मनिर्णय के अधिकार द्वारा, सारी जर्मन जनता का संगठन करना तथा (3) बढ़ती अर्थात् अतिरिक्त जनसंख्या को बसाने के लिये अपने छिने हुए प्रदेशों को पुनः प्राप्त करना और उपनिवेश कायम करना था। हिटलर ने अपनी विदेश नीति को संक्षेप में निम्न प्रकार से प्रकट किया : "राजनैतिक स्वतंत्रता तथा मातृभूमि को शक्तिशाली बनाने के लिये अपने खोये हुये प्रदेशों को पुनः अपने अधिकार में करना बहुत जरूरी है। इसकी प्राप्ति के लिये समझौता और यदि यह सभव न हो तो युद्ध का आश्रय लेना विदेश नीति की ओर हमारा पहला कदम है। हमारी नीति जर्मनी की रक्षा और उसे शक्तिशाली बनाने के लिये जर्मन सीमा को सैनिक दृष्टि से मजबूत बनाना है। हमारी मान्यता है कि अगर किसी राज्य को दुनिया में कायम रहना है तो वह सैनिक दृष्टि से अपने को शक्तिशाली बनाये, जिससे दुश्मन को आक्रमण करने की जल्दी हिम्मत न हो।"

दूसरे शब्दों में, हिटलर का कहना था कि शांति, बल के आधार पर ही टिकाऊ हो सकती है, समझौते पर नहीं। हिटलर की यह नीति राष्ट्रसंघ की जड़ के लिये घातक सिद्ध हुई और इसने शांति स्थापना को असंभव नहीं तो मुश्किल अवश्य ही बना दिया। हिटलर ने कहा कि पराधीन बस्तियों में विरोध करवा कर उन्हें अपने साथ नहीं मिलाया जा सकता; बल्कि इसके लिये तलवार उठानी पड़ेगी। इस तलवार को रगड़ कर तेज बनाना हमारी जनतंत्री सरकार की आंतरिक नीति है और इसकी रक्षा और इसमे सहयोग देने वालों को अपने में मिलाना विदेश नीति का काम है।

वर्सायी संधि का भंग होना

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हिटलर का सबसे महत्वपूर्ण कदम नि शस्त्रीकरण सम्मेलन और राष्ट्रसंघ का बहिष्कार करना था। उसका कहना था कि उक्त शक्तियों ने जर्मनी को उन अधिकारों से वंचित कर दिया है, जिन पर उसकी उन्नति निर्भर है और उसे अन्य राष्ट्रों की तरह अधिकार प्राप्त नहीं। हिटलर ने कहा कि यदि अन्य राष्ट्रों ने जर्मनी के साथ ऐसा ही व्यवहार रखने का निश्चय किया तो वह अपना रास्ता स्वय

चुनेगा। हिटलर ने अपना यह कार्य जनमत संग्रह द्वारा कर दिखाया। हिटलर का दूसरा कदम पोलैण्ड के साथ परस्पर आक्रमण न करने का समझौता था, जिसने यूरोप और फ्रांस में खलबली मचा दी। यह समझौता 10 वर्ष के लिये हुआ। तीसरा कदम आस्ट्रिया को मिलाने का असफल प्रयत्न था। सैंट जर्मेन की संधि ने, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आस्ट्रिया और जर्मनी के संगठन को तो भंग कर ही दिया था। इस कार्य को छिपाने के लिये हिटलर ने गुप्त रूप से आस्ट्रिया के नाजी विद्रोह को प्रोत्साहन दिया तथा 1934 में किये गये हमले की ओर से आँखें मूंद ली, जिसमें आस्ट्रियन चांसलर की हत्या की कोशिश की गई थी। वह षड्यंत्र जो कि असफल रहा, इसका एक कारण तो यह था कि इसे आस्ट्रिया में जनता का पर्याप्त समर्थन प्राप्त नहीं था। दूसरे मुसोलिनी ने जर्मनी को धमकी दी कि यदि उसने आस्ट्रिया पर हाथ फैलाने का प्रयत्न किया तो आक्रमण किया जायगा। इधर इटली का साथ चैकोस्लोवाकिया और फ्रांस दोनों दे रहे थे। इस हालत में हिटलर ने आस्ट्रिया पर अधिकार जमाने का विचार त्याग दिया। वर्साई संधि के अनुसार सार के भविष्य का निर्णय करने के लिये वहाँ जनवरी 1935 में जनमत संग्रह हुआ। इसमें 90 प्रतिशत मतदाताओं ने जर्मनी के साथ मिलने के पक्ष में मत दिया। इस तरह एक मार्च 1935 को सार के जर्मनी में आ जाने से हिटलर की विदेश नीति का चौथा कदम भी सफल रहा। एक पखवाड़े के बाद हिटलर ने वर्सायी संधि की सैनिक शर्तों को न मानने की घोषणा की। यह उसका पाँचवाँ कदम था। इसी के साथ उसने यह भी घोषणा की, "जर्मनी की सैनिक शक्ति को फ्रांस और ब्रिटेन के समान करने के लिये भर्ती आरंभ की जायेगी।" अभी तक जर्मनी ने यही प्रकट किया कि वह अपनी सैन्य शक्ति केवल अपनी रक्षा एवं शांति स्थापना के लिये बढ़ा रहा है।

आंग्ल-जर्मनी नौ (नौ-बेड़ा) समझौता

18 जून 1935 को जर्मनी और ब्रिटेन के बीच नौ-समझौता हुआ, जिसके अनुसार जर्मनी को अधिकार दिया गया कि वह ब्रिटिश जहाजी बेड़े के एक-तिहाई हिस्से के बराबर नौ-सेना तैयार कर सकता है। जर्मनी ने आश्वासन दिया कि वह अपनी यू-नावों को व्यापारी जहाजों के विरुद्ध प्रयोग नहीं करेगा। यह समझौता हिटलर के लिये भारी सफलता थी, क्योंकि इससे फ्रांस और ब्रिटेन में फूट पैदा हो गई और इटली में असन्तोष उत्पन्न हो गया।

राइन भूमि (राइन लैण्ड) का पुनः सैनिकीकरण

1935 में हिटलर, इटली के इथोपिया पर आक्रमण, ब्रिटेन और फ्रांस की लज्जापूर्ण अस्थायी नीति और राष्ट्रसंघ के आलस्य को चुपचाप बैठा देखता रहा। 7 मार्च 1936 को हिटलर ने एक 25 वर्षीय समझौते का प्रस्ताव रखा, जिसमें राइन सीमा के दोनों ओर असैनिकीकरण तथा बर्लिन में ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम और इटली के राजदूत रखने की सिफारिश थी। दो घण्टे के बाद ही उसने घोषणा की, "चूँकि

फ्रांको-सोवियत समझौते ने लोकार्नो संधि का उल्लंघन किया है, इसलिये वह राइनभूमि पर पुनः कब्जा करना चाहता है।" इस घोषणा के थोड़ी ही देर बाद लगभग 35 हजार जर्मन सैनिकों ने राइनलैण्ड पर हमला कर उस पर अपना अधिकार जमा लिया। इस पर फ्रांसीसी विदेशमंत्री फ्लांडिन ने इंग्लैण्ड से जर्मनी के विरुद्ध संयुक्त सैनिक कार्यवाही करने की अपील की। फ्लांडिन ने अपनी अपील में कहा, "आज विश्व के सारे छोटे मुल्कों की आँखें ब्रिटेन की ओर लगी हुई हैं; यदि ब्रिटेन कदम उठाये तो वह सारे यूरोप का नेतृत्व कर सकता है।" अपील में अन्त में कहा गया था, "यदि आप जर्मनी को अभी ताकत से नहीं रोकेंगे तो युद्ध को रोकना असंभव हो जायेगा।" इसके उत्तर में ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने कहा, "ब्रिटेन की हालत इस समय ऐसी नहीं है कि वह युद्ध में पड़े।" राइन भूमि पर जर्मनी का अधिकार हो जाने का फल यह हुआ कि बेल्जियम ने अक्टूबर 1936 में फ्रांस के साथ सैनिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और तटस्थता धारण कर ली। राइन पर जर्मन अधिकार ने ब्रिटेन की सैनिक दुर्बलता भी प्रकट कर दी। चर्चिल ने कहा कि हमारी कमजोरी का सबसे बड़ा कारण यह है कि हमने अपनी सैनिक शक्ति को कायम रखने में अदूरदर्शिता दिखलाई और ठीक नीति से आगे नहीं बढ़े। इधर ब्रिटेन पर से फ्रांस का भी विश्वास हट गया और उसके प्रति इटली में घृणा पैदा हो गई।

राइन भूमि पर जर्मनी के अधिकार का तीसरा प्रभाव यह हुआ कि जर्मन और केन्द्रीय यूरोप में हिटलर का सम्मान बढ़ गया, क्योंकि राइन पर जर्मन अधिकार के पीछे हिटलर का विशेष हाथ था।

बर्लिन-रोम-टोकियो धुरी राष्ट्र

21 मई 1936 को हिटलर ने अपने एक भाषण में कहा कि जर्मनी न तो आस्ट्रिया के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना चाहता है और न उसे अपने में मिलाना चाहता है तथा न ही उस पर रक्तहीन अभियान ही चाहता है। 11 जुलाई 1936 को जर्मनी ने आस्ट्रिया के साथ एक समझौता किया, जिसमें आस्ट्रियाई संघीय राज्य की सार्वभौमिक सत्ता को मान्यता दी गई। समझौते में जर्मनी ने वचन दिया कि वह आस्ट्रिया के राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलन को किसी तरह का सक्रिय सहयोग नहीं देगा। समझौते का असर यह हुआ कि आस्ट्रिया की समस्या थोड़े दिनों के लिये टल गई और इटली और जर्मनी एक-दूसरे के काफी निकट आ गये। सात दिन बाद ही स्पेन का गृह-युद्ध आरम्भ हो गया। इससे जर्मनी और इटली को परस्पर मिल-जुलकर अन्तर्राष्ट्रीय मैदान में आगे बढ़ने का अच्छा मौका मिला। स्पेन के गृहयुद्ध को इन दोनों धुरी राष्ट्रों ने अपना हथियार बनाया, जिसके द्वारा वे अन्य देशों में आक्रमण की भूमिका बना सकते थे। इस तरह स्पेन का गृह-युद्ध, जो एक घरेलू मामला था, अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का विषय बन गया।

25 अक्टूबर 1936 को मुसोलिनी के दामाद काउंट सियानो के प्रयास से

जर्मनी और इटली के बीच एक समझौता हुआ। समझौते के अनुसार जर्मनी ने आर्थिक सुविधाओं के बदले इथोपिया पर इटली के अधिकार को मान्यता दे दी। निश्चय हुआ कि डैन्यूब घाटी में यथापूर्व स्थिति कायम रखने, स्पेन में जनरल फ्रैंको के आन्दोलन का समर्थन करने तथा साम्यवादी रूस के विरुद्ध परस्पर सहयोग से कार्यवाही करने में दोनों राष्ट्र एक-दूसरे को सहयोग देंगे।

जर्मनी और इटली में उक्त समझौते का पहला परिणाम यह हुआ कि 18 नवम्बर 1936 को फ्रैंको स्पेन के शासक मान लिये गये। इस मान्यता के साथ फ्रैंको को दोनों धुरी राष्ट्रों ने सैनिक सहायता देनी आरंभ कर दी। इटली ने फ्रैंको की सहायतार्थ स्पेन को 40 हजार सशस्त्र सैनिक भेजे। एक सप्ताह बाद जर्मनी ने जापान के साथ एक अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद विरोधी समझौते पर हस्ताक्षर किये। इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मिल-जुलकर कार्यवाही करना था। कार के अनुसार, राजनैतिक दृष्टि से यह समझौता फ्रांको-सोवियत समझौते का विरोधी रूप था। 6 नवम्बर 1937 को इटली ने इस समझौते पर हस्ताक्षर किये, जिसका अनुसरण बाद में स्पेन की फ्रैंको सरकार ने भी (27 मार्च, 1939) किया। इस तरह एक तरफ जर्मनी, इटली और जापान और दूसरी तरफ फ्रांस, रूस और ब्रिटेन के बीच शक्ति का एक नया सन्तुलन पैदा हो गया। जर्मनी, इटली और जापान धुरी राष्ट्र माने गये। इधर इटली 11 दिसम्बर 1937 को राष्ट्रसंघ से अलग हो गया। 1938 में फ्यूरर हिटलर रोम में द्वितीय बार ड्यूस से मिला और उसने आक्रमण के लिये इटली की कमर कस दी।

आस्ट्रिया का अपहरण

राइन भूमि के पुनः मोर्चाबन्दी के बाद हिटलर ने आस्ट्रिया को जर्मनी में विलीन करने (एसलस) तथा पूर्वी सीमांत का विस्तार (ड्राग नाच आस्ट्रिन) की नीति अपनाई। 24 अगस्त 1936 को जर्मनी में सैनिक सेवा की अवधि एक वर्ष से बढ़ाकर दो वर्ष कर दी गई। जर्मनी को आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर बनाने के लिये एक नई पंचवर्षीय योजना चालू की गई। जर्मन सेनापति को आदेश दिया गया कि वह आस्ट्रिया पर अधिकार करने के लिये सैनिक योजनाएँ तैयार करे। जून 1937 में हिटलर ने अपने सलाहकारों तथा उच्चाधिकारियो के समक्ष अपनी योजनायें प्रकट कीं। हिटलर ने कहा कि हमें अपने दो बड़े शत्रुओं, फ्रांस और ब्रिटेन के साथ टक्कर लेनी है, क्योंकि वे मध्य यूरोप में अपना आधिपत्य जमाना चाहते हैं।

संयुक्त आंग्ल-फ्रांसीसी आक्रमण के विरुद्ध पश्चिमी मोर्चे के लिये फ्रांसीसी "मैगनट लाइन" के ठीक सामने 'सिगफ्रिड लाइन' का निर्माण आरम्भ कर दिया गया। जर्मनी ने शस्त्रीकरण पर प्रतिवर्ष 100 करोड़ पौंड खर्च करना शुरू कर दिया। 4 फरवरी 1938 को हिटलर ने प्रधान सेनापति फिच को पद-त्यागने के लिये बाध्य किया और स्वयं जर्मन सेना का सर्वोच्च सेनापति बन गया। न्यूरथ के स्थान

पर रिबेनट्रोप विदेशमंत्री बना दिये गये। रिबेनट्रोप ब्रिटेन में जर्मनी के राजदूत रह चुके थे। सर्वोच्च सेनापति बनने के 8 दिन बाद ही हिटलर ने आस्ट्रिया के प्रधान मंत्री शुशनिग को बरचेसगाडन बुलाया और सैनिक धमकियों द्वारा उस पर जोर डाला कि वह आस्ट्रियाई मंत्रिमंडल में आस्ट्रियाई नाजी सेइसइन्क्वार्ट को सुरक्षामंत्री नियुक्त करने तथा आस्ट्रियाई नाजी दल को सरकारी मान्यता देने के लिये तैयार हो जाय। 9 मार्च को शुशनिग ने घोषणा की, "आस्ट्रिया के भविष्य का प्रश्न निश्चित करने के लिये आज से चार दिन बाद आस्ट्रिया में जनमत संग्रह किया जायगा।" इधर 11 मार्च को जर्मनी ने आस्ट्रिया को चेतावनी (अल्टिमेटम) भेजी कि जनमत संग्रह स्थगित कर दिया जाय और प्रधानमंत्री शुशनिग त्याग-पत्र दे दें अन्यथा जर्मनी आस्ट्रिया पर हमला कर देगा। इस पर शुशनिग ने इस्तीफा दे दिया। इसके तीन दिन बाद हिटलर विजयी मुद्रा मे वियना में प्रविष्ट हुआ और आस्ट्रियाई नाजी सेइसइन्क्वार्ट को आस्ट्रिया का प्रधानमंत्री नियुक्त कर दिया। उसने आस्ट्रियाई नेशनल बैंक पर कब्जा कर लिया और जर्मनी में आस्ट्रिया को विलीन करने के लिये जनमत-सग्रह किया। इसमे लगभग 99·73 प्रतिशत मतदाताओं ने जर्मनी से मिलने के पक्ष में मत दिया।

आस्ट्रिया के जर्मनी में मिला दिये जाने से जर्मनी की न केवल जन-शक्ति 60 लाख बढ गई; बल्कि दक्षिणी-पूर्वी यूरोप में सैनिक और राजनैतिक दृष्टि से उसकी धाक जम गई। इससे इटली, युगोस्लाविया और हगेरी से निकट सम्पर्क कायम करने का जर्मनी को अच्छा अवसर मिल गया। जर्मनी को आस्ट्रिया से भारी मात्रा में मैगनेसाइट (विमानो के निर्माण मे प्रयोग होता है) हाथ लगा। इसके अतिरिक्त आस्ट्रियाई बैंक से दो करोड पौण्ड नकद प्राप्त हुआ। इसका नतीजा यह हुआ कि जर्मनी आत्म-निर्भर बन गया। चर्चिल ने ब्रिटेन की लोकसभा मे ठीक ही कहा था—"वियना के जर्मनी के अधिकार में चले जाने से नाजी जर्मनी का दक्षिणी-पूर्वी यूरोप के तमाम यातायात पर कब्जा हो गया।" अब चैकोस्लोवाकिया को खतरा पैदा हो गया। इस तरह वर्साय़ी संधि की वह धारा, जिसके द्वारा जर्मनी और आस्ट्रिया को पृथक् किया गया था, सदा के लिये नष्ट हो गयी।

चैकोस्लोवाकिया में संकट

आस्ट्रिया के बाद जर्मनी के आक्रमण का शिकार चैकोस्लोवाकिया को होना पड़ा। चैकोस्लोवाकिया के सामने सबसे बड़ी घरेलू समस्या थी—सुडेटन जर्मन अल्प-संख्यकों के लिये स्वायत्त-शासन की व्यवस्था करना। चैकोस्लोवाकिया की कुल डेढ़ करोड़ जनसख्या मे उक्त अल्पसंख्यकों की आबादी लगभग 35 लाख थी। इन अल्प-सख्यकों के लिये अलग शिक्षा-संस्थाये थी और उन्हें संयुक्त सरकार में प्रतिनिधित्व प्राप्त था। जर्मनी में नाजीवाद के विकास से राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहन मिला और सुडेटन जर्मन पार्टी ने हेनेलीन के नेतृत्व मे पृथकवादी आन्दोलन आरम्भ कर

दिया। हिटलर ने अपने भाषणों में हेनेलीन का समर्थन किया और सुडेटनलैण्ड की स्थापना पर जोर दिया। 1937 में चैक सरकार ने जर्मन अल्पसंख्यकों के लिये सरकारी पदों, सहायता-कोषों और सांस्कृतिक संस्थाओं को सरकारी सहायता में विशेष सुविधायें प्रदान कीं। इसके अतिरिक्त सरकारी तौर पर जर्मन भाषा को स्वीकार कर लिया। किन्तु इतने पर भी जर्मन अल्पसंख्यकों को संतुष्टि नहीं हुई। अप्रैल 1938 में हेनेलीन ने कार्ल्सबैड में अपने एक वक्तव्य में 8 मांगें प्रस्तुत कीं, जिनमें जर्मन क्षेत्रों के लिये स्वायत्तशासन और वहाँ की जनता को राजनैतिक तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्रदान करने की मांग की गई थी। इधर हिटलर ने भी घोषणा की, "जर्मन जनता का कर्तव्य है कि वह चैकोस्लोवाकिया की परतंत्रता में पड़े अपने भाई जर्मनों की स्वतन्त्रता के लिये आवश्यक कदम उठाये।" जर्मनी के समाचार-पत्रों ने भी जर्मन अल्पसंख्यकों की स्वतन्त्रता के लिये खूब आन्दोलन किया। किन्तु चूँकि चैकोस्लोवाकिया को फ्रांस, रूस, रूमानिया और यूगोस्लाविया का सहयोग प्राप्त था, इसलिये उसने आत्म-समर्पण न कर मोर्चा लेना उचित समझा। अगस्त 1938 में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चेम्बरलेन ने लार्ड रूसीमान को जर्मन अल्पसंख्यकों के विवाद को सुलझाने के लिये चैकोस्लोवाकिया भेजा। लार्ड रूसीमान की रिपोर्ट चैकोस्लोवाकियाई सरकार के लिये निहायत विरोधी थी। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में कहा था : "सुडेटन क्षेत्र में गत 20 वर्षों से चला आ रहा चैकोस्लोवाकिया का शासन यद्यपि अत्याचारी और आतंकवादी नहीं है; किन्तु जिस तरह शासन चल रहा है, वह अत्यन्त अकुशल और भेदभाव की भावना से पूर्ण है।" यद्यपि रिपोर्ट में यह स्वीकार किया गया कि आर्थिक और ऐतिहासिक दृष्टि से सुडेटनलैण्ड चैकोस्लोवाकिया से पृथक् होने योग्य नहीं, किन्तु अन्त में उन्होंने सिफारिश की थी कि जर्मन जिलों को अविलम्ब जर्मनी को लौटा देना चाहिये। 12 सितम्बर को हिटलर ने नूरेम्बर्ग में अपने एक वक्तव्य में कहा कि अब मेरा सन्तोष समाप्त हो चुका है। दूसरे ही दिन चैकोस्लोवाकिया के नाजी नेता ने चैक मन्त्रिमण्डल से वार्ता भंग कर सैनिक शक्ति से चैक सरकार को पलटने का असफल प्रयत्न किया। वह भागकर जर्मनी चला गया। हिटलर ने अपनी सेनायें चैक सीमा की ओर बढ़ानी शुरू कर दी। इस तरह युद्ध निकट आ गया। 15 सितम्बर को चेम्बरलेन हिटलर से, यह प्रार्थना करने के लिये कि वह अपनी सेनायें आगे न बढ़ाये, बरचेसगाडन को रवाना हुए। वार्ता में फ्यूरर हिटलर ने सुडेटन जनता को अविलम्ब आजाद करने की मांग की और कहा कि ऐसा न किया गया तो जर्मनी चैकोस्लोवाकिया पर शीघ्र ही आक्रमण कर देगा। चेम्बरलेन तत्काल लन्दन के लिये रवाना हो गये और हिटलर की मांग पर विचार करने के लिये फ्रांसीसी प्रधानमंत्री और विदेशमंत्री की एक अविलम्ब बैठक बुलाई। काफी समय तक बहस के बाद एक आंग्ल-फ्रांसीसी चुनौती 19 सितम्बर को चैकोस्लोवाकिया को भेजी गयी, जिसमें मांग की गई कि सुडेटनलैण्ड को शीघ्र राइख (जर्मन सरकार) को सौंप दिया जाय। इस संबंध में तीन दिन के भीतर उत्तर

सूचित करने को कहा गया। इसके साथ ही एक धमकी भी दी गई कि यदि उक्त शर्त नामंजूर कर दी गई तो चैक सरकार को सैनिक सहायता की संधि भंग करके चैकोस्लोवाकिया के विरुद्ध जर्मनी को सहायता दी जायेगी। इस धमकी पर चैक सरकार को आंग्ल-फ्रांसीसी चुनौती के आगे झुकना पड़ा। चुनौती की शर्तें मजूर करने के बाद चैक प्रधानमंत्री होड्जा ने त्याग-पत्र दे दिया और उनके स्थान पर जनरल सिरोवी प्रधानमंत्री बने।

22 सितम्बर को चेम्बरलेन आंग्ल-फ्रांसीसी योजना को क्रियान्वित रूप देने और विचार-विमर्श के लिये हिटलर से मिलने गाडेसबर्ग को रवाना हो गये। इस भेंट में हिटलर ने चैकोस्लोवाकिया के पोलिश तथा हंगेरियन अल्पसंख्यकों के क्षेत्र को 1 अक्टूबर तक सैनिक अधिकार में लेने की मांग की थी।

चेम्बरलेन 24 सितम्बर को निराश होकर लंदन लौट आये। इस पर ब्रिटेन के मन्त्रिमंडल ने गाडेसबर्ग शर्तो को अस्वीकार कर दिया। ब्रिटेन और फ्रांस ने निश्चय किया कि यदि जर्मनी ने हमला किया तो वे चैकोस्लोवाकिया की सहायता करेंगे। इसके बाद ब्रिटेन और फ्रास में सैनिक संगठन आरंभ हो गया। ब्रिटेन मे बमबारी से बचने के लिये खाइयाँ खोदी जाने लगीं और लोगों को हवाई आक्रमण से बचने के लिये आवश्यक शिक्षा और सामान दिये जाने लगे। ब्रिटेन ने अपने जहाजी बेड़े को शक्तिशाली बनाना शुरू कर दिया। 27 सितम्बर को चेम्बरलेन ने रेडियो पर कहा कि यदि कोई समझौता होने की सभावना हो तो मैं तीसरी बार भी जर्मनी जाने को तैयार हूँ। यही नहीं, बल्कि चेम्बरलेन ने हिटलर को एक पत्र लिखा, जिसमे पुनः समझौता-वार्ता के लिये अनुरोध किया गया। हिटलर ने इसे सस्ती विजय समझी और चेम्बरलेन को म्युनिख आने के लिये निमंत्रित किया।

म्युनिख समझौता

29 सितम्बर को म्युनिख में चार राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें म्युनिख समझौता किया गया। सम्मेलन में भाग लेने वाले चार राष्ट्र थे—ब्रिटेन (चेम्बरलेन), फ्रांस (डालडियार), जर्मनी (हिटलर) और इटली (मुसोलिनी) समझौते मे तय हुआ कि (1) चैक लोग 1 अक्टूबर से 10 दिन के भीतर सुडेटनलैंड को खाली कर दें। (2) एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग सीमायें निर्धारित करे तथा जनमत-संग्रह वाले क्षेत्रों का निरीक्षण करे। (3) ब्रिटेन और फ्रांस चैकोस्लोवाकिया की नई सीमाओं की बाहरी आक्रमण से रक्षा करने में साथ देंगे। (4) पोलिश और हंगेरियन अल्पसंख्यकों का प्रश्न हल हो जाने के बाद जर्मनी और इटली भी चैकोस्लोवाकिया की सीमाओं की रक्षा में सहयोग की गारण्टी देंगे। (5) आबादी की अदलाबदली। चैक राष्ट्रपति बेनेश को मजबूर होकर फांसी का फंदा अपने हाथों अपने गले मे लगाना पड़ा। उन्होंने उक्त शर्तनामे पर हस्ताक्षर कर दिये। इसके बाद उन्होंने इस्तीफा दे दिया और उनके स्थान पर इमिल हचा राष्ट्रपति नियुक्त

हुये। 30 सितम्बर को चेम्बरलेन और हिटलर ने एक संयुक्त घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किये, जिसमें कहा गया था कि जर्मनी और ब्रिटेन एक-दूसरे के खिलाफ कभी युद्ध नहीं करेंगे। चेम्बरलेन ने उक्त घोषणा-पत्र को अपनी एक विजय समझी और खुशी से उसे फहराते हुए लंदन को रवाना हो गये। म्युनिख समझौता अविलम्ब ही लागू कर दिया गया। सुडेटनलैंण्ड पर जर्मनी का अधिकार हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय आयोग ने चैकोस्लोवाकिया की नई सीमा निर्धारित की। पोलैण्ड ने चैकोस्लोवाकिया को आक्रमण की धमकी देकर टेस्चेन पर अधिकार कर लिया। इधर हंगेरी ने भी चैकोस्लोवाकिया से लगभग पाँच हजार वर्गमील भूमि छीनकर अपने कब्जे में कर ली। स्मरण रहे कि 6 दिसम्बर को हिटलर ने परस्पर आक्रमण न करने के एक फ्रेंको-जर्मन समझौते पर हस्ताक्षर किये थे।

म्युनिख समझौता संतुष्टिकरण नीति का ही रूप था। चर्चिल ने ब्रिटिश संसद् में भाषण करते हुए कहा, "यह समझौता ब्रिटेन और उससे भी अधिक फ्रांस के लिये बहुत बड़ी हार है। ब्रिटेन और फ्रांस के दबाव से चैकोस्लोवाकिया का विभाजन नाजी धमकी के आगे पश्चिमी जनतंत्र के झुकने के बराबर है।" एमरी के शब्दों में "म्युनिख समझौता दबाव से हुई जीत का प्रतीक है, जो इतिहास में सबसे सस्ती समझी जा सकती है।" ट्रूमैन ने म्युनिख समझौते पर प्रकाश डालते हुए कहा था, "यह हिटलर के लिये भारी विजय थी।" म्युनिख समझौता हिटलर द्वारा रूसी साम्यवाद के विरुद्ध किये गये प्रचार का फल था। हिटलर का कहना था कि रूसी साम्यवाद पश्चिमी पूँजीवाद के लिये भारी खतरा है और इसकी रक्षा नाजी जर्मनी ही कर सकता है। इस प्रचार का असर यह हुआ कि पूँजीवादी देशों ने जर्मनी का हाथ मजबूत करना तथा उसे सन्तुष्ट करना शुरू किया। इसी चक्कर में आकर ब्रिटेन और फ्रास ने म्युनिख समझौते में हिटलर की शर्तों को मंजूर कर लिया और उसके संकेतों पर चलने को तैयार हो गये। यद्यपि रूस पारस्परिक सुरक्षा संधियों के अनुसार चैकोस्लोवाकिया की सुरक्षा में मदद कर सकता था और जब हिटलर के साथ चैक सरकार का तनाव बढ़ा, तब रूस ने कहा था कि यदि पारस्परिक सुरक्षा संधियों के अनुसार फ्रांस चैक की सहायता करने को तैयार हो तो रूस भी उसका साथ देगा। किन्तु साम्यवाद के भय ने ब्रिटेन और फ्रांस को रूस से पृथक् रहने को मज़बूर किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि म्युनिख समझौते में रूस को नहीं बुलाया गया। इस प्रकार म्युनिख बैठक ने फ्रांसीसी-सोवियत समझौते (1935) को भंग कर दिया। इससे रूस को अपना नया साथी ढूँढ़ना पड़ा। इधर पोलैण्ड की सुरक्षा भी बिल्कुल समाप्त हो गई। मार्शल किटेल ने नूरेम्बर्ग मुकदमों में ठीक ही कहा था, "म्युनिख समझौता हिटलर की एक चाल थी, जिसके द्वारा वह रूस को यूरोप से निकाल बाहर करना और जर्मन सेना को मजबूत बनाना चाहता था।" म्युनिख समझौता हो जाने पर हिटलर को डेन्यूब और बल्कान क्षेत्रों पर आर्थिक और सैनिक अधिकार जमाने का मौका मिल गया।

चैकोस्लोवाकिया का विनाश

म्युनिख समझौते के बाद हिटलर ने कई बार इस बात को दोहराया कि "जर्मनी का यूरोप में आखिरी प्रादेशिक दावा सुडेटनलैण्ड है। सुडेटनलैण्ड को जर्मनी में मिला दिये जाने के बाद चैक सरकार के खिलाफ हमारी किसी प्रकार की शिकायत नही रहेगी, इसकी हम गारण्टी देंगे।" 19 नवम्बर 1938 को चैकोस्लोवाकिया एक संघीय गणतंत्र (फेडरल रिपब्लिक) में परिवर्तित कर दिया गया। रुथेनिया और स्लोवाकिया में गणतंत्र के राष्ट्रपति द्वारा नामजद दो प्रधानमंत्रियो के नेतृत्व में दो स्वायत्त लोकसभाओं की स्थापना कर दी गई, किन्तु विदेशी नीति और प्रतिरक्षा विभाग केन्द्रीय संसद् के हाथ में रहने दिये गये। 9 मार्च 1939 को राष्ट्रपति हचा ने स्लोवाक के प्रधानमंत्री फादर टिसो को पदच्युत कर दिया। टिसो पर आरोप लगाया गया कि वह पृथकवादी आन्दोलन को प्रोत्साहित कर रहे हैं, जिससे राज्य की एकता को खतरा पैदा होने का भय है। टिसो भागकर जर्मनी आ गये और हिटलर से अपील की। 15 मार्च को राष्ट्रपति हचा को वर्लिन बुलाया गया और वहाँ चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण का भय दिखलाकर उन्हें एक घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिये बाध्य किया गया। घोषणा-पत्र मे राष्ट्रपति हचा ने स्वीकार किया, "मैं पूर्ण विश्वास के साथ चैक जनता और देश का भविष्य जर्मन रीश के फ्यूरर के हाथ में सौंपता हूँ।" इसके बाद जर्मन सेना ने वोहेमिया और मोरेविया पर अपना अधिकार जमा लिया।

मान चित्र—10
चैकोस्लोवाकिया का विनाश

ब्रिटेन और फ्रांस ने इन मामलों में बिलकुल हस्तक्षेप नही किया। यद्यपि म्युनिख समझौते में यह तय हो चुका था कि सुरक्षा के मामले में चैकोस्लोवाकिया की ब्रिटेन और फ्रांस दोनों सहायता करेंगे; किन्तु चेम्बरलेन ने यह कह कर हस्तक्षेप करने से इन्कार कर दिया कि स्लोवाक डायट (संसद्) ने स्लोवाकिया की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी है, इसलिये वहाँ की स्थिति बिलकुल बदल गई है और यह हस्तक्षेप करने का मौका नहीं है।

बोहेमिया और मोरेविया पर अधिकार हो जाने से जर्मनी के हाथ में 18 हजार वर्गमील जमीन, लगभग 70 लाख आबादी, स्कोडा का प्रसिद्ध शस्त्र-कारखाना और नेशनल बैंक का सोना आ गया। इसके अतिरिक्त स्लोवाकिया के मिलने से जर्मनी को 20 लाख आबादी की लगभग 15 हजार वर्गमील भूमि हाथ लगी। इस तरह म्युनिख समझौते के छः मास के भीतर एवं आस्ट्रिया पर कब्जा होने के एक वर्ष के भीतर जर्मनी ने चैकोस्लोवाकिया को पूरी तरह से बर्बाद कर दिया।

ब्रिटिश नीति में परिवर्तन

इसी बीच हिटलर ने 21 मार्च को लिथुआनिया से मेमेल छीन लिया तथा रूमानिया के तेल भंडार पर कब्जा कर लिया। इसके अतिरिक्त उसने पोलैण्ड से मांग की, "यदि वह जर्मनी के साथ 25 वर्ष तक परस्पर आक्रमण न करने का समझौता चाहता है तो डानजिग और पूर्वी रूस से जर्मनी को जोड़ने वाले समुद्र तटीय गलियारे को जर्मनी को लौटा दे। किन्तु पोलैण्ड ने इन शर्तों को अस्वीकार कर दिया।

मान चित्र—11

1919—1939 के मध्य पोलैण्ड की सीमायें

इन घटनाओं से चेम्बरलेन को विश्वास हो गया कि हिटलर के आश्वासनों पर अब विश्वास नहीं किया जा सकता। इसलिए उन्होंने निम्न ऐतिहासिक भाषण के साथ ब्रिटिश विदेश नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने की घोषणा की। आपने कहा, "हम हर एक देश के सहयोग का, चाहे उनका आन्तरिक शासन कैसा ही हो, स्वागत करते हैं, आक्रमण के लिए नहीं बल्कि आक्रमण को रोकने के लिए।" 31 मार्च 1939 को चेम्बरलेन ने घोषणा की, "पोलिश स्वतंत्रता पर हमला होने पर ब्रिटेन पोलैण्ड को हर तरह से अविलम्ब सहायता देना आरंभ कर देगा।" यही घोषणा फ्रांस ने भी की।

7 अप्रैल को इटालियन फौजों ने अल्बानिया पर अकस्मात् हमला कर दिया और राजा जोग को गद्दी से उतार कर 1927 के आंग्ल-इटालियन समझौते का उल्लंघन करते हुए अल्बानिया को अपने अधिकार में ले लिया। ब्रिटेन ने तत्काल ही यूनान और रूमानिया को सुरक्षा सहायता की गारन्टी दी और पारस्परिक सहायता व सहयोग सबधी एक आंग्ल-तुर्की समझौता किया। 26 अप्रैल को चेम्बरलेन ने अनिवार्य सैनिक शिक्षा का एक बिल प्रस्तुत किया। दो दिन बाद हिटलर ने 1933 के आंग्ल-जर्मन समझौते और 1934 की जर्मनी-पोलिश संधि को मानने से इन्कार कर दिया। उसने ब्रिटेन पर आरोप लगाया कि वह घेरेबन्दी की नीति अपना रहा है।

रूस-जर्मन संधि (23 अगस्त 1939)

लायड जार्ज और चर्चिल ने कई बार कहा था कि यदि ब्रिटेन पोलैण्ड की जर्मन आक्रमण से रक्षा करना चाहता है तो उसे अविलम्ब रूस के साथ सुदृढ़ समझौता कर लेना चाहिये। मार्च 1939 में एक ब्रिटिश व्यापारिक शिष्टमंडल मास्को गया। किन्तु बाल्टिक राज्यों के मामलों पर ब्रिटेन और रूस में कोई समझौता नहीं हो सका। जुलाई में विदेश विभाग के विशेषज्ञ विलियम स्ट्रैंग के नेतृत्व में एक ब्रिटिश सैनिक शिष्टमंडल रूस के साथ सुरक्षा योजनाओं पर विचार करने के लिये मास्को भेजा गया। इस अवसर पर फ्रांसीसी सैनिक विशेषज्ञ भी मास्को में उपस्थित हुए। स्टालिन ने पूछा कि जर्मनी के खिलाफ कार्यवाही करने के लिये फ्रांस कितने सैनिक डिवीजन की व्यवस्था कर सकता है? फ्रांसीसी मिशन से उत्तर मिला "100 डिवीजन।" ब्रिटिश सैनिक शिष्टमडल ने प्रारंभ मे "दो डिवीजन सेना" और बाद में दो और का आश्वासन दिया। स्टालिन ने उत्तर दिया कि "जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के लिये हमें तीन सौ से अधिक डिवीजनों की जरूरत पड़ेगी।" इस प्रकार उचित आदान-प्रदान नीति के अभाव में वार्ता असफल रही। 23 अगस्त 1939 को रिबेनट्रोप और मोलोटोव ने रूस-जर्मन परस्पर 10 वर्ष की अनाक्रमण संधि पर हस्ताक्षर किए जिसका अध्ययन 'सुरक्षा की खोज मे' अध्याय में किया जा चुका है। रूस जर्मन संधि से पूर्वी सीमा पर युद्ध का भय समाप्त हो गया और इसका लाभ उठाकर हिटलर ने डानजिग पर आक्रमण कर दिया।

शांति का अंतिम सप्ताह

25 अगस्त 1939 को नाजी सोवियत समझौते के 2 दिन पश्चात् हिटलर ने गुप्त सूत्र श्वेत कांड में सेना को सूचना दी कि 1 सितम्बर को जर्मन सेना पोलैण्ड पर आक्रमण करेगी। रूस की तटस्थता ने उसे पोलैण्ड की विजय का आश्वासन दिया। 25 अगस्त को ही हिटलर ने मुसोलिनी के पास सूचना भेजी, "यह समझौता धुरी के लिये अधिकतम लाभप्रद सौदा है।" उसने यह भी कहा, "असहनीय स्थिति की दिशा में हमें पोलैण्ड पर तत्काल आक्रमण करना होगा।" इसके उत्तर में मुसोलिनी ने लिखा, "अभी युद्ध के लिये इटली तैयार नहीं है। जैसा कि पिछली भेंट में बताया था, यह 1942 तक संभव न हो सकेगा। कृपया हमारे पास कच्चा माल व अन्य युद्ध सामग्री भेजने का कष्ट करें।" 25 अगस्त को ही हिटलर ने फ्रांस के राजदूत कोलोन्द्रे को चेतावनी दी, "पोलैण्ड की उत्तेजनात्मक कार्यवाहियां असहनीय हैं और हमें आक्रमण के लिये बाध्य कर रही हैं। यदि फ्रांस ने उसका पक्ष लिया तो हमें उससे भी लड़ना होगा।" कोलोन्द्रे ने कहा, "फ्रांस अपनी समस्त शक्ति के साथ पोलैण्ड की रक्षा करेगा।" हिटलर का उत्तर था, "तब युद्ध का उत्तरदायित्व मुझ पर न होगा।"

इसी दिन (25 अगस्त) हिटलर ने ब्रिटिश राजदूत हैन्डारसन को बुलाया और कहा, "जर्मन-पोलिश संबंधों को तय करने का यह मेरा अंतिम प्रस्ताव है। उधर इग्लैंड व उसके साम्राज्य की सुरक्षा की मैं गारंटी देता हूँ।" हैन्डारसन हिटलर की पोलैण्ड के प्रति अस्पष्ट योजनाओं से सहमत नहीं हुआ। इंग्लैण्ड ने पोलैण्ड को सुरक्षा की गारंटी देते हुए उसी दिन पोलैण्ड से एक सुरक्षा संधि की। 27 अगस्त की प्रातः हिटलर ने मुसोलिनी के पास एक अन्य संदेश भेजा जिसमें उसने कहा, "विश्व को इटली की नीति का कोई अनुमान नहीं होना चाहिये। ड्यूस! तुम नैतिक ढंग से मेरा समर्थन करो और हो सके तो फ्रांसीसी और इटली की सेनाओं को कुछ समय के लिये उलझा दो।" मुसोलिनी का सुझाव था, "पोलैण्ड की समस्या राजनीतिक दृष्टि से भी हल हो सकती है।" उसी दिन (27 अगस्त को) हिटलर ने स्वीडन के उद्योगपति डलैरज (जिसका ब्रिटेन व वहां के प्रधानमंत्री चेम्बरलेन से अच्छा संबध था) को निम्न संदेश देकर इंग्लैंड भेजा : (1) ब्रिटेन व इंग्लैण्ड में समझौता हो; (2) जर्मनी को डानजिग व पोलिश गलियारा मिले, (3) जर्मनी नई सीमा की गारंटी देगा; (4) जर्मनी को उपनिवेश मिले; (5) पोलैण्ड स्थित जर्मन अल्पसंख्यकों की सुरक्षा गारंटी मिले व (6) इंग्लैण्ड के साम्राज्य की सुरक्षा गारंटी हिटलर देगा। इन सब कार्यों के संपादन में हिटलर ने ब्रिटेन की मदद चाही।

हैन्डारसन 28 अगस्त को इंग्लैण्ड से उत्तर लेकर वापिस आया। उसने कहा पोलैण्ड सभी विषयों पर शांतिपूर्ण वार्ता द्वारा समझौते के लिये तैयार है। ब्रिटिश प्रतिनिधि ने बार-बार इस बात पर जोर दिया कि समझौते पर पहुँचने का तरीका

क्या होगा—शांतिपूर्ण वार्ता अथवा युद्ध। फ्यूरर शांत रहा और केवल इतना कहा कि इतनी उदार शर्तें फिर नहीं दी जायेंगी। उसने लिखित उत्तर 29 ता० को दिया जिसमें डानजिग और गलियारे की मांग की और कहा कि एक पोलिश प्रतिनिधि जिसको समझौते की पूरी शक्तियाँ प्राप्त हो 30 ता० तक बर्लिन आये क्योंकि अब सप्ताह और दिनों का मामला न रहकर केवल घण्टों का मामला रह गया है। ब्रिटेन के प्रतिनिधि ने विरोध करते हुए कहा कि इस विशेष शक्ति प्राप्त पोलिश प्रतिनिधि का भी वही हाल हो सकता है जो शुशनिक व हाचा (चैकोस्लोवाकिया) का हुआ। फ्यूरर इस पर शांत रहा। ता० 30 की मध्य रात्रि को जब ब्रिटिश राजदूत रिबेनट्रोप से मिला तब उसने कहा कि अब तक पोलैंड का विशेष प्रतिनिधि नहीं आया है और अब शांति पूर्ण समझौते का समय निकल चुका है। ब्रिटेन के राजदूत के पीछे पड़ने पर रिबेनट्रोप ने 16 मांगों को तीव्र गति से पढ़कर सुनाया और उसकी लिखित प्रतिलिपि देने से इन्कार कर दिया। 31 ता० की शाम को छः बजे पोलिश दूत लिपस्की ने जर्मनी को सूचना दी कि शीघ्र ही प्रत्यक्ष वार्तालाप के विषय में पोलैण्ड की सरकार उत्तर देगी। जब रिबेनट्रोप ने पूछा कि क्या वह वार्ता के लिये समस्त शक्ति प्राप्त है, तब उसने कहा कि इसके लिये कुछ घंटों में विशेष प्रतिनिधि आने वाला है। जब वह अपनी सरकार से आगे बात करने के लिये दूतावास पहुँचा तो उसने टेलीफोन के तार कटे पाये। सितम्बर प्रातः 4 बजकर 45 मिनट पर पोलैण्ड पर आक्रमण प्रारम्भ हो गया।

प्रातः 10 बजे हिटलर ने जर्मन संसद (राइशटैग) में कहा, "पोलैण्ड ने शांति वार्ता अस्वीकार कर दी है और प्रत्यक्ष वार्ता के लिये कोई प्रतिनिधि नहीं भेजा है एक बड़े राष्ट्र के लिये यह अपमानजनक बात है। पोलैण्ड ने जो हम पर आक्रमण किया उसका हम प्रातः 5 बजकर 45 मिनट से उत्तर दे रहे हैं। इस घड़ी से मैं अब जर्मनी का प्रथम सैनिक हूँ और तब तक सैनिक वेष में रहूँगा जब तक कि विजय नहीं हो जाती, अन्यथा प्राण त्याग दूंगा। मेरे उत्तराधिकारी क्रमशः गोइरिंग और हैस होंगे। उसी दिन ब्रिटेन ने जर्मनी को एक विशेष सदेश भेजा कि वह पोलिश भू-खंड से अपनी सेना को हटा ले अन्यथा ब्रिटेन पोलैण्ड के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निवाहेगा।

2 सितम्बर को मुसोलिनी ने 5 सितम्बर के एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन का प्रस्ताव रखा जिसमें इस समस्या पर विचार किया जाय। फ्रांस ने इसे स्वीकार कर लिया किन्तु ब्रिटेन ने कहा कि जर्मन सेना के पोलैण्ड से हटने के बाद ही यह सम्मेलन संभव है। फ्रांस के प्रधानमंत्री डलादियर और विदेश-मंत्री बोनेट ने इंग्लैंड को 48 घण्टे और रुकने के लिये कहा (1 सितम्बर)। 3 सितम्बर को ब्रिटेन ने 9 बजे सवेरे जर्मनी को सेना हटाने की 2 घण्टे की चुनौती दी, जिसे जर्मनी ने अस्वीकार कर दिया। अतः प्रातः 11·15 बजे लड़ाई प्रारम्भ हो गई।

द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मनी

10 लाख जर्मन सेना और 1500 विमानों ने ब्रेशिस्ट के नेतृत्व मे पोलैण्ड पर आक्रमण किया। 4 सप्ताह में पोलैण्ड पर विजय हो गई और रूस के साथ जर्मनी ने उसका विभाजन कर लिया। मई 1940 तक डेनमार्क, नार्वे, लक्समवर्ग, बेल्जियम और नीदरलैण्ड पर हिटलर का अधिकार हो गया। ब्रिटिश सेना ने डनकर्क से पलायन कर दिया और फ्रांस ने 22 जून 1940 को आत्मसमर्पण कर दिया। उसी वर्ष 27 दिसम्बर को हिटलर ने सुरक्षा की त्रिराष्ट्रीय सधि, इटली व जापान के साथ की। हिटलर ने हैस को इग्लैंड से शांति वार्ता के लिये स्काटलैंड भेजा जहाँ कि उसे गिरफ्तार कर लिया गया।

जून में जर्मनी के पक्ष व फ्रांस के विरुद्ध इटली के युद्ध प्रारंभ करने के कारण उत्तरी अफ्रीका मे नया मोर्चा खुल गया। जर्मनी ने यूनान, युगोस्लाविया व क्रीट को विजय कर लिया और 22 जून 1941 को अनाक्रमण सधि को भग कर रूस पर आक्रमण कर दिया। इसी वर्ष 7 दिसम्बर को जापान अमेरिका के विरुद्ध युद्ध मे शामिल हो गया।

वोल्गा नदी का अतिक्रमण करने के पश्चात् जर्मन अग्रगति स्टालिनग्राड में रुक गई। यद्यपि जर्मनी ने यह दावा किया कि सैनिक दृष्टि से सोवियत रूस की विजय पूर्ण हो चुकी है, रूसी सेना ने विरोधी आक्रमण व गुरिल्ला युद्ध प्रारंभ कर दिया। 1942 में, रूस पर योजनानुसार विजय न हो सकने के कारण हिटलर ने सेनापति ब्रोशिस्ट को उसके पद से हटा दिया व स्वयं ने उसका कार्य-भार सभाल लिया। जर्मनी के औद्योगिक उत्पादन की कमी को दूर करने के लिये और कोयला, खाद्य-सामग्री व अन्य पदार्थों की कमी के कारण, हिटलर ने आपातकालीन घोषणा कर उद्योगपतियों व श्रमिकों से अधिक उत्पादन के लिये कहा व बताया 'राष्ट्र इस समय खतरे की स्थिति में है।' इस सब का भी कोई विशेष परिणाम नही निकला और मार्च 1943 तक 3 लाख 6 हजार जर्मन-सैनिक मृत्यु को प्राप्त हुए। इस प्रकार नैपोलियन के इतिहास की पुनरावृत्ति हुई।

इसी समय हिटलर ने जर्मनी में सैनिक संख्या की कमी को दूर करने के लिये 16 से 65 वर्ष आयु के पुरुषो तथा 17 से 45 वर्ष की आयु की स्त्रियों के लिये सैनिक शिक्षा अनिवार्य कर दी। 60 लाख बच्चो का भी औद्योगिक क्षेत्र में कार्य करना अनिवार्य कर दिया। इसी समय इटली में एलअलामैन मे रोमेल की पराजय हुई। मुसोलिनी के पतन के पश्चात् इटली ने आत्मसमर्पण कर दिया (2 सितम्बर 1943)। जून में मित्र राष्ट्रों ने सेना उतार कर यूरोप में दूसरा मोर्चा खोल दिया।

20 जुलाई 1944 को पूर्वी प्रशा में कर्नल स्टोफेनवर्ग ने, रैस्टेनवर्ग नगर में, जब कि हिटलर सैनिक अधिकारियों की एक सभा में भाषण दे रहे थे, षड्यंत्र द्वारा

एक बम छोड़ दिया जिसमें हिटलर के भी थोड़ी चोट आई। उसने षडयंत्रकारी को दंड देने की चेतावनी दी। इस षडयंत्र में अनेक बड़े-बड़े अधिकारी थे, जिनसे बदला लिया गया। मास्को स्थित स्कूलनबर्ग व जर्मन स्थित हसल भूतपूर्व राजदूत को हिटलर ने प्राणदंड दिया। प्रमुख सेनाध्यक्ष व अन्य अधिकारी जिन्हें मार डाला गया अथवा जिन्होंने आत्महत्या की, उनमें बिक और जिटलैंटर थे। ये हिटलर विरोधी लोग अमेरिका की लगातार बमबारी, भारी नुकसान व निश्चित हार के कारण, शांति व संधि के पक्षपाती थे।

1945 के आरंभ में हिटलर का अंतिम असफल आक्रमण सार में हुआ जिसमें 1,20,000 सैनिक, 1,600 विमान व 600 टैंकों की हानि हुई। 13 अप्रैल को रूसी लोग आस्ट्रिया की राजधानी वियना में प्रवेश कर गये। पश्चिम से अमेरिकी और ब्रिटिश फौज और पूर्व से रूसी फौज बर्लिन की ओर बढ़ने लगी। जर्मनी का कोई शहर बमबारी से नहीं बचा। 28 अप्रैल को मुसोलिनी विरोधी लोगों ने उसकी हत्या कर दी। हिटलर ने 20 अप्रैल को अपनी 56 वीं वर्ष गाँठ तहखाने में मनाई व इवा ब्राउन से विवाह किया, जब की बर्लिन पर रूसी बमबारी चालू थी। जनरल डोनिज को उसने अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया व अपना वसीयतनामा लिखा, जिसमें उसने अपने आपको 'शांति का दूत' कहा था। गोइरिंग, जिसको उसने पहले अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था व हिमलर, गृहमंत्री को उसने पदच्युत कर दिया और डोनिज को राष्ट्रपति, गोइबल्स को प्रधानमंत्री व बोरमैन को दल मंत्री (नाजीदल) बनाया। 30 अप्रैल सोमवार साढ़े तीन बजे अपने मुँह में गोली मारकर हिटलर ने, और विष-पान करके इवा ने आत्म-हत्या कर ली। उनके मोटर चालक कैम्पका और नौकर लिंज ने पैट्रोल डालकर उनके शव को जला दिया। इस समय प्रधानमंत्री गोइबल्स और बोरमैन उपस्थित थे। गोइबल्स ने भी अपनी पत्नी और 6 बच्चों सहित आत्म-हत्या कर ली। इस प्रकार हिटलर 12 साल 3 महीने अधिनायक रहा। इसके पश्चात् केवल एक सप्ताह और जर्मनी युद्ध कर सका।

नाजीवाद के पतन के अनेक कारण थे। इसमें से मुख्य था, उसकी नस्ली श्रेष्ठता की भावना। उसके यह कहने से कि जर्मन जनता ही संसार में श्रेष्ठतम नस्ल है, अन्य राष्ट्रों के लोग और विशेषतः यहूदी उसके विरोधी हो गये। हिटलर यह समझता था कि 'शक्ति' द्वारा सब कुछ संभव है किन्तु उसके पास असीमित शक्ति नहीं थी। अतः युद्ध में उसकी शक्ति कम होने लगी और नाजीवाद का पतन हो गया। उसके पतन के अन्य कारण राजनीतिक अवसरवादिता, उसका स्वयं का चरित्र और महत्वाकांक्षायें, जर्मन सेनाध्यक्षों का उसमें विश्वास का अभाव, रूस पर आक्रमण की भूल व अन्य असंख्य सामरिक भूलें, एक से अधिक मोर्चों पर लड़ाई जारी रखना, मुसोलिनी की मित्रता एक बार बन जाना, जापान का रूस के विरुद्ध युद्ध घोषित न करना (आंशिक सहयोग), युद्ध साधनों के निरंतर स्रोत का अभाव (1944 में अमेरिका में जर्मनी से हर वस्तु 10 गुनी तैयार होना), ब्रिटेन का भयंकर युद्ध में भी

डटे रहना और उसका नैतिक वल, हिटलर को अच्छे व शक्तिशाली मित्रों का अभाव, सामुद्रिक दुर्बलता और युद्ध में राजनीतिक अथवा आर्थिक नीति की अपेक्षा सैनिक नीति की ओर ही अधिक ध्यान देना आदि थे। अंत में जर्मनी के पतन के लिये स्वयं हिटलर ही नही, वरन् जर्मनी की जनता भी उत्तरदायी थी जिसने की उसका अंधा अनुसरण किया।

हिटलर के स्वयं के अनुसार जर्मनी के पतन के कारण (जो कि उसका भ्रम था) अतर्राष्ट्रीय यहूदीवाद, सेनाध्यक्षों का धोखा और ब्रिटेन था जो अपने व्यापारिक स्वार्थों के कारण युद्ध जारी रखना चाहता था और किसी भी प्रकार से समझौते के लिये तैयार नही था।

उसने अपनी अंतिम घड़ियों में कहा था, "हमें संघर्ष को त्यागना नही है। आज कुछ समय के लिये राष्ट्रीय समाजवाद का अन्त हो गया है, किन्तु मेरे और सैनिको के त्याग के फलस्वरूप बीज वो दिया गया है जो किसी दिन फले फूलेगा—और तब एक सच्चे संयुक्त 'राष्ट्रीय समाजवादी आदोलन' का शानदार पुनर्जन्म होगा"

सारांश

30 जनवरी 1933 को हिटलर जर्मनी का अधिनायक बना। अल्पशिक्षित एवं प्रारंभिक जीवन मे असफल होते हुए भी हिटलर विश्व इतिहास में महान् व्यक्ति है। उसे जीवन का व्यापक व वास्तविक अनुभव था व वह सामाजिक मनोविज्ञान का ज्ञाता था। वर्सायी सधि की कठोर शर्तें, जर्मनी मे साम्यवाद का भय, बढती हुई बेकारी की समस्या, जर्मन युवकों में सैनिक भावना, नाजियों द्वारा यहूदियों का दमन, लोकतत्र की असफलता, इटली में सफल फासी क्रांति का उदाहरण, प्रभावशाली प्रचार, राजनीतिक, विरोधियो में मतभेद, हिटलर का स्वयं का असाधारण व्यक्तित्व, प्रभावशाली भाषण कला—इन्हीं सब कारणो से जर्मनी में नाजीवाद का जन्म हुआ।

हिटलर की विदेश-नीति के उद्देश्य वर्सायी संधि को भंग करना, विशाल जर्मनी का निर्माण, उपनिवेश प्राप्ति की इच्छा, जर्मन जनता का आत्मनिर्णय के आधार पर जर्मनी मे प्रवेश थे। विश्व नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन में जर्मनी 1933 में अलग हो गया। 1935 में जनमत के आधार पर उसने सार को जर्मनी में मिला लिया; एक वर्ष पश्चात् राइन भूमि का पुनः सैनिकीकरण किया और सैनिक शक्ति को पांच लाख पांच हजार कर दिया। ब्रिटेन के साथ नौ सधि, स्पेन के महायुद्ध मे हस्तक्षेप, इटली जापान के साथ धुरी-सधि—हिटलर की नवीन नीति के आधार थे।

इसके फलस्वरूप मार्च 1938 में आस्ट्रिया का अपहरण हुआ और म्युनिख समझौते से चैकोस्लोवाकिया का प्रथम विभाजन हुआ और 6 महीने पश्चात् सम्पूर्ण चैकोस्लोवाकिया पर नियत्रण हो गया। जर्मनी ने मेमल पर अधिकार किया और ब्रिटेन के कारण रूस से अनाक्रमण-समझौता किया।

1 सितम्बर को डानजिग व गलियारे की समस्या को लेकर हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। ब्रिटेन की नाकेबंदी, अंतर्राष्ट्रीय यहूदीवाद, सैनिकों की धोखेबाजी आदि हिटलर के अनुसार नाजीवाद के पतन के कारण थे। वास्तव में रूस पर आक्रमण उसकी एक महान् भूल थी। उसकी महत्वाकांक्षा; अमेरिका, रूस, ब्रिटेन का संयुक्त मोर्चा और उनका औद्योगिक उत्पादन व एक सेनाध्यक्ष के नेतृत्व मे लड़ाई; दो मोर्चों पर एक साथ संघर्ष; U-2 की असफलता ; आर्थिक और सैनिक साधनों की कमी ; व सेनाध्यक्षों पर अविश्वास, नाजीवाद के पतन के कारण थे।

घटनाओं का तिथि-क्रम

1933 30 जनवरी—हिटलर चांसलर बना।
14 अक्टूबर—निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का परित्याग।

1934 26 जनवरी—पोलैण्ड से 10 वर्षीय अनाक्रमण संधि।
14-15 जून—हिटलर की वेनिस (इटली) यात्रा।

1935 13 जनवरी—सार में 90 प्रतिशत जनमत जर्मनी के पक्ष में।
1 मार्च—जर्मनी का सार पर पुनः अधिकार।
16 „ —जर्मनी का शस्त्रीकरण।
18 जून—आंग्ल-जर्मन नौ-संधि।

1936 7 मार्च—जर्मनी का राइनलैण्ड पर अधिकार।
11 जुलाई—जर्मन-आस्ट्रियन समझौता।
25 अक्टूबर—रोम-बर्लिन धुरी।
18 नवम्बर—स्पेन की विद्रोही सरकार (फ्रैंको) को मान्यता।
25 नवम्बर—टोकियो से कामिन्टर्न विरोधी समझौता।

1937 25-28 सितम्बर—मुसोलिनी की बर्लिन यात्रा।

1938 13 मार्च—आस्ट्रिया का विलीनीकरण।
7 मई—हिटलर की रोम यात्रा।
30 सितम्बर—म्युनिख समझौता।

1939 15 मार्च—चैकोस्लोवाकिया का विघटन।
21 मार्च—मेमल पर अधिकार।
22 मई—इटली से इस्पात समझौता।
23 अगस्त—नाजी-सोवियत दस वर्षीय अनाक्रमण संधि।
1 सितम्बर—पोलैण्ड पर आक्रमण।
3 „ —इंग्लैण्ड और फ्रांस का जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा।

1940 10 जून—फ्रांस पर आक्रमण।

1941 22 जून—रूस पर आक्रमण।

1945 30 अप्रैल—हिटलर द्वारा आत्महत्या।
7 मई—जर्मनी का आत्मसमर्पण।

सहायक अध्ययन

Brook-Shepherd, G. Anschluss : The Rape of Austria(1963)
Bullock, A. ; Hitler (1953)
Robertson, E. M. : Hitler's Pre-war Policy and Military Plans, 1933-39 (1963)
Carr, E. H. : German : Soviet Relations Between the Two World War 1919-39. (1951).
Hitler, A. : Mein Kempf. (1940)
Laffan, R. G. D. : Survey of International Affairs. 1938 Vol. II. The Crisis over Czechoslovakia. (1951)
Schuman, F. L. : The Nazi Dictatorship (1936)
Shirer, W. L. : The Rise and Fall of the Third Reich. (1962)
Toynbee, A. and Toynbee, V. M. : Survey of International Affairs : The Eve of War, 1939. (1951)
Wheeler-Bennett, J. : Munich : Prologue to Tragedy. (1963)

प्रश्न

1. उन परिस्थितियों का उल्लेख करें जिनमें हिटलर ने चैकोस्लोवाकिया को हड़प लिया। पश्चिमी शक्तियाँ चैकोस्लोवाकिया की रक्षा में क्यों असमर्थ रहीं ? (राज० वि० 1958, उ० वि० 1966, आ० वि० 1966, जो० वि० 1966)

2. म्युनिख समझौता, आंग्ल-फ्रांसीसी कूटनीति का एक दोषपूर्ण निर्णय था।" टिप्पणी करें। (राज० वि०, 1961-65, उ० वि० 1965, जो० वि० 1964, आ० वि० 1966)

3. उन परिस्थितियों को समझायें जिन्होने जर्मनी को पुन: राइन प्रदेश पर अधिकार करने के लिये बाध्य किया। (राज० वि० 1959, उ० वि० 1965)

4. हिटलर की 1933 से 39 तक की विदेश नीति की आलोचनात्मक व्याख्या करें। (जो० वि० 1963, आ० वि० 1961,63,67)

5. नाजीवाद के उत्थान तथा पतन के क्या कारण थे? (राज० वि० 1963, आ०वि० 1964)

6. आस्ट्रिया के जर्मन साम्राज्य में विलय की घटनाओं की विवेचना करें। (जो० वि० 1965, आ० वि० 1965)

7. "हिटलर की आधीनता में जर्मन विदेश नीति, द्वितीय विश्व युद्ध का आधारभूत कारण था।" विवेचना करें ? (उ० वि० 1967)

8. हिटलर के अधीन जर्मनी के पुनरुत्थान की व्याख्या आप किस प्रकार करेंगे ? (आ० वि० 1964, पं० वि० 1965, राज०वि० 1967)

9. हिटलर की विदेश-नीति की मुख्य विशेषतायें बतायें। उन क्रमिक प्रयत्नों का वर्णन करें, जिनके द्वारा उसने वर्साई संधि का अंत ला दिया। (जो० वि० 1967)

10. हिटलर के जर्मनी में उत्थान की परिस्थितियों का विश्लेषणात्मक विवेचन करें। (जो० वि० 1966)

11. राष्ट्रीय समाजवाद के उदय ने यूरोप में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर क्या प्रभाव डाला ? (जो० वि० 1966)

12. 'सुडेटन समस्या' का मूल्यांकन करें। इसके विषय में बड़े राष्ट्रों की नीति क्या थी ? इसमें गंभीर अंतर्राष्ट्रीय समस्या के क्या अंकुर थे ? (राज० वि० 1966)

10 अंतर्राष्ट्रीय गतिविधि में मध्य पूर्व

"यहूदियों की फिलिस्तीन में एक राष्ट्रीय घर की स्थापना के लिये आवश्यक सुविधा दी जायेगी परन्तु साथ ही गैर यहूदी सम्प्रदायों के नागरिक एवं धार्मिक अधिकारों पर कोई आंच नही आने दी जायेगी।"

—बालफोर घोषणा (2 नवम्बर, 1917)

"फिलिस्तीन यहूदियों, ईसाईयों व मुसलमानों के लिये समान रूप से पवित्र भूमि है और इस क्षेत्र मे न तो यहूदी, अरबों पर और न ही अरब, यहूदियों पर किसी प्रकार का प्रभुत्व रखेंगे।"

—आंग्ल-अमेरिकी जांच आयोग (1946)

मध्य पूर्व प्राचीन काल से ही ऐतिहासिक महत्व का स्थान रहा है। यह तीन महाद्वीपों, यथा एशिया, यूरोप व अफ्रीका का संगम स्थल है और यहाँ महत्वपूर्ण घटनायें घटित हुई हैं। मध्य पूर्व का भूक्षेत्र काहिरा से तेहरान, व कुस्तुनतुनिया से एडन तक विस्तृत है और यदि रूस को सम्मिलित न किया जाय तो यह क्षेत्र यूरोप के बराबर है। इस क्षेत्र का सम्बन्ध पांच जल क्षेत्रों से है जो कैस्पियन सागर, लाल सागर, भूमध्य सागर, कृष्ण सागर व फारस की खाड़ी है।

क्षेत्र का महत्व

इस क्षेत्र में मूल्यवान पैट्रोल समस्त विश्व का लगभग आधा है और यह ईराकी खजूर व मिश्री रूई से भी समृद्ध है। मानव की आदि सभ्यताओं में से कुछ यहीं उदित हुईं जिनमें नील नदी व दजला-फरात की घाटियों की सभ्यता (मिश्र, बेबिलोनिया, सुमेरिया, असीरिया, व फारस की सभ्यतायें) अधिक प्रसिद्ध हैं।

यही भूमि चार जीवित धर्मों—यहूदी, जरथुस्त्र (पारसी धर्म), ईसाई, व इस्लाम, की जननी है जिसने मानव सभ्यता को समृद्ध किया व धार्मिक व आध्यात्मिक भावनाओं को विश्व मे प्रसारित किया। प्रसिद्ध यातायात मार्गो ने इसे प्राचीन काल से ही सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बना दिया। निश्चित थल एवं जल मार्गों द्वारा अरब व्यापारी शताब्दियों तक यूरोप और एशिया के मध्य व्यापार करते रहे। उन्ही के व्यापारिक काफिलों के नियमित मार्ग बाद मे चलकर रेल व मोटर के मार्गों मे परिणत हो गये। पश्चिमी राष्ट्रो और एशिया को हवाई मार्ग से जोड़ने के लिये भी यह प्रदेश स्वच्छ वायु मंडल व हवाई अड्डे प्रस्तुत करता है। इस प्रकार सामान्य जन-जीवन को बनाये रखने में इस क्षेत्र का बड़ा मूल्य है। यही क्षेत्र सामरिक एवं व्यापारिक दृष्टि से मूल्यवान जल मार्गों—स्वेज नहर, डार्डेनिलिस, जलडमरु, अकाबा की खाड़ी—का नियंत्रक है। उधर वर्तमान विश्व की एक महान शक्ति—रूस की दक्षिणी सीमा तुर्की व ईरान से मिलती है जो कि इस क्षेत्र पर अपना प्रभाव डालती रही है।

सातवी शताब्दी में इस भूमंडल पर इस्लाम धर्म का जन्म हुआ। धीरे-धीरे यह आस-पास के सभी क्षेत्रों में फैल गया। इस धर्म की दो शाखायें (शिया व सुन्नी) हो जाने के बावजूद इसके प्रभाव मे कोई कमी नही आई और आज भी यहाँ के 90 प्रतिशत लोग मुसलमान है। 1914 के पूर्व इस क्षेत्र मे दो राज्य—तुर्की साम्राज्य एवं ईरान, स्वतंत्र अस्तित्व रखते थे। अनेक कारणो से यह क्षेत्र दुर्बल रहा है। इनमे लोगों की पिछड़ी स्थिति, सामाजिक दुर्दशा, शिक्षा, आर्थिक विकास व योग्य नेतृत्व का अभाव उल्लेखनीय है। इस क्षेत्र और विशेषत. तुर्की साम्राज्य, जो कि 'यूरोप का रोग ग्रस्त व्यक्ति' (Sick man of Euorope) कहलाता था, की दुर्बलता का लाभ उठाकर यूरोपीय शक्तियों ने यहाँ प्रवेश कर अनेक प्रकार का शोषण प्रारम्भ किया और विस्तारवादी नीति अपनाई। बुल्गेरिया स्वतन्त्र हो गया; यूनान ने क्रीट को

अपने अधिकार में ले लिया ; ब्रिटेन ने साइप्रस पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर दी; इटली ने त्रिपोली को हस्तगत किया; फ्रांस ने अपनी प्रभुसत्ता को अल्जीरिया, मरक्को व ट्यूनिशिया तक बढाया और 1907 की सन्धि के द्वारा ब्रिटेन और रूस ने बिना फारस की जानकारी के उसे अपने प्रभाव क्षेत्र मे बाट लिया। अनेक यूरोपीय राष्ट्रों ने तुर्की मे अतिरिक्त भूमि सम्बन्धी अधिकार, प्राप्त किए। जर्मनी ने इस क्षेत्र में प्रभाव बढाने और आर्थिक शोषण के लिये बर्लिन-बगदाद रेल-योजना बनाई और ब्रिटेन ने स्वेज नहर के अधिकाश भाग खरीदकर धीरे-धीरे स्वय मिश्र पर अधिकार कर लिया। 1914 से 1945 की अवधि में, यह क्षेत्र चार दृष्टिकोणों से अध्ययन करने योग्य है। (1) तुर्की में कमाल पाशा के नेतृत्व में सुधारवादी आंदोलन, (2) आंग्ल-मिश्र सम्बन्ध ; (3) आदिष्ट प्रशासन-सीरिया-लेबनान, ईराक व जोर्डन ; (4) अरबों मे राष्ट्रीयता व (5) फिलिस्तीन मे अरब-यहूदी संघर्ष।

तुर्की में साम्राज्यवाद का अंत

नवीन तुर्की की सेना का पुनर्गठन जर्मन जनरल लियान वोन सैन्ड्स की अध्यक्षता मे हुआ। इससे प्रेरित होकर 3 नवम्बर 1914 को जर्मनी के पक्ष और मित्र राष्ट्रों के विरोध में उसने युद्ध घोषणा की। उधर अरब लोग तुर्की राज्यधिकारियों की तुर्कीकरण नीति के विरुद्ध थे। इन्होंने चार अलग-अलग स्थानो में अपने साम्राज्य विरोधी कार्यक्रम द्वारा तुर्की का विरोध करना प्रारम्भ किया। ये विरोध के केन्द्र बगदाद, दमिश्क, मक्का व नेजेद थे। यहा तुर्की विरोधी आंदोलन प्रारम्भ हुए। बगदाद (ईराक) में गुप्त समिति बनाकर सैनिक अधिकारियों ने स्वतन्त्रता आदोलन प्रारम्भ किया। किन्तु इसे ब्रिटिश सचालित भारतीय सेना ने समाप्त कर दिया। दमिश्क (सीरिया) स्थित स्वायत्त शासन आन्दोलन को तुर्की सेना दबाने में सफल हुई। मक्का में शरीफ हुसैन, जो कि अपने आप को मुहम्मद साहब के खानदान के समझते थे, ने स्वतन्त्र अरेबिया का आन्दोलन प्रारम्भ किया। ब्रिटिश-हाई कमिश्नर मैकमेहन ने आन्दोलनकारियों को तुर्की के विरुद्ध विद्रोह करने पर स्वतन्त्रता का आश्वासन देकर उनसे समझौता कर लिया। चौथा आंदोलन अरेबिया के केन्द्रीय नखलिस्तान नेजेद में हल साउद की अध्यक्षता मे जोहाबी शासन की स्थापना के लिए हुआ। यहाँ भी अंग्रेजों ने कूटनीति से काम लेकर व नेताओं को रिश्वत देकर आन्दोलन तुर्की के विरुद्ध कर दिया। इस प्रकार चारों तुर्की विरोधी आन्दोलनों ने तुर्की को और अधिक दुर्बल बना दिया और उसकी पराजय का एक कारण बना।

1915 मे ब्रिटेन ने कुस्तुन्तुनिया पर आक्रमण किया किन्तु तुर्की नेता मुस्तफा कमाल पाशा के सफल नेतृत्व के कारण आक्रमणकारियो को पीछे हटना पडा। इसी समय अरबो ने हसन के नेतृत्व में विद्रोह किया। इसको दबाने के लिये तुर्की ने मक्का और मदीना पर आक्रमण किया। इतिहास में पहली बार हसन के तृतीय पुत्र फैजल

के नेतृत्व में एकत्रित हुए और उन्होंने अंग्रेज अधिकारी टी० ई० लौरेंस के संरक्षण में हैजास से सिनाई की खाड़ी तक के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। मिश्र से यह सेना आगे बढ़ती हुई सीरिया होती हुई फिलिस्तीन में प्रवेश कर गयी। यहाँ मेगिडो के युद्ध मे तुर्की को हराकर ब्रिटिश सेना ने जेरूसलम पर अधिकार कर लिया। इसी समय एक ओर भारत से आई ब्रिटिश सेना ने ईराक (मैसोपोटामिया) पर अधिकार कर लिया और मोगुल घाटी तक पहुच गई। जब मिश्र की राष्ट्रीय सेना ने सैरोनिका से कुस्तुन्तुनिया पर आक्रमण किया, तब तुर्की के प्रधानमंत्री तालात पाशा ने इस्तीफा दे दिया और 30 अक्टूबर 1918 को मुद्रोस में विराम सन्धि कर ली। इस सन्धि के आधार पर तुर्की ने मिश्र व अरब प्रदेश पर से अपने अधिकार का परित्याग कर दिया और अब तुर्की का राज्य अत्यन्त सीमित हो गया।

नवीन राज्यों का उदय

फ्राँस और ब्रिटेन ने युद्ध काल में ही साईक्सपीको की गुप्त सन्धि द्वारा तुर्की के साम्राज्य के विभाजन की योजना बना ली थी, जिसके अनुसार—(1) अरबों के लिए स्वतन्त्र प्रदेश; (2) जेरूसलम का अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण व (3) फ्रांस और ब्रिटेन के तुर्की साम्राज्य में प्रभाव क्षेत्र निश्चित किये गये। 7 नवम्बर 1918 को ब्रिटेन और फ्रांस ने यह आश्वासन दिया कि सीरिया, फिलिस्तीन और मैसोपोटामिया (ईराक) में राष्ट्रीय सरकारों का निर्माण वहाँ के जनमत के आधार पर ही किया जायेगा।

1919 में राष्ट्रपति विलसन ने यह जानने के लिये कि सीरिया और फिलिस्तीन में अरबों के राष्ट्रवाद की स्थिति क्या है गुप्त रूप से किंग-क्रेन कमीशन को वहाँ की स्थिति जानने के लिए भेजा। इस कमीशन के सदस्यों ने मध्य पूर्व के 36 नगरों का दौरा किया; 1500 प्रतिनिधि मंडलों से भेंट की व 1800 प्रार्थना-पत्र प्राप्त किये और निम्न निष्कर्ष पर पहुचा—(1) संयुक्त सीरियन राज्य की स्थापना, जिसमें लेबनान और फिलिस्तीन भी सम्मिलित हों; (2) सीरिया के लोग फ्रांस के राजनीतिक नियन्त्रण के पूर्ण रूप से विरोधी हैं और उनसे केवल आर्थिक सहायता के इच्छुक हैं और इस क्षेत्र में भी वे अमेरिका से सहायता लेना अधिक पसद करेंगे; (3) अंतर्रा-ष्ट्रिक कमीशन द्वारा धार्मिक स्थानों का शासन; (4) अरबों के प्रबल यहूदी विरोधी विचार और दूसरी ओर यहूदियों के अपनी मातृभूमि में बसने के दृढ़ निश्चय को देखते हुए, यहूदियों को सीमित प्रवेश की आज्ञा दी जाय; व (5) सीरिया व ईराक के बीच कोई आर्थिक प्रतिबन्ध न लगाये जाँय।

मित्र राष्ट्रों में पारस्परिक मतभेद के कारण—किंग-क्रेन कमीशन की सिफारिशों का कोई व्यवहारिक परिणाम नही निकला। प्रारम्भ में विलसन अस्वस्थ थे और इस कारण वे कोई सक्रिय कदम नही उठा सके और न ही सिफारिशें प्रकाशित की जा सकीं। फ्रांस ने सीरिया पर यथावत् अधिकार बनाये रखा। उधर अमेरिका मध्य पूर्व

में आदिष्ट प्रणाली के उत्तरदायित्व को निबाहने के लिए तत्पर न था। अन्त में 31 अप्रैल 1920 को सेनरेमो के सम्मेलन में मित्र राष्ट्रों ने तुर्की साम्राज्य के प्रदेशों को आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत निम्न प्रकार से विभाजित किया :(1)फ्रांस को सीरिया-लेबनान दिया गया व (2) ब्रिटेन के शासनाधीन फिलिस्तीन, ट्रांस-जोर्डन और ईराक के क्षेत्र दिये गये। युद्धोपरान्त मध्यपूर्व के विभिन्न राज्यों में शासन प्रणाली अलग-अलग प्रकार की थी। ईरान मे पतनोन्मुख सामन्तवाद पर सैनिक अधिनायकवाद; साउदी-अरेबियामे खानाबदोश कबीलों द्वारा समर्थित निरकुश राजतन्त्र; मिश्र में संसदीय प्रणाली के आधार पर वैधानिक राजतन्त्र; जोर्डन में कबीले समर्थित अमीर (Emirate) राजतन्त्र; सीरिया, फिलिस्तीन और ईराक में आदिष्ट प्रणाली; और तुर्की में गणतन्त्र की स्थापना हुई।

तुर्की का स्वन्त्रता-संग्राम

1919 के मित्र राष्ट्रों के तुर्की के विभाजन के विरुद्ध, वहाँ द्वितीय पुनर्जागरण आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। इसे क्रान्तिकारी सुधारवादी (डेवरिम) आन्दोलन कहा गया जिसका नेतृत्व मुस्तफा कमाल पाशा ने किया जो अतातुर्क (राष्ट्रपिता) के रूप मे प्रसिद्ध हुआ। इस आन्दोलन ने तुर्की के सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक जीवन मे परिवर्तन किया और उसे एक धर्म निरपेक्ष राज्य बना दिया।

कमाल पाशा का उदय

मुस्तफा कमाल पाशा का जन्म 1881 में सैलोनिको में हुआ था। इनके माता-पिता अल्बेनिया और मकदूनिया के तुर्क थे। इस प्रकार ये एशियाई तुर्क न होकर यूरोपीय तुर्क थे। सैलोनिको और मोनातीर के सैनिक स्कूलों मे शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् ये 24 वर्ष की आयु में तुर्की सेना मे भर्ती हो गये। 1908 की सुधारवादी क्रान्ति मे इन्होने भाग लिया था। 1905 में कमीशन मिलने के बाद से कमाल पाशा ने अनेक युद्धों में भाग लिया, जिनमे ड्राजेज, बुलेगेरिया, इटली (त्रिपोलो में), ब्रिटेन (गैलोपी में), रूस (काकेशस में), सीरिया (1918) के विरुद्ध युद्ध उल्लेखनीय हैं।

कमाल पाशा सैनिकों में अपने साहस और अचूक निर्णय के कारण लोकप्रिय था किन्तु अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व व स्पष्ट व्यवहार के राजनयिकों मे उतना ही अप्रिय था। विराम सन्धि के समय नि:शस्त्रीकरण के लिए कमाल पाशा को अनातोलिया भेजा गया। स्वतन्त्र तुर्की राष्ट्र के निर्माण के लिये नि:शस्त्रीकरण के बजाय उसने इन्ही सेनाओं को रख लिया। सुल्तान वैनेदीन यह सब देख सचेत हुआ और उसने कमाल पाशा को वापिस बुलाया किन्तु कमाल पाशा ने कहा "मैं तब तक अनातोलिया में ही रहूँगा जब तक कि तुर्की स्वतन्त्र नही हो जाता" उस समय पाशा का यह निरर्थक गर्व था; क्योकि न केवल सुल्तान, वरन् उसकी सरकार और मित्र राष्ट्र भी उसके विरुद्ध थे। मई 1919 में यूनान ने स्माइरना पर आक्रमण कर लूट-मार प्रारम्भ कर दी। जून 1919 में एरजरम मे प्रथम राष्ट्रीय संसद का आह्वान किया।

जिसने मुस्तफा को अपना अध्यक्ष चुना। सुल्तान ने इन सब कार्यवाहियों को मान्यता न दी। इस कारण सितम्बर मे संसद का दूसरा अधिवेशन बुलाया गया। तुर्की राष्ट्र की स्थापना के लिए इन्होने प्रस्ताव पास किया। नवीन राज्य के निर्माण के लिए ये अपना मुख्य कार्यालय अगोरा ले गये। यहाँ इन्होंने एक प्रस्ताव पारित कर वर्तमान तुर्की राष्ट्र का आधार प्रस्तुत किया। इसके अनुसार "साम्राज्य के अरब अधिराज्यों से सत्ता का परित्याग कर दिया गया किन्तु इस तथ्य पर दृढ़ता प्रकट की गई कि वह प्रदेश जिस पर कि आटोमन मुस्लिम बहुतायत से रहते है; और जो कि धर्म, नस्ल और उद्देश्य की दृष्टि से संयुक्त हैं......जो कि अपने आप मे सम्पूर्ण है—का किसी भी दिशा मे कोई विभाजन नही किया जा सकता।"

मित्र राष्ट्रों की भूलें और पाशा का नेतृत्व

प्रारम्भ मे राष्ट्रीय ससद की कार्यकारिणी परिषद् की यह घोषणा कुछ मात्र विद्रोहियों का वक्तव्य रहा, किन्तु मित्र राष्ट्रो की तीन महान् भूलों ने तुर्की की सोई हुई राष्ट्रीयता को जगाकर उसे एक भयानक ज्वाला में परिणत कर दिया। मित्र राष्ट्रो की पहली भूल उपरोक्त घोषणा को गभीर रूप से न लेकर उसे अस्थायी मान्यता देनी थी। इन्होंने पाशा व अन्य राष्ट्रीय नेताओं को कान्सटेन्टिनोपल में ससद के अधिवेशन के लिए आमत्रित किया। कमाल को इस सब में एक षड्यन्त्र की बू आई और बाद में हुआ भी यही कि सभी उत्साही राष्ट्रीय नेता, जो कि राजधानी पहुंचे थे, मित्र राष्ट्रो द्वारा कैद करके मालटा भेज दिये गये। इस घटना से तुर्की राष्ट्र प्रेमी, मित्र राष्ट्रों के विरोधी और अतातुर्क के भक्त, हो गये।

मित्र राष्ट्रो की दूसरी भूल सैवर्स की सन्धि का प्रकाशन था, जिसमें तुर्की का निर्दयता से विभाजन कर दिया गया था और जिस पर हस्ताक्षर करने के लिए नाममात्र के तथाकथित तीन तुर्की प्रतिनिधियों को फुसला लिया गया था। इस सन्धि के अनुसार तुर्की को पहाड़ों के केन्द्र में स्थित ऊँचे पठार तक सीमित कर दिया गया था और बाकी का क्षेत्र मित्र राष्ट्रीय कमीशन, यूनान, इटली व नव-अनुमोदित आर्मीनिया और कुर्दिस्तान में विभाजित कर दिया गया, इस प्रकार संधि के प्रकाशन ने तुर्को मे मित्र राष्ट्रों की नियत के प्रति रहा-सहा सदेह भी समाप्त कर दिया और वे राष्ट्रवादी पाशा को ही अब अपना एक मात्र संरक्षक समझने लगे।

मित्र राष्ट्रों की तीसरी भूल, यूनान को तुर्की पर आक्रमण का अधिकार देना था। यूनानी सेना संख्या और युद्ध उपकरणों की दृष्टि से तुर्की के सुल्तान और पाशा की सेना से कहीं अधिक अच्छी थी। उधर तुर्की में समूह हो रहे थे और खलीफा के पक्ष के लोगों ने अधार्मिक राष्ट्रवादियों का विरोध किया। यह कमाल पाशा के लिए कठोर परीक्षा का समय था। उसने अपनी समस्त शक्तियों को युद्ध-विजय में लगा दिया। उसे जनरल इज़मत पाशा सहयोगी से भारी सहायता मिली।

सकारिया नदी के 14 दिन के निर्णायक युद्ध में पाशा ने यूनान को करारी हार दी। यूनानी सेना पीछे हटने लगी और उसे स्मारना तक धकेल दिया गया। स्मारना पर सितम्बर 1922 में राष्ट्रवादी सेना ने अधिकार कर लिया। मार्च 1921 मे आर्थिक सुविधा का विनिमय, इटली अनातोलिया से हट गया। सोवियत रूस ने इसी समय अंगोरा सरकार को मान्यता दी और तुर्की की पूर्वी सीमा को निर्धारित कर दिया जिससे कारस और अद्राहान तुर्की को और बाटूम रूस को प्राप्त हुआ। फ्रांस ने भी एक समझौता करके अलैग्जैन्ट्रेटा मे एक विशेष राज्य स्थापित किया। अक्टूबर 1922 मे मुदानिया में ब्रिटेन, फ्रांस व इटली ने राष्ट्रवादियों के साथ समझौता कर लिया। इस समय चानाक के सैनिक रहित क्षेत्र मे राष्ट्रवादी सेना प्रवेश करने ही वाली थी, जहां कि ब्रिटिश सेना पड़ी हुई थी और युद्ध बढ़ने की सभावना थी कि इंगलैंड ने वार्त्ता प्रारम्भ कर दी जिसका परिणाम लोजोन की सधि हुआ।

लोजोन की संधि

तुर्की राष्ट्रवादियों ने युद्ध विजय कर लिया था किन्तु उन्हें स्थायी संधि द्वारा शांति विजय करनी बाकी थी। मित्र राष्ट्रो ने तुर्की के प्रतिनिधि को 20 नवम्बर 1922 में स्विट्जरलैण्ड के लोजोन नगर मे सधि वार्त्ता के लिए बुलाया। मुस्तफा ने फिर अपने योग्य मित्र इजमत पाशा को वार्त्ता का कार्य सुपुर्द किया जो कि मित्र राष्ट्रीय प्रतिनिधि लार्ड कर्जन के लिए बड़ी टक्कर साबित हुआ। इजमत राष्ट्रवादियों की अगोरा की प्रसिद्ध घोषणा और तुर्की की भौमिक एकता पर अड़ा रहा। वह अपनी शर्तों से टस से मस न हुआ। कर्जन असफल रहा। दूसरे प्रतिनिधि होरेस रमबोल्ड से इजमत ने फिर वार्त्ता आरम्भ की और इस बार 24 जुलाई 1923 मे लोजोन की सधि पर हस्ताक्षर हुए, जो तुर्की के लिए भारी विजय थी। इसके अनुसार (1) सैवर्स की सधि के विरुद्ध तुर्की के विभाजन का अन्त कर तुर्की की प्रभुसत्ता न केवल समस्त अनातोलिया वरन् कुस्तुन्तुनिया व पूर्वी थेरस पर भी स्वीकृत की गई; (2) तुर्की के ईसाई समुदायों की स्वायन्त्रता समाप्त कर दी गई, पूर्व विदेशी विशेषाधिकार (Capitulations) व समझौते का अन्त कर दिया गया और पश्चिमी अनातोलिया के 10 लाख यूनानियों को वापिस यूनान जाने का आदेश दिया गया। डोडेक्नीज और रोड्स द्वीप समूह इटली को मिला और साइप्रस ब्रिटेन के अधिकार में रहा। तुर्की के युद्ध में लिप्त होने के अतिरिक्त समय डार्डेनिलिस को सैनिक रहित क्षेत्र घोषित किया गया व अब तुर्की को कोई क्षति पूर्ति नही करनी थी। संक्षेप मे, इतिहास में प्रथम बार तुर्की को एक राष्ट्र का स्वरूप दिया गया। केवल एक बात बाद मे समझौते द्वारा तय होनी बाकी रह गई और वह थी तुर्की की दक्षिण पूर्वी सीमा का भविष्य।

कमालवादी सुधार

तुर्की विदेशी और मित्र-राष्ट्रीय विशेषाधिकारों और हस्तक्षेप से स्वतन्त्र तो हो गया किन्तु नवोदित राष्ट्र में किस प्रकार की सरकार हो, इस विषय में कोई स्पष्ट नहीं था। एक सर्वमान्य सुसगठित सरकार की स्थापना कर तुर्की का नवनिर्माण अभी

बाकी था। पाशा ने 'रूस के अनुसरण', 'इस्लामी राज्य' व वैधानिक राजतन्त्र—तीनों का ही तुर्की के हित में विरोध किया। वह जानता था कि तुर्की की जनता राजनीति में भाग लेने की दृष्टि से शिशु है, उसे एक तानाशाह की आवश्यकता है और इस स्थान की पूर्ति भी उसके अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। अतः उसने लगाम अपने हाथ में ली, तुर्की को गणतन्त्र घोषित किया (29 अक्टूबर 1923) व राष्ट्रीय संसद को स्वयं को संसद के पद पर चुनने के लिए बाध्य किया, जिसकी शक्तियाँ व्यावहारिक रूप से असीमित थीं। एकमात्र पीपुल्स पार्टी का पूर्ण सहयोग व समस्त सेनाओं का प्रमुख सेनापतित्व भी उसे प्राप्त हुआ। इस प्रकार कमाल पाशा तुर्की में सर्वेसर्वा हो गया। इजमत प्रधानमंत्री बना।

कमाल ने लोगों के जीवन में एक क्रान्ति उपस्थित की। उसने राष्ट्रवाद के आधार पर जनता के जीवन में पूर्ण परिवर्तन कर दिया और यही कमालवाद के नाम से जाना जाता है। हैलिड एडिब कुस्तुन्तुनिया की प्रथम महिला अध्यापक और कमालवाद की प्रचारक ने अरब मन का विश्लेषण इस प्रकार किया है: "अरबों के अनुसार कानून निर्माण का अधिकार खुदा को व उसे पालन करवाने का खलीफा को है और यदि खलीफा अपने कार्य में असफल होता है तो खुदा और खलीफा के बीच मध्यस्थता करने वाले उलेमा खलीफा को बदल सकते थे।" एडिब के अनुसार "वास्तव में तुर्की 'मन' ऐसा नहीं है। इस्लाम के आगमन के पूर्व वहाँ के लोग मनुष्य कृत कानूनों में विश्वास करते थे व धर्म को जीवन की अन्य गतिविधियों से अलग रखना पसन्द करते थे।"

खलीफा पद का अंत

उपरोक्त विचारधारा और पृष्ठभूमि का लाभ उठाकर कमाल पाशा ने धर्म-निर्पेक्ष राज्य की स्थापना के लिये खलीफा पद को समाप्त करने के लिये उचित कदम उठाये। मुदानिया की विराम-संधि के तीन सप्ताह बाद नवम्बर 1922 में उसने सुल्तान व खलीफा के संयुक्त पद से सुल्तान पद की समाप्ति कर दी ताकि राष्ट्र की राजनीतिक शक्ति उसके हाथ में आ जाय। सुल्तान पद के अंत पर मुहम्मद षष्ट तुर्की से निकल कर ब्रिटिश जंगी जहाज में गुप्त रूप से भाग गया। इनके स्थान पर अब्दुल मजीद नये खलीफा चुने गये। कमाल पाशा ने कट्टरवादियों से समझौता कर खलीफा पद के विषय में कोई कदम नहीं उठाया। इसी समय भारत के दो मुस्लिम लोगों, जिनमें कि एक आगाखाँ भी थे, ने तुर्की की गणतंत्रवादी सरकार के नाम एक पत्र लिखा जिसमें खलीफा पद को बनाये रखने और उसे समुचित आदर देने की मांग की गई थी। यह पत्र कुस्तुन्तुनिया के समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ जिससे कि कमाल पाशा ने नया मोड़ देकर तुर्की राष्ट्रवादियों को कहा कि यह पत्र ब्रिटिश सरकार के मित्र आगाखाँ ने लिखा है और यह तुर्की राष्ट्रवाद की उन्नति के प्रति एक षड्यंत्र है। इस प्रकार एक शक्तिशाली विरोध-पत्र का पाशा ने अपने हित में प्रयोग किया। 3 मार्च 1924 को राष्ट्रीय संसद् ने सर्वसम्मति से खलीफा के पद को

समाप्त कर दिया और अब्दुल मजीद और उनके परिवार ने यूरोप की ओर पलायन किया।

राजनीतिक सुधार

संसद् ने अब एक नया संविधान प्रस्तुत किया जिसमें यह कहा गया कि सर्वोच्च सत्ता जनता और संसद् में है और संसद् जनता की कानूनी प्रतिनिधि सभा है। इसमें गणतंत्र का राष्ट्रपति, संसद् का भी राष्ट्रपति था। वह संसद् द्वारा चुना जाता व उसके प्रति उत्तरदायी था। वही संसद् सदस्यों में से चार वर्ष के लिए प्रधान-मंत्री व मंत्रिमण्डल के अन्य सदस्यों को चुनता था। संसद् सदस्यों का चुनाव [illegible] रूप से प्रति चार वर्ष में स्त्री-पुरुषों के समान वयस्क मताधिकार के आधार पर होता था। विशेष अधिकारों को समाप्त कर सभी व्यक्तियों को समान मौलिक अधिकार, जिनमें धर्म व विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता सम्मिलित है, प्रदान किये गये।

कमाल के लिए प्रथम चार वर्ष बड़े कठिन रहे। संसद् में अपने आपको प्रगतिवादी कहने वाले सदस्य कमाल के विरोधी थे। इन्होंने कुर्द लोगों को स्वतन्त्र कुर्दिस्तान के लिए भड़काकर शेख लोगों के अधीन विद्रोह करवा दिया किन्तु कमाल ने उसका सफलतापूर्वक दमन किया। उसने संसद् के 11 प्रतिक्रियावादी विरोधी प्रति-निधियों को कत्ल करवा दिया और दरवेशों की सम्पत्ति जब्त कर ली। अब पीपुल्स पार्टी, जो कि कमालपक्षीय दल था, वही संसद् में एकमात्र दल रह गया। कमाल को पीपुल्स पार्टी के टिकट पर चुनाव लड़ने वाले सभी सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार भी प्राप्त हुआ। इस प्रकार तुर्की में अधिनायकवाद का जन्म हुआ।

धर्म निरपेक्षता

1926 में एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई और कानून की शिक्षा देने के लिये अंकारा में कानून का एक पृथक् विद्यालय खोला गया। शरीयत (धर्म कानून) के स्थान पर स्विटजरलैण्ड से दीवानी कानून, इटली से फौजदारी व जर्मनी से व्यापारिक कानूनों का संग्रह किया गया। 1932 में तुर्की राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया। राष्ट्रवादी भावना इतनी तीव्र थी कि नगरों का नाम भी बदल दिया गया। कुस्तुनतुनिया, इस्तम्बूल बन गया, अंगोरा, अंकारा बना व स्मर्ना इजामिर बना। अंकारा को राजधानी घोषित किया गया। कुरान के आधार पर चले आ रहे धार्मिक स्कूलों का अंत कर सरकारी स्कूलों की स्थापना की गई, जिनमें 6 वर्ष से 16 वर्ष तक की आयु के लिए शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क कर दी गई। 1928 में एक राष्ट्रीय कानून द्वारा अरबी लिपि के स्थान पर लेटिन लिपि का प्रयोग सभी नये प्रकाशनों के लिये अनिवार्य कर दिया गया। इसी वर्ष से इस्लाम [illegible] न रहा और शपथ लेते समय अल्लाह का नाम लेना अनिवार्य नहीं रहा। [illegible] विश्वविद्यालय में धर्म-चिन्तन के पाठ्यक्रम को संशोधित किया गया। [illegible] को विशेष धार्मिक वेशभूषा केवल धार्मिक क्रियाकलापों के समय पहनना है [illegible]

अंतर्राष्ट्रीय गतिविधि में [illegible]

रहा और अब राजकीय अवकाश पवित्र दिवस शुक्र के स्थान पर रविवार को कर दिया गया (1935)।

समाज सुधार

समाज सुधार के क्षेत्र में कमाल पाशा का उद्देश्य अन्धविश्वासी व रूढ़िवादी समाज को प्रगतिशील व स्वस्थ समाज में परिणत करना था। इस उद्देश्य को उसने शिक्षा प्रचार और व्यक्तिगत उदाहरण द्वारा पूरा करने का प्रयास किया। प्रसिद्ध लाल तुर्की टोपी (Fez) के स्थान पर उसने टोप (Hat) का प्रयोग क्रमशः अंग रक्षकों, सेना व स्वयं के जीवन में अपनाकर एक क्रान्तिकारी उदाहरण प्रस्तुत किया। उसने तुर्की टोपी को अज्ञानता की निशानी बताया। यद्यपि उसके विरुद्ध विद्रोह हुए किन्तु कमाल अपनी नीति पर धैर्य पूर्वक डटा रहा।

स्त्रियों की दशा में सुधार करने के लिये उसने क्रान्तिकारी कदम उठाये। 1925 में कानूनी दृष्टि से बहुपति प्रथा समाप्त कर दी गई व तलाक प्रथा अपनाई गई। अगले वर्ष से विवाहों का रजिस्ट्रेशन (Civil Marriage) अनिवार्य कर दिया गया और विवाह की निम्नतम आयु लड़कियो के लिये 17 वर्ष व लड़कों के लिये 18 वर्ष निश्चित कर दी गई। बुर्के का प्रयोग ऐच्छिक कर दिया गया। सभी सार्वजनिक और यातायात के साधनो में स्त्रियों के लिये जो पृथक् स्थान रखा-जाता था उसका अंत कर दिया गया; उन्हे नये-नये उद्योगों मे कार्य करने के लिये प्रोत्साहित किया गया व उनके लिये पृथक् स्कूलों की स्थापना की गई। स्थानीय चुनाव मे मतदान के लिये 1929 में; और ससद् के चुनावों में मतदान और चुनाव लड़ने का अधिकार स्त्रियों को 1934 में दिया गया। 1935 मे 17 महिलायें ससद् मे चुनी गई। स्त्री समाज के सुधार के लिये जितने कदम उठाये गये थे, उनमें उनके राजनीति मे भाग लेने के अधिकार का सर्वाधिक विरोध हुआ। बहुत से लोगो ने आत्म-हत्या कर ली, (जिनकी सख्या ससार में इस समय सबसे अधिक यही हो गई) और स्वयं उसकी पत्नी ने उसका विरोध किया जिसके कारण उसने उसे तलाक दे दिया। इसी कारण उसने अपनी परामर्शदात्री हैलिड ऐडिब को भी निर्वासित कर दिया।

आर्थिक सुधार

टॉयनबी के अनुसार तुर्की एक ऐसा राष्ट्र था जिसमे जलवायु, जलशक्ति, नदी घाटियाँ, खनिज-पदार्थ, वन-सम्पत्ति व उत्पादक भूमि थी और जिनका विकास करने पर राष्ट्र की आर्थिक उन्नति की जा सकती थी। तुर्की केवल अभी कृषि राष्ट्र था।

कृषि मे सुधार के लिये कमाल ने आदर्श खेतों, कृषि विशेषज्ञो के प्रशिक्षण के लिये आठ कृषि विद्यालयों व कृषि ऋण के लिये कृषि बैंकों की स्थापना की और ट्रैक्टर और अन्य कृषि यन्त्रों, उत्तम खाद सिंचाई-साधनों व बैलों की नस्ल सुधार का प्रबन्ध किया। सक्षेप में, उसने वह सब कुछ किया, जिससे तुर्की की सदियों पुरानी

कृषि-प्रणाली, 'वर्तमान कृषि-प्रणाली' में परिवर्तित हो जाय। कृषक पाशा के इसलिए ऋणी है कि उसने उन्हें करों से मुक्त कर दिया, जमीन का मालिक बना दिया व आवश्यक प्रशिक्षण प्रदान किया।

औद्योगिक सुधार के लिये कमाल पाशा ने 1934 में एक पंचवर्षीय योजना प्रस्तुत की जिसके अंतर्गत 15 कारखाने खोले जाने थे, जिनमें से 12 सरकारी क्षेत्र में खुलने थे। इनका मुख्य उद्देश्य उन वस्तुओं का आयात कम करना था जिनमें विदेशी पूंजी लगती थी। अतः कपड़ों व तम्बाकू, कागज, नकली रेशम, ऊन आदि का उत्पादन प्रारम्भ किया गया। श्रमिक सुधार के लिए निम्नतम वेतन व अनिवार्य पंच-फैसला लागू किया गया। उसने औद्योगिक सुधार के लिए विदेशी ऋण लेना स्वीकार नहीं किया और सरकारी पूंजी व अनुदान की विशेष व्यवस्था की गई।

व्यापारिक दृष्टि से तुर्की यूरोप व एशिया के बीच की सीढ़ी था। यहाँ, रूई तम्बाकू, जैतून व अंजीर का उत्पादन पर्याप्त था। व्यापार को बढ़ाने के लिए उसने रूस, इटली, युगोस्लाविया, रूमानिया व यूनान से व्यापारिक संधि की। आंतरिक व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए उसने सड़कों, रेल-मार्गों व जहाजरानी का विकास किया। अपने 15 वर्ष के राष्ट्रपति जीवन में उसने औसत 110 मील प्रति वर्ष से भी अधिक (कुल 1700 मील) रेल मार्ग का निर्माण कराया। फ्रांसीसी व ब्रिटिश संचार व्यवस्था का उसने क्षति-पूर्ति करके राष्ट्रीयकरण कर दिया; विदेशी कम्पनियों को कोई भी नई रियायतें पूर्णतः बंद कर दी व विदेशी श्रमिकों का आगमन भी समाप्त कर दिया। उसने सरकारी 'सुमेट बैंक' की स्थापना की व शराब, नमक, दियासलाई, विस्फोटक पदार्थ, चीनी, तम्बाकू, जहाजरानी आदि का राष्ट्रीयकरण कर दिया। उसकी नीति तुर्की को विदेशी हस्तक्षेप से मुक्त रखना; व सरकार के तकनीकी व धन की दृष्टि से समर्थ होने के लिये राष्ट्रीयकरण को प्रोत्साहन देना था।

विदेश नीति

राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये मुस्तफा कमाल पाशा ने 1933 में यूनान के साथ अनाक्रमण संधि की और 1934 में वह बल्कान संघ में सम्मिलित हो गया। जुलाई 1936 में स्विट्जरलैण्ड में मान्त्रयु अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में तुर्की को डार्डेनिलिस (जल डमरू) के सैनिकीकरण का अधिकार प्राप्त हुआ। कमाल पाशा के दवाव के कारण सीरिया के प्रदेश सांजाका स्थित सिकन्दरियिता जो कि आदिष्ट प्रणाली में फ्रांस के अधीन था, को स्वतंत्र हैटी राज्य में परिणत कर दिया गया। 1939 में तुर्की ने इसे अपने राज्य में विलीन कर लिया। 1937 में मध्यपूर्व संघ में तुर्की, ईरान, ईराक व अफगानिस्तान के मध्य एक अनाक्रमण संधि हुई।

मूल्यांकन

10 नवम्बर 1938 को कमाल पाशा की मृत्यु हो गई। तुर्की संसद ने उन्हें उनकी मृत्यु के तीन वर्ष पूर्व ही 'अतातुर्क' (राष्ट्रपिता) पद से विभूषित किया

कमाल पाशा 15 वर्ष तुर्की के राष्ट्रपिता रहे। उसकी यह कहकर आलोचना की जाती है कि वह मुसोलिनी और हिटलर से कम तानाशाह नहीं था। उसके आलोचकों का कहना है कि उसने केवल दिखावे के लिए गणतंत्र की स्थापना की जब कि उसके कार्यों से प्रकट होता है कि वास्तव में उसने निरंकुश शासन की स्थापना की। उसने अपने विरोधी फैली पाशा का दमन किया, सभी राजनीतिक दलों को समाप्त कर केवल अपनी पीपुल्स पार्टी का समर्थन किया व कुर्दों के प्रति अत्याचार किया। प्रति चार वर्ष बाद लोकतांत्रिक चुनाव होने पर भी हर बार वही राष्ट्रपति चुना गया, राजनीतिक आलोचकों को उसने कभी स्वीकार नहीं किया, अपने घनिष्ठ मित्रों के विरोध को भी सहन न कर उन्हें दण्डित किया और अपने सुधारवादी कार्यक्रम में 60 व्यक्तियों से भी अधिक को मृत्यु दण्ड दिया। अतः आलोचकों ने उसे निष्ठुर, क्रूर एवं निरंकुश शासक की संज्ञा दी है।

कमाल पाशा के समर्थकों का यह विचार है कि कमाल पाशा ने जिन निरंकुश साधनों का प्रयोग किया वह केवल संक्रमण काल के लिए था, स्थायी रूप से नहीं और उसका उद्देश्य लोकतात्रिक प्रशिक्षण था। 1932 में उन्होंने कहा, "जनता वर्तमान में राजनीति कुछ समय के लिए छोड़ दे और कृषि, व व्यापार में अधिक रुचि ले; 10-15 वर्ष मैं और शासन करना चाहता हूँ और उसके पश्चात् जनता को विचार प्रकट करने की खुली छूट होगी।" कमाल पाशा की नीति के समर्थकों का कहना है कि उसने जो कदम उठाये वे तुर्की के हित में आवश्यक थे और उसके राज्य मे आतंकवाद, हिटलर के 'गैस्टापो' व स्टालिन के 'चैका' सरीखे गुप्तचर विभाग का अभाव था। 1938 मे सार्वजनिक क्षमा कानून के पश्चात् तुर्की मे राजनीतिक विरोधियों को न तो कैद किया गया और न ही निर्वासित। उसके सभी सुधार जन-कल्याणकारी थे, जैसे सार्वजनिक स्वास्थ्य-व्यवस्था, कृषि सहकारिता, दस्तकारी-विद्यालय, सामुदायिक सांस्कृतिक केन्द्र (प्रसिद्ध हलकेविस्क) दशमलव प्रणाली आदि। ये सब आज भी तुर्की जीवन के अंग हैं। आलोचक कुछ भी दलील दे, तुर्की निवासियों की दृष्टि मे मुस्तफा कमाल पाशा गाजी (अपनी सैनिक विजयों के कारण) और अतातुर्क (नवीन तुर्की का निर्माता, राष्ट्रपिता) के रूप में आज भी प्रसिद्ध है।

आंग्ल-मिश्री संबंध

1914 से पूर्व आंग्ल-मिश्री संबंध अत्यंत जटिल थे। 1914 तक व्यवहारिक रूप से स्वतंत्र होते हुए भी मिश्र तुर्की के खलीफा का प्रभुत्व स्वीकार करता था व प्रतिवर्ष उसे नियमित कर देता था। फ्रांस और ब्रिटेन ने स्वेज नहर के हिस्से खरीदे और मिश्र को ऋण दिया और बाद में ऋण वसूल न होने पर 1882 में ब्रिटेन ने अपनी सेनायें वहाँ उतार दी। 1882 से मिश्र, सैनिक अधिकार में आ गया। 1904 तक उस पर ब्रिटिश-फ्रांसीसी नियंत्रण रहा। इस नियंत्रण के विरुद्ध पाशा ने विद्रोह किया किन्तु उसे दबा दिया गया। 1904 में एक सन्धि के द्वारा फ्रांस ने मिश्र को

ब्रिटेन का प्रभाव क्षेत्र ; व मोरक्को को इंग्लैण्ड ने फ्रांस का प्रभाव क्षेत्र मान लिया। ब्रिटेन ने अब वहाँ की आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया और क्रोमर व किचनर जैसे योग्य शासकों को नियुक्त किया। तुर्की, जिसका मिश्र पर नाम मात्र का प्रभुत्व था, के 1914 में मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में प्रवेश करने पर, ब्रिटेन ने मिश्र को अपना संरक्षित राज्य घोषित कर दिया।

मिश्र में राष्ट्रवाद

मेंहदी विद्रोह के पश्चात्, सूडान ने ब्रिटेन में अपनी सेनायें भेजकर विद्रोह का दमन किया और उसके बाद सूडान पर आंग्ल-मिश्री शासन स्थापित हो गया। 1907 में लार्ड किचनर ने मिश्र मे विधान सभा को परामर्श दात्री अधिकार दिया किन्तु यह प्रयोग 1914 में युद्ध छिड़ने के कारण अधूरा रह गया। इस प्रयोग में विल्सन के चौदह बिन्दुओं की घोषणा (विशेषत: आत्म निर्णय के बिन्दु) व 1918 की संयुक्त आग्ल-फ्रांसीसी घोषणा के फलस्वरूप मिश्र में राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन मिला। इसके नेता थे साद जगलूल पाशा। स्वतंत्र मिश्र की मांग 1919 तक इतनी गंभीर हो गई कि अंग्रेजो को सार्वजनिक विद्रोह की आशंका हुई। अत: उधर जब पेरिस में शान्ति सम्मेलन हो रहा था मिश्र के राष्ट्रवादी नेता जगलूल पाशा व अन्य नेताओं को गिरफ्तार कर माल्टा निर्वासित कर दिया गया।

1919 के अन्त में ब्रिटेन ने उपनिवेश सचिव लार्ड मिलनर को मिश्र से समझौता वार्त्ता करने के लिए भेजा। मिश्र में उग्र राष्ट्रवाद के कारण मिलनर ने पारस्परिक संबंधों को एक आंग्ल-मिश्री संधि द्वारा नियन्त्रित करने का सुझाव दिया। जगलूल के साथ सधि-वार्ता विफल रही, क्योंकि वह सूडान पर आंग्ल-मिश्री सयुक्त शासन के लिए तत्पर नहीं हुआ। मिश्र में ब्रिटेन के तत्कालीन हाई कमिश्नर लार्ड एलनबी के ठोस सुझाव पर एक पक्षीय घोषणा के आधार पर 28 फरवरी 1922 को मिश्र को सर्वोच्च सत्ता संपन्न स्वतंत्र राष्ट्र घोषित कर दिया गया। यह भी कहा गया कि जब तक आगे चलकर दोनों पक्षों में वार्त्ता द्वारा संधि नही हो जाती, वस्तु स्थिति बनी रहेगी और निम्नलिखित विषयों पर ब्रिटिश सरकार अपने अधिकार बनाये रखेगी (1) स्वेज नहर व ब्रिटिश साम्राज्य से संबंधित यातयात मार्गों की सुरक्षा (2) मिश्र की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा (3) मिश्र में विदेशी अल्प-संख्यकों व उनके स्वार्थों का सरक्षण (4)सूडान का शासन। टॉयनबी ने कहा, "इस प्रकार मिश्र को एक अधिराज्य से भी अधिक निम्न स्तर का स्थान मिला।" कर्क के अनुसार, "मिश्रियों ने इसे स्वतंत्रता की एक किश्त माना किन्तु उन्होने कृतज्ञ अनुभव नही किया।" राष्ट्रवादी जाफार अल अस्करी के शब्दों में, "पूर्ण स्वतन्त्रता कभी दी नहीं जाती, ली जाती है।" फुआद, जो अब तक सुल्तान था, ने राजा का पद ग्रहण किया। ब्रिटेन के उपरोक्त विशेषाधिकारों को लेकर आगे 14 वर्षों तक जो भी वार्त्ता चली, वह असफल रही।

मिश्र के राष्ट्रवादियों ने जगलूल पाशा के नेतृत्व में वफ्त पार्टी का निर्माण

किया। 'वफ्त' जिसका तात्पर्य है 'प्रतिनिधि-मण्डल' ऐसा दल था, जो 1919 के पेरिस सम्मेलन में अपनी दलीलें पेश करना चाहता था किन्तु अंग्रेजों ने उन्हें जाने की अनुमति नहीं दी। तुर्की के राष्ट्रवाद और कमाल पाशा के पाश्चात्य विरोध से भी इस दल को प्रेरणा मिली। वफ्त दल ने असन्तुष्ट होकर छात्र आन्दोलन के द्वारा आतंकवाद का आश्रय लिया। काहिरा में चार ब्रिटिश अधिकारियों की हत्या के कारण तीन छात्रों को प्राणदण्ड दिया गया। जनवरी 1924 के ग्राम चुनावों में वफ्त पार्टी के सदस्यों को 188 स्थान प्राप्त हुए जब कि इनके विरोधियों को केवल 27 स्थान मिले थे। अतः राजा फुआद ने वफ्त दल के नेता जगलूल को मंत्रि-मण्डल बनाने के लिए आमंत्रित किया। वफ्त दल ने तानाशाही रूप धारण कर लिया और गुप्तचरों ने निरक्षर अफेन्दी और फिलाहिन की सहायता से 90 प्रतिशत जनता को ब्रिटेन के विरुद्ध, अपने पक्ष में कर लिया। ये राजतंत्र व ब्रिटेन के विरोध में व्यापक प्रचार करने लगे।

राष्ट्रवाद ने इतना उग्र रूप धारण किया कि संसद में विचार सुने जा सकें व व्यवस्था बनी रह सके, इसके लिए 1924 में तीन प्रकार की दृष्टियों का प्रयोग किया गया। इनके भी असफल होने पर अग्निसूचक-घण्टे का प्रयोग किया गया। छात्रों ने राजनीतिक आन्दोलन में इतना अधिक भाग लिया कि उनके उत्तीर्ण हो सकने के लिये मिश्र सरकार द्वारा विश्वविद्यालय स्तर को कम कर दिया गया। सितम्बर 1924 में प्रथम श्रमिक दल के प्रधानमन्त्री रैमजे मैकेडोनाल्ड ने जगलूल पाशा को वार्ता के लिए लन्दन बुलाया। इस वार्त्ता में गतिरोध हो गया क्योंकि जगलूल ने पूर्ण स्वतन्त्रता, ब्रिटिश सेना के हटाये जाने व सूडान पर शासन की मांग की, जो कि स्वीकृत नहीं की गई। ब्रिटेन ने यह जरूर कहा है कि स्वेज नहर से सेना नहीं हटाई जायेगी किन्तु मिश्र सरकार के आंतरिक शासन में वह हस्तक्षेप नहीं करेगा। किन्तु जगलूल को यह भी स्वीकार नही था। इस वार्ता की असफलता से मिश्र में व्यापक भयानक उपद्रव प्रारंभ हुए और 'विदेशी सेना, चली जाओ' के नारे लगाये गये। 19 नवम्बर को काहिरा की सड़कों पर सूडान के गवर्नर एवं मिश्री सेना के ब्रिटिश सेनापति सरदार ली स्टैक की हत्या कर दी गई। ब्रिटिश हाई कमिश्नर लार्ड एलनबी ने मिश्र सरकार को चुनौती देते हुए निम्न मांगें प्रस्तुत कीं : (1) अपराधियों को उचित दण्ड (2) क्षमा की माग (3) पांच लाख पौण्ड की क्षति-पूर्ति (4) सूडान से मिश्री सेना का अपसारण (क्योंकि वह सूडानी सेना को भड़का रहे थे)(5) सूडान के रुई उत्पादक क्षेत्र, गजीरा जिले के लिए नील नदी के पानी के प्रयोग की सम्मति। इस चुनौती के साथ ब्रिटेन ने सिकन्दरिया के तट-कर कार्यालय पर अधिकार कर लिया। बाध्य होकर जगलूल को पद त्याग करना पड़ा।

7 मई को ली स्टैक की हत्या के कारण 7 मिश्रियों को प्राणदण्ड दिया गया। राजा फुआद ने संसद को भंग कर दिया और अपने मित्र, इत्तिहाद दल के नेता, हसन नाशत के समर्थन से अलोकप्रिय शासन चालू रखा। 1926 के चुनाव में 70 प्रतिशत

स्थान पुन: वफ्त पार्टी को मिले। परन्तु ब्रिटेन ने जगलूल को प्रधानमन्त्री नहीं बनने दिया, क्योंकि उसने आतंकवाद को प्रोत्साहित किया था। मिली-जुली सरकार का नया प्रधानमन्त्री सर्वत पाशा बना। 1927 में जगलूल की मृत्यु हो गई और वफ्त दल का नेता नाहस पाशा बना। नये मन्त्रिमण्डल के 10 सदस्यों मे से 6 वफ्त दल से संबंधित थे।

1927 में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री सर आस्टिन चैम्बरलेन के साथ मिश्र ने संपूर्ण स्वतन्त्रता के लिए वार्त्ता प्रारम्भ की। समझौते के दो निम्न निर्णय उल्लेखनीय हैं: (1) मिश्री सेना के समस्त ब्रिटिश पदाधिकारी, सैनिक मिशन में परिवर्तित कर दिए जायें (2) पुलिस व सार्वजनिक सुरक्षा विभाग में नियुक्त ब्रिटिश नागरिक किसी अन्य समझौते के होने तक अपने पदों पर आसीन रहेंगे। नाहस पाशा के नेतृत्व में वफ्त दल ने ब्रिटिश पदाधिकारियों के मिश्र में बने रहने के कारण भारी विरोध प्रकट किया और सर्वत पाशा को त्याग-पत्र देना पड़ा। नये प्रधान नाहस पाशा का राजा व नये हाई कमिश्नर सर जार्ज लायड दोनों के साथ संघर्ष होने लगा। नाहस पाशा के विरुद्ध, एक भ्रष्टाचार के आरोप में राजा फुआद ने, उसे इस्तीफा देने को बाध्य किया। संसद के दोनों सदन भंग कर दिये, संविधान को 3 वर्ष के लिए भंग कर दिया व स्वयं ने एक निरंकुश शासक के समान समस्त शक्तियों को अपने हाथ में ले लिया।

1927 से 1930 तक मध्यराष्ट्रीय आन्दोलन इतना उग्र हो गया कि ब्रिटेन को बाध्य होकर तीन बार सिकन्दरिया में युद्ध-जहाज भेजने पड़े। इसी बीच मई 1929 में इग्लैण्ड ने अपनी नीति स्पष्ट करते हुए अपने हाई कमिश्नर को आदेश दिया कि मिश्र के साथ 1922 की सन्धि की भावना को जारी रखा जाय व सद्‌भाव बढ़ाया जाय। ब्रिटिश सैनिकों को मिश्र से हटाये जाने के विषय में गतिरोध बना रहा, किन्तु लगातार पत्र-व्यवहार के पश्चात् नील नदी के पानी के उपयोग के विषय में समझौता संभव हो सका।

1935 में इथोपिया पर इटली के आक्रमण के फलस्वरूप आंग्ल-मिश्री संबंध और अधिक उलझ गये। इस समय मिश्र के तीनों प्रमुख राजनीतिक दल— सबसे बड़ा वफ्त दल, शाब (जनता) पार्टी व इत्तिहाद (राजा के मित्र) दल, इस बात पर सहमत थे कि ब्रिटेन से वार्त्ता द्वारा संधि की जाय। दिसम्बर में वफ्त दल के नेता नाहस, शाब अथवा जनता पार्टी के नेता इस्माइल सिद्दी की एवं राजतन्त्र के समर्थक मुहम्मद मामूद ने ब्रिटिश हाई कमिश्नर को सूचना दी की वे 1930 के प्रस्तावित संधि के प्रारूप पर विचार करने को तत्पर हैं। ब्रिटेन ने कहा कि वह वार्त्ता के लिए तैयार है किन्तु उन्होने सूडान की स्थिति पर विचार करने के लिए भी बल दिया। मार्च 1936 मे लन्दन में मिश्र के प्रतिनिधि मण्डल के 13 सदस्यों ने वार्त्ता प्रारम्भ की, जिनमें से 7 सदस्य वफ्त पार्टी के थे। दो कारणों से कुछ समय बाद वार्त्ता की गति धीमी पड़ गई। इनमें से एक, अप्रैल में राजा फरूक के लिए

'संरक्षक-परिषद्' की नियुक्ति थी। दूसरा कारण था, ब्रिटेन का सुरक्षा व सैनिक प्रश्नों पर जोर देना और मिश्री प्रतिनिधि मण्डल का राजनीतिक प्रश्नों एवं स्वतन्त्रता पर जोर देना। इस वार्त्ता के दौरान वफ्त पार्टी ने आंतरिक अशांति को बनाये रखा। और मिश्री राष्ट्रवाद को उग्र रूप देने के लिए नारे लगाने, जलूस निकालने, व नीले कुर्त्ते वाले स्वयसेवकों के संगठन पर जोर रखा। ब्रिटेन की नीति की भर्तस्ना करते हुए टाइम्स (लन्दन) ने सम्पादकीय में लिखा "एक संधि यदि उसे सफल होना है तो वह राष्ट्रीय सम्मान पर आधारित होनी चाहिए। थोपी जाने के बजाय पारस्परिक विचार विमर्श और खुली वार्त्ता के द्वारा निस्कर्ष पर पहुँच जाना चाहिए और इसकी एक प्राथमिक शर्त यह है कि इसकी प्रेरणा का आधार पारस्परिक विश्वास हो। संधि की इस भावना की ऐसी स्थिति में रक्षा नही हो सकती जब कि प्रतिनिधियों को संपूर्ण एवं हर परिस्थिति में सैनिक सुरक्षा हेतु उन रियायतों को देने के लिए बाध्य किया जाय, जिनके कारण उनके देशवासी उन्हे कभी क्षमा नहीं करेंगे। समान स्वार्थो और विश्वास पर आधारित संधि काल्पनिक एवं मामूली सुरक्षा व्यवस्थाओं की अपेक्षा कही अधिक महत्वपूर्ण है......।"

उग्र राष्ट्रवाद की छुट-पुट कार्यवाहियों के बावजूद 26 अगस्त 1936 में आंग्ल-मिश्री संधि पर हस्ताक्षर हो गये जिसकी मुख्य शर्तें निम्न थी : मिश्र को पूर्ण स्वतन्त्रता मिली एवं 1922 की चार सुरक्षित धाराओं के स्थान पर नई धारायें प्रस्तुत की गई (1) स्वेज नहर व मिश्र की सुरक्षा के लिये एक बीस साला सुरक्षा संधि की गई और इस प्रकार एक अप्रत्यक्ष मिश्री अधिकार के स्थान पर प्रत्यक्ष मिश्री अधिकार स्थापित किया गया—एक ऐसा ब्रिटिश अधिकार जिसके प्रति मिश्री राष्ट्रवादियों को बड़ी चिढ़ थी। दस साल बाद पारस्परिक समझौते से इस पर पुनर्विचार हो सकता था, (2) शांति के समय ब्रिटिश सेना, जिसमें 4000 वायुयान चालक व 10,000 थल सेना सम्मिलित थी, नहर के क्षेत्र में रहेंगे, जब तक नहर की सुरक्षा की पूरी जिम्मेदारी मिश्र न ले ले। मिश्र सामरिक सड़कों व रेलगाडी व्यवस्था का प्रबन्ध नहर क्षेत्र में करेगा, तभी काहिरा से ब्रिटिश सेना हटेगी; (3) सिकन्दरिया बन्दरगाह पर 8 वर्ष के लिए ब्रिटेन का अधिकार रहेगा; (4) आपातकालीन स्थिति में मिश्र ब्रिटिश सेना को हवाई अड्डे, सभी थल मार्गो व यातायात के साधनों की सुविधा देगा; (5) मिश्र की सेनाओं को प्रशिक्षित करने के लिए ब्रिटेन अपने सैनिक पदाधिकारी भेजेगा; (6) सूडान पर मिश्र व ब्रिटेन का संयुक्त शासन रहेगा, (7) सूडान को यह (प्रथम बार) अधिकार दिया गया कि उसके अधिकारियो की विभिन्न पदों पर नियुक्ति होगी और योग्य व्यक्तियो के अभाव मे ही ब्रिटिश अथवा मिश्री नागरिक नियुक्त किये जायेंगे। मिश्री सेना और नागरिकों को सूडान मे जाने के, ब्रिटेन के समान अधिकार दिये गये। मिश्र ने विदेशियो की सुरक्षा व उनके प्रति भेद-भाव की नीति न अपनाने का

आश्वासन दिया; (8) उधर मान्ट्रयु समझौते (8 मई 1937) में सभी विदेशियों ने मिश्र में अपने विशेषाधिकारों की समाप्ति की घोषणा की। विदेशियों पर विचार किये जाने वाले मिश्रित न्यायालय (जिनमे ब्रिटिश-मिश्री न्यायाधीश होते थे), 12 वर्ष की अवधि तक जारी रहेंगे; (9) मिश्र में ब्रिटेन का प्रतिनिधित्व राजदूत द्वारा होगा, जिसका अन्य राजदूतों के मुकाबले प्रमुख-स्थान होगा; (10) ब्रिटेन ने मिश्र के राष्ट्रसंघ में सदस्य बनने का समर्थन किया और मई 1937 में मिश्र राष्ट्रसंघ का सदस्य हो गया; (11) मिश्र पर आक्रमण की दिशा में, ब्रिटेन, मिश्री सेनाओं के साथ नहर क्षेत्र की रक्षा करेगा। इटली के बढ़ते हुए आक्रामक स्वरूप के कारण 17 वर्ष के लगातार आन्दोलनों के पश्चात् यह संधि संभव हुई, जिसने 2,200 वर्ष के पश्चात् प्रथम बार मिश्र को एक स्वतंन्त्र राष्ट्र बना दिया।

द्वितीय महायुद्ध जब प्रारम्भ हुआ तब ब्रिटेन ने राजा फरूक पर दबाव डालकर अली माहेर को प्रधानमत्री पद से इस्तीफा देने के लिये मजबूर कर हुसेन सीरी को नया प्रधानमत्री बनाया। सीरी का शासन अलोकप्रिय होने व जनता में अनेक आन्दोलनों के कारण उन्हें राजा ने 2 फरवरी 1942 को बर्खास्त कर दिया। इसी समय ब्रिटिश राजदूत लैंनसम के कारण राजमहल पर घेरा डाल दिया गया और राजा फरूक पर दबाव डाला गया कि वे नाहस पाशा को ही प्रधानमंत्री बनायें अथवा देश त्याग करें। तीन दिन बाद नाहस पाशा प्रधानमंत्री बना दिये गये। ब्रिटेन ने अब हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया। 4 नवम्बर को अल अलामेन के युद्ध में (जिसे मिस्र का स्टालिनग्राड कहा जाता है) ब्रिटिश सेना ने रोमेल के नेतृत्व की इटालियन सेना को हरा दिया जिससे मिश्र की रक्षा संभव हुई। तब से, युद्ध के अन्त तक, मिश्र ब्रिटेन को हर दिशा में सहयोग देता रहा।

1945 के चुनाव मे पुन· वफ्त पार्टी को बहुमत प्राप्त हुआ और आमेद महीर पाशा नये प्रधानमंत्री बने। किन्तु उग्र राष्ट्रवाद और जनता में असन्तोष बढ़ता ही गया, जनता पूर्ण गणतंत्र के स्वप्न देखने लगी और महीर पाशा की हत्या कर दी गई। इनके पश्चात् नोकराशी पाशा नये प्रधानमंत्री बने।

(3) अरबों में राष्ट्रीयता

अरब राष्ट्रवाद

फ्रांसिस्को गैबरिएली के अनुसार नेगिब अजूरी ने 'महान् अरब राष्ट्र' की प्रथम योजना पेरिस में बनाई। विदेशी शक्तियों के दासत्व, यूरोपीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव, मुस्लिम भ्रातृत्व, अतीत का गौरव व क्रम-बद्ध इतिहास व एक अरबी भाषा ने अरबों मे राष्ट्रीय जागृति को प्रेरित किया। अरब राष्ट्रों में राष्ट्रीयता का उदय सर्वप्रथम सीरिया में हुआ। वृहत सीरिया में इस समय सीरिया के अतिरिक्त लेबनान, फिलिस्तीन एवं जोर्डन सम्मिलित थे। फ्रांस ने विद्यालयों के माध्यम से फ्रांसीसी क्रांति के विचार बैरूत, दमिश्क अलेप्पो व जेरूसलम

में प्रसारित कर दिये। अमेरिका ने 1866 में बैरूत में सारियन प्रोटेस्टैन्ट कालेज की स्थापना की, जिसने बुद्धिजीवियों एवं युवकों में स्वतंत्रता की भावना को विस्तृत किया। यही कॉलेज बाद में चलकर बैरूत विश्वविद्यालय बना।

बीसवी शताब्दी के प्रारंभ में अरबो में राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये योग्य नेतृत्व का अभाव रहा और इसलिए उनका ध्येय तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्त शासन तक ही सीमित रहा। अरबों ने प्रारम्भ में तुर्की के 1908 के युवा तुर्की आन्दोलन का समर्थन किया, जिसे उन्होंने राष्ट्रीयता की ओर एक कदम समझा। किन्तु युवा तुर्की की तुर्कीकरण की नीति से अरब लोग असंतुष्ट हो गये। यही कारण था कि 1916 में अरब लोगों ने विद्रोह किया और अंग्रेजों के सैनिक एवं आर्थिक समर्थन से हैजास नामक राज्य की स्थापना की कल्पना करने लगे, जिसमें सीरिया, फिलिस्तीन व ईराक भी सम्मिलित होगा।

प्रथम युद्ध के पश्चात् अस्थायी रूप से अरब प्रायःद्वीप को 1916 के साइक्स-पीको समझौते के अनुसार तीन सैनिक प्रशासन क्षेत्रों में विभाजित किया गया। उत्तर का भाग, जिसमें सीरिया था, फ्रांस को और दक्षिण का भाग, जिसमें ईराक था, ब्रिटेन को सौंपा गया। मध्य भाग, जो कि अलेप्पो से लेकर मान तक विस्तृत था, मे एक स्वतत्र अरब राज्य की स्थापना की गई। ब्रिटिश सेना की सहायता से 3 अक्टूबर 1918 को हसेमाइड वंश के राजकुमार अमीर फैजल इब्न हुसैन बड़ी धूम-धाम के साथ दमिश्क मे घुसे और एक राजतत्र की स्थापना की। वास्तव में फैजल ब्रिटिश सर्वोच्च सेनापति एलनबी के प्रति उत्तरदायी था जो कि समस्त क्षेत्र का प्रशासक था।

बाधायें

'महान् अरब राष्ट्र' के स्वप्न की पूर्ति में तीन प्रमुख बाधायें थीं : पहली थी साइक्सपीको सन्धि, जिसके आधार पर अरब क्षेत्र को फ्रांस व इंग्लैण्ड ने पारस्परिक प्रभु क्षेत्रों में बाँट लिया था। दूसरे, 'बालफोर, घोषणा' के अनुसार यहूदियों को अरब क्षेत्र में एक स्वतंत्र राज्य स्थापित करने में ब्रिटेन ने सभी प्रकार की सुविधायें देने का वायदा किया था, तीसरी कठिनाई थी साउदी अरेबिया के अमीर इब्न साउद और अमीर फैजल हुसैन के आपसी मतभेद।

नवम्बर 1918 मे आँग्ल-फ्रांसीसी घोषणा के अनुसार यह निश्चित हुआ कि अरब प्रदेश में किसी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के पूर्व जनमत को दृष्टि में रखा जायेगा। 1919 के किंग क्रेन कमीशन ने कहा कि वह भौमिक एकता (सीरिया, फिलिस्तीन, मैसोपोटामिया) और फ्रांस के प्रति सीरिया की घृणा को ध्यान में रखेगा। मार्च 1920 में सीरिया के नेताओं की एक सभा ने पेरिस शान्ति सम्मेलन के निर्णयों को प्रभावित करने का प्रयास किया। सभी ने फैजल से सीरिया व फिलिस्तीन का सिंहासन स्वीकार करने का आग्रह किया, जिसे उसने स्वीकार कर लिया। एलंबिस

ने सभा की तुरन्त भर्त्सना की, दुर्भाग्यजनक सेनरेमो सम्मेलन बुलाया और उसमें सीरिया और लेबनान को फ्रांस को; व फिलिस्तीन, जोर्डन घाटी और जोर्डन को ब्रिटेन को आदिष्ट प्रणाली के अंतर्गत दे दिया। अरबों को दिये गये आश्वासनों के अनुसार शरीफ हुसैन को साउदी अरेबिया (हैजास) का शासक नियुक्त कर दिया गया। हुसैन के तीन पुत्र थे: ज्येष्ठ पुत्र अली को हैजास के राज्य का उत्तराधिकारी; द्वितीय पुत्र अब्दुल्ला को ब्रिटेन की आदिष्ट प्रणाली के अंतर्गत ईराक का शासक व तृतीय पुत्र फैजल को दमिश्क के अरब राज्य का शासक घोषित किया गया। इस भांति ब्रिटेन ने 1915 में अरबों के साथ किये वायदे को पूरा किया।

सीरिया-लेबनान

सीरिया-लेबनान, जिसकी जनसंख्या 39 लाख थी, को फ्रांस के अधीन आदिष्ट प्रणाली के अंतर्गत रखा गया। यहाँ की जनसंख्या को पारस्परिक विरोधी 18 धर्म-समुदायों में बांटा गया। लेबनान में ईसाइयों का बहुमत था। किन्तु यहाँ 6 लाख ईसाई अनेक छोटे-छोटे सम्प्रदायों में बटे हुए थे, जिनमें से प्रमुख मैरोना इट्स, यूनानी व सीरियन कैथोलिक, आरमीनियन, चैल्डियन व यूनानी कट्टरपंथी थे। सीरिया में सुन्नी मुसलमान अधिक थे और लेबनान में शिया इस्लामिया सम्प्रदाय के लोग थे, जिनमें ड्रूज पहाड़ी के लोग व लटाकिया जिले के अलावी लोग सम्मिलित थे। इस प्रकार जातीय, धार्मिक और आर्थिक विषमताओं के कारण इन लोगों में किसी एक प्रकार की सरकार के प्रति मतैक्य लगभग असंभव था।

सीरिया-लेबनान की आदिष्ट प्रणाली को स्वीकार कर, फ्रांस ने जनमत की पूर्ण अवहेलना की थी। जनरल गुराड, जो कि फ्रांस का प्रथम सेनानायक एवं हाई कमिश्नर नियुक्त किया गया, को अरब राष्ट्रवादियों के सक्रिय विरोध का सामना करना पड़ा। 90,000 फ्रांसीसी सैनिकों और अरब सैनिकों में छुट-पुट मुठभेड़ों और वारदातों को रोकने और दमिश्क के आस-पास शांति बनाये रखने के लिए फैजल को अपनी सेना का प्रयोग करना पड़ा। इन मामलों को लेकर जनरल गुराड ने फैजल को चुनौती दे दी, अलेप्पो पर अधिकार कर लिया और फैजल को फ्रांस की आदिष्ट प्रणाली को मान्यता देने के लिए बाध्य किया। इससे उपद्रव व अव्यवस्था और भी अधिक बढ़ गई। अगस्त 1920 में जनरल गुराड की सेना ने दमिश्क पर आक्रमण कर स्वतंत्र अरब राज्य को समाप्त कर दिया और फैजल को देश निकाला दे दिया। अंग्रेजों ने इस समय फ्रांस के साथ समझौते के कारण फैजल को किसी प्रकार की सहायता नहीं दी।

फ्रांस और आदिष्ट राज्य

फ्रांस ने इस आदिष्ट राज्य को पाँच पृथक् राज्यों में विभाजित कर दिया। (1) सिकन्दरिया, (2) लेबनान (3) लटाकिया (4) जैबल-द्रूज व (5) सीरिया। इन पांचों राज्यों का प्रशासन एवं बजट पृथक था। किन्तु सब में फ्रांसीसी अफसर

एवं मुद्रा समान थी। अगले छः वर्ष तक फांसीसी शासन वास्तव में सैनिक अधिनायकवाद था। तीन जनरल—गुराड, वैगा और सरेल यथाक्रम से हाई कमिश्नर थे। लेबनान में ईसाई अधिक थे और सीरिया में मुसलमान। फांस ने इनमें भेदभाव की नीति अपनाकर लेबनान के ईसाइयों को सीरिया से पृथक् राजनीतिक अस्तित्व के लिए प्रोत्साहित किया। तुर्की अधीन लेबनान का क्षेत्रफल कम था, जिसे फ्रांस ने लेबनान के ईसाइयों के हित में बढ़ा दिया और उसमें कई अच्छे बन्दरगाह व अच्छी कृषि-भूमि मिला दी। जो नई भूमि मिलाई गई थी, उसके कारण मुसलमानों व ईसाइयों में अनेक झगड़े होने से फिर से वातावरण अशांत हो गया।

1925 में ड्रूज विद्रोह हुआ। इस राजनीतिक उपद्रव के अनेक कारण थे। इनमें से एक फ्रांस के शासन के प्रति प्रारम्भ से चला आ रहा विरोध था। फ्रांस की आदिष्ट प्रणाली कभी लोकप्रिय नहीं रही। सीरिया-लेबनान प्रशासन के पुनर्गठन ने ईसाइयों व स्थानीय अरबों में साम्प्रदायिकता की भावना को और अधिक बढ़ाया। तीसरे, ईसाइयों के प्रति पक्षपात ने भी अरबों में विद्रोह की भावना को प्रज्वलित किया। हाई कमिश्नर व सेनापति जनरल सरेल की त्रुटिपूर्ण नीति, विशेषतः विभिन्न सम्प्रदायों के प्रति विरोधी नीति, फांस के विरोध का चौथा कारण था। सरेल ने 1925 के प्रारम्भ में लेबनान पहुँचते ही प्रशासनिक सुधार किये, जिनमें परिषद में विभिन्न सम्प्रदायों के अप्रत्यक्ष आनुपातिक प्रतिनिधित्व को बदलकर प्रत्यक्ष चुनाव था। इससे विभिन्न सम्प्रदायों के मुखिया, जिन्हें सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार था, क्रुद्ध हो गये, विशेषतः जेबेल (पहाड़ी इलाके) के ड्रूज (शिया मुसलमान)। फांस के जेबेल ड्रूज के आधुनिकीकरण (नवीन सड़कें आदि) के प्रयासों और उसके पश्चात् लगाये गये अनेक टैक्स, विरोध का एक अन्य कारण था। ड्रूज सरदारों, विशेषतः अतराश परिवार के मुखिया ने फांस सरकार पर 5 अप्रैल 1922 के उस समझौते को भंग करने का आरोप लगाया था जिसमें जेबेल ड्रूज के लिए स्थानीय गवर्नर की नियुक्ति एवं स्वशासन दिये जाने की व्यवस्था थी। चतुर सरेल ने सभी ड्रूज नेताओं, जिसमें अतराश परिवार के लोग भी थे, को वार्ता के लिए दमिश्क में आमंत्रित किया और विश्वासघात करके उन सब को कैद कर दिया। विद्रोह का यही तात्कालिक कारण था।

ड्रूज लोगों के अतिरिक्त सीरिया के राष्ट्रपति के तत्वाधान में लोगों ने संगठित रूप से विद्रोह प्रारम्भ कर दिया। अक्टूबर 1925 में ड्रूज और राष्ट्रवादी सेना दमिश्क पहुँच गई। सरेल ने बिना चेतावनी के दमिश्क पर तीन दिन तक गोलाबारी की। 27 अक्टूबर को एक प्रत्यक्षदर्शी ने टाइम्स समाचार पत्र में लिखा कि तोपों ने कम से कम 48 घंटे तक इतनी गोलाबारी की कि हमीदिया से स्ट्रेट सड़क तक सारी दुकानों व मकान आदि को चुन-चुनकर समाप्त कर दिया गया। इस सब काण्ड में 1200 से अधिक लोग मृत्यु को प्राप्त हुए। फ्रांस ने सीरिया में अपनी सैन्य शक्ति 50,000 तक बढ़ा दी और अफोदियों को उन सब गाँवों में आग लगाने का आदेश

दिया जिनमें क्रांतिकारी छिपे हुए थे। उन्होंने लेबनान के ईसाई समूहों को भी क्रांतिकारियों के विरुद्ध भड़काया और शस्त्र दिये। किन्तु राष्ट्रवादी ईसाई परस्पर नहीं लड़े। इस प्रकार दमनकारी नीति से विद्रोह को असफल कर दिया गया।

इस असफल विद्रोह के अनेक परिणाम हुए। फ्रांसीसी सरकार ने जनरल सरेल को वापिस बुला लिया व उसके स्थान पर नागरिक हाई कमिश्नर नियुक्त किया गया। सरेल की गल्तियों को ठीक करने के लिए उचित व्यवस्था की गई। फ्रांस की दमन नीति के, समस्त सभ्य संसार में विरोध के कारण, उसने अपने सबसे अधिक अनुभवी राजनयिक, जुवेनाल, को हाई कमिश्नर बना कर भेजा। 1926 में राष्ट्र-संघ ने सीरिया के व्यापक असंतोष की ओर इंगित करते हुए फ्रांस की तीव्र भर्त्सना की। फलस्वरूप हाई कमिश्नर ने घोषणा की, "सीरिया के साथ आदिष्ट प्रणाली को समाप्त कर शीघ्र ही एक स्थायी सधि की जायेगी।" यह भी कहा गया कि संविधान सभा के सदस्यों के लिए स्वतंत्र चुनाव होंगे। इस विद्रोह का प्रधान परिणाम था, सीरिया राष्ट्रवादियों का एकीकरण। कुछ समय पश्चात् सीरिया के पाँचों राज्यों को गणतन्त्र घोषित किया गया। 1928 में संविधान निर्मात्री सभा ने, जिसमें राष्ट्रवादियों का बहुमत था, फ्रांस द्वारा प्रस्तुत संविधान के प्रारूप को स्वीकार नही किया। नवम्बर 1933 में फ्रांस ने सीरिया की लोक सभा में संधि का प्रारूप प्रस्तुत किया। लोक सभा के 80 सदस्यों में से 53 उदारवादी व 27 राष्ट्रवादी थे। 46 मतों के विरोध के कारण सधि का प्रस्ताव पारित न हो सका। फ्रांस की (1) सीरिया के पाँच राज्यों के बने रहने (2) सीरिया मे विशेष सामरिक सुविधाओं की, माँगों ने उदारवादियों को भी फ्रांसीसी सन्धि के विरुद्ध मतदान करने को बाध्य कर दिया।

राष्ट्रवादियों ने फिर से पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग प्रारम्भ कर 1936 में 50 दिन की सफल राष्ट्रव्यापी हड़तालें की। परिणामस्वरूप फ्रास के लोकप्रिय मोर्चे ने सितम्बर में फ्रांसीसी सीरियन व नवम्बर में फ्रांसीसी-लेबनान सन्धि, प्रस्तुत की। दोनों संधियों में समान बातें—सत्ता का संबंधित सरकारों को हस्तांतरण व सधि की सम्पुष्टि के तीन वर्ष पश्चात् देश को राष्ट्रसघ का सदस्य बनाया जाना था। लेबनान के साथ संधि में फ्रांस के विशेष सामरिक स्वार्थों के सरक्षण की सुविधा भी थी। फ्रांस में सरकार बदल गई और फ्रांस ने संधियो की सम्पुष्टि नहीं की। द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ होते ही फ्रास ने सीरिया-लेबनान के संविधान को स्थगित कर दिया और विधान सभायें भंग कर दीं। फ्रांसीसी सरकार के पतन के पश्चात् धुरी समर्थक फ्रांसीसी सरकार वीची (पेंता के नेतृत्व में) ने सीरिया में धुरी राष्ट्रों की सहायतार्थ अस्त्र-शस्त्र जमा करने प्रारम्भ किये। उधर फ्रांस का दूसरा स्वतंत्र दल जनरल डी गॉल के नेतृत्व में कार्य कर रहा था। इसने ब्रिटिश सेना के साथ जनरल काम्यु के नेतृत्व में फ्रांसीसी सेना को सीरिया भेजा। इन्होंने फ्रांसीसी आदिष्ट प्रणाली को समाप्त कर संपूर्ण स्वतन्त्रता दिये जाने की घोषणा की। स्वतन्त्र फ्रांसीसी दल के

मुख्य नेता जनरल डी गॉल ने काञ्यु की नीति का समर्थन न कर, कहा, "संधि द्वारा ही स्वतन्त्रता की घोषणा की जानी चाहिए।" वे संधि द्वारा फ्रांसीसी हितों के संरक्षण को प्राथमिकता देने के पक्ष में थे। 1941 में 27 सितम्बर को सीरिया के साथ और 26 नवम्बर को लेबनान के साथ संधि कर उन्हें पूर्ण स्वतन्त्र घोषित किया गया व फ्रांसीसी हितों में सरक्षण की विशेष सुविधा रखी गई। फ्रांस ने सुरक्षा के बहाने स्वतन्त्रता दिये जाने में देरी के कारण ढूँढने प्रारम्भ किये। उसने आम चुनाव को मार्च 1943 तक खिसका दिया। अगस्त 1943 में शुक्री एल क्वाटली सीरिया के व सितम्बर 1943 मे बिशारा एल खोरी लेबनान के, क्रमशः प्रथम राष्ट्रपति चुने गये। खोरी ने संसद के संपूर्ण समर्थन से फ्रांस के लेबनान में विशेष सामरिक अधिकारों को समाप्त कर दिया। लेबनान स्थित फ्रांसीसी जनरल ने इससे क्रुद्ध होकर खोरी को गिरफ्तार कर लिया, किन्तु अल्जीरिया मे फ्रांसीसी सरकार पर दबाव डाले जाने से खोरी को मुक्त कर दिया गया। जुलाई से सितम्बर 1944 के बीच सीरिया व लेबनान की सरकारों को ब्रिटेन, अमेरिका व रूस ने मान्यता दी और 1945 में वे संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य बन गये। इस प्रकार दो आदिष्ट राज्य स्वतन्त्र गणतन्त्र में परिवर्तित हुए।

ईराक

ईराक तुर्की के आधीन था। 1914 में प्रथम ईराक विश्व युद्ध प्रारंभ होने के कारण भारत स्थित ब्रिटिश सरकार ने ईराक पर आक्रमण कर 1917 तक वहाँ के प्रसिद्ध नगरों बसरा व बगदाद पर अधिकार कर लिया। 1920 में आदिष्ट प्रणाली के अंतर्गत ईराक ब्रिटेन को दे दिया गया और वहाँ सर परसी कोक्स नागरिक हाई कमिश्नर नियुक्त हुए। उन्होंने ब्रिटेन समर्थक शेखों को अपना परामर्शदाता नियुक्त कर जन जातियों को कर से मुक्त किया व उन्हें अनुदान दिया। किन्तु राष्ट्रवादी अंग्रेजों की नीति की चाल में न आये और वे नवम्बर 1918 की आंग्ल-फ्रांसीसी 'ईराकी स्वतन्त्रता' की घोषणा के विरोधी कार्य से असंतुष्ट हो गये। दूसरे, सीरिया में राष्ट्रवादी सरकार के अन्त और फैजल के निष्कासन का भी उन पर प्रभाव पड़ा। सर परसी कोक्स की नीति ने स्थानीय अरबों को नाराज कर दिया। चौथे, प्रशासन (450 अफसर) व सेना (80,000) में भी अरबों को कोई स्थान नहीं था। राष्ट्रवादियों को तथाकथित समृद्धि के बजाय स्वतन्त्रता की अधिक चाह थी। फलस्वरूप राष्ट्रवादियों ने 1920 में भयंकर विद्रोह कर दिया, जो 6 महीने तक चलता रहा व जिसमें 10,000 से अधिक ब्रिटिश व अरब लोग हताहत हुए, जिनमें कर्नल लिकमैन जैसे लोग भी थे। विद्रोह को दमन करने के पश्चात् एक राष्ट्रीय परिषद का निर्माण किया गया, जिसमें आठ स्थानीय अरब (ईराकी) मंत्री रखे गये। ईराकियों के धर्म-प्रमुख अब्दुर्रमान अल गैलानी, जो कि बगदाद के नाकिब थे, को परिषद का अध्यक्ष बनाया गया ताकि स्थानीय जनता एवं जन जातियाँ संतुष्ट हो जायें।

सैनरेमो सम्मेलन में फैजल को दमिश्क के अरब राज्य (सीरिया) का शासक घोषित किया गया था एवं अब्दुल्ला को ईराक का। फैजल के निष्काशन पर गंभीर समस्या उत्पन्न हो गई। मार्च 1920 में लारेंस मिशन ने अब्दुल्ला को जोर्डन का राजा बनाना स्वीकार कराके फैजल को ईराक का राजा बनाया। ईराक ने इस परिवर्तन को 96 प्रतिशत मतदान द्वारा स्वीकृत किया। अक्टूबर 1922 में फैजल के साथ आंग्ल-ईराक संधि में निम्न शर्तें पारित हुईं। सर परसी कोक्स फैजल के परामर्शदाता नियुक्त हुए; ब्रिटिश तत्वाधान में सामरिक एवं आर्थिक व्यवस्था रखी गई; ब्रिटिश अधिकारियों की नियुक्ति की सुविधा एवं उनके द्वारा न्याय व्यवस्था का पुनर्गठन हुआ, वैधानिक राजतन्त्र एवं द्वी-सदनीय संसद स्वीकृत हुई व मुसलमानों के धर्म-न्यायालयों को मान्यता दी गई। संक्षेप में इस संधि के द्वारा दुहरी सरकार की स्थापना हुई, जिसमे अंग्रेजों व ईराकी दोनों अधिकारियों के उत्तरदायित्व निहित थे। यही इस संधि का सबसे बड़ा दोष था।

ईराक इस संधि के पश्चात् द्रुत गति से स्वतन्त्रता की ओर बढ़ने लगा। 1927 की संधि ने सैनिक और आर्थिक नियंत्रण शिथिल कर दिये। तीसरी 25 वर्षीय संधि (1930) ने ईराक को पूर्ण स्वतन्त्र एवं सर्वोच्च सत्ता संपन्न राज्य बना दिया। इसकी निम्नलिखित धारायें थी: (1) बगदाद के निकट हबानिया और बसरा के पास शुबाइबा हवाई अड्डे ब्रिटेन के अधिकार में रहेंगे और आवश्यक होने पर सेना व रसद भेजने का अधिकार ब्रिटेन को होगा। युद्ध की स्थिति में ईराक ब्रिटेन को सभी प्रकार की संचार सुविधाएँ देगा। (2) ब्रिटेन के राजनयिक प्रतिनिधि को अन्य की अपेक्षा प्रधानता दी जायेगी। (3) ब्रिटेन ईराक को सैनिक सहायता देगा और एक सैनिक मिशन भेजेगा। (4) राष्ट्रसंघ में ईराक की सदस्यता का ब्रिटेन पूर्ण समर्थन करेगा।

3 अक्टूबर 1932 को ईराक राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया। प्रारम्भिक कठिनाइयों के बावजूद ईराक 12 वर्ष में ही आदिष्ट प्रणाली से मुक्त हो गया। ईराक का धीरे-धीरे पश्चिमीकरण होने लगा। इन रचनात्मक वर्षों में कृषि, कपास व गेहूं की खेती का विकास किया गया। किन्तु ईराक की सबसे अधिक महत्वपूर्ण निर्यात वस्तु 'तेल' रही। विशाल रेगिस्तान में से होती हुई तेल की पाइप लाइनों को मोसुल से हाइफा और त्रिपोली तक मिलाने का कार्य 1935 तक समाप्त हो गया।

ईराक को कुछ अल्पसंख्यकों की आंतरिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। इनमें एक तो कट्टर सुन्नी कुर्द लोग थे, जिन्होंने 1922-24 में विद्रोह किया। इसका सफलतापूर्वक दमन कर दिया गया। दूसरे, आधुनिक धर्म में विश्वास करने वाले 'बहाई' सम्प्रदाय के लोग थे, जिन्होंने अपने विशेषाधिकारों की मांग की। इनका भी दमन कर दिया गया और बगदाद स्थित सम्पत्ति को जब्त कर लिया गया। तीसरी समस्या थी शिया-सुन्नी सम्प्रदायों की। जनता अधिकांशतः शिया थी और राज परि-

वार प्रारम्भ से ही सुन्नी परिवार का था। अतः दोनों समूहों में परस्पर विरोध था। चौथी समस्या पुराने ईसाई जो कि नेस्तोरियन के वंशज के असीरियन थे और जिन्हें तुर्की से बहिष्कृत किया गया था, ने पृथक्वादी आन्दोलन किया। इन्होंने सीरिया में शरण लेने का प्रयास किया किन्तु सफल न हो सके। वहाँ से वापिस लौटने पर इनकी मुठभेड़ ईराकी सैनिकों से हो गई और फलस्वरूप 600 असीरियन मारे गए। फैजल प्रथम की 1933 में मृत्यु होने के पश्चात् इसका 21 वर्षीय अनुभवी पुत्र गाजी शासक बना। फैजल ने शासन के केन्द्रीयकरण व राजतांत्रिक अधिनायकवाद को प्रोत्साहित किया था। इस व्यवस्था को बनाए रखने में गाजी असफल रहा। 1921 से 1933 के समय मे फैजल के शासन काल मे कुल 15 मंत्रिमण्डल बने थे जब कि 1933-36 के अल्पकाल में ही 21 मंत्रिमण्डल बने।

1936 मे जनरल बॉकर सिद्दीकी ने एक सैनिक विद्रोह द्वारा शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली थी और गाजी केवल कठपुतली मात्र रह गया। 1939 में उसकी मृत्यु के पश्चात् चार वर्षीय फैजल शासक बना, जिसका संरक्षक नूरी एस सैद था। 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ होने पर ईराक तटस्थ रहा किन्तु सामरिक सचार व्यवस्था अंग्रेजों के हाथ में थी।

जोर्डन

जोर्डन नदी के क्षेत्र में एक स्वतन्त्र अरब राज्य का आश्वासन 1915 में ब्रिटेन ने साउदी अरेबिया के शासक हुसैन को दिया था। फैजल अक्टूबर 1918 से जुलाई 1920 तक सीरिया का शासक रहा। उसके निष्कासन और ईराक के शासक बनने के पश्चात् जोर्डन फिलिस्तीन से अलग हो गया और उसका शासक अब्दुल्ला को बनाया गया जो कि फैजल का बड़ा भाई था। 22 जुलाई 1922 को राष्ट्रसंघ ने जोर्डन को एक पृथक् राज्य के रूप मे ब्रिटेन की आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत स्वीकार किया। इस प्रकार 25 मई 1923 को एक स्वतन्त्र अरब राज्य की स्थापना का आश्वासन ब्रिटेन ने पूर्ण किया।

1921 से 1933 के समय मे फैजल के शासन काल में कुल 15 मंत्रिमण्डल बने थे जब कि 1933-36 के अल्प काल में ही 21 मंत्रिमण्डल बने।

20 फरवरी 1928 को ब्रिटेन व जोर्डन में एक औपचारिक संधि हुई जिसके अनुसार ब्रिटेन को जोर्डन की विदेश नीति, वित्त व जोर्डन में विदेशियों की देखभाल का उत्तरदायित्व दिया गया। 2 जून 1934 को जोर्डन को अरब राज्यों में व्यापारिक प्रतिनिधि नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त हुआ। मंत्रिमण्डल अमीर के प्रति उत्तरदायी था। अन्त में 1946 में जोर्डन पूर्ण रूप से स्वतन्त्र घोषित किया गया और ब्रिटेन के विशेषाधिकारों से 5 लाख जनसंख्या वाला 30,000 वर्ग मील का भूक्षेत्र स्वतन्त्र हो गया।

अरबों में राष्ट्रीयता

नैपोलियन के मिश्र पर आक्रमण के पश्चात् वहाँ के लोगों में राजनीतिक चेतना, तुर्की से स्वतन्त्र होने की भावना व एक अरब राज्य की स्थापना की इच्छा जागृत हुई। इस सब के पीछे सर्व इस्लामवाद की भावना थी। यहाँ सातवीं शताब्दी में प्रथम वार मुस्लिम राज्यों की स्थापना हुई थी जिन्होने कि लोगों को एकता के सूत्र में बाँध दिया। धीरे-धीरे बगदाद से स्पेन तक इस्लाम राज्यों की स्थापना हो गई। अनेक उथल-पुथल के पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दी में यहां सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ जो बीसवी शताब्दी में राजनीतिक जागृति में परिणत हो गया और अरब राष्ट्र-वाद का जन्म हुआ। 1875 में इस राष्ट्रवाद के फलस्वरूप प्रथम अरब गुप्त समिति स्थापित हुई व 1908 के तुर्की के युवा तुर्क आन्दोलन का अरबों पर अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् अरब आन्दोलन ने जोर पकड़ा। शरीफ हुसैन ने तुर्की विरोधी स्वतन्त्र अरब आन्दोलन में महत्वपूर्ण भाग लिया, जिसे ब्रिटिश जनरल लारेंस ने भी प्रोत्साहित किया।

1916 और 1918 में अरबो को मित्र राष्ट्रों ने स्वायत्त शासन का आश्वासन दिया था किन्तु यह योजना साकार नही हुई। जैसा कि हमने देखा मिश्र एक सरक्षित राज्य था किन्तु उस पर ब्रिटेन का नियन्त्रण चलता रहा। सीरिया, लेबनान फ्रांस के व जोर्डन, फिलिस्तीन और ईराक ब्रिटेन के आधीन आदिष्ट प्रणाली में बने रहे। कुवैत, बैरीन, कातार, ट्रुसियल तट, मस्कट और ओमान की सल्तनत (फारस की खाड़ी के तटवर्ती क्षेत्र) ब्रिटेन के 'वास्तविक' सरक्षण में था।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद इब्न साउद, को केन्द्रीय अरेबिया, जिसे नेजद कहा जाता है, का शासक माना गया जब कि शरीफ हुसैन को हैजाज का। प्रारम्भ मे इब्न साउद फारस की खाड़ी में भूमिहीन शरणार्थी था। उसने अपने साहस व योग्यता से रेगिस्तानी इलाकों में विजय प्राप्त की व 'वहाबी-राज्य' का स्वप्न देखने लगा। वह एक योग्य राजनीतिज्ञ था जिसके पास लगभग 50,000 सैनिक थे। उत्तर व पश्चिम की ओर वह अपनी शक्ति बढ़ाता रहा। 1919 में उसने अपनी सेनायें हैजाज के विरुद्ध भेजीं और शरीफ हुसैन के पुत्र अब्दुल्ला को तुरावा के युद्ध में हरा दिया। 1922 तक साउदी अरेबिया का अधिकांश भाग उसके अधिकार मे आ गया।

मार्च 1926 में जब तुर्की में कमाल पाशा ने खलीफा के पद को समाप्त कर दिया तो हैजाज के हुसैन ने इस पद को ग्रहण कर लिया और समस्त अरब संसार के स्वामित्व की इच्छा करने लगा। इब्न साउद के लिए यह एक चुनौती थी। युद्ध का यह एक कारण बना। इब्न साउद ने जैड्डा का घेरा डाल दिया। हुसैन ने ब्रिटिश शरण लेकर जहाज में साइप्रस की ओर प्रस्थान किया। उसका पुत्र अली नया शासक बना जिसे साउद ने हरा दिया और समस्त हैजाज पर उसका अधिकार हो गया। 8 जनवरी 1926 को मक्का की प्रसिद्ध मस्जिद में इब्न साउद हैजाज का राजा घोषित

किया गया। इस प्रकार समस्त साउदी अरेबिया उसके अधिकार में आ गया। मई 1927 में जैद्दा की संधि में ब्रिटेन ने साउदी अरेबिया की स्वतन्त्रता और सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार किया। 22 सितम्बर 1932 को नेजद और हैजाज राज्यों को मिला कर 'साउदी अरेबिया' राज्य की घोषणा की गई, जिसके प्रथम शासक इब्न साउद बने। 1932 में 'तेल' की खोज के पश्चात् यह क्षेत्र समस्त विश्व का आकर्षण केन्द्र बन गया। 1933 और 1939 में अमेरिका को विशेष सुविधा देकर 'आरामको' तेल कम्पनी की स्थापना हुई और इस प्रकार अमेरिका का प्रथम बार इस क्षेत्र में प्रवेश हुआ। 1934 में यमन के इमाम याहिया को जिसने उन पर आक्रमण किया था, दो महीने के युद्ध में पूर्णरूप से पराजित कर दिया। इस प्रकार 20 वर्ष के संघर्ष के पश्चात् इब्न साउद न केवल विजयी हुआ वरन उसने एक स्थायी राज्य की स्थापना की। उसने मिश्र, जोर्डन (अब्दुल्ला) व ईराक (फैजल) से संधि कर स्थायी शान्ति की स्थापना की।

शिक्षा, आधुनिक संचार व्यवस्था, धर्म, उद्योग और पूंजी के पारस्परिक राज्यों में लगाए जाने ने अरब राष्ट्रों को एक दूसरे के निकट ला दिया और अरबवाद को प्रोत्साहित किया। इस सब के पीछे केन्द्रीय धुरी साउदी अरेबिया के इब्न साउद थे। जून 1926 में इब्न साउद ने मक्का में एक सम्मेलन तीर्थ यात्रियों की पूर्ण सुविधा के लिए आमंत्रित किया। इसमें 60 प्रतिनिधि थे जिसमें अरब राष्ट्रों के चार प्रतिनिधि मडल भी थे। 1931 में यरूशलम की इस्लामी कांग्रेस में ईसाई अरब व मुस्लिम अरबों ने संयुक्त रूप से भाग लिया। सितम्बर 1937 में सीरिया में ब्लुदान मे फिलिस्तीन आदि छ अरब राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया जिसमें फिलिस्तीन के विभाजन का प्रथम बार औपचारिक रूप से विरोध किया गया। सरकारी स्तर पर भी अरब राज्यों ने पारस्परिक सहयोग को बढ़ाने का प्रयत्न किया। अप्रैल 1936 में फैजल और इब्न साउद ने अरब भ्रातृत्व और मैत्री की एक विस्तृत संधि की जिसमें अन्य अरब राष्ट्रों के सम्मिलित होने की व्यवस्था थी। 1937 में मिश्र व साउदी अरेबिया में कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित हुए और यमन उपरोक्त संधि में सम्मिलित हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के समय अरब एकता ने एक नया मोड़ लिया जिसने 'अरब संघ' को जन्म दिया जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

फिलिस्तीन प्रश्न

दो युद्धों के मध्य फिलिस्तीन प्रश्न ने न केवल मध्य पूर्व वरन् समस्त विश्व का ध्यान आकर्षित कर लिया। यहाँ की जनसंख्या में दो प्रमुख नस्लें—यहूदी और अरब थीं। दोनों का ही इस क्षेत्र में ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्वार्थ था, जिसने दोनों में संघर्ष को जन्म दिया। कुछ बड़ी शक्तियां भी, जिनमें ब्रिटेन, फ्रांस व अमेरिका प्रमुख हैं, इस क्षेत्र में अपने हितों की रक्षा चाहती थीं: ब्रिटेन स्वेज नहर व साम्राज्य की संचार व्यवस्था बनाये रखने में रुचि रखता था; फ्रांस के पास

पहले ही उस क्षेत्र में सीरिया व लेबनान आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत थे; व तेल की खोज और अमेरिका के 50 लाख यहूदियों के जनमत को दृष्टि में रखते हुए अमेरिका ने इस क्षेत्र में रुचि लेनी प्रारम्भ की। फिलिस्तीन पर ब्रिटेन के आदिष्ट अधिकार व अमेरिका की सहानुभूति ने यहूदी राष्ट्रवाद को और अधिक प्रोत्साहित किया। ऐतिहासिक तथ्यों एवं यहूदियों की अनेक राष्ट्रों में शोचनीय स्थिति के कारण उनके एक राष्ट्र की माँग के प्रति विश्व के शिक्षित जनमत ने उदार दृष्टि अपनाई।

फिलिस्तीन में अरबों के दावे

अरबो ने फिलिस्तीन मे अपने दावे के लिए तीन प्रकार की दलीलें प्रस्तुत कीं (1) सातवी शताब्दी से ही (634 ई०) केवल 1098-1187 काल के अतिरिक्त निरन्तर फिलिस्तीन मे इस क्षेत्र में उनकी जनसंख्या 90 प्रतिशत थी। (2) दूसरे, मित्र राष्ट्रों के पक्ष मे तुर्की के विरुद्ध विजय प्राप्त करने से अरब राष्ट्रवादी, स्वतंत्रता के अधिकारी हो गए थे। (3) तीसरे हैजाज के शरीफ हुसैन के ब्रिटिश प्रोत्साहन से तुर्की के विरुद्ध विद्रोह करने पर काहिरा स्थित ब्रिटिश हाई कमिश्नर सर हैनरी मैकमोहन ने अक्टूबर 1915 में स्वतन्त्रता का लिखित आश्वासन दिया। इस घोषणा की नवम्बर 1918 में, आग्ल-फ्रांसीसी घोषणा द्वारा पुष्टि की गई। परन्तु मैकमोहन ने प्रस्तावित नवीन अरब राज्य में स्पष्ट रूप से फिलिस्तीन को सम्मिलित नहीं किया था और केवल इतना ही कहा था कि, "यह उस प्रदेश पर होगा जिस पर कि ब्रिटेन का पूर्ण स्वामित्व हो और जिससे कि फ्रांस के स्वार्थों की कोई हानि न हो"। मई 1916 मे साइक्सपीको सधि द्वारा—स्वतन्त्र अरब राज्यो का क्षेत्र, फ्रांस आधीन क्षेत्रों की सीमा एवं फिलिस्तीन को एक विशेष अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के आधीन करना निर्धारित किया गया।

यहूदियों की दलीलें

यहूदियों ने फिलिस्तीन की माँग दो आधार पर की (1) इस पवित्र भूमि के साथ उनका ऐतिहासिक संबंध और (2) दूसरे बालफोर घोषणा। 70 ई० में यरूशलम के विध्वंस के पश्चात् से ही यहूदी सम्प्रदाय के लोग सदा से ही फिलिस्तीन में बने रहे। इन लोगों में धर्म ग्रन्थों के आधार पर, दृढ़ विश्वास था—कि यहूदियों के प्रभुत्व की इस क्षेत्र मे पुनर्स्थापना होगी। उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम भाग में करोड़पति रौथचाइल्ड के प्रयासो से फिलिस्तीन मे यहूदियों की सात बस्तियाँ बसाई गई। थियोडोर हर्जेल ने 'एक यहूदी राज्य' पर पुस्तिका लिख कर राजनैतिक जियोनवाद अर्थात् फिलिस्तीन में यहूदी राष्ट्र के निर्माण के आन्दोलन को जन्म दिया। 1897 में हर्जेल के प्रयत्नों से 'विश्व जियोनवाद संगठन' की स्थापना हुई ताकि यहूदियों की कल्पना को साकार रूप दिया जा सके। इंग्लैंड मे प्रतिरक्षा विभाग के वैज्ञानिक डा० विजमैन ने 'ब्रिटिश पैलेस्टीन समिति' की स्थापना की। डाक्टर विजमैन अमेरिका के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश ब्रान्डिस व ब्रिटेन के मैन्चेस्टर

गार्डियन के पत्रकार सीडे वोथम ने फिलिस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना और उसके द्वारा स्वेज नहर की रक्षा की योजना प्रस्तुत की।

अरब-यहूदी संघर्ष

2 नवम्बर 1917 को ब्रिटिश विदेश-मंत्री लार्ड बालफोर ने रौथचाइल्ड को एक पत्र लिखा। इस पत्र में यहूदियों की अभिलाषाओं के प्रति ब्रिटिश सहानुभूति व्यक्त की गई थी। इस पत्र में स्पष्ट कहा गया था कि "यहूदियों को फिलिस्तीन में एक राष्ट्रीय घर की स्थापना के लिए आवश्यक सुविधा दी जायेगी परन्तु साथ ही गैर यहूदी सम्प्रदायों के नागरिक एवं धार्मिक अधिकारों पर कोई आंच नही आने दी जायगी।" इस घोषणा में अरबों का अप्रत्यक्ष उल्लेख यहूदियों के लिए कटुता का विषय बन गया। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि फिलिस्तीन में यहूदियों के 'एक राष्ट्रीय घर' की अवश्य व्यवस्था थी। किन्तु 'एक यहूदी राज्य' का कोई प्रबन्ध नहीं था। ब्रिटेन द्वारा 'राजनैतिक जियोनवाद' को सरकारी समर्थन न दिया जाना भी एक महत्वपूर्ण तत्व है।

मैकमोहन घोषणा की भांति बालफोर घोषणा भी एक युद्धकालीन निर्णय था। अतः दोनों पक्षों को संतुष्ट रखने की व्यवस्था की गई। यह घोषणा अमेरिका के समर्थन से की गई थी जिसका ध्येय सम्पत्तिशाली यहूदियों का सहयोग प्राप्त करना था। इस घोषणा मे ब्रिटेन के साम्राज्य की सुरक्षा का प्रश्न निहित था, अर्थात् स्वेज नहर के निकट ऐसे मैत्रीपूर्ण राज्य की स्थापना जिससे कि सामरिक महत्व का एक स्थायी अड्डा प्राप्त हो सके। ब्रिटेन स्थित जियोनवाद विरोधी यहूदियो की आपत्ति के बावजूद बालफोर घोषणा की गई थी। डाक्टर विजमैन के अथक प्रयासों का ही परिणाम था कि बालफोर घोषणा संभव हो सकी जो बाद मे चल कर इजराइल के निर्माण के प्रमुख आधारों मे से एक बनी।

प्रथम युद्ध के पश्चात् के पेरिस-शांति सम्मेलन मे अरबों व जियोनवादी यहूदियों के प्रतिनिधि क्रमशः अमीर फैजल व डाक्टर विजमैन थे। दोनों ने ही सम्मेलन में सहयोग की भावना प्रदर्शित की। डा० विजमैन ने कहा कि वे फिलिस्तीन को उसी प्रकार यहूदियों का बनाना चाहते हैं जिस प्रकार कि इंग्लैण्ड अंग्रेजों का है और अमेरिका अमेरिकियों का है। फैजल ने कहा कि यदि अलप्पो से मक्का (सीरिया से साऊदी अरेबिया) तक एक अरब राज्य की स्थापना हो तो उन्हें यहूदियों के एक छोटे राष्ट्रीय घर की स्थापना में आपत्ति नही होगी। उसका कहना था कि यहूदी रक्त की दृष्टि से अरबों के निकट हैं और अरब, नस्ल और धर्म के आधार पर रक्त-पात न चाहकर सामूहिक समृद्धि के इच्छुक है। परन्तु अरबों के एक राज्य की कल्पना को फ्रांसीसी जनरल गुराड द्वारा फैजल के देश निकाले ने, समाप्त कर दिया। किंग क्रेन कमीशन की रिपोर्ट की अवहेलना कर 1922 में फिलिस्तीन को आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत ब्रिटेन के आधीन कर दिया गया। इस समय यहाँ की जनसंख्या 7,56,000

थी। जिसमें 6 लाख मुस्लिम अरब, 83,000 यहूदी और 73,000 ईसाई थे। यह कार्य राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव की बाइसवीं धारा का उल्लंघन कर फिलिस्तीन के जनमत की परवाह किये बिना, किया गया था। ब्रिटेन और राष्ट्रसंघ के मध्य हुए आदिष्ट समझौते की धाराएं परस्पर विरोधी थी। धारा दो में ब्रिटेन से यह आशा की गई थी कि वह यहूदियों को एक राष्ट्रीय घर की स्थापना में प्रशासनिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सुविधाएं प्रदान करे। धारा छः के अनुसार गैर-यहूदियों के अधिकारों की सुरक्षा और यहूदियों के आवास की सुविधा प्रदान की जानी थी। इस प्रकार आदिष्ट समझौता आरंभ से अव्यवहारिक अथवा एकपक्षीय बना दिया गया था। प्रथम हाई कमिश्नर सर हर्बर्ट सैम्युएल ने एक सविधान प्रस्तुत किया (1922) जिसमे 22 सदस्यो की विधान परिषद (जिसमें 12 निर्वाचित—8 मुसलमान, 2 यहूदी, 2 ईसाई थे; व 10 मनोनीत) की व्यवस्था थी। अरबों ने इसका बहिष्कार किया और विवश होकर परामर्श समिति से ही काम चलाना पड़ा।

अरब और यहूदियों में तनाव बना रहा और अनेक उपद्रव हुए। आर्थिक लाभ यहूदियों का ही विशेष रहा। वे लोग धीरे-धीरे आर्थिक साधनों—उपजाऊ भूमि, बिजली घर, कारखाने, बड़े उद्योग, खनिज आदि पर हावी हो गये जो अरबों के लिए कटुता का विषय बन गया। 1922 में ब्रिटेन ने एक श्वेत-पत्र द्वारा अपनी नीति स्पष्ट करते हुए कहा कि ब्रिटेन की नीति यह नही है कि सपूर्ण फिलिस्तीन यहूदियो का हो जाय अथवा अरब जनता, भाषा एवं संस्कृति का लोप हो जाय और वह यहूदियों के अधीन हो जाय। इसी नीति में यह स्पष्ट कहा गया कि फिलिस्तीन में यहूदियों का वार्षिक आवास, उस वर्ष के उसके आर्थिक सामर्थ्य पर निर्भर होगा। इस सिद्धान्त के आधार पर प्रतिवर्ष यहूदियों के आवास की संख्या में वृद्धि होती गई। आगंतुक यहूदियों ने अच्छी से अच्छी उपजाऊ भूमि, 'यहूदी राष्ट्रीय राशि' व अन्य साधनों द्वारा खरीदनी और अरब श्रमिकों के साथ भेदभाव की नीति बरतनी आरम्भ की। अरब लोग प्रारम्भ में इस संवैधानिक व्यवस्था का गूढ़ अर्थ समझ न पाये किन्तु थोड़े ही समय बाद उन्होंने इसे ब्रिटिश-यहूदी संगठित आक्रमण कहा। फिलिस्तीन में ब्रिटिश नीति के तीन ध्येय थे—राष्ट्रसंघ के प्रति प्रत्यक्ष उत्तरदायित्वों का परिपालन, फिलिस्तीन स्थित अरब व यहूदियों के प्रति संतुलित नीति एवं बाह्य अरबो एवं यहूदियों के राजनीतिक दबावों एवं प्रभावों का ध्यान रखना।

यहूदी जितने व्यवस्थित एवं संगठित थे अरब उतने ही असंगठित। अरबों मे तीन प्रकार के समूह—खानाबदोश अरब (वेदुइन), 'फेलाहीन' अरब कृषक एवं नागरिक अरब थे। इनमें से अधिकांश निरक्षर थे जिनमे राजनीतिक चेतना और तकनीकी ज्ञान का अभाव था। इसलिये यहूदियों की तुलना में अरबों की शोचनीय स्थिति थी। यहूदियो में भी तीन श्रेणियां थी उग्र, उदारवादी एवं रूढ़िवादी पूर्वी यहूदी। उग्र और उदारवादी यहूदियों की नीति में अवश्य अंतर था किन्तु दोनों का ध्येय समस्त फिलिस्तीन को यहूदियों के नियंत्रण में लाना था। केवल पहले से बसे

गार्डियन के पत्रकार सीडे बोथम ने फिलिस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना और उसके द्वारा स्वेज नहर की रक्षा की योजना प्रस्तुत की।

अरब-यहूदी संघर्ष

2 नवम्बर 1917 को ब्रिटिश विदेश-मंत्री लार्ड बालफोर ने रौथचाइल्ड को एक पत्र लिखा। इस पत्र में यहूदियों की अभिलाषाओं के प्रति ब्रिटिश सहानुभूति व्यक्त की गई थी। इस पत्र में स्पष्ट कहा गया था कि "यहूदियों को फिलिस्तीन में एक राष्ट्रीय घर की स्थापना के लिए आवश्यक सुविधा दी जायेगी परन्तु साथ ही गैर यहूदी सम्प्रदायों के नागरिक एवं धार्मिक अधिकारो पर कोई आंच नही आने दी जायगी।" इस घोषणा में अरबों का अप्रत्यक्ष उल्लेख यहूदियों के लिए कटुता का विषय बन गया। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि फिलिस्तीन मे यहूदियों के 'एक राष्ट्रीय घर' की अवश्य व्यवस्था थी। किन्तु 'एक यहूदी राज्य' का कोई प्रबन्ध नहीं था। ब्रिटेन द्वारा 'राजनैतिक जियोनवाद' को सरकारी समर्थन न दिया जाना भी एक महत्वपूर्ण तत्व है।

मैकमोहन घोषणा की भांति बालफोर घोषणा भी एक युद्धकालीन निर्णय था। अतः दोनो पक्षों को संतुष्ट रखने की व्यवस्था की गई। यह घोषणा अमेरिका के समर्थन से की गई थी जिसका ध्येय सम्पत्तिशाली यहूदियों का सहयोग प्राप्त करना था। इस घोषणा में ब्रिटेन के साम्राज्य की सुरक्षा का प्रश्न निहित था, अर्थात् स्वेज नहर के निकट ऐसे मैत्रीपूर्ण राज्य की स्थापना जिससे कि सामरिक महत्व का एक स्थायी अड्डा प्राप्त हो सके। ब्रिटेन स्थित जियोनवाद विरोधी यहूदियो की आपत्ति के बावजूद बालफोर घोषणा की गई थी। डाक्टर विजमैन के अथक प्रयासों का ही परिणाम था कि बालफोर घोषणा सभव हो सकी जो बाद मे चल कर इजराइल के निर्माण के प्रमुख आधारों में से एक बनी।

प्रथम युद्ध के पश्चात् के पेरिस-शांति सम्मेलन में अरबो व जियोनवादी यहूदियों के प्रतिनिधि क्रमशः अमीर फैजल व डाक्टर बिजमैन थे। दोनों ने ही सम्मेलन में सहयोग की भावना प्रदर्शित की। डा० बिजमैन ने कहा कि वे फिलिस्तीन को उसी प्रकार यहूदियों का बनाना चाहते हैं जिस प्रकार कि इंग्लैण्ड अंग्रेजों का है और अमेरिका अमेरिकियों का है। फैजल ने कहा कि यदि अलप्पो से मक्का (सीरिया से साऊदी अरेबिया) तक एक अरब राज्य की स्थापना हो तो उन्हे यहूदियों के एक छोटे राष्ट्रीय घर की स्थापना मे आपत्ति नही होगी। उसका कहना था कि यहूदी रक्त की दृष्टि से अरबो के निकट है और अरब, नस्ल और धर्म के आधार पर रक्तपात न चाहकर सामूहिक समृद्धि के इच्छुक है। परन्तु अरबों के एक राज्य की कल्पना को फ्रांसीसी जनरल गुराड द्वारा फैजल के देश निकाले ने, समाप्त कर दिया। किंग क्रेन कमीशन की रिपोर्ट की अवहेलना कर 1922 में फिलिस्तीन को आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत ब्रिटेन के आधीन कर दिया गया। इस समय यहां की जनसंख्या 7,56,000

थी। जिसमें 6 लाख मुस्लिम अरब, 83,000 यहूदी और 73,000 ईसाई थे। यह कार्य राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव की बाइसवीं धारा का उल्लघन कर फिलिस्तीन के जनमत की परवाह किये बिना, किया गया था। ब्रिटेन और राष्ट्रसंघ के मध्य हुए आदिष्ट समझौते की धाराएं परस्पर विरोधी थी। धारा दो में ब्रिटेन से यह आशा की गई थी कि वह यहूदियों को एक राष्ट्रीय घर की स्थापना में प्रशासनिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सुविधाएं प्रदान करे। धारा छः के अनुसार गैर-यहूदियों के अधिकारों की सुरक्षा और यहूदियों के आवास की सुविधा प्रदान की जानी थी। इस प्रकार आदिष्ट समझौता आरंभ से अव्यवहारिक अथवा एकपक्षीय बना दिया गया था। प्रथम हाई कमिश्नर सर हर्बर्ट सैम्युएल ने एक सविधान प्रस्तुत किया (1922) जिसमें 22 सदस्यों की विधान परिषद (जिसमें 12 निर्वाचित—8 मुसलमान, 2 यहूदी, 2 ईसाई थे; व 10 मनोनीत) की व्यवस्था थी। अरबों ने इसका बहिष्कार किया और विवश होकर परामर्श समिति से ही काम चलाना पड़ा।

अरब और यहूदियों में तनाव बना रहा और अनेक उपद्रव हुए। आर्थिक लाभ यहूदियों का ही विशेष रहा। वे लोग धीरे-धीरे आर्थिक साधनों—उपजाऊ भूमि, बिजली घर, कारखाने, बड़े उद्योग, खनिज आदि पर हावी हो गये जो अरबों के लिए कटुता का विषय बन गया। 1922 में ब्रिटेन ने एक श्वेत-पत्र द्वारा अपनी नीति स्पष्ट करते हुए कहा कि ब्रिटेन की नीति यह नही है कि सपूर्ण फिलिस्तीन यहूदियों का हो जाय अथवा अरब जनता, भाषा एवं संस्कृति का लोप हो जाय और वह यहूदियों के अधीन हो जाय। इसी नीति में यह स्पष्ट कहा गया कि फिलिस्तीन में यहूदियों का वार्षिक आवास, उस वर्ष के उसके आर्थिक सामर्थ्य पर निर्भर होगा। इस सिद्धान्त के आधार पर प्रतिवर्ष यहूदियों के आवास की संख्या में वृद्धि होती गई। आगंतुक यहूदियों ने अच्छी से अच्छी उपजाऊ भूमि, 'यहूदी राष्ट्रीय राशि' व अन्य साधनों द्वारा खरीदनी और अरब श्रमिकों के साथ भेदभाव की नीति बरतनी आरम्भ की। अरब लोग प्रारम्भ में इस संवैधानिक व्यवस्था का गूढ़ अर्थ समझ न पाये किन्तु थोड़े ही समय बाद उन्होंने इसे ब्रिटिश-यहूदी सगठित आक्रमण कहा। फिलिस्तीन मे ब्रिटिश नीति के तीन ध्येय थे—राष्ट्रसंघ के प्रति प्रत्यक्ष उत्तरदायित्वो का परिपालन, फिलिस्तीन स्थित अरब व यहूदियों के प्रति संतुलित नीति एवं बाह्य अरबों एवं यहूदियों के राजनीतिक दबावों एवं प्रभावों का ध्यान रखना।

यहूदी जितने व्यवस्थित एवं सगठित थे अरब उतने ही असगठित। अरबों में तीन प्रकार के समूह—खानाबदोश अरब (बेदुइन), 'फेलाहीन' अरब कृषक एवं नागरिक अरब थे। इनमें से अधिकांश निरक्षर थे जिनमें राजनीतिक चेतना और तकनीकी ज्ञान का अभाव था। इसलिये यहूदियों की तुलना में अरबों की शोचनीय स्थिति थी। यहूदियो में भी तीन श्रेणियां थीं उग्र, उदारवादी एवं रूढिवादी पूर्वी यहूदी। उग्र और उदारवादी यहूदियों की नीति में अवश्य अंतर था किन्तु दोनों का ध्येय समस्त फिलिस्तीन को यहूदियों के नियंत्रण में लाना था। केवल पहले से बसे

गार्डियन के पत्रकार सीडे बोथम ने फिलिस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना और उसके द्वारा स्वेज नहर की रक्षा की योजना प्रस्तुत की।

अरब-यहूदी संघर्ष

2 नवम्बर 1917 को ब्रिटिश विदेश-मंत्री लार्ड बालफोर ने रौथचाइल्ड को एक पत्र लिखा। इस पत्र में यहूदियो की अभिलाषाओं के प्रति ब्रिटिश सहानुभूति व्यक्त की गई थी। इस पत्र मे स्पष्ट कहा गया था कि "यहूदियों को फिलिस्तीन में एक राष्ट्रीय घर की स्थापना के लिए आवश्यक सुविधा दी जायेगी परन्तु साथ ही गैर यहूदी सम्प्रदायों के नागरिक एवं धार्मिक अधिकारों पर कोई आंच नही आने दी जायगी।" इस घोषणा में अरबों का अप्रत्यक्ष उल्लेख यहूदियो के लिए कटुता का विषय बन गया। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि फिलिस्तीन में यहूदियों के 'एक राष्ट्रीय घर' की अवश्य व्यवस्था थी। किन्तु 'एक यहूदी राज्य' का कोई प्रबन्ध नही था। ब्रिटेन द्वारा 'राजनैतिक जियोनवाद' को सरकारी समर्थन न दिया जाना भी एक महत्वपूर्ण तत्व है।

मैकमोहन घोषणा की भांति बालफोर घोषणा भी एक युद्धकालीन निर्णय था। अतः दोनों पक्षों को संतुष्ट रखने की व्यवस्था की गई। यह घोषणा अमेरिका के समर्थन से की गई थी जिसका ध्येय सम्पत्तिशाली यहूदियों का सहयोग प्राप्त करना था। इस घोषणा में ब्रिटेन के साम्राज्य की सुरक्षा का प्रश्न निहित था, अर्थात् स्वेज नहर के निकट ऐसे मैत्रीपूर्ण राज्य की स्थापना जिससे कि सामरिक महत्व का एक स्थायी अड्डा प्राप्त हो सके। ब्रिटेन स्थित जियोनवाद विरोधी यहूदियो की आपत्ति के बावजूद बालफोर घोषणा की गई थी। डाक्टर बिजमैन के अथक प्रयासों का ही परिणाम था कि बालफोर घोषणा संभव हो सकी जो बाद मे चल कर इजराइल के निर्माण के प्रमुख आधारों में से एक बनी।

प्रथम युद्ध के पश्चात् के पेरिस-शांति सम्मेलन मे अरबों व जियोनवादी यहूदियों के प्रतिनिधि क्रमशः अमीर फैजल व डाक्टर बिजमैन थे। दोनों ने ही सम्मेलन में सहयोग की भावना प्रदर्शित की। डा० बिजमैन ने कहा कि वे फिलिस्तीन को उसी प्रकार यहूदियों का बनाना चाहते है जिस प्रकार कि इंग्लैण्ड अंग्रेजों का है और अमेरिका अमेरिकियों का है। फैजल ने कहा कि यदि अलप्पो से मक्का (सीरिया से साऊदी अरेबिया) तक एक अरब राज्य की स्थापना हो तो उन्हें यहूदियों के एक छोटे राष्ट्रीय घर की स्थापना मे आपत्ति नही होगी। उसका कहना था कि यहूदी रक्त की दृष्टि से अरबों के निकट है और अरब, नस्ल और धर्म के आधार पर रक्त-पात न चाहकर सामूहिक समृद्धि के इच्छुक हैं। परन्तु अरबो के एक राज्य की कल्पना को फ्रांसीसी जनरल गुराड द्वारा फैजल के देश निकाले ने, समाप्त कर दिया। किंग क्रेन कमीशन की रिपोर्ट की अवहेलना कर 1922 में फिलिस्तीन को आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत ब्रिटेन के आधीन कर दिया गया। इस समय यहां की जनसंख्या 7,56,000

थी। जिसमें 6 लाख मुस्लिम अरब, 83,000 यहूदी और 73,000 ईसाई थे। यह कार्य राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव की बाइसवीं धारा का उल्लघन कर फिलिस्तीन के जनमत की परवाह किये बिना, किया गया था। ब्रिटेन और राष्ट्रसंघ के मध्य हुए आदिष्ट समझौते की धाराएं परस्पर विरोधी थी। धारा दो में ब्रिटेन से यह आशा की गई थी कि वह यहूदियों को एक राष्ट्रीय घर की स्थापना में प्रशासनिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सुविधाएं प्रदान करे। धारा छः के अनुसार गैर-यहूदियों के अधिकारों की सुरक्षा और यहूदियों के आवास की सुविधा प्रदान की जानी थी। इस प्रकार आदिष्ट समझौता आरंभ से अव्यवहारिक अथवा एकपक्षीय बना दिया गया था। प्रथम हाई कमिश्नर सर हर्बर्ट सैम्युएल ने एक सविधान प्रस्तुत किया (1922) जिसमें 22 सदस्यों की विधान परिषद (जिसमें 12 निर्वाचित—8 मुसलमान, 2 यहूदी, 2 ईसाई थे; व 10 मनोनीत) की व्यवस्था थी। अरबों ने इसका बहिष्कार किया और विवश होकर परामर्श समिति से ही काम चलाना पड़ा।

अरब और यहूदियों में तनाव बना रहा और अनेक उपद्रव हुए। आर्थिक लाभ यहूदियों का ही विशेष रहा। वे लोग धीरे-धीरे आर्थिक साधनों—उपजाऊ भूमि, बिजली घर, कारखाने, बडे उद्योग, खनिज आदि पर हावी हो गये जो अरबों के लिए कटुता का विषय बन गया। 1922 में ब्रिटेन ने एक श्वेत-पत्र द्वारा अपनी नीति स्पष्ट करते हुए कहा कि ब्रिटेन की नीति यह नहीं है कि संपूर्ण फिलिस्तीन यहूदियों का हो जाय अथवा अरब जनता, भाषा एवं संस्कृति का लोप हो जाय और वह यहूदियों के अधीन हो जाय। इसी नीति में यह स्पष्ट कहा गया कि फिलिस्तीन में यहूदियों का वार्षिक आवास, उस वर्ष के उसके आर्थिक सामर्थ्य पर निर्भर होगा। इस सिद्धान्त के आधार पर प्रतिवर्ष यहूदियों के आवास की सख्या में वृद्धि होती गई। आगंतुक यहूदियों ने अच्छी से अच्छी उपजाऊ भूमि, 'यहूदी राष्ट्रीय राशि' व अन्य साधनों द्वारा खरीदनी और अरब श्रमिकों के साथ भेदभाव की नीति बरतनी आरम्भ की। अरब लोग प्रारम्भ में इस संवैधानिक व्यवस्था का गूढ अर्थ समझ न पाये किन्तु थोड़े ही समय बाद उन्होंने इसे ब्रिटिश-यहूदी सगठित आक्रमण कहा। फिलिस्तीन में ब्रिटिश नीति के तीन ध्येय थे—राष्ट्रसंघ के प्रति प्रत्यक्ष उत्तरदायित्वों का परिपालन, फिलिस्तीन स्थित अरब व यहूदियों के प्रति संतुलित नीति एवं बाह्य अरबों एवं यहूदियो के राजनीतिक दबावों एवं प्रभावों का ध्यान रखना।

यहूदी जितने व्यवस्थित एवं संगठित थे अरब उतने ही असंगठित। अरबों मे तीन प्रकार के समूह—खानाबदोश अरब (बेदुइन), 'फेलाहीन' अरब कृषक एव नागरिक अरब थे। इनमें से अधिकांश निरक्षर थे जिनमें राजनीतिक चेतना और तकनीकी ज्ञान का अभाव था। इसलिये यहूदियों की तुलना में अरबों की शोचनीय स्थिति थी। यहूदियो में भी तीन श्रेणियां थी उग्र, उदारवादी एवं रूढ़िवादी पूर्वी यहूदी। उग्र और उदारवादी यहूदियों की नीति में अवश्य अंतर था किन्तु दोनों का ध्येय समस्त फिलिस्तीन को यहूदियों के नियंत्रण में लाना था। केवल पहले से बसे

गार्डियन के पत्रकार सीडे बोयम ने फिलिस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना और उसके द्वारा स्वेज नहर की रक्षा की योजना प्रस्तुत की।

अरब-यहूदी संघर्ष

2 नवम्बर 1917 को ब्रिटिश विदेश-मंत्री लार्ड बालफोर ने रौथचाइल्ड को एक पत्र लिखा। इस पत्र में यहूदियों की अभिलाषाओं के प्रति ब्रिटिश सहानुभूति व्यक्त की गई थी। इस पत्र मे स्पष्ट कहा गया था कि "यहूदियों को फिलिस्तीन में एक राष्ट्रीय घर की स्थापना के लिए आवश्यक सुविधा दी जायेगी परन्तु साथ ही गैर यहूदी सम्प्रदायों के नागरिक एवं धार्मिक अधिकारों पर कोई आच नही आने दी जायगी।" इस घोषणा में अरबों का अप्रत्यक्ष उल्लेख यहूदियों के लिए कटुता का विषय बन गया। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि फिलिस्तीन मे यहूदियों के 'एक राष्ट्रीय घर' की अवश्य व्यवस्था थी। किन्तु 'एक यहूदी राज्य' का कोई प्रबन्ध नहीं था। ब्रिटेन द्वारा 'राजनैतिक जियोनवाद' को सरकारी समर्थन न दिया जाना भी एक महत्वपूर्ण तत्व है।

मैकमोहन घोषणा की भांति बालफोर घोषणा भी एक युद्धकालीन निर्णय था। अत. दोनों पक्षो को संतुष्ट रखने की व्यवस्था की गई। यह घोषणा अमेरिका के समर्थन से की गई थी जिसका ध्येय सम्पत्तिशाली यहूदियों का सहयोग प्राप्त करना था। इस घोषणा में ब्रिटेन के साम्राज्य की सुरक्षा का प्रश्न निहित था, अर्थात् स्वेज नहर के निकट ऐसे मैत्रीपूर्ण राज्य की स्थापना जिससे कि सामरिक महत्व का एक स्थायी अड्डा प्राप्त हो सके। ब्रिटेन स्थित जियोनवाद विरोधी यहूदियो की आपत्ति के बावजूद बालफोर घोषणा की गई थी। डाक्टर बिजमैन के अथक प्रयासों का ही परिणाम था कि बालफोर घोषणा संभव हो सकी जो बाद मे चल कर इजराइल के निर्माण के प्रमुख आधारों मे से एक बनी।

प्रथम युद्ध के पश्चात् के पेरिस-शांति सम्मेलन मे अरबों व जियोनवादी यहूदियो के प्रतिनिधि क्रमशः अमीर फैजल व डाक्टर बिजमैन थे। दोनों ने ही सम्मेलन में सहयोग की भावना प्रदर्शित की। डा० बिजमैन ने कहा कि वे फिलिस्तीन को उसी प्रकार यहूदियो का बनाना चाहते हैं जिस प्रकार कि इग्लैण्ड अंग्रेजों का है और अमेरिका अमेरिकियों का है। फैजल ने कहा कि यदि अलप्पो से मक्का (सीरिया से साऊदी अरेबिया) तक एक अरब राज्य की स्थापना हो तो उन्हें यहूदियों के एक छोटे राष्ट्रीय घर की स्थापना मे आपत्ति नही होगी। उसका कहना था कि यहूदी रक्त की दृष्टि से अरबों के निकट है और अरब, नस्ल और धर्म के आधार पर रक्त-पात न चाहकर सामूहिक समृद्धि के इच्छुक हैं। परन्तु अरबों के एक राज्य की कल्पना को फ्रांसीसी जनरल गुराड द्वारा फैजल के देश निकाले ने, समाप्त कर दिया। किंग क्रेन कमीशन की रिपोर्ट की अवहेलना कर 1922 में फिलिस्तीन को आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत ब्रिटेन के आधीन कर दिया गया। इस समय यहां की जनसंख्या 7,56,000

थी। जिसमें 6 लाख मुस्लिम अरब, 83,000 यहूदी और 73,000 ईसाई थे। यह कार्य राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव की बाइसवी धारा का उल्लंघन कर फिलिस्तीन के जनमत की परवाह किये बिना, किया गया था। ब्रिटेन और राष्ट्रसंघ के मध्य हुए आदिष्ट समझौते की धाराएं परस्पर विरोधी थीं। धारा दो में ब्रिटेन से यह आशा की गई थी कि वह यहूदियों को एक राष्ट्रीय घर की स्थापना में प्रशासनिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सुविधाएं प्रदान करे। धारा छः के अनुसार गैर-यहूदियों के अधिकारों की सुरक्षा और यहूदियों के आवास की सुविधा प्रदान की जानी थी। इस प्रकार आदिष्ट समझौता आरंभ से अव्यवहारिक अथवा एकपक्षीय बना दिया गया था। प्रथम हाई कमिश्नर सर हर्बर्ट सैम्युएल ने एक संविधान प्रस्तुत किया (1922) जिसमें 22 सदस्यों की विधान परिषद (जिसमे 12 निर्वाचित—8 मुसलमान, 2 यहूदी, 2 ईसाई थे; व 10 मनोनीत) की व्यवस्था थी। अरबों ने इसका बहिष्कार किया और विवश होकर परामर्श समिति से ही काम चलाना पड़ा।

अरब और यहूदियों में तनाव बना रहा और अनेक उपद्रव हुए। आर्थिक लाभ यहूदियों का ही विशेष रहा। वे लोग धीरे-धीरे आर्थिक साधनों—उपजाऊ भूमि, बिजली घर, कारखाने, बड़े उद्योग, खनिज आदि पर हावी हो गये जो अरबों के लिए कटुता का विषय बन गया। 1922 में ब्रिटेन ने एक श्वेत-पत्र द्वारा अपनी नीति स्पष्ट करते हुए कहा कि ब्रिटेन की नीति यह नहीं है कि संपूर्ण फिलिस्तीन यहूदियों का हो जाय अथवा अरब जनता, भाषा एवं संस्कृति का लोप हो जाय और वह यहूदियों के अधीन हो जाय। इसी नीति में यह स्पष्ट कहा गया कि फिलिस्तीन में यहूदियों का वार्षिक आवास, उस वर्ष के उसके आर्थिक सामर्थ्य पर निर्भर होगा। इस सिद्धान्त के आधार पर प्रतिवर्ष यहूदियों के आवास की संख्या में वृद्धि होती गई। आगंतुक यहूदियों ने अच्छी से अच्छी उपजाऊ भूमि, 'यहूदी राष्ट्रीय राशि' व अन्य साधनों द्वारा खरीदनी और अरब श्रमिकों के साथ भेदभाव की नीति बरतनी आरम्भ की। अरब लोग प्रारम्भ में इस संवैधानिक व्यवस्था का गूढ़ अर्थ समझ न पाये किन्तु थोड़े ही समय बाद उन्होंने इसे ब्रिटिश-यहूदी संगठित आक्रमण कहा। फिलिस्तीन में ब्रिटिश नीति के तीन ध्येय थे—राष्ट्रसंघ के प्रति प्रत्यक्ष उत्तरदायित्वों का परिपालन, फिलिस्तीन स्थित अरब व यहूदियों के प्रति संतुलित नीति एवं बाह्य अरबों एवं यहूदियों के राजनीतिक दबावों एवं प्रभावों का ध्यान रखना।

यहूदी जितने व्यवस्थित एवं संगठित थे अरब उतने ही असंगठित। अरबों मे तीन प्रकार के समूह—खानाबदोश अरब (बेदुइन), 'फेलाहीन' अरब कृषक एवं नागरिक अरब थे। इनमें से अधिकांश निरक्षर थे जिनमें राजनीतिक चेतना और तकनीकी ज्ञान का अभाव था। इसलिये यहूदियों की तुलना में अरबों की शोचनीय स्थिति थी। यहूदियों में भी तीन श्रेणियां थी उग्र, उदारवादी एवं रूढ़िवादी पूर्वी यहूदी। उग्र और उदारवादी यहूदियों की नीति में अवश्य अंतर था किन्तु दोनों का ध्येय समस्त फिलिस्तीन को यहूदियों के नियंत्रण में लाना था। केवल पहले से बसे

20 प्रतिशत पूर्वी रूढ़िवादी यहूदी अरबों की मैत्री और सह-अस्तित्व के इच्छुक थे। ब्रिटेन के तीन हाई कमिश्नरों—सर हर्बर्ट सैम्युएल (1920-28) लार्ड प्लूमर (1928-32) एवं सर रोनाल्ड स्टोर्स (1933-1939) के समय फिलिस्तीन समृद्धशाली हो गया। इस सबके पीछे यहूदियों का कठोर श्रम और उनका आधुनिक विज्ञान से परिचय था। उन्होंने गेहूँ, तम्बाकू व नीबू-प्रजातीय फलों का उत्पादन किया व संचार बैंकिंग, जोर्डन मे सिंचाई, मृत सागर से पोटाश और ब्रोमाइड का उत्पादन, सहकारी समितियों की स्थापना, एवं दियासलाई, सीमेन्ट और वनस्पति तेल के कारखानों की स्थापना कर और व्यापारिक सुविधाओं को बढ़ाकर देश को संपन्न बना दिया। इस काल में देश मे आय-व्यय में समन्वय रहा। देश में समृद्धि के कारण बेगार का कोई प्रश्न नही रहा। तेलअवीव जो कि संसार मे यहूदियों का एक मात्र नगर था, की जनसंख्या 14 वर्ष मे (1922 से 1936) दस गुनी बढ गई।

मातम दीवार की घटना

24 सितम्बर 1928 को यरूशलम में यहूदी प्रायश्चित दिवस के समय मातम दीवार की दुःखद घटना घटी। यह दीवार उस मन्दिर का अवशेष थी जो सोलोमन के समय से चली आ रही थी और राजा हैरोड ने जिसकी मरम्मत कराई थी (20 ई० पू०)। यह यहूदियों का एक प्राचीन स्मृति चिह्न था। प्राचीन मन्दिर की केवल यह दीवार बची थी और उसके चबूतरे पर अब दो मस्जिदें—गोल चोटी एवं अल अक्सा बनी हुई थीं जो अपने महत्व में मक्का और मदीना के बाद तीसरे नम्बर पर थीं। तुर्कों ने यहूदियों को प्रायश्चित दिवस पर दीवार तक पहुँचने और प्रार्थना करने का अधिकार दे रखा था किन्तु उन्हें पर्दे, फर्नीचर आदि लगाने का कोई अधिकार नही था। इस बार यहूदियों ने स्त्री-पुरुषों को पृथक् करने के लिये पर्दे का प्रयोग किया था जिसे ब्रिटिश अधिकारियों ने हटा दिया। इस घटना के पश्चात् यहूदियों व अरबों ने परस्पर विरोधी आन्दोलन प्रारंभ कर दिया। लगभग 11 महीने पश्चात् 15 अगस्त 1929 को यहूदियों ने मातम दीवार तक जलूस निकाले। दूसरे दिन अरबों ने मस्जिद तक पद यात्रा की। साथ ही अरबों ने यहूदियों की 6 बस्तियों को जला दिया और 133 यहूदी मारे गये। 116 से अधिक अरब भी मारे गये। ब्रिटेन की मैकडोनाल्ड सरकार ने अतिरिक्त सेना भेजकर शांति स्थापित की। राष्ट्रसंघ के स्थायी आदिष्ट आयोग ने ब्रिटेन की कटु आलोचना करते हुए कहा कि अरबों का यह आन्दोलन केवल ब्रिटेन के विरुद्ध न होकर यहूदियों के विरुद्ध भी था और ब्रिटेन के सुरक्षा व व्यवस्था संबंधी पर्याप्त प्रबंध के अभाव में यह दुर्घटना हुई और ब्रिटेन आदिष्ट शासन में असफल रहा। ब्रिटेन ने उपद्रव के कारणों की जांच के लिये शॉ-कमीशन की नियुक्ति की। कमीशन ने बताया कि अरबों में राजनैतिक आकांक्षाओं के पूर्ण न होने व अनिश्चित आर्थिक भविष्य के कारण यहूदियों के प्रति वैर एवं शत्रु-भाव हैं और यही उपद्रवों

का कारण था। कमीशन ने आगे बताया कि चबूतरा एवं दीवारें मुसलमानों की सम्पत्ति है किन्तु कुछ प्रतिबंधों के साथ यहूदियों को दीवार तक पहुंचने का अधिकार होना चाहिये। कमीशन ने चार महत्वपूर्ण सिफारिशें कीं : (i) फिलिस्तीन में गैर-यहूदियों के हितों की रक्षा-नीति को स्पष्ट किया जाय। (ii) यहूदियों की आवास संबंधी सुविधा पर इस प्रकार नियंत्रण रखा जाय कि वह फिलिस्तीन में बेकारी न बढ़ा दे और इस विषय पर समय-समय पर अरब प्रतिनिधियों से भी परामर्श लिया जाय। (iii) इस बात को स्पष्ट कर दिया जाय कि जियोनवादी संगठन को जो विशेष सुविधायें दी गई हैं, उससे उसे कोई प्रशासकीय अधिकार प्राप्त नहीं हो जाते और (iv) एक विशेषज्ञ, अरब कृषि प्रणाली में सुधार संभावनाओं की जांच करे और भूमि नीति की स्पष्ट व्याख्या की जाय।

उपरोक्त सिफारिशों के आधार पर मई 1930 में 2,000 यहूदियों, जिनको पहले ही परमिट दिये जा चुके थे, का आना अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दिया गया। कृषि संबंधी जांच-पड़ताल के लिये सर जॉन होप-सिम्पसन को भेजा गया। अक्टूबर 1930 में इन्होंने अपनी रिपोर्ट में बताया कि विकास-कर दिये जाने के पश्चात्—20,000 और परिवारों को यहां बसने की सुविधा दी जा सकती है किन्तु विकास होने तक आवास बंद रहे। इन रिपोर्टों के आधार पर तात्कालिक ब्रिटिश उपनिवेश मंत्री पैसफील्ड ने इसी वर्ष पुनः श्वेत-पत्र प्रकाशित किया। इसमें कहा गया कि यहूदियों की फिलिस्तीन में 'आवास संख्या' सीमित कर दी जायेगी। दूसरे, यहूदियों की आवास-क्रम के पश्चात् से लगभग ढाई लाख एकड़ भूमि अरबों से यहूदियों को हस्तांतरित हुई है, अब एक विकास विभाग खोलकर भूमिहीन अरब कृषकों को भूमि देने में प्राथमिकता दी जायेगी। ब्रिटेन की इस नीति से अरबों को तो संतोष हुआ किन्तु यहूदी क्रुद्ध हो गये। उन्होंने कहा कि यह नीति अन्यायपूर्ण एवं विश्वास-घाती है और इसने बालफोर घोषणा का उल्लंघन किया है। डा० बिजमैन, जो कि विश्व जियोनवादी संगठन के सभापति थे, ने पदत्याग कर दिया। उन्होंने कहा कि यह फिलिस्तीन में आदिष्ट प्रणाली लागू होने के समय दिये गये विश्वासों का हनन है। बिजमैन को, एक पत्र में मैकडोनाल्ड ने ब्रिटिश श्वेत पत्र पर टिप्पणी करते हुए फरवरी, 1931 में लिखा कि "ब्रिटेन न तो यहूदियों के आवास पर और न ही उनके भूमि-क्रय पर कोई नियंत्रण लगाना चाहता है बशर्ते कि इनसे गैर-यहूदी हितों की कोई हानि न हो।" इस पत्र को अरबों ने "काला पत्र" कहा और वे भविष्य के विषय में हताश हो गये। किन्तु फिर भी ब्रिटेन ने कहा कि फिलिस्तीन का भविष्य दोनों के पारस्परिक समझौते और ऐच्छिक सहयोग पर ही निर्भर है। वास्तविकता यह है कि श्वेत-पत्र में अरबों को जिस भूमि के हस्तान्तरण की सुविधा का उल्लेख था, उसे कभी क्रियान्वित ही नहीं किया गया।

1932 मे 1936 के मध्य अरब-यहूदी समस्या, फिलिस्तीन में अधिक यहूदियों के आवास, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति और अरबों के स्वायत्त-शासन की मांग से और अधिक गम्भीर हो गई। 1932 में आवास प्रतिबन्ध उठा लिया गया और फिलिस्तीन में 1,000 यहूदी आये। 1933 में नाजीवाद के उदय और यहूदियों के बहिष्कार के कारण 30,000 यहूदियों ने आवास किया। 1934 मे 42,500 और 1935 में यह सख्या 62,000 थी। इन संख्याओं में गैर-अधिकृत आवास सम्मिलित नहीं है। 1929 से 1932 तक आवास संख्या 23,821 थी जबकि 1933 से 1935 में 1,34,500। अरबों का यह कहना था कि यदि यह नीति जारी रही तो अगले 12 वर्षों में अरबों और यहूदियों की फिलिस्तीन में सख्या समान हो जायेगी। यहूदियों के निरंतर आवास से अरब न केवल हताश हुए, भूमि के निरतर क्रय से 4,000 और अरब भूमिहीन हो गये।

अतर्राष्ट्रीय परिस्थिति ने भी फिलिस्तीन समस्या पर प्रभाव डाला। सीरिया में फ्रास विरोधी व्यापक आन्दोलन, मिश्र को स्वतन्त्रता प्राप्ति और इथोपिया पर इटली के आक्रमण ने अरबो को यह स्पष्ट कर दिया कि फिलिस्तीन समस्या बल प्रयोग से ही हल हो सकती है, वार्ता से नहीं। नवम्बर 1935 में अरबों ने ब्रिटिश सरकार को एक 'आवेदन पत्र' दिया जिसमे उन्होंने मांग की :(1) लोकतांत्रिक शासन की स्थापना, (2) यहूदियों के भूमि क्रय पर रोक एवं (3) आवास नियमों में संशोधन। अत. फिलिस्तीन प्रशासन ने एक सविधान प्रस्तुत किया जिसका अरबों ने यह कहकर कि यह लोकतान्त्रिक नहीं है और यहूदियों ने यह कहकर कि यह अत्याधिक प्रजातांत्रिक है, विरोध किया। यरूशलम के मुफ्ती, हाजी अमीन अफेंदी अल हुसैनी के नेतृत्व में एक अरब उच्च समिति का अरबों के हितों की रक्षा के लिये निर्माण किया गया। सीरिया के एक सैनिक अलकवाकजी को इन्होने अपना सेनापति नियुक्त किया। अप्रैल 1936 मे एक राजनीतिक हड़ताल और अरब-यहूदी संघर्ष प्रारम्भ हो गया। यह सघर्ष छ: महीने तक चलता रहा जिसमे 800 अरब एवं 400 यहूदी मारे गये। अक्टूबर 1936 में ईराक, यमन और जोर्डन ने अरबो की अधिक हानि की स्थिति में संघर्ष के अन्त करने व शांति स्थापना पर जोर दिया। अत: ब्रिटेन ने सघर्ष के कारणों का पता लगाने के लिये "पील कमीशन" की नियुक्ति की। इस कमीशन ने 8 महीने तक कठिन परिश्रम कर जुलाई 1937 मे प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इसने निष्पक्ष और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण से समस्या का मौलिक अध्ययन कर महत्वपूर्ण सामग्री एकत्रित की। अशांति के अतर्निहित कारणों के विषय मे कमीशन ने बताया कि ये वही थे जो कि 1929,31,33 के उपद्रवों के थे। अर्थात् अरबो की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की मांग और यहूदियों के राष्ट्रीय घर के प्रति 'घृणा और भय'। 1922 में यहूदियो की जो संख्या 11 प्रतिशत थी वह 1937 में बढकर 28 प्रतिशत हो गई। कमीशन ने कहा, "बीस वर्ष पूर्व जो उत्तरदायित्व ब्रिटेन ने फिलिस्तीन मे लिया था, वह अरब और यहूदियों के

लिये बेमेल रहा और जहाँ तक हम भविष्य में देख सकते हैं यह संघर्ष चलता ही रहेगा·········हम दोनों को ही, समस्त फिलिस्तीन का शासन सौंपने में असमर्थ हैं क्योंकि कोई भी निष्पक्ष शासन नही कर सकता है।" कमीशन ने अनेक सुझाव रखे जैसे, अरबों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व, अरबों की भूमि के हस्तान्तरण पर रोक, यहूदियों का आवास, 'आर्थिक साधनों के अनुकूल होने' के अतिरिक्त एक उच्च स्तरीय राजनीतिक समझौते के आधार पर हो जिसके अतर्गत 12,000 यहूदी प्रतिवर्ष पांच वर्ष के लिये आवास प्राप्त कर सकें। समाचार-पत्रों पर नियंत्रण, अरबों में शिक्षा व सहकारिता का विकास। किन्तु कमीशन का सबसे अधिक क्रान्तिकारी सुझाव था दो स्वतन्त्र प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्रों में फिलिस्तीन का विभाजन। नया यहूदी राज्य फिलिस्तीन के एक चौथाई भाग का होगा। अरब राज्य फिलिस्तीन के लगभग आधे भाग में होगा परन्तु जोर्डन के साथ फिलिस्तीन होगा। शेष क्षेत्र ब्रिटेन के अधिकार में होगा जिसमें यरूशलम से जेफ्फा बन्दरगाह तक का क्षेत्र और पवित्र नगर तथा बैथलेहम, नाजरथ आदि सम्मिलित होंगे। यदि यह सुझाव स्वीकृत न हो तो उस परिस्थिति मे दूसरा सुझाव यह था कि फिलिस्तीन को एक सघीय शासन के अन्तर्गत स्वशासित अरब एवं यहूदी इकाइयों मे बांट दिया जाय। यहूदी एवं अरब दोनों राज्य राष्ट्रसघ के सदस्य बनेंगे किन्तु ब्रिटेन के साथ उनकी पृथक् सधि होगी।

पील कमीशन की रिपोर्ट की चारों ओर से बड़ी आलोचना हुई। अरबों ने निन्दा करते हुए यह आरोप लगाया कि इस रिपोर्ट के अन्तर्गत सर्वाधिक उपजाऊ भूमि यहूदियों को बजर भूमि अरबों को दी गई है। यहूदियो का कहना था कि उनके लिये निर्धारित क्षेत्र में 2,25,000 अरब होंगे और उनकी जनसंख्या का 53 प्रतिशत होगा जो कि अस्थायी बहुमत होगा। भूतपूर्व ब्रिटिश हाई कमिश्नर हर्बर्ट सैम्युएल ने इस रिपोर्ट की आलोचना करते हुये कहा, "इसमे एक सार, एक पोलिश-गलियारा और आधी दर्जन मेमल और डानजिग की व्यवस्था है जिसके उपरान्त भी अवांछित अल्प-संख्यक दोनों राज्यों में रह ही जायेंगे।"

इस रिपोर्ट के साथ ही अरबों ने हिंसात्मक कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। सितम्बर 1937 मे सीरिया के ब्लुदान मे एक अरब राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ जिसमें यहूदियों के राष्ट्रीय घर की नीति, आवास और भूमि की समाप्ति व पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग की गई। इसी समय गैलीली के ब्रिटिश जिले कमिश्नर, जिसे विभाजन की योजना का जनक समझा जाता था, अरब आतंकवादियों ने हत्या कर दी। फलस्वरूप अरब उच्च समिति को समाप्त और पांच बड़े अरब नेताओं को निर्वासित कर दिया गया। यरूशलम के महान मुफ्ती को पदच्युत कर दिया गया, जो कि भेष बदलकर लेबनान भाग गया। जमाल-अल-हुसैनी सीरिया भाग गया, उसने मुफ्ती से गुप्त सम्बन्ध स्थापित किया और इटली और जर्मन से अस्त्र-शस्त्र खरीद कर ब्रिटेन विरोधी अरब विद्रोहियों की आर्थिक एवं शस्त्राशस्त्र द्वारा सहायता की। 1938 में 5,700 आतंकवादी घटनाएं

घटी जो कि पिछले वर्ष से 15 गुनी अधिक थी, जिसमें 3,717 व्यक्ति मारे गये और सैनिक न्यायालयों ने 100 अरबों को प्राणदण्ड दिया। विद्रोह मई 1939 तक चलता रहा।

वुड हैड आयोग

इस प्रकार के वातावरण में ब्रिटेन ने इस समस्या को राष्ट्रसंघ को सौंप दिया। राष्ट्रसंघ ने एक बार और सम्पूर्ण समस्या के अध्ययन की सिफारिश की। 1938 में सर जॉन वुड हैड से कहा गया कि वे पील कमीशन की रिपोर्ट की अपेक्षा एक और 'विस्तृत एव सुनिश्चित' रिपोर्ट प्रस्तुत करें। अक्टूबर 1938 में प्रस्तुत की गई रिपोर्ट मे इन्होंने विभाजन का विरोध कर कहा कि यहूदी और अरब इकाइयों को एक सघीय अर्थ-व्यवस्था के अतर्गत रखा जाय। अरब व यहूदी इकाइयां राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होंगी किन्तु उनकी आर्थिक नीति के लिये ब्रिटेन आदिष्ट प्रणाली के अंतर्गत सहायता देगा।

1939 के प्रारम्भ मे ब्रिटेन ने लंदन में एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया। अरब और यहूदी प्रतिनिधियों के अतिरिक्त साऊदी अरेबिया, मिश्र व ईराक के प्रतिनिधियों ने इसमे भाग लिया, फिलिस्तीन के अरबों ने यहूदियों के साथ विचार-विमर्श करने से इन्कार किया। वाध्य होकर ब्रिटेन को दोनों से पृथक्-पृथक् बात करनी पड़ी और यह सभा दो समानान्तर बैठकों मे बँट गई। ब्रिटेन के अपने प्रस्ताव के संशोधन के बावजूद अरब व यहूदी प्रतिनिधियो ने काहिरा मे मध्यस्थता की असफल चेष्टा की और इसके बाद फिर से गतिरोध हो गया।

1939 का श्वेत-पत्र

मई 1939 मे ब्रिटेन ने अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए एक और श्वेत-पत्र प्रकाशित किया जो कि द्वितीय विश्व युद्ध तक ब्रिटिश नीति का आधार रहा। ब्रिटेन ने इसमे अरबों और यहूदियों के दावे और प्रतिदावे का उल्लेख करते हुये स्पष्ट कहा कि "1915 में मैकमोहन ने जोर्डन के पश्चिमी भाग (अर्थात् वर्तमान फिलिस्तीन) को अरब प्रदेश मे सम्मिलित नहीं किया था।" फिलिस्तीन मे यहूदियों के राष्ट्रीय गृह के लिये आवास के क्रमिक आंकड़े देते हुये एकमत से कहा गया कि बालफोर घोषणा का उद्देश्य यह नहीं था कि अरबों की इच्छा के विरुद्ध एक यहूदी राज्य की स्थापना की जाय।

श्वेत-पत्र में घोषणा की गई "10 वर्ष के पश्चात् ब्रिटेन के साथ एक संधि के द्वारा फिलिस्तीन में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की जायेगी।" इस दस वर्ष की अवधि में अरब व यहूदी मिलकर प्रशासन व शिक्षा प्रसार का कार्य करेंगे। भूमि के हस्तान्तरण को नियंत्रित करने का अधिकार हाई कमिशनर को होगा। अगले पांच

वर्षों में 15,000 यहूदी प्रतिवर्ष के आधार पर 75,000 यहूदियों को आवास की सुविधा दी जायेगी और इसके पश्चात् आवास अरबों की अनुमति पर ही निर्भर होगा। शांति स्थापना के पांच वर्ष बाद फिलिस्तीन और ब्रिटेन के प्रतिनिधि मिलकर भावी फिलिस्तीन के संविधान का निर्माण करेंगे। यह कहा गया कि ब्रिटेन द्वारा "दोनों पक्षों को पूर्णरूप से संतुष्ट करना असम्भव है और अब चूंकि दोनों पक्ष पर्याप्त समय से फिलिस्तीन मे रह रहे है इसलिये दोनों को सहिष्णुता व सहयोग से रहना सीखना चाहिये।" ब्रिटेन ने आगे कहा कि "उसका भविष्य फिलिस्तीन पर ही निर्भर है अतः वह दोनों पक्षों के प्रति निष्पक्ष रहना चाहता है।" यहूदियों ने तीव्र आलोचना करते हुए कहा, "यह उनके साथ विश्वासघात है क्योंकि पिछले दिये गये सभी आश्वासनों को इसमें भंग कर दिया गया है।" ब्रिटिश ससद में श्रमिक दल और साम्राज्यवादियों
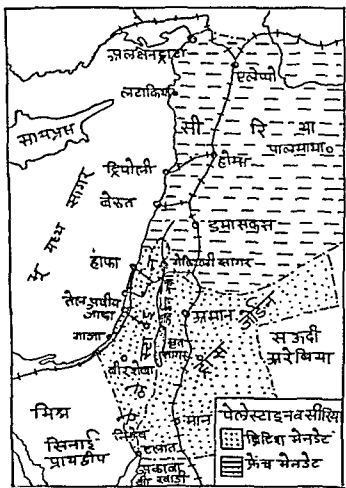
मान चित्र—12

फिलिस्तीन व सीरिया

ने भी इसका विरोध किया और चर्चिल ने यहां तक कहा, "यहूदियों का साथ दिया जाना इसलिये आवश्यक है कि वे सच्चे और शक्तिशाली है और अरब निर्बल और अनिश्चित हैं।" राष्ट्रसंघ के स्थायी आदिष्ट आयोग ने बहुमत (तीन—ब्रिटेन, फ्रांस व पुर्तगाल को छोड़कर—की अपेक्षा सात) से कहा कि यहूदियों को जो आश्वासन दिया गया था उसे इस श्वेत-पत्र के द्वारा भग कर दिया गया है। द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो जाने से राष्ट्रसंघ इस सिलसिले मे कोई कदम नही उठा सका।

द्वितीय विश्व युद्ध में फिलिस्तीन समस्या

1939 के श्वेत-पत्र में निर्धारित नीति का राष्ट्रसंघ और यहूदियों के विरोध के उपरान्त भी, ब्रिटेन ने द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि में अक्षरशः पालन किया, किन्तु यहूदियों ने अपने मजबूत सगठन द्वारा यूरोप से गैरकानूनी आवास जारी रखा। यहूदियों के गैरकानूनी आवास को रोकने के लिये ब्रिटेन ने जो अनेक बार संघर्ष किये उसमें लगभग 1,000 यहूदी मारे गये। 1940 में पारित 'भूमि हस्तान्तरण' की रोक ने भी उन्हें और अधिक कट्टर बना दिया और अब उन्होने अपनी योजना को जारी रखने के लिये अपना मुख्य कार्यालय, डेविड बेन गुरियो के नेतृत्व में न्यूयार्क में बिल्टमोर होटल मे मई, 1942 में स्थापित किया। फिलिस्तीन की समस्या को सुलझाने के लिये यहूदियों ने 'बिल्टमोर योजना' प्रस्तुत की जिसमें चार माँगें थी—(1) फिलिस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना; (2) यहूदी सेना का संगठन; (3) अनियत्रित आवास के लिये यहूदी एजेंसी के अधिकार व (4) भूमि विक्रय पर प्रतिबन्ध को हटाना। इस नीति को क्रियान्वित करने के लिये 'राष्ट्रीय सैनिक सगठन' की स्थापना की गई। जिसमें 60,000 से भी अधिक लोगों को आधुनिक सैन्य शिक्षा दी गई थी और जिनकी शाखाएं 'इरगुन जवाई ल्युमी', 'हगाना' व 'स्टर्न सगठन' थी। इन आतंकवादी संगठनों ने शस्त्र जमा करने व अधिकाधिक यहूदियों को फिलिस्तीन पहुँचाने का कार्य किया। 1943 में इन्ही संगठनों ने मित्र राष्ट्रीय शस्त्रों की चोरी की जो यहूदियों के गिरजाघरों में पाए गये। 1944 में काहिरा स्थित ब्रिटिश राजदूत लॉर्ड मोइन की स्टर्न संगठन के लोगों ने हत्या कर दी। उधर अरबों ने भी सैन्य संगठन और आतंकवादियों के संगठन स्थापित किये जिनमें 'फुतुवा' व 'नजादा' अधिक प्रसिद्ध हैं। किन्तु वे यह सोचकर शिथिल पड़ गये कि युद्ध पश्चात् तो उन्हें स्वतन्त्रता मिल ही जायेगी। मार्च 1945 में अरब लीग व अक्टूबर 1945 में संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई। 1945 से 48 के मध्य यहूदी प्रश्न जटिलतम हो गया और यह एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गई।

31 अगस्त 1945 को अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री एटली को फिलिस्तीन में 1 लाख यहूदियों के प्रवेश की सुविधा के लिये पत्र लिखा जिसके विचारार्थ अप्रैल 1946 में एक आंग्ल-अमेरिकी जाच समिति नियुक्त की गई

और अस्थायी तौर पर 1500 यहूदियों को प्रतिमास फिलिस्तीन प्रवेश की आज्ञा दी गई। जाँच समिति ने अप्रैल 1946 में फिलिस्तीन को सभी धर्मों की भूमि बताया व उस पर किसी एक जाति के प्रभुत्व का विरोध किया। अप्रैल 1947 में ब्रिटेन ने इस समस्या को साधारण सभा को सौंप दिया जिसने नवम्बर में सुझाव दिया कि इस क्षेत्र को यहूदियों व अरबों में बाँट दिया जाय व यरूशलम का अंतर्राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय, जिसका अरबों ने विरोध किया। 15 मई 1948 को ब्रिटेन ने इस क्षेत्र से आदिष्ट शासन समाप्त किया और इसी दिन यहूदियों ने स्वतन्त्र इजराइल की घोषणा की।

सारांश

मध्य पूर्व ऐतिहासिक तथा आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यह क्षेत्र विश्व के आधे पैट्रोल, मिश्र की रुई और ईराक के खजूर से समृद्ध है। चार प्रमुख धर्मों—यहूदी, जरथुस्त्र, ईसाई व इस्लाम—की यह जन्मभूमि है। यहाँ के जल संयोजक—स्वेज, डार्डेनिलिस, जल-डमरू और अकाबा की खाड़ी—आर्थिक एवं सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

दो विश्व युद्धों के मध्य पाँच प्रमुख घटनाओं की शृंखला ने इस क्षेत्र को प्रभावित किया : (1) तुर्की में कमाल पाशा के नेतृत्व में सुधारवादी आन्दोलन ; (2) आंग्ल-मिश्र संबंध ; (3) सीरिया-ईराक मे आदिष्ट प्रशासन ; (4) अरबों में राष्ट्रीयता व (5) फिलिस्तीन में अरब-यहूदी संघर्ष।

1920 से सैवर्स संधि के विरुद्ध कमाल पाशा ने जो स्वतंत्रता आंदोलन प्रारंभ किया, उसके दो उद्देश्य—मुहम्मद षष्ट के निरंकुश राजतंत्र का विरोध एवं तुर्की में साम्राज्यवादियों के क्षेत्रों का अन्त, थे। उसने तुर्की में गणतंत्र की स्थापना की; खलीफा पद को समाप्त किया ; एवं लौजान की संधि द्वारा तुर्की के अंतर्राष्ट्रीय सम्मान को बढाया। धर्म निरपेक्षता व राजनीतिक और आर्थिक सुधारों के कारण राष्ट्र ने उन्हें 'अतातुर्क' (राष्ट्रपिता) कहकर सम्बोधित किया।

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान मिश्र अंग्रेजों का संरक्षित राज्य था। 1919 में जगलूल पाशा ने मिश्र की स्वतंत्रता की माँग की। 28 फरवरी 1922 की सधि मे मिश्र को स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित कर दिया गया, परन्तु स्वेज नहर, सुरक्षा, अल्पसख्यको का संरक्षण और सूडान का शासन अंग्रेजों के अधिकार मे रहा। इसके विरोध में मिश्रवासियो ने अपना स्वतंत्रता आन्दोलन जारी रखा। विवश होकर अंग्रेजो को 26 अगस्त 1936 को एक और आंग्ल-मिश्री सधि (20 वर्षीय) करनी पड़ी जिसके अनुसार मिश्र को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हुई।

आदिष्ट प्रणाली के अंतर्गत सीरिया में जनरल गुराड की सेना ने आक्रमण द्वारा दमिश्क पर अधिकार करके स्वतंत्र अरब राज्यों को समाप्त कर दिया। फ्रांसीसी

अधिनायकवाद के विरोध में 1925 में द्रूज कबीले ने विद्रोह कर दिया। राष्ट्रवादियों ने स्वतंत्रता आन्दोलन प्रारंभ किया। फ्रांस ने 1936 में सीरिया लेबनान से संधि कर 3 वर्ष पश्चात् सत्ता हस्तांतरित करने का वायदा किया। द्वितीय विश्व युद्ध मे फ्रांस के पतन के पश्चात् 1941 में सीरिया व लेबनान को पूर्ण स्वतन्त्र घोषित किया गया।

1917 में ईराक में भारतीय सेना ने प्रवेश किया था। 1920 में दमिश्क से बहिष्कृत फैजल ईराक का राजा बन गया जो कि 96 प्रतिशत जनमत से स्वीकृत हुआ। 1922 में आंग्ल-ईराक संधि में अंग्रेज परामर्शदाता की सहायता से शासन की व्यवस्था की गई। स्वदेश-प्रेमी लोगों ने स्वतन्त्रता आन्दोलन जारी रखा और 1927 व 1930 मे दो संधियाँ हुईं जिनमें हवाई अड्डे को अपने पास रखकर सत्ता का हस्तांतरण किया गया। इसी प्रकार जोर्डन मे, 1920 में अब्दुल्ला, जो कि फैजल का बड़ा भाई था, शासक बना और ब्रिटेन के आधीन आदिष्ट शासन में आ गया। 1928 मे एक संधि में ब्रिटेन ने विदेश नीति व वित्तीय अधिकार जोर्डन को हस्तांतरित किये परन्तु 1946 में ही उसे पूर्ण स्वतन्त्र घोषित किया गया।

फिलिस्तीन का प्रश्न अरब और यहूदियों में ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक संघर्ष का जनक था। यहूदियों का इस क्षेत्र में अधिकार 550 वर्ष पुराना है। 2 नवम्बर 1917 को बालफोर घोषणा में यहूदियों को फिलिस्तीन में 'राष्ट्रीय घर' के निर्माण की सुविधा दी गई। यहां की राजनीति में परस्पर संघर्ष के कारण गतिरोध उत्पन्न हो गया। 1922 में फिलिस्तीन मे यहूदियों का आवास उसके आर्थिक सामर्थ्य पर निर्भर था। अधिक यहूदियो के आगमन से 14 वर्ष में उनकी जनसंख्या 10 गुनी बढ़ गई। इसी कारण समय-समय पर दंगे होते रहे। जैसे, 1928 में 'मातम दीवार की घटना' 1929 में शाह कमीशन और 1930 में जान होप सिम्पसन की रिपोर्ट ने यहाँ की स्थिति पर प्रकाश डाला। यहूदियों ने ब्रिटेन के आवास को सीमित करने की नीति का तीव्र विरोध किया। 1936 के अरब-यहूदी संघर्ष के कारण एक वर्ष पश्चात् 'पील कमीशन' की नियुक्ति की गई। इसने फिलिस्तीन क्षेत्र को संघर्षरत जातियों में विभाजित करने का सुझाव दिया। अरबों ने इसका विरोध किया। ब्रिटेन ने 1938 में वुडहैड आयोग की स्थापना की। परन्तु लन्दन में गोल-मेज वार्ता असफल रही और 1939 में एक श्वेत-पत्र में घोषणा की गई कि अगले पांच वर्ष मे कुल 75,000 यहूदियों को आवास की सुविधा दी जायेगी। दस वर्ष पश्चात् एक संधि द्वारा फिलिस्तीन को स्वतंत्र करने की घोषणा की गई। द्वितीय विश्व युद्ध के समय 1942 में न्यूयार्क में यहूदियों ने 'बिल्टमोर योजना' प्रस्तुत की। 60 हजार सैनिकों को आधुनिक शिक्षा दी गई। अरबों ने भी सैन्य संगठन प्रारम्भ किया और मार्च 1945 में 'अरब लीग' का जन्म हुआ। 15 मई 1948 को आदिष्ट प्रणाली समाप्त हो गई और 'इजराइल' का जन्म हुआ।

घटनाओं का तिथिक्रम

1917 2 नवम्बर—बालफोर घोषणा।

1918 5 अक्टूबर—स्वतन्त्र सीरिया की घोषणा।
30 अक्टूबर—तुर्की द्वारा मुद्रोस की विराम संधि।

1919 19 मई—मुस्तफा कमाल पाशा का विद्रोह आरम्भ।
2 जुलाई—दमिश्क में सीरिया की राष्ट्रीय कांग्रेस।
4 सितम्बर—सेवर्स में तुर्की की राष्ट्रीय कांग्रेस।
9 अक्टूबर—जनरल गुराड सीरिया में हाई कमिश्नर।

1920 8 मार्च—सीरिया में फैजल राजा घोषित।
23 अप्रैल—अंगोरा में मुस्तफा कमाल की अस्थायी सरकार।
25 अप्रैल—सैनरेमो सम्मेलन में अरब राष्ट्रों की आदिष्ट व्यवस्था।
10 जून—सेवर्स की संधि पर तुर्की के हस्ताक्षर।

आदिष्ट व्यवस्था

1921 25 जुलाई—फ्रांस द्वारा फैजल पदच्युत।
23 अगस्त—फैजल ईराक का बादशाह घोषित।

1923 24 जुलाई—लोजान संधि।
29 अक्टूबर—तुर्की गणतंत्र की स्थापना।

1924 3 मार्च—खलीफा पद की समाप्ति।
3 अक्टूबर—साऊदी अरेबिया में हुसन का पद त्याग।

1925 18 जुलाई—सीरिया में द्रूज विद्रोह।
18 अक्टूबर—दमिश्क पर फ्रांसीसी बमबारी।

1926 8 जनवरी—साऊदी अरेबिया में इब्न साऊद का राज्यारोहण।
23 मई—महान् लेबनान गणतंत्र की घोषणा।

1927 14 दिसम्बर—ईराक-ब्रिटेन संधि।

1928 20 फरवरी—ट्रांस जोर्डन स्वतंत्र हुआ।
9 जून—सीरिया में संवैधानिक सभा।
24 सितम्बर—मातम दीवार की घटना।

1930 31 मार्च—वाल्टर-शॉ कमीशन रिपोर्ट।
20 अक्टूबर—पासफील्ड श्वेत पत्र।

1932 3 अक्टूबर—ईराक स्वतन्त्र और राष्ट्रसंघ में प्रवेश।

1933 16 नवम्बर—सीरिया-फ्रांसीसी संधि।

1936 अप्रैल—अरब उच्च समिति की स्थापना।

9 सितम्बर—फ्रांसीसी सीरियाई संधि।
12 अक्टूबर—फिलिस्तीन में अरबों द्वारा आम हड़ताल।

1937 8 जुलाई—पील कमीशन रिपोर्ट।
2 अगस्त—विश्व यहूदी कांग्रेस द्वारा रिपोर्ट स्वीकृत।
8 सितम्बर—ब्लुदान में सर्व अरब कांग्रेस द्वारा विरोध।

1938 9 नवम्बर—वुडहैड कमीशन की रिपोर्ट।

1939 फरवरी-मार्च—लन्दन में फिलिस्तीन सम्मेलन।
17 मई—ब्रिटिश श्वेत-पत्र।

1942 मई—न्यूयार्क में बिल्टमोर यहूदी योजना।

1945 मार्च—अरब लीग की स्थापना।
31 अगस्त—ट्रूमैन का यहूदियों के फिलिस्तीन प्रवेश के लिये पत्र।

1946 अप्रैल—आंग्ल-अमेरिकी जाँच समिति।

1947 अप्रैल—ब्रिटेन ने फिलिस्तीन समस्या साधारण सभा को सौंपी।

1948 15 मई—(1) फिलिस्तीन पर ब्रिटेन के आदिष्ट शासन की समाप्ति।
(2) स्वतन्त्र इजराइल की घोषणा।

सहायक अध्ययन

Antonius, G. : **The Arab Awakening.** (1938)

Bullard, R. : **Britain and the Middle East.** (1951).

Hoskins, H. L. : **The Middle East.** (1958).

Hyamson, A. M. : **Palestine Under the Mandate, 1920-48.** (1950)

Kirk, G. : **A Short History of the Middle East.** **5th ed.** (1959)

Lenczowski, G. : **The Middle East in World Affairs, 2nd ed.** (1956)

Lewis, B. : **The Emergence of Modern Turkey.** (1961).

Longrigg, S. H. : **Iraq, 1900-1950.** (1953).
Syria and Lebanon under French Mandate. (1958).

Marlowe, J. : **Anglo-Egyptian Relatio. s, 1800-1853.** (1954).

Weizmann, C. : **Trial and Error.** (1949)

प्रश्न

1. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में मध्य पूर्व की समस्याओं की सामान्य विशेषतायें क्या थी ? (आ० वि० 1963,1967, पं० वि० 1965)

2. दो विश्व युद्धों के मध्य अरब राष्ट्रवाद ने किन मुख्य समस्याओं को जन्म दिया ? (राज०वि० 1958, आ० वि० 1966)

3. मुस्तफा कमाल पाशा के अधीन तुर्की प्रजातंत्र की विदेशी नीति का आलोचनात्मक विवरण दीजिये ? (राज० वि० 1963, 67, जो० वि० 1964)

4. यहूदियों के राष्ट्रीय निवास स्थान से आप क्या समझते हैं ? इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के क्या परिणाम हुए ? (राज० वि० 1960,63)

5. 1920 से 45 में ब्रिटेन का मध्य पूर्व में क्या स्वार्थ था और इसने अंतर्राष्ट्रीय गतिविधि पर क्या प्रभाव डाला ? (राज० वि० 1960, पं० वि० 1965)

6. दो विश्व युद्ध के बीच की अवधि के इंग्लैण्ड और मिश्र के संबंधों का उल्लेख करें। (राज० वि० 1957, 64, आ० वि० 1965, 1966, उ०वि० 1967)

11 विश्व गतिविधि में संयुक्त-राज्य अमेरिका

"दुनिया के 90 प्रतिशत लोगों की शान्ति, स्वतंत्रता व सुरक्षा बचे हुए 10 प्रतिशत लोगो के अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को भंग करने की धमकी से, खतरे में पड़ गई है। अब 90 प्रतिशत को चाहिये कि वे अपनी इच्छा को क्रियान्वित करने के लिये कोई रास्ता ढूँढें, जो संभव है। वर्तमान विश्व, एकता और अंतर्निर्भरता पर आधारित है।"

—रूजवेल्ट (5 अक्टूबर, 1937)

विश्व गतिविधि में संयुक्त राज्य अमेरिका

विदेश नीति के आधार

संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति अमेरिकन लोगों की आकांक्षाओं, विश्व समस्याओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया व वहाँ की कार्यकारिणी और कांग्रेस (संसद) के संयुक्त प्रभाव पर आधारित है। प्रत्येक राष्ट्र के अपने स्वार्थ होते हैं और उनकी विदेश नीति उन पर आधारित होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका इसका अपवाद नही। अमेरिका की विदेश नीति, किसी भी अन्य राष्ट्र की विदेश नीति की भांति, वहाँ की भौगोलिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक और सामरिक शक्ति व विश्व वातावरण पर आधारित है। उसकी विदेश नीति के कुछ मूल आधार रहे हैं। फिर भी, विदेश नीति लचीली रही है और बदलती हुई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के साथ बदलती रही है। कुछ क्षेत्रो में उसे पूर्ण और कुछ मे आंशिक सफलता मिली है और कुछ ऐसी समस्याएं रही हैं, जिनके साथ रहना उन्हें सीखना पडा है। पैंफर के अनुसार अमेरिकी विदेश नीति के चार स्थिर बिन्दु हैं : (1) पृथकवाद (2) मनरो सिद्धांत (3) समुद्रों पर गमनागमन की स्वतन्त्रता व (4) व्यापार में 'उन्मुक्त द्वार' की नीति। कूटनीतिक इतिहासकार बेमिस ने अमेरिकी विदेश नीति की नींव के निम्न आधार बताये हैं : (1) सम्पूर्ण स्वतन्त्रता (2) उपनिवेश विरोधी सिद्धान्त (3) अमेरिकी महाद्वीप में विस्तार (4) यूरोपीय गुटबन्दी से असंलग्नता (5) आत्मनिर्णय का सिद्धान्त (6) अहस्तक्षेप नीति व (7) अमेरिकी सुरक्षा।

प्रथम विश्व युद्ध में अमेरिकन हस्तक्षेप

1913 में डैमोक्रेट दल के नेता वुडरो विलसन अमेरिका के राष्ट्रपति बने।* उनकी नीति के आधार, विश्व मे लोकतन्त्र का विकास, चिरस्थायी शान्ति, मानव समुदाय की समृद्धि, संवैधानिक राज्यों का आदर, विशेष स्वार्थों का विरोध व पारस्परिक लाभ के लिये व्यापार थे। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व, यूरोप में बिगड़ी हुई स्थिति के समय, विलसन ने अपने निजी सचिव कर्नल हाउस को समस्या के शान्तिपूर्ण निबटारे के लिये, वहाँ भेजा, किन्तु उन्हें सफलता न मिली। 4 अगस्त, 1914, को युद्ध छिड़ गया और अमेरिका ने युद्ध से अलग रहना निश्चित किया।

कारण

1914 से 1917 के बीच जो निम्न घटनायें घटीं उनके फलस्वरूप अमेरिका ने तटस्थ नीति परित्याग कर युद्ध में मित्र राष्ट्रों के पक्ष मे लड़ना स्वीकार किया।

---

*विलसन के तीन विदेश सचिव रहे—(1) विलियम ब्रियाँ (1913-15); राबर्ट लान्सिग (1915-20) और (3) कॉलबी (1920-21)

(1) जर्मनी के असीमित पनडुब्बी आक्रमण ने 7 मई 1915 को अमेरिकी यात्री-वाहक जहाज 'लुसीटानिया' को डुबो दिया, जिसमें 1959 यात्री थे। इसमे से 1198 डूब गये, जिनमें 128 अमेरिकी थे। निर्दोष यात्रियों में अधिकाश बूढ़े, स्त्री व बच्चे थे। इस घटना के आठ ही दिन बाद, लदन से कर्नल हाउस ने लिखा, "अब हम और अधिक तटस्थ दर्शक नही रह सकते।" अमेरिका के प्रसिद्ध समाचार पत्र 'नेशन' ने सम्पादकीय टिप्पणी मे लिखा, "जिस पनडुब्बी ने लुसीटानिया को डुबोया, उसने विश्व जनमत में समस्त जर्मनी को ही डुबो दिया है।" (2) युद्ध की गति के साथ-साथ ही अमेरिकी व्यापार और आर्थिक स्वार्थ यूरोपीय देशों मे बढ़ता गया। स्थिति यहाँ तक आ पहुची कि यदि अमेरिका मित्र राष्ट्रों की सहायता न करता तो उनके नष्ट होने की दिशा मे उसका दिया समस्त ऋण भी नष्ट हो जाता। बढ़ते हुए अमेरिकी वाणिज्य के कुछ आंकडे इस प्रकार थे :

1914	82	करोड	डालर
1915	199	"	"
1916	321	"	"

इसके अतिरिक्त गैर सरकारी बैंको ने भी मित्र राष्ट्रों को 1917 तक 230 करोड डालर ऋण दिया था। (3) मैक्सिको में गृह युद्ध के समय पैन्चोविला ने खोई हुई भूमि न्युमैक्सिको पर आक्रमण कर दिया। इसका प्रतिशोध लेने के लिये अमेरिका ने जनरल परसिंग को एक हजार सैना के साथ मैक्सिको भेजा। ऐसी परिस्थिति में, जर्मनी के विदेश सचिव जिमरमेन ने 1 मार्च, 1917 को अपने मैक्सिको स्थित राजदूत को संदेश भेजा कि वह अमेरिका के विरोध मे मैक्सिको के साथ सधि कर खोये हुए प्रदेशों—न्यू मैक्सिको, टैक्सास और एरिजोना पर पुन: अधिकार कर ले। उस घटना ने भी अमेरिकी जनमत को जर्मन विरोधी बना दिया। (4) 12 मार्च 1917 की असंभावित रूसी क्रांति ने अमेरिका के युद्ध में भाग लेने के निर्णय को निश्चित दृढ़ता प्रदान की। जिस गति के साथ अमेरिका ने नवीन रूसी सरकार को मान्यता दी (22 मार्च, 1917), उससे अमेरिका के क्रांति के स्वागत की सीमा प्रकट होती है। इसी समय युद्ध में भाग लेने का अन्तिम निर्णय लेने में हिचकिचाने वाले राष्ट्रपति विलसन ने कहा, "यदि हमारे द्वारा युद्ध मे भाग लिये जाने से रूस और जर्मनी की घटनाओ में शीघ्र स्थिरता आ सकती है तो वह विश्व के लिये एक प्रशंसनीय लाभ होगा।" अमेरिकी दृष्टिकोण में यह सत्य और भी प्रमुख रूप से प्रकट हो गया कि मित्रराष्ट्र निरकुशता के विरुद्ध प्रजातन्त्र का युद्ध लड़ रहे हैं। फरवरी-मार्च में 6 अमेरिकी जहाजों को और डुबो दिया गया। विलसन ने उस समय घोषणा की, "यहाँ केवल हमारे आर्थिक और व्यापारिक हित का ही प्रश्न नहीं है, यह प्रश्न मानवीय मूल अधिकारों का है। जर्मन आक्रमण समस्त मानव समुदाय के विरुद्ध है।"

6 अप्रैल, 1917 को अमेरिका के निम्न सदन, प्रतिनिधि सभा ने 50 के विरुद्ध

373 मत और उच्च सदन, सिनेट ने 6 के विरुद्ध 82 मत से जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। 7 सितम्बर को आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की गई। तुर्की के साथ अमेरिका ने अपने राजनीतिक सबधो को भंग कर दिया। परन्तु बुलेरिया के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध चलता रहा। इस प्रकार अमेरिका के इतिहास में यह प्रथम अवसर था जबकि राष्ट्रीय स्वार्थ हेतु, बाध्य होकर, अमेरिका मुनरो सिद्धान्त की उपेक्षा कर यूरोपीय युद्ध में लिप्त हो गया। राष्ट्रपति विलसन के उत्तेजनात्मक नारों, "युद्ध ; युद्ध के अन्त के लिये," व "युद्ध प्रजातन्त्र के लिये" ने अमेरिकन हस्तक्षेप को एक नैतिक युद्ध का मोड दे दिया।

संयुक्त राज्य अमेरिका का अनुसरण कर लेटिन अमेरिका के 8 राज्यों ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। ये राष्ट्र, ब्राजील, क्यूबा, कोस्टारिका, गोटेमाला, हैती, होन्डाकज, निकारागुआ व पनामा थे।

युद्ध प्रयास में अमेरिकी देन

प्रथम विश्व युद्ध में अमेरिका के युद्ध में हस्तक्षेप का ब्रिटिश और फ्रैंच इतिहासकारों ने बड़ा गुणगान किया है। उनके मत मे यह एक ऐसा बड़ा कदम था जिसने मित्र राष्ट्रों को युद्ध में विजयी बना दिया। युद्ध मे अमेरिका की त्रिरूपी देन थी, सामरिक, आर्थिक व नैतिक। सामरिक क्षेत्र में अमेरिका ने जनरल पर्शिंग के नेतृत्व मे 20 लाख सेना फ्रांस में उतारी और संयुक्त मित्र राष्ट्रीय सेनापति मार्शल फौश के साथ सहयोग कर जर्मन सैना की गति को रोक दिया और अंत में उसे परास्त कर दिया। आर्थिक क्षेत्र मे अमेरिकी कांग्रेस ने युद्ध कार्य के लिये 7 अरब डालर मंजूर किया। इसमें से 3 अरब डालर प्रारम्भ मे ऋण दिया गया। धीरे-धीरे 1918 तक मित्र राष्ट्रो का कुल कर्जा बढकर लगभग 10 अरब डालर हो गया। मित्र राष्ट्रों, और विशेष रूप से ब्रिटेन ने युद्ध द्वारा होने वाले भौमिक लाभ को दृष्टि में रखते हुए गुप्त सधियों में अमेरिका को भी साझीदार बनाना चाहा। इसी उद्देश्य से अप्रैल 1917 में ब्रिटेन के विदेश सचिव आर्थर बालफोर वाशिंगटन आये, किन्तु विलसन ने गुप्त सधियों का भाग बनकर उनसे लाभ उठाने की अपेक्षा मात्र विजय प्राप्त करना ही अपना मुख्य लक्ष्य रखा। अमेरिका ने अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए 27 बिन्दुओं—पहले 14 और बाद मे 13 बिन्दुओं की घोषणा की। अमेरिका के युद्ध में भाग लेने से इस प्रकार मित्र राष्ट्रों को नैतिक बल और नवीन प्रेरणा मिली।

27-बिन्दु

नवम्बर 1917 की क्रांति और रूस-जर्मन सधि ने युद्ध की स्थिति को यकायक बदल दिया। इसी पृष्ठभूमि में, 8 जनवरी 1918 को राष्ट्रपति विलसन ने कांग्रेस में शांति के आधार—14 बिन्दुओं, की घोषणा की। इनका निर्माण कर्नल हाउस व

विलसन ने किया था और उनमे 'चाहिये' विशेषण का प्रयोग किया गया था। इनके अन्तर्गत अमेरिका ने समुद्रो पर गमनागमन की स्वतन्त्रता, शान्ति के लिये राष्ट्रसंघ की स्थापना, राष्ट्रों द्वारा अस्त्रशस्त्रों में कमी, गुप्त सधियों का विरोध, आत्मनिर्णय के सिद्धान्त आदि की घोषणा की थी। 14 बिन्दुओं के पश्चात्; 11 फरवरी 1918 को कांग्रेस में चार मुख्य सिद्धान्तों; माउन्ट वरनन में 4 जुलाई को चार उद्देश्यों, व न्यूयार्क में 27 सितम्बर को 5 टिप्पणियों—कुल 13 बिन्दुओं की घोषणा और की।

जर्मनी के जुलाई आक्रमण के विफल हो जाने के पश्चात् एक-एक करके केन्द्रीय शक्तियो ने विराम सधि कर ली। बुल्गेरिया (29 सितम्बर), तुर्की (31 अक्टूबर), व आस्ट्रिया (3 नवम्बर) ने मित्र राष्ट्रों से विराम सधि कर ली। 6 अक्टूबर से जर्मनी ने अमेरिका से सधि के लिये अनुरोध किया। अमेरिका 4 शर्तों पर विशेष जोर देने लगा। ये, 14 बिन्दुओं की बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकृति, मित्र राष्ट्रों के प्रदेशो को खाली करना, जल व थल पर गैर कानूनी आक्रमण की समाप्ति और जर्मन जनता के वास्तविक प्रतिनिधियों के साथ विराम सधि पर हस्ताक्षर थे। मित्र राष्ट्रो के 14 बिन्दुओं में तीन सशोधनो के पश्चात् 11 नवम्बर को जर्मनी ने रैथोन्डस की विराम संधि कर ली। अमेरिकन लोगों के प्रति एक विशेष घोषणा मे विलसन ने अपनी भावनाए इस प्रकार प्रकट की, "वह हर उद्देश्य जिनके लिये अमेरिका लड़ा, प्राप्त कर लिये गये हैं। अब यह हमारा पुनीत कर्तव्य होगा कि हम स्वयं के उदाहरण मैत्रीपूर्ण राय व आवश्यक सामग्री के द्वारा समस्त विश्व मे एक न्यायोचित प्रजातंत्र की स्थापना करे। परकिन्स और वैन डयुसन के अनुसार, "एक बात निश्चित थी, विराम सधि पर हस्ताक्षर के साथ विलसन अपनी प्रतिष्ठा की चरमसीमा पर पहुँच गया। इस समय उसका सम्मान किसी भी अमेरिकन राष्ट्रपति से कही अधिक था।"

शांति सम्मेलन

अक्टूबर 1918 के चुनावों के फलस्वरूप अमेरिका की 'प्रतिनिधि सभा' में 190 डेमोक्रेट, जिनके नेता विलसन थे, के विरुद्ध 237 रिपब्लिकन्स चुने गये व सिनेट में भी रिपब्लिकन्स का दो से बहुमत हो गया। विरोधी दल के वक्ता थियोडोर रूजवेल्ट थे। उन्होने कहा, "हमारे मित्र राष्ट्रों, शत्रुओं और स्वयं मिस्टर विलसन को यह समझना चाहिये कि चुनावो की वर्तमान स्थिति के पश्चात् उन्हें अमेरिकन लोगों की ओर से बोलने का कोई अधिकार नही है। उनका नेतृत्व हाल ही में उन्होने निश्चित रूप से अस्वीकृत कर दिया है।·········विराम सधि के लिये जिस प्रतिनिधि मंडल का विलसन ने गठन किया, उसमें विदेश सचिव, राबर्ट लान्सिग, उनके राजनीतिक परामर्शदाता कर्नल हाउस, जनरल ब्लिस और एक दुर्बल रिपब्लिकन हैनरी वाइट सम्मिलित थे। शांति सम्मेलन में भाग लेने के लिये विलसन वाशिंगटन जहाज

में चढ़कर पेरिस आये। शांति सम्मेलन के कार्य को तीन चरणों में विभाजित किया जाता है। इनमें से पहला चरण 12 जनवरी से 14 फरवरी 1919 तक रहा। राष्ट्र-संघीय कमीशन के अध्यक्ष विलसन की अध्यक्षता में राष्ट्रसंघ के विषय में विचार विमर्श हुआ। विलसन के जीवनी लेखक वालवर्थ का कहना है, "यह उसकी विजय के क्षण थे—वे चरण, जिनके लिये कि विलसन ने जन्म लिया था।" द्वितीय चरण (15 फरवरी से 13 मार्च) मे विलसन अमेरिका और जार्ज लायड ब्रिटेन चले गये व क्लीमेंसो को गोली से आहत होना पड़ा। इस समय विभिन्न आयोगों ने आर्थिक एवं भूमि सबंधी प्रारूप को प्रस्तुत किया। 2 मार्च को 39 रिपब्लिकन सिनेटरों ने विलसन के राष्ट्रसघ के प्रतिश्रव का विरोध किया। किन्तु इन सबके उपरान्त भी विलसन बड़ा आशावादी था। तृतीय चरण (14 मार्च से 28 जून) में जब ठोस निर्णय लिये जाने लगे तब विलसन का दृष्टिकोण तीन प्रकार का था : (1) ऐसी समस्याएं जिनमें उसने यूरोपीयन राष्ट्रो की बात मान ली, जैसे क्षति पूर्ति; (2) ऐसे मामले जो उसने कुछ सशोधनो के साथ स्वीकार किये, जैसे सार व डान्जिग की समस्या; (3) ऐसे प्रश्न जिनमें वे आखिर तक अड़े रहे, जैसे, फ्यूम डालमेशिया और राइन लैण्ड।

विलसन ने अपने साथियों को सावधान किया, "यह आवश्यक है कि हम जर्मनी के साथ संयम से व्यवहार करें······हमारी सबसे बड़ी गलती उससे बदला लेना होगा।" विलसन ने सम्पूर्ण समझौते का यह कह कर विरोध किया, "इसका मतलब, जर्मनी से यह कहना होगा कि जो कुछ भी उसके पास है, वह सब कुछ हमें दे दे और वह भी अनिश्चित काल के लिये······।" उसने इस बात पर भी जोर दिया कि क्षति-पूर्ति का आधार जर्मनी के देने की क्षमता हो न कि कुल हानि, जो उसने की। उसका कहना था कि, "जो राशि हम मांग रहे हैं वह हम जर्मनी को 35 वर्ष तक कुचले रहने के बिना प्राप्त नही कर सकते।" यही बात जर्मनी को युद्ध-अपराधी घोषित करने और काइजर पर मुकद्दमा चलाने के विषय मे भी सच है। उसका कहना था कि, "मुझे अपने इस अधिकार के विषय मे गहरा सन्देह है कि न्यायाधीश केवल विजयी राष्ट्रों में से हो। अभियोगी भी न्याय कर सकते हैं। यह एक भयानक परिपाटी कायम करना होगा कि हमारे शत्रुओ का न्याय वही न्यायाधीश करे जो कि हमारा प्रतिनिधित्व करते है।"

सार समस्या के विषय मे विलसन की पहली आपत्ति यह थी कि फ्रांस ने अपने युद्ध उद्देश्यों में उसका उल्लेख नही किया था। उसने सार सबधी निर्णय को अन्यायपूर्ण समझते हुए कहा, "यदि आप सीमाओं को ऐतिहासिक और सामाजिक आधार पर निश्चित करें और यदि मैं उनमें आर्थिक आधार और जोड़ दूं तो हमारी मागों का कोई अन्त न होगा········।" आज समस्त विश्व मे न्याय के लिये अनोखा उत्साह है। यही कारण है कि इस मंच पर मैंने अनेक बार कहा है कि हम यहां विश्व जनमत

का प्रतिनिधित्व करते है, न कि राष्ट्रों का। विलसन ने यह भी कहा, "अनिच्छा होते हुए स्वतत्रता प्रदान करना भी आत्मनिर्णय के सिद्धांत का उसी प्रकार उल्लघन है जैसे कि किसी राष्ट्र को विदेशी प्रभुसत्ता स्वीकार करने के लिये वाध्य करना।" फ्यूम के अतर्राष्ट्रीयकरण के संबंध मे विलसन ने इटली के विरोध की उपेक्षा की किन्तु शान्टुग प्रश्न में चीन के बजाय जापान का पक्ष लिया। जापान के प्रति संतुष्टीकरण का कारण राष्ट्रसंघ के और अधिक निर्बल होने का खतरा मोल लेना था, क्योंकि इटली पहले ही फ्यूम के प्रश्न पर नाराज हो चुका था। 28 जून को वर्सायी सधि के अतिरिक्त एक और सधि हुई जिसमें ब्रिटेन और अमेरिका ने फ्रांस पर जर्मनी द्वारा आक्रमण होने की दिशा मे उसे सैनिक सहायता देने का वचन दिया।

बेमिस के अनुसार, "वर्सायी सधि अपूर्ण थी किन्तु विनाशकारी नहीं। इसने जर्मन राष्ट्र का ध्वस नही किया······एक सयुक्त राष्ट्र बचा रह गया जिसने आगे चलकर फिर उन्नति की।"

यद्यपि राष्ट्रसघ के जन्म का मौलिक विचार विलसन का नही था, अमेरिकन उन्हे ही इसका वास्तविक सस्थापक मानते थे। जबकि 10 जुलाई 1919 को वर्सायी की सधि पर विवाद प्रारंभ होने को था, वे स्वय सधि के मसविदे को लेकर सिनेट में गये। इस समय राष्ट्रसघ के विषय को लेकर विलसन की नीति पर तीव्र विवाद का केन्द्र बिन्दु संघ के प्रतिश्रव की धारा 10 थी, : "सघ के सदस्य वाह्य आक्रमण के विरुद्ध अन्य सदस्यों की राजनीतिक स्वतत्रता और भौमिक अखंडता का आदर और रक्षा करेगे। आक्रमण अथवा आक्रमण की सभावना की परिस्थिति में राष्ट्रसघ की परिषद रक्षा के लिये आवश्यक सुझावों और उपायों को बतायेगी।" इस धारा के विरोधी रिपब्लिकन दल ने इस आधार पर विरोध किया कि इससे कांग्रेस का युद्ध घोषणा का अधिकार सीमित हो जायेगा। दूसरे, धारा 15 के उपयोग और दण्डादेश की स्थिति मे अमेरिका को मनरो सिद्धांत का उल्लघन कर, यूरोपीय राजनीति के विवादों में उलझ जाना पड़ेगा। विलसन ने ये दलीलें प्रस्तुत की : (1) परिषद के निर्णयों को सर्वसम्मति के आधार पर ही लागू किया जायेगा और उसमे अमेरिका का समर्थन भी आवश्यक होगा (2) दूसरे परिषद के दण्डादेश केवल नैतिक दृष्टि से ही बाध्यतामूलक है, कानूनी दृष्टि से नही। परन्तु विलसन के विचारों का विपाक्त राजनीतिक स्थिति मे कोई भी प्रभाव नही पडा।

सिनेट द्वारा संधि की अस्वीकृति

रिपब्लिकन दल का विरोध

विरोधी रिपब्लिकन दल के नेता भूतपूर्व राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट ने विलसन का विरोध करते हुए कुछ दलीलें प्रस्तुत की : (1) अमेरिका समस्त विश्व में पुलिस भेजकर शांति बनाये रखने की जिम्मेदारी न ले; (2) वह पृथकवाद की

मुनरो नीति का परित्याग न करे; (3) हाल ही के कांग्रेस के चुनावों से स्पष्ट हो गया है कि अमेरिकी जनमत डैमोक्रेटिक दल की नीति के पक्ष मे नही है। विलसन के चौदह बिन्दुओं का विरोध करते हुए रूजवैल्ट ने घोषणा की, "हमें टंकण यंत्रों की टिक-टिक और शांति-वार्ता की अपेक्षा तोपों की गड़गड़ाहट द्वारा शांति थोपनी चाहिये।" परन्तु 6 जनवरी 1919 को इस विरोधी दल के नेता का देहान्त हो गया।

रिपब्लिकन दल के नये नेता हेनरी केब्रेट लॉज सिनेट की विदेशी सबंध समिति के अध्यक्ष थे। इस समिति के वे पिछले 23 वर्षों से सदस्य थे। हार्वर्ड विश्वविद्यालय से उन्होंने इतिहास में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की थी। वे एक सफल वकील थे जो कि विलसन नही थे। लुसीटानिया समस्या के कुछ तथ्यो को लेकर दोनों क्षेत्रों में पारस्परिक द्वेष उत्पन्न हो गया था। यद्यपि 1915 मे लॉज ने राष्ट्रसघ का समर्थन किया था और कहा था, "इसी के द्वारा विश्व शांति सभव है" तथापि 2 वर्ष पश्चात् ही उसने अपने विचारों मे सम्पूर्ण परिवर्तन कर विलसन और राष्ट्रसघ का विरोध कर कहा, "राष्ट्रसघ का जन्म संयुक्त राज्य अमेरिका के स्वार्थ व रक्षा के हित में नहीं है।" इसलिये डेमोक्रेट दल को हराने के लिये लॉज ने 14 सशोधन प्रस्तुत किये।

लॉज का समर्थन सिनेटर विलियम बोरा (इडेहो का शेर), भूतपूर्व विदेश सचिव फिलेन्डर नोक्स (पैननसिलवानिया), प्रसिद्ध वक्ता ही रैन जॉनसन (कैलीफोर्निया), भविष्य के विदेश सचिव और राष्ट्रपति, क्रमशः कैलोग और हार्डिग (ओहियो) आदि ने किया। विदेश सबंध समिति में उस समय कुल 17 सदस्य थे—10 रिपब्लिकन व 7 डेमोक्रेट। लॉज, जनमत का लाभ उठाते हुये और अधिक समय प्राप्त करना चाहता था। अत. उसने पहले तो विदेश समिति में एक-एक करके 268 पेज की सभी सधि शर्तों को पढ़ना प्रारभ किया। दो सप्ताह तक यह थका देने वाला कार्य चलता रहा। फिर, 26 जुलाई को लॉज ने फ्रांस के साथ की गई उस गारंटी संधि का उल्लेख किया, जिसको अभी तक वितसन ने सिनेट के सम्मुख प्रस्तुत नही किया था। लाज ने इस तथ्य की कटु आलोचना की कि एक ओर तो विश्व सुरक्षा के लिये राष्ट्रसंघ की स्थापना का मसविदा प्रस्तुत किया जा रहा है और दूसरी ओर फ्रांस की सुरक्षा की व्यवस्था हेतु तक विशिष्ट सधि की जा रही है। यह विलसन की मखौल उडाने वाली बात थी। 19 अगस्त को विलसन ने विदेश समिति के 16 सदस्यो को भोजन पर आमन्त्रित कर अपनी नीति समझाने की असफल चेष्टा की। अब जनता के प्रतिनिधियों की अपेक्षा जनता को ही अपनी नीति समझाने हेतु विलसन ने राष्ट्रव्यापी दौरा प्रारंभ किया। रिपब्लिकन दल के नेताओं ने भी उसका पीछा किया और जनमत को अपने पक्ष मे कर लिया। रिपब्लिकन दल को दो अन्य बड़ी सुविधाएं प्राप्त थी। एक तो उन्हें समाचार पत्रों के प्रभावशाली मालिक विलियम रेन्डोलफ हर्स्ट का समर्थन प्राप्त था जिनके समाचार पत्र की दैनिक बिक्री 30 लाख से अधिक थी। दूसरे फ्रिक और मेलन करोड़पतियों से उन्हें लगातार पूंजी मिलती रही। उन्हें

अतिरिक्त घरेलू परिस्थितियों—40 लाख सैनिकों की सेवा-मुक्ति, साम्यवादी भय, 1919 का आर्थिक संकट, शिकागो और वाशिंगटन में रंगभेद उपद्रव आदि—ने लोगों की घरेलू समस्याओं में अधिक रुचि लेने के लिये बाध्य कर दिया।

विलसन के अंतर्राष्ट्रीयवाद का अंत

3000 मील लंबी यात्रा करते हुए विलसन 26 सितम्बर को जब प्युबेलो (कोलोराडो) पहुचे तो उन्हे सन्निपात हो गया। उन्हें ह्वाइट हाउस ले जाया गया जहां उन्हें लकवा हो गया। इस स्थिति मे कार्यकारिणी व डेमोक्रेटिक दल, दोनों को ही बडी हानि हुई। लान्सिग (विदेश सचिव), जो कि विलसन की रोगावस्था में, केबिनेट का सभापतित्व कर रहा था, पर आरोप लगाये गये, जिनके फलस्वरूप उसने त्यागपत्र दे दिया। इस प्रकार डेमोक्रेटिक दल में नेतृत्व और विलसन के अंतर्राष्ट्रीयवाद का अंत हो गया।

विलसन ने अनेक भयकर राजनीतिक भूलें की थी। विलसन ने चुनाव के पहले जनता से यह अपील की कि वह सिनेट व प्रतिनिधि सभा में केवल डेमोक्रेट दल को ही मत दें, ने रिपब्लिकन दल को उत्तेजित कर दिया। दूसरे पेरिस शान्ति-सम्मेलन के लिये अमेरिका प्रतिनिधि मडल मे विलसन ने निष्क्रिय ह्वाइड के अतिरिक्त किसी अन्य मुख्य रिपब्लिकन सदस्य को अपने साथ नहीं लिया। तीसरे फ्रांस के साथ की गई सुरक्षा सबन्धी गारंटी सधि को सिनेट में प्रस्तुत करने में विलसन ने आवश्यकता से अधिक देरी की। चौथे वह प्रारंभ से ही इतना जिद्दी था कि किसी संशोधन को स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत न था। फ्रास के राजदूत ने विश्वास दिलाया कि कुछ संशोधन मित्र राष्ट्र स्वीकार कर लेंगे लेकिन राष्ट्रपति ने कहा, "मैं एक भी संशोधन की स्वीकृति नही दूंगा, सिनेट को अपना इलाज स्वयं करना चाहिये।" चीनियों के प्रति अमेरिकन जनता मे सहानुभूति थी और शांटुग प्रश्न पर जापान के साथ पक्षपात भी विरोधियों के लिये प्रचार का एक अच्छा साधन बना।

सिनेट का निर्णय

इस समय सिनेट में 47 डेमोक्रेटिक और 49 रिपब्लिकन सदस्य थे। 4 डेमोक्रेटिक सदस्य सधि से पूर्ण असन्तुष्ट थे। अमेरिकी सविधान के अनुसार सिनेट के दो तिहाई उपस्थित सदस्यों के मत से ही सधि की सम्पुष्टि हो सकती थी। अर्थात् इसके लिये 96 में से 64 मत आवश्यक थे। परन्तु केवल 43 सिनेटर ही सधि की सम्पुष्टि के लिये तत्पर थे। विदेश सम्बन्ध समिति मे 17 सदस्यों में 9 के समर्थन से रिपोर्ट पास हुई। समिति का मत था कि राष्ट्रसघ अपने प्रस्तावित रूप में शान्ति बनाये रखने की अपेक्षा युद्धों को जन्म देगा। उनका ऐसा भी विश्वास था कि राष्ट्र-संघ का प्रतिश्रव अमेरिका की स्वतन्त्रता और प्रभुत्ता का अत चाहता है। अस्वस्थ विलसन ने उस रिपोर्ट को पूर्णरूप से अस्वीकृत किया। 19 नवम्बर को जब मतदान हुआ तब 39 पक्ष मे व 55 विपक्ष में मत पडे। डेमोक्रेटिक नेता हिचकोक ने पांच

संशोधन प्रस्तुत किये, किन्तु सिनेट ने इन्हें भी बहुमत से अस्वीकृत कर दिया। तीसरी बार जनता के आग्रह पर 19 मार्च, 1920 को संधि पर पुनः विचार हुआ। इस बार 49 पक्ष और 35 विपक्ष में मत पड़ने के कारण संधि अंतिम रूप से अस्वीकृत हो गई। इस प्रकार कानूनी रूप से अमेरिका अब भी जर्मनी और आस्ट्रिया से युद्ध की स्थिति में था। यह स्थिति अगस्त 1921 तक चलती रही।

पवित्र जनमत

विलसन अपने विचार पर अडिग रहा। उसने अंतिम रूप से हार स्वीकार न कर इसे 'महान् और पवित्र जनमत' के रूप में, 1920 के राष्ट्रपति के चुनाव का आधार बना दिया। डेमोक्रेटिक उम्मीदवार, ओहियो के गवर्नर जेम्स ने राष्ट्रसंघ का प्रतिपादन किया। रिपब्लिकन प्रार्थी ओहियो के सिनेटर वारेन हार्डिंग ने घोषणा की, "मैं 'राष्ट्रों की एक समिति' के पक्ष में हूँ।" हार्डिंग 70 लाख के बहुमत से विजयी हुए। 4 मार्च 1921 को राष्ट्रपति पद की शपथ ग्रहण करते हुए उन्होने घोषणा की, "प्रशासन निश्चित और निर्णायक रूप से राष्ट्रसघ मे प्रवेश करने के विचार को रद्द करता है। यह अब ऐसा कोई भी प्रस्ताव नहीं रखता जिसके द्वारा संघ में पार्श्व द्वार, पृष्ठ-द्वार अथवा किसी चोर द्वार द्वारा प्रवेश किया जाय।" फलस्वरूप बीस वर्षों में किसी राजनीतिक दल ने संघ के पक्ष में विचार व्यक्त करने का साहस नही किया। विलसन ने इसी सदर्भ में उदास होते हुए विचार प्रकट किये थे, "अब मुझे कटु अनुभवों द्वारा यह सीखना होगा कि मैंने क्या खो दिया है······हमे एक मौका मिला था कि हम विश्व नेतृत्व करें। हमने इसे खो दिया है और शीघ्र ही हम इस सबका दुःखद परिणाम देखेंगे।"

2 जुलाई 1921 को काग्रेस ने प्रस्ताव पारित किया कि जर्मनी के साथ युद्ध का अंत कर दिया जाये। सघ के प्रतिश्रव (26 धाराओ) को छोड़कर, अमेरिका ने आस्ट्रिया (24 अगस्त 1921), जर्मनी (25 अगस्त) और हगेरी (29 अगस्त, 1921) के साथ पृथक्-पृथक् सधियाँ की, जिनकी शीघ्र ही सम्पुष्टि की गई।

मूल्यांकन

अमेरिका में राष्ट्रसंघ के प्रस्ताव की अस्वीकृति के कारणो पर मतभेद है। बेमिस के अनुसार, "सधि की मृत्यु के लिये उत्तरदायी विलसन और लॉज की पारस्परिक शत्रुता थी, जिनका कि विरोधी उद्देश्य था।" कुछ ने राष्ट्रपति के हठी स्वभाव पर जोर दिया है। शातिवादियों ने उन्हे एक महान् आदर्श के लिये संघर्षशील बताया है। उनके विरोधियों में विश्व समस्याओं में अमेरिका के नेतृत्व के प्रति बड़ा सीमित दृष्टिकोण था। कटु आलोचक कीन्स के मत में "वे एक अन्धे और बहरे पैगम्बर थे।" फ्रेंच इतिहासकारों ने उन्हें "एक गहरे काल्पनिक" कहा है। आगे चलकर राष्ट्रसंघ के भंग होने पर लॉज ने कहा, "अमेरिकन लोगों को इस बात पर खुशी

होनी चाहिये कि वे निर्बल संघ के सदस्य नहीं बने थे।" उनके दृष्टिकोण में "विलसन एक योग्य और महत्वाकांक्षी व्यक्ति अवश्य थे किन्तु महान् नहीं।" अमेरिकी इतिहासकार बेली ने उन्हें "सरल और अकपट बताया" और कहा कि वे सदा ही धूर्त मित्र लायड जार्ज और क्लीमेन्सो के शिकार बने। विलसन अपने समय से कहीं आगे थे और उन लोगो मे से थे जो सयुक्त राज्य अमेरिका के मानववादी दृष्टिकोण में विश्वास करते थे।

वास्तव में अमेरिका उस समय सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के पक्ष में नहीं था। विलसन के उदारवाद के विरुद्ध पूंजीवादियों की गुटबन्दी, पृथक्वाद के लिये जनता की उत्सुकता, शाटुंग प्रश्न पर जापान के विरुद्ध असंतोष, धारा 10 के अनुसार युद्ध मे लिप्त होने का भय, युद्धोत्तर काल मे आदर्शवाद का ह्रास, रिपब्लिकन दल में गुटबन्दी की समाप्ति, लॉज का विरोधी प्रचार और विलसन की राजनीतिक भूलों ने संधि की सम्पुष्टि को असभव बना दिया। परिणामस्वरूप सयुक्त राष्ट्र अमेरिका को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे पृथक्वाद की नीति अपनानी पड़ी। उसे क्षतिपूर्ति आयोग मे कोई स्थान नहीं मिला। वास्तव मे आगे चलकर विलसन की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। नयी पीढ़ी ने विलसन के विचारों से प्रेरित होकर सयुक्त राष्ट्र की सदस्यता स्वीकार की और उसका केन्द्र अपनी भूमि पर ही बनाया।

राष्ट्रपति हार्डिंग 1921 से 1923 तक अपने पद पर रहे। इनकी मृत्यु के उपरान्त 1923 मे उपराष्ट्रपति कैलविन कूलिज छः वर्ष तक राष्ट्रपति पद पर आसीन रहे। 1923 से 1929 तक हर्बर्ट हूवर व 1933-45 तक फ्रैंकलिन डिलोना रूजवेल्ट राष्ट्रपति रहे। 1920 से 1940 के समय में विलसन के आदर्शवाद और अन्तर्राष्ट्रीयता से हटकर, प्रतिक्रिया के रूप मे, अमेरिका की नीति पृथक्वाद की रही।

पृथक्वाद नीति का अर्थ

पृथक्वाद की कोई एक निश्चित परिभाषा देना कठिन है क्योंकि यह नीति भावनाओं से अधिक संबधित है। फिर भी इसके तीन आधार बताये जा सकते हैं:— (1) किसी अन्य राष्ट्र के मामलों से असलग्नता, अर्थात् किसी अन्य राष्ट्र से बाध्यता-मूलक सधि का अभाव और राष्ट्रसघ जैसी—अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ का सदस्य बन सामूहिक सुरक्षा प्रबन्ध मे भाग न लेना। अमेरिकी लोगो ने सर्व अमेरिकी सघ को भी पृथक्वाद नीति के कलेवर में ही माना क्योंकि उसे राजनीतिक क्षेत्र के बाहर समझा गया।

(2) अमेरिका ने अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध रखने की अनिच्छा प्रकट की। किन्तु तात्कालिक समय में विश्व के राष्ट्र अंतर्निर्भर थे। सबंधों को नियमित एवं सीमित कर दिया गया। इसके लिये प्रयोग मे लाये गये उपाय—देशान्तर प्रवास पर रोकथाम, तटकर में वृद्धि व विदेशी मद्य के आयात को समाप्त करना था। (3) पृथक्-

वाद नीति में अमेरिका को आत्मसंतोष था। उन्होंने इसे नैतिक श्रेष्ठता का बाना पहना कर कहा कि हम सर्वश्रेष्ठ है और हमें किसी अन्य राष्ट्र से शिक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता नही है।

आर्थर स्कैल सिंगर, डेक्सटर परकिन्स और सैमुअल बेमिस ने विशेष रूप से 1921 से 1933 के रिपब्लिकन दल के सत्ता के युग को पृथक्वाद का समय कहा; किन्तु पैरोवेलमोन्ट ने इस मत का विरोध करते हुए घोषणा की, "संयुक्त राज्य अमेरिका कभी पूर्णरूप से पृथक् नही रहा और साथ ही यूरोप के साथ उसकी अंतर्निर्भरता कभी भंग नही हुई।" हार्डिंग ने पृथक्वाद का विरोध करते हुए दृढ़ राष्ट्रवादी का मात्र 'राष्ट्रवादी' शब्द पृथक्वाद का विशेषण बन गया। यदि कोई राष्ट्रसंघ की सदस्यता स्वीकार करने पर जोर देता था तो वह अन्तर्राष्ट्रीय कहलाता था। पृथक्वाद के पोषक राष्ट्रवादी डूरोसेल के अनुसार "पृथक्वाद नीति के होते हुए, भी अमेरिका ने 1920-40 के मध्य युद्ध ऋण, जर्मन क्षतिपूर्ति, जापानी महत्वाकांक्षाओं, डालर कूटनीति की निरन्तरता, विदेशों में पूंजी लगाने की समस्या, लेटिन अमेरिका में हस्तक्षेप आदि विषयों मे विशेष रुचि ली।" कुछ विचारकों ने इसे उग्र राष्ट्रवाद का परिणाम भी कहा है। फिलिप डैक्सटर व जॉन सैंजविक ने 1928 में विचार व्यक्त किये "कदाचित् अमेरिका के लिये यह अधिक अच्छा होगा कि वह यूरोप को नैतिक शिक्षा देना बन्द कर दे। यदि हम श्रेष्ठ है तो इस श्रेष्ठता को अपने तक ही सीमित रखें, बजाय इसके कि उसका विश्व में प्रशिक्षण करें।"

हार्डिंग का नारा विश्व सुरक्षा की अपेक्षा अमेरिका की रक्षा को प्रमुखता देना था। उसकी विदेश नीति के उद्देश्य, सभी राष्ट्रों से मैत्री संबंध रखते हुए अमेरिका की स्वतन्त्रता पर आंच न आने देना, जर्मनी से शान्ति सबंध व विश्व न्याय का समर्थन, थे। शस्त्राशस्त्र के विषय मे उसने कहा, "मै एक बड़ी नौ सेना और छोटी किन्तु विश्व में सर्वश्रेष्ठ, थल सेना में विश्वास करता हूं। मैं देशान्तर गमन के नियमों में उचित मापदण्ड स्थापित करना चाहता हूं जो कि हमारे गणतंत्र के भावी जीवन को प्रभावित कर सकते हैं।"

स्वाभाविक स्थिति की ओर प्रयाण

युद्ध पूर्व का ऋणी अमेरिका, यूरोपीय मित्र राष्ट्रों को युद्ध काल मे ऋण देकर और युद्धोपरान्त पूंजी लगाकर, ऋणदाता राष्ट्र बन गया। 1914 की 33 अरब डालर राष्ट्रीय वार्षिक आय 1920 में बढकर 72 अरब डालर हो गई। युद्ध के चार वर्षों मे आयात की अपेक्षा निर्यात 11 अरब डालर बढ़ गया। 1914 में विदेशो मे लगी अमेरिकी पूंजी 3 अरब 50 करोड़ डालर थी, जो बढ़कर 1920 में 7 अरब डालर से अधिक व 1930 में 14 अरब 20 करोड़ डालर हो गई।

हार्डिंग ने 1921 में खाद्यान्नों की कीमतों में गिरावट आने की स्थिति मे अत्यावश्यक तट-कर की सिफारिश की। फोर्ड ने—मैकक्युम्बर तट-कर जो कि सितम्बर

1922 में पारित हुआ, अमेरिकी इतिहास में सबसे ऊँचा था। इसने 26 प्रतिशत (मक्खन, कच्चा लोहा) की औसत दर को बढा दिया और अधिक लचीली अवस्था को स्थान दिया। तट-कर आयोग ने राष्ट्रपति को उन वस्तुओं पर 50 प्रतिशत तक तट-कर बढ़ाने का अधिकार दिया जिनकी अमेरिका में उत्पादन में कीमत अधिक थी। हूवर ने 17 जून 1930 को हालेस्मूट तट-कर अधिनियम पारित कर दिया जिसके आधार पर सुरक्षित वस्तुओं पर तट-कर 59 प्रतिशत तक बढ़ गया। हार्डिंग व हूवर ने ऊँची तट कर नीति का प्रतिपादन किया था। वे यह भूल गये कि संयुक्त राज्य अमेरिका प्रमुख ऋणदाता राष्ट्र था और ऋण वापिस मिल सके, इस नाते वस्तुओं का आयात आवश्यक था। आदान-प्रदान के मार्ग मे अमेरिका ने केवल विक्रय की इच्छा प्रकट की। हैरिस वारेन के मत में यह एक 'राजनीतिक दुर्भाग्य' था। अन्य देशों ने भी इसी प्रकार के कदम उठाये और फलस्वरूप अमेरिका के व्यापार में कमी हो गई। व्यापारिक स्थिति 1937 में 1915 की भाँति हो गई और ऋणी राष्ट्रों ने ऋण लौटाना अस्वीकार कर दिया।

देशान्तरवास

1920 मे अमेरिका की जनसंख्या बढ़कर 10 करोड 57 लाख हो गई। अमेरिका मे बाहरी देशो से आवास की गति का औसत, पिछले 10 वर्षों के आधार पर, 3 लाख प्रतिवर्ष था। आवास की यह सख्या अकेले 1920 में बढ़कर 5,57,000, हो गई। 1917 मे आवास की गति पर नियन्त्रण करने के लिये शैक्षणिक प्रतिबन्ध लगाया गया था, किन्तु इससे नवागन्तुकों के निरन्तर आवास पर कोई प्रभाव नही पड़ा। 1921 मे आवास की मात्रा निर्धारित करने वाला प्रथम कानून पारित किया गया। इसके अनुसार 1910 मे किसी विशिष्ट राष्ट्र की जितनी जनसंख्या संयुक्त राज्य अमेरिका मे थी, उसके केवल 3 प्रतिशत लोग ही अब प्रतिवर्ष यहाँ आवास कर सकते थे। किन्तु इससे भी आवास की गति में कोई अन्तर नहीं पड़ा और 1924 के जॉनसन एक्ट द्वारा यह केवल 2 प्रतिशत कर दिया गया। इसका आधार 1891 मे उस राष्ट्र की संयुक्त राज्य अमेरिका मे जनसख्या थी। इसने नवीन आवास को 1,50,000 प्रतिवर्ष के रूप मे सीमित कर दिया। इस नीति का कारण युद्धोपरान्त की राष्ट्रीयता थी। इसका अर्थ यह भी था कि विदेशी, जो नागरिकता के अधिकारी नही थे, (अर्थात् एशिया के लोग), बिल्कुल कम रह गये। इस अधिनियम मे 1907-08 के जापान के साथ किये गये 'शिष्ट समझौते (Gentlemen's Agreement) का भी उल्लंघन कर दिया। नवीन अधिनियम मित्र जापान के लिये अनादर का विषय था, जिसके राजदूत हेनीहारा ने इस नीति के गंभीर परिणामो की ओर विदेश विभाग का ध्यान आकृष्ट किया। सिनेटर लॉज ने इसे एक 'अप्रत्यक्ष धमकी' समझा। सचिव ह्यूजेस ने लिखा, "यह एक दुःखद स्थिति है और मुझे अत्यधिक निराशा हुई है। सिनेट के हमारे मित्रों ने कुछ ही क्षणो मे वर्षो के कार्य को नष्ट कर दिया है और अपने देश को अमिट हानि पहुँचाई है।"

तात्कालिक परराष्ट्र सचिव ह्यूजेस के अनुसार, "पाँच राष्ट्रों की नौ-संधि में शान्ति की भाषा में हथियारों की बात की गई। ......दूसरे शब्दों में, हमने शान्ति के राज्य की स्थापना के लिये कदाचित इतिहास का सबसे बड़ा कदम उठाया है।" परन्तु इस संधि मे अमेरिका की अपेक्षा जापान का ही अधिक लाभ हुआ था। कैप्टिन नोक्स ने 1922 में अपनी पुस्तक "दी एक्लिप्स आफ अमेरिकन सी पावर" में लिखा, "इस संधि ने जापान को अमेरिका के पूर्व मे हस्तक्षेप के लिए पूर्णरूप से मुक्त कर दिया है।" यह भविष्यवाणी सत्य प्रमाणित हुई। इस संधि द्वारा अमेरिका ने दूर-पूर्व गुआम व फिलीपीन मे नौ सेना की यथास्थिति को बनाये रखना निश्चित किया था, जो चुपचाप तैयारी करते रहने वाले जापान के लिये लाभकारी सिद्ध हुआ। वास्तव में इस समझौते द्वारा जापान को दूर पूर्व मे अमेरिकी आक्रमण के विरुद्ध गारंटी प्राप्त हो गई। कुछ आलोचकों का तो यहाँ तक कहना है कि ह्यूजेस द्वारा दी गई रियायतों और दूरपूर्व से पीछे हटने का ही परिणाम पर्ल हार्बर की घटना व प्रशान्त महासागर मे द्वितीय विश्व युद्ध के समय उत्पन्न कठिनाइयाँ थी।

अमेरिका को 1902 के आंग्ल-जापान संधि के समाप्त होने से यह लाभ हुआ कि ब्रिटेन के विरुद्ध उसे संघर्ष मे लिप्त होने की आवश्यकता नही रही। नई चार शक्तियों की संधि से उसे यह लाभ रहा कि सोवियत रूस के विरुद्ध उसे अन्य तीन शक्तियों—ब्रिटेन, फ्रांस व जापान—का सहयोग प्राप्त हुआ। बड़े वाद-विवाद के पश्चात् सिनेट केवल पाँच मतों के बहुमत से इस संधि की सम्पुष्टि मे सफल हुई। उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि अमेरिका, चीन की किसी भी प्रकार की सैनिक सहायता, गुटबन्दी व किसी रक्षात्मक कार्यवाही मे भाग नही लेगा।

नौ-शक्तियों की संधि में जापान ने प्रथम बार लिखित रूप से "चीन के साथ व्यापारिक संबधों मे सभी राष्ट्रों के समान अधिकार" के सिद्धान्त को अथवा उन्मुक्त द्वार की नीति को अपनाया। अपने अथक प्रयत्नों से अमेरिका शाटूँग प्रदेश को जापान से चीन को दिलवाकर उसी भौमिक अखंडता को पुनर्स्थापित करने में भी सफल हो सका।

ह्यूजेस के प्रयत्नों का एक और परिणाम, रूस की अप्रत्यक्ष सहायता थी। जापान ने साइबेरिया से चार वर्ष बाद अपनी सेना को हटाना (1922) स्वीकार किया और इस प्रकार रूस की एक चिन्ता का अन्त हुआ।

फ्रीफील्ड के अनुसार इस सब कार्यवाही मे "चार्ल्स इवान ह्यूजेस मुख्य कर्त्ता एवं प्रेरक शक्ति था।"

याप संधि द्वारा अमेरिका याप द्वीप में केवल केन्द्र स्थापना की सुविधा जापान से प्राप्त कर व्यक्तिगत स्वार्थ को भी पूर्ण कर सका। आलोचकों की दृष्टि में अमेरिका को वाशिंगटन सम्मेलन से तात्कालिक लाभ हुआ। न्यूयार्क हेराल्ड

उसी में से 447 करोड़ डालर की अदायगी की। इस प्रकार प्राप्त ऋण में से भी जर्मनी 181.4 करोड़ डालर शस्त्रीकरण के लिए बचा सका।

मित्रराष्ट्रीय युद्ध ऋण

युद्ध विराम (11 नवम्बर 1918) के पूर्व संयुक्त राज्य अमेरिका ने मित्र-राष्ट्रों को कुल 707.7 करोड़ डालर का ऋण 5% ब्याज पर दिया था। इस प्रकार कुल ऋण 1035 करोड़ डालर हो गया। विभिन्न राष्ट्रों को दिया गया ऋण निम्न-तालिका से स्पष्ट है।

राष्ट्र का नाम	युद्धकालीन नकद ऋण (करोड़ डालर में)	युद्धोत्तर नकद ऋण (करोड़ डालर में)	कुल (करोड़ डालर में)
1. बेल्जियम	17	20	37
2. ब्रिटेन	370	58	428
3 फ्रांस	197	143	340
4. इटली	103	62	165
5. रूस	18	1	19
6. अन्य राष्ट्र	2	44	46
कुल	707	328	1035

9 फरवरी 1922 को कॉंग्रेस ने एक अधिनियम पारित कर एक 'युद्ध ऋण वित्तीय आयोग' बनाया। इसने यूरोपीय सरकारों को गैर सरकारी व्यक्तियों द्वारा दिये गये ऋण की अदायगी के एवज में 25 वर्ष की अवधि के 4.25 प्रतिशत के ब्याज दर की हुडियाँ जारी कीं। इस अधिनियम के द्वारा ऋण की अदायगी राष्ट्र की क्षमता के आधार पर कम कर दी गई। यह कमी तात्कालिक मूल्यों के आधार पर कुल ऋण का 43% थी। बालफोर ने घोषणा की, "यदि मित्र राष्ट्रीय ऋण की अदायगी समाप्त कर दी जाय तो वह क्षतिपूर्ति की मांग नहीं करेगा।" फ्रांसीसी, ऋण की अदायगी और क्षतिपूर्ति राशि में पहले ही सम्बन्ध स्थापित कर चुके थे। 1928 में बेंजामिन विलियम ने अदायगी के प्रश्न की व्यर्थता की ओर ध्यान दिलाया जो बिना और कर्ज दिये चल सकती थी। राष्ट्रपति हूवर मित्र राष्ट्रीय कर्ज को जर्मन क्षतिपूर्ति से अलग करने मे असफल रहे। 1931 में आर्थिक मंदी के कारण उन्होंने मित्र राष्ट्रीय कर्ज की अदायगी के लिए एक वर्ष का प्रसिद्ध 'हूवर विलम्ब' घोषित किया। सचिव स्टिमसन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वास्तविक हल ऋण को रद्द करना ही है। 15 दिसम्बर 1932 के पश्चात् फिनलैंड के अतिरिक्त किसी भी राष्ट्र ने और कोई अदायगी नही की। अमेरिकन लोगों ने इस संबंध में एक यूरोपीय षडयंत्र की गंध पाई और उसके 'पृथक्वाद' का यह भी एक कारण था।

जर्मनी ने अन्य राष्ट्रों के गैर सरकारी स्रोतों से 628 करोड़ डालर की राशि (जिसमें से 247 करोड डालर अमेरिका से प्राप्त हुए थे) प्राप्त की थी। उसकी कुल नकद अदायगी 447 करोड डालर थी। इस प्रकार अदायगी के पश्चात् भी उसने 181 करोड़ डालर की बचत की, जिसे उसने शस्त्रीकरण में व्यय किया। उधर अमेरिका द्वारा दिया गया कुल मित्र राष्ट्रीय ऋण 1035 करोड डालर था। (देखिये तालिका पृष्ठ 320) जर्मनी को 247 करोड़ डालर का ऋण दिया गया था। कुल युद्धकालीन ऋण जो अमेरिका को मित्र राष्ट्रों से मिला 260 करोड था। इस प्रकार से अंतिम रूप से 1035 करोड़ में से अमेरिका को केवल 13 करोड़ डालर (260—247) मिले।

1934 मे विरक्त कांग्रेस ने जानसन एक्ट पारित किया, जिसके आधार पर उन राष्ट्रों को कर्ज दिये जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, जिन्होंने कर्जा पूरा नही चुकाया अथवा उसे चुकाने मे देरी की। 11 मार्च 1941 को कांग्रेस ने राष्ट्रपति को यह विशेषाधिकार दिया कि आक्रान्त राष्ट्रो को रक्षा कार्यवाहियो के लिये वह अमेरिका की सम्पत्ति उधार अथवा पट्टे पर दे सकता है। इसी अधिनियम के अंतर्गत द्वितीय युद्ध काल मे सकल विश्व मे 5,000 करोड़ डालर (प्रथम विश्व युद्ध में दिये ऋण से पांच गुना से अधिक) अमेरिकन ऋण बिना उसके लौटने की आशा के स्वीकृत किया गया।

निःशस्त्रीकरण

वाशिंगटन सम्मेलन में गश्ती जहाज, विध्वंसक व पनडुब्बियों के नियंत्रण पर कोई निर्णय नहीं लिया गया था। अतः 1927 मे जेनेवा सम्मेलन की आयोजना की गई। इसमे कैलोग ने नौ-निःशस्त्रीकरण समस्या को सुलझाने के असफल प्रयत्न किये। फ्रांस और इटली की अनुपस्थिति और ब्रिटेन व अमेरिका में गश्ती जहाजों (क्रूजर) के आकार में मतभेद ने इस सम्मेलन को असफल कर दिया।

सम्मेलन की असफलता ने राष्ट्रों में अस्त्र-शस्त्र की होड़ प्रारंभ कर दी। अमेरिकी कांग्रेस ने 27 करोड़ डालर खर्च कर तीन वर्ष में 15 गश्ती जहाज (प्रत्येक 10,000 टन) बनाने की योजना बनाई। नवीन राष्ट्रपति हूवर के प्रयत्नों से लंदन में नौ-सम्मेलन का आयोजन 1930 में किया गया। अमेरिकन प्रतिनिधि गिब्सन ने नौ शक्ति सीमित करने के लिये निम्न सूत्र प्रस्तावित किया।

$$\text{ल} = \text{व} \times \text{आ} \times \text{श}$$

ल (लड़ने की योग्यता) = व (जहाजों का वजन) × आ (आयु) × श (गोलाबारी की शक्ति) में ब्रिटेन ने इसे अस्वीकार कर दिया। किन्तु समझौता तब हो [illegible] जबकि ब्रिटिश प्रधानमंत्री मैकडोनाल्ड संयुक्त राज्य अमेरिका पहुँचे और उन्होंने [illegible] के गश्ती व छोटे जहाजों के 3,39,000 टन व अमेरिका के लिये 3,15,000 [illegible] गश्ती जहाजों का सुझाव दिया। 22 अप्रैल की लंदन संधि मे नौ समान [illegible]

संयुक्त राज्य अमेरिका

सभी प्रकार के युद्ध पोतों में, अमेरिका व ब्रिटेन ने स्वीकार कर लिया। इसके साथ एक 'सुरक्षित धारा' भी थी जिसके अनुसार यदि कोई एक राष्ट्र संधि के उपरान्त शक्ति बढ़ाये तो दूसरे को भी ऐसा करने का स्वतः अधिकार हो जायेगा। ब्रिटेन के साथ नौ शक्ति समानता और सुरक्षित धारा के अन्तर्गत नौ शक्ति बढ़ाने की छूट, दोनों ने ही अमेरिकन जनता के सम्मुख निराशाजनक स्थिति प्रस्तुत की।

1932-34 में जेनेवा मे विश्व निःशस्त्रीकरण सम्मेलन हुआ। इसमें अमेरिकन प्रतिनिधि मंडल की अध्यक्षता गिब्सन ने की। स्वयं राष्ट्रपति हूवर ने एक योजना प्रस्तुत की जिसके अनुसार थल सेना व सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों में एक तिहाई कमी की जानी थी। जर्मनी के इस सम्मेलन से हट जाने के कारण, सम्मेलन असफल हो गया। 1935 के दिसम्बर मास में फिर एक नौ सम्मेलन हुआ किन्तु इसमें भी कोई निर्णय न हो सका। 1937 के पश्चात् सभी राष्ट्रों में शस्त्राशस्त्र की होड़ प्रारम्भ हो गई।

कैलोग-ब्रियां समझौता (1928)

युद्ध को गैर कानूनी घोषित करने वाले कैलोग-ब्रियां समझौते के जन्म दाता, शिकागो के वकील सैलमन लेविनसन (अमेरिका युद्ध निषेध समिति के संस्थापक थे)। 1921 से ही वे इस विषय में प्रयत्नशील थे और उन्होंने इस सम्बन्ध मे दार्शनिक जॉन ड्युई, क्रिश्चियन सैन्च्युरी के सम्पादक मौरीसन व आइडोहा के सिनेटर बोरा से विचार विमर्श किया था। लेविनसन के सीधे सादे विचारो मे इसके लिये समस्त राष्ट्रों को युद्ध को गैर कानूनी घोषित करना था व पंच फैसले को अनिवार्य रूप से मानना था। आंशिक रूप से इन विचारों की प्रेरणा उन्हें 25 दिसम्बर 1921 को प्रकाशित 'दी प्लान टू आउटलौवार' नामक पुस्तक से मिली थी जिसके रचियता हावर्ड के प्रेसीडेन्ट चार्ल्स इलीयट व हर्बट क्रोली थे। लेविनसन के विचार को 'अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिये कार्नेगी धन व्यवस्था' से संबन्धित निकोलस बटलर व कोलंबिया विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर जेम्स शौटवेल ने और आगे बढ़ाया। शौटवेल फ्रांस के विदेश-मन्त्री ब्रियां से भी युद्ध निषेध के सिलसिले में 22 मार्च, 1927 को मिला। 15 राष्ट्रों ने 27 अगस्त 1928 को एक बहुराष्ट्रीय संधि पर पेरिस मे हस्ताक्षर किये। यह संधि निरन्तर बनी रहनी थी। वास्तव मे इसका अस्तित्व आज भी है। इसके कुल सदस्य 63 हैं। युद्ध में लिप्त होने वाला राष्ट्र संधि के लाभों से वंचित हो जाता था। समझौते को तभी स्वीकृति मिली जबकि कैलोग ने यह स्पष्ट कर दिया कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी आत्म-रक्षा का स्वय निर्णायक है।

मूल्यांकन

केन्सास के सिनेटर अर्थात् केपर ने इस संधि को "विश्व इतिहास को एक

नया मोड़ देने वाला" बताया। हर्बर्ट हूवर ने कहा, "विश्व शांति की ओर यह एक शानदार कदम है।" सिनेटर रीड़ ने भावाविभोर हो कहा, "यह एक अंतर्राष्ट्रीय चुम्बन है।" सिनेटर ब्रुस ने इसकी इस प्रकार भर्त्सना की, "यह रक्तहीन शांति समझौता है।" इसकी सम्पुष्टी एक के विरुद्ध 85 मतों से हुई। भावी सन्तति के लिये युद्ध निषेध की प्रतिज्ञा एक भ्रम मात्र सिद्ध हुई। कैलोग जिसकी मृत्यु 1937 में हुई थी ने स्वयं देखा कि संधि पर हस्ताक्षर के केवल 3 वर्ष पश्चात् ही किस प्रकार ज़ापान ने आत्म-रक्षा के आडम्बर में बिना युद्ध घोषणा के मचूरियों पर आक्रमण कर दिया। यह एक भयानक भ्रांति थी क्योंकि इसने बिना किसी ठोस आधार के एक कृत्रिम मनोवैज्ञानिक गारंटी की भावना उत्पन्न की। सचिव स्टिमसन का मत था कि "थल नि.शस्त्रीकरण एक ऐसी यूरोपीय समस्या थी जो कि राजनीतिक समस्याओं की अपेक्षा तुच्छ थी।"

राष्ट्रसंघ

संयुक्त राज्य अमेरिका ने संघ द्वारा प्रस्तावित सामूहिक सुरक्षा योजनाओं को स्वीकार नहीं किया। उसने 1921 में अस्त्र-शस्त्रों की बिक्री सम्बन्धी एक समझौते में भाग लेना भी अस्वीकार कर दिया। 1923 में सवैधानिक उलझनों के कारण 'पारस्परिक सहायता' के प्रारूप को और 1924 के 'जेनेवा समझौते' को यह कहकर अस्वीकृत कर दिया गया कि यह अमेरिका के विरुद्ध एक षडयत्र है और उसके व्यापार के लिए भी हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं। किन्तु अमेरिका में शनैः-शनैः अंतर्राष्ट्रीय भावना विकसित हो रही थी और फलस्वरूप जेनेवा में प्रेक्षक भेजे गये। 1924 में द्वितीय अफीम सम्मेलन व 1925 में शस्त्रास्त्र की क्रय-विक्रय संबन्धी सभा में अमेरिकन प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। कनूडसन अपने राष्ट्रसंघ के इतिहास में लिखता है कि अमेरिका ने हर उस अधिशवेन मे भाग लिया जो सामाजिक और मानवीय विषयों से संबन्धित था और वह 1932-33 के विश्व आर्थिक और नि शस्त्रीकरण सम्मेलन मे भी सम्मिलित हुआ। वह 1934 मे अतर्राष्ट्रीय श्रम सघ का सदस्य भी बना। क्लाइड इगलटन का कहना है कि, "इस समय तक राष्ट्रसंघ की कुल सस्थाओं के 90 प्रतिशत मे अमेरिका भाग ले रहा था।"

विश्व न्यायालय

भूतपूर्व विदेश सचिव इल्युरुट अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के जन्मदाताओं में से एक थे। जॉन मूर पहले ही (24 फरवरी 1923) इस न्यायालय का न्यायाधीश चुना जा चुका था। ह्यूजेस ने हार्डिग को इसका सदस्य बनने के लिये नामजद कर दिया। हार्डिग ने इस प्रस्ताव को सिनेट के सम्मुख निम्न रूप में रखा :—(1) सदस्यता का अर्थ यह नही होगा कि अमेरिका राष्ट्रसघ से औपचारिक सम्बन्ध स्थापित कर रहा है, (2) न्यायालय से सम्बन्धित विषयो पर साधारण सभा और परिषद् में अमेरिका समानता के आधार पर भाग लेगा, (3) संयुक्त राज्य अमेरिका का वित्तीय

उत्तरदायित्व कांग्रेस (अमेरिकी संसद) निश्चित करेगी। लॉज ने यह आशंका प्रकट की कि विश्व न्यायालय एक ऐसी अदालत बन जायेगी जिसका निर्णय बाध्यतामूलक होगा। ह्यूजेस ने कहा कि "यदि आप ऐसा समझते हैं कि विश्व न्यायालय हमारी अन्य संस्थाओं के अनुरूप नहीं है तो आपको अमेरिकन इतिहास दुबारा लिखना चाहिये। आज भी न्यायालय पर यह आरोप है कि वह संघ का ही न्यायालय था; और इस प्रकार उसकी सदस्यता एक प्रकार से संघ में पृष्ठ द्वार से प्रवेश था। 26 जनवरी 1926 को, जब कि ह्यूजेस त्यागपत्र दे चुका था, सिनेट ने न्यायालय की सदस्यता 5 संशोधनों के पश्चात् स्वीकार करने की सहमति प्रकट की। अंतिम संशोधन ने न्यायालय पर यह प्रतिबंध लगाया कि वह बिना अमेरिका से पूर्व अनुमति के उसके विषय में कोई निर्णय नहीं दे सकता है। चूंकि संघ के अन्य सदस्यों ने इस संशोधन पर ऐतराज किया। राष्ट्रपति कुलीज ने अमेरिका की सदस्यता के प्रश्न को समाप्त कर दिया। 1929 मे इल्युरूट ने सिनेट के विदेश संबंध समिति के सम्मुख एक संशोधित प्रस्ताव रखा जो 1935 तक विचाराधीन रहा। फादर काफलिन, जो कि पृथकवादियों के अध्यक्ष थे, के जोरदार प्रचार के फलस्वरूप 36 पक्ष के विरुद्ध 52 विपक्ष मे मत पड़े और संशोधित प्रस्ताव 7 मत (कुल दो तिहाई मत में कमी) से अस्वीकृत हो गया।

सोवियत रूस को मान्यता

रूस में 12 मार्च 1917 को जारशाही के अंत का अमेरिका ने 'शासित की सम्मति द्वारा शासन' के सिद्धांत की विजय के रूप में स्वागत किया। 22 मार्च को अमेरिका ने प्रिंस लवाव की सरकार को अस्थायी मान्यता प्रदान की व 33 करोड़ डालर की राशि सहायता स्वरूप दी। एक अमेरिकन रेल-रोड आयोग ने अंतर्साइबेरियन रेल्वे का पुनर्गठन भी किया। 7 नवम्बर 1917 की बोलशेविक क्रांति ने रूस के प्रति अमेरिका की भावनाओं को बिल्कुल बदल दिया। जनवरी 1918 में रूस ने अमेरिका के 33 करोड़ डालर देना रद्द कर दिया व उसकी 44 करोड़ डालर की सम्पत्ति भी जब्त कर ली। अमेरिकियों ने लेनिन की सरकार को षड्यन्त्रकारी अल्पमत पर आधारित व अस्थायी माना। इसीलिये अमेरिकी सहायता रोक दी गई व अहस्तक्षेप की नीति प्रारम्भ की गई।

3 मार्च 1918 को रूस की जर्मनी के साथ ब्रेस्ट लिटोवस्क की पृथक् संधि के पश्चात् अमेरिका ने क्रांतिकारी सरकार की मान्यता समाप्त कर दी और अपना दूतावास पेट्रोगाड से बदलकर वेलोग्डा में कर दिया। 26 जुलाई 1918 तक, जब कि अमेरिकन राजदूत डेविड फ्रांसिस रूस से चले, मास्को से आंशिक संबंध बनाये रखा गया।

विलसन ने रूस में गृह युद्ध में उलझे दलों से मित्र राष्ट्रीय शक्तियों के प्रिन्किपो द्वीप में होने वाले विशेष सम्मेलन में भाग लेने का आग्रह किया। किन्तु

उनेका यह प्रयत्न असफल रहा। अमेरिकी प्रतिनिधि मण्डल के एक सदस्य बुलिट को अनौपचारिक रूप से मास्को भेजा गया। उसने लेनिन की शांति शर्तों को पेरिस भेजा इन शांति शर्तों में विराम संधि सम्मेलन, नाके बन्दी के उठाये जाने, राजनीतिक तथा आर्थिक सम्बन्धों की पुनः स्थापना, सभी राजनीतिक अपराधियों को क्षमादान, विदेशी सेनाओं को वापिस बुलाना व पुराने रूसी साम्राज्य द्वारा लिये कर्ज के निबटारे के प्रस्ताव थे। संधि के इन न्याय और विवेकपूर्ण प्रस्तावों को 10 अप्रैल 1919 तक स्वीकृत किया जाना था। बुलिट द्वारा भेजी गई सधि प्रस्तावों की रिपोर्ट की पेरिस के शांति सम्मेलन ने अवहेलना की। इसी समय मित्र राष्ट्रीय सेना ने आर्कटिक सागर के रूसी बन्दरगाह मुरमान्सक में हस्तक्षेप किया। अमेरिकी युद्धपोत ने ओलम्पिया में 4,500 सैनिकों को उतारा जिन्हें जून 1919 में वापिस बुलाया गया। विलसन ने दूर-पूर्व में हस्तक्षेप कर साइबेरिया में ब्रिटेन के 4,000 सैनिकों के साथ अमेरिकन सैनिक भेजे, जो वहाँ 1920 तक रहे।

अमेरिकी रूसी सम्बन्ध 14 वर्ष तक (1920-34) वैमनस्य पूर्ण रहे जिसके कारण—(1) अमेरिका मे औद्योगिक हड़तालों की लहर व सितम्बर 1919 में अमेरिकी साम्यवादी दल का निर्माण, (2) अमेरिका में साम्यवादी प्रचार द्वारा उत्तेजित जनमत और रूसी जेलों में अमेरीकन,(3) रूस की अमेरिका से प्राप्त कर्ज को वापिस देने से इन्कारी,(4)रूस का वहाँ पर स्थित अमेरिकी नागरिकों की रक्षा की जिम्मेदारी न लेना, (5) रूस में धार्मिक स्वतंत्रता के अभाव मे अमेरिकी जनता में रोष व (6) रूस में हिंसा द्वारा स्थापित सरकार और उसकी विश्व क्रांति योजना थे।

रूस को मान्यता की परिस्थितियाँ

अमेरिकी-रूसी संबंधों में तनातनी के बावजूद दोनों देशों का पारस्परिक व्यापार बढ़ता गया। 1921-25 का औसत 3·6 करोड़ डालर प्रतिवर्ष रहा। अमेरिका को रूसी वाणिज्य से लाभ होने, रूस को अमेरिकी कर्ज व तकनीकियों की आवश्यकता होने, बड़ी शक्तियों द्वारा रूस को मान्यता मिलने, दूरपूर्व में आपत्तिजनक स्थिति होने, मंचूरिया पर जापान के आक्रमण व प्रशांत महासागर में अपने स्वार्थों के प्रति समान भावनाओं—ऐसे कारण थे जिनसे रूस ने विश्व क्रांति की महत्वाकांक्षा को अस्थायी रूप से त्याग दिया और विदेशों में उत्तेजनात्मक प्रचार न करने व दोनों देशों को कूटनीतिक दृष्टि से निकट लाने का समझौता किया।

10 अक्टूबर 1933 को राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने राष्ट्रपति कालीनिन को पिछले शोचनीय संबंधों पर दुःख प्रकट करते हुए एक व्यक्तिगत पत्र भेजा और उन्हें 'दोनों देशों के मध्य की बड़ी समस्याओं का हल ढूँढने के लिये' अपना एक प्रतिनिधि भेजने को कहा। रूसी प्रतिनिधि, वहां के विदेश-मंत्री लिटविनोव, अमेरिका आये और 8 दिन के विचार विमर्श के बाद 16 नवम्बर, 1933 को (16 वर्ष पश्चात्) औपचारिक रूप से कूटनीतिक संबंध स्थापित किये। समझौते के मुख्य बिन्दु—(1) रूस [illegible]

कर्ज निपटारे के रूप में 7·50 अरब लास डालर अमेरिका को दिया जाना, (2) रूस में अमेरिकियों के नागरिक व धार्मिक अधिकारों की सुरक्षा, (3) वहाँ अमेरिका विरोधी किसी संस्था के निर्माण पर रोक, (4) अमेरिकन जीवन के प्रति अहस्तक्षेप की नीति, (5) रूस मे अपराधी घोषित किये जाने वाले अमेरिकनों को न्याय की सुविधा, (6) अमेरिका में साम्यवादी प्रचार पर प्रतिबंध, (7) रूस में पहले के अमेरिकन अपराधियों की मुक्ति व (8) साइबेरिया के हस्तक्षेप (1918-20) के विषय में समझौते के लिये बातचीत, थे।

विलियम बुलिट 1934 मे अमेरिका के मास्को में प्रथम राजदूत नियुक्त हुए। स्टालिन ने बुलिट से कहा, "यद्यपि रूजवेल्ट एक पूँजीवादी राष्ट्र के राष्ट्रपति हैं किन्तु फिर भी आज वे रूस के लोकप्रिय व्यक्तियो मे से एक हैं।" 1935 में एक व्यापारिक संधि के आधार पर अगले वर्ष रूस ने अमेरिका में 3 करोड़ डालर व्यय करना निश्चित किया।

तटस्थता कानून

1934 मे सिनेट ने एक प्रस्ताव पारित कर सिनेटर नी की अध्यक्षता में एक समिति बनाई जिसका उद्देश्य प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान अस्त्र-शस्त्रों के निर्माताओं की जाँच पड़ताल करना था। यह इस परिणाम पर पहुँची कि सयुक्त राज्य अमेरिका को बैंकरों व शस्त्र निर्माताओ ने युद्ध मे धकेल दिया, जो कि अपने उधार को वसूल करने के इच्छुक थे।

1935 के जर्मन शस्त्रीकरण व इटली के इथोपिया पर आक्रमण ने अमेरिका में युद्ध विरोधी भावनाओं को जन्म दिया। नी व क्लार्क सिनेटरों द्वारा प्रस्तावित स्वत: तटस्थता का कानून 31 अगस्त 1935 को पारित हो गया। इसके आधार पर (1) राष्ट्रपति को किसी क्षेत्र मे 'युद्ध स्थिति' की घोषणा, (2) अस्त्र-शस्त्रों व उनके अमेरिकन जहाजों में ले जाने, युद्ध-रत राष्ट्र को ऋण देने व अमेरिकनों के युद्ध-लिप्त राष्ट्रों के जहाजों में यात्रा करने पर रोक लगाने का अधिकार दिया गया। यह कानून 29 फरवरी 1936 तक लागू रहा। सचिव कोर्डेलहल जिनकी अध्यक्षता में 'राष्ट्रीय शस्त्राशस्त्र नियंत्रण बोर्ड' की स्थापना हुई थी, ने कहा, "हमारे देश को उस समय गहनतम पृथक्वाद में धक्का दे दिया गया है जबकि दुनियां मे युद्ध पर नियंत्रण रखने के लिये हमारी सबसे अधिक आवश्यकता थी।"

जब इटली व इथोपिया में युद्ध छिड़ा तब कोर्डेलहल ने 5 अक्टूबर 1935 को शस्त्र सामग्री के निर्यात पर 'नैतिक प्रतिबंध' लगाया। किन्तु इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ और पिछले वर्ष की अपेक्षा 1935 मे इटली के साथ 23 गुना अधिक व्यापार हुआ जो सघ के आदेशों को असफल बनाने का एक कारण था।

द्वितीय तटस्थता कानून 29 फरवरी 1936 से 1 मई 1937 तक जारी रहा

जिसने युद्धरत राष्ट्रों के लिये किसी भी प्रकार के ऋण पर प्रतिबंध लगा दिया। यह कानून स्पेन के गृह-युद्ध (17 अगस्त 1936) पर लागू नहीं हुआ। 1700 अमेरिकन स्पेन की सरकार (राजभक्तों) की ओर से लड़े। 1937 में कांग्रेस ने शस्त्राशस्त्र व युद्ध के साधनों को स्पेन के दोनों पक्षों के लिये भेजे जाने पर प्रतिबंध लगाया।

1 मई 1937 को तृतीय तटस्थता कानून 2 वर्ष के लिये पारित हुआ। शस्त्राशस्त्र पर प्रतिबंध के अतिरिक्त इसमें 2 अन्य महत्वपूर्ण धारायें जोड़ी गई। ये (1) अमेरीकन यात्रियों पर युद्धरत राष्ट्रों के जहाजों में यात्रा पर रोक व (2)'नकद और स्वयं ले जाओ' (Cash and Carry) धारायें थी। राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया कि वह युद्धरत राष्ट्रों को भी असैनिक सामग्री के क्रय की आज्ञा दे सकता है बशर्ते कि वे राष्ट्र गैर अमेरिकन जहाजों में सामान ले जायें व नकद पैसा दें। इस अधिनियम ने उन राष्ट्रों को लाभ पहुँचाया जिनकी अमेरिका में साख थी व जो प्रजातंत्र में विश्वास करते थे। सिनेटर बोरा ने इसकी आलोचना करते हुए कहा, "हम सभी खतरों और क्षतियों से बचना चाहते है और साथ ही हम निश्चय रूप से चाहते हैं कि हमें सभी प्रकार के लाभ मिलें।" इस विधि को द्वितीय चीन-जापान युद्ध (7 जुलाई 1937) पर लागू नही किया गया क्योंकि इस युद्ध की कोई औपचारिक घोषणा नही की गई थी।

पृथक्वाद का परित्याग

5 अक्टूबर 1937 के शिकागो में पृथक्वादी भाषण में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने पृथक्वाद के परित्याग की नीति की ओर इंगित किया। आतंकवादी अंतर्राष्ट्रीय स्थिति पर विचार करते हुए उन्होंने कहा, "यदि संक्रामक रोग फैलता है तो हमें यह नही समझना चाहिये कि अमेरिका उससे बच जायेगा।" उन्होने आगे विवेचना की, "शान्तिप्रिय राष्ट्रों को केवल तटस्थता व पृथक्वाद की ही नीति न अपनाकर उन राष्ट्रों का विरोध करना चाहिये, जो सधियों को भगकर अतर्राष्ट्रीय अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर रहे है। आज विश्व एक इकाई के रूप में विकसित हो रहा है और आत्मनिर्भर है व किसी कोने में हो रहे राजनीतिक अथवा आर्थिक उतार चढ़ाव से अप्रभावित नही रह सकता। जब कोई संक्रामक रोग फैलता है तो समाज के स्वास्थ्य के हित मे रोगियों को पृथक् कर दिया जाता है। अमेरिका युद्ध से घृणा करता है और शाति की आशा करता है और इसलिये वह शांति की खोज में प्रयत्न कर रहा है।"

इस प्रकार रूजवेल्ट की नई नीति द्वारा लगभग क्रांति उपस्थित हुई। इसके अनुसार (1) केवल तटस्थता व पृथक्वाद अमेरिका की सुरक्षा के लिये पर्याप्त नहीं थे। (2) शांतिप्रिय राष्ट्रों का सम्मिलित व प्रत्यक्ष प्रयत्न आवश्यक था व (3) कार्यवाहियों के फलस्वरूप आक्रामक को पृथक् किया जाना था। विदेश उपसचिव समनर वैल्स की मई 1937 में नियुक्ति के पश्चात्, हल (विदेश सचिव) की अपेक्षा

उस पर अधिक निर्भर रहने लगे। उन्होंने अपने 'सम्मिलित प्रयत्नों' के सिलसिले में ब्रिटेन के प्रधानमत्री नेवेल चेम्बरलेन को निम्नलिखित विषयों पर विचार करने के लिये, वाशिंगटन बुलाया—अतर्राष्ट्रीय कानून के मौलिक सिद्धांत, कच्चे माल की प्राप्ति के लिये समान अवसर के तरीके और युद्ध की स्थिति में तटस्थवादी राष्ट्रों की नीति। किंतु चेम्बरलेन ने इटली व जर्मनी से सीधे बात करने का विचार प्रस्तावित किया।

चैकोस्लोवाक सकट के समय रूजवेल्ट ने 26 सितम्बर 1938 को सभी पक्षों को शातिपूर्ण बातचीत द्वारा समझौते के लिये प्रयत्न करने को कहा। हिटलर ने उत्तर दिया कि युद्ध अथवा शांति चैक लोगों पर निर्भर है। रूजवेल्ट ने एक दिन पश्चात् लिखा "वर्तमान बातचीत तभी चालू रह सकती है जबकि आप आश्वासन दें। अमेरिका इस बात में कोई उत्तरदायित्व नहीं लेता क्योंकि वह यूरोपीय राज-नीतिक मामलों मे लिप्त नही है। म्युनिख समझौते से अमेरिकन लोगो को गहरा धक्का लगा जिन्होंने कहा कि, "यह शांति समझ से परे है।" अमेरिका ने आलोचना की, "ब्रिटेन व फ्रांस ने अपने अस्तित्व के स्वार्थ में, अपने राष्ट्रों के जनमत की अवहेलना कर, हिटलर द्वारा चैकोस्लोवाकिया का विघटन हो जाने दिया।" अमेरिकी राजदूत ह्यूज विलसन को जर्मनी की भर्त्सना करने हेतु 15 नवम्बर को वापिस बुला लिया गया।

पुनर्शस्त्रीकरण

'विरक्तिपूर्ण पृथक्वाद' ने पुनर्शस्त्रीकरण के एक नये कार्यक्रम को जन्म दिया जिसका मूल अमेरिकी सुरक्षा बताया गया। मात्र नौ सेना के लिये 1938-39 में 115 करोड डालर की राशि व्यय करना निर्धारित हुआ। युद्ध विभाग ने 12,000 उन कारखानो की सूची बनाई जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर युद्ध सामग्री निर्माण के लिये परिवर्तित किया जा सकता था। अक्टूबर 1938 मे युद्ध सामग्री निर्माण के लिये आवश्यक कच्चे माल को जमा करने की योजना बनाई गई। अगस्त 1938 में किंगस्टन मे रूजवेल्ट ने घोषणा की, 'संयुक्त राज्य अमेरिका केनेडा की प्रभुसत्ता को आंच आने पर शांत नही बैठेगा।" 14 अप्रैल 1939 को रूजवेल्ट ने सूचीबद्ध 30 राष्ट्रों पर आक्रमण न करने की हिटलर से मांग की और कहा, "तुमने और जर्मन लोगों ने यह बार-बार कहा है कि तुम्हे युद्ध की इच्छा नही है। यदि यह सच है तो कोई युद्ध नही होना चाहिये।" हिटलर ने कोई उत्तर नही दिया, किन्तु उसे एक "नैतिक राजनीतिज्ञ" कहा। 1 सितम्बर 1939 को जब हिटलर ने पोलैंड पर आक्रमण किया, रूजवेल्ट ने अपने राष्ट्र को सम्बोधित करते हुए कहा, "मेरे हाथ में रहते मैं संयुक्त राज्य अमेरिका में शांति का अंत न होने दूंगा।" उसने सावधान करते हुए कहा, "यदि शांति विश्व के किसी कोने में भंग होती है तो वह विश्व के समस्त देशो के लिये खतरनाक है।" अमेरिका ने तटस्थता का बाना उतार दिया और विश्व के प्रजातंत्र राष्ट्रों को शस्त्रों की सहायता दी। मई 1937 का तटस्थता-

वादी कानून 1 मई 1939 को समाप्त हो गया। 6 सप्ताह के वाद-विवाद के पश्चात् 4 नवम्बर 1939 को एक अन्य तटस्थतावादी कानून पारित हुआ। पूर्व पारित अधिनियम की अपेक्षा इसमें अनेक सुरक्षा धारायें रखी गई और "नकद दो एव स्वयं ले जाओ" सिद्धांत हर धारा के साथ जोड़ दिया गया। इस विधि में मुख्य परिवर्तन "राष्ट्रपति के साथ साथ कांग्रेस को भी 'युद्ध स्थिति' की घोषणा का अधिकार, युद्ध के उपकरणों पर रोक की समाप्ति और राष्ट्रपति को युद्ध स्थल व खतरे के स्थानों की परिभाषा का अधिकार, जहां कि अमेरिकन नागरिक, जहाज व वायुयान नहीं जा सकते थे।" इस कानून को इंगलिश चैनल वल्कि उत्तरी सागर पर तुरन्त लागू कर दिया गया। यह सुखद कल्पना की गई कि अमेरिका युद्ध मे सम्मिलित नहीं होगा।

फ्रांस के पतन (22 जून 1940) ने 2 सितम्बर को ब्रिटेन के साथ संधि को जन्म दिया। 50 विध्वसक जहाजों के बदले अमेरिका को 99 वर्ष के पट्टे पर बहामा, जमाइका, ट्रिनिदाद, ब्रिटिश गाइना, न्युफाउन्डलैंड व बैरामूडा के सैनिक अड्डे प्राप्त हुए। इन अड्डो ने अमेरिका व पनामा नहर की सुरक्षा को दृढ किया।

1940 में रूजवेल्ट तीसरी वार राष्ट्रपति चुने गये। 16 सितम्बर 1940 को वुर्क-वड्सवर्क अधिनियम पर हस्ताक्षर हुए। इसके अनुसार 21 से 36 वर्ष की आयु के मध्य के पुरुषों के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका की सीमा में एक वर्ष की सैनिक सेवा अनिवार्य हो गई। किसी एक वर्ष में इस प्रकार के सैनिक प्रशिक्षण पाने वाले व्यक्तियों की अधिकतम संख्या 9 लाख निर्धारित की गई।

उधार-पट्टा अधिनियम

जर्मनी, इटली व जापान के त्रिपक्षीय समझौते पर हस्ताक्षर कर लेने पर, 27 दिसम्बर 1940 को रूजवेल्ट ने घोषणा की, "निश्चित रूप से हमें प्रजातंत्र की रक्षा का शस्त्रागार बन जाना चाहिये।" उन्होंने आगे कहा कि, "यदि ब्रिटेन हार जाता है तो धुरी राष्ट्र यूरोप, एशिया, अफ्रिका व आस्ट्रेलिया पर अधिकार कर लेंगे और फिर हम सबको, सारे अमेरिकनों को तोप के मुंह के सम्मुख जीवन व्यतीत करना होगा, ऐसी तोप जिसमें आर्थिक व सैनिक गोले भरे हों।"

6 जनवरी 1941 के, कांग्रेस के भाषण में राष्ट्रपति ने सुझाव रखा, "प्रजातंत्र राष्ट्रों को युद्ध सामग्री उधार दे दी जाय और युद्ध पश्चात् वे वस्तुएं जिनकी हमें आवश्यकता हो उन राष्ट्रों से ले ली जाएं।" अमेरिकी सुरक्षा पर ही चार अनिवार्य मानवीय स्वतंत्रताओं (दमन, आवश्यकता व भय के विरुद्ध और धर्म के लिये) की गारंटी समझी गई।

कांग्रेस ने 11 मार्च 1941 को 'उधार-पट्टा' अधिनियम पारित किया। इसने 'सुरक्षा सामग्री' की परिभाषा दी जिसमें हथियार, गोला-बारूद, जहाज, वायुयान व कृषि और औद्योगिक वस्तुएं सम्मिलित की गईं। राष्ट्रपति को, इनमें से किसी भी

सुरक्षा सामग्री को उस राष्ट्र के लिये उत्पादन का अधिकार दिया जिसकी रक्षा, संयुक्त राज्य अमेरिका की सुरक्षा के लिये आवश्यक हो। यह सामग्री उस राष्ट्र को उधार या पट्टे पर दी जा सकती थी। यह उधार पट्टे पर दी गई सुरक्षा सामग्री अमेरिकन जहाजों में नही ले जाई जा सकती थी और राष्ट्रपति के लिये हर 90 दिन बाद इस अधिनियम के अन्तर्गत की गई गतिविधियों के विषय में सूचना देना आवश्यक था।

राष्ट्रपति को दिये गये अधिकारों की तुलना में इस अधिनियम ने राष्ट्रपति को और अधिक शक्तिशाली बना दिया जो कि प्रजातांत्रिक राष्ट्रों को शीघ्र और कुशल सहायता के लिये आवश्यक भी था। उधार-पट्टा कानून को संचालित करने के लिये 7 खरब डालर की राशि निर्धारित की गई। इस अधिनियम के पारित होने के साथ ही 1919 से प्रारंभ पृथक्वादी नीति का अंत आ गया। चर्चिल ने इसके विषय में उल्लेख किया, "यह अधिनियम उदारता, दूर दृष्टि व राजनीतिज्ञता का द्योतक है।" जर्मनी ने घोषणा की, "यह उत्तरी अमेरिका का नीचतम हस्तक्षेप है।" इसने युद्ध ऋण की समस्या को अपने जन्म के साथ ही निवटा दिया। इस विधि ने यह भी विश्व इतिहास में प्रथम बार प्रतिपादित किया कि बड़े राष्ट्र बिना क्षतिपूर्ति की आशा के छोटे राष्ट्रों की सहायता करें जो कि दोनों ही के लिये लाभप्रद है। यह केवल 'विजय' का ही साधन नहीं था वरन् जैसा कि स्टेटीनियस ने कहा, "विश्व कूटनीति मे एक वास्तविक क्रांति थी।"

दक्षिण अमेरिका से संबंध

मुनरो सिद्धांत के कुछ नियम हैं जिनकी घोषणा राष्ट्रपति मुनरो ने 1823 में कांग्रेस में की। इन सिद्धांतो के अनुसार, संयुक्त राज्य अमेरिका (1) अमेरिका महाद्वीप में यूरोपीय हस्तक्षेप बर्दाश्त नही करेगा, (2) यूरोपीय शक्तियों को पश्चिमी दुनिया मे और अधिक उपनिवेश नही बढ़ाने देगा व (3) यूरोपीय मामलों में हस्तक्षेप नही करेगा। इन सिद्धांतों के दो अर्थ—(1) संयुक्त राज्य अमेरिका का पश्चिमी दुनिया का स्वाभाविक सरक्षक होना—(नैतिक दृष्टिकोण) व (2) पश्चिमी क्षेत्र वास्तव में केवल अमेरिकन प्रभाव क्षेत्र है (यथार्थवादी दृष्टिकोण)—है। बीसवी शताब्दी के प्रारंभ ने मुनरो सिद्धांत का एक और अर्थ 'हस्तक्षेप का अधिकार' देखा और ब्रिटेन प्रेरित अमेरिका ने लेटिन अमेरिका में शांति व व्यवस्था बनाये रखना अपनी जिम्मेदारी समझा। रूजवेल्ट ने इस इस कार्य को 'बड़े डण्डे का प्रयोग' व डैक्सटर परकिन्स ने संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा निगरानी को 'पश्चिम का पुलिसमैन' कहकर पुकारा है।

1914 के पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका की दक्षिणी अमेरिका के प्रति नीति की विशेषतायें—हस्तक्षेप, आर्थिक प्रवेश, साम्राज्यवाद का विरोध व अच्छा पड़ोसी बनना

है। साम्राज्यवाद की आलोचना करते हुए 27 अक्टूबर 1913 को विलसन ने अपनी दक्षिणी अमेरिकी नीति इस प्रकार निर्धारित की, "अमेरिका फिर कभी विजय द्वारा एक फुट भूमि भी प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करेगा······नैतिकता न कि उपयोगिता को हमारा मार्गदर्शन करना चाहिये।" वह यह समझता था कि यह उनका कर्त्तव्य है कि वे दक्षिण अमेरिका को सुसभ्य और प्रजातांत्रिक बनायें और वहां शांति रखें। हस्तक्षेप का यह एक शक्तिशाली नैतिक आधार समझा गया।

भौमिक अखंडता की पारस्परिक गारंटी और प्रजातांत्रिक सरकारों की राजनीतिक स्वतंत्रता के आधार पर विलसन ने 'सर्व अमेरिकी समझौता' तैयार किया। इस पर 6 राष्ट्रों ने सहमति प्रकट की किन्तु अर्जेन्टाइना, ब्राजील व चिली ने इसे अस्वीकार कर दिया। विलसन ने बाध्य होकर अनेक बार हस्तक्षेप किया।

मैक्सिको

मई 1923 में विलसन ने मैक्सिको में ह्यूरटा की सरकार को मान्यता नहीं दी। उसे उन्होंने 'निराशोन्मत्त बर्बर' की संज्ञा दी व उसकी सरकार को कसाइयों की सरकार बताया जिन्होंने कि अपने विपक्षी की हत्या कर सत्ता हथिया ली थी। ह्यूरटा की सहायता के लिये शस्त्राशस्त्रों से लदा एक जर्मन जहाज जब वीराक्रुज पहुंचा तो अमेरिकन नौ सैनिकों ने उस पर बमबारी की और उनके नगर पर 22 अप्रैल 1914 को अधिकार कर लिया। 15 जुलाई 1914 को ह्यूरटा ने पद त्याग दिया और करेन्जा को राष्ट्रपति चुना गया। करेन्जा के राष्ट्रपतित्व का फ्रांसिसको विल्ला (एक अशिक्षित चपरासी) ने अपने कौशल से विरोध किया। अमेरिका ने करेन्जा का समर्थन कर जनरल पर्शिंग के नेतृत्व में विजय के लिये सेना भेजी और 13 मार्च 1917 को कानूनी रूप से उसे राष्ट्रपति पद पर आसीन किया। 1925 में राष्ट्रपति कैलेस के तेल के राष्ट्रीयकरण ने अमेरिकी जीवन पर प्रभाव डाला। ऐसी परिस्थिति में नवीन अमेरिकी राजदूत ड्वाइट मोरो ने ऋण देकर अस्थायी समझौता किया। बदले मे 1917 के पूर्व दी गई तेल रियायतें जारी रखी गईं और विदेशी रियायतो की 50 वर्षीय सीमा को समाप्त कर दिया गया। विदेशी मालिकों को क्षतिपूर्ति का अस्पष्ट आश्वासन देकर जनरल कार्डेनस (जो कि 1934 में राष्ट्रपति बने थे) ने 1937 में रेल रोड का राष्ट्रीयकरण कर दिया। 1938 मे 13 अमेरिकन तेल कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। हल ने इस समस्या को 1942 में उदार दृष्टिकोण से हल किया।

हस्तक्षेप

अमेरिकी नौ सेना निकारागुआ (1912) हैती (1915) अमेरिकन रिपब्लिक क्यूबा में अमेरिकियों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा हेतु उतारी गई। विलसन ने प्रारम्भ में हस्तक्षेप, आर्थिक कूटनीति और साम्राज्यवाद का विरोध किया था किन्तु उन्ही के समय में सबसे अधिक सैनिक हस्तक्षेप हुआ।

प्रथम विश्व युद्ध में जब अमेरिका लिप्त हो गया तब दक्षिणी अमेरिकी राज्यों ने अमेरिका के पक्ष में योगदान किया था। अमेरिका का राष्ट्रसंघ का सदस्य न बनना उसकी साम्राज्यवाद की नीति का अंग समझा गया। दक्षिण अमेरिका ने संयुक्त राज्य अमेरिका को उत्तर के दानव की भाँति अपने आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश करते हुए पाया। 1921 तक वहां 54 अमेरिकी बैंक खुल गये जब कि सात वर्ष पूर्व एक भी नहीं था। ब्राजील से काफी, चिली से शोरा, बोलिविया से टिन, संयुक्त राज्य अमेरिका खरीदने लगा व बदले में मोटर गाड़ियां व अन्य मशीनें देने लगा। 1931 तक अमेरिका 500 करोड़ डालर की पूंजी दक्षिण अमेरिका में लगा चुका था। यह राशि 1914 की तुलना में 1700 गुनी अधिक थी।

अमेरिकी नीति की एक विशेषता, सर्व अमेरिकी आन्दोलन था। 1889 मे इसका जन्म हुआ था। इस आन्दोलन का प्रयोग दक्षिण अमेरिका स्वतंत्रता और समानता के लिये करना चाहता था जबकि सयुक्त राज्य अपने निश्चित नियंत्रण के लिये। 1923 मे सैन्टिवागों में पचक सम्मेलन हुआ। उरागुआ के प्रस्ताव को, कि अमेरिका के लिये एक पृथक् राष्ट्रसंघ हो, वाशिंगटन ने अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार संयुक्त राज्य मुनरो सिद्धांत के आधार पर अपने प्रभुत्व को ही बनाये रखना चाहता था।

1928 में हवाना में षष्टम् सर्व अमेरिकी सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन मे संयुक्त राज्य की उच्च तटीय कर व निकारागुआ मे उसके हस्तक्षेप (1926 में वहां सेना भेजा जाना) की तीव्र आलोचना हुई। हस्तक्षेप नीति की आलोचना का उत्तर देते हुए ह्यूजेस ने स्पष्ट घोषणा की, "यदि सरकार किसी राष्ट्र में भंग हो जाय और किसी अमेरिकन राज्य में प्रभुसत्ता निर्बल हो जाय तो अमेरिकन नागरिकों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा के लिये हस्तक्षेप उचित है।" सम्मेलन ने अंतर्राष्ट्रीय झगड़ो को शांति पूर्ण पंच फैसले द्वारा निबटारा करने की व्यवस्था की।

राष्ट्रपति हूवर ने 1928 के अंत में स्वयं सद्भावना यात्रा की। उन्होंने हस्तक्षेप, मध्यस्थता, पंच फैसले और अच्छे पड़ोसी की नीति पर बल दिया। उप विदेश सचिव क्लार्क ने 1930 में एक स्मारक पत्र प्रस्तुत किया। मुनरो सिद्धांत पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा कि यह सिद्धांत बल प्रयोग व दमन का साधन न होकर दक्षिण अमेरिकी राज्यों को प्रादेशिक अखंडता और स्वाधीनता का आधार है। अमेरिका ने तुरन्त क्रांति के परिणामस्वरूप जन्म लेने वाली नवीन सरकारों—अर्जेन्टाइना, ब्राजील, बोलिविया, चिली व पेरु को मान्यता प्रदान की। इसी समय जब डोमिनिकन रिपब्लिक व ब्राजील ने कर्ज पर ब्याज देना बन्द कर दिया तो उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की गई। क्यूबा में अमेरिकन राजदूत गुगेन हाइम ने वक्तव्य दिया कि अमेरिकन नागरिकों के विशेष संरक्षण, अन्य अमेरिकन गणतंत्रों के साथ संबंधों की आत्महत्या होगी। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने

1933 में प्रथम बार शपथ लेते हुए कहा, "मैं इस राष्ट्र को अच्छे पड़ोसी की नीति के लिये समर्पित करूगा।" मोटीविडियो के सातवें सर्व अमेरिकी सम्मेलन में सयुक्त राज्य अमेरिका ने सशस्त्र हस्तक्षेप की नीति के परित्याग की घोषणा की। 1901 के प्लाट संशोधन को समाप्त कर क्यूबा के साथ एक व्यापार समझौता किया गया। निकारागुआ से अमेरिकी सेना को हटाया गया। हैती को भी खाली करने के पश्चात्, अमेरिकनों ने उससे एक विशेष मैत्री सधि की। 1936 मे पनामा में आंतरिक उपद्रव होने से हस्तक्षेप की नीति का परित्याग कर दिया। दिसम्बर 1936 मे स्वयं राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने पश्चिमी दुनिया की सुरक्षा हेतु आठवें सर्व अमेरिकी सम्मेलन में भाग लिया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि किसी अमेरिकी राष्ट्र की खतरे की स्थिति में सभी अमेरिकी राष्ट्र एक सामान्य निष्कर्ष पर पहुच कार्यवाही करें। यह प्रस्ताव लीमा की अन्तिम घोषणा (दिसम्बर 1938) में स्वीकृत हो गया।

धुरी राष्ट्रों के दक्षिणी अमेरिका में आर्थिक प्रवेश को रोकने के लिये 1934 से 1940 के मध्य में सयुक्त राज्य अमेरिका ने एक दर्जन व्यापारिक संधिया की जिनमे ब्राजील, बोलीविया और वेनीजुएला भी सम्मिलित थे। संयुक्त राज्य अमेरिका के सैनिक शिष्ट मंडल मैक्सिको, कोलम्बिया व पेरू में नियुक्त किये गये। विदेश विभाग में एक सांस्कृतिक संबंधों का विभाग खोला गया। इस प्रकार अमेरिकी नीति 'पश्चिमी दुनिया की सुरक्षा' के सिद्धांत पर आधारित होने लगी। द्वितीय विश्व युद्ध के छिड़ने के पश्चात् दक्षिण अमेरिका के विदेश मंत्री व संयुक्त राज्य अमेरिका, पनामा (1939), हवाना (1940) और रायोडी जेनेरो (1942) में मिले। सभी अमेरिकन राष्ट्रों ने धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। सेनफ्रांसिस्को में होने वाले 25 अप्रैल 1945 के सम्मेलन मे 20 दक्षिणी अमेरिकी राष्ट्रों ने भाग लिया और संयुक्त राष्ट्रसघ के सदस्य बन गये। युद्ध कार्य में अर्जेन्टाईना के अतिरिक्त सभी दक्षिण अमेरिकी राष्ट्रों ने योग दिया और सयुक्त राज्य को आवश्यक युद्ध सामग्री दी।

सुदूरपूर्व और अमेरिका

प्रथम युद्ध प्रारभ होते ही जापान ने अपनी विस्तारवादी नीति प्रारंभ कर दी। उसने चीन में शान्टूग और प्रशांत महासागर में जर्मन द्वीप समूह जिनमें मार्शल्स और मेरीआनाज और कैरोलाइन्स थे, उन पर अधिकार कर लिया। जब 1915 में जापान ने चीन पर 21 मांगें थोपीं तो विदेश मंत्री ब्रियां ने स्पष्ट घोषणा की, "जापान द्वारा चीन से की गई किसी भी ऐसी संधि को जिनसे उनके पहले की किसी संधि संकुचित होती हो, चीन की राजनैतिक एवं भौमिक प्रभुसत्ता पर बाधा आती हो व उन्मुक्त द्वार की अंतर्राष्ट्रीय नीति पर प्रभाव पड़ता हो तो हम उसे मान्यता नहीं देंगे।" जब 1917 में अमेरिका ने प्रथम विश्व युद्ध में प्रवेश किया तब दोनों राष्ट्र मित्र राष्ट्र गुट में सम्मिलित हो गये और लान्सिग-ईशी समझौता हुआ (2 नवम्बर 1917)। इस समझौते के द्वारा जापान को चीन में, भौगोलिक सामीप्यता के कारण, विशेष अधिकारों की मान्यता दी गई।

पेरिस के शांति सम्मेलन में गुप्त संधि द्वा...
सेना के अधिकार व याप द्वीप के प्रश्न को लेकर ...
तनाव को स्थिति बनी रही। अमेरिका को जापान ...
झुकना पड़ा। उसे प्रशान्त महासागर मे आदिष्ट प्रणा...
गया व शान्टुग पर उसने अपना कब्जा बनाये रखा। 1...
हुई विस्तारवादी नीति को देखते हुए वाशिंगटन सम्मेल...
इस सम्मेलन के परिणामों से जापान असंतुष्ट रहा क्योंकि...
पड़ा; याप द्वीप में उसने अमेरिका को संचार अधिकार दिये...
उसे असमान अधिकारों का सामना करना पड़ा। 19...
देशान्तरवास कानून व उसकी चीन के प्रति सहानुभूति ने दो...
अधिक बिगाड़ दिया। 1923 में लान्सिग-ईशी समझौते को समाप्त...
चीन मे अमेरिका ने पूर्ण तटस्थता की नीति को अपनाया और 1928...
के नेतृत्व मे बनी कुइमन्ताग सरकार को मान्यता प्रदान कर दी। 1...
समझौते और 1930 में जापान ने लंदन के नौ शक्ति सम्मेलन में अमे...
दिया किन्तु एक वर्ष पश्चात् ही उसने मंचूरिया में अघोषित युद्ध प्रारंभ...
स्टिमसन ने 7 जनवरी 1928 को फिर एक घोषणा में स्पष्ट रूप से कहा,
जापान द्वारा किसी भी थोपी गई संधि, अमेरिका और उसके नागरिकों के ...
को सीमित करने वाले समझौतों, चीन की भौमिक व राजनैतिक अखण्डता पर
वाले प्रभावों व उन्मुक्त द्वार की नीति के विरोध को नैतिक समर्थन व मान्यता ...
नहीं करेगा।" इसके उत्तर में जापान ने कहा, "मंचूरिया में होने वाले नवीन प...
वर्तन वहां की जनता आत्म-निर्णय के सिद्धान्त पर स्वयं स्वीकार कर रही है।
अमेरिका ने जापान के शंघाई पर अधिकार का, अन्य राष्ट्रों का साथ देते हुए तीव्र
विरोध किया (जिससे वह वहां से हट गया) और राष्ट्र संघीय लिटन आयोग, जो कि
मंचूरिया की स्थिति की जाच के लिये गया था, के साथ अपना प्रतिनिधि भी भेजा।
लिटन आयोग के 'आक्रामकता, के आरोप को अस्वीकार जापान राष्ट्रसंघ से अलग
हो गया, मंचूरिया के स्थान पर जापान संरक्षित 'स्वतन्त्र मंचुको' राष्ट्र की घोषणा की
व अपनी विस्तारवादी नीति को जारी रखा और बृहत् पूर्वी एशिया व स सम्पन्नता
की नीति को अपनाया। अमेरिका की साम्राज्यवाद विरोधी नीति, उस पर फिलीपीन
रक्षा का अत्यधिक आर्थिक भार व फिलीपीन के चीनी व्यापार से अमेरिका के स्वार्थों
को हानि के फलस्वरूप 1934 में टाइडिंग्स मैकडफी कानून पारित हुआ। इसमें 10
वर्ष पश्चात फिलीपीन को स्वतंत्र करने, उसके दो वर्ष बाद वहा से सेना हटाने व नौ-
सेना अड्डे को हटाने के विषय में बाद में विचार विमर्श करने का निश्चय किया
गया। इससे जापान ने यह अनुमान लगाया कि दूर पूर्व मे जापान की विस्तारवादी
नीति का विरोध नहीं होगा और एशिया में विस्तार की उसने गुप्त योजना बनाई।
1934 के दिसम्बर मास में टोकियो स्थित अमेरिकी राजदूत ग्रयु ने विदेश सचिव हल

को दिया कि जापान का एशिया में उद्देश्य केवल आन्तरिक नियंत्रण न होकर राज-नैतिक भी है और वह एक-एक करके कूटनीति अथवा बल प्रयोग द्वारा चीन, फिलिपीन, मलाया, इंडोनेशिया व साइबेरिया तट पर अधिकार करना चाहता है। अतः हमें जापान के आश्वासनों पर विश्वास नहीं करना चाहिये व अपने हितों की रक्षा करनी चाहिये अन्यथा हमारी नीति उन्मादपूर्ण और भर्त्सना करने योग्य मानी जायेगी। इसके एक वर्ष पश्चात् जापान के एक प्रवक्ता साबुरो कुरूसु ने जापानी योजना को स्पष्ट करते हुए साहसपूर्वक कहा, "अमेरिका पश्चिमी दुनिया व जापान पूर्वी संसार का नेतृत्व करेगा।"

अमेरिकी नीति में मोड़

राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने प्रशांत महासागर में अमेरिका के हितों की सुरक्षा के लिये चीन को 5 करोड़ डालर के ऋण की युद्ध सामग्री, जिसमें वायुसेना भी थी, देना स्वीकार किया। 1933 में अमेरिका द्वारा सोवियत संघ की मान्यता को जापान ने प्रशांत महासागर में जापान की शक्ति को संतुलित करने की चेष्टा माना। एक वर्ष पश्चात् जापान ने 1922 की नौ संधियों को समाप्त कर दिया। 1936 में लंदन के नौ शक्ति सम्मेलन में जापान ने पूर्ण नौ शक्ति समानता की मांग की। उसने अमेरिका के विरोध के कारण सम्मेलन से परित्याग कर दिया। चीन, रूस और अमेरिका की समन्वित शत्रुता के कारण अपनी पृथकता को समाप्त करने के लिये जर्मनी के साथ कॉमिन्तर्न विरोधी संधि की। अमेरिका ने इस संधि में जर्मन-जापानी सैनिक समझौते के प्रति भारी शंका की।

7 जुलाई 1937 को जब जापान ने चीन के विरुद्ध द्वितीय अघोषित युद्ध प्रारम्भ किया, तब चीन के हित को दृष्टि में रखते हुए अमेरिका ने 'तटस्थता कानून' का इस मामले में प्रयोग नहीं किया। युद्ध रत जापान की कार्यवाहियों के कारण अमेरिका का युद्धपोत 'पैने' यांगी नदी में डूब गया जिसका अमेरिकी जनमत ने भारी विरोध किया। जापान ने ऐसी स्थिति में क्षतिपूर्ति करके मामले को शांत कर दिया। जापान द्वारा नागरिक जनता पर बमबारी व युद्धपोत के डुबोये जाने के मामले को लेकर जो अमेरिकी विरोध उत्पन्न हुआ उस सिलसिले में विदेश मंत्रालय ने अमेरिका के वायुयान निर्माताओं को कहा कि जापान को यान अथवा उनके हिस्सों को निर्यात करने पर, उन्हें निर्यात-अनुमति गहरे खेद के साथ ही दी जायेगी। जापान द्वारा 'उन्मुक्त द्वार' नीति की अवहेलना और पूर्वी एशिया में 'नई-व्यवस्था' की योजना की अमेरिका ने कटु आलोचना की और विदेश सचिव हल ने कहा कि 'यदि वह पूर्वी दुनिया में इस प्रकार करेगा और पश्चिमी संसार में कोई अन्य राष्ट्र एकाधिकार करने की चेष्टा करेगा तो व्यवस्थित मानव जीवन की प्रगति रुक जायेगी।" जापान जो कि अमेरिका से 90 प्रतिशत लोहा, तेल व ¾ अन्य धातुओं का आयात कर रहा था, उस पर, अमेरिका ने उसकी आक्रामक कार्यवाहियों को देखते हुए 26 जुलाई 1939 को

1911 की व्यापारिक संधि को समाप्त कर दिया। अमेरिका ने चीन को जापान के विरुद्ध ढ़ाई करोड़ डालर ऋण और दिया। जुलाई 1940 में युद्ध सामग्री के निर्यात पर राष्ट्रपति को नियंत्रण करने का अधिकार दे दिया। टोकियो ने घोषणा की, "इस प्रकार की नीति से दोनों देशों के सम्बन्ध निश्चित ही जाएँगे।" सितम्बर 1940 की त्रिराष्ट्रीय संधि (इटली, जर्मनी व जापान के मध्य) व अप्रैल 1941 की जापान-रूसी तटस्थता संधि ने अमेरिका के लिए और अधिक संकट की स्थिति उत्पन्न कर दी। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अमेरिका मे जापानियों की सम्पत्ति को जब्त कर दिया (21 जुलाई, 1941)।

जब जर्मनी ने द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ किया तो जापान तटस्थ रहा और फ्रांस के पतन के पश्चात् 24 सितम्बर 1940 को उसने फ्रांसीसी उपनिवेश इन्डोचीन पर अधिकार कर लिया। अमेरिका के युद्ध सामग्री बंद कर देने की स्थिति से अब जापान ने इन्डोनेशिया पर इसके लिये दबाव डाला। किंतु अमेरिकी प्रभाव के कारण वहां के प्रधानमंत्री वैन मुक ने युद्ध सामग्री के लिये इन्कार कर दिया। प्रिंस कोनोई (16 अक्तूबर) के वार्तालाप और अमेरिका से समझौते की नीति से असंतुष्ट सैनिक दृष्टिकोण वाले लोगों ने टोजो के नेतृत्व में मन्त्रिमण्डल की स्थापना की। इन्होंने सैनिक तैयारी के लिये और अधिक समय प्राप्त करने की दृष्टि से एडमिरल नुमुरा व राजदूत साबूरो कुरूसु को वाशिंगटन वार्तालाप के लिये भेजा। इस समय अमेरिकी नीति अत्यंत अस्थिर थी। इसके दो पहलू थे—(1) वे जापान पर आर्थिक प्रतिबंध द्वारा दबाव डालना चाहते थे और (2) शांति वार्तालाप द्वारा किसी ऐसे समझौते पर पहुँचना जो चीन व जापान दोनों को मान्य हो। परन्तु यह अत्यंत कठिन था, क्योंकि जापान चीन पर नियंत्रण करना चाहता था और अमेरिका उसे समाप्त करना। चर्चिल के कहने पर रूजवेल्ट विश्वास करने लगा कि जापान तब तक युद्ध में लिप्त नही होगा जब तक कि ब्रिटेन शत्रु पक्ष द्वारा पराजित नही हो जाता। 7 नवम्बर 1941 को एडमिरल नुमुरा ने दूसरी बार शांति वार्ता प्रारम्भ की। उन्होने दो योजनायें (1) या तो जापान की चीन मे प्रभु सत्ता की स्वीकृति अथवा (2) जापान द्वारा चीन में युद्ध की तब तक अनुमति, जब तक कि उसकी विजय नही हो जाती, प्रस्तुत की। अमेरिका ने यह दोनों योजनायें अस्वीकृत करते हुए जापान से मांग की कि वह चीन व इन्डो-चीन—दोनों स्थानों से अपनी फौजें हटा ले। अमेरिका ने उससे कहा कि वह समग्र दक्षिण-पूर्वी एशिया मे अनाक्रमण की उससे संधि करे। जापान ने 27 नवम्बर को इसे अस्वीकार कर दिया।

पर्ल हार्बर

जापान के नौ सेनाध्यक्ष यामामोटो ने 29 नवम्बर को ही पर्लहाबर पर 7 दिसम्बर को आक्रमण करने का निश्चय कर वाशिंगटन स्थित प्रतिनिधियों को संदेश भेजा कि वे सचिव हल को इस कार्यवाही के केवल 20 मिनिट पूर्व सूचना दें।

वाशिंगटन समय मध्य रात्री 1 बजकर 25 मिनट पर, जापान ने बिना युद्ध की घोषणा किये पर्ल हार्बर पर आक्रमण कर दिया और 2 बजकर 20 मिनट पर जापानी प्रतिनिधियों ने सचिव हल को यह सूचना दी कि "वार्तालाप द्वारा समझौता असमव है।" अब तक हल को पर्लहार्बर पर आक्रमण की सूचना मिल-चुकी थी। दु:खी हल ने कहा, "मैंने अब तक कोई ऐसा परिपत्र नही देखा है जो इतना ठूसा हुआ, कुख्यात, मिथ्या एवं विकृत हो।" दिसम्बर 8 को एक विरोधी मत से, कांग्रेस ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। जर्मनी ने भी त्रिराष्ट्रीय समझौते के अनुसार अमेरिका के विरुद्ध युद्ध घोषणा की। इस प्रकार 1939-41 के मध्य अमेरिका की दूर पूर्व नीति तटस्थता से बदलकर विश्व युद्ध में लिप्त होने की हो गई।

अमेरिकी इतिहास मे पर्ल हार्बर के विषय मे दो मत हैं। संशोधनकारियों (टन्सिल, मोरगेनस्टर्न आदि) के अनुसार अमेरिका की दण्डादेश नीति से विवश होकर जापान ने पर्ल हाबर पर आक्रमण किया और उसके लिये रूजवेल्ट उत्तरदायी है। इसी मत के मानने वालों का यह भी कहना है कि रूजवेल्ट ने अमेरिकी जनता को धोखा दिया क्योंकि जापानी, वार्तालाप के बहाने, युद्ध की तैयारी करते रहे। दूसरे मत के अनुयायी, अतर्राष्ट्रीय मत के मानने वाले थे (जैसे लैंगर, फेसस, ग्लीसन आदि); और इनका मत था कि नाजीवाद, अधिनायकवाद और फासिज्म के अंत द्वारा ही लोकतंत्र की सुरक्षा और अमेरिका की स्वतंत्रता की रक्षा संभव है और राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने बड़े धैर्य से काम लिया। उनके अनुसार युद्ध अमेरिका पर थोपा गया; वह एक जापानी षड्यत्र का परिणाम था और अमेरिका को बाध्य होकर युद्ध घोषणा करनी पड़ी।

1941-45 के मध्य अमेरिकी सहयोग

1941-45 के मध्य अमेरिकी सहयोग से ही मित्र राष्ट्रों की विजय सम्भव हुई (देखिये विशेष वर्णन 'द्वितीय विश्व युद्ध' अध्याय में)। सक्षेप में युद्धकाल में अमेरिकी देनें—(1) जर्मनी के रूस पर आक्रमण के पश्चात् रूस से 'महान् समझौता' (2) उत्तरी अफ्रीका में अमेरिकी सैनिक उतार कर इटली की पराजय व फ्रांस मे नया मोर्चा खोल जर्मनी पर विजय (3) जापान पर अणुबम गिरा उसे हार स्वीकार करने को बाध्य करना (4) मित्र राष्ट्रों को सभी प्रकार की युद्ध-सामग्री और विशेष रूप से वायुयान देना और (5) युद्ध काल में ही युद्ध के पश्चात् शांति के लिये एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना का वार्ताक्रम (तेहरान, मास्को, काहिरा, डम्बारटन-ओक्स, याल्टा और पोट्सडम सम्मेलन)-प्रारम्भ करना था। 12 अप्रैल 1945 को राष्ट्रपति रूजवेल्ट की मृत्यु हो गई और उपराष्ट्रपति ट्रूमैन ने उनका स्थान ग्रहण किया। हिटलर की आत्म हत्या के सात दिन पश्चात् 7 मई को जर्मनी ने आत्म-समर्पण कर दिया। उधर 25 अप्रैल से ही अमेरिका के सेनफ्रांसिस्को नगर में

1911 की व्यापारिक संधि को समाप्त कर दिया। अमेरिका ने चीन को जापान के विरुद्ध ढ़ाई करोड़ डालर ऋण और दिया। जुलाई 1940 में युद्ध सामग्री के निर्यात पर राष्ट्रपति को नियंत्रण करने का अधिकार दे दिया। टोकियो ने घोषणा की, "इस प्रकार की नीति से दोनों देशों के सम्बन्ध निश्चित हो जाएँगे।" सितम्बर 1940 की त्रिराष्ट्रीय संधि (इटली, जर्मनी व जापान के मध्य) व अप्रैल 1941 की जापान-रूसी तटस्थता संधि ने अमेरिका के लिए और अधिक संकट की स्थिति उत्पन्न कर दी। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अमेरिका में जापानियों की सम्पत्ति को जब्त कर दिया (21 जुलाई, 1941)।

जब जर्मनी ने द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ किया तो जापान तटस्थ रहा और फ्रांस के पतन के पश्चात् 24 सितम्बर 1940 को उसने फ्रांसीसी उपनिवेश इन्डोचीन पर अधिकार कर लिया। अमेरिका के युद्ध सामग्री बंद कर देने की स्थिति से अब जापान ने इन्डोनेशिया पर इसके लिये दबाव डाला। किंतु अमेरिकी प्रभाव के कारण वहां के प्रधानमंत्री वैन मुक ने युद्ध सामग्री के लिये इन्कार कर दिया। प्रिंस कोनोई (16 अक्तूबर) के वार्तालाप और अमेरिका से समझौते की नीति से असंतुष्ट सैनिक दृष्टिकोण वाले लोगों ने टोजो के नेतृत्व में मन्त्रिमण्डल की स्थापना की। इन्होंने सैनिक तैयारी के लिये और अधिक समय प्राप्त करने की दृष्टि से एडमिरल नुमुरा व राजदूत साबूरो कुरूसु को वाशिंगटन वार्तालाप के लिये भेजा। इस समय अमेरिकी नीति अत्यंत अस्थिर थी। इसके दो पहलू थे—(1) वे जापान पर आर्थिक प्रतिबंध द्वारा दबाव डालना चाहते थे और (2) शांति वार्तालाप द्वारा किसी ऐसे समझौते पर पहुँचना जो चीन व जापान दोनों को मान्य हो। परन्तु यह अत्यंत कठिन था, क्योंकि जापान चीन पर नियंत्रण करना चाहता था और अमेरिका उसे समाप्त करना। चर्चिल के कहने पर रूजवेल्ट विश्वास करने लगा कि जापान तब तक युद्ध में लिप्त नहीं होगा जब तक कि ब्रिटेन शत्रु पक्ष द्वारा पराजित नहीं हो जाता। 7 नवम्बर 1941 को एडमिरल नुमुरा ने दूसरी बार शांति वार्ता प्रारम्भ की। उन्होंने दो योजनायें (1) या तो जापान की चीन में प्रभु सत्ता की स्वीकृति अथवा (2) जापान द्वारा चीन में युद्ध की तब तक अनुमति, जब तक कि उसकी विजय नहीं हो जाती, प्रस्तुत की। अमेरिका ने यह दोनों योजनायें अस्वीकृत करते हुए जापान से मांग की कि वह चीन व इन्डो-चीन—दोनों स्थानों से अपनी फौजें हटा ले। अमेरिका ने उससे कहा कि वह समग्र दक्षिण-पूर्वी एशिया में अनाक्रमण की उससे संधि करे। जापान ने 27 नवम्बर को इसे अस्वीकार कर दिया।

पर्ल हार्बर

जापान के नौ सेनाध्यक्ष यामामोटो ने 29 नवम्बर को ही पर्लहार्बर पर 7 दिसम्बर को आक्रमण करने का निश्चय कर वाशिंगटन स्थित प्रतिनिधियों को संदेश भेजा कि वे सचिव हल को इस कार्यवाही के केवल 20 मिनिट पूर्व सूचना दें।

वाशिंगटन समय मध्य रात्री 1 बजकर 25 मिनट पर, जापान ने बिना युद्ध की घोषणा किये पर्ल हार्बर पर आक्रमण कर दिया और 2 बजकर 20 मिनट पर जापानी प्रतिनिधियों ने सचिव हल को यह सूचना दी कि "वार्तालाप द्वारा समझौता असभव है।" अब तक हल को पर्लहार्बर पर आक्रमण की सूचना मिल चुकी थी। दुःखी हल ने कहा, "मैंने अब तक कोई ऐसा परिपत्र नहीं देखा है जो इतना ठूसा हुआ, कुख्यात, मिथ्या एवं विकृत हो।" दिसम्बर 8 को एक विरोधी मत से, कांग्रेस ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। जर्मनी ने भी त्रिराष्ट्रीय समझौते के अनुसार अमेरिका के विरुद्ध युद्ध घोषणा की। इस प्रकार 1939-41 के मध्य अमेरिका की दूर पूर्व नीति तटस्थता से बदलकर विश्व युद्ध में लिप्त होने की हो गई।

अमेरिकी इतिहास मे पर्ल हार्बर के विषय में दो मत हैं। संशोधनकारियों (टन्सिल, मोरगेनस्टर्न आदि) के अनुसार अमेरिका की दण्डादेश नीति से विवश होकर जापान ने पर्ल हाबर पर आक्रमण किया और उसके लिये रूजवेल्ट उत्तरदायी है। इसी मत के मानने वालों का यह भी कहना है कि रूजवेल्ट ने अमेरिकी जनता को धोखा दिया क्योंकि जापानी, वार्तालाप के बहाने, युद्ध की तैयारी करते रहे। दूसरे मत के अनुयायी, अंतर्राष्ट्रीय मत के मानने वाले थे (जैसे लैंगर, फेसस, ग्लीसन आदि) और इनका मत था कि नाजीवाद, अधिनायकवाद और फासिज्म के अंत द्वारा ही लोकतंत्र की सुरक्षा और अमेरिका की स्वतन्त्रता की रक्षा संभव है और राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने बड़े धैर्य से काम लिया। उनके अनुसार युद्ध अमेरिका पर थोपा गया, वह एक जापानी षड्यंत्र का परिणाम था और अमेरिका को बाध्य होकर युद्ध घोषणा करनी पड़ी।

1941-45 के मध्य अमेरिकी सहयोग

1941-45 के मध्य अमेरिकी सहयोग से ही मित्र राष्ट्रों की विजय सम्भव हुई (देखिये विशेष वर्णन 'द्वितीय विश्व युद्ध' अध्याय में)। सक्षेप में युद्ध काल में अमेरिकी देनें—(1) जर्मनी के रूस पर आक्रमण के पश्चात् रूस से 'महान् समझौता' (2) उत्तरी अफ्रीका में अमेरिकी सैनिक उतार कर इटली की पराजय व फ्रांस मे नया मोर्चा खोल जर्मनी पर विजय (3) जापान पर अणुबम गिरा उसे हार स्वीकार करने को बाध्य करना (4) मित्र राष्ट्रों को सभी प्रकार की युद्ध सामग्री और विशेष रूप से वायुयान देना और (5) युद्ध काल में ही युद्ध के पश्चात् शांति के लिये एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना का वार्ताक्रम (तेहरान, मास्को, काहिरा, डम्बार्टन-ओक्स, याल्टा और पोट्सडम सम्मेलन) प्रारम्भ करना था। 12 अप्रैल 1945 को राष्ट्रपति रूजवेल्ट की मृत्यु हो गई और उपराष्ट्रपति ट्रूमैन ने उनका स्थान ग्रहण किया। हिटलर की आत्म हत्या के सात दिन पश्चात् 7 मई को जर्मनी ने आत्म-समर्पण कर दिया। उधर 25 अप्रैल से ही अमेरिका के सेनफ्रांसिस्को नगर में

51 राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के निर्माण के लिये वार्ता प्रारम्भ कर दी जो 26 जून 1945 तक चलती रही। 6 अगस्त को अमेरिका ने हिरोशिमा पर और तीन दिन पश्चात् नागासाकी पर अणुबम प्रहार किया जिससे जापान ने आत्म-समर्पण कर दिया और अमेरिका इस सदी में दूसरी बार प्रमुख विजयी राष्ट्र रहा (2 सितम्बर, 1945)।

मूल्यांकन

प्रभावशाली अमेरिकन कूटनीतिज्ञ जार्ज केनन के अनुसार अमेरिकन विदेश नीति "प्रायः अव्यावहारिक आदर्शवाद व कभी-कभी राष्ट्रीय स्वार्थ से प्रभावित हुई है।" वाल्टर लिपमैन के शब्दों में "1898 से लेकर 1945 की ऐतिहासिक अर्धशताब्दी, जिसमें अमेरिका तीन युद्धों में लिप्त हुआ, उसकी कोई विदेश नीति ही नहीं थी।"

इस काल में अमेरिकी नीति बड़ी अस्पष्ट रही क्योंकि एक ओर तो वे अपनी अंतर्राष्ट्रीय जिम्मेदारी निबाहना नहीं चाहते थे और दूसरी ओर सक्रिय रहना चाहते थे। अमेरिका ने राजनैतिक क्षेत्र में तटस्थता किन्तु आर्थिक क्षेत्र में सक्रिय व्यापार की नीति अपनाई। बेमिस के शब्दों में 'इस समय की अमेरिकी विदेश नीति मूर्खों के स्वर्ग के समान थी।' इस विदेश नीति के पाँच आधार तत्व-प्रथकवाद, साम्राज्य-वाद विरोध, निःशस्त्रीकरण, तटस्थता व शांतिवाद थे। हंस मारगेन्थ्यु के विचार मे "अमेरिकी विदेश नीति तटस्थता अर्थात् विदेशों से पूर्णरूप से अप्रभावित रहना थी जो कि स्वयं विदेश नीति से दूर भागना मात्र था।" विलसन के विचार, उसका आदर्शवाद और अंतर्राष्ट्रीयता समय से कहीं अधिक आगे व गहरे काल्पनिक थे, जिन्हे साधारण जनता नही समझ सकी। ड्यूरोसैल के अनुसार "उसने अमेरिकन जनमत को कांग्रेस के मत से भिड़ा दिया और विदेशी जनमत को क्रमशः सरकारी मत से लड़ा दिया और इसका परिणाम यह हुआ कि वह स्वय अकेला रह गया और उसका कोई अनुयायी न रहा।" हार्डिंग, कुलीज और हूवर ने राष्ट्रवाद से प्रभावित होकर तटस्थता की नीति को उसकी चरम सीमा पर पहुँचाया। परन्तु इस काल मे राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता में संघर्ष रहा और इस कारण हार्डिंग और उनके विदेश सचिव ह्यू जेस; व हूवर और उनके विदेश सचिव स्टिमसेन में, मतभेद बना रहा और कभी समन्वय नही हो सका। अमेरिका मे विदेश नीति के नेता थे, किन्तु वास्तविक नेतृत्व का अभाव था। राष्ट्रपति रूजवेल्ट प्रत्यक्षवादी थे। उनका कहना था कि अमेरिका के स्वार्थ विश्व-स्वार्थ पर आधारित हैं। इसलिये उन्होंने 1933 से 45 तक प्रत्यक्षवाद व अंतर्राष्ट्रीयवाद का समन्वय कर अमेरिका को विश्व-गतिविधियों का केन्द्र बना दिया। 'लोकतन्त्रवाद', 'स्वाधीनता' और 'आत्म-निर्णय' के विलसन के आदर्शों को उन्होने मूर्त रूप दिया। रूस के साथ मैत्री संधि और संयुक्त राष्ट्र की स्थापना मानव इति-हास में उनकी सबसे बड़ी देन है। अमेरिकन लोगों की यह विशेषता है कि वह अपनी समस्या को मानव समुदाय की महान् समस्या समझ लेते है और अंतर्राष्ट्रीय सम-स्याओं में अस्पष्ट रहते हैं और सदैव यह समझते हैं कि वे ही ठीक है।

सारांश

अमेरिकी विदेश नीति के मुख्य आधार पृथक्वाद, मुनरो सिद्धांत, समुद्रों पर गमनागमन की स्वतंत्रता, व्यापार में उन्मुक्त द्वार की नीति, साम्राज्यवाद का विरोध, निःशस्त्रीकरण व आत्मनिर्णय का सिद्धान्त हैं। 33 महीने की तटस्थ नीति के पश्चात् अमेरिका विश्व युद्ध में लिप्त हो गया। इसके कारण, जर्मनी का असीमित पनडुब्बी आक्रमण, अमेरिका के यात्रीवाहक जहाज लुसिटानिया का डुबोया जाना मैक्सिको में जर्मनी का हस्तक्षेप व आकस्मिक रूसी क्रांति थी। फ्रैंच इतिहासकारों के अनुसार युद्ध में अमेरिका की सहायता के कारण ही मित्र राष्ट्रों की विजय संभव हुई। उसकी त्रिरूपी देन सामाजिक, आर्थिक व नैतिक क्षेत्र में थी।

शांति सम्मेलन में आदर्शवादी विलसन ने राष्ट्रसंघ की स्थापना की, आदिष्ट प्रणाली का प्रयोग किया और जर्मनी से क्षतिपूर्ति की मांग की, ताकि मित्र राष्ट्र अपना ऋण चुका सकें। रिपब्लिकन दल ने वर्सायी संधि का विरोध किया, फलस्वरूप सिनेट ने बहुमत से इसे स्वीकार नही किया।

राष्ट्रपति हार्डिंग, कुलीज और हूवर (1921-33) ने रिपब्लिकन नीति के अनुसार विदेश नीति मे पृथक्वाद की नीति को अपनाया। 1921 और 1924 में देशान्तर वास सीमित करने के लिये कानून पारित किया गया। सुदूर पूर्व समस्याओं और नौ-प्रतियोगिता को रोकने के लिये 1921-22 में नौ राष्ट्रो के सम्मेलन में, चीन की प्रादेशिक अखंडता व उन्मुक्त द्वार और जापान को अमेरिका और ब्रिटेन की नौ-शक्ति का 60 प्रतिशत बड़े जहाज रखने की अनुमति, दी गई। अमेरिका का प्रशान्त महासागर में प्रभुत्व बना रहा।

1928 में विदेश मंत्री कैलोग ने पेरिस की शान्ति संधि की, जिसमें युद्ध को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। यद्यपि अमेरिका ने विश्व न्यायालय में योग नहीं दिया, परन्तु राष्ट्रसंघ द्वारा आमंत्रित अफीम सम्मेलन और विश्व आर्थिक और निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में भाग लिया।

रूसी क्रांति के फलस्वरूप अमेरिकी पूंजी को जब्त कर लिया गया और 16 वर्ष तक दोनों देशों के संबंध तनावपूर्ण रहे। 16 नवम्बर 1933 को अमेरिका ने रूस को मान्यता प्रदान की और बुलिट् को मास्को में पहला राजदूत नियुक्त किया। 1935 में अमेरिका ने तटस्थता कानून को इथोपिया और इटली पर लागू किया परन्तु स्पेन के गृह युद्ध में इसे लागू नही किया गया। 1937 के संशोधित तटस्थता कानून मे 'नकद और स्वयं ले जाओ' धाराओं को प्रस्तुत किया गया। इसी समय चीन पर जापान के अघोषित युद्ध होने के कारण इस कानून का प्रयोग नहीं किया गया। 5 अक्टूबर 1937 के भाषण में रूजवेल्ट ने पृथक्वाद की नीति का परित्याग कर पुनः शस्त्रीकरण प्रारम्भ किया।

1939 का जब द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हुआ, तब प्रजातंत्र की रक्षा के लिये उधार-पट्टा अधिनियम पारित किया गया और युद्ध के लिये तैयारी करने लगे।

दक्षिण अमेरिका के 20 राष्ट्रों के साथ मुनरो सिद्धान्त के आधार पर अमेरिका ने मैक्सिको, निकारागुआ, क्यूबा और पनामा में हस्तक्षेप की नीति को अपनाया। 1933 में इसका परिवर्तन कर अच्छे पड़ोसी की नीति का प्रयोग किया।

सुदूर पूर्व में शान्टुग, साइबेरिया, याप नौ-शक्ति आदि लेकर जापान के साथ तनाव बढ़ता गया। विस्तारवादी जापान ने 1932 में जब मंचूरिया पर आक्रमण किया तो अमेरिका ने स्टिमसन अमान्यता सिद्धान्त को लागू किया। लिटन जांच ने सक्रिय रूप से भाग लिया और जापान को आक्रामक राष्ट्र ठहराया। 1934 में 10 वर्ष पश्चात् फिलीपीन को स्वतंत्र करने का कानून पारित किया गया। 2 वर्ष पश्चात् 1936 की प्रथम लंदन संधि समाप्त हो गई और अस्त्र-शस्त्र की होड़ फिर आरम्भ हो गई। जापान ने चीन पर आक्रमण किया और हिन्द-चीन पर अधिकार कर लिया। विवश होकर अमेरिका ने चीन को आवश्यक अस्त्र-शस्त्र व धन दिया। जापान के साथ व्यापार संधि को समाप्त कर दिया गया और उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई। जापान ने 1941 में पर्ल हार्बर पर आक्रमण किया जिसमें अमेरिका बाध्य होकर युद्ध में सम्मिलित हुआ। इस काल में अमेरिका की नीति राष्ट्रीय स्वार्थ पर आधारित हुई, परन्तु परिस्थिति ने तटस्थता नीति का त्याग कर विश्व गतिविधि का नेतृत्व करने के लिये उसे बाध्य किया।

घटनाओं का तिथि-क्रम

1917 6 अप्रैल—जर्मनी के विरुद्ध अमेरिका की युद्ध घोषणा।
2 नवम्बर—लान्सिग-ईसी समझौता।

1918 8 जनवरी—विलसन के चौदह बिन्दु।
11 नवम्बर—जर्मनी से विराम संधि।

1919 28 जून—वर्सायी संधि पर हस्ताक्षर।
26 सितम्बर—विलसन का सन्निपात।

1920 19 मार्च—सिनेट द्वारा संधि अस्वीकृत।

1921 4 मार्च— 2 अगस्त 1923— } वारेन हार्डिंग 29 वें राष्ट्रपति।
25 अगस्त—जर्मनी से पृथक् संधि।
12 नवम्बर— 6 फरवरी, 1922— } वाशिंगटन सम्मेलन।

1922 11 फरवरी—याप संधि ।

1923 2 अगस्त—
4 मार्च, 1929— } कैलविन कुलीज 30 वाँ राष्ट्रपति ।

1924 9 अप्रैल—डाज प्रतिवेदन ।

26 मई—देशान्तरवास अधिनियम ।

1928 27 अगस्त—पेरिस समझौता ।

4 मार्च—
4 मार्च 1933 } हर्बर्ट हूवर 31वाँ राष्ट्रपति

1929 7 जून—यंग प्रतिवेदन ।

1930 22 अप्रैल—लन्दन नौ-संधि ।

1931 1 जुलाई—
30 जून, 1932 } हूवर विलम्ब काल ।

1932 7 जनवरी—स्टिमसन सिद्धान्त ।

1933 4 मार्च, 1933—
12 अप्रैल, 1945 } फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट 32 वाँ राष्ट्रपति ।

1935 31 अगस्त—तटस्थता कानून ।

1937 5 अक्टूबर—रूजवेल्ट का शिकागो भाषण ।

1939 26 जुलाई—जापान से व्यापारिक संधि समाप्त ।

1941 11 मार्च—उधार-पट्टा अधिनियम ।

8 दिसम्बर—पर्ल हार्बर पर जापान का आक्रमण ।

1945 13 अप्रैल—ट्रूमैन 33 वें राष्ट्रपति बने ।

6 अगत—हिरोशिमा पर अणु-बम ।

2 सितम्बर—जापान का आत्म-समपर्ण ।

सहायक अध्ययन

Bailey, A. T. : **A Diplomatic History of the American People.** (1958)

Bemis, S. F. : **A Short History of American Foreign Policy and Diplomacy.**(1958)

Duroselle, J.B. : **From Wilson to Roosevelt, 1913-1945.**(1964)

Feis, H. : **Churchill, Roosevelt, Stalin.** (1957)

Kennan, G. F. : **America's Diplomacy, 1900-1950.** (1951)

Perkins, D. : **The Evolution of American Foreign Policy.** (1948)

Pratt, J. W. : **A History of the United States Foreign Policy.** (1955)
Schlesinger, A. M. : **The Rise of Modern America, 1805-1951.** (1955)
Van Alstyne, R. : **American Crisis Diplomacy ; The Quest for Collective Security, 1918-1952.** (1952)

प्रश्न

1. संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रसंघ में भाग न लेने के कारणों का उल्लेख करें। संघ की क्षमता पर इसका क्या प्रभाव पड़ा ?
(राज० वि० 1965, उ० वि० 1965, आ० वि० 1964,1967 जो०वि० 1963)

2. दो विश्व युद्धों के मध्य संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति के तत्वों का वर्णन एवं परीक्षा करें। (राज० वि० 1964, आ० वि० 1966)

3. यह एक विचित्र विडम्बना है कि जिस समझौते के प्रधान निर्माता स्वयं राष्ट्रपति थे, उसे संयुक्त राज्य अमेरिका ने ठुकरा दिया। यूरोपीय संबंधों में क्रमिक परिवर्तन के उपरान्त आरंभ हुई पृथक्वाद नीति के परिणामों का विश्लेषण करें। (राज० वि० 1961)

4. "1935 के पश्चात् से अमेरिकी सरकार का उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में युद्धों से दूर रहना था" विचार प्रकट करें। (राज० वि० 1958)

5. संयुक्त राज्य अमेरिका की राष्ट्रसंघ के प्रति नीति का उल्लेख करें। यह नीति किस सीमा तक संघ की असफलता के लिये उत्तरदायी थी ?
(आ० वि० 1960,64)

6. 1920 के पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका में अपने लेटिन (दक्षिणी) अमेरिका के पड़ोसियों के प्रति नीति में क्या महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए ?
(आ० वि० 1963)

7. 1919 के शान्ति सम्मेलन में संयुक्त राज्य अमेरिका के उद्देश्यों की विवेचना करें। उनकी किस सीमा तक प्राप्ति हुई ? (पं० वि० 1966 आ० वि० 1962)

8. 1919 के पेरिस के शान्ति सम्मेलन में राष्ट्रपति विलसन की देन की विवेचना करें। (जो० वि० 1964)

9. 1919 से 1945 तक संयुक्त राज्य अमेरिका की दक्षिण अमेरिका के प्रति विदेश नीति की व्याख्या और आलोचना करें।
(आ० वि० 1963, पं० वि० 1964)

10. 1921-31, वाशिंगटन सम्मेलन से मचूरिया के संकट तक की अमेरिका की जापान के प्रति विदेश नीति की विवेचना कीजिये। (पं० वि० 1965)

12 ब्रिटेन की विदेश नीति

"ब्रिटेन का न तो कोई स्थायी मित्र है और न स्थायी शत्रु ; उसके केवल स्थायी स्वार्थ है।" —डिजरैली

"यूरोप में शक्ति संतुलन, दो राष्ट्रों के योग के बराबर नौ शक्ति, व्यापारिक मार्गों व साम्राज्य की सुरक्षा और शांति के लिये अंतर्राष्ट्रीय सहयोग, ब्रिटेन की विदेश नीति के परम्परागत लक्ष्य रहे हैं।" —एक लेखक

"हमने यूरोप की शांति की सुरक्षा एक सन्तति के लिये कर ली है।"—म्युनिख समझौते पर हस्ताक्षर करने के पश्चात् चैम्बरलेन

भौगोलिक स्थिति

ब्रिटेन की भौगोलिक स्थिति ने वहाँ की विदेश नीति को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। वह यूरोपीय महाद्वीप के निकट भी है और दूर भी। महाद्वीप से वह इतना निकट है कि ब्रिटेन में होने वाली किसी घटना का यूरोप में और यूरोप का ब्रिटेन पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। वह दूर इसलिए है कि महाद्वीपीय भूमि से उस पर सीधे आक्रमण नही किया जा सकता। बीच में इंगलिश चैनल है जिसे पार करना किसी भी आक्रमणकारी के लिए आवश्यक है। ब्रिटेन नहीं चाहता कि महाद्वीप में कोई ऐसी शक्ति हो जाय, जो उस पर अधिकार कर ले और इसलिए उसने 'शक्ति-सन्तुलन' की नीति अपनाई जिसका प्रयोग वह राष्ट्रीय स्वार्थ के लिए करता है। डिजरैली ने कहा था "ब्रिटेन का न तो कोई स्थायी मित्र है और न स्थायी शत्रु उसके केवल स्थायी स्वार्थ हैं।" ब्रिटेन की एक द्वीप की स्थिति और उसके चारों ओर से समुद्र से घिरे रहने, जिसमें उसका कोई भी बिन्दु समुद्र से 100 मील से अधिक दूरी पर नही है, ने उसकी विदेश नीति पर प्रभाव डाला है। वहाँ के निवासियों में समुद्र के प्रति सहज ही रुचि है। वे बड़े नाविक है और नये-नये देशों की खोज जब 16 वी सदी में प्रारम्भ हुई, उन्होने उसमें उल्लेखनीय भाग लिया और विश्व के विभिन्न स्थानों मे उपनिवेश स्थापित किये। भौगोलिक स्थिति ने वाणिज्य को भी प्रभावित किया है। यहाँ औद्योगिक क्रांति आरम्भ हुई और सीमित कृषि के कारण ही ब्रिटेन एक औद्योगिक राष्ट्र बना और वाणिज्य की दृष्टि से विश्व का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। गल्फ स्ट्रीम ने ब्रिटेन के जलवायु को ठण्डे होने से बचाया और वहाँ के लोगों के चरित्र पर प्रभाव डाला व समुद्री मार्ग को खुला रखा।

महाद्वीप से असंलग्न होने के कारण ब्रिटेन मे पृथक् संस्थाएँ स्थापित हुईं। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण वैधानिक राजतन्त्र है जो 400 वर्षों से भी अधिक प्राचीन है।

1910 मे जार्ज पंचम इंग्लैंड के सिंहासन पर बैठे। 1935 में उनके शासन की रजत जयन्ती मनाई गई और 20 जनवरी 1936 को उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र एडवर्ड अष्टम सिंहासन पर बैठे। दो बार तलाक दी गई अमेरिकी स्त्री सिम्पसन से ही शादी करने की जिद पर, मन्त्रिमण्डल के विरोध करने से, उन्हे 11 दिसम्बर 1936 को गद्दी छोड़नी पड़ी और फिर उनके छोटे भाई जार्ज षष्टम सिंहासनारूढ हुए। ब्रिटेन पर अनुदार दल ने 1922-1924, 1924-29 व 1935-45 ; उदार दल ने 1919 से 1922 ; श्रमिक दल ने 1924 व 1929 से 1931 में और राष्ट्रीय सरकार ने 1931 से 1935 की अवधि मे शासन किया। इन सभी दलों के शासन काल में विदेश नीति की विशेषता यह है कि इनमे विरोध होते हुए भी सभी दलों की विदेश नीति के मूल आधार समान थे।

नौ-शक्ति

स्पेनिश आरमेडा पर विजय व नेपोलियन की महाद्वीपीय प्रणाली की असफ-

लता ने ब्रिटेन को सामुद्रिक शक्ति का महत्व स्पष्ट कर दिया। ब्रिटेन के लिए नाविक शक्ति उसके जीवन-मरण का प्रश्न थी। जब से अन्य देशों की खोज प्रारम्भ हुई उसने जहाजरानी के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जिससे उसे तीन स्पष्ट लाभ हुए। शक्तिशाली जहाजी बेड़े ने ब्रिटेन को सुरक्षा प्रदान की। कोई यूरोपीय शक्ति, नैपोलियन से लेकर हिटलर तक, उसे पराजित करने में सफल नहीं हो सकी। अपने विशाल जहाजी बेड़े का ब्रिटेन को दूसरा लाभ था व्यापार का। वह उपनिवेशों से कच्चा माल मंगा कर और तैयार माल भेजकर निरन्तर व्यापार जारी रख सका एवं देश में समृद्धि का विकास किया। जहाजी बेड़े ने ही ब्रिटेन को उपनिवेश स्थापना एवं साम्राज्य निर्माण में योग दिया। 1914 तक—लगभग 150 वर्ष—ब्रिटेन विश्व की सबसे बड़ी नौ शक्ति रही। सभी समुद्री मार्गों पर उसका नियन्त्रण था। प्रथम युद्ध के बाद ही संयुक्त राज्य अमेरिका नौ-शक्ति में उसके समक्ष आया।

शक्ति संतुलन

हेनरी अष्टम और थामस कार्डिनल वूल्जे के समय से लेकर बीसवीं शताब्दी तक ब्रिटेन की विदेश नीति का एक मूल उद्देश्य समग्र यूरोप पर किसी एक शक्ति के प्रभुत्व का विरोध था। इसी आधार पर उसने यूरोपीय घटनाओं में हस्तक्षेप किया। उदाहरण के लिये फ्रांस के लुई चतुर्दश और नैपोलियन के शक्ति केन्द्रित करने व जर्मनी के कैसर विलियम द्वितीय और हिटलर के विजय अभियान के विरोध में किये गये उसके हस्तक्षेप। इंग्लैण्ड ने उन एक अथवा अनेक राज्यों के समूह का समर्थन किया जिन्होंने यूरोप में ऐसी किसी एकाधिकार करने वाली शक्ति का विरोध किया। बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक ब्रिटेन ने यूरोप में एक सतुलक शक्ति के रूप में कार्य किया। किन्तु दो कारणों से ब्रिटेन की यह स्थिति क्रमशः अव्यवहारिक होती गई। इसका एक कारण था दो नवीन शक्तियों का उदय—पश्चिम में अमेरिका और पूर्व में जापान, जिनके कारण मात्र यूरोप ही विश्व गतिविधि का केन्द्र नहीं रहा; और दूसरे यूरोप में सभी समस्याओं के निराकरण का एक मात्र उत्तर संतुलक शक्ति ही न था। संतुलक शक्ति की आवश्यकता तब होती है जब कि एक अथवा अनेक राज्य किसी के विरोध में समर्थन प्राप्त करना चाहते हों। ऐसी स्थिति अब यूरोप में नहीं रही और यही कारण था कि म्यूनिख में ब्रिटेन को संतुष्टीकरण नीति अपनानी पड़ी।

साम्राज्यवाद

प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ (1815-1914) के एक शतक में ब्रिटेन अपनी उन्नति की चरम सीमा पर था और उसे अपनी विदेश नीति में सफलता मिली। किन्तु प्रथम विश्व युद्ध के बाद से उसका उतार प्रारम्भ हो गया और विश्व गतिविधि में उसका पहले जैसा प्रभाव नहीं रहा।

परम्परागत लक्ष्य

ब्रिटेन के निम्नलिखित परम्परागत लक्ष्य रहे है :—

(1) यूरोप मे किसी एक राष्ट्र का प्रभुत्व न होने देना।

(2) यूरोप में शक्ति सतुलन इस प्रकार से रहे कि ब्रिटेन को यूरोपीय मामलों में हस्तक्षेप की सुविधा हो।

(3) कोई भी यूरोपीय महाशक्ति हालैंण्ड व बेल्जियम पर आक्रमण न करे जिससे कि इंग्लैण्ड की सुरक्षा को खतरा हो जाए।

(4) ब्रिटेन की नौ-शक्ति किन्ही भी दो राष्ट्रों की शक्ति के योग के अनुसार हो जिससे कि—(अ) ब्रिटिश द्वीप की रक्षा हो सके, (ब) व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा बनी रह सके और (स) साम्राज्य की सुरक्षा हो सके।

(5) शांति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग।

आयर क्रो के अनुसार राष्ट्रों की स्वतन्त्रता और व्यापारिक सुविधा को बनाये रखना ब्रिटेन का प्रत्यक्ष और स्थायी स्वार्थ है।

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् ब्रिटेन

रेनोल्डस के शब्दों में प्रथम विश्व युद्ध के फलस्वरूप ब्रिटेन एक अत्यन्त दुर्बल शक्ति बन गया। इसका कारण चार वर्ष के युद्ध में होने वाला भारी नुकसान ही नही था, वरन् नवीन शक्तियों का उदय; अन्य शक्तियों से आर्थिक प्रतियोगिता, विशेषत: अमेरिका, जापान, व जर्मनी से; रूसी क्रांति; आस्ट्रिया का विभाजन; फ्रांस की थकान व इटली की निराशा भी थी जिसके फलस्वरूप उसे अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और मैत्री प्राप्त न हो सकी। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् ब्रिटेन के कुछ अधिराज्यों (जैसे : कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड व दक्षिणी अफ्रीका) ने पेरिस के शांति सम्मेलन में स्वतन्त्र रूप से भाग लिया और उसके उपनिवेशों में लोकतांत्रिक सरकार एवं आत्म-निर्णय के सिद्धांत के आधार पर स्वतंत्रता की माँग की गई, जिसके कारण ब्रिटेन का प्रभुत्व समाप्त हो गया। दूसरे, विश्व में तकनीकी प्रगति इतनी अधिक हुई कि अब इंगलिश चैनल और अधिक इंग्लैण्ड रूपी किले की खाड़ी न रही और वायुयान और नये प्रकार के अस्त्र-शस्त्र के कारण ब्रिटेन की सुरक्षा खतरे में पड़ गई। ब्रिटेन ने अपनी शक्ति के ह्रास और विश्व की मंडियों मे अपने एकाधिपत्य की असमर्थता के कारण स्वेच्छा से अमेरिका को कैरिबियन सागर, जापान को प्रशान्त महासागर व फ्रांस को भूमध्य सागर का नियंत्रण दे दिया। सक्षेप में, युद्ध के

पश्चात् ब्रिटेन की दुर्बलता के कारण विदेश नीति में हुए परिवर्तन निम्न थे। उसने अमेरिका से मैत्री संबंधों को बढ़ाने के लिए 1902 में की आंग्ल-जापानी संधि का 1921 में अंत कर दिया; अधिराज्यों के सामूहिक सुरक्षा प्रस्तावों को स्वीकृत किया; निःशस्त्रीकरण का समर्थन किया; फ्रांस के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध होने के बावजूद उसके महाद्वीपीय प्रभुत्व को रोकने के लिए कदम उठाये, व राष्ट्रसंघ के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय सहयोग बढाने में योग दिया। 1919 से 1945 के मध्य ब्रिटेन की विदेश नीति के प्रमुख आधार—मित्रराष्ट्रो के सहयोग से समुद्रों पर प्रभुत्व बनाये रखना, विश्व व्यापार को प्रोत्साहन, यूरोप में किसी एक शक्ति के एकाधिकार का विरोध व अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का विकास था।

शान्ति सम्मेलन में ब्रिटेन

युद्धोपरांत दिसम्बर 1914 में खाकी चुनाव हुए। इसमें उदार दल की विजय के फलस्वरूप लायड जार्ज प्रधानमन्त्री बने। उन्होंने चुनाव प्रचार के समय कहा था कि जर्मनी की जेब खोजी जानी चाहिये और तदनुसार उससे क्षतिपूर्ति वसूल की जानी चाहिये। ब्रिटेन पाच विजयी राष्ट्रों में से एक था और अमेरीका के बाद प्रभावशाली राष्ट्रों मे वह दूसरे नम्बर पर था। जब वह शांति सम्मेलन में पहुँचा तो हाउस आफ कामन्स की एक बड़ी संख्या—360 सदस्यों ने तार देकर जर्मनी के प्रति कड़े रुख की अपील की। इससे जर्मनी के प्रति एक घृणा का वातावरण उत्पन्न हो गया और इन परिस्थितियों में लायड जार्ज को कार्य करना पड़ा।

शाति सम्मेलन में ब्रिटेन के अपने कुछ उद्देश्य थे और तदनुसार उसने अपनी नीति अपनाई। विलसन के समुद्रों पर स्वतंत्रता के सिद्धान्त का उसने विरोध किया; युद्धकालीन गुप्त संधियों को दृढ़ करने पर जोर दिया; जर्मनी द्वारा दबाई गई पोलैण्ड, डेन्मार्क, बेल्जियम व फ्रांस की भूमि की स्वतंत्रता की माग की; उसके समुद्र पार उपनिवेशो पर आदिष्ट प्रणाली के अंतर्गत प्रभुत्व की मांग की; जर्मनी को युद्ध अपराधी घोषित कर उससे हर्जाना वसूल करने व अंतर्राष्ट्रीय पंच द्वारा 'कैसर' के भविष्य पर विचार करने; व जर्मनी का नि शस्त्रीकरण करने व उसकी सामुद्रिक शक्ति को निर्बल करने की माँग की।

ब्रिटेन ने राष्ट्रसंघ के निर्माण में विशेष सहायता की। जनरल स्मट्स व राबर्ट सिसिल ने उसके ढांचे को प्रस्तुत किया। ब्रिटेन को राष्ट्रसंघ परिषद के पाँच स्थायी राष्ट्रों में से एक स्थान मिला। उसे आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत अफ्रीका व मध्य पूर्व के, 'ए' 'बी' व 'सी' श्रेणी के उपनिवेश भी मिले। उसने राइन प्रदेश पर फ्रांसिसी अधिकार का विरोध किया व सार अधिकार को 15 वर्ष की अवधि तक सीमित कर दिया। डानजिग व मेमेल को राष्ट्रसघ के अधिकार में करवा कर वहां हाई कमिश्नर शासन करवाया। सुरक्षा के लिये फ्रास व अमेरीका से मिलकर त्रिराष्ट्रीय संधि की, जिसमें अमेरीका के सहायता करने पर ही ब्रिटेन को फांस की सहायता करनी थी।

इसके अतिरिक्त उसने सभी गणतंत्र राज्यों को मान्यता दी, जैसे—आस्ट्रिया, हंगेरी चैकोस्लोवाकिया, बाल्टिक राज्य आदि।

सुरक्षा का प्रश्न

मार्च 1920 में अमेरिकी सीनेट द्वारा वर्सायी संधि एवं त्रिराष्ट्रीय सधि के अस्वीकृत किये जाने पर जर्मनी से फ्रांस की सुरक्षा का प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहा। उधर अमेरीका में त्रिराष्ट्रीय सन्धि के अस्वीकृत होने पर ब्रिटेन ने भी इससे अपना हाथ खींच लिया क्योंकि उसने सुरक्षा की गारंटी अमेरिकन गारंटी पर निर्भर रखी थी। त्रिराष्ट्रीय सन्धि के अन्तर्गत अमेरिका से गारंटी न मिलने पर ब्रिटेन ने फ्रांस को जर्मनी के प्रत्यक्ष आक्रमण की स्थिति में सहायता देने के लिए कहा। परन्तु फ्रांस ने अपनी तीन शर्तें प्रस्तुत की। (1) अप्रत्यक्ष आक्रमण (पोलैण्ड व चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण) व (2) जर्मनी द्वारा वर्साय सन्धि के उल्लंघन की स्थिति में ब्रिटेन सहायता दे व (3) तुरन्त इस सिलसिले में सैनिक वार्ता प्रारम्भ हो। ब्रिटेन ने इन शर्तों का यह कह कर विरोध किया कि अप्रत्यक्ष आक्रमण के विरुद्ध गारटी देने से यूरोप दो गुटों में बँट जायेगा। वर्सायी सन्धि में संशोधन संभव है और तुरन्त सैनिक वार्ता प्रारम्भ करने से राष्ट्रों में शस्त्रीकरण प्रारम्भ हो जायेगा। जब-जब भी आगे सुरक्षा वार्ता का प्रश्न उठा, उपरोक्त तथ्यों के कारण ही 1939 तक कोई ब्रिटिश-फ्रांस सधि संभव न हो सकी।

1925 में ब्रिटेन ने लोकार्नो सन्धि द्वारा अतर्राष्ट्रीय सुरक्षा गारंटी देने में अवश्य भाग लिया किन्तु 1936 में यह समझौता समाप्त हो गया। उसी वर्ष फ्रांस ने ब्रिटेन के साथ एक सैनिक सन्धि का प्रस्ताव रखा जिसे ब्रिटेन ने जर्मन दृष्टिकोण के प्रति सहानुभूति, फ्रांस की उग्र नीति के असमर्थन व राइन के पूर्वी क्षेत्र में सैनिक रूप से लिप्त न होने की दृष्टि से अस्वीकार कर दिया। ब्रिटेन की यही नीति द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ होने तक चलती रही।

निःशस्त्रीकरण

प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व नौ-शक्ति में ब्रिटेन सर्वेसर्वा था। 1922 के वाशिंगटन सम्मेलन में प्रथम बार ब्रिटेन ने बाध्य होकर अपने मुकाबले अमेरिका की नौ-शक्ति की समानता स्वीकृत की। इसके अनुसार विमानवाहक जहाजों व बड़े जहाजों मे अमेरिका, ब्रिटेन के समान हो गया, व ब्रिटेन ने अन्य राष्ट्रों के साथ और अधिक जहाज निर्माण से अवकाश प्राप्त किया। 1930 की लन्दन संधि में छोटे जहाजों यथा गश्ती जहाज, विध्वंसक व पनडुब्बियों के निर्माण में भी ब्रिटेन ने अमेरिका की समानता स्वीकृत की। छः वर्ष पश्चात् नौ-निःशस्त्रीकरण समाप्त हो गया और नौ-शक्तियों ने द्रुतगति से जहाज निर्माण प्रारम्भ कर दिया, जिनमें जापान का स्थान प्रमुख है। उधर ब्रिटेन ने आत्म-नियंत्रण किया, जिसके फलस्वरूप एक ओर तो अमेरीका उसके समान शक्ति वाला हो गया और दूसरी ओर जब अन्य राष्ट्र शक्ति बढ़ा रहे थे,

ब्रिटेन की नौ-शक्ति वस्तुतः वही रही। थल सेना के क्षेत्र में भी किसी अंतर्राष्ट्रीय समझौते के अभाव में सभी राष्ट्र अपनी शक्ति धीरे-धीरे बढ़ाते रहे। राष्ट्रसंघ के अतर्गत 1923 की 'पारस्परिक सहायता सन्धि योजना' एवं 1924 के 'जेनेवा समझौते' पर हस्ताक्षर न हो सके और 1932-34 का विश्व निःशस्त्रीकरण सम्मेलन ब्रिटेन के प्रयत्नों के बावजूद जर्मनी के विरोध के कारण सफल न हो सका। 1933 मे जर्मनी ने थल सेना व 1937 मे जापान ने सामुद्रिक शक्ति द्रुतगति से बढ़ानी प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार 1922 से 1934 के मध्य प्रतिपादित ब्रिटिश निःशस्त्रीकरण की नीति उसके आत्मनियंत्रण के कारण स्वयं के लिए हानिप्रद रही और अन्य राष्ट्रों ने परिस्थिति का लाभ उठाकर अपनी शक्ति बढ़ा ली।

क्षति-पूर्ति

क्षति-पूर्ति के विषय मे ब्रिटिश दृष्टिकोण यह था कि जर्मनी से हर्जाने की वसूली इस सीमा तक की जाय कि उसका आर्थिक पुनरुत्थान हो सके, किन्तु साथ ही वह इतना शक्तिशाली न हो जाय कि ब्रिटेन से प्रतिस्पर्धा करने लगे। उधर फ्रांसिसी नीति यह थी कि हर्जाना इतना अधिक वसूल किया जाय कि जर्मनी कुचल जाय। फलतः पेरिस सम्मेलन में क्षति-पूर्ति के निश्चित आँकडे निर्मित न हो सके। 1921 मे क्षति-पूर्ति की राशि 660 करोड पौण्ड निर्धारित की गई जिसे जर्मनी ने अस्वीकार कर दिया। इस पर 1923 मे फ्रांस ने रूर पर अधिकार कर लिया, जिसका ब्रिटेन ने विरोध किया था। 1914 मे उदार लायड जार्ज के क्षति-पूर्ति के विषय मे निम्न चार दृष्टिकोण थे :

(1) जर्मनी से माँगी जाने वाली क्षति-पूर्ति राशि न बहुत अधिक हो न बहुत कम और ऐसी कि वह उसे एक सामान्य स्थिति वाला राष्ट्र बनाए रखे; (2) राशि इतनी हो, जिससे कि उसके आर्थिक पुनरुत्थान को प्रोत्साहन मिल सके; (3) शांति सन्धियों का आर्थिक दृष्टि से संशोधन हो; व (4) क्षति-पूर्ति समस्या की ओर ध्यान बंटा कर जनता को मध्य पूर्व की नीति से विमुख करना। 1922 में बालफोर पत्र द्वारा इंग्लैंड ने घोषणा की, 'ब्रिटेन केवल उतना ही हर्जाना लेगा जितना कि उसे अमेरिका को कर्ज देना है।" इस प्रकार क्षति-पूर्ति राशि $\frac{3}{4}$ से कम होकर $\frac{1}{4}$ ही रह गई। फ्रांस ने इसका विरोध कर रूर पर अधिकार कर लिया। 1924 मे डाज योजना बनी व 1929 में विश्व आर्थिक समस्या के कारण यंग योजना सफल न हो सकी। 1932 मे लौजान योजना प्रस्तुत की गई।

मध्य पूर्व

मध्य पूर्व में फ्रांस व ब्रिटेन के प्रतियोगी साम्राज्यवादी उद्देश्य थे। फ्रांस के मध्य पूर्व में आर्थिक, सास्कृतिक एवं राजनैतिक ध्येय थे, जबकि ब्रिटेन के ध्येय थे साम्राज्य की सुरक्षा, संचार साधनों पर प्रभुत्व एवं स्वेज नहर पर नियंत्रण। मध्य पूर्व के विशेषज्ञ कर्क के अनुसार ब्रिटेन की नीति यथार्थता एव ब्रिटेन के स्वार्थ पर

आधारित थी। किन्तु उनकी नीति परतन्त्र जनता की मुख्य इच्छाओं के आदर करने की भी थी, जबकि फ्रांस की नीति आदर्शवाद पर आधारित थी, जिसकी परिणति दमन में होती थी।

प्रथम महायुद्ध में गुप्त सन्धियों द्वारा महाशक्तियों—ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, रूस व यूनान ने मध्य पूर्व को अपने प्रभाव क्षेत्र में बांट लिया था। रूस साम्यवादी क्रान्ति के कारण 18 मार्च 1915 में स्वीकृत कुस्तुन्तुनिया की प्राप्ति से हाथ धो बैठा और यूनान को तुर्की के राष्ट्रवादी नेता कमाल पाशा ने खदेड दिया। 18 अगस्त 1917 की सन्धि में अनातोलिया इटली का प्रभाव क्षेत्र माना गया था, किन्तु उसे भी तुर्की राष्ट्रवाद के कारण पीछे हटना पड़ा। तुर्की राष्ट्रवाद का ही आदर करते हुये ब्रिटेन ने 'चानक' के महत्वपूर्ण अड्डे से अपनी फौजें हटा लीं और इस प्रकार एक बड़ी मुठभेड़ को टाल दिया। 16 मई 1916 की साइक्स पीको सन्धि में ब्रिटेन व फ्रांस ने तुर्की के मध्य पूर्व के साम्राज्य को अपने प्रभाव क्षेत्र मे बांटा था। तुर्की ने अपनी मुख्य भूमि पर तो किसी भी प्रभाव क्षेत्र का सक्रिय विरोध किया किन्तु साम्राज्य के क्षेत्रों को ढीला छोड़ दिया। फलस्वरूप आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत ब्रिटेन ने फिलिस्तीन, जोर्डन व ईराक पर अधिकार किया व सीरिया और लेबनान को फ्रांस ने अपना प्रभाव क्षेत्र बनाया।

प्रथम युद्ध काल में ही अरबों की स्वतंत्रता का ध्यान रखते हुए ब्रिटेन ने अरब राष्ट्रीयता का आदर किया था। प्रसिद्ध ब्रिटिश प्रतिनिधि डी. ई. लारेंस ने अरब राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित किया। उधर 2 नवम्बर 1917 की बालफोर घोषणा में "यहूदियों को फिलिस्तीन में एक "राष्ट्रीय-गृह" का आश्वासन दिया गया। बारी-बारी से अरब व यहूदी दोनों की ही आकांक्षाओं की तुष्टीकरण नीति से ब्रिटेन फिलिस्तीन में बुरी तरह उलझ गया और द्वितीय युद्ध के पश्चात् यहूदियों ने फिलिस्तीन में स्वतंत्र इजराइल (15 मई 1944) का निर्माण किया। मिश्र को ब्रिटेन ने 1922 में आंशिक एवं 1936 में पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की। 1932 में ईराक व 1946 में जोर्डन को स्वतन्त्रता दी गई। परन्तु दोनों ही राष्ट्रों में ब्रिटेन ने सैनिक अड्डों की सुविधा अपने पास रखी।

1920 की सेवर्स की सन्धि में डार्डेनिलिस जलडमरू मध्य को एक अंतर्राष्ट्रीय आयोग के नियंत्रण में दे दिया गया व उसे एक सैनिक-रहित-क्षेत्र निर्धारित किया गया। 1923 के लोजान सम्मेलन मे रूस भी सम्मिलित हुआ, क्योंकि वह कृष्ण सागर का तटवर्ती राष्ट्र था और भूमध्य सागर से सबंध के लिए जलडमरू से गमनागमन की स्वतन्त्रता में उसका स्वार्थ निहित था। इस सम्मेलन में भी सभी राष्ट्रों को जलडमरू से गमनागमन की स्वतन्त्रता मिली, किन्तु कोई भी राष्ट्र तटवर्ती राष्ट्र के जहाजी वजन से अधिक वजन, इस जलडमरू के द्वारा कृष्ण सागर में नही भेज सकता था। यह जलडमरू असैनिक क्षेत्र रहा और अंतर्राष्ट्रीय आयोग के नियंत्रण

में बना रहा। रूस ने इस सन्धि की सम्पुष्टी की व यह स्थिति 1935 तक बनी रही। 20 जुलाई के 1936 के अभिसंधि मे डार्डेनिलिस जलडमरू पर तुर्की का अधिकार व उसका सैनिकीकरण स्वीकृत हुआ। सभी राष्ट्रों के जहाजों के वजन का नियम पूर्ववत् ही रहा, किन्तु उन्हे कृष्ण सागर में 21 दिन से अधिक ठहरने का अधिकार न रहा।

राष्ट्रों के प्रभुत्व के बढ़ने के साथ-साथ डार्डेनिलिस जलडमरू को खतरा उत्पन्न हो गया। इसी कारण 12 मई 1939 को आंग्ल-तुर्की सन्धि व 23 जून 1939 को फांस-तुर्की सन्धि हुई जिसका ध्येय जलडमरू की सुरक्षा था। नाजी-सोवियत समझौते के कारण रूस से भी जलडमरू को खतरा उत्पन्न हो गया किन्तु जून 1941 में रूस पर जर्मन आक्रमण से रूस मित्र-राष्ट्रों का मित्र हो गया और स्थिति बदल गई। तत्पश्चात् 1945 तक जलडमरू की स्थिति पूर्ववत बनी रही। ब्रिटेन ने स्वेज व उसके प्रवेश द्वार एडन पर नियंत्रण बनाये रखा। किन्तु अरब क्षेत्रों में ब्रिटेन की दुर्बल नीति, जो कि यहूदियो के लिए ही हितकर रही, के कारण अरब उनसे असंतुष्ट हो गये। अमेरिका, जिसने युद्ध काल मे अरब-क्षेत्र मे प्रवेश कर लिया था, अब इस ओर अपना प्रभुत्व बढ़ाने लगा।

सुदूर-पूर्व

सुदूर पूर्व मे ब्रिटेन की नीति के आधार थे, अपने औपनिवेशिक साम्राज्य की रक्षा व व्यापारिक हितो को बनाये रखना। सुदूर पूर्व मे अपने स्वार्थों को दृष्टि में रख, ब्रिटेन ने जापान से 30 जनवरी 1902 को एक 25 वर्षीय सन्धि की। इस सन्धि से ब्रिटेन को दूर-पूर्व में एक ऐसा मित्र मिला जो पड़ोसी शक्तियों को नियंत्रण मे रख सके एव आवश्यकता पड़ने पर ब्रिटेन की सहायता कर सके। ब्रिटेन को जहाँ औपनिवेशिक साम्राज्य एव व्यापार में स्वतन्त्रता मिली, वहां, उसने जापान को पूर्वी एसिया में सीमित छूट दे दी। 1904-05 में परिणामस्वरूप जापान ने रूस को हराया व 1915 मे चीन के सम्मुख 21 माँगे रखी। प्रथम विश्व युद्ध मे ब्रिटेन को दूर-पूर्व में जापान एक मित्र के रूप में काम आया। युद्ध के पश्चात् जापान को शांटूंग व ब्रिटेन को भूमध्य रेखा के दक्षिण में स्थित जर्मन उपनिवेशों—नाउरू, पश्चिमी सेमुआ व न्युगिनी को दिलवाने मे इन्होने एक दूसरे की सहायता की। अमेरिका के दवाव के कारण 1922 में वाशिंगटन सम्मेलन बुलाया गया जिसमे सुदूर-पूर्व व निःशस्त्रीकरण पर सन्धियां हुई। इसी समय 1902 की आंग्ल-जापानी सन्धि की अवधि समाप्त होने पर चार राष्ट्रीय सन्धि की गई जिसमें ब्रिटेन व जापान के अतिरिक्त अमेरीका व फ्रांस भी सम्मिलित हुए। इस सन्धि के फलस्वरूप सुदूर-पूर्व में यथास्थिति बनी रही। अमेरिका को ब्रिटेन के समान नौ-शक्ति का अधिकार प्राप्त हो गया। सुदूर-पूर्व में जापान प्रतिस्पर्धी के स्थान पर अब उसका मित्र हो गया और उसने चीन की अखण्डता, स्वतन्त्रता और संरक्षण के सिद्धान्त को माना। इसका विस्तृत विवरण नि.शस्त्रीकरण के अध्याय मे देखें। इस प्रकार सुदूर-पूर्व में यथास्थिति बनी रही किन्तु जापान ब्रिटेन के 60 प्रतिशत नौ-शक्ति निर्धारण से, असन्तुष्ट हो गया।

1911 में सन यात सेन चीन के राष्ट्रवादी नेता बने। मार्च 1925 में चांग काई शेक कुमिटांग दल के नेता चुने गये। 14 दिसम्बर 1926 को ऑस्टिन चैम्बर-लेन ने चीन की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एवं भौमिक अखण्डता को मान्यता दी। चीन ने घोषणा की कि उसे तट कर वृद्धि, असमान सन्धियों की समाप्ति, अतिरिक्त भौमिक अधिकारों में संशोधन व पट्टे पर दी गई जमीन को वापिस लेने का अधिकार है। चीन के साथ सम्बन्ध में ब्रिटेन ने दृढ़ व सहानुभूतिपूर्ण नीति अपनाई। 1927 में जब ब्रिटिश नागरिकों व उनकी सम्पत्ति की रक्षा का प्रश्न उठा तो उसने शंघाई मे अपनी फौजें भेजीं। 8 जून 1928 को पेकिंग पर राष्ट्रवादी कुइमिन्तांग सरकार के अधिकार को उसने मान्यता दी; 1 फरवरी 1929 को चीन के तट कर अधिकार को स्वीकृति प्रदान की व 1943 में भौमिक अधिकारों मे चीन के संशोधन को उसने स्वीकार किया। इस प्रकार आवश्यकतानुसार, ब्रिटेन ने दृढता अथवा सहानुभूति का रुख अपनाया।

ब्रिटेन ने सुदूर पूर्व में 1931 के पश्चात् जापान के प्रति तुष्टिकरण नीति अपनाई। चीन मचूरिया मे विदेशी अधिकारों की समाप्ति का इच्छुक था। जापान ने यह देख कर 14 सितम्बर 1931 को मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया। इस समय ब्रिटेन ही अपनी विशेष स्थिति के कारण, एक ऐसी महा-शक्ति थी जो उचित कार्यवाही कर सकता था। ब्रिटेन एक बड़ी नौ-शक्ति व्यापारिक, राष्ट्र एवं परिषद् के स्थाई सदस्यों में से एक था। ब्रिटेन के विदेशमन्त्री सर जान साइमन ने इस समय आर्थिक मदी के कारण सामरिक गतिविधियों में असमर्थता; जापान व साम्यवादी रूस में रूस से भय, व स्थिरता के अभाव और दक्षिण-पूर्वी एशिया (अपने स्वार्थक्षेत्र) से उत्तर की ओर ध्यान हटने के कारण, तुष्टीकरण की नीति अपनाई। इसके दो परिणाम, जापान द्वारा मंचूरिया विजय व मंचुको की घोषणा, और 1920-30 में चीन के साथ व्यापार में 16 प्रतिशत से 4 प्रतिशत की गिरावट हुई। निजी समस्याओं में उलझे रहने व विशेष परिस्थितियों के कारण अमेरिका भी चीन की कोई मदद न कर सका। राष्ट्रसंघ ने कोई दण्डादेश जारी नहीं किया। ब्रिटेन ने तुष्टिकरण नीति अपनाई और 1932 में केवल स्थानीय जांच के लिए आयोग नियुक्त किया। 20 अक्टूबर 1932 मे इस आयोग ने रिपोर्ट प्रस्तुत की। जापान ने इससे असन्तुष्ट हो राष्ट्रसंघ से परित्याग कर दिया। ब्रिटेन अथवा राष्ट्रसघ मे जापान के विरुद्ध किसी ठोस कदम न उठाए जाने के महत्वपूर्ण परिणाम हुए ; (1) राष्ट्रसंघ दुर्बल सिद्ध हुआ और जापान ने मंचुको पर अधिकार बनाए रखा। (2) बड़ी शक्तियों के लिप्त होने पर राष्ट्रसंघ असफल सिद्ध हुआ। (3) चीन मंचुको की सुरक्षा में असफल रहा। अतः उसे और अधिक आक्रमण का सामना करना पड़ा और ब्रिटेन की नीति चीन के लिए घातक रही।

ब्रिटेन ने अपने व्यापारिक स्वार्थों को बनाए रखने के प्रयत्न जारी रखे। एक

गैर-सरकारी उद्योग-पतियों का प्रतिनिधि-मण्डल चीन व जापान गया किन्तु इसे कोई विशेष सफलता न मिली । 1935 में एक सरकारी प्रतिनिधि मण्डल ने लीथ रॉस की अध्यक्षता में चीन की यात्रा की । उसने चीन की आर्थिक स्थिति में सुधार के लिए चांदी के राष्ट्रीयकरण एवं सिक्कों में सुधार का सुझाव दिया । इसके परिणामस्वरूप वहां की स्थिति में सुधार हुआ । 1936 में जापान धुरी राष्ट्रों के साथ सम्मिलित हो गया और इसके बाद आंग्ल-जापानी सम्बन्ध बिगड़ते चले गये । 7 जुलाई 1937 को जापान ने चीन पर अघोषित आक्रमण प्रारम्भ कर दिया । उसने चांगकाई से पेकिंग तक के क्षेत्र, चुंकिंग व बर्मा रोड पर अधिकार कर लिया । 1939 तक ब्रिटेन व जापान के सम्बन्ध टेनसिन घटना के पश्चात् और अधिक बिगड़ गये । जापान के विरुद्ध अमेरिका ने युद्ध घोषणा कर दी । युद्ध प्रारम्भ होने के पश्चात् 1941 तक जापान ने बोर्नियो, सिंगापुर, मलेशिया व बर्मा पर अधिकार कर लिया । 1941 से 45 तक ये प्रदेश उसके अधिकार में रहे । इन सब घटनाओं से प्रकट होता है कि किस प्रकार 1902 का मित्र जापान, ब्रिटेन के लिए 1936 में एक शत्रु रूप में परिणत हो गया और 1941 से 45 के मध्य घोर युद्ध हुआ । ब्रिटेन की दूर पूर्व नीति अदूरदर्शी व असफल रही और केवल अमेरिका के बीच में पड़ने और उसके सहयोग से ही वह इस चंगुल से निकल सका ।

रूस के साथ संबंध

27 नवम्बर 1917 को ब्रिटिश राजदूत सर जार्ज बुकानन ने इंग्लैण्ड को सदेश भेजा कि रूस को जर्मनी से पृथक् रूप से शांति सन्धि की अनुमति दी जाय । 15 दिसम्बर 1917 को रूस ने विराम सन्धि पर हस्ताक्षर किये । इसके बाद कुछ कारणों से रूस-ब्रिटिश सम्बन्ध और बिगड़ गये । इनमें रूस का गुप्त- सधियों का परित्याग व उन्हें प्रकाशित करना, मित्र राष्ट्रों से शांति वार्ता के लिए आग्रह करना व सेना को रूसी क्रान्ति में भाग लेने देना था । 3 मार्च 1918 को रूस-जर्मन ब्रेस्ट लिटोवस्क की संधि हुई ।

इस समय रूस में एक ओर तो साम्यवादी बाल्शेविक दल था और दूसरी ओर तीन बाल्शेविक विरोधी दल—(1) समाजवादी गणतान्त्रिक अथवा मेन्शेविक दल (2) वैधानिक राजसत्तावादी कैडेट्स व (3) समाजवादी क्रांतिकारी दल, थे । तीनों बाल्शेविक विरोधी दलों में अधिकांशतः सेना के अधिकारी थे । इनमें व बाल्शेविकों में गृह युद्ध छिड़ गया । इंग्लैंड व जर्मनी भी बाल्शेविक विरोधी थे । बाल्शेविकों की नीति पूंजीवाद का विरोध करने की थी और उन्होंने विदेशी ऋण जब्त करने की घोषणा कर दी । इंग्लैण्ड ने क्रोध को पी लिया और संतोषप्रद उत्तर दिया । अतः दोनों देशों में व्यापार चलता रहा । 1 फरवरी 1924 को इंग्लैंड में प्रथम श्रमिक सरकार रैमजे मैकडोनाल्ड की अध्यक्षता में बनी । उसने बिना शर्त रूसी सरकार को मान्यता दी व रूसी प्रतिनिधि को मूल प्रश्नों के समाधान हेतु वार्ता के लिए लन्दन बुलाया । 10 अगस्त 1924 को पर्याप्त वाद-विवाद के पश्चात् दो सन्धियों—एक व्यापारिक व

दूसरी 'साधारण संधि' पर हस्ताक्षर हुए। साधारण संधि में रूस ने जार कालीन ऋण के प्रति हर्जाना देना स्वीकार किया जिसे कि एक विशेष आयोग निश्चित करे और साथ ही इंग्लैण्ड ऋण देने की गारंटी दे। अक्टूबर में अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी दल की ओर से एक लाल पत्र (जिनोवियब पत्र) जो कि ब्रिटिश साम्यवादी दल के लिए लिखा गया था, प्रकाशित हुआ। इसमें उसे हिंसात्मक क्रान्ति के लिए भड़काया गया था। अनुदार दल ने इस पत्र के प्रकाशन को (जो बाद में चलकर जाली प्रमाणित हुआ) श्रमिक दल के विरोध में प्रचार के लिए प्रयोग किया और नवम्बर के साधारण चुनाव में श्रमिक दल को हरा दिया। अनुदार दल के बाल्डविन नये प्रधानमंत्री व आस्टिन चैम्बरलेन विदेश मंत्री बने जिनके समय में रैमजे मैकडोनाल्ड कालीन तय की गई संधियों की संसद मे संपुष्टि न हो सकी।

4 मई 1926 को रेल, खनिज, लोहे के कारखाने और छापेखाने के कर्मचारियों —लगभग 25 लाख श्रमिकों ने हड़ताल कर दी। सरकार ने इसे गैर कानूनी घोषित कर दिया और सेना से काम लेने लगे। उसी समय रूस ने ब्रिटेन के खनिकों की सहायतार्थ 3,80,000 पौंड की राशि भेजी जिसका आस्टिन चैम्बरलेन ने तीव्र प्रतिवाद किया। 12 मई 1927 के, सोवियत व्यापार एजेंसी व रूसी आरकोस (व्यापार संस्था) पर, पुलिस छापे में इनकी सैनिक गतिविधियों व ब्रिटिश विरोधी प्रचार के कागजात मिले। अतः 26 मई को ब्रिटेन ने रूस से कूटनीतिक संबंध तोड़ लिये। तीन दल—अनुदार, उदार व श्रमिक थे। उदार दल हस्तक्षेप न करने, अनुदार हस्तक्षेप करने व श्रमिक दल लाल रूस से घनिष्ठ संबंध स्थापित करने के पक्ष में था। इंग्लैण्ड में इस समय मिली जुली सरकार थी अतः एक स्पष्ट नीति का निर्णय लेना अत्यन्त कठिन हो गया। कर्जन ने कहा "रूस के विषय मे किसी सर्वमान्य सिद्धांत को अपनाना इस समय कठिन है।" फिर भी इंग्लैंड ने बाल्शेविक विरोधी तत्वों की सहायता की, किन्तु आधे मन की इस सहायता का कोई ठोस परिणाम नही निकला और 1920 तक बाल्शेविक रूस में सफल हो गये।

लायड जार्ज ने इंग्लैंड की आर्थिक नीति के अनुसार 16 मार्च 1921 को एक व्यापारिक समझौता किया ; दोनों ने एक दूसरे के विरुद्ध प्रचार न करना निश्चित किया और जार कालीन ऋण प्रश्न को 1922 के जेनेवा सम्मेलन के लिए स्थगित कर दिया गया। रूसी प्रतिनिधि ने गृह युद्ध मे मित्रराष्ट्रीय हस्तक्षेप के हर्जाने स्वरूप 50 लाख पौंड *की मांग की ताकि वह मित्र राष्ट्रीय ऋण अदा कर सके* जो कि इस रकम का आधा था। इससे गतिरोध उत्पन्न हो गया। अक्टूबर 1922 में लायड जार्ज ने प्रधानमंत्री पद से परित्याग किया। अब अनुदार दल विजयी हुआ और बोनार ला प्रधानमंत्री व बाल्डविन विदेशमंत्री बने। इनके समय रूस के साथ संबंध और बिगड़ते गये। इसी समय रूस में एक रोमन कैथोलिक पादरी बुटकेविच को फाँसी दी गई। दोनों देशो में मतभेद गंभीर स्थिति में पहुँच गये और 8 मई 1923

को कर्जन ने ब्रिटिश विरोधी नीति पर रूस को चुनौती दी। ब्रिटेन में दिसम्बर 1029 में श्रमिक दल के विजयी होने पर आर्थर हैन्डारसन ने रूस से पुनः कूटनीतिक संबंध स्थापित किये एवं अप्रैल 1930 में एक व्यापारिक समझौता किया। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक मंदी के कारण व्यापारिक समझौते से कोई लाभ नहीं हुआ और दोनों देशों के सम्बन्ध तनावपूर्ण ही रहे। मार्च 1933 में मैट्रो वाइकरस कम्पनी के दो कर्मचारियों को जासूसी और तोड़-फोड़ की कार्यवाहियों के अपराध में रूस ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। ब्रिटेन ने इन्हें निर्दोष बताया व रूस से व्यापारिक संबंध तोड़ लिये। 16 जुलाई 1933 में रूस ने उन्हें मुक्त कर देश से चले जाने का आदेश दिया। फरवरी 1934 को फिर दोनों देशों मे एक व्यापारिक समझौता हुआ।

द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ होने तक ब्रिटेन की हिटलर के प्रति सन्तुष्टिकरण की नीति थी; इसके परिणामस्वरूप रूस मे ब्रिटेन के प्रति शंका एवं अविश्वास की नीति बनी रही। 1939 की वसंत ऋतु मे ब्रिटेन और फ्रांस ने रूस के साथ संधि वार्ता प्रारम्भ की, किन्तु उन्हे कोई सफलता नही मिली। उधर 23 अगस्त 1939 को जर्मन-रूस अनाक्रमण संधि हो गई और रूस-ब्रिटिश तनाव पूर्ण संबंध बने रहे। 1941 में जब जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया; तब रूस फिर ब्रिटेन के निकट आ गया और द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त होने तक यह स्थिति बनी रही।

तुष्टिकरण नीति

अगस्त 1931 में रैमजे मैकडोनाल्ड राष्ट्रीय सरकार के प्रधानमंत्री बने। दो वर्ष पूर्व ही वे श्रमिक दल की ओर से प्रधानमत्री बने थे किन्तु अब सरकार को पुनर्गठित कर वे राष्ट्रीय सरकार के प्रधानमत्री बने। इनके विदेशमंत्री जान साइमन थे। जून 1935 मे अनुदार दल के नेता जार्ज बाल्डविन तृतीय बार प्रधानमंत्री चुने गये। इस समय सैम्युअल होर को विदेशमंत्री बनाया गया एवं एन्थोनी ईडन को राष्ट्रसंघ सम्बन्धी मामलो का सचिव। मई 1937 में एडवर्ड अष्टम के सिंहासन परित्याग के पश्चात् जार्ज षष्टम जब गद्दी पर बैठे तब बाल्डविन ने पद त्याग किया और उनके स्थान पर नैविल चैम्बरलेन ने स्थान ग्रहण किया। 1940 में चर्चिल ने द्वितीय विश्व युद्ध के छः महीने पश्चात् सयुक्त दल की सरकार का निर्माण किया। जुलाई 1945, द्वितीय विश्व-युद्ध के अन्तिम चरण तक, वे प्रधानमत्री बने रहे।

1931 से 1939 की अवधि मे ब्रिटेन ने जिस नीति को अपनाया, उसे हम तुष्टिकरण की नीति कहते हैं। इसके निम्न मूल आधार थे :—(1) ब्रिटेन को शक्ति सन्तुलन की नीति में विश्वास था और उसका मत था कि किसी भी दल की ओर झुकने पर वह अपने हित में पलड़ा भारी कर सकता था; (2) ब्रिटेन की इस समय आर्थिक व सैनिक स्थिति और आन्तरिक दुर्बलता इस प्रकार की थी कि कुछ समय के लिये शान्ति के मार्ग को अपनाने के अतिरिक्त उसके सामने कोई चारा न

था; (3) ब्रिटेन को सामूहिक सुरक्षा व्यवस्थाओं (जैसे राष्ट्रसंघ द्वारा उठाये गये कदम आदि) में अधिक सुविधा मालूम पड़ी; (4) अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रति भय ने उन्हे जापान, इटली और जर्मनी के अप्रत्यक्ष समर्थन के लिये प्रेरित किया; और (5) जर्मनी के आश्वासनों पर उन्होंने विश्वास किया व फ्रांस से उनका मतभेद बना रहा। उन्होने फ्रांसीसी नीति का अनुसरण किया जिसका आधार "केवल शक्ति का प्रदर्शन था, प्रयोग नही।" चैम्बरलेन ने कहा था, "युद्ध से कुछ भी विजय नही होता, इलाज नही होता और समाप्त नही होता। युद्ध में कोई भी विजयी व लाभान्वित नही होता, सभी नुकसान उठाते हैं।"

तुष्टिकरण नीति की अपनी विधियां थी ; जिनमें सम्मेलन, विचार विनिमय पारस्परिक निबटारा, समझौता, संधि, विशेष रियायतें आदि सम्मिलित थी। इस नीति का प्रयोग निम्न अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ मे ब्रिटेन ने किया।

मंचूरिया तथा चीन में

1931 से 1933 तक जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण किया और उसे हड़प लिया। 1937 में द्वितीय वार चीन पर आक्रमण करके उसने चीन-जापान युद्ध छेड़ दिया। ब्रिटेन के विदेशमन्त्री जान साइमन ने जापान के प्रति तुष्टिकरण नीति को इसलिए अपनाया कि (1) उसका विरोध करने से मंगोलिया, मंचूरिया व चीन में जो रिक्तता होती उसमें साम्यवादी रूस का प्रभुत्व हो जाता ; (2) जापान के विरोध से दक्षिण-पूर्वी एशिया में ब्रिटेन के मुख्य स्वार्थ की अवहेलना हो जाती ; (3) चीन के उग्र राष्ट्रवाद और विदेश-विरोधी आन्दोलन को सीमित करने में कठिनाई होती। उधर, पहले ही विदेश विरोध की नीति का अनुसरण करते हुए चीन ने इंग्लैण्ड से व्यापार को 1920 के 16 प्रतिशत की अपेक्षा 1930 तक 8 प्रतिशत कर दिया था ; (4) चौथे, जापान के साथ ब्रिटेन की पुरानी मैत्री थी और उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही कठिनाइयों से परिपूर्ण थी व (5) पांचवें, जापान के विरोध से मंचूरिया के आधुनिकीकरण कार्यक्रम में गतिरोध उत्पन्न हो जाता। इन्ही सब कारणों के फलस्वरूप जापान के प्रति तुष्टिकरण नीति अपना कर उद्योग संघ के नेता लियरौस की अध्यक्षता मे एक व्यापारिक मिशन जापान भेजा गया। ब्रिटेन के अधिकांश समाचार-पत्रों का भी मत था कि जापान मंचूरिया में कानून व व्यवस्था की पुनर्स्थापना कर रहा है जो कि विश्व शांति के हित में है। 1902 से 22 तक आंग्ल-जापानी संधि स्थित थी ; 1922 के बाद वाशिंगटन सम्मेलन की चार-शक्ति संधि लागू रही और ब्रिटेन इस धोखे मे रहा कि सुदूर पूर्व में उसके हितों को कोई खतरा नही है। उसने जापान के प्रति तुष्टिकरण नीति जारी रखी किन्तु उसकी आंख तब खुली जब कि जापान ने 1942 में ब्रिटेन के दूर पूर्व के उपनिवेशों पर आक्रमण कर सिंगापुर, मलाया व बर्मा पर अधिकार कर लिया।

इथोपिया

इटली ने अक्टूबर 1936 में इथोपिया पर आक्रमण किया। इस समय सर सेमुअल होर ब्रिटेन में विदेशमंत्री थे। (3 अक्टूबर) निम्न परिस्थितियों के कारण ब्रिटेन ने इटली के प्रति तुष्टिकरण नीति अपनाई। 7 जनवरी 1935 को मुसोलिनी का, फ्रांस के विदेश-मंत्री लवाल के साथ, गुप्त समझौता हुआ, जिसमें इटली की इथोपिया विजय की योजना को स्वीकार किया गया। ब्रिटेन ने राष्ट्रसंघ में इटली के आक्रमण की निन्दा तो की किन्तु दण्डादेशों को व्यावहारिक रूप नहीं दिया। अमेरिका भी अपने व्यापारिक हितों के प्रति अधिक जागरूक था और उसने इटली को तेल व अन्य पदार्थों का निर्यात जारी रखा। उधर ब्रिटेन की यह दलील जारी थी कि वह अभी अस्त्र-शस्त्रों की दृष्टि से पूर्णरूप से तत्पर नहीं है। इन कारणों से ब्रिटेन ने इटली के सहयोग को प्राप्त करने के लिए उसके प्रति तुष्टिकरण नीति को ही वल दिया। वह इटली का समर्थन कर जर्मनी के विरुद्ध संतुलन स्थापित करने व भूमध्य सागर मे अपने सैनिक अड्डों—जिब्राल्टर, माल्टा, साइप्रस व स्वेज, की सुरक्षा का इच्छुक था। इसलिए उसने इटली के विरुद्ध दण्डादेश में ढिलाई की नीति अपनाई। उसने स्वेज मार्ग को इटली के इथोपिया को अस्त्र निर्यात के लिए बन्द नही किया और सैमुअल होर ने तो लवाल के साथ एक गुप्त समझौते (8 दिसम्बर 1936) में इथोपिया की भूमि को 'ऊँट के लिए एक गलियारे' के रूप में देना स्वीकार कर लिया, (यद्यपि बाद मे इसके पूर्व प्रकाशन के कारण होर को पदत्याग तक करना पड़ा)। मुसोलिनी ने इसका विरोध करते हुए कहा था कि गलियारा तो क्या, यदि हमें समस्त इथोपिया भी एक तश्तरी में सजाकर दे दिया जाय तो हम उसे ग्रहण नही करेंगे। हम तो केवल उसे विजय ही करेंगे। इस जटिल परिस्थिति में ब्रिटेन की तुष्टिकरण नीति का इटली ने लाभ उठाया।

आंग्ल जर्मन नौ-समझौता

1919 के बाद से ब्रिटेन की जर्मनी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नीति रही। उसने जर्मन सबधी अनेक क्षेत्रों-क्षतिपूर्ति राशि, रूर के फ्रांस द्वारा खाली किये जाने के प्रश्न, जर्मनी मे मित्रराष्ट्रीय सेना के 15 वर्ष के बजाय 10 वर्ष मे निष्कासन—में इस सहानुभूति को प्रकट किया। उन्होने फ्रांस की इच्छाओं के विरुद्ध भी जर्मनी की प्रतिष्ठा बढ़ाने का समर्थन किया। 1933 मे हिटलर के शक्ति में आने पर परिस्थिति बदल गई और उसने ब्रिटेन की तटस्थ व सहानुभूतिपूर्ण नीति का पूर्ण लाभ उठाया। 16 मार्च 1935 को उसने अनिवार्य सैनिक शिक्षा का नियम जारी कर दिया। ब्रिटेन की आँखें खुली और उसने जर्मनी के विरुद्ध अप्रैल 1935 में इटली व फ्रांस को शामिल कर स्ट्रेसा—मोर्चा बनाया। इसके दो महीने बाद ही 18 जून 1935 मे जर्मनी के तुष्टिकरण के लिए ब्रिटेन ने उसके साथ नौ संधि की, जिसमें समान संख्या की पनडुब्बी व ब्रिटेन की एक तृतीयाश जहाजरानी का सिद्धान्त स्वीकृत हुआ।

राइन प्रदेश में पुनर्शस्त्रीकरण

1936 में हिटलर ने लोकार्नो संधि भंग कर राइन प्रदेश में सैनिकीकरण प्रारम्भ कर दिया। हिटलर की इस कार्यवाही का विरोध राष्ट्रसंघ के सदस्यों को इथोपिया में इटली के विरोध से भी अधिक कठिन जान पड़ा। जून 1936 में चैम्बरलेन ने दण्डादेश को अर्द्धपागलपन की संज्ञा दी। इसी समय स्पेन में गृह युद्ध प्रारम्भ हुआ। इंग्लैण्ड की अहस्तक्षेप नीति के कारण ही जर्मनी व इटली दोनों ने गैर सरकारी तानाशाह नेता फ्रैंको की सहायता की। इंग्लैण्ड ने इटली से भद्र संधि कर तुष्टिकरण नीति का ही परिचय दिया। इसी नीति के कारण एंथोनी ईडन ने 20 फरवरी 1938 को त्याग पत्र दिया। ब्रिटेन की तुष्टिकरण नीति का ही एक परिणाम था, धुरी-राष्ट्रों की स्थापना।

म्युनिख समझौता

हिटलर ने चैकोस्लोवाकिया के सुडेटन क्षेत्र की इस आधार पर मांग की कि वहां के अधिकांश निवासी जर्मन थे। जर्मनी के अल्टीमेटम से चैकोस्लोवाकिया के साथ उनके संबंधों में एक संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई। इसी संकट को टालने के लिए एक बार फिर ब्रिटेन व फ्रांस ने तुष्टिकरण नीति अपनाई। म्युनिख समझौते में चैकोस्लोवाकिया का सुडेटन क्षेत्र जर्मनी को दे दिया गया और उसने अन्य आक्रमण द्वारा चैकोस्लोवाकिया के अन्य क्षेत्रों पर कब्जा न करने पर कोई स्पष्ट आश्वासन भी नही दिया। इस समझौते की कुछ मुख्य बातें यह थीं कि इसमें जिस राष्ट्र की भूमि का बंटवारा किया गया था, उसे सम्मिलित नही किया गया। फ्रांस के डलाडियर व इग्लैण्ड के चैम्बरलेन तुष्टिकरण नीति की चरम सीमा पर पहुँच गये व रूस, जिसने कि चैकोस्लोवाकिया की सुरक्षा का आश्वासन दिया था, से कोई परामर्श नहीं लिया गया। चैम्बरलेन ने म्युनिख समझौते का समर्थन करते हुए कहा था कि एक दूर प्रदेश मे स्थित लोगों के बीच के झगड़े में, जिसके विषय में हम अधिक जानते भी नही, उलझना अवांछनीय है। म्युनिख समझौता ब्रिटेन की तुष्टिकरण नीति की चरम सीमा का परिचायक है। इस पर हस्ताक्षर कर चुकने के बाद चैम्बरलेन ने कहा, "हमने योरोप की शान्ति की सुरक्षा एक सन्तति के लिए कर ली है।" म्युनिख समझौता केवल ढोंग साबित हुआ और छः महीने में ही हिटलर ने 15 मार्च 1939 को चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर उसके अवशिष्ट भाग को अपने कब्जे में कर लिया। इस पर शेष भाग की सुरक्षा की गारटी देने वाले राष्ट्रों मे से ब्रिटेन ने कहा था, "चैकोस्लोवाकिया का अंत उसकी आतरिक तोड़-फोड़ के कारण हुआ था। शेष चैकोस्लोवाकिया को ब्रिटिश गारन्टी निरर्थक सिद्ध हुई।" जनता ब्रिटिश नीति से संतुष्ट नहीं रही और इसके लिए आगे चलकर ब्रिटिश नीति मे मोड़ आया। प्रायः चैम्बरलेन को ही म्युनिख समझौते और तत्पश्चात् चैकोस्लोवाकिया के पतन के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है किन्तु वास्तव में जनता व संसद का भी इस नीति

में समर्थन था। केवल ब्रिटिश अधिराज्य और केवल अल्पसंख्यक श्रमिक दल ने ही इसका विरोध किया था।

नया मोड़

ब्रिटेन ने रोम-बर्लिन-टोकियो से रक्षा का मार्च 1939 में पोलैंण्ड, यूनान व रूमानिया को आश्वासन दिया व रूस को अपनी ओर मिलाने के लिए मास्को में वार्ता प्रारंभ की। किन्तु रूस के साथ वार्ता अविश्वास और समानता, अच्छे प्रतिनिधियों व स्पष्ट नीति के अभाव मे सफल न हो सकी। सितम्बर 1939 को जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया व 3 सितम्बर को ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा की। युद्ध में किस प्रकार आगे चलकर रूस व अमेरिका के सहयोग से ब्रिटेन विजय लाभ कर सका, इसका वर्णन हम अन्य अध्याय में कर चुके हैं। ब्रिटेन ने अंत तक फ्रांस, बेल्जियम, हालैण्ड आदि का साथ दिया व उन्हे फिर से स्वतंत्र कराने मे सफल हुआ जिसमें चर्चिल की वीरता व ब्रिटिश जनता का धैर्य झलकता है। युद्ध के तीन स्पष्ट परिणाम हुए, जिनमें (1) नाजीवाद, फासिज्म व एकाधिकार शक्तियों का अन्त, (2) ब्रिटेन द्वारा अपने अधिराज्यों की सुरक्षा व उनकी पुनः प्राप्ति में सफलता व (3) युद्ध पश्चात् ब्रिटेन के तीसरे नम्बर की शक्ति बन जाना (अमेरिका और रूस के पश्चात्) प्रमुख हैं।

सारांश

ब्रिटेन का न तो कोई स्थायी मित्र है और न कोई स्थायी शत्रु; उसके केवल स्थायी स्वार्थ है। ब्रिटेन की एक द्वीप की स्थिति होने और यूरोपीय महाद्वीप से समुद्र द्वारा पृथक् होने के कारण उसमे यह एक स्वाभाविक भौगोलिक विशेषता है कि वह आवश्यकता पड़ने पर यूरोपीय मामलों में हस्तक्षेप अथवा तटस्थता की नीति अपना सकता है।

ब्रिटेन की विदेश नीति के मुख्य आधार—द्वीप की सुरक्षा, हालैण्ड व बेल्जियम का तटस्थ स्वरूप, महाद्वीप मे किसी एक शक्ति के एकाधिपत्य का अभाव, नौ शक्ति मे प्रधानता, व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा व समुद्र पर उन्मुक्त जहाजरानी की सुविधा और वाणिज्य वृद्धि, साम्राज्य विस्तार और औपनिवेशिक सु[illegible] बनाये रखने के लिये यूरोप में शक्ति संतुलन की [illegible] रहे है।

1919 में अमेरिका के साथ फ्रांस को दी गारंटी संधि की अमेरिकन संपुष्टि के अभाव में वह असफल हो गई। 1925 में जर्मनी की पश्चिमी सीमा लोकार्नो सधि द्वारा पुनः निश्चित हुई। 1928 में ब्रिटेन ने राष्ट्रीय स्वार्थ की पूर्ति हेतु युद्ध का परित्याग कर 'पेरिस की संधि' पर हस्ताक्षर किये। 1922 के वाशिंगटन सम्मेलन में ब्रिटेन ने प्रथम बार अमेरिकी नौ शक्ति की समानता स्वीकार की। क्षतिपूर्ति समस्या को हल करवाने मे 1924 में डाज और 1929 में यग योजना द्वारा ब्रिटेन आशिक रूप से सफल हुआ। मध्यपूर्व मे, गुप्त सधियों के आधार पर, फिलिस्तीन, ईराक व जोर्डन पर राष्ट्रसघ द्वारा आदिष्ट प्रणाली के अंतर्गत ब्रिटेन ने शासन किया। उसने संचार व्यवस्था तथा स्वेज नहर पर भी अपना अधिकार बनाये रखा। 1932 में ईराक व 1936 में मिश्र को ब्रिटेन ने स्वतन्त्रता दी व उन्हें राष्ट्रसघ का सदस्य बनवाया।

1932-39 में फिलिस्तीन में (1917 की बालफोर घोषणा के अनुसार) ब्रिटेन ने यहूदियो को प्रवेश की सुविधा दी किन्तु अरबों के निरंतर सघर्ष के कारण अगले पांच वर्षो में इसे 75,000 तक ही सीमित कर दिया गया।

सुदूर पूर्व मे आंग्ल-जापान सधि 1922 तक ब्रिटिश नीति का आधार था। 1926 में ब्रिटेन ने चीन को मान्यता प्रदान की। परन्तु राष्ट्रवादियों के विरोध में ब्रिटिश सम्पत्ति की रक्षा के लिये ब्रिटेन को वहाँ फौज भेजनी पड़ी। 1943 तक उसने वहाँ असमान सधियों की समाप्ति कर दी, किन्तु 1931 में जब जापान ने मचूरिया (चीन) पर आक्रमण किया था ब्रिटेन ने चीन की कोई सहायता नहीं की थी।

1917-21 की अवधि में ब्रिटेन ने रूस के गृह युद्ध मे हस्तक्षेप किया। 1924 में रैमजे मैकडोनाल्ड की श्रमिक सरकार ने उसे मान्यता दी। 3 वर्ष पश्चात् उससे कूटनीतिक सबंध विच्छेद हो गये। 1929 में, श्रमिक सरकार की पुनः विजय पर, कूटनीतिक सबंध स्थापित हुए और अनेक व्यापारिक सधियाँ की गई। जुलाई 1941 मे रूसी महान् राष्ट्रीय सग्राम के समय फिर से ब्रिटेन ने मित्र राष्ट्रों सहित रूस को सहयोग दिया और यह मैत्री 1945 तक चलती रही।

1930 के पश्चात् जापान, जर्मनी व इटली के प्रति तुष्टिकरण ब्रिटिश विदेश नीति का मुख्य आधार था। इसी के आधार पर 1931-33 के मध्य जापान के मंचूरिया आक्रमण पर ब्रिटेन ने अहस्तक्षेप नीति; 1935-36 में इटली को इथोपिया में खुला हाथ; 1935 में जर्मनी के साथ नौ सधि, 1936 में राईन प्रदेश का जर्मनी द्वारा निर्विरोध शस्त्रीकरण, 1938 का म्युनिख समझौता, 1939 में चैकोस्लोवाकिया का विघटन, मेमेल व अल्बानिया पर अधिकार संभव हुआ। 1939 में पोलैण्ड की समस्या को लेकर विदेश नीति को ब्रिटेन ने नया मोड़ दिया और युद्ध में भाग लिया। असीम धैर्य के साथ, चर्चिल के योग्य नेतृत्व में ब्रिटेन मित्र राष्ट्रों सहित युद्ध में विजयी हुआ और संयुक्त राष्ट्रसंघ की नीव डाली।

1918 14 दिसम्बर—खाकी आम चुनाव।

1919—अक्टूबर 1922—लायड जार्ज का मिला-जुला मन्त्रिमण्डल।

1922 6 फरवरी—वाशिंगटन संधियाँ।

28 फरवरी—मिश्र पर ब्रिटिश संरक्षण समाप्त।

1924 22 जनवरी—
4 फरवरी— }प्रथम श्रमिक मंत्रिमण्डल

1 फरवरी—रूस को मान्यता।

7 नवम्बर—
4 जून, 1929—}बाल्डविन मन्त्रिमण्डल

21 नवम्बर—रूस के साथ संधि विच्छेद।

1925 12 मार्च—जेनेवा समझौता अस्वीकृत।

16 अक्टूबर—लोकार्नो संधि।

1928 20 दिसम्बर—नार्नकिंग सरकार को मान्यता।

1930 22 अप्रैल—लन्दन नौ संधि।

1931 5 जून—
,24 अगस्त— }द्वितीय श्रमिक मन्त्रिमण्डल।

1 अक्टूबर—रूस से कूटनीतिक संबंधों की पुनर्स्थापना।

25 अगस्त—
7 जून 1935—}मैकडोनाल्ड के नेतृत्व में राष्ट्रीय सरकार।

1933 15 जुलाई—चार शक्ति समझौता।

1935 18 जून—आंग्ल-जर्मन नौ संधि।

8 दिसम्बर—होर-लवाल गुप्त संधि।

1938 16 अप्रैल—आंग्ल-इटालियन समझौता।

30 सितम्बर—म्युनिख समझौता।

1939 31 मार्च—पोलैण्ड को सहायता देने का वचन।

13 अप्रैल—रूमानिया और यूनान को भी ब्रिटिश आश्वासन।

25 अगस्त—आंग्ल-पोलैण्ड पारस्परिक सहायता संधि।

3 सितम्बर—युद्ध घोषणा।

1940 3 सितम्बर—ब्रिटेन-अमेरिका रक्षा समझौता।

7 सितम्बर—ब्रिटेन पर जर्मन हवाई आक्रमणं ।

1943 10 जुलाई—इटली पर मित्र राष्ट्र का आक्रमण ।

1944 6 जून—नारमैण्डी में द्वितीय मोर्चा ।

1945 1 मई—बर्लिन की लड़ाई ।

7 मई—योरोप मे युद्ध समाप्त ।

जुलाई—आम चुनाव में श्रमिक दल की विजय ।

सहायक अध्ययन

Carr, E. H. : **Great Britain : A Study of Foreign Policy from the Versailles Treaty to the Outbreak of War.** (1939)

Churchill, W. : **The Second World War.** 6 Vols. (1951)

Dawson, R. M. : **The Development of Dominion Status.** 1900-36. (1937)

Eden, A. : **The Eden Memoirs : Pt. I : Facing the Dictators.**

Medlicott, W. N. : **British Foreign Policy Since Versailles** (1962) (1940)

Namier, L. B. : **Diplomatic Prelude, 1938-1939.** (1948)

Rayner, R. M. & Airey, W. T. [G. : **Britain and World Affairs, 1783-1946.** (1948)

Reynolds, P. A. : **British Foreign Policy in the Inter-War Years.** (1954)

Seton-Watson. R. W. : **Britain and the Dictators.** (1938)

Wolfers, A. : **Britain and France Between Two Wars.** (1940)

प्रश्न

1. "1930 के दशक में ब्रिटिश विदेश नीति का मात्र स्थायी तत्व तुष्टिकरण था।" इस कथन पर प्रकाश डालें । (पं० वि० 1962)

2. 1935 से 38 के मध्य के ब्रिटिश-फ्रांसीसी संबंधों पर प्रकाश डालें । (जो० वि० 1963)

3. "नेविल चैम्बरलेन की तुष्टिकरण नीति की आलोचना, उसके सिद्धान्त रूप को न लेकर उसके निदान यंत्र व उसके प्रयोग रूप को लेकर की जाती है।" —व्याख्या करें । (आ० वि० 1963, 1967)

4. 1925 से 31 की अवधि के आंग्ल-फ्रांसीसी संबंधों की विवेचना करें।
(जो० वि० 1964, आ० वि० 1967)

5. दो विश्व युद्धों के मध्य के आंग्ल-फ्रांसीसी संबंधों की मुख्य विशेषतायें बतायें।
(पं० वि० 1965)

6. 1919 से 1939 के मध्य की इग्लैण्ड की विदेश नीति की विवेचना करें। इसने युद्ध पूर्व के आंग्ल सोवियत संबंधों पर किस प्रकार प्रभाव डाला ?
(पं० वि० 1966)

7. "चैम्बरलेन की तुष्टिकरण नीति ही मुख्य रूप से द्वितीय विश्व युद्ध के लिये उत्तरदायी थी।" विवेचना करें।
(जो० वि० 1967)

13 फ्रांस की विदेश नीति

"विजेता फ्रांस को, 'परास्त फ्रांस' के रूप में रहने की अपेक्षा, छोटी शक्ति वाले राष्ट्र के समान रह सकने का अभ्यस्त होना चाहिये।" —जूल्स कैम्बोन

"फ्रांस के लोग निःसंकोच, अतिथि-प्रेमी, झगड़ालू, अनिश्चित, शौकीन, उत्साही, भावुक, व्यक्तिवादी, अनुशासनहीन व फ्रांसीसी भाषा और संस्कृति में गर्व करने वाले हैं।" —एक विद्वान

दो विश्व युद्धों के मध्य के काल में फ्रांस की विदेश नीति के दो केन्द्र बिन्दु थे—(1)जर्मनी से सम्बन्ध एवं (2) ब्रिटेन से सम्पर्क। 1904 की आंग्ल-फ्रांसीसी मैत्री सधि युद्ध पश्चात भी चलती रही। 1919 में क्लीमेन्सो ने कहा था कि ब्रिटेन मेरे जीवन का खोया हुआ भ्रम है; एक दिन भी ऐसा नहीं जाता कि हमारे इंग्लैण्ड स्थित प्रतिनिधि हमें इंग्लैण्ड फ्रांस की विरोधी कार्यवाहियों से सूचित नही करते और इस स्थिति का कोई समाधान नही है। यद्यपि क्लीमेन्सो के इन विचारों में अतिरंजन है किन्तु युद्धोत्तर काल में फ्रांस की ब्रिटिश विरोधी नीति एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति थी। जॉन मेनर्ड कीन्स ने अपनी पुस्तक 'शान्ति के आर्थिक परिणाम' (The Economic Consequences of Peace) में लिखा कि, "फ्रांस की जर्मनी के प्रति माँगें उसके प्रतिशोध की अनुचित पिपासा का प्रतीक है।" ब्रिटिश जनमत ने इसी पुस्तक से प्रभावित होकर कहा कि फ्रांस की नीति सदा से जर्मनी को कुचले रखने की रही है।

प्राकृतिक सीमाओं की खोज

फ्रांस की भौगोलिक स्थिति ने भी उसे योरोप में एक विशेष स्थान प्रदान किया है। वह योरोप के पश्चिम में स्थित है, उसके पास विस्तृत समुद्रतट है जो एक ओर तो अटलांटिक महासागर को छूता है और दूसरी ओर भूमध्यसागर को। इसका क्षेत्रफल 2,12,300 वर्ग मील है और केवल कोर्सिका द्वीप प्रधान भू क्षेत्र से अलग है। स्पेन, जर्मनी व बेल्जियम ऐसे राष्ट्र हैं, जिनसे इसकी सीमा लगती है। इसकी लम्बाई व चौडाई दोनों ही 620 मील है। सदा से ही फ्रांस अपनी प्राकृतिक सीमाओं की खोज में रहा है जो कि पूर्व में राइन नदी उत्तर में शैल्ड नदी दक्षिण मे पिरेनीज पर्वत व पश्चिम में अटलाटिक सागर रहे है। 15 सितम्बर 1919 को इसी सिलसिले में विचार व्यक्त करते हुए क्लीमेन्सो ने कहा था, "राइन की ओर प्रस्थान हमारे बुजुर्गों के समय से एक परम्परा रही है। इसमे हमारी गलती नही है कि आज मैं राइन नदी की ओर जाता हूँ तो मार्ग में जर्मन राष्ट्र है, जिसकी चिन्ता करना हमारा कर्तव्य नही।" भौगोलिक दृष्टि से फ्रांस की विदेश नीति के दो राजनीतिक ध्येय थे—(1) शक्तिशाली नौ-बेड़ा और (2) महाद्वीप में सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र बनने के लिए जर्मनी से पूरा-पूरा हिसाब करना।

फ्रांसीसी अर्थ-व्यवस्था

जब प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ तो फ्रांस के सम्मुख अनेक आर्थिक समस्याएँ थी। यहां 40 प्रतिशत लोग कृषि मे व्यस्त थे। कृषि मे केवल आंशिक मशीनीकरण हुआ था और उत्पादन स्थिर था। कृषकों को सदैव सरकारी सरक्षण की आवश्यकता बनी रहती थी ताकि वे अन्य राष्ट्रों की व्यापारिक प्रतिस्पर्धा से रक्षा पा सकें। औद्योगिक क्षेत्र मे दो विश्व-युद्धों के मध्यकाल में कोई नई पूंजी नही लगी और स्थिति यथावत् बनी रही। उधर फ्रास की जनसंख्या भी इस अवधि में चार करोड़ ही बनी रही जो निरन्तर विकास की दृष्टि से अनुपयुक्त थी। मूल्य वृद्धि, मुद्रा स्थिर

रखना, संचार व्यवस्था, नये कारखाने स्थापित करना, उत्पादन के साधनों में सुधार, कृषि पुनर्गठन अन्य आर्थिक समस्याएं थीं। परिणाम यह हुआ कि प्रगतिशील विदेश नीति की अपेक्षा फ्रांस के मन्त्रिमंडलों को गृह-समस्याओं में ही उलझे रहना पड़ा।

सांस्कृतिक प्रसार

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में फ्रांस स्वयं को समस्त विश्व का सांस्कृतिक केन्द्र मानता था। फ्रांसीसी क्रान्ति तथा नैपोलियन की यूरोप विजय के फलस्वरूप यह समझा जाता था कि फ्रांसीसी विचारधारा ही यूरोप में श्रेष्ठ है जिसने जीवन के प्रमुख अंगों राजनीति, दर्शन, साहित्य, शिक्षा, कला आदि को प्रभावित किया है। फ्रांसीसी भाषा को कूटनीतिज्ञों की भाषा समझा गया, अन्तर्राष्ट्रीय-सम्मेलनों में इस भाषा का प्रयोग हुआ व शिक्षित वर्ग की यह द्वितीय भाषा समझी जाती थी। सांस्कृतिक प्रभुत्व को फ्रांस जन्मजात मानता था और कई बार इस तथ्य का उसकी विदेश नीति पर उल्टा प्रभाव पड़ा। राय मैकराइडिस के शब्दों मे फ्रांस के अंधे-सांस्कृतिक अहंकार के चार प्रभाव पड़े। (1) साम्राज्य के विषय में नीति परिवर्तन की अनिच्छा (2) विदेशों में फ्रांसीसी विदेश नीति की आलोचना के प्रति असहनीयता (3) समस्त विश्व में उनकी ही शासन प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है इसके प्रति एक अंधा अहंकार और (4) फ्रांस का ही ठेका है कि वह समस्त विश्व को सभ्य बनाये।

महाद्वीपीय अथवा औपनिवेशिक दृष्टिकोण

आठवी शताब्दी से बीसवीं शताब्दी तक फ्रांस कभी महाद्वीपीय व कभी औपनिवेशिक नीति पर चलता रहा। उसकी यह नीति राष्ट्रीय नेताओं के व्यक्तित्व व यूरोपीय स्थिति पर निर्भर रही। महाद्वीप में विस्तार की फ्रांसीसी नीति अस्थायी एवं खर्चीली रही। उधर उसके औपनिवेशिक विस्तार नीति के भी अनेक पहलू हैं। औपनिवेशिक विस्तार नीति का उद्देश्य फ्रांस के समुद्र पार साम्राज्य का विस्तार, कच्चे माल की प्राप्ति व औद्योगिक शक्ति का विकास था। फ्रांस की उपनिवेश विस्तार की नीति में अनेक कठिनाइयों, विशेषत', ब्रिटेन की नौ शक्ति व जर्मनी की प्रतियोगिता थी। 1871 में अलसास लारेन के हाथ से निकल जाने के पश्चात् फ्रांस ने महाद्वीप की अपेक्षा समुद्र पार साम्राज्य विस्तार की ओर ध्यान दिया। इस नीति के प्रेरक व्यक्तियों में जूल्स फेरी, यूजेन एतीन व गैब्रीयल-हैनातु के नाम उल्लेखनीय है। 1920 के पश्चात् उसकी नीति अपने पुराने उपनिवेशों को बनाये रखना व उन्हें शक्तिशाली बनाना और महाद्वीप में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना था।

राष्ट्रीय चरित्र

फ्रांस के लोग खुले दिल के, नि.संकोच रूप से भावो को व्यक्त करने वाले, अतिथि सत्कार करने वाले, झगड़ालू, अनिश्चित प्रकृति के नई-नई चीजों के शौकीन, उत्साही, भावुक, व्यक्तिवादी, अनुशासनहीन व फ्रांसीसी भाषा और संस्कृति में गर्व

बने; अस्थिर सरकारों की अस्थिर विदेश नीति रही और करों के पूर्ण भुगतान के अभाव, महत्त्वाकांक्षी बजट, मुद्रा विनिमय सकट व ऋण अदायगी और निरंतर क्षतिपूर्ति अदायगी के अभाव को लेकर अर्थ समस्या पुराने रोग की तरह छायी रही। इस अवधि में क्लीमेन्सो के बाद, विदेशमंत्री ब्रियाँ (जनवरी 1921 से जनवरी 1922 व अप्रैल 1925 से 1932), प्वाइन्कर, हैरियट, बारथ्यु, लवाल, डैलतोस, बोने व जार्ज विदो— (सितम्बर 1944 से जुलाई 1948) हुए। सविधान के अनुसार विदेश नीति निर्धारण में राष्ट्रपति, मन्त्रिमडल व संसद तीनों को अधिकार प्राप्त थे। किन्तु इनमें मंत्रिमंडल का ही प्रभाव अधिक था। राष्ट्रपति को ही संधि व कूटनीतिक-सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार था और वह सेना का सर्वोच्च पदाधिकारी था। संसद को युद्ध घोषणा का अधिकार था किन्तु मंत्रिमंडल परामर्श देता था और विदेश नीति पर उसकी छाप पड़ती थी।

फ्रांस सुरक्षा की खोज में

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् फ्रांस की विदेश नीति का उद्देश्य, महाद्वीप में प्रभुत्व नहीं, प्रतिशोध नही, केवल सुरक्षा की खोज था। इसके लिये उसने (1) राष्ट्रसघ के द्वारा सामूहिक सुरक्षा को विकसित करने (2) पूर्वी यूरोप के नवीन राष्ट्रों के साथ लघुमैत्री की स्थापना (3) ब्रिटेन के साथ घनिष्ट सहयोग व (4) फ्रांस के साथ पूर्ण समझौतों की नीति अपनाई। 1921 में जब ब्रियाँ ने लायड जार्ज से लघु मैत्री राष्ट्रों की सुरक्षा गारंटी की माँग की तो ब्रिटेन ने यह कहकर इन्कार कर दिया कि ये राष्ट्र ब्रिटिश जनमत की दृष्टि मे अस्थिर एवं उत्तेजित हैं और उनकी समस्याओं मे उचित-अनुचित का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है।

प्रथम विश्व युद्ध मे यद्यपि फ्रांस विजयी हुआ था, उसकी धन व जन की भारी हानि हुई थी। अब युद्ध के पश्चात् फ्रांस का एक मात्र लक्ष्य अपने परम्परागत शत्रु जर्मनी को इस प्रकार दुर्बल बना देना था कि वह फिर से सिर न उठा सके, किन्तु वह अपने उद्देश्य में अपनी आकांक्षाओं के अनुकूल सफल न हो सका। यह सत्य है कि शान्ति सन्धि से उसे अल्सास लारेन 15 वर्ष के लिये सार स्थित कोयला-खानें व टोगोलैण्ड और कैमेरून के जर्मन उपनिवेश आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत प्राप्त हुए किन्तु उसे पूर्व में प्राकृतिक सीमा (राइन नदी तक का प्रदेश) प्राप्त करने व त्रिराष्ट्रीय सुरक्षा सन्धि में, असफलता मिली। 28 जून 1919 की त्रिराष्ट्रीय सुरक्षा सन्धि की अमेरिका की सीनेट ने सम्पुष्टि नही की और इससे फ्रांस के सुरक्षा प्रयत्नों का अन्त हो गया। उधर ब्रिटेन ने भी यूरोप में शक्ति सन्तुलन बनाये रखने को दृष्टि मे रख कर फ्रास से अपना हाथ खीच लिया। क्षति पूर्ति नियमित रूप से प्राप्त करने की दिशा मे भी फ्रांस को निराशा हाथ लगी।

रूर पर अधिकार (1923)

लायड जार्ज के साथ एक गुप्त वार्ता में, 1921 के अंत में, प्रधानमन्त्री ब्रियाँ

करने वाले है। फ्रांस में प्रायः नेताओं का व्यक्तिगत प्रभाव रहा है और राजनीतिक स्थिति अस्थिर रही है। द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व वहाँ कोई भी मन्त्रिमंडल 9 महीने से अधिक नही टिका।

फ्रांस का राष्ट्रीय स्वार्थ

1919 के बाद से फ्रांस का राष्ट्रीय स्वार्थ अपनी शक्ति व राष्ट्रीय सम्पत्ति को इस प्रकार बढ़ाना था कि वह यूरोप की सर्वोच्च व विश्व की एक प्रमुख शक्ति बन जाए। इसके लिये उसने दो नीति अपने प्रतिवेशियो को दुर्बल करना व सुरक्षा व्यवस्था की सभी उपलब्ध साधनों द्वारा सुसंगठित करना, अपनाई। फ्रांस की सुरक्षा व्यवस्था विशेष रूप से हर संभव तरीके से जर्मनी को दुर्बल करने व उसके विरुद्ध सुरक्षा साधनो को सगठित करने पर आधारित थी। उनके स्मृति काल में 1871 से 1919 तक के ऐतिहासिक समय में दो बार जर्मनी ने फ्रांस पर आक्रमण किया था, इस अवधि में जर्मनी की फ्रांस की अपेक्षा जन्म दर दुगुनी थी। प्रथम विश्व युद्ध में फ्रांस की तात्कालिक जनसख्या के 10 प्रतिशत मृत्यु को प्राप्त हुए थे व 15 लाख व्यक्ति घायल हुए थे और इस पर जर्मनी की तुलना में जन्म दर आधी थी। 1914 में फ्रांस की जनसख्या 4 करोड़ थी, जो 1939 तक प्रथम युद्ध मे मृत्यु व कम जन्म दर के कारण उतनी की उतनी ही रही जब कि जर्मनी की इसी अवधि मे $4\frac{1}{2}$ से 7 करोड़ हो गई, जर्मनी की इस्पात व औद्योगिक शक्ति तीव्र गति से बढ़ी थी व 1930 तक यह फ्रांस से तिगुनी हो गई थी, व उनका सैनिक चरित्र था। इस सब पृष्ठभूमि मे फ्रांस अपने अतीत के गौरव को बनाए रखने की चेष्टा कर रहा था।

जनमत का प्रभाव

विदेश नीति के निर्धारण में जनमत का भी महत्वपूर्ण भाग था। राष्ट्रीय सुरक्षा व औपनिवेशिक प्रशासन का व्यय जनता पर लगने वाले करों पर आधारित था। सैनिको का कार्यकाल, सुरक्षित सैनिक व उनका पुनः बुलाया जाना व बार बार होने वाले चुनाव भी जनमत पर आधारित थे। अतः जनमत भी विदेशी नीति पर प्रभाव डालने वाले तत्वो में से एक था।

संवैधानिक व्यवस्था

तृतीय गणतंत्र के संविधान के अनुसार विदेश नीति के निर्देशन का अधिकार राष्ट्रपति मन्त्रिमंडल व संसद मे विभाजित था। फ्रास में 1919 के पश्चात् अनेक राजनीतिक दल थे जिन्हे वृहत रूप से दो भागों में बांटा जा सकता था। वामपंथी एव दक्षिणपंथी। वामपंथी परम्परागत फ्रांसीसी नीति, समानता, भ्रातृत्व, स्वतंत्रता और कृषक व श्रमिक समुदाय के उद्धार में विश्वास करते थे, जबकि दक्षिणपंथी, चर्च, सेना व विशेष अधिकारो की ओर ध्यान देते थे। अधिक राजनीतिक दलों व परस्पर विरोधी नीति का परिणाम यह हुआ कि 1920 से 1939 की अवधि में 41 मंत्रिमंडल

बने; अस्थिर सरकारों की अस्थिर विदेश नीति रही और करों के पूर्ण भुगतान के अभाव, महत्त्वाकांक्षी बजट, मुद्रा विनिमय संकट व ऋण अदायगी और निरंतर क्षतिपूर्ति अदायगी के अभाव को लेकर अर्थ समस्या पुराने रोग की तरह छायी रही। इस अवधि में क्लीमेन्सो के बाद, विदेशमंत्री ब्रियाँ (जनवरी 1921 से जनवरी 1922 व अप्रैल 1925 से 1932), प्वाइन्कर, हैरियट, बारथ्यु, लवाल, डेलतोस, बोने व जार्ज बिदो—(सितम्बर 1944 से जुलाई 1948) हुए। सविधान के अनुसार विदेश नीति निर्धारण में राष्ट्रपति, मन्त्रिमंडल व संसद तीनों को अधिकार प्राप्त थे। किन्तु इनमें मन्त्रिमंडल का ही प्रभाव अधिक था। राष्ट्रपति को ही संधि व कूटनीतिक-सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार था और वह सेना का सर्वोच्च पदाधिकारी था। संसद को युद्ध घोषणा का अधिकार था किन्तु मन्त्रिमडल परामर्श देता था और विदेश नीति पर उसकी छाप पड़ती थी।

फ्रांस सुरक्षा की खोज में

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् फ्रांस की विदेश नीति का उद्देश्य, महाद्वीप में प्रभुत्व नहीं, प्रतिशोध नही, केवल सुरक्षा की खोज था। इसके लिये उसने (1) राष्ट्रसघ के द्वारा सामूहिक सुरक्षा को विकसित करने (2) पूर्वी यूरोप के नवीन राष्ट्रों के साथ लघुमैत्री की स्थापना (3) ब्रिटेन के साथ घनिष्ट सहयोग व (4) फ्रांस के साथ पूर्ण समझौतों की नीति अपनाई। 1921 में जब ब्रियाँ ने लायड जार्ज से लघु मैत्री राष्ट्रो की सुरक्षा गारटी की मांग की तो ब्रिटेन ने यह कहकर इन्कार कर दिया कि ये राष्ट्र ब्रिटिश जनमत की दृष्टि में अस्थिर एवं उत्तेजित है और उनकी समस्याओं मे उचित-अनुचित का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है।

प्रथम विश्व युद्ध मे यद्यपि फ्रांस विजयी हुआ था, उसकी धन व जन की भारी हानि हुई थी। अब युद्ध के पश्चात् फ्रांस का एक मात्र लक्ष्य अपने परम्परागत शत्रु जर्मनी को इस प्रकार दुर्वल बना देना था कि वह फिर से सिर न उठा सके, किन्तु वह अपने उद्देश्य में अपनी आकाक्षाओं के अनुकूल सफल न हो सका। यह सत्य है कि शान्ति सन्धि से उसे अल्सास लारेन 15 वर्ष के लिये सार स्थित कोयला-खानें व टोगोलैण्ड और कैमेरून के जर्मन उपनिवेश आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत प्राप्त हुए किन्तु उसे पूर्व में प्राकृतिक सीमा (राइन नदी तक का प्रदेश) प्राप्त करने व त्रिराष्ट्रीय सुरक्षा सन्धि में, असफलता मिली। 28 जून 1919 की त्रिराष्ट्रीय सुरक्षा सन्धि की अमेरिका की सीनेट ने सम्पुष्टि नही की और इससे फ्रांस के सुरक्षा प्रयत्नो का अन्त हो गया। उधर ब्रिटेन ने भी यूरोप मे शक्ति सन्तुलन बनाये रखने को दृष्टि में रख कर फ्रांस से अपना हाथ खींच लिया। क्षति पूर्ति नियमित रूप से प्राप्त करने की दिशा में भी फ्रांस को निराशा हाथ लगी।

रूर पर अधिकार (1923)

लायड जार्ज के साथ एक गुप्त वार्ता में, 1921 के अंत में, प्रधानमन्त्री ब्रियाँ

इस गारंटी पर क्षति-पूर्ति राशि में कमी करने के लिये तैयार हो गये कि ब्रिटेन फ्रांस पर आक्रमण होने की दिशा में उसे सैनिक सहायता देगा। इसके पूर्व कि ब्रियाँ फ्रांसीसी संसद को अपने पक्ष में करता, वार्ता की गुप्त बातें प्रकट हो गई; उसे अपने मंत्रिमण्डल सहित त्याग पत्र देना पड़ा और प्वाइन्कर जनवरी, 1922 में दुबारा प्रधानमंत्री बने। प्रतिशोधी भावना से भरे प्वाइन्कर समझौतों का शब्दशः पालन चाहते थे और उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि ब्रिटेन ने साथ नही दिया तो वे अकेले ही जर्मनी के विरुद्ध कार्यवाही करेंगे। इसके बावजूद एक वर्ष तक कड़ी कार्यवाही करने में वे हिचकिचाये। केवल जनवरी 1923 में उन्होंने फ्रांसीसी सेनायें रूर घाटी पर, इस कानूनी आधार पर अधिकार करने के लिये भेजी कि जर्मनी ने क्षतिपूर्ति को टाल दिया था।

रूर पर अधिकार के विषय में फ्रांस में मतभेद था। लगभग समस्त वामपंथियों ने इस कार्यवाही का विरोध किया और स्वयं मार्शल फोश ने इसके विरुद्ध राय दी थी। यदि 'अधिकार' का उद्देश्य सामग्री में क्षतिपूर्ति प्राप्त करना था तो फ्रांस इसमें असफल रहा। 1923 का क्षतिपूर्ति संचय 1922 के लगभग ही था और उसे वसूल करने का खर्चा उससे भी अधिक था। रूर आक्रमण का खर्चा निकालने के लिये फ्रांस को करों में 20 प्रतिशत वृद्धि करनी पड़ी। जैसा कि प्वाइन्कर के अनेक विरोधियों का मत है, यदि रूर आक्रमण का एक गुप्त उद्देश्य रूर और राइन प्रदेश पर अधिकार बनाये रख कर वहाँ एक स्थानीय पृथक्वादी आंदोलन प्रारंभ करना था, तो फ्रांस इसमें पूर्णतः असफल रहा। केवल एक दिशा में रूर आक्रमण कुछ सीमा तक सफल रहा कि उसने जर्मनी को क्षति-पूर्ति टालने व रोकने का अवसर नहीं दिया। 1923 के अंत तक स्ट्रैसमेन मंत्रिमण्डल ने असहयोग आन्दोलन समाप्त कर दिया और क्षतिपूर्ति देना पुनः स्वीकार कर लिया। फ्रांस द्वारा उठाया गया यह कदम अत्यन्त मँहगा रहा। जर्मनी पर भारी आर्थिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव के बावजूद फ्रांस ने आगे आने वाले वर्षो में विश्व जनमत के विरुद्ध अपनी स्वतंत्र नीति अपनाने की चेष्टा नही की। अगले 10 वर्षो में यद्यपि फ्रांस एक महाशक्ति रहा, किन्तु ब्रिटेन के सहयोग के बिना उसने कोई स्वतंत्र कदम उठाने में अनिच्छा प्रकट की। इस सब स्थिति में ब्रिटेन, जो फ्रांस का पथ-प्रदर्शक बन गया, फ्रांस के लिये हितकारी नहीं हुआ।

1924 में वामपथियों और उग्रवादियों ने मध्यम और अनुदार दलों के विरुद्ध 51 प्रतिशत मत से विजय प्राप्त की और नये प्रधानमंत्री हैरियो ने अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में डॉज योजना को क्रियान्वित करने में सफलता प्राप्त की। 1924 से 1926 का काल फ्रांस में अस्थिरता का काल था जब कि 20 महीनों में 6 मंत्रिमण्डल बने और क्षति-पूर्ति वसूल करने की समस्या को लेकर उग्रवादियों व समाजवादियों में संघर्ष बना रहा।

ब्रियाँ युग (1925—32)

1925 में ब्रियाँ फ्रांस के विदेशमंत्री बने और 1932 तक लगातार इस पद पर आसीन रहे। फ्रांस के तृतीय गणतन्त्र मे किसी विदेश मंत्री के इतने दीर्घ काल तक अपने पद पर बने रहने में यह पहले व्यक्ति थे। समस्त फ्रांस की विदेश नीति को इन्होंने इतना अधिक प्रभावित किया कि हम इनके युग को ब्रियाँ युग कह सकते हैं। ब्रियाँ युग की भावना को एक शब्द मे व्यक्त करना कठिन है। राष्ट्रसंघ, निःशस्त्रीकरण सम्मेलन आदि में वे नि.संकोच विचार व्यक्त करते रहे किन्तु उन्होंने अपने आपको 'शांति का यात्री' कहकर ही पुकारा। उनके युग मे ही सबसे अधिक समझौते हुए और योजनाये बनीं, जैसे लघु मैत्री, लोकार्नो सधि, कैलोग-ब्रियाँ समझौता, संयुक्त यूरोप योजना आदि।

ब्रियाँ ने जर्मनी के साथ पुर्नमिलन की नीति को अपनाया था। वास्तव में यूरोप मे ब्रियाँ ही तुष्टिकरण नीति के जनक थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम तुष्टिकरण (Apaisement) शब्द का प्रयोग किया था। एक बार ब्रियाँ ने स्ट्रैसमेन से कहा था कि यद्यपि मेरे पास अनेक किलो दस्तावेज इस सिलसिले में पहुँचे हैं कि जर्मनी वर्सायी समझौते के विरुद्ध शस्त्रीकरण कर रहा है किन्तु मैंने इन शिकायतों पर व्यर्थ समय नष्ट न कर उन्हें एक कोने में फेंक दिया है। ब्रियाँ ने दो दृढ़ धारणाओं के आधार पर अपनी विदेश नीति को निर्मित किया—(1) एक तो यह है कि 1914 के कैसर का जर्मनी आज अधिक लोकतांत्रिक और शातिप्रिय है और यदि उसके साथ सहानुभूति पूर्ण व्यवहार किया जाय तो वह यूरोप में द्वितीय स्थान के लिये राजी हो जायेगा और (2) दूसरे यह कि ब्रिटेन यद्यपि सैनिक सहायता के लिये वचन-बद्ध नही हो रहा है तथापि फ्रांस के पतन की स्थिति में वह अवश्य उसकी रक्षा के लिये आयेगा। दूरदर्शी ब्रियाँ की इस धारणा ने 1940 में साकार रूप धारण किया हांलाकि यह सहायता फ्रांस की रक्षा के लिये अपर्याप्त थी।

1925 का लोकार्नो समझौता ब्रियाँ की एक महान व्यक्तिगत विजय थी। इस समझौते द्वारा फ्रांस पर अकारण आक्रमण की दिशा में, उसे ब्रिटेन से सैनिक सहायता की गारंटी मिली व जर्मनी ने वर्सायी सन्धि द्वारा निर्धारित सीमाओं को औपचारिक रूप से मान लिया। प्रोफेसर बरी के शब्दो में "इस समझौते ने जर्मनी को यूरोपीय राज्य प्रणाली में पुनः स्थान दिया; फ्रांस-जर्मन सौहार्द संबंधों को और एक कदम आगे बढ़ाया ; व आशावाद और विश्वास के एक नये युग का सूत्रपात किया।" अक्टूबर 1926 में ब्रियाँ व स्ट्रैसमेन में सभी फ्रांसीसी-जर्मन समस्याओ के निवटारे के लिये थोइरी मे विचार हुआ। इनमें जर्मनी से विदेशी सेनाओं का हटाया जाना, सार का लौटाना व हर्जाने में एक बड़ी राशि दिया जाना शामिल थे। यद्यपि ब्रियाँ इन सभी बातों के निवटारे के लिये मन्त्रिमण्डल व संसद को राजी न कर सका, किन्तु पाच वर्ष पूर्व, 1930 में ही जर्मनी से फ्रांसीसी सेना हटा ली गई और फ्रांसीसी-जर्मन

सीमायें निर्दिष्ट हो गईं। 1926 में रूमानिया व 1927 में युगोस्लाविया के साथ आर्थिक समझौते कर ब्रियाँ ने लघु मैत्री को और अधिक सुसंगठित किया व पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों से अपने संबंधों को दृढ किया।

फ्रांस के सुरक्षा प्रयत्नों की कड़ी में एक महत्वपूर्ण कदम 400 मील लम्बी "मैजीनो रेखा" का निर्माण था, जिसकी योजना युद्ध-मंत्री आन्द्रे मैजीनो ने प्रस्तुत की थी। इस रेखा पर कान्क्रीट की दीवार, तोप और टैंकों की व्यवस्था की गई थी और बारूद की खानें बनाई गई थी। एक-एक तोप 3,360 मन की थी और इस योजना पर 50 करोड़ डालर व्यय हुए थे। जनरल चार्ल्स डी गाल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Vers L' Armee de Metier' (1934) में मैजीनो रेखा की आलोचना करते हुए लिखा था, "वह अजेय नहीं है।" 1930 में ब्रियाँ ने एक संयुक्त यूरोप की परिकल्पना प्रस्तुत की। यद्यपि यह योजना उस समय साकार नहीं हुई, किन्तु 20 वर्ष पश्चात् 1949 में वैस्ट यूरोपियन यूनीयन का निर्माण हुआ। उनका मत था कि जर्मनी के उचित सम्मान और पुनर्स्थापन से ही एक नवीन यूरोप का सृजन और शांति की स्थापना हो सकती है, उसका अपमान करके नहीं। शांति के दूत ब्रियाँ का मार्च 1932 में देहान्त हो गया। उसका चरित्र भ्रामक था। वह एक सफल वक्ता, चतुर संसद सदस्य व दूरदर्शी विदेश मंत्री था। वह ग्यारह बार विदेश मंत्री बना और 1926 में उसे शांति का नोवेल पुरस्कार मिला।

ब्रियाँ के मूल्यांकन में रैनोविन और दुरोसेल ने फ्रांसीसी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है और गोरडन क्रेग व वूलफर्स ने ब्रिटिश दृष्टिकोण। लुईस नेमीअर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'यूरोपीय पतन' (Europe in Decay) में लिखा है कि ब्रियाँ की तुष्टिकरण नीति विनाशकारी सिद्ध हुई।

मूल्यांकन

ब्रियाँ की प्रशंसा भी हुई है और निन्दा भी। उनके समकालीन लेखकों व मित्रों ने उनकी प्रशंसा व शत्रुओं ने आलोचना की है। तभी से ब्रियाँ फ्रांस के एक विवादास्पद विषय बन चुके हैं। जर्मनी मे नाजीवाद और हिटलर के उदय के लिये दक्षिण-पंथियों ने ब्रियाँ की तुष्टिकरण नीति को ही उत्तरदायी ठहराया। जर्मनी के प्रधानमंत्री ब्रूनिंग 1930 में जर्मनी के आर्थिक सकट को दूर करने के लिये वार्ता हेतु पेरिस आये। उनके दो अनुरोध—या तो जर्मनी को सहानुभूतिपूर्ण ऋण अथवा आस्ट्रिया के साथ तट-कर सघ बनाने की अनुमति, थे। किन्तु ब्रियाँ ने चतुराई से दोनों को ही टाल दिया। उन्होंने तट-कर संघ का तो विरोध किया ही, ऋण के लिये यह कहा कि वह ब्रिटेन व अमेरिका के साथ मिलकर एक बड़ी राशि का कर्जा देने पर विचार करेंगे। इसमें उन्होने इतनी देरी की कि जून 1932 तक क्षतिपूर्ति समस्या अपने आप ही समाप्त हो गई। ब्रियाँ द्वारा जर्मनी से 1930 में फ्रांस की अधिकृत सेना का हटाया जाना एक महान् भूल कहा जाता है और यह आलोचना की

जाती है कि यदि वहाँ से इतनी शीघ्र फौजें नहीं हटाई जातीं तो 1933 में नाजीवाद और हिटलर के आक्रामक रुख को अंकुर में ही समाप्त कर दिया जाता। एक अमेरिकी इतिहासकार के अनुसार, फ्रांस ने प्वाइन्कर की स्वतन्त्र नीति को छोड़कर और ब्रिटेन की कठपुतली बनकर तुष्टिकरण की चरम सीमा म्युनिख समझौते की ओर पहला कदम उठाया।

ब्रियां की नीति की कटु आलोचना करना सरल है और यह भी ठीक है कि अंत में यह नीति असफल प्रमाणित हुई, किन्तु फ्रांस के जनमत को देखते हुए उनकी नीति के बजाय कोई अन्य व्यावहारिक वैकल्प देना अत्यंत कठिन है। फ्रांस का यूरोप में प्रभावशाली स्थान कृत्रिम एवं अस्थायी था और कुशल नेतृत्व के अभाव में वे जर्मन व ब्रिटिश नीतियों को अपने अनुकूल बनाने में असमर्थ रहे। 1930 में फ्रांस का ध्येय, पूर्व यूरोपीय लघु मैत्री राष्ट्रों को एक ऐसा डैन्यूबी संघ बनाना था जो कि पुनः-जाग्रत जर्मनी व साहसपूर्ण इटली की विस्तारवादी नीति के विरुद्ध एक अंकुश का काम कर सके, किन्तु फ्रांस के सीमित आर्थिक एवं सामरिक साधनों और स्वार्थपूर्ण नीति के कारण यह उद्देश्य अधूरा ही रह गया; उल्टे जर्मनी व इटली अपना गठबंधन करने में सफल हो गये।

बारथ्यु (1934)

1934 में बारथ्यु डुमरगु मन्त्रिमण्डल में विदेश मंत्री बने। ये बड़े उत्साही एवं गणतन्त्रवादी विचारों के थे। इनके विचार से एक लोकार्नो संधि द्वारा पश्चिमी सीमाओं की सुरक्षा तो प्राप्त हो ही चुकी थी, एक पूर्वी लोकार्नो की आवश्यकता थी जिसके द्वारा कि पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों की सीमाओं की सुरक्षा गारंटी प्राप्त हो सके। पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों को निकट लाने के लिये और मैत्री सम्बन्ध सुदृढ़ करने के लिये बारथ्यु ने पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, रूमानिया व युगोस्लाविया की यात्रा की। इसी समय पोलैण्ड-जर्मनी की अनाक्रामक संधि (1934) से स्थिति बदल गई और फ्रांस ने अपने युद्ध पूर्व के मित्र रूस की ओर देखा। उसने रूस को यूरोपीय परिवार में सम्मि-लित करने के लिये राष्ट्रसंघ व परिषद् में स्थायी स्थान दिलवाया। फ्रांस ने रूस के साथ जर्मनी व पोलैण्ड पर दबाव डाला कि वह रूस की पश्चिमी सीमा की गारंटी देने के लिये वार्ता करे। जर्मनी ने यह अस्वीकार कर दिया और पोलैण्ड से भी ऐसा ही करने के लिये कहा। यद्यपि रूस की पश्चिमी सीमा की सुरक्षा गारंटी का प्रयत्न असफल रहा, किन्तु इसके दो स्पष्ट परिणाम यह हुए कि रूस ने अपनी पृथकतावादी नीति समाप्त की और स्टालिन ने यूरोपीय मामलों में रुचि लेना प्रारंभ किया और फ्रांस ने अपने 1894 से 1918 के पुराने मित्र रूस के साथ फिर से मैत्री संबंध जोड़कर अपने को सुरक्षित करने का प्रयत्न किया। 9 अक्टूबर 1934 को जब कि बारथ्यु युगोस्लाविया के राजा-एलेक्जेन्डर के साथ यात्रा कर रहे थे, दोनों की [illegible] हत्या कर दी गई। यह फ्रांस के इतिहास में एक [illegible] था। [illegible] एक उत्साही विदेश मंत्री खो दिया।

पियरे लवाल

पुराने समाजवादी लवाल, बारथ्यु के उत्तराधिकारी विदेश-मंत्री बने। उन्होंने पद संभालते ही घोषणा की कि वे जब तक विदेश मंत्री रहेंगे युद्ध नहीं होगा। ब्रियाँ के शिष्य एलिक्सिस लैगर 1933 से 40 के काल में फ्राँस के विदेश मंत्रालय के वरिष्ठ अधिकारी थे और उन्होंने सन्धि-कूटनीति को ही जारी रख इटली व रूस से संबंध बढाने की चेष्टा की। इसी उद्देश्य से लवाल ने 7 जनवरी 1935 को रोम यात्रा कर जर्मनी के नाजीवाद के विरुद्ध एक दृढ प्राचीर के निर्माण हेतु मुसोलिनी से समझौता किया। इसी के आधार पर इटली को एबिसीनिया में विस्तार का अधिकार देकर उसे जर्मनी से पृथक् करने की चेष्टा की गई। जब जर्मनी में हिटलर ने अनिवार्य सैनिक प्रशिक्षण प्रारम्भ किया तो फ्राँस को लगा कि उसकी सुरक्षा का प्रश्न और अधिक उलझ गया है। लवाल ने बारथ्यु व लैगर का अनुसरण कर रूस से मैत्री संधि के लिये हाथ बढ़ाया और 2 मई 1935 को उससे सन्धि की। इसी सिलसिले में 16 मई को एक अन्य सन्धि चैकोस्लोवाकिया के साथ हुई जिसमें तय हुआ कि यदि फ्राँस उस पर आक्रमण के समय सहायता करेगा तो रूस भी ऐसा ही करेगा। इस सन्धि में सबंधित राष्ट्रों के सैनिक अधिकारियों के वार्तालाप की व्यवस्था थी। लवाल अपनी नीति में लगभग असफल रहा। इटली को न तो वह संतुष्ट ही कर सका न भयभीत। होर-लवाल समझौता असफल रहा। दण्डादेश ढीले रहे और राष्ट्रसंघ भी दुर्बल बना। केवल बारथ्यु-लैगर की नीति के अनुसरण द्वारा रूस के साथ समझौते में सफलता मिली। लवाल के पद त्याग पर फ्लैनडिन विदेश मत्री बने।

तुष्टिकरण नीति—डैल्बो और बोने

गोरडन राइट के शब्दों में तुष्टिकरण नीति का प्रथम चिह्न 1933 के शीत-काल में प्रारंभ हुआ था जिसके दो मुख्य कारण थे—(1) इथोपिया संघर्ष के कारण फ्राँस का इटली की मैत्री खोना और (2) फ्रांस में जनवादी मोर्चे की स्थापना। 8 दिसम्बर 1935 को होर-लवाल गुप्त समझौते के समाचार पत्रों द्वारा अपरिपक्व प्रकाशन से ब्रिटेन के विदेशमत्री होर का पतन हो गया और उधर लवाल भाग्यवश प्रधानमन्त्री बन गया। लवाल ने अब ब्रिटेन के साथ इटली के विरुद्ध दण्डादेश में योग दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि इटली फ्राँस से दूर चला गया। रोम संधि क्षीण हो गई और वह जर्मनी के निकट आ गया व उससे संधि कर ली। 18 जून 1935 को ब्रिटेन ने जर्मनी के साथ बिना फ्रांस से परामर्श किये एक नौ-समझौता कर लिया। उधर ब्रिटेन ने इटली के विरुद्ध दण्डादेश में ढिलाई कर दी। अब फ्रांस के सम्मुख दो ही मार्ग थे—राष्ट्रसंघ अथवा इटली। फ्रांस ने राष्ट्रसंघ को चुना किन्तु 1936 में उसके सम्बन्ध ब्रिटेन से उतने ही बिगड़ गये जितने कि 13 वर्ष पूर्व रूर पर आक्रमण के समय बिगड़े थे। फ्रांस में ब्लम मंत्रिमण्डल के समय जनवादी मोर्चे और वामपंथियों का प्रभुत्व हो गया। इसी समय फ्रांस ने रूस के साथ समझौता किया।

कारण फ्रांस चैकोस्लोवाकिया की सहायता करने के लिये बाध्य नहीं है। बोने और लेगर ने इस मामले में स्वतंत्र कदम उठाने के बजाय यह कहीं उचित समझा कि चैकोस्लोवाकिया की रक्षा अकेले फ्रांस द्वारा संभव नहीं और ब्रिटेन की मैत्री हर कीमत पर आवश्यक है। दुर्बल डलाडियर सरकार ने चैम्बरलेन के दबाव को स्वीकार कर हिटलर व मुसोलिनी से म्युनिख समझौता किया जिसमें रूस के स्वार्थों की अव-हेलना की गई और अनिश्चित शांति के नाम पर चैकोस्लोवाकिया का बलिदान कर दिया गया। यद्यपि इस समझौते का फ्रासीसी जनमत व ससद ने स्वागत किया था किन्तु इस पर ब्रिटिश नीति के प्रत्यक्ष परिणाम की स्पष्ट झलक थी। डलाडियर ने स्वय स्वीकार किया था कि यह पश्चिमी यूरोप के लिये विनाशकारी पराजय थी। चैकोस्लोवाकिया छोटा तो हुआ ही, अवशेष की रक्षा भी असंभव हो गई। फ्रांस-रूसी समझौता व लघु मैत्री समाप्त हो गई। फ्रांस के सम्मान को ठेस लगी और यूरोप में उनके सम्मान का अंत हो गया।

इन परिस्थितियों में, म्युनिख समझौते के पश्चात् फ्रांस ने ब्रिटेन के साथ इटली को अपनी ओर मिलाने का असफल प्रयत्न किया। मुसोलिनी ने अपने दामाद और विदेश-मंत्री काउन्ट सिआनो से इस अवसर पर कहा कि फ्रास एक ऐसा राष्ट्र है जो मदिरा, समाचार-पत्र और संक्रामक रोग ग्रस्त योनि से जर्जर हो चुका है। दिसम्बर 1938 में जर्मनी के विदेश मंत्री रिबेनट्रोप फ्रास के विदेश-मंत्री बोने से मिलने पेरिस आये। म्युनिख की कड़ी में यहाँ एक पारस्परिक विचार-विमर्श का समझौता हुआ। कुछ लोगों ने आरोप लगाया कि इसमें बोने ने जर्मनी को पूर्व की ओर विस्तार का संकेत दे दिया किन्तु बोने ने स्वयं इससे इन्कार किया।

15 मार्च 1939 को जब हिटलर ने म्युनिख समझौते को भग कर सपूर्ण चैकोस्लोवाकिया को अपने अधिकार में ले लिया तो फ्रास के लोग आश्चर्य चकित रह गये। यूरोप में हिटलर को तुष्टिकरण द्वारा सतुष्ट करने का भ्रम अब दूर होने लगा। ब्रिटेन ने तुरन्त पोलैण्ड, रूमानिया व यूनान को उनकी स्वतंत्रता भंग होने की दिशा में सहायता की गारंटी दी। फ्रांस ने एक बार फिर ब्रिटिश नीति का अनुसरण किया। इन्होंने तुर्की से भी एक पारस्परिक सहायता का समझौता किया। रूस से सैनिक समझौते की वार्ता असफल रही और जर्मनी रूस से इसी समय अनाक्रमण समझौते में सफल हो गया। इस परिस्थिति मे डलाडियर की हालत अत्यन्त निराशा-जनक हो गई। जर्मनी की आक्रामक नीति के लिये अब रास्ता साफ था। उसने पोलैण्ड पर अनेक नई माँगें थोप दीं। बोने ने एक प्रतिनिधि रोम भेजकर दूसरे म्युनिख समझौते का प्रयास किया किन्तु मत्रिमण्डल ने इसे रद्द कर दिया। शान्ति के सभी प्रयत्न निष्फल हुए और 1 सितम्बर को जर्मनी ने पोलैण्ड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 3 सितम्बर को ब्रिटेन व फ्रांस जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर द्वितीय विश्व युद्ध मे सम्मिलित हो गए। 1914 की अपेक्षा इस बार फिर ब्रिटेन ने पहल की और उसकी घोषणा फ्रांस से छः घण्टे पूर्व हुई।

दो विश्व युद्धों के मध्य फ्रांस का औपनिवेशिक साम्राज्य अपनी अधिकतम सीमा तक पहुँच चुका था। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् उसे अफ्रीका में जर्मनी के टोगोलैण्ड व कैमेरून के उपनिवेश; व तुर्की से सीरिया और लेबनान, राष्ट्रसंघ द्वारा आदिष्ट प्रणाली के अंतर्गत प्राप्त हुए थे। इस प्रकार उसके साम्राज्य का कुल क्षेत्रफल 45 लाख वर्गमील हो गया था जो कि मूल फ्रांस से 20 गुना अधिक था और इस क्षेत्र ने उसकी जनसंख्या दूनी कर दी थी। अब फ्रांसीसियों को गर्व था कि उनका राष्ट्र 10 करोड़ व्यक्तियों से संपन्न है।

फ्रांस ने अपने उपनिवेशों में प्रारम्भ में नौकरशाही एवं पितृतुल्य आधार पर शासन किया। इस समय शासन का एक ध्येय फ्रांसीसी संस्कृति से उपनिवेशों का आत्मसात था। किन्तु बाद में चलकर वामपंथियों के प्रभाव में यह सहगामी-नीति के रूप में परिवर्तित हो गई। वास्तव में इस सहगामी नीति से केवल इतना ही तात्पर्य है कि उपनिवेशों के शिक्षित वर्ग को फ्रांसीसी नीति व सस्कृति के प्रसार का उपकरण बनाया गया। इस नीति में विकेन्द्रीकरण व स्वशासन के अभाव के कारण औपनिवेशिक जनता का असंतोष क्रमशः बढ़ता गया।

फ्रांस को औपनिवेशिक नीति में विशेष सफलता नही मिली। 1929 की आर्थिक मंदी से स्थिति और भी शोचनीय हो गई। फ्रांस ने आर्थिक विकास की अपेक्षा उपनिवेशों में केवल सांस्कृतिक विकास की ओर ही ध्यान दिया था। 1930 में फ्रांस का उपनिवेशों को निर्यात कुल का केवल $\frac{1}{5}$ था। इसी प्रकार वहाँ फ्रांस से आवास 5,000 व्यक्ति प्रति वर्ष से अधिक न था। अफ्रीका में विषुवत रेखा के निकट स्थित होने के कारण फ्रांसीसी निवास के लिये उपनिवेश आकर्षक स्थान नही थे। केवल अल्जीरिया, मोरक्को और ट्युनीशिया में ही अधिकांश आवास हुआ था। सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्रों—रेल, बन्दरगाह, अस्पताल, कारखाने आदि—में कोई पूँजी नहीं लगाई थी और जो भी सीमित कार्य हुआ था, वह व्यक्तिगत पूँजी का परिणाम था। अनिवार्य सैनिक प्रशिक्षण के फलस्वरूप प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व होने वाला लाभ भी अब समाप्त हो चुका था क्योंकि फ्रांसीसी संसद ने इस नीति को आर्थिक विकास के लिये बाधक समझा था। नई नीति के पूर्व फ्रांस को 5 लाख तक सैनिक उपनिवेशों से प्राप्त हुए थे जो सख्या निरन्तर घटती जा रही थी। राष्ट्रवादी आन्दोलन सर्वप्रथम सीरिया और लेबनान में प्रारम्भ हुआ जिसे कड़ाई से दबा दिया गया। इसका विस्तार मे वर्णन हम मध्यपूर्व के अध्याय में कर चुके हैं। 1926 में मोरक्को के पहाड़ी कबीले रिफ के नेता अब एल क्रिम ने आन्दोलन किया और 1930 में हिन्द चीन और ट्युनीशिया में स्वतंत्रता आन्दोलन हुए। फ्रांसीसी इतिहासकारों के अनुसार अन्य सभी उपनिवेशों में जनता फ्रांसीसी शासन से सन्तुष्ट एवं सुखी थी।

द्वितीय विश्व युद्ध में फ्रांस

1914 के प्रथम युद्ध की अपेक्षा 1939 का द्वितीय विश्व युद्ध, फ्रांस के लिये

अधिक विनाशकारी सिद्ध हुआ। जर्मनी के पोलैण्ड पर और रूस के फिनलैण्ड पर आक्रमण की दिशा में वचनबद्ध होते हुए भी ब्रिटेन व फ्रांस इन्हें पर्याप्त सहायता नहीं दे सके। 12 दिसम्बर, 1939 को फ्रांस व ब्रिटेन में एक संधि हुई जिसके आधार पर (1) दोनों राष्ट्रों में और अधिक आर्थिक सहयोग व (2) गैमिलिन की अध्यक्षता मे दोनो राष्ट्रों की सेनाओं का संचालन निश्चित हुआ। रूस के फिनलैण्ड पर आक्रमण की दिशा में फ्रास की सक्रिय नीति के अभाव में प्रधानमंत्री डलाडियर की आलोचना हुई और उन्होने 20 मार्च 1940 को इस्तीफा दे दिया। इसके बाद पॉल रैनोड प्रधानमंत्री बने और उन्होंने घोषणा की, "ब्रिटेन के साथ मिलकर ही हम जर्मनी से शान्ति संधि करेंगे।" 10 मई को हिटलर ने हालैण्ड व बेल्जियम पर आक्रमण प्रारम्भ किया। फ्रांसीसी और ब्रिटिश सेनायें यहां भी असफल रही और हिटलर ने 15 मई को हालैण्ड व 28 मई को बेल्जियम विजय कर लिया। अब हिटलर ने फ्रांस पर आक्रमण प्रारंभ किया और उधर इटली ने भी 10 जून से फ्रांस के विरुद्ध नया मोर्चा खोल दिया। जर्मन सेनायें पेरिस पहुँच गई और फ्रांस का पतन हो गया। राजधानी पेरिस से बोर्डो चली गई और 22 जून 1940 को फ्रांस ने आत्म-समर्पण कर दिया। इसके फलस्वरूप जर्मन थल व नौ सेना शस्त्रहीन कर दी गई और 14 लाख युद्ध बन्दी बनाये गये। फ्रांस के दो टुकड़े कर दिये गये—उत्तर-पश्चिमी और दक्षिणी। उत्तर-पश्चिमी फ्रांस को जर्मनी ने अपने पास रख, दक्षिणी फ्रांस में पेंता की अध्यक्षता में एक कठ-पुतली सरकार वीची में बनाई। एक जुलाई को तृतीय गणतंत्र समाप्त हो गया और संसद के सम्मुख नया सविधान प्रस्तुत किया गया जिस पर राष्ट्रपति लेब्रां ने हस्ताक्षर किये। डी गाल ने लन्दन में स्वतंत्र सरकार बना हिटलर से उत्तरी अफ्रीका में विरोध जारी रखा। 1944 में मित्र राष्ट्रों ने फ्रांस को जर्मन सेना से संपूर्ण रूप से मुक्त कर दिया और फ्रांसीसी सेनाओं ने जर्मनी में प्रवेश किया। 7 मई 1945 को जर्मनी ने आत्मसमर्पण कर दिया और फ्रांस अपने आपको विजयी राष्ट्र कहने लगा।

असफलता के कारण

द्वितीय विश्व युद्ध में फ्रांस की असफलता के अनेक कारण हैं। इनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं (1) फ्रांस मे इस समय आन्तरिक एकता एवं कुशल नेतृत्व का अभाव था। प्रथम युद्ध के समय के प्वाइन्कर, विवियाने, जाफ्रे से नेता अब नहीं थे और राष्ट्रपति लेब्रां, प्रधानमंत्री डलाडियर व सेनाध्यक्ष गैमिलिन सामान्य व्यक्ति थे। (2) दूसरे, रूस-जर्मन सधि और जर्मनी के पोलैण्ड पर आक्रमण के पश्चात् फ्रांस के साम्यवादी दल को विघटित कर दिया गया था। अत: अनेक संसद-सदस्यों के स्थान रिक्त हो गये थे और अपदस्थ साम्यवादी सदस्य जनता में सरकार विरोधी प्रचार कर रहे थे। उन्होने कहा कि फ्रांस का यह साम्राज्यवादी युद्ध है और इसमें सामान्य सैनिक का कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार के प्रचार ने 'युद्ध भावना' को क्षीण कर दिया। (3) फ्रांसीसी सरकार की तीसरी भूल सेनाध्यक्ष परिवर्तन था। इस परिवर्तन शृंखला मे गैमिलिन के स्थान पर 73 वर्षीय [illegible] ति व 84 वर्षीय

पैंता को उपराष्ट्रपति बनाया गया। (4) चौथे, फ्रांस के पास युद्ध की तैयारी का नितान्त अभाव था। उनके पास पहले ही हवाई जहाजों, टैंकों और युद्ध संचालन के लिये उच्च सैनिक अधिकारियों की कमी थी, डन्कर्क के पतन ने उनकी 40 प्रतिशत सेना व 80 प्रतिशत सामग्री को नष्ट कर दिया। (5) पांचवें, इटली के 10 जून के आक्रमण ने फ्रांस के लिये एक नई खतरे की सीमा उत्पन्न कर दी। (6) छठे, जर्मनी की सैनिक तैयारी और सैन्य शक्ति फ्रांस से कहीं श्रेष्ठ थी और (7) अंत में फ्रांस में उस चारित्रिक और नैतिक बल का अभाव था जो किसी राष्ट्र की सुरक्षा के लिये आवश्यक है।

तृतीय गणतंत्र

तृतीय गणतंत्र (1875-1940) गृह नीति की अपेक्षा विदेश नीति में अधिक निराशाजनक सिद्ध हुआ। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में असफलता के शायद अनेक कारण बताये जा सकते है। यूरोप में इस अवधि में फ्रांस का विघटन तीव्र एवं नाटकीय था। महाद्वीप में 1930 के प्रभावशाली फ्रास का 1940 तक नैतिकता एवं शक्ति की दृष्टि से पतन हो चुका था और वह स्वतन्त्र नीति का साहस खो चुका था। इस सबके पीछे विद्वानो ने गंभीर चिंतन किया है और अनेक कारण प्रस्तुत किये है जिनमे से तीन मे कुछ तथ्य दृष्टिगत होता है किन्तु वास्तव में कोई भी संतोषप्रद उत्तर प्रस्तुत नहीं करता।

ये तीन कारण (1) फ्रांसीसी खतरे के विरुद्ध सैद्धान्तिक मतभेद ; (2) युद्ध से भयभीत फ्रांसीसियों की नैतिकता ; व (3) किसी अन्य राष्ट्र की गलती से प्रताडित फ्रांस भर्त्सना के बजाय सहानुभूति का पात्र, बताये जाते हैं। जहां तक फासिस्ट विचार-धारा के विरुद्ध सैद्धान्तिक मतभेद का प्रश्न है, परम्परागत हठी दक्षिणपंथियों ने, 1930 से 1940 के दशक में जर्मनी व इटली के विरुद्ध कड़ी व स्वतन्त्र नीति की अपेक्षा तुष्टिकरण की नीति अपना ली। उधर वामपंथियों ने फ्रांसीसियों के विरुद्ध कड़ा रुख अपनाने की चेष्टा की किन्तु दक्षिणपथियो की नई नीति ने राष्ट्र की विदेश नीति में विभाजन और शका के बीज बो दिये।

तृतीय गणतन्त्र की विदेश नीति की असफलता के मूल में एक अन्य कारण प्रथम महायुद्ध से प्रताडित व थके फ्रांसवासियों की युद्ध को टालने की अचेतन इच्छा बताया जाता है। इसीके फलस्वरूप उन्होंने फ्रास की विदेश नीति के स्वतन्त्र स्वरूप को त्याग, ब्रिटिश नीति का अनुसरण किया, जिसे कि वे जानते थे कि वह हिटलर के प्रति संतुष्टिकरण की नीति है।

अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फ्रांसीसी नीति की असफलता का एक और कारण दूसरे राष्ट्रों का आक्रामक रुख, उनकी अंतर्राष्ट्रीय गल्तियां व वशहीन परिस्थितियां थीं। अतः यह कहा जाता है कि फ्रांस बजाय भर्त्सना के सहानुभूति और दया का पात्र है। इस मत के अनुसार फ्रांस प्रथम राष्ट्र था जिसने नाजी व फासी खतरे को पहचाना किन्तु साथ ही वह इस तथ्य से भी सचेत थे कि फ्रांस अपनी स्वतन्त्र नीति के लिये निर्बल

एवं अक्षम है। सबसे बड़ी बात यह है कि फ्रांस को ब्रिटेन के सहयोग की आवश्यकता थी और इसलिये वह 'पश्चिमी यूरोप को नाजी खतरे की सूचना' बराबर लन्दन को देता रहा। उधर से किसी साहसपूर्ण प्रत्युत्तर के अभाव में उसे अनिच्छा से तुष्टिकरण नीति को अपनाना पड़ा।

इन तीन बड़ों व अन्य अनेक छोटे-मोटे कारणों ने 1930 से 40 के दशक की फ्रांसीसी विदेश नीति को प्रभावित किया। शायद एक स्थायी सरकार और कुशल नेताओं की कड़ी, घटनाओं का रुख बदल देती और कदाचित प्रथम युद्ध का मनोवैज्ञानिक प्रभाव, शोचनीय आर्थिक स्थिति, पुरानी राजनीतिक परम्परायें, संधि-कूटनीति व अन्य पर निर्भर रहने की परिस्थितियों में योग्य से योग्य नेताओं के लिये भी फ्रांसीसी नीति का रुख बदलना असंभव हो जाता।

सारांश

दो विश्व युद्धों के मध्य काल में फ्रांस की विदेश नीति के दो केन्द्र बिन्दु—जर्मन-संबंध और ब्रिटेन से सहयोग के लिये निरंतर सम्पर्क, थे। फ्रांस की भौगोलिक स्थिति ने भी उसे यूरोप में प्राकृतिक सीमा की खोज के लिये बाध्य किया था।

1919 के पश्चात् महाद्वीप में जर्मनी को सदा के लिये दुर्बल बनाना एवं सुरक्षा के लिये पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों के साथ लघु मैत्री संधि करना, उसके उद्देश्य थे। औद्योगिक विस्तार, सांस्कृतिक प्रसार, आर्थिक पुनर्गठन, जर्मनी से क्षतिपूर्ति की अदायगी की मांग—विदेश नीति में फ्रांस के राष्ट्रीय स्वार्थ थे।

संविधान के अनुसार, विदेश नीति का निर्माण संसद में उत्तरदायी मंत्रिमण्डल पर निर्भर था। क्लीमेन्सो, प्वाइन्कर, ब्रियाँ, हैरियो, बारथ्यु, लवाल, डैलबोस, बोने, जार्ज बिदो आदि ने फ्रांसीसी विदेश नीति को परिचालित किया था। इनमें ब्रियाँ का काल (1925-32) अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। उन्होंने सर्वप्रथम 'तुष्टिकरण' शब्द का प्रयोग किया; क्षतिपूर्ति क्षेत्र में डाज एवं यंग योजना को स्वीकार किया; चैकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया व रूमानिया से सुरक्षा संधि की; जर्मनी से लोकार्नो संधि की और युद्ध को समाप्त करने के लिये कैलोग-ब्रियाँ समझौता किया।

'संयुक्त यूरोप की योजना', शान्ति के नोबल पुरस्कार विजेता ब्रियाँ ने ही निर्मित की थी, जो 20 वर्ष बाद, युद्ध पश्चात् पश्चिमी यूरोप में साकार हुई।

1934 में बारथ्यु ने पूर्वी लोकार्नो संधि की रूपरेखा प्रस्तुत की और रूस से मैत्री-संधि को पुनर्जीवित किया। परन्तु इनकी हत्या के पश्चात् फ्लैंदे लवाल एवं दिलों के निम्न मंतर ने तुष्टिकरण नीति का प्रयोग और विदेश नीति में ब्रिटेन की नीति का अनुसरण करने लगे। इथोपिया पर इटली के आक्रमण का मुख्य कारण लवाल-मुसोलिनी समझौता था। लवाल-होर गुप्त संधि भी इसी नीति का फल था।

1935 में सोवियत संघ के साथ 2 मई की मैत्री संधि ने हिटलर को शस्त्रीकरण एवं राइन प्रदेश के सैनिकीकरण का बहाना प्रस्तुत किया। आस्ट्रिया का जर्मनी द्वारा हड़पा जाना, 1938 में म्युनिख समझौता, चेकोस्लोवाकिया का विघटन, फ्रांस की सैनिक दुर्बलता, दूरदर्शी नेताओं के अभाव और ब्रिटेन के दबाव का ही परिणाम था।

औपनिवेशिक क्षेत्र में अफ्रीका में टोगोलैण्ड और कैमेरून और मध्यपूर्व में सीरिया और लेबनान (1941) तक फ्रांस ने राष्ट्रसंघ प्रदत्त आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत शासन किया। उसके औपनिवेशिक साम्राज्य में अन्य कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

1940 में फ्रांस में तृतीय गणतन्त्र के पश्चात् राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। द्वितीय मोर्चा खुलने पर उसने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम डी गाल के नेतृत्व में जारी रखा। 1945 में मित्र राष्ट्रों सहित फ्रांस की विजय हुई।

घटनाओं का तिथि-क्रम

1919 28 जून—वर्सायी संधि।
—त्रिराष्ट्रीय सुरक्षा संधि।

1920 7 सितम्बर—बेल्जियम से सुरक्षा संधि।

1921 19 फरवरी—पोलैण्ड से रक्षा संधि।

1923 10 जनवरी—रूर पर अधिकार।

1924 25 जनवरी—चैकोस्लोवाकिया के साथ संधि।

1925 16 अक्टूबर—लोकार्नो संधि।

1926 10 जून—रूमानिया के साथ सुरक्षा संधि।

1927 11 नवम्बर—युगोस्लाविया के साथ सुरक्षा संधि।

1928 27 अगस्त—कैलोग-ब्रियाँ समझौता।

1930 3 फरवरी—तुर्की के साथ संधि।
30 जून—राइनलैण्ड से सेना का अपसारण।

1934 9 अक्टूबर—मारसेल में विदेश मन्त्री बारथ्यु और युगोस्लाविया के राजा सिकन्दर का हत्याकाण्ड।

1935 7 जनवरी—लवाल-मुसोलिनी समझौता।
2 मई—सोवियत रूस-फ्रांस पारस्परिक समझौता।

1937 9 सितम्बर—नियोन समझौता।
1-17 दिसम्बर—विदेश मंत्री डेलबोस की पूर्व यूरोपीय यात्रा।

1938 30 सितम्बर—म्युनिख समझौता।
6 दिसम्बर—फ्रांस-जर्मनी सीमा गारंटी संधि।

1939 31 मार्च—पोलैण्ड को सहायता देने का आश्वासन।
13 अप्रैल—रूमानिया और यूनान को रक्षा-आश्वासन।
23 जून—तुर्की से संधि।
3 सितम्बर—जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा।

1940 10 जून—फ्रांस के विरुद्ध इटली की युद्ध घोषणा।
22 जून—कौम्पेगनी में विराम संधि।

1944 6 जून—नारमैण्डी में दूसरा मोर्चा।
24 अगस्त—मित्र राष्ट्रों का पेरिस पर अधिकार।

1945 7 मई—जर्मनी का आत्म-समर्पण ; फ्रांस विजयी।

सहायक अध्ययन

Brogan; D. W. : **France Under the Republic, 1870-1939.** (1940)

Bury, J. P. T. : **France, 1814-1940.** (1949)

Cole. H. **Laval.** *(1963)*

Howard, J. E. : **Parliament and Foreign Policy in France.** (1948)

McKay, D. C. : **United States and France.** (1951)

Namier, L. : **Europe in Decay.** (1950)

Thompson, D. : **French Foreign Policy.** (1954)

Wandycz, P. S.: **France and Her Eastern Allies.** (1962)

Wolfers, A. : **Britain and France Between Two Wars.** (1940)

Wright, G. : **France in Modern Times : 1760 to the Present.** (1962)

प्रश्न

1. 1925 से 31 के मध्य आंग्ल-फ्रांसीसी संबंधों की विवेचना करें।

(जो० वि० 1964)

2. "युद्ध (1914-18) और वर्साय की शांति का मुख्य प्रभाव, प्रचलित समानता को पलट कर, फ्रांस और उसके पूर्वी मित्रों की महाद्वीप पर सैनिक और कूटनीतिक प्रभुता की स्थापना था।"—शूमैन। इस कथन की व्याख्या करें।

(जो० वि० 1965)

3. ब्रियाँ की विदेश नीति के मुख्य तत्वों का उल्लेख करें।

4. "फ्रांस की विदेश नीति को बारथ्यु-लवाल ने नया मोड़ दिया।"—इस कथन से आप क्या समझते हैं ?

5. 1919 से 45 की अवधि में फ्रांसीसी विदेश नीति के सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि का मूल्यांकन करें।

6. ब्रिटेन की तुष्टिकरण नीति में फ्रांस का क्या भाग था ? इसके क्या परिणाम हुए ?

7. 1938 से 45 के मध्य की फ्रांसीसी विदेश नीति का विश्लेषण करें।

8. "जहाँ तक विदेश नीति का संबंध है, डलाडियर और बोने, चैम्बरलेन के ही शिष्य थे।" इस कथन की पुष्टि करें।

14 रूस की विदेश नीति

"साम्यवादी अपने विचारों और उद्देश्यों को छिपाना घृणास्पद समझते हैं। वे स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि उनके उद्देश्य प्रचलित सामाजिक परिस्थितियों के शक्ति द्वारा उन्मूलन से ही संभव हैं।"

—कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो

"रूस भ्रमात्मक संसार में रहस्य से आच्छादित एक पहेली है।" —चर्चिल

"पूंजीवाद का विनाश, 'शांतिपूर्ण विजय' द्वारा असंभव है। उसका ध्वंस दीर्घकालीन, हिंसात्मक व विनाशकारी संघर्ष द्वारा ही संभव है।" —स्टालिन

रूस की विदेश नीति

7 नवम्बर 1917 को बाल्शेविक क्रान्ति द्वारा लेनिन ने रूस में सर्वहारा की साम्यवादी सरकार की स्थापना कर कार्ल मार्क्स की उस कल्पना को साकार रूप दिया जिसके अनुसार विश्व में साम्यवाद की स्थापना केवल शक्ति द्वारा ही संभव है। स्वयं कार्ल मार्क्स और फ्रैडरिक एन्जिल्स ने कम्युनिस्ट मैनिफेस्टों में लिखा था, "साम्यवादी अपने विचारों और उद्देश्यों को छिपाना घृणास्पद समझते हैं। वे स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि उनके उद्देश्य प्रचलित सामाजिक परिस्थितियों के शक्ति द्वारा उन्मूलन से ही सभंव है।"

भ्रमात्मक रूस

बाल्शेविक क्रान्ति के पश्चात् जन्म लेने वाले रूस के प्रति विद्वानों के विचारों में बड़ा मतभेद है। चर्चिल के अनुसार, "रूस भ्रमात्मक संसार में रहस्य से आच्छादित एक पहेली है।" पामर व परकिन्स लिखते हैं, "अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सोवियत विदेश नीति एक महान् प्रश्न चिह्न और मतभेदो का अध्ययन विषय है।" उधर कुछ अन्य लेखकों के मत में सोवियत विदेश नीति स्पष्ट और संगत है क्योंकि इसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों के सम्मुख निर्भ्रम परिभाषित आदर्श थे। एडवर्ड क्रेंकशा के मत में, "सोवियत संघ की विदेश नीति अपने दूरगामी उद्देश्यो में विश्व में अन्य किसी भी राष्ट्र की तुलना में अस्पष्ट की अपेक्षा अधिक तर्क सगत है। उसके उद्देश्यों में विश्व के सर्वहारा वर्ग की मास्को के नेतृत्व में अन्तिम विजय सन्निहित है।"

मूल सिद्धान्त

सोवियत रूस की विदेश नीति की पृष्ठभूमि मे जो सिद्धान्त कार्य कर रहे थे उनमें से प्रमुख (1) न्यायपूर्ण एवं लोकतांत्रिक शान्ति और प्रत्येक राष्ट्र की सार्वभौम सत्ता के आदर मे विश्वास; (2) पूंजीवादी राष्ट्रो के साथ सहअस्तित्व; (3) आर्थिक सहयोग; (4) कानूनी मान्यता; (5) निःशस्त्रीकरण व सामूहिक सुरक्षा; (6) फासिस्ट आक्रमण का विरोध, (7) महान् राष्ट्रवादी संघर्ष; (8) जनवादी गणतंत्रों को सहायता थी।

शान्ति के फरमान

रूसी लेखकों के अनुसार उनकी विदेश नीति का एक मुख्य आधार न्यायपूर्ण एवं लोकतांत्रिक शान्ति और प्रत्येक राष्ट्र की सार्वभौम सत्ता का आदर है। लेनिन ने 8 नवम्बर 1917 को एक 'शान्ति का आदेश' जारी किया जिसके अनुसार रूस के श्रमिक, सैनिक व कृषक न्यायपूर्ण शान्ति और अन्य राष्ट्रों की संप्रभुता की मान्यता चाहते थे। रूसी राजनीतिज्ञो का आज भी यह मत है कि शान्ति क्रान्ति के समय से ही उनकी विदेश नीति का एक स्थायी तत्व रहा है। लेनिन का कहना था कि वामपंथियों ने अन्य राष्ट्रों मे क्रान्ति को प्रोत्साहन देने पर बल दिया है, किन्तु मार्क्स

ऐसा न मानकर इसे एक तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के विरुद्ध स्वाभाविक प्रक्रिया मानते थे। मास्को का कहना है कि वह राष्ट्रों में प्रगतिवादी आन्दोलनों का नैतिक एवं सैद्धान्तिक समर्थन करते हैं। इसे वे एक स्वाभाविक, ऐतिहासिक प्रणाली मानते हैं किन्तु उसे व्यवस्थित रूप देकर संपन्न कराने में विश्वास नही करते। यह कहा जाता है कि इसी आधार पर यूक्रेन, डान, फिनलैण्ड, एस्टोनिया, लैटविया व लियुआनिया जर्मनी को देकर भी रूस ने ब्रेस्ट लिटोवस्क की सन्धि द्वारा शान्ति स्थापित की।

साम्यवादी क्रान्ति के पश्चात् रूस का मित्र-राष्ट्रों से मतभेद अनेक कारणों से बढ़ता ही गया। एक तो नई सरकार ने जार द्वारा की गई गुप्त सन्धियों को समाप्त कर दिया था और बिना मित्र-राष्ट्रों से परामर्श किये, जर्मनी से पृथक् शान्ति सन्धि कर ली थी। दूसरे, बाल्शेविक सरकार ने जार कालीन समस्त विदेशी ऋण को और विदेशी सम्पत्ति को जब्त कर लिया था। तीसरे, मार्च 1919 में मास्को ने जिनोवियम की अध्यक्षता में कामिन्टर्न अथवा तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संगठन का सम्मेलन बुलाकर विदेशो में साम्यवादी क्रान्ति को प्रोत्साहित किया था। मास्को की इन नीतियों का परिणाम जर्मनी, हंगेरी व इटली में 1918 से 20 के मध्य उग्र साम्यवादी आन्दोलन का जन्म लेना था। अत. रूसी नीति और साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिये ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, चैकोस्लोवाकिया, रूमानिया, पोलैण्ड व जापान ने जार समर्थक सेनाध्यक्षों— कालचक, डैनिकिन, युडेनिच आदि को लाल फौज के विरुद्ध सैनिक एव आर्थिक सहायता दी। रूस में गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया। किन्तु 1921 तक रूस की नई सरकार की विजय हो गई और मित्र राष्ट्रों ने रूसी भूमि से अपने सैनिकों को हटा लिया। तीन वर्ष के इस युद्ध मे विदेशी हस्तक्षेप के फलस्वरूप रूस को 3900 करोड़ रूसी स्वर्ण मुद्राओं की हानि हुई थी।

शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व

अक्टूबर-क्रान्ति का परिणाम यह हुआ कि राष्ट्र दो प्रकार की सरकारों— पूंजीवादी एवं साम्यवादी में विभाजित हो गये। लेनिन इन दोनों प्रकार की सरकारों में सहअस्तित्व का दृढ़ समर्थक था। यह उसकी नीति का स्थायी तत्व बना रहा। इसी के आधार पर कर्नल रोबिन्स को अमेरिकी रैंड क्रास द्वारा आर्थिक सहयोग की योजना रूस ने प्रस्तुत की थी। इसके अनुसार रूस को 300 करोड़ रूबल का कच्चा माल निर्यात करना था व अमेरिका को तकनीकी सामान, मशीनें, खान, कोयला, तेल कुएें, रेल्वे, बिजली, नहर, बन्दरगाहों के निर्माण का कार्य रूस में करना था। किन्तु मित्र राष्ट्रों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार न कर सशस्त्र हस्तक्षेप ही उचित समझा। लेनिन के सहअस्तित्व के चार प्रमुख तत्व अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नि:संकोच पालन, राष्ट्र की सर्वोच्च सत्ता का आदर, छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों की समानता के आधार पर मान्यता व किसी राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप थे। सहअस्तित्व की इसी नीति को क्रियान्वित करते हुए रूस ने पड़ोसी राष्ट्रों से 1920-21 के मध्य अनेक शान्ति सन्धियाँ

कीं। 1920 के फरवरी में एस्थोनिया, जुलाई में लिथुआनिया, अगस्त में लैटविया, अक्टूबर में फिनलैण्ड व 1921 के फरवरी में फारस व अफगानिस्तान और मार्च में तुर्की और पोलैण्ड के साथ शान्ति सन्धियां उल्लेखनीय हैं। 1923 में चीनी गणतंत्री नेता सन यात सेन के साथ मैत्री-समझौता किया।

रूसी क्रान्ति के पश्चात् कुछ वर्षों तक पश्चिमी राष्ट्रों मे रूस के प्रति भारी अविश्वास और भ्रम की स्थिति बनी रही। इसलिये बड़े राष्ट्रों ने उसकी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में उपेक्षा की और उसे मान्यता देने में देर लगाई। रूस को 1919 के पेरिस शान्ति सम्मेलन में आमंत्रित नहीं किया गया और दूर प्राच्य में उसके विशेष स्वार्थ होने के बावजूद उसे 1921 के वाशिंगटन सम्मेलन में नहीं बुलाया गया, मुख्य पूंजीवादी राष्ट्र अमेरिका के विदेश सचिव कॉल्बी ने 10 अगस्त 1920 को स्पष्ट ही कहा था, "रूस में बोल्शेविज्म का अस्तित्व अमेरिका सहित अन्य राष्ट्रों में क्रान्ति शृंखला पर ही निर्भर है।" उनके अनुसार दोनों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रति विचार पूर्णरूप से भिन्न और नैतिकता के विरोधी थे। इसी समय (1922) कामिन्टर्न ने घोषणा की थी कि उसका ऐतिहासिक ध्येय ही पूंजीवादी समाज की कब्र खोदना है।

इस समय अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में रूस के तीन स्वार्थ थे: (1) आर्थिक विकास के लिये पूंजी; (2) अन्य राष्ट्रों से व्यापारिक सुविधाओं की उपलब्धि और (3) रूसी सरकार की कानूनी मान्यता। 10 अप्रैल 1922 को रूस ने प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय जेनेवा सम्मेलन में भाग लिया। रूसी प्रतिनिधि चिचेरिन ने इसमें रूस के आर्थिक पुनर्गठन पर जोर डालते हुए कहा कि वर्तमान इतिहास को देखते हुए प्राचीन एवं अर्वाचीन सामाजिक व्यवस्था को समानान्तर चलना चाहिये। उन्होंने यह भी कहा कि रूस के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिये उन्हें आर्थिक सहयोग की आवश्यकता है। किन्तु मित्र राष्ट्रों द्वारा रूस से युद्धकालीन ऋण की मांग और रूस द्वारा गृह-युद्ध के समय मित्र राष्ट्रों के हस्तक्षेप से हुई हानि की क्षतिपूर्ति की मांग से सम्मेलन में गतिरोध उत्पन्न हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में परित्यक्त रूस व जर्मनी ने 16 अप्रैल 1922 को इस सम्मेलन का लाभ उठाते हुए इटली के समुद्र तट पर रैपालो की सन्धि की। इसके अनुसार : (1) जर्मनी व रूस में कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित हुए; (2) शान्ति सम्मेलन की 116 वीं धारा के अनुसार क्षतिपूर्ति प्राप्त करने के निजी अधिकार का रूस ने परित्याग किया और (3) पारस्परिक व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये। इस सन्धि के संदर्भ में लन्दन के दैनिक टाइम्स ने लिखा था, "यह एक अपवित्र सन्धि है व मित्र-राष्ट्रों का यह नग्न अपमान है।" अमेरिकी कूट-नयिक जार्ज कैनन रूसी प्रयत्नों व उनके उद्देश्य की एकाग्रता पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं, 'रैपालो को निश्चित रूप से सोवियत कूटनीति' की महान् विजय कहा जा सकता है। इसने रूस के प्रति सम्बन्धों में पश्चिमी समुदायों को सफलतापूर्वक विभाजित कर दिया। पश्चिम द्वारा रूस की कूटनीतिक मान्यता एवं उससे साथ

व्यापारिक सम्बन्धों की समस्याओं में इसने एक विभाजन रेखा खींच दी।" रैपालो सन्धि की भावना सःअस्तित्व के सिद्धान्त पर आधारित थी और रूसी दृष्टिकोण में यह अन्य पूंजीवादी राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करती थी।

पश्चिमी राष्ट्रों से आर्थिक सहयोग

लेनिन ने 1921 में जो नवीन आर्थिक नीति अपनाई, उसके मूल में पश्चिम से भी आर्थिक सहायता लेकर रूस के समाजवादी राष्ट्र को उद्योग व कृषि की दृष्टि से एक प्रगतिशील देश बनाना था। इस प्रकार वह विश्व के सम्मुख समाजवाद द्वारा आर्थिक उन्नति का एक उदाहरण प्रस्तुत करना चाहते थे। इसलिए गृह-युद्ध और पूंजीवादी राष्ट्रों के हस्तक्षेप के बाद अब वे शान्ति चाहते थे, जिससे विकास-कार्य सम्भव हो सके। पूंजीवादी राष्ट्रों के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्धों और व्यापार के क्षेत्र में समानता को ध्यान में रखकर ही रूस ने अपने एक व्यापार विशेषज्ञ क्रासिन को मई 1920 में व्यापारिक समझौते के लिये लन्दन भेजा। दस महीने की वार्ता के पश्चात् 6 मार्च 1921 को मास्को-लन्दन व्यापारिक सन्धि संपन्न हुई। इसके पश्चात् पारस्परिक लाभ के आधार पर आस्ट्रिया, जर्मनी, इटली, चैकोस्लोवाकिया व तुर्की ने भी रूस से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये। अमेरिका ने व्यापारिक सम्बन्धों के प्रस्ताव को इस समय अस्वीकृत कर दिया। उसका कहना था कि रूस जब तक अपने सामाजिक जीवन में कोई परिवर्तन नहीं करे, आर्थिक सम्बन्धों का प्रश्न ही नहीं उठता। अन्य राष्ट्रों से आर्थिक सम्बन्धों के सुधार हेतु रूस ने एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का भी सुझाव दिया जिसमें रूस पर अन्य राष्ट्रों की मांगों व अन्य राष्ट्रों पर रूस की मांगों का अन्तिम रूप से निर्णय लिया जा सके। किन्तु उसका यह प्रयत्न असफल रहा। क्रमशः रूस के साथ व्यापार में पश्चिमी राष्ट्रों की उत्सुकता बढ़ती गई और इसमें और अधिक वृद्धि हुई।

कानूनी मान्यता

रूस में बाल्शेविक क्रान्ति के सूत्रधार लेनिन की मृत्यु 21 जनवरी 1924 को हो गई। बीसवीं सदी के वही मात्र नेता है, जिनके शव को कांच की पेटी में क्रेमलिन में इसलिये सुरक्षित रख दिया गया है कि रूस की भावी सन्ततियाँ उनके दर्शन कर साम्यवाद की प्रेरणा ले सकें। रूसी शब्दों में वे 'महामानव' थे और एक ऐसे दार्शनिक थे, जिन्होंने केवल सिद्धान्तों का निर्माण ही नहीं किया, उन्हें व्यावहारिक रूप भी दिया। उनके कर्मठ शिष्य स्टालिन ने उनके बाद उनकी ही विदेश नीति को जारी रखा।

लेनिन ने रूस की आर्थिक उन्नति की जो नींव डाली थी उसके बाद में अन्य राष्ट्रों द्वारा रूसी मान्यता के रूप में फल दिये। रूस में आर्थिक व सामरिक प्रगति; शान्ति के प्रति उसका आग्रह; पूंजीवादी राष्ट्रों के साथ उसके व्यापारिक सम्बन्ध

व विदेशों के श्रमिक वर्गों के प्रति उसकी सहानुभूति ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में रूस के प्रभाव क्षेत्र को विकसित किया। ब्रिटेन में रैमजे मैकडोनाल्ड की श्रमिक सरकार की स्थापना, उसे रूस से व्यापारिक लाभ की आशा व रूस और मुसोलिनी में आर्थिक वार्ता ने ब्रिटेन को रूस को 1 फरवरी 1924 को मान्यता देने के लिये प्रेरित किया। किन्तु यह सम्बन्ध स्थायी न रहा। 9 महीने पश्चात् के 'जिनोवियम पत्र काण्ड' के फलस्वरूप दोनों राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ गये। इसके अन्य कारण 1926 की ब्रिटिश श्रमिकों की आम हड़ताल में रूसी आर्थिक सहायता व 12 मई 1927 को ब्रिटेन द्वारा रूसी व्यापारिक प्रतिनिधि मंडल आरकोस पर छापा मारा जाना था। अतः 1927 में दोनों राष्ट्रों के पारस्परिक कूटनीतिक सम्बन्धों का विच्छेद हो गया। 1930 में श्रमिक दल के विजयी होने पर पुनः रूस से ये सम्बन्ध स्थापित हुए।

ब्रिटेन के रूस को मान्यता देने के 6 दिन पश्चात् अर्थात् 7 फरवरी 1924 को इटली ने उसे मान्यता दी। फ्रांस के हेरियो मन्त्रिमण्डल ने अक्टूबर में रूस से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये। जनवरी 1925 में हुए एक विशेष समझौते के आधार पर जापान ने रूस को कानूनी मान्यता दी एवं उत्तरी साखालिन से अपनी फौजें हटाली। बदले में उसे वहाँ मछली पकड़ने व तेल सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हुए। इसी प्रकार चीन, डेन्मार्क, यूनान, स्वीडन व मैक्सिको ने भी राजदूतों का आदान-प्रदान किया।

रूस द्वारा फ्रांसीसी ऋण का अस्वीकार किया जाना, उन्हें रूस में कुछ वस्तुओं के आयात की सुविधा न देना व रूसी राजदूत की पेरिस में इस घोषणा ने कि रूस युद्ध में लिप्त होने पर लाल फौज में गैर साम्यवादी देशों के श्रमिकों को भर्ती करेगा—ऐसे कारण थे, जिनसे क्रुद्ध होकर फ्रांस ने 1927 में रूस से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। इसी समय दो और अप्रिय घटनायें—पोलैण्ड में एक रूसी द्वारा सोवियत राजदूत की हत्या व पेकिंग में चाँग काई शेक की सरकार द्वारा रूसी दूतावास से कामिन्टर्न सम्बन्धी कागजात पकड़े जाना था। इससे दो अन्य राष्ट्रों से रूसी सम्बन्ध बिगड़ गये। जब जापान ने चीन पर पुनः 1937 में आक्रमण किया तब फिर चीन-रूसी कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित हुए।

केवल अमेरिका ही ऐसा राष्ट्र रह गया था, जिसने रूस को मान्यता नहीं दी थी। इस सिलसिले में, प्रजातांत्रिक नेता फ्रैंकलिन रूजवेल्ट ने नवीन नीति को अपनाया। अमेरिका का व्यापारी वर्ग भी अपने व्यापारिक क्षेत्र को बढ़ाने का इच्छुक था। उधर रूस में अमेरिकी तकनीकी सामान की भारी आवश्यकता थी और वह 100 करोड़ डालर तक की लागत का सामान आयात कर सकता था। दूर प्राच्य की गम्भीर स्थिति ने भी सम्बन्धों पर प्रभाव डाला। 16 नवम्बर 1933 में लिटविनोफ रूजवेल्ट वार्ता हुई, जिसके आधार पर अमेरिका ने मान्यता दे दी।

नि:शस्त्रीकरण

अप्रैल, 1922 के जेनेवा सम्मेलन में सोवियत विदेश-मंत्री चिचेरिन ने एक विश्वव्यापी नि:शस्त्रीकरण का प्रस्ताव रखा। किन्तु इस प्रस्ताव को अन्य शक्तियों का समर्थन प्राप्त न हो सका। फिर भी इस प्रस्ताव का ऐतिहासिक महत्व यह है कि इसने सोवियत रूस के नि:शस्त्रीकरण प्रयत्नों का श्री गणेश किया। 1927 में रूस ने नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन के प्रारम्भिक आयोग में एक पूर्ण और विश्वव्यापी नि.शस्त्री-करण की योजना प्रस्तुत की। रूसी मतानुसार इस प्रस्ताव ने विश्व की प्रजातांत्रिक जनता पर गहरा प्रभाव डाला। एक बार फिर पूंजीवादी राष्ट्रों ने इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया। इसके पश्चात् 1928 मे रूस ने आंशिक नि:शस्त्रीकरण का प्रस्ताव आयोग के सम्मुख रखा। इस प्रस्ताव का भी खण्डन कर दिया गया। किन्तु सोवियत सरकार भी अपने नि शस्त्रीकरण सम्बन्धी विचारो व नीति पर डटी रही और अपने विचार प्रारम्भिक आयोग व नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन मे प्रस्तुत करती रही, जिसकी सभायें 1932 से 1944 के मध्य बिना किसी परिणाम के होती रही।

सामूहिक सुरक्षा

दो विश्व युद्धों के मध्यकाल में सामूहिक सुरक्षा प्रणाली का उत्साहपूर्वक समर्थन सोवियत संघ की मूल नीति थी। सामूहिक सुरक्षा से सोवियत संघ का तात्पर्य था, एक भौगोलिक क्षेत्र के छोटे-बड़े राष्ट्रो का ऐसा संगठन, जो बाह्य आक्रमणों का निराकरण कर सके। पश्चिमी राष्ट्रो के स्वार्थ और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में उसकी उपेक्षा ने रूस मे उनके प्रति अविश्वास की भावना को जन्म दिया। इसी के फल-स्वरूप मास्को ने राष्ट्रसंघ की निन्दा करते हुए कहा था, "यह साम्राज्यवादी वर्सायी व्यवस्था को बनाये रखने के लिये पूंजीवादी गुटो का सगठन है।" 1925 के 'लोकार्नो समझौते' ने भी सोवियत रूस को शकालु एवं असन्तुष्ट कर दिया, क्योंकि इसमे पश्चिमी यूरोप की सीमाओं की सुरक्षा व्यवस्था तो थी, पूर्वी यूरोप को खुला छोड़ दिया गया था। दूसरे शब्दो मे पूर्वी यूरोप की सीमायें अनिश्चित थी और इससे रूसी सीमायें आक्रमण का निशाना बन सकती थी।

1928 के 'पेरिस समझौते ने' भी रूस को सतर्कता की नीति अपनाने के लिये प्रेरित किया। चिचेरिन के अनुसार, "यह एक ऐसा अस्त्र था, जिसने रूस के साथ सघर्ष को बढ़ा दिया और यूरोपीय समाज में उसे पृथक् कर दिया। किन्तु फिर भी अपने आपको युद्ध की भयकरता से बचाने के लिये और शांति-प्रिय एवं युद्ध विरोधी राष्ट्र घोषित करने के लिये मास्को ने अगस्त 1928 में पेरिस समझौते को स्वीकार किया। यूरोपीय कूटनीति की इस पृष्ठभूमि में रूस ने अपनी सुरक्षा के लिये अना-क्रमण सधियो का एक ताना-बाना बुना।

मास्को की प्रथम अनाक्रमण सधि, जो बाद में चलकर अन्य संधियों की आदर्श बनी, तुर्की के साथ दिसम्बर 1925 का पेरिस का समझौता था। इसके अनुसार यह

तय हुआ कि (1) दोनों में किसी भी राष्ट्र पर आक्रमण होने की दिशा में अन्य तटस्थ रहेगा; (2) दोनों एक-दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे और (3) एक-दूसरे के विरोधी गुट मे शामिल नहीं होगे। अनाक्रमण संधि की इस नीति को आगे बढ़ाते हुए मास्को ने 1926-27 मे अफगानिस्तान, फारस, बल्कान राज्य व जर्मनी से समझौते किये।

1929 में चिचेरिन के स्थान पर मैक्सिम लिटविनोफ रूस के विदेशमंत्री बने। उन्होंने अगले 10 वर्ष तक प्रत्येक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे सामूहिक सुरक्षा के आधार पर ही शांति का जोरदार समर्थन किया। फरवरी से जुलाई 1929 तक उन्होंने 'पेरिस समझौते' के आधार पर बहुपक्षीय 'लिटविनोफ समझौते' किये, जिसमें पोलैण्ड, लैटविया, एस्थोनिया, रूमानिया लिथुआनिया, तुर्की, डानजिग व ईरान सम्मिलित हुए।

1930 की आर्थिक मंदी और उसके पश्चात् जर्मनी व जापान की शांति को चुनौती ने सोवियत संघ को शंकित कर दिया और उसने अनाक्रमण संधियों का एक नया जाल बुनना प्रारम्भ किया। 1931 में उसने अफगानिस्तान, तुर्की और लिथुआनिया से अनाक्रमण संधियां की। 1932 मे फिनलैण्ड, लैटविया, एस्थोनिया व पोलैण्ड से मास्को ने अनाक्रमण समझौते किये। रूस ने अपनी परम्परागत बल्कान और बाल्टिक समुद्र तट तक विस्तार की नीति का परित्याग किया। रूमानिया को भी मास्को ने बेसारेबिया पर अधिकार न करने का वचन दिया। 1933 में सोवियत संघ ने इटली व लिथुआनिया से अनाक्रमण संधियां की। इसी वर्ष मास्को ने लंदन के विश्व आर्थिक सम्मेलन में भाग लिया और आक्रमण की पूर्ण परिभाषा पर उपरोक्त वर्णित राष्ट्रों के अतिरिक्त चैकोस्लोवाकिया व युगोस्लाविया के साथ हस्ताक्षर किये।

1932 में यूरोपीय परिस्थितियों ने फ्रांस को भी अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिये बाध्य कर दिया। सोवियत संघ के साथ नवम्बर 1932 मे निष्पक्षता एवं अनाक्रमण संधि के लिये राजी हो गया। 1934 मे इसी नीति को आगे बढ़ाते हुए मास्को व पेरिस ने एक पूर्वी समझौते की योजना, जिसमें मध्य और पूर्वी यूरोप की सुरक्षा व्यवस्था थी, प्रस्तुत की। किन्तु ब्रिटेन व जर्मनी ने इस योजना को असफल कर दिया। विवश होकर मई 1935 में सोवियत संघ ने फ्रांस और चैकोस्लोवाकिया से व्यक्तिगत रूप से पारस्परिक सहायता संधि की (विस्तृत अध्ययन के लिये 'सुरक्षा की खोज में' अध्याय देखें)। इस प्रकार हिटलर के उदय ने सोवियत रूस को पश्चिम के पूंजीवादी राष्ट्र फ्रांस से समझौता करने के लिये बाध्य कर दिया। शूमैन के शब्दों मे, "यह सोवियत कूटनीति में क्रांतिकारी परिवर्तन और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसका नवीन रूप था।"

1935 मे मंचूरिया स्थित चीनी पूर्वी रेल्वे के अंश रूस ने जापान को बेच दिये। मार्च 1936 में उसने मंगोलिया से अनाक्रमण संधि की। नवम्बर में जापान व

जर्मनी ने एक कामिन्टर्न विरोधी समझौता किया। इसने मास्को की स्थिति नाजुक हो गई। अतः अगस्त 1937 के द्वितीय चीन-जापान युद्ध के एक महीने पश्चात् मास्को ने पेकिंग से एक अनाक्रमण संधि की।

1922 की रैपालो संधि ने मास्को-बर्लिन संबंधों को एक नया मोड़ दिया था। इसी दिशा में आगे बढ़ते हुए रूस और जर्मनी के मध्य मास्को में एक विशेष पत्र पर हस्ताक्षर होकर अप्रैल 1926 में बर्लिन संधि द्वारा अनाक्रमण समझौता हुआ। किन्तु रूस-जर्मन संबंधों की चरमसीमा 23 अगस्त 1939 का 10 वर्षीय अनाक्रमण समझौता था, जिसने समस्त विश्व को आश्चर्यचकित कर दिया।

रूस और राष्ट्रसंघ

राष्ट्रसंघ का जन्म शांति सम्मेलन के प्रतिश्रव के आधार पर हुआ था, जिस पर मास्को ने हस्ताक्षर नही किये थे। अतः रूस इस संस्था का सदस्य नही था। जर्मनी व जापान के राष्ट्रसंघ से परित्याग के एक वर्ष पश्चात् फ्रांस के प्रयत्नों से रूस राष्ट्रसंघ एवं परिषद् का स्थायी सदस्य 17 सितम्बर 1934 को बना। उसके सदस्य बनने के मूल मे नाजीवाद व फासीवाद का आक्रामक रुख, उसकी साम्यवाद विरोधी नीति और फलस्वरूप उसमें उत्पन्न असुरक्षा की भावना थी। राष्ट्रसंघ में मास्को की नीति फासीवाद के शिकार चीन, स्पेन व इथोपिया का अविचल समर्थन एवं पश्चिमी राष्ट्रों की तुष्टिकरण नीति का विरोध था।

मार्च 1938 में जब हिटलर ने आस्ट्रिया का जर्मनी में विलय कर लिया तब उसके विरुद्ध रूस ने सामूहिक कार्यवाही का सुझाव दिया था किन्तु, पश्चिमी राष्ट्रों ने इसकी अवहेलना की। 30 सितम्बर 1938 को फ्रांस व ब्रिटेन ने म्युनिख समझौते मे रूस को आमंत्रित ही नही किया और जर्मनी के प्रति तुष्टिकरण की नीति के आधार पर उसे चैकोस्लोवाकिया का अंश दे दिया। रूस ने इस समय चैकोस्लोवाकिया के राष्ट्रपति बेनेस के पास सूचना भेजी कि यदि वह अनुरोध करे तो फ्रांस के सहायता न देने के बावजूद वह उसे मदद करेगा। किन्तु रूस को बेनेस से किसी प्रकार का संदेश प्राप्त ही नहीं हुआ। हिटलर ने 15 मार्च 1939 को म्युनिख समझौते को भंग कर चैकोस्लोवाकिया व मेमेल को हड़प लिया। इस समय भी रूस के किये गये विरोध की अवहेलना की गई।

ब्रिटेन व फ्रांस से वार्ता

ब्रिटेन, फ्रांस और रूस मे हो रही मास्को वार्ता निम्न कारणों मे सफल नही हो सकी : (1) रूस पश्चिमी यूरोप में अपने आपको पृथक् अनुभव कर रहा था और वह देख रहा था कि वे केवल अपने स्वार्थ में कार्य कर रहे हैं; (2) वार्ता में रूस को उनसे निश्चित और पर्याप्त सैनिक सहायता का आभास नहीं हुआ, (3) दूर प्राच्य मे मंगोलिया की खलकिनगोल नदी के किनारे पर जापान से संघर्ष चल रहा

था और रूस दो सीमाओं पर युद्ध करने के लिये तत्पर नहीं था और (4) जब रूस को यह सूचना मिली कि ब्रिटेन जर्मनी से गुप्त वार्ता कर रहा है तो उसने यही श्रेयस्कर समझा कि पश्चिमी राष्ट्रों को छोड़ जर्मनी से दस वर्षीय अनाक्रमण संधि करना उचित है, जिसकी परिणति 23 अगस्त 1939 को हुई।

1 सितम्बर 1939 को जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। तटस्थ रूस ने इस स्थिति में पश्चिमी बाइलोरशिया व पश्चिमी युक्रेन पर अधिकार किया। चर्चिल ने उस समय कहा था कि इन दोनों स्थानों की रक्षा रूस की सुरक्षा के लिये आवश्यक थी। 14 दिसम्बर 1939 को रूस को फिनलैंण्ड पर आक्रामक राष्ट्र घोषित कर राष्ट्रसंघ से निकाल दिया गया। 1940 तक रूस ने बाल्टिक राज्यों—एस्थोनिया, लैटविया, लिथुआनिया, फिनलैण्ड और बेसरेबिया को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। 22 जून 1941 को जर्मनी ने अनाक्रमण संधि भंग कर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया और रूस महान् राष्ट्रीय संग्राम के लिये जुट गया।

महान् राष्ट्रीय संग्राम

फ्रांस के पतन के पश्चात् समस्त पश्चिमी यूरोप जर्मनी के अधिकार में आ गया। इस समय (सहायक राष्ट्रों सहित) उसके पास 190 डिवीजन सेना, 3,500 टैंक व 50,000 तोपें थीं। उसका वार्षिक इस्पात उत्पादन $4\frac{1}{2}$ करोड़ टन एवं कोयला उत्पादन 40 करोड़ टन था। उधर सोवियत संघ का इस्पात उत्पादन 183 लाख टन एवं कोयला उत्पादन 17 करोड़ टन था। जर्मनी के समान सैन्य सामग्री सहित अब तक किसी राष्ट्र ने दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण नहीं किया था। रूस को अपनी 2,000 मील लम्बी सीमा पर तीन ओर—लेनिनग्राड, मास्को व युक्रेन—से सामना करना पड़ा। आरम्भ में उसे पीछे हटना पड़ा। किन्तु समाजवादी राष्ट्र अपने महान् राष्ट्रीय संग्राम हेतु लड़ता रहा। इसी देश ने पहली बार जर्मनी की अग्रगति को रोका लेनिनग्राड व मास्को ने गुरिल्ला युद्ध प्रारम्भ किया। मास्को, स्टालिनग्राड (वर्तमान वोल्गोग्राड) व कुस्क ने जर्मनी को पराजित कर युद्ध को एक नया मोड़ दिया।

शंकाकुल रूस ने दो ओर से आक्रमण की सभावना को दूर करने के लिये और जापान की तटस्थता को प्राप्त करने के लिये कूटनीति से काम लेकर मास्को में मत्सुओका के साथ निष्पक्षता संधि की। जिस रूस ने लन्दन को कभी प्रतिक्रियावादी एवं साम्राज्यवादी कहा था, वहीं के प्रधानमंत्री चर्चिल ने संसद् में रूस को जर्मनी के आक्रमण के विरुद्ध हर प्रकार की सहायता देने का वचन दिया। 12 जुलाई 1941 को मास्को व लन्दन के मध्य सामूहिक कार्यवाही के लिये एक समझौता हुआ। 26 मई, 1942 की सन्धि में रूस व ब्रिटेन ने पारस्परिक सहायता को जारी रखने के लिये एक अन्य संधि की। रूस व अमेरिका के मध्य कोई औपचारिक समझौता न होकर केवल कुछ सिद्धान्तों पर ही मतैक्य हुआ था, ताकि उसके आधार पर दोनों

अपने समान शत्रु से युद्ध जारी रख सकें। रूस भली भाँति जानता था कि आत्मरक्षा का मात्र उपाय पश्चिमी राष्ट्रों के साथ मिलकर जर्मनी को पराजित करना है।

26 जनवरी 1943 को अमेरिका व ब्रिटेन ने रूस को अगस्त-सितम्बर तक नया मोर्चा खोल देने का आश्वासन दिया। किन्तु इसमें उन्होंने इतनी देरी की कि रूस स्वयं के साधनों से ही लगभग विजयी हो गया। इस समय जर्मनी के 228 डिवीजन रूस के विरुद्ध लड़ रहे थे, जब कि मित्र राष्ट्रों को केवल 60 डिवीजनों का मुकाबला करना पड़ रहा था। जर्मनी के साथ 1943-44 में रूस ने गुप्त वार्ता के भी असफल प्रयत्न किये। साथ ही युद्धकालीन सम्मेलनों में आंग्ल-रूसी-अमेरिकी सहयोग बढ़ता ही गया। अक्टूबर 1943 में तीनों देशों के विदेशमंत्रियों ने युद्ध के पश्चात् भी पारस्परिक सहयोग की नीति को बनाये रखना निश्चित किया। विश्व-शांति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ को जन्म देने का निश्चय भी लिया गया। मित्र राष्ट्रों के अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को प्राप्त करने के लिये रूस ने 22 मई 1943 को अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी प्रचार संस्था कामिन्टर्न को समाप्त कर दिया।

पारस्परिक सहयोग को बढ़ाने के लिये तीन बड़े राष्ट्र नवम्बर-दिसम्बर में तेहरान-सम्मेलन में सम्मिलित हुए। इसमें दो सिद्धान्तों—(1) द्वितीय मोर्चा खोलना एवं (2) बुल्गेरिया, रूमानिया व युगोस्लाविया को रूसी प्रभाव क्षेत्र मानना निश्चित हुआ।

याल्टा सम्मेलन

9 से 11 फरवरी 1945 को महत्वपूर्ण गुप्त याल्टा सम्मेलन हुआ। इसके दो उल्लेखनीय निर्णय (1) नाजीवाद व सैनिकवाद को समाप्त करना; (2) सुरक्षा परिषद् में पाँच बड़ों का मतैक्य और उन्हें स्थायी आसन प्रदान करना था; व (3) तीसरे, स्टालिन ने स्वीकार किया कि जर्मनी के पतन के 2-3 महीने पश्चात् वह जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा करेगा और दक्षिणी सखालिन, क्यूराइल आदि को अपने राज्य में मिला लेगा। पोर्ट आर्थर पर विशेष अधिकार और चीन से मिलकर मंचूरिया की रेल्वे पर नियंत्रण भी स्वीकृत हुए।

जापान में हिरोशिमा पर अणु-बम गिराने के 2 दिन पश्चात् 8 अगस्त 1945 को रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा की। 6 दिन पश्चात् जापान ने आत्म-समर्पण कर दिया। 14 अगस्त को राष्ट्रवादी चीन ने, जिसने याल्टा सम्मेलन में भाग नहीं लिया था, रूस के साथ मैत्रीपूर्ण सन्धि कर ली। इस प्रकार रूस ने 1904-05 में जापान की खोई भूमि पर पुनः अधिकार कर लिया।

25 अप्रैल से 26 जून के मध्य अमेरिका के सैनफ्रांसिस्को नगर में होने वाले सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्रसंघ घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिये रूस के मुख्य प्रतिनिधि मोलोटोव ने भाग लिया। 25 जुलाई [illegible] तक जर्मनी

पोट्सडैम सम्मेलन हुआ। यहाँ स्टालिन ने अपनी माँगें प्रस्तुत कीं : (1) जर्मनी से 1 000 करोड़ डालर हर्जाना; (2) रूर पर बड़े तीन का अधिकार; (3) जर्मनी की पूर्वी सीमा पर नियंत्रण; (4) तुर्की के जलडमरू पर अधिकार; (5) ईरान में रूसी सेना के रखने की सुविधा व (6) पूर्वी यूरोप में स्वतन्त्र नीति थे। मित्र राष्ट्रों के इन्हें अस्वीकार करने से पारस्परिक मतभेद और निराशा और अधिक बढ़ गई।

जनवादी गणतंत्रों को सहायता

रूसी क्रान्ति का एक मुख्य ध्येय पूंजीवादी व साम्राज्यवादी राष्ट्रों के चंगुल में फंसे शोषित वर्ग—श्रमिक, कृषक व सेना के सदस्यों—को अंतर्राष्ट्रीय मुक्ति आदोलन द्वारा, उन्हें आत्म-निर्णय का अधिकार देना था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये 1919 में कामिन्टर्न की स्थापना की गई। इस संस्था ने प्रचार एव अनुदान द्वारा अन्य राष्ट्रों के सर्वहारा और श्रमिक वर्ग को प्रभावित एवं नियंत्रित करना प्रारम्भ किया ताकि एक संयुक्त मोर्चे का निर्माण किया जा सके। इसने गुप्त रूप से अन्य देशों में संस्थायें स्थापित कर अपना कार्य प्रारम्भ किया। इसका मुख्य कार्यालय मास्को में था, जिसका सोवियत सरकार व साम्यवादी दल से विशेष सबंध था।

कार्लोई की अध्यक्षता में नवम्बर 1918 में हंगेरी में जनवादी गणतंत्र की स्थापना हुई। जनवरी, 1919 मे हंगेरी गणतंत्र के वे राष्ट्रपति बने और उन्होने कृषि क्षेत्र में व्यापक सुधार किये। बुडापेस्ट में श्रमिक व सैनिक परिषद् के अध्यक्ष बेलाकुन, जो कि मध्यम वर्ग का एक यहूदी, भूतपूर्व समाचारपत्र सवाददाता, लेनिन का मित्र, रूस द्वारा भेजा गया व्यावसायिक क्रातिकारी था, ने 20 मार्च को कार्लोई को पदत्याग के लिये बाध्य कर हंगेरी में बाल्शेविक क्रान्ति का आयात करने का प्रयास किया। वह स्वयं राष्ट्रपति बन गया और हंगेरी को सोवियत गणतंत्र बना रूमानिया मे बाल्शेविक क्रांति की चेष्टा की। उसने लाल फौज भेजकर रूमानिया के ट्रांसिलवेनिया पर अधिकार करने का असफल प्रयत्न किया। रूमानिया के विजयी राजा फर्डीनेन्ड ने बुडापेस्ट में प्रवेश और बेलाकुन ने वहाँ से पलायन किया। मित्र राष्ट्रों के कहने पर 16 नवम्बर को रूमानिया ने हंगेरी खाली किया और एडमिरल हार्थी की सर्वोच्च प्रभुसत्ता की अध्यक्षता में स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हुई। 1921 तक काउन्ट बैथलेन की अध्यक्षता में पूर्ण गणतंत्रवादी सरकार प्रारंभ हुई। इस प्रकार हंगेरी व रूमानिया में जनवादी सरकार के आयात का प्रयोग असफल रहा।

जर्मनी मे भी लेनिन के विचारों से प्रभावित होकर सत्ता प्राप्ति के लिये श्रमिक-सैनिक परिषद् एवं लाल फौज बनाई गई, जिसके प्रमुख नेता कार्ल लैबनेट और रोजा लक्समबर्ग थे। इन्होंने सर्वोच्च शक्ति प्राप्ति के लिये 6 जनवरी से 15 जनवरी के मध्य, जिसे स्पार्टाकिस सप्ताह कहा जाता है, क्रान्ति का प्रयत्न किया। किन्तु 1,000 से अधिक व्यक्ति और दोनों नेता गोली से मारे गये और बाल्शेविक क्रांति का प्रयत्न यहाँ भी असफल रहा।

बवेरिया की राजधानी म्युनिख में कर्ट आइसनर ने रूसी क्रान्ति से प्रेरित हो वामपंथियों की सहायता से स्वतंत्र समाजवादी बवेरिया गणतंत्र की स्थापना की। 21 फरवरी 1921 को एक प्रतिक्रियावादी, क्रान्ति-विरोधी छात्र ने कर्ट आइसनर की हत्या कर दी, जनवादी गणतंत्र का अंत हो गया और समाजवादी प्रजातांत्रिक गणतंत्र की स्थापना हुई।

इटली में भी बाल्शेविक प्रणाली के समर्थक कृषकों ने सत्ता के लिये हड़तालें प्रारंभ की और उसकी चरमसीमा पर 5 लाख से अधिक श्रमिकों ने 600 कारखानों पर अधिकार कर लिया। अब निर्बल सरकार के सम्मुख सर्वहारा के अधिनायकवाद की संभावनायें बढ़ गई। किन्तु फासिस्टों ने इस आन्दोलन का विरोध कर पूँजीपतियों का साथ दिया और साम्यवादियों में मतभेद होने के कारण उनका प्रयोग छैः महीने पश्चात् ही असफल हो गया और फिर से कारखानों आदि पर उनके मालिकों का अधिकार हो गया।

मंगोलिया चीन की संप्रभुता के अंतर्गत राष्ट्र था। 1911 की चीनी क्रान्ति ने उसे एक पृथक् स्वशासित राष्ट्र बना दिया। 13 मार्च 1918 को कामिन्टर्न के प्रभाव से वहाँ एक क्रान्तिकारी जनवादी सरकार की 6 जुलाई को कॉमरेड बोडो की अध्यक्षता में स्थापना हुई। हुटक्टु आध्यात्मिक अध्यक्ष बना। 1925 तक के लिये सोवियत सेना का मंगोलिया की रक्षार्थ रखा जाना निश्चित हुआ। 5 नवम्बर 1921 को दोनों देशों में मैत्री संधि और 1922 में मंगोलिया में उर्गा की तृतीय कॉंग्रेस हुई, जिसमें रूस के साथ सम्पूर्ण सहयोग की नीति को स्वीकार किया गया। 1924 में चीन की नाममात्र की सत्ता स्वीकार कर मंगोलिया रूस का समर्थक राष्ट्र बन गया। पूर्व विधान के अनुसार सोवियत रूस ने अपनी सेनायें मंगोलिया से 1925 में हटालीं।

जुलाई 1919 में गुप्त संधियों और 'साम्राज्यवादी रूस' के विशेषाधिकारों को समाप्त कर बाल्शेविक मास्को ने चीन के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाया। सोवियत रूस ने बावसर हर्जाने, पूर्वी चीनी रेल्वे के अंश व विशेष सुविधाओं का परित्याग किया। 26 जनवरी 1923 को मास्को के एडोल्फ जोफ्फो ने सन यात सेन से संधि कर (1) चीन में तात्कालिक परिस्थितियों में साम्यवाद के स्थापित न हो सकने (2) रूस की सब प्रकार की सहायता व (3) विशेष अधिकारों का परित्याग निश्चित किया। 1924 में रूस के माइकेल बोरोडीन चीन में होम्फुआ स्थित सैनिक विद्यालय के परामर्शदाता बना कर भेजे गये। 1927 में पेकिंग स्थित रूसी दूतावास पर छापा मारने पर ज्ञात हुआ कि कामिन्टर्न की ओर से बोरोडीन को कुइमिनतांग सरकार को भंग करने के गुप्त निर्देश प्राप्त हुए थे। परिणाम यह हुआ कि बोरोडीन को देश छोड़ना पड़ा। साम्यवादी, क्यागसी प्रदेश में चले गये और कृषक-श्रमिक-सैनिक संगठन स्थापित किया। प्रथम जनवादी चीनी कॉंग्रेस जुइचिन में 7 नवम्बर 1931 को हुई और माओ त्से तुंग चीनी सोवियत गणतंत्र के प्रथम अध्यक्ष बने। 1932 में रूस से

कूटनीतिक संबंध स्थापित हुए और 1935 से 1945 तक जापान के विरुद्ध दोनों ने संयुक्त मोर्चे के रूप में कार्य किया।

1920 मे पूर्व के जनवादी गणतंत्रों की एक कांग्रेस 'मुक्ति-संग्राम' आन्दोलन को प्रोत्साहित करने के लिये बाकू में हुई। सरकारी प्रतिनिधियों की अपेक्षा जनता के प्रतिनिधियों के आगमन से कांग्रेस के निर्णय केवल कागजों में ही रह गये। मास्को में 1928 में छठी व 1935 में सातवीं कामिन्टर्न कांग्रेस हुई, जिसमें साम्यवाद के प्रसार के लिये राष्ट्रवादियों के साथ मिलकर संयुक्त मोर्चे मे अपने प्रभाव को बढ़ाने का सुझाव रखा गया। 1944-45 में जर्मनी के पीछे हटने पर पूर्वी योरोप के देशों—बुलगेरिया, रूमानिया, उत्तरी कोरिया, चैकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, अल्वेनिया, पोलैण्ड, फिनलैण्ड, हंगेरी, एस्थोनिया, लैटविया, लिथुआनिया व युक्रेन में साम्यवादी दल नियंत्रित जनवादी गणतंत्रों को सोवियत रूस ने सत्ता सौंप दी।

मूल्यांकन

सोवियत इतिहासकार यूजीन तारले के अनुसार, "सोवियत कूटनीति का अस्त्र, मार्क्स व लेनिनवाद का वह सिद्धान्त है, जिसने सामाजिक विकास के ऐसे कानून को जन्म दिया, जो अपरिवर्तनशील है, उससे न केवल वर्तमान अंन्तर्राष्ट्रीय जीवन का ही ज्ञान संभव है वरन् भविष्य की घटनाओं की निश्चित दिशा भी ज्ञात होती है।" सोवियत विदेश नीति के दो प्रकार के लक्ष्य-अल्पकालीन एव दीर्घकालीन रहे हैं। 'सुरक्षा' और 'प्रगति' उसके अल्पकालीन लक्ष्य थे, जबकि साम्यवाद का विश्व व्यापी प्रसार दीर्घकालीन लक्ष्य। संक्षेप मे क्रम से वह एक एक देश में सर्वहारा सरकार संगठित कर साम्राज्यवाद का विनाश चाहते थे, ताकि विश्वव्यापी क्रान्ति सम्पन्न हो जाय। इसलिये सोवियत विदेश नीति में परस्पर विरोधी तत्व दृष्टिगत होते हैं, एक ओर तो वे चाहते है शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व और दूसरी ओर (साम्यवादी-प्रसार के लिये) संघर्ष। सोवियत विदेश नीति के प्रमुख लेखक मैक्स बिलोफ के मत में "अध्ययन के साधन इतने अपर्याप्त व प्रचार से परिपूर्ण है कि सोवियत विदेश नीति का वास्तविक मूल्यांकन लगभग असंभव है।" एक ही राजनीतिक दल के होने और कठोर सरकारी नियंत्रण के कारण वहाँ जनता की प्रतिक्रिया जानना कठिन है।

1917 से 1945 की अवधि में सोवियत विदेश नीति की प्रवृत्तियों को देखते हुये उसे पांच कालों में बांटा जा सकता है, (1) 1917 से 1922 (रैपालो की संधि तक) की अवधि ऐसी थी जब सोवियत रूस शांति एवं आन्तरिक व्यवस्था में संलग्न था। (2) कानूनी मान्यता, निशस्त्रीकरण, सामूहिक सुरक्षा व अनाक्रमण संधियाँ ऐसे तत्व थे जिनमें सोवियत सरकार 1922 से 1933 (हिटलर के उदय) तक उलझी रही। (3) राष्ट्रसंघ में प्रवेश, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के प्रति दृढ़ इच्छा व पूर्वी एवं पश्चिमी राष्ट्रों से मैत्री सरीखी प्रवृत्तियो ने 1934 से 39 के युग का सूत्रपात किया। (4) 1939 से 41 के काल में रूस-जर्मन अनाक्रमण संधि ने रूसी विदेश नीति में

कूटनीतिक क्रान्ति उपस्थित की। (5) जर्मनी से राष्ट्रीय संग्राम, पूर्वी यूरोप और एशिया में साम्यवाद का प्रचार और नाजीवाद का पतन 1941 से 45 के मध्य सोवियत कूटनीति के लक्ष्य थे। जार कालीन दबी प्रवृत्तियों—वालटिक तटवर्ती क्षेत्र और जलडमरू मध्य पर नियत्रण और एशिया में प्रसार का पुनर्जन्म सोवियत रूस की विदेश नीति के अन्य आधार थे।

सोवियत रूस के कूटनीतिक लेखकों के अनुसार उनके राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में मुख्य सफलता तब मिली जब कि 1921 में बाल्शेविक क्रान्ति के शत्रु नष्ट हो गये। इस समय तक मानव समाज का $\frac{1}{3}$ भाग बाल्शेविक क्रान्ति के विचारों से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे प्रभावित हो चुका था। दो विश्व युद्धों के मध्य योग्य नेताओ—लेनिन(1917-24) व स्टालिन (1924-53) और विदेश मंत्रियों—चिचेरिन, लिटविनोफ, व मोलोटोव की कड़ी से कड़ी भूल की कम सभावनाएं रही और नीति में दृढता, चतुरता, गम्भीरता एव अविचलता बनी रही। 'लेनिन और स्टालिन के नेतृत्व मे रूस' नामक पुस्तक मे जार्ज कैनन ने लिखा है, "रूस ने विजय द्वारा अर्धेक ले लिया" यह उक्ति रहस्य से आच्छादित बताई जाती है। उधर रूसी राजनीतिज्ञों के अनुसार उनकी नीति साधारण एवं स्पष्ट रही है। 1945 के तीनों अतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों—याल्टा, सैनफ्रांसिस्को व पोट्सडम—मे रूस का ही विशेष लाभ रहा। वास्तव में यह रूसी कूटनीति की नहीं, साम्यवाद की विजय थी।

रूसी विचारकों के अनुसार उनकी विदेश नीति अविभाज्य, शांति और सुरक्षा के लिये प्रयत्नशील व गैर सोवियत समाज के अन्त के लिये तत्पर रही है। सोवियत कोष में 'शांति और सुरक्षा' का तात्पर्य, गैर सोवियत समाज का विनाश है। इसी के आधार पर विश्व दो गुटों में विभाजित है। सोवियत नेताओं के दृढ़ विश्वास के अनुसार "सोवियत सर्वहारा अधिनायकवाद जन समुदाय के कल्याण का ही नही, मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण की समाप्ति का भी एक आदर्श है।" लेनिन ने इसी सदर्भ में कहा था "हम एक ऐसी राज्य प्रणाली में रह रहे हैं, जिसमें सोवियत गणतत्र का साम्राज्यवादी राष्ट्रों के साथ रहना कल्पनातीत है। एक न एक रोज तो इसके शत्रुओं का अंत होगा ही।" स्टालिन ने इन्ही विचारो की पुष्टि इस प्रकार की "पूँजीवाद का विनाश शांतिपूर्ण विजय द्वारा असम्भव है, उसका ध्वंस दीर्घकालीन, हिंसात्मक व विनाशकारी सघर्ष द्वारा ही सम्भव है।"

सारांश

"रूस" चर्चिल ने एक बार कहा था "अमात्मक मंजार में रहस्य से आच्छादित एक पहेली है।" कार्ल मार्क्स के अनुसार "साम्यवाद घटनाचक्र का ही एक अंग है और इसकी प्रस्थापना, शक्ति द्वारा ही सम्भव है।" सोवियत रूस की विदेश नीति की प्रमुख प्रवृत्तियां निम्न हैं :—

(1) न्यायपूर्ण लोकतान्त्रिक शाति और सार्वभौम सत्ता के आदर में विश्वास;

(2) पूँजीवादी राष्ट्रों के साथ सह-अस्तित्व ; (3) आर्थिक सहयोग ; (4) कानूनी मान्यता ; (5) निशस्त्रीकरण और सामूहिक सुरक्षा ; (6) फासिस्ट आक्रमण का विरोध ; (7) महान् राष्ट्रवादी संघर्ष व (8) जनवादी गणतन्त्रों की सहायता।

रूस में साम्यवादी क्रान्ति के पश्चात् गृह-युद्ध छिड़ गया, जिसमें मित्र राष्ट्रों ने साम्यवाद के विरोधियों की सहायता की और रूस को शांति सम्मेलन में नहीं बुलाया। उधर रूस ने युद्धकालीन ऋण को जब्त कर लिया व साम्यवाद के अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार के लिये 'कामिन्टर्न' की स्थापना की। पश्चिमी राष्ट्रों ने रूस को राष्ट्रसंघ की सदस्यता व 1922 के वाशिंगटन सम्मेलन और लोकार्नो संधि से भी वंचित रखा, किन्तु 1921 में मित्र राष्ट्रों ने रूसी भूमि से अपनी सेनाएं हटा ली।

1922 में रैंपालो की सन्धि में रूस व जर्मनी के मध्य कूटनीतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुए। 1924 में ब्रिटेन और फ्रांस तथा 1925 में जापान ने भी रूस को मान्यता दी और इन सब देशों से रूस का वाणिज्य बढ़ने लगा। 1933 में अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भी रूस के साथ राजदूतों का आदान-प्रदान किया।

नि:शस्त्रीकरण के विषय में भी रूस ने बड़ी दृढता के साथ विश्वव्यापी नि:शस्त्रीकरण और सामूहिक सुरक्षा के प्रस्ताव रखे। 1928 में युद्ध परित्याग की नीति को अपनाते हुए रूस ने 'पेरिस समझौते' पर हस्ताक्षर किये। अपनी सुरक्षा को मजबूत बनाने के लिये उसने तुर्की और अन्य पड़ोसी राज्यों से अनाक्रमण सधियां की। 1935 में फ्रांस और चैकोस्लोवाकिया के साथ, छोटे राष्ट्रो की सहायता और नाजीवाद के विरोध को दृष्टि में रख, रूस ने पारस्परिक सहायता सधियां की।

1934 में राष्ट्रसंघ का सदस्य होने के पश्चात् हिटलर और मुसोलिनी के प्रति पश्चिमी राष्ट्रों की तुष्टिकरण नीति का वह विरोध करता रहा। इसलिये 1938 के म्युनिख समझौते में उसे आमन्त्रित नहीं किया। 1923 में रूस ने सुदूर पूर्व में चीन से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये, किन्तु राष्ट्र विरोधी कार्यो के कारण 1927 में चीन ने कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर दिये, जो 5 वर्ष पश्चात् पुन: स्थापित हुए। जब 1937 में जापान ने चीन पर आक्रमण किया तब रूस ने चीन की सहायता कर संयुक्त मोर्चा स्थापित किया। मित्र राष्ट्रों द्वारा पहले से पृथक् रूस को धुरी राष्ट्रों के साम्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे का भी सामना करना पड़ा। अत: उसने अपनी सुरक्षा हेतु 23 अगस्त 1939 को जर्मनी से 10 वर्षीय अनाक्रमण संधि कर सोवियत विदेश नीति को एक नया मोड़ दिया। 23 जून 1941 को फ्रांस की पराजय के पश्चात्, हिटलर ने स्वयं उक्त संधि को समाप्त कर रूस पर आक्रमण कर दिया जिससे कि रूस *स्वतंत्रता बनाए रखने के लिये महान् राष्ट्रीय संग्राम में जुट गया।*

रूस के जर्मनी के विरुद्ध आक्रमण में उलझ जाने पर मित्र-राष्ट्रों ने भी उसकी सहायता की। अमेरिका ने उधार पट्टा अधिनियम के अंतर्गत रूस को सहायता दी व रूस ने सद्भाव प्रदर्शन के लिये 1943 में कामिन्टर्न समाप्त कर दिया। जून

1944 मे मित्र राष्ट्रों द्वारा नया मोर्चा खोले जाने तक, मास्को अकेला बर्लिन से युद्ध करता रहा। नाजीवाद के विनाश के लिये रूस ने मास्को, तेहरान व पोट्सडम व याल्टा सम्मेलनों मे मित्र राष्ट्रों के साथ भाग लिया। मास्को ने सैनफ्रांसिस्को सम्मेलन मे संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हेतु हस्ताक्षर किये। जर्मनी की पराजय हुई, ग्राधे बर्लिन पर रूस का अधिकार हुआ और 8 अगस्त 1945 को रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा की। 6 दिन पश्चात् टोकियो ने आत्मसमर्पण कर दिया।

दो विश्व युद्धों के मध्य काल में साम्यवादी दलों ने जर्मनी, हंगेरी व इटली में साम्यवादी सरकार की स्थापना के असफल प्रयत्न किये। मंगोलिया में इन्हे सफलता प्राप्त हुई। 1931 से चीन में माओ त्से तुंग के नेतृत्व में साम्यवादियों का प्रभाव बढ़ता गया। 1944-45 मे रूस को पूर्व यूरोपीय देशों व उत्तरी कोरिया में साम्यवादी सरकारों की स्थापना मे सफलता मिली।

सोवियत लेखकों के अनुसार मास्को की विदेश नीति निश्चित, दृढ़ व स्पष्ट रही है। सोवियत विदेश नीति के दो प्रकार के लक्ष्य अल्पकालीन (सुरक्षा और प्रगति) दीर्घकालीन (साम्यवाद का विश्वव्यापी प्रसार) थे। दो विश्व युद्धों के मध्य योग्य नेताओं-लेनिन (1917-24) व स्टालिन (1924-53) और विदेश मन्त्रियों चिचेरिन, लिटविनोफ व मोलोटोव की कड़ी से, भूल की कम सम्भावना रही और नीति में दृढ़ता, चतुरता, गम्भीरता एव अविचलता बनी रही। सोवियत नेताओं के दृढ विश्वास के अनुसार "सोवियत सर्वहारा अधिनायकवाद, जन समुदाय के कल्याण का ही नहीं, मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण की समाप्ति का भी एक आदर्श है।" स्टालिन ने इन्ही विचारों की पुष्टि इस प्रकार की "पूंजीवाद का विनाश शांति पूर्ण विजय द्वारा असम्भव है। उसका ध्वंस दीर्घकालीन, हिंसात्मक व विनाशकारी संघर्ष द्वारा ही सम्भव है।"

घटनाओं का तिथिक्रम

1917	7 नवम्बर—रूस में बाल्शेविक क्रान्ति।
	5 दिसम्बर—रूस-जर्मन विराम सन्धि।
1918	3 मार्च—ब्रेस्ट-लिटोवस्क की सन्धि।
1922	16 अप्रैल—जर्मनी के साथ रैपालो सन्धि।
1924	21 जनवरी—लेनिन की मृत्यु।
	1 फरवरी—ब्रिटेन द्वारा रूस को मान्यता।
1925	21 जनवरी—जापान द्वारा रूस को मान्यता।
1927	26 मई—ब्रिटेन से कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद।
1928	27 अगस्त 'पेरिस समझौते' पर हस्ताक्षर।
1929	फरवरी-जुलाई—लिटविनोफ समझौते।
1932	25 जुलाई—पोलैण्ड और बाल्टिक राज्यों से अनाक्रमण सन्धि।
1933	17 नवम्बर—संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा रूस को मान्यता।

1934 4 अप्रैल—पोलैण्ड के साथ 10 वर्षीय अनाक्रमण सन्धि।
9 जून—रूमानिया और चैकोस्लोवाकिया के साथ समझौता।
18 सितम्बर—राष्ट्रसंघ में रूस का प्रवेश।
1935 2 मई—फ्रांस और रूस में पारस्परिक सन्धि।
16 मई—रूस चैकोस्लोवाकिया सन्धि।
1936 18 जुलाई—स्पेन के गृह युद्ध में सरकारी पक्ष को समर्थन।
1939 3 मई—लिटविनोफ के स्थान पर मोलोटोव विदेश-मन्त्री।
21 अगस्त—जर्मनी से व्यापारिक सन्धि।
23 अगस्त—नाजी-सोवियत दस वर्षीय अनाक्रमण सन्धि।
28 सितम्बर—पोलैण्ड का विभाजन।
30 नवम्बर—फिनलैण्ड पर रूस का आक्रमण।
14 दिसम्बर—राष्ट्रसंघ से रूस का बहिष्कार।
1940 12 मार्च—फिनलैण्ड का आत्मसमर्पण।
13 अप्रैल—रूस-जापान तटस्थ सन्धि।
1941 22 जून—रूस पर जर्मनी का आक्रमण।
12 जुलाई—आँग्ल-रूसी पारस्परिक सहायता सन्धि।
6 नवम्बर—रूस को अमेरिका द्वारा सहायता।
1945 1 मई—बर्लिन का पतन।
8 अगस्त—जापान के विरुद्ध रूस की युद्ध घोषणा।
2 सितम्बर—जापान का आत्मसमर्पण।

सहायक अध्ययन

Beloff, M. : **The Foreign Policy of Soviet Russia.** Vol. I : 1929-1936; Vol. II. 1936-1941 (1949).

Carr, E. H. : **German-Soviet Relations Between the Two World Wars.** (1951)

Degras, J. : **Soviet Documents on Foreign Policy.** 1917-1941 3 Vols. (1953).

Deutscher, I. **Stalin** (1949).

Dallin, D. J. : **Soviet Russia's Foreign Policy, 1939-1942.** (1942).

Kennan, G. F. : **Russia and the West Under Lenin and Stalin.** (1962).

Lederer, I. J. : **Russian Foreign Policy.** (1962).

Moore, H. L. : **Soviet Far Eastern Policy, 1931-1945** (1945).

Stettinius, E. R. : **Roosevelt and the Russians.** (1949).

प्रश्न

1. रूसी क्रांति के पश्चात् रूस के बाहर साम्यवादी प्रसार पर टिप्पणी लिखें।
(राज० वि० 1960, आ० वि० 1966)

2. दो विश्व युद्धों के बीच की रूसी विदेश नीति की संक्षिप्त व्याख्या करें।
(रा० वि० 1962, 1965; जो० वि० 1964 ; उ० वि० 1965, 1967 ; प० वि० 1962 ; आ० वि० 1964, 1967)

3. 1939 से 45 के मध्य रूस व पश्चिमी राष्ट्रों के मध्य संबंधों का वर्णन व विवेचना करें। (रा० वि० 1964)

4. 1936 से 42 के मध्य रूस की यूरोप के प्रति विदेश नीति क्या थी ? उन तत्वों का आलोचनात्मक विश्लेषण करें, जिन्होने इस नीति के निर्माण में सहायता दी। (प० वि० 1962)

5. 1919 से 25 के काल में पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति रूस के दृष्टिकोण की विवेचना करें। (जो० वि० 1963)

6. 1934 से 45 के मध्य रूसी-संयुक्त राज्य अमेरिकी संबंधों की व्याख्या करें। (प० वि० 1965)

7. स्टालिन के आधीन रूसी विदेश नीति की व्याख्या करें।
(रा० वि० 1965)

8. 1930 के पश्चात् की सोवियत संघ की विदेश नीति पर प्रकाश डालें।
(जो० वि० 1966)

9. 1921 से 38 तक सोवियत संघ की विदेश नीति के मुख्य उद्देश्यों का विश्लेषण करें। इसे कहाँ तक क्रान्तिकारी कहा जा सकता है। (जो० वि० 1967)

15 अंतर्राष्ट्रीय गतिविधि में सुदूर-पूर्व

"यह संधि (नौ राष्ट्रों की खुला द्वार संधि, वाशिंगटन सम्मेलन) केवल आत्म नियंत्रक अध्यादेश था, सामूहिक सुरक्षा समझौता नहीं। इस संधि की पृष्ठभूमि में दण्डादेश केवल हस्ताक्षर-कर्त्ताओं की सद्भावना थी। वास्तव में यह प्रशान्त महासागर में यथास्थिति की ही स्वीकृति थी।"—विटने ग्रिसोल्ड : फार ईस्टर्न पालिसी ग्राफ दी यूनाईटेड स्टेट्स

"वाशिंगटन संधियों ने अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियों में जो अस्पष्ट था, उसे स्पष्ट किया व अनिश्चित को निश्चित किया।"
—डेविडसन

"शुभकामनाओं का दिखावा करते हुए ये शक्तियाँ चोरी छोड़ देने पर भी पहले के लूट के माल पर से अपना अधिकार छोड़ना नही चाहती थी।"
—एक जापानी प्रतिनिधि

एशिया विश्व का केवल सबसे बड़ा महाद्वीप ही नहीं, बल्कि विश्व की आधी से अधिक आबादी का निवास-स्थान भी है। इस अध्याय में हम अंतर्राष्ट्रीय गतिविधि में 1919 से 1945 की अवधि में सुदूर पूर्व की स्थिति का अध्ययन करेंगे। सुदूर पूर्व में चीन, जापान, फिलिपीन द्वीप समूह, कोरिया, मंगोलिया व मंचूरिया सम्मिलित किये जाते है। दो विश्व युद्धों के मध्य के काल में जापान व चीन के सम्बन्धों ने ही इस क्षेत्र को विशेष रूप से प्रभावित किया था। अत: हम इन दो राष्ट्रों का विशेष रूप से अध्ययन करेंगे।

चीन सुदूर पूर्व का सबसे बड़ा, घनी आबादी वाला (70 करोड़ लोग) एक महत्वपूर्ण देश है। 1912 में, 268 वर्ष पुराने मंचू वंश के शासन को समाप्त करने के बाद, वहाँ गणतंत्र की स्थापना हुई। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् पेकिंग में तू-चून की सैनिकवादी सरकार और कैन्टन में सन यात सेन के नेतृत्व में गणतंत्रवादी सरकार स्थापित हुई। 1919 में साम्यवादी दल की स्थापना और दो सरकारों के कारण चीन की शक्ति कमजोर पड़ गई। इन परिस्थितियों में 1913 में तिब्बत ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। 1917 में रूस में साम्यवादी क्रान्ति व चीन की आंतरिक व्यवस्था के प्रतिवेशी जापान ने पूरा लाभ उठाया।

19 वी शताब्दी में जापान का उत्थान एशिया की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। सम्राट् मेजी (MEIJI) के 37 वर्ष (1867-1905) के शासनकाल में जापान विश्व का एक शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। 1902 में जापान ने ब्रिटेन के साथ संधि कर ली। 1905 में, आंग्ल-जापान संधि के तीन वर्ष बाद जापान ने रूस को हराकर पोर्टस माउथ सधि (5 सितम्बर 1905) के अनुसार दक्षिणी साखालिन, पोर्ट आर्थर की भूमि और लियोटिंग प्रायद्वीप को तथा दक्षिण मंचूरिया की रेलों व खानों को, जो पहले रूस के अधिकार मे थे, अपने राज्य में मिला लिया। इसके अतिरिक्त अपनी 1915 की 21 मांगों वाली सूची में जापान ने अपना संरक्षण कायम करने की मांग की। 1918 में जापान, शांटुंग, भीतरी मंगोलिया, उत्तरी साखालिन और पूर्वी साइबेरिया आदि प्रदेशों पर अपना प्रभाव जमा चुका था। इस प्रकार जापान विजयी मित्र राष्ट्रों में से एक होने के कारण महाशक्ति बन गया।

1919 में सुदूर पूर्वी समस्याएँ

1919 के पेरिस शान्ति सम्मेलन में जापान का स्थान विश्व की पांच महाशक्तियों में एक था तथा इसका प्रतिनिधित्व मार्क्विस सैनोजी, वाइकाऊंट चिंडा और बेरन ने किया था। परन्तु चीन उस समय गृह-युद्ध मे फँसा था और इसका प्रतिनिधित्व उत्तरी चीन (पेकिंग सरकार) की ओर से एलफ्रेड एस० के० जे० और दक्षिणी चीन (कैंटन सरकार) की ओर से वी० के० विलिंगटन कू ने किया था। संपूर्ण चीन के एक प्रतिनिधि मण्डल के अभाव मे सम्मेलन में उनकी स्थिति निर्बल हो गई।

शान्ति अधिवेशन में चीन ने अपनी कुछ मांगें पेश भी की थी। इनमें शांटूंग को जापान के अधिकार से मुक्त कर उसे चीन को वापस किये जाने, तटकर स्वतंत्रता, अतिरिक्त भूमि सम्बन्धी कानून उन्मूलन, विदेशी प्रभाव को समाप्त करना तथा विदेशी सैनिकों को हटाने की माँगें शामिल थीं। दूसरी ओर जापान के भी निम्न 3 ध्येय थे: (1) प्रशासन क्षेत्र में भूमध्य रेखा के उत्तर के भूतपूर्व जर्मन अधिकृत द्वीपों पर अधिकार, (2) शांटूंग पर जर्मनी की भाति प्रभुत्व, (3) राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव मे जातीय समानता को शामिल करना। चीन और जापान के प्रतिनिधियों में शांटूंग के प्रश्न को लेकर काफी मतभेद रहा। अमेरिका को 1917 की गुप्त संधि के संबंध में निश्चित जानकारी न होने के कारण विलसन ने चीन के अधिकार का समर्थन किया। जापान की प्रशान्त क्षेत्र के द्वीपों की मांग, राष्ट्रपति विलसन के एक देश के हिस्से को दूसरे देश मे न मिलाने वाले सिद्धान्त के विपरीत थी। आस्ट्रेलिया के प्रधानमंत्री ह्यूज के 'विशेषाधिकार' प्रयोग के कारण जापान की जातीय समानता की माँग रद्द कर दी गई। जापान ने शांटूंग प्रश्न को लेकर सम्मेलन छोड़ने की धमकी दी। विवश होकर विलसन ने जापान के पक्ष में समझौता कर लिया।

शान्ति के नियमों के अनुसार जापान को शांटूंग प्रान्त प्राप्त हुआ, परन्तु विलसन के अनुरोध पर जापान ने इसे भविष्य में चीन को लौटाने का एक मौखिक वचन दिया। चीन को बोक्सर-उपद्रव के समय छीने गये ज्योतिष विद्या संबंधी यंत्र वापिस मिले। मित्र राष्ट्रों ने 'ग' श्रेणी की आदिष्ट प्रणाली के रूप में, प्रशान्त द्वीपों —अर्थात् मार्शल्स मेरियानास और केरोलियन्स पर शासन का अधिकार जापान के अधिकार में दे दिया, जो पहले जर्मनी के अधिकार में था। इस प्रकार सुदूर पूर्व में वर्साय़ी संबंधी व्यवस्थायें की गई।

चीन के प्रतिनिधि ने न केवल संधि की शर्तों का विरोध किया, वरन् उन पर हस्ताक्षर करने से भी इन्कार कर दिया। इतना ही नहीं, चीन में जापानी वस्तुओं का पूर्णरूपेण बहिष्कार किया गया तथा विद्यार्थियों ने भी जगह-जगह जलूस निकाल कर अपना विरोध प्रकट किया। चीन के इन विरोधों के कारण जापानी व्यवसाय को बड़ा धक्का लगा। परिणामस्वरूप जापान ने इस संबंध में उससे सीधी वार्ता की इच्छा प्रकट की जो वाशिंगटन सम्मेलन में सम्पन्न हुई। इसके पश्चात् चीन सेन्ट जर्मन के संधि पत्र पर हस्ताक्षर कर राष्ट्रसंघ का सदस्य हो गया तथा जर्मनी के साथ एक अन्य संधि में शामिल होकर उससे अतिरिक्त भूमि सम्बन्धी कानून को रद्द कराने में सफल हुआ (मई 20, 1921)। जातीय समानता की मान्यता को छोड़कर जापान अपने सभी उद्देश्यों में शान्ति सम्मेलन में सफल हुआ और 1919 के पश्चात् वह महाशक्तियों में माना जाने लगा।

वाशिंगटन सम्मेलन (1922)

उत्पत्ति

12 नवम्बर 1921 से 6 फरवरी 1922 का नौ राष्ट्रों का सम्मेलन वाशिंगटन

से हुआ। इसके उपरान्त के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कनाडा के अनुसार विदेश मंत्री ने 24 जनवरी 1921 को कांग्रेस में यह प्रस्ताव रखा था (जिसका कि हार्डिंग ने विरोध किया था) कि नौ-सेनाओं में 5 वर्ष की अवधि के वास्ते व्यय की मात्रा कम किया जाय। 29 जून 1921 को कांग्रेस ने यह प्रस्ताव स्वीकृत किया। सुदूर पूर्व की समस्याओं पर भी विचार करने का निश्चय किया गया। जापानी इतिहासकार के अनुसार हार्डिंग यह चाहते थे कि इस सम्मेलन में नौसैनिक निःशस्त्री-करण के अतिरिक्त सुदूर पूर्व में रुचि रखने वाले सभी राष्ट्र एक समान नीति व सिद्धान्त को निश्चित करने के लिये इस सम्मेलन में भाग लें।

ब्रिटेन के मत में कैनेडा के प्रधानमन्त्री आर्थर मिघान वाशिंगटन सम्मेलन के लिये उत्तरदायी थे। फरवरी 1920 में ही इनके अनुसार मिघान ने आंग्ल-जापानी संधि समाप्त कर प्रशान्त सागर की समस्याओं पर विचार करने के लिये एक सम्मेलन का प्रस्ताव दिया था, जिसमें चीन व संयुक्त राज्य अमेरिका भी शामिल हों।

ब्रिटेन के नौ-मंत्री एडमिरल ली के 10 मार्च 1921 को टाइम्स में छपे एक पत्र के अनुसार ब्रिटेन, अमेरिका व जापानी नौ-होड़ को रोकने व ब्रिटेन और अमेरिका की समानता के लिये उसने एक सम्मेलन का सुझाव दिया था। 21 जून से 5 अगस्त 1921 के राष्ट्रमंडलीय सम्मेलन में लायड जार्ज और विदेशमंत्री कर्जन के सुझाव पर प्रशान्त महासागरीय समस्याओं पर विचार के लिये संबंधित राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाया जाना निश्चित हुआ। 11 अगस्त 1921 को राष्ट्रपति हार्डिंग ने 12 नवम्बर को सम्मेलन बुलाये जाने का निमंत्रण भेज दिया।

हो गया। इसके अतिरिक्त अमेरिका में जापानियों के आवास प्रश्न पर नियंत्रणों तथा चीन में अमेरिका की खुला द्वार नीति ने दोनों में और भी तनाव पैदा कर दिया।

याप द्वीप समस्या

प्रशान्त सागर में याप-गुआम-सैनफ्रांसिस्को केबिल लाइन डालने के लिये, याप द्वीप में अमेरिका को सुविधायें दिये जाने का प्रश्न था। यह द्वीप हाल ही में जर्मनी से जापान को हस्तान्तरित हुआ था। पेरिस शान्ति सम्मेलन में प्रेसीडेण्ट विलसन ने याप द्वीप के अन्तर्राष्ट्रीयकरण के लिये प्रयास किया किन्तु यह प्रयत्न असफल रहा।

त्रिपक्षीय सैनिक होड़

1919 के बाद की अमेरिका, ब्रिटेन और जापान की त्रिपक्षीय नौ-सैनिक होड़ न केवल सुदूर-पूर्व की शान्ति के लिये खतरा बन गई, वरन् इससे इन देशों के बजट पर भी भारी दबाव पड़ने लगा। बुएल के अनुसार अंग्रेजों को शंका थी कि 1924 तक अमेरिका की नौ-शक्ति ब्रिटेन के समान हो जायेगी। 1921 में राष्ट्रपति हार्डिंग व विदेशमंत्री ह्यूजेस ने अमेरिका के नेतृत्व में बड़ी शक्तियों में शस्त्रास्त्र में कमी करने पर जोर दिया था। अतः यह उद्देश्य भी अमेरिका के सम्मुख था।

रचना

अमेरिका ने इस सम्मेलन में नौ शक्तियों—पांच बड़ी : ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान व अमेरिका और चार छोटी : नीदरलैण्ड, चीन, बेल्जियम व पुर्तगाल—को आमंत्रित किया। इन राष्ट्रों का प्रशान्तसागर के प्रश्नों में विशेष स्वार्थ था, किन्तु इस सम्मेलन में रूस को नहीं बुलाया गया था। इस सम्मेलन में अमेरिका के विदेशमंत्री ह्यूजेस, सिनेट की विदेश संबंध-समिति के अध्यक्ष हैनरी कैवेट लायड, फ्रांस के प्रतिनिधियों में प्रसिद्ध कूटनयिक विदेशमंत्री ब्रियां और उनके प्रस्थान के पश्चात् प्रभावशाली वक्ता एवं संसद् सदस्य विवियानी थे। ब्रिटेन के दल में भूतपूर्व अनुदार 'प्रधान और विदेशमंत्री' आर्थर बॉलफोर थे। जापान की ओर से बैंस कैटो तोमो साबुरा ने प्रतिनिधित्व किया था, जो 1922 में प्रधानमन्त्री बने। यह सम्मेलन 12 नवम्बर 1921 से 6 फरवरी 1922 तक वाशिंगटन में हुआ।

कार्यविधि

सम्मेलन का कार्य दो समितियों के द्वारा हुआ। एक समिति वह थी, जिसमें प्रथम पांच प्रमुख देशों के प्रतिनिधि शामिल थे और जिसका सम्बन्ध नौ-शस्त्रीकरण की समस्याओं से था। दूसरी समिति में उक्त सभी 9 देश थे और इसका संबंध प्रशान्त तथा सुदूरपूर्वी प्रश्नों से था। सम्मेलन के उद्घाटन के दिन अमेरिकी विदेशमंत्री ह्यूजेस ने अध्यक्ष पद से घोषणा की, "गंभीर त्याग के बिना नौ-सैनिक होड़ बन्द नहीं की जा सकती; साथ ही ऐसी भी आशा नहीं करनी चाहिये कि कोई एक राष्ट्र

(3) संधि की अवधि 10 वर्ष निश्चित की गई और 12 मास के नोटिस पर उसे समाप्त किया जा सकता था। आंग्ल-जापानी संधि, जो 1902 में हुई व 1911 में दोहराई गई थी, समाप्त कर दी गई।

चार राष्ट्रों की संधि-घोषणा में प्रशान्त स्थित आदिष्ट क्षेत्र—याप द्वीप के सम्बन्ध में अमेरिका का अधिकार सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई, लेकिन चार राष्ट्रों की संधि में, बाहर से आकर बसने तथा तटकर प्रश्नों को अलग रखा गया।

पांच शक्तियों की नौ-संधि

6 फरवरी 1922 में अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रांस और इटली ने एक पांच राष्ट्रों की संधि पर हस्ताक्षर किये। इस संधि के अनुसार : (1) इन पांच राष्ट्रों में बड़े जहाजों की संख्या क्रमश: 5 : 5 : 3 : 1·75 : 1·75 के अनुपात से निर्धारित की गई ; (2) निश्चित हुआ कि बने हुए और बन रहे जहाजों में से निम्न वजन तक के जहाजों को नष्ट कर दिया जाय : संयुक्त राज्य अमेरिका—8,45,000 टन, ब्रिटेन 5,83,000 टन व जापान 4,35,00 टन; (3) आगामी दस वर्षों में कोई नया भारी जहाज न बनाने का निश्चय किया गया; (4) बड़े युद्ध-जहाज का अधिकतम वजन 35,000 टन और तोप का अधिकतम व्यास 16" तथा विमानवाहक जहाज का वजन 27,000 टन और तोप का व्यास 8" निर्दिष्ट किया गया; (5) अमेरिका, ब्रिटेन और जापान ने प्रशान्त महासागर में किलेबन्दी यथास्थिति बनाये रखने के लिये निम्न क्षेत्रों में नई किलेबन्दी न करने का निर्णय लिया : (i) अमेरिका : फिलिपाइन्स, अल्युशियन्स, गुआम पैंगो (ii) ब्रिटेन : हांगकांग एवं 110° पूर्व देशान्तर रेखा से ब्रिटिश द्वीप समूह (iii) जापान : क्युराईल, बोनिन, लन्यू, अमामी ओशिया, फार्मोसा और पेस्काडोर्स द्वीप समूह; (6) संधि की अवधि 31 दिसम्बर 1936 निर्धारित की गई। कोई भी देश दो वर्ष का नोटिस देकर संधि से पृथक् हो सकता था।

जहाजों का स्वीकृत वजन—1922

	अमेरिका	ब्रिटेन	जापान	फ्रांस	इटली
बड़े जहाज	5,25,000	5,25,000	3,15,000	1,75,000	1,75,000
विमान वाहक जहाज	1,35,000	1,35,000	81,000	60,000	60,000

पनडुब्बियों तथा हानिकारक गैसों के प्रयोग के सम्बन्ध में, पांच राष्ट्रों की हस्ताक्षरकर्ताओं ने यह स्वीकार किया कि वे युद्ध में 'पनडुब्बियों' का ...ों के नष्ट करने के रूप में, तथा जहरीली गैसों का, प्रयोग नहीं

9 राष्ट्रों ने हस्ताक्षर किये। इस संधि

ही इस ओर कदम उठाये । यहाँ हम लोग एक सामान्य प्रस्ताव के लिये नहीं, उसे क्रियात्मक रूप देने के लिये एकत्रित हुए हैं।" अल्फ्रेड जी के नेतृत्व में उत्तरी चीन के एक प्रतिनिधि मडल ने सम्मेलन में 10 सिद्धान्त रखे, जिनमें प्रादेशिक एकता, राजनैतिक तथा प्रशासनिक स्वतन्त्रता, तटकर स्वतन्त्रता, 1915 की 21 मांगों पर आधारित चीन-जापानी संधियों की समाप्ति तथा शांटुंग के पुनः अधिकार आदि तत्व थे । किन्तु अमेरिकी चार सूत्री प्रस्ताव के पक्ष में चीनी प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया गया । बैरन कातो के नेतृत्व में जापान 1902 की आंग्ल-जापानी संधि को भंग करने, नौ-सैनिक शक्ति घटाने तथा चीन में बिना शर्त सबके लिये, खुले द्वार तथा समान अवसर देने के सिद्धान्त को सक्रिय रूप से लागू करने को राजी हो गया। किन्तु कातो ने यह बात बहुत समझ की कही, "आज चीन के आन्तरिक मामलों की कठिनाइयां बाह्य संबंधो की कठिनाइयों से कम नहीं है।" बॉलफोर और ह्यूजेस की सद्भावनाओं और सतत् प्रयत्नों के कारण यह सम्मेलन सफल हुआ।

परिणाम

सम्मेलन के प्रत्यक्ष परिणाम 'संधिया' थीं। उन्हीं दिनों सम्मेलन के बाहर दो संधिया हुई थी : (1) चीन व जापान मे व (2) अमेरिका और जापान में। इन दो संधियों मे एक चीन और जापान मे शांटुंग के सम्बन्ध में 4 फरवरी 1922 को हुई और दूसरी संधि 11 फरवरी 1922 को याप द्वीप के सम्बन्ध में अमेरिका और जापान में हुई। सम्मेलन मे हुई 6 संधियाँ निम्न थी : (1) अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान में नौ-सेना के शस्त्रीकरण सीमित करने सम्बन्धी सन्धि, (2) लड़ाई मे पनडुब्बी तथा जहाजी गैसो के प्रयोग के सम्बन्ध में उक्त देशों में सन्धि, (3) अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और जापान में चार राष्ट्रों की प्रशान्त संधि, (4) इन्हीं चार राष्ट्रों मे प्रशान्त संधि से सबंधित एक पूरक संधि, (5) चीन सम्बन्धी मामलों में अपनाये जाने वाले सिद्धान्तो तथा नीति सबंधी 9 राष्ट्रों की संधि और (6) चीन सम्बन्धी 9 राष्ट्रों की तटकर संधि। केवल चार राष्ट्रों की प्रशान्त संधि को छोड़कर बाकी संधियों पर 6 फरवरी 1922 को हस्ताक्षर हुए।

चार राष्ट्रों की प्रशान्त संधि

यह संधि 13 दिसम्बर 1921 को ब्रिटेन, फ्रांस, जापान और अमेरिका में हुई। इसमें चार अनुच्छेद थे : (1) संधि के सदस्यों ने वायदा किया कि जहाँ तक प्रशान्त सागर स्थित उनके उपनिवेश और द्वीपों का सबंध है, वे एक-दूसरे के अधिकारों का आदर करेंगे। यदि इन क्षेत्रों के संबंध में कोई विवाद उठे, जिसका प्रभाव उनके अधिकारों पर पड़े, तो सब मिलकर विचार करेंगे, (2) यदि किसी अन्य राष्ट्र की आक्रामक कार्यवाही से उनके अधिकारों को खतरा पैदा हो जाय तो एक-दूसरे को स्पष्ट और पूर्णरूप से स्थिति का सामना करने के लिये सूचित करेंगे,

(3) संधि की अवधि 10 वर्ष निश्चित की गई और 12 मास के नोटिस पर उसे समाप्त किया जा सकता था। आंग्ल-जापानी संधि, जो 1902 में हुई व 1911 में दोहराई गई थी, समाप्त कर दी गई।

चार राष्ट्रों की संधि-घोषणा में प्रशान्त स्थित आदिष्ट क्षेत्र—याप द्वीप के सम्बन्ध में अमेरिका का अधिकार सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई, लेकिन चार राष्ट्रों की संधि में, बाहर से आकर बसने तथा तटकर प्रश्नों को अलग रखा गया।

पाँच शक्तियों की नौ-संधि

6 फरवरी 1922 में अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रांस और इटली ने एक पाँच राष्ट्रों की संधि पर हस्ताक्षर किये। इस संधि के अनुसार : (1) इन पाँच राष्ट्रों में बड़े जहाजों की संख्या क्रमशः 5 : 5 : 3 : 1·75 : 1·75 के अनुपात से निर्धारित की गई ; (2) निश्चित हुआ कि बने हुए और बन रहे जहाजों मे से निम्न वजन तक के जहाजों को नष्ट कर दिया जाय : संयुक्त राज्य अमेरिका—8,45,000 टन, ब्रिटेन 5,83,000 टन व जापान 4,35,00 टन; (3) आगामी दस वर्षों मे कोई नया भारी जहाज न बनाने का निश्चय किया गया; (4) बड़े युद्ध-जहाज का अधिकतम वजन 35,000 टन और तोप का अधिकतम व्यास 16" तथा विमानवाहक जहाज का वजन 27,000 टन और तोप का व्यास 8" निर्दिष्ट किया गया; (5) अमेरिका, ब्रिटेन और जापान ने प्रशान्त महासागर में किलेबन्दी यथास्थिति बनाये रखने के लिये निम्न क्षेत्रो में नई किलेबन्दी न करने का निर्णय लिया : (i) अमेरिका : फिलिपाइन्स, अल्युशियन्स, गुआम पैगो (ii) ब्रिटेन : हाँगकांग एवं 110° पूर्व देशान्तर रेखा में ब्रिटिश द्वीप समूह (iii) जापान : क्युराईल, बोनिन, लन्यू, अमामी ओशिया, फार्मोसा और पेस्काडोर्स द्वीप समूह; (6) संधि की अवधि 31 दिसम्बर 1936 निर्धारित की गई। कोई भी देश दो वर्ष का नोटिस देकर संधि से पृथक् हो सकता था।

जहाजों का स्वीकृत वजन—1922

	अमेरिका	ब्रिटेन	जापान	फ्रांस	इटली
बड़े जहाज	5,25,000	5,25,000	3,15,000	1,75,000	1,75,000
विमान वाहक जहाज	1,35,000	1,35,000	81,000	60,000	60,000

पनडुब्बियों तथा हानिकारक गैसों के प्रयोग के सम्बन्ध में, पाँच राष्ट्रों की संधि के हस्ताक्षरकर्ताओं ने यह स्वीकार किया कि वे युद्ध में 'पनडुब्बियों' का व्यापारिक जहाजों के नष्ट करने के रूप में, तथा जहरीली गैसों का, प्रयोग नही करेंगे।

नौ राष्ट्रों की 'खुला द्वार' संधि

इस संधि पर 6 फरवरी 1922 को 9 राष्ट्रों ने हस्ताक्षर किये। इस संधि

की धारायें निम्न थीं : (1) वे चीन की प्रभुसत्ता, स्वतन्त्रता, प्रादेशिक अखण्डता तथा प्रशासनिक एकता का सम्मान करेंगे ; चीन में समान व्यापारिक सुविधाओं के सिद्धांत को कायम रखेंगे तथा उसे प्रोत्साहित करेंगे और चीन की परिस्थिति का लाभ उठा कर कोई भी हस्ताक्षरकर्ता अपना स्वार्थ सिद्ध नहीं करेगा और अन्य राष्ट्रों का अहित कर अपना प्रभाव क्षेत्र नहीं बनायेगा ; (2) कोई राष्ट्र ऐसी संधि अथवा समझौते पर हस्ताक्षर नही करेगा, जिससे उपरोक्त सिद्धान्त का खण्डन हो; (3) कोई भी राष्ट्र किसी ऐसी व्यवस्था अथवा समझौते में शामिल नही होगा, जिससे कि उसका चीन की अर्थव्यवस्था, व्यापार अथवा उद्योग में प्रभुत्व व एकाधिकार स्थापित हो जाय ; (4) चीनी रेलों में 'विशेष सुविधा' तथा अनुचित तट-कर भेदभाव को समाप्त कर दिया जायेगा ; (5) तटस्थ चीन का आदर किया जायेगा और (6) इस संधि को लागू करने के लिये हस्ताक्षरकर्ताओं में पारस्परिक विचार-विमर्श होगा।

नौ राष्ट्रों की तट-कर संधि

इस संधि के अनुसार (1) संशोधन आयोग की व्यवस्था की गई, जो विदेशी व्यापार की धनराशि का पाँच प्रतिशत मुनाफा चीन को दिलाने की व्यवस्था करेगा, (2) 5 प्रतिशत विशेष तट-कर लगाकर 'आंतरिक यातयात चुंगियों' को समाप्त करने के लिये सम्मेलन बुलाया जाय, (3) चीन की थल तथा समुद्री सीमाओं पर तट-करों में एकरूपता कायम की जाय, (4) तट-कर में समय-समय पर संशोधन हो, (5) तट-कर में हस्ताक्षरकर्ताओं को समान सुविधायें दी जायें। इस संधि में तट-कर के विषय में, चीन की स्वतन्त्रता का कोई उल्लेख नहीं किया गया।

शांटूंग संधि

4 फरवरी 1922 को इस संधि के अनुसार जापान ने पट्टे पर प्राप्त हुए शांटूंग प्रदेश को चीन को लौटाना स्वीकार किया, लेकिन इसके साथ ही यह तय हुआ कि सिंगटाओ स्थित एक जापानी दूतावास, जापानी स्कूल और मंदिरों को नहीं लौटाया जायेगा। 15 वर्ष के जापानी नियंत्रण के पश्चात् सिंगटाओ-सिनान रेल्वे को, उसकी कीमत अदा करने के बाद चीन को दे दिया जायेगा। कीमत का निर्धारण दोनों राज्यों का एक संयुक्त आयोग करेगा। शान्टूंग से जापानी सेनायें वापस बुला ली जायेंगी और सिंगटाओ स्थित तट-कर कार्यालय चीनी तट-कर विभाग के अंग के रूप में कार्य करने लगेगा। चीन ने उचित क्षतिपूर्ति देकर जापान द्वारा विकसित खानों, टेलीफोन तारों, रेडियो स्टेशनों और नमक उद्योग पर भी अधिकार प्राप्त कर लिया। इस प्रकार 1923 तक शान्टूंग प्रश्न चीन सरकार की माँगों के अनुसार ही हल हो गया।

याप-संधि

जापानी आदिष्ट क्षेत्र के मध्य में स्थित याप द्वीप के सम्बन्ध में 11 फरवरी 1922 को अमेरिका और जापान में एक संधि पर हस्ताक्षर हुए। संधि के अनुसार

अमेरिका को याप द्वीप में प्रवेश की सुविधायें प्राप्त हुई। उसे याप द्वीप को गुआम से जोड़ने के लिये समुद्री तार तथा, रेडियो स्टेशन स्थापित करने की सुविधा मिली। इस तरह भूतपूर्व जर्मन द्वीप में अमेरिकी हिस्सों की गारंटी हो गई। प्रशान्त क्षेत्र में इस संधि ने दोनों सरकारों के बीच झगड़े का एक महत्वपूर्ण कारण शान्तिपूर्ण ढंग से समाप्त कर दिया।

मूल्यांकन

1921-22 का वाशिंगटन सम्मेलन अंतर्राष्ट्रीय गतिविधि में एक महत्वपूर्ण घटना थी। "यह सम्मेलन" कार के शब्दों में "बड़ा सफल रहा क्योंकि इससे प्रशान्त क्षेत्र में युद्ध पूर्व जैसा संतुलन कायम हो गया"। मैकनायर और लैक के विचार में चार राष्ट्रों की प्रशान्त संधि तथा 5 राष्ट्रों की नौ-संधि के अतिरिक्त शस्त्रीकरण के व्यय में कमी कर देने से तथा आंग्ल-जापानी संधि समाप्त हो जाने के परिणामस्वरूप अमेरिका, जापान और ब्रिटेन में युद्ध की संभावना अनिश्चित काल के लिये समाप्त हो गई। नौ राष्ट्रों की खुला द्वार संधि पर हस्ताक्षर करने से चीन प्रथम बार इसका सदस्य बना। डा० विलोकी के अनुसार "चीन को वाशिंगटन सम्मेलन में यह आश्वासन प्राप्त हुआ कि सम्मेलन से सम्बन्धित राष्ट्र चीन की स्वतंत्र कार्यवाहियों में किसी प्रकार की रुकावटें पैदा करने के लिये उसकी वर्तमान परिस्थितियों का लाभ नही उठायेंगे।" "चीन को इस सम्मेलन से", विनाके ने सत्य ही कहा, "लाभ ही हुआ, क्योंकि जो कुछ वह पहले खो चुका था, उससे अधिक उसने और कुछ नही खोया।"

चीन की प्रादेशिक अखण्डता अथवा प्रशासनिक एकता के भंग होने की दिशा में कोई भी राष्ट्र अपराधी राष्ट्र के विरुद्ध कार्यवाही करने को प्रस्तुत नही था। विटने ग्रिमोल्ड ने फार ईस्टर्न पॉलिसी आफ दा युनाइटेड स्टेट्स में स्पष्ट कहा कि "यह संधि केवल आत्म नियंत्रक अध्यादेश था, सामूहिक सुरक्षा समझौता नहीं। इस संधि की पृष्ठभूमि में दण्डादेश केवल हस्ताक्षरकर्ताओं की सद्भावना थी। वास्तव में यह प्रशान्त महासागर में यथास्थिति की ही स्वीकृति थी।"

संयुक्त राज्य अमेरिका की सम्मति में यह संधि चीन की प्रादेशिक अखंडता की दिशा में महत्वपूर्ण चरण थी। इस संधि द्वारा उन्मुक्त द्वार नीति को एक अंतर्राष्ट्रीय कानून की स्थिति प्राप्त हुई। फिलिपीन को सुरक्षा का आश्वासन मिला और जापान की विस्तारवादी नीति को नियंत्रित किया गया।

पाँच राष्ट्रीय नौ-संधि में जंगी जहाजों, विध्वंसकों तथा पनडुब्बियों पर किसी प्रकार की सीमाएं नहीं लगाई गई। प्रशान्त सागरीय किला-बन्दियों के संबंध में यथास्थिति बनाये रखने के लिये जापान के वचन का आधार केवल सद्भावना ही था। क्लाइड के कथनानुसार, "हस्ताक्षरकर्त्ताओं का कहना था कि जितना उन्होंने त्याग किया है, उसके बदले उन्हें लाभ कुछ नही हुआ। राष्ट्र, बड़े एवं विमानवाही

जहाजों के अतिरिक्त, जल अथवा थल सेना में निःशस्त्रीकरण के लिए तत्पर नहीं थे ; वे सामूहिक सुरक्षा में विश्वास नही करते थे ; राष्ट्रीयता उनकी नीति का आधार थी और असमानता के आधार पर चीन के साथ की गई संधियों के परित्याग के लिये वे तत्पर नही थे।"

वाशिंगटन सम्मेलन जापान की एक राजनीतिक पराजय थी क्योंकि आँग्ल-अमेरिकी दबाव से विवश होकर उसे अमेरिका और ब्रिटेन का 60 प्रतिशत नौ-अनुपात स्वीकार करना पड़ा तथा शान्टूंग चीन को लौटाना पड़ा। आँग्ल-जापानी संधि (1902) समाप्त हो गई व प्रशान्त महासागर मे किलेबन्दी में यथास्थिति के सिद्धांत को स्वीकार करना पड़ा, जिससे जापानी विस्तारवादी नीति अल्पकाल के लिए स्थगित हो गई। अमेरिका के दबाव से जापान को साइबेरिया से सेनायें हटानी पड़ीं व याप द्वीप मे उसे सुविधायें देनी पड़ी। वाशिंगटन सम्मेलन ने जापान को असंतुष्ट महाशक्ति बना दिया, जो पुनः साम्राज्यवादी नीति अपनाने के अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि इस सम्मेलन की अभूतपूर्व सफलता इसी में रही कि इसने सुदूर-पूर्व (पूर्व एशिया) में लगभग दस वर्ष तक शान्ति बनाए रखी। "वाशिंगटन संधियों ने" डेविडसन के शब्दों में, "अंतर्राष्ट्रीय गतिविधि में जो अस्पष्ट था, उसे स्पष्ट किया व अनिश्चित को निश्चित किया।" ए डब्ल्यु ग्रिस्वोल्ड के अनुसार, "सुदूर-पूर्व की यथास्थिति में विरोधी तत्वों के बावजूद भी इन संधियों ने उस हद तक शांति बनाये रखी, जिस हद तक कलम और स्याही द्वारा सम्भव हो सकती थी।" एक जापानी प्रतिनिधि ने टिप्पणी करते हुए कहा, "शुभकामनाओं का दिखावा करते हुए ये शक्तियां चोरी छोड़ देने पर भी पहले के लूट के माल पर से अपना अधिकार छोड़ना नही चाहती थी।"

वाशिंगटन सम्मेलन की सफलता ने यह प्रमाणित किया कि राष्ट्रसंघ से बाहर भी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अमेरिका द्वारा निर्णय लिये जा सकते हैं। इसने विश्व गतिविधि मे अमेरिकी प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित किया, विश्व की बड़ी नौ शक्तियों में उसका स्थान सुनिश्चित किया और सुदूर-पूर्व में जापानी नौ-प्रतिद्वन्दिता को समाप्त किया।

गणतंत्र चीन की कठिनाइयाँ

चीन को गणतंत्र की समाजवादी नीति व राष्ट्रीयता की शिक्षा देने वाले व्यक्ति सन वैन थे, जो इतिहास में सन यात सेन के नाम से प्रसिद्ध हैं। बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक काल में चीन के ये सर्वाधिक प्रसिद्ध व्यक्ति थे, जो बाद में राष्ट्रपिता कहलाये। इनका जन्म 1866 मे दक्षिण चीन मे कैन्टोन के निकट हुआ था। सेन का बाल्यकाल होनोलूलू मे बीता, जहाँ इन्होंने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की व ईसाई धर्म ग्रहण किया। हांगकांग में चिकित्साशास्त्र मे उपाधि प्राप्त कर ये

डाक्टर बने। यहीं इन्होंने इस बात का सूक्ष्म निरीक्षण किया कि विज्ञान से प्रभावित जापान, अमेरिका व पश्चिमी यूरोप के देश कितने प्रगतिशील है व कन्फ्यूशियसवाद और ताओवाद से प्रभावित चीन कितना पिछड़ा हुआ है। इस तुलनात्मक अध्ययन की उनके जीवन पर अमिट छाप पड़ी और वे राष्ट्रीय उत्थान के लिए जुट गये।

1894 में जबकि प्रथम चीन-जापान युद्ध हुआ, सेन व अन्य राष्ट्रवादियों ने सिंग चुंग हुई (Hsing Chung Hui : 1895-1905)—चीनी पुनरुत्थान समिति स्थापित की, जिसका उद्देश्य आधुनिक राष्ट्रवादी चीन का निर्माण तथा राजतंत्र का विरोध था। यह संस्था 1905 तक चलती रही जबकि 1894 से ही निर्वासित सेन यात सेन ने टोकियो में विदेशी चीनियों के समर्थन और आर्थिक सहायता से तुंग मेंग हुई (Tung Meng Hui : 1905-12)—सामान्य समझौता संघ बनाया। इसके उद्देश्य गणतत्रवादी आन्दोलन, मंचूवंश का उन्मूलन व संसदीय शासन प्रणाली की स्थापना थे। सेन अनेक देशों—जापान, इग्लैंड यूरोप—में घूमते हुए चीनी राष्ट्रीय आन्दोलन को संचालित करते रहे।

9 अक्टूबर को जनरल लीवान हुंग ने राष्ट्रवादियों के प्रोत्साहन से हैंगकाउ में राजतंत्र विरोधी क्रान्तिकारी आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस समय चीन की राजगद्दी पर मचूवश का नाबालिग शासक सुवांग तुंग प्रिंस चुंग के संरक्षण में राज्य कर रहा था और इवान शिकाई सेनापति थे। ली के विद्रोह के कारण उत्पन्न परिस्थिति को नियंत्रित करने के लिये इवान शिकाई को प्रधानमंत्री का कार्य भी सौंप दिया गया। उधर विद्रोह आरम्भ होने के बाद सन यात सेन भी 24 दिसम्बर 1911 को शंघाई पहुँचे। वहाँ से वे नानकिंग गये, जहाँ उन्होंने एक अस्थायी सरकार बनाई।

सन यात सेन के पास इस समय राजनैतिक एवं सैनिक शक्ति का अभाव था। अतः उन्होंने इवान शिकाई से समझौता कर उसे राष्ट्रपति घोषित किया और राजतंत्र को समाप्त कर दिया। अगस्त 1912 में सन यात सेन ने कुईमिन्तांग दल की नीव डाली और गणतत्र के लिये संविधान प्रस्तुत किया, जिसमें राष्ट्रीय संसद सर्वोपरि थी। 10 अक्टूबर 1913 को इवान शिकाई राष्ट्रपति बने किन्तु संसद के सम्मुख निर्बल स्थिति के कारण उन्होंने अपनी स्थिति को दृढ़ करने के कदम उठाकर चार नवम्बर को कुइमिन्तांग दल को और फिर राष्ट्रीय संसद को भंग कर दिया। 'प्रथम-राष्ट्रपति' पद से असन्तुष्ट इवान शिकाई ने अमेरिकी विशेषज्ञ फ्रैंक गुडनाऊ के परामर्श से वैधानिक राजतंत्र के संविधान का निर्माण करवाया और जनता का औपचारिक समर्थन प्राप्त कर अपने आपको राजा घोषित कर दिया (दिसम्बर 1915)। 6 जून 1916 को उसकी मृत्यु हो गई और उसके पश्चात् अन्य तू चूनो (सेनापतियों) में सत्ता के लिए संघर्ष चलता रहा। इन सब परिस्थितियों से असन्तुष्ट सन यात सेन कैन्टोन चले गये जहाँ उन्होने कुइमिन्तांग दल को फिर से संगठित किया, भंग राष्ट्रीय ससद के सदस्यों को आमंत्रित किया और अस्थायी गणतांत्रिक सरकार की नीव

डाली। कैन्टोन में रहते हुए कई बार जनरल चिन से (1918 से 1922 के मध्य) संघर्ष के कारण शंघाई में उन्हें आश्रय ग्रहण करना पड़ा। 580 सदस्यों की भंग संसद के 222 सदस्यों में से 213 ने इन्हें गणतंत्र चीन का राष्ट्रपति चुना (अप्रैल 1921)। उत्तर की सरकार ने इसे गैर कानूनी कहा और चीन मे दो सरकारें कायम हो गईं। 1923 में वे शंघाई से फिर कैन्टोन लौटे, जनरल का पद ग्रहण किया और 1923 से 1925 के मध्य रूस से सहायता प्राप्त कर कुइमिन्तांग दल को नई शक्ति प्रदान की।

रूस के साथ सहयोग

उपरोक्त परिस्थितियों को देखते हुए सन यात सेन ने जुलाई 1921 में स्थापित साम्यवादी दल के सदस्यों से भी सहयोग प्राप्त किया और रूस से सैनिक सहायता मांगी जो कि 1923 से प्राप्त हुई। वर्सायी सन्धि में शान्टूंग निर्णय से असन्तुष्ट छात्र नेताओं को भी सन यात सेन ने कुइमिन्तांग दल में सम्मिलत किया। 26 जनवरी 1923 को लेनिन के प्रतिनिधि एडोल्फ जॉफ के साथ सन यात सेन का समझौता हुआ, जिसमें निश्चित हुआ कि (1) साम्यवाद अथवा रूसी शासन प्रणाली चीन के लिये उपयुक्त नहीं है व (2) रूस चीन की राष्ट्रीय एकता व स्वतंत्रता के लिये सहयोग करेगा। इसी समय प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय क्रांतिकारी माइकेल बोरोडिन को लेनिन ने सन यात सेन को परामर्श देने व कुइमिन्तांग दल को पुनर्गठित करने के लिए चीन भेजा। कुइमिन्तांग दल के सदस्यों को सैनिक प्रशिक्षण देने के लिए, मास्को में लाल फौज द्वारा प्रशिक्षित, चांग काई शेक के नेतृत्व में वामफुआ सैनिक अकादमी की स्थापना की गई। रूस के साम्यवादी दल से प्रभावित, सन यात सेन ने जनवरी 1924 में प्रथम कुइमिन्तांग कांग्रेस आमंत्रित की, जिसमें उन्होंने अपने घोषणा-पत्र तीन शब्दों—सान, मिन, चुई—पर जोर डाला।

'सान' अथवा राष्ट्रवाद

सन यात सेन का राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ में केवल राजतंत्र विरोधी और मंचू राजवंश का अन्त चाहता था। 1912 से इसे आन्दोलन ने राष्ट्रीय एकता के मंत्र का रूप ले लिया जिसमें वे मंचू, मंगोल, तिब्बती व अन्य जातियों को एक राष्ट्र में सम्मिलित करना चाहते थे। इस आन्दोलन का एक यह भी उद्देश्य था कि एक ऐसे संघीय राज्य की स्थापना की जाय, जिसमें कोई भेद-भाव न हो और इन जातियों के उत्थान की संभावना हो। सन यात सेन का मत था कि इनमें केवल सांस्कृतिक एकता है किन्तु राजनीतिक एकता नहीं है और इसलिए चीन एक रेत को रस्सी द्वारा बंधा है, जिसके कण तो एक-से हैं किन्तु राष्ट्रीय एकता रूपी ... का अभाव है, जो राजनीतिक एकता ला सकती है। सेन ने ...
के आन्दोलन को प्रोत्साहित किया। उन्होंने इस बात

समूह की अपेक्षा राज्य स्तर पर सोचने का सामर्थ्य और जातीय-समानता की भावना वांछनीय है।

'मिन' अथवा लोकतंत्र

सन यात सेन कन्फ्यूशियस की विचार-धारा के आधार पर समाज के व्यक्तियों की तीन श्रेणियों में विश्वास करता था : (1) नेता गण; (2) ऐसे व्यक्ति, जो नेताओं की बात समझकर साधारण जनता तक पहुँच सकें और (3) साधारण जनता जो नेताओं की बात समझती नहीं किन्तु समझाये जाने पर अपना संतोष अथवा असंतोष व्यक्त कर सकती है। सेन के अनुसार प्रशासन के पांच अनिवार्य अंग कार्यकारी, वैधानिक, न्यायिक, परीक्षा सम्बन्धी एवं नियंत्रणकारी हैं। सन यात सेन ने जनता की परिपक्वता एवं समझ के अभाव में प्रजातंत्र की नींव डालने के लिए तीन स्पष्ट चरणों की व्याख्या की (1) सैनिक कार्यवाही; (2) राजनीतिक प्रशिक्षण व शक्ति प्रयोग की विधि एवं (3) वैधानिक और प्रजातांत्रिक सरकार का निर्माण। सेन का मत था कि यह आवश्यक नहीं कि ये तीनों कदम राष्ट्रीय स्तर पर एक साथ उठाये जायें, वरन् क्षेत्रीय आधार पर प्रजातांत्रिक विधि का विकास निर्भर होगा। उसने यह भी कहा कि राजनीति के दो आवश्यक तत्व 'एकाधिकार संपन्न सरकार' (सैनिक शक्ति) व 'लोकतांत्रिक नियंत्रण' हैं।

'युई' अथवा समाजवाद

सन यात सेन का कहना था कि उसका शक्ति प्राप्ति का उद्देश्य जनता को उचित रूप में जीविका के साधनों को उपलब्ध कराना है। उसके मत में किसी राष्ट्र के इतिहास की पृष्ठभूमि का यह एक महत्वपूर्ण तत्व होता है। वह समाजवाद के वर्ग संघर्ष में विश्वास नहीं करता था और औसत व्यक्ति का भौतिक कल्याण उसका उद्देश्य था। इसके लिए वह भूमि व्यवस्था में समानता के सिद्धान्त व बड़े उद्योगों के राष्ट्रीयकरण और पूंजी पर नियंत्रण का पक्षपाती था। उसके विचार अस्पष्ट थे, किन्तु प्रारम्भ में यही एकता के, और बाद में चलकर मतभेद के, कारण बने।

सन यात सेन को अपनी राजनीतिक गतिविधियों एवं सैनिक संगठन के लिए धन की आवश्यकता थी और इसके लिए उसने कैन्टोन में एक 'व्यापारिक स्वयंसेवक संघ' की स्थापना कर, सदस्यों से धन वसूल करना प्रारम्भ किया। उसकी धन प्राप्ति की दमन नीति से बहुत से सदस्य असन्तुष्ट हो गये और अनेक लोग मारे गये। मार्च 1925 में तू चून (सेनापति-सरकार) ने उन्हें राष्ट्रीय एकता के लिये पेकिंग आमन्त्रित किया, जहाँ 12 मार्च 1925 को ..
उन्होंने अपने वसीयतनामे में लिखा था कि ... चीन
आधार पर राष्ट्रीय एकता के लिए संघर्ष

अंतर्राष्ट्रीय गतिविधि में सुदूर-पूर्व

ग्रौर उसके तीन सिद्धान्त चीनी राष्ट्रवादियों के लिये बाइबिल बन गये ग्रौर वे उससे प्रेरणा लेते रहे।

चीन में राष्ट्रीय ग्रान्दोलन के जनक, ग्रौर उसके राष्ट्रपिता सन यात सेन की, चीन को ग्रनेक महत्वपूर्ण देन हैं। उसने ग्रपने हस्तक्षेप से ग्रौर इवान शिकाई के प्रति त्याग से चीन में ग्रवश्यम्भावी राजतंत्र को टलवा दिया; कुड्मिन्तांग दल का केवल निर्माण ही नहीं किया, उसे व्यापक भी बनाया; सामरिक शिक्षा—सैनिक ग्रकादमी व स्वयंसेवक दल—की व्यवस्था की; ग्रपनी दार्शनिक विचारधारा, चीनी जनता के सम्मुख प्रस्तुत की ग्रौर रूसी सहायता प्राप्त कर तात्कालिक समस्याग्रों का निराकरण किया, यद्यपि यही सहायता बाद में एक उग्र समस्या बन गई।

चांग काई शेक की विदेश नीति (1925-31)

सन यात सेन के बाद सेनाध्यक्ष चांग काई शेक कुड्मिन्तांग दल के नेता बने, जिनका उद्देश्य विभिन्न राष्ट्रवादी तत्वों को मिलाकर (साम्यवादियों सहित) सैनिक सरकार का विरोध कर एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना था। ग्रप्रैल 1927 मे वह नानकिंग में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करने मे सफल हुए। प्रसिद्ध पूंजीपति टी० वी० सुंग की पुत्री 'सुंगमेलिंग' से दिसम्बर 1927 में विवाह कर उसने ग्रार्थिक शक्ति प्राप्त की। वह सैनिक सरकार का विरोध करता रहा ग्रौर जून 1928 मे पेकिंग पर ग्रधिकार कर पेकिंग (उत्तरी-शान्ति) में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की। इस प्रकार सन यात सेन के राष्ट्रीय एकता के तीन चरणो मे से एक (सैनिक कार्यवाही) को पूरा कर चांग काई शेक ने उसकी कल्पना को साकार रूप दिया।

साथ ही साथ कुड्मिन्तांग दल ने विदेश-विरोधी नीति को भी ग्रपनाया ग्रौर उग्र-वादी छात्रों के सहयोग का लाभ उठाया। शघाई मे जापानी कपड़ा मिल में ग्रसन्तुष्ट चीनियों का बहाना लेकर शघाई की ग्रन्तर्राष्ट्रीय बस्ती के विरुद्ध छात्र नेताग्रों ने 30 मई 1925 को कार्यवाही की। इसके दमन के लिए ग्रंग्रेज ग्रधिकारियों की ग्राज्ञा से सिक्ख सैनिकों ने गोली चलाई, जिसमें 9 चीनी मारे गए। ग्रब चीन का जापान विरोधी ग्रान्दोलन विदेश-विरोधी ग्रान्दोलन मे परिणत हो गया। इसी सिलसिले मे शाकी शामीन हत्याकांड (कैन्टोन) मे 100 से भी ग्रधिक चीनी मारे गए। चीनी, विरोध ग्रान्दोलन ने, उग्र रूप धारण कर लिया। हॉगकांग में चीनी श्रमिकों ने दिसम्बर 1926 मे हड़ताल कर दी व ब्रिटिश माल का बहिष्कार 18 महीने जारी रखा। विवश होकर ब्रिटेन ने जनवरी 1927 में विशेष ग्रधिकारों का परित्याग किया व चीन के तट-कर ग्रधिकारों को मान्यता दी। 25 जुलाई, 1928 में ग्रमेरिका ने भी चीन के इन ग्रधिकारो को स्वीकार किया। चीन ने इसी प्रकार बेल्जियम, डेनमार्क, इटली, पुर्तगाल, स्पेन, फ्रांस व जापान के साथ नई तट-कर संधि की। 92 वर्ष पश्चात् 1 फरवरी 1929 को विदेशी प्रभाव से मुक्त होकर चीन को पुनः तटकर ग्रधिकार प्राप्त हुए। एक जनवरी 1930 को चीन ने एकपक्षीय घोषणा

द्वारा 'विदेशी शक्तियों के अतिरिक्त भूमि सम्बन्धी अधिकारों की सन्धियों' को समाप्त कर दिया।

रूस के साथ संबंध विच्छेद

रूस चीन के दोनों सत्ताधारी पक्षों को सन्तुष्ट करने के लिए दुहरी नीति अपना रहा था। एक ओर तो उसने दक्षिणी चीन की कैन्टोन स्थित कुइमिन्तांग सरकार को अपने प्रतिनिधि जौव द्वारा आर्थिक एवं सामरिक सहायता का आश्वासन दिया और दूसरी ओर उत्तरी चीन के सैनिक अधिकारियों से भी वार्ता जारी रखी। 31 मई 1924 को पेकिंग सरकार के प्रतिनिधि वैलिंगटनकू ने सोवियत रूस के प्रतिनिधि काराखान के साथ सन्धि की जिसमें निम्न बातें तय हुईं : (1) दोनों देशों के मध्य कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना; (2) अतिरिक्त भूमि सम्बन्धी अधिकार और हैनका व तियेन सिन के विशेष अधिकारों का परित्याग, (3) चीन स्थित रूसी चर्च सम्पत्ति की वापसी; (4) वाहरी मंगोलिया पर चीनी प्रभुसत्ता की स्वीकृति; (5) चीन से रूसी फौज का अपसारण व (6) चीनी पूर्वी रेल्वे पर चीन के अधिकार की मान्यता। इसी प्रकार 20 सितम्बर 1924 को चीन ने मंचूरिया से सन्धि की।

दक्षिण चीन मे रूसी प्रतिनिधि बोरोडीन और जनरल ब्लूकर कैन्टोन सरकार पर साम्यवादी प्रभाव डाल रहे थे। सन यात सैन की मृत्यु के पश्चात् वामपंथी उग्र श्रमिक-कृषक नेता एवं रूस समर्थक लियाओ चुंग काई की हत्याकाड के कारण चांग काई शेक दक्षिणी चीन के मुख्य नेता बन गए। बोरोडीन की अनुपस्थिति में चांग काई शेक ने मार्च 1926 में साम्यवादियों के विरोध में तीन दिन तक दमन नीति जारी रखी जिसके परिणामस्वरूप बहुत से साम्यवादी मारे गए अथवा कैन्टोन से वहिष्कृत कर दिए गए। चांग काई शेक का बोरोडीन से राजनीतिक मतभेद तो था ही, इस घटना से व्यक्तिगत विरोध और भी बढ गया। दिसम्बर 1926 में चांग काई शेक सरकारी कार्यालय कैन्टोन से हैनकाऊ आया। यहाँ बोरोडीन से प्रभावित चीनी साम्यवादियों व उग्र कुइमिन्तांग के सदस्यों ने चांग काई शेक को सेनाध्यक्ष के पद से हटा दिया और उसे वदनाम करने के लिए, विदेशी वस्तियों की सम्पत्ति पर 24 मार्च 1927 को आक्रमण कर दिया जो 'नानकिंग-काण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु नानकिंग पर चांग काई शेक का अधिकार हो गया, यद्यपि हैनकाऊ के साम्यवादियों के प्रति इनका विरोध चलता ही रहा।

अप्रैल 1927 में मंचूरिया के अधिनायक चांग सो लिन के परामर्श से राष्ट्रवादियो ने पेकिंग स्थित रूसी दूतावास पर छापा मारा, जिसमें ऐसे कागज हस्तगत हुए, जिनसे स्पष्ट हुआ कि रूस चीन मे राष्ट्रवादियों को समाप्त कर साम्यवादी सरकार की स्थापना करना चाहता है। जून में हैनकाऊ में छापा मारने पर साम्यवादी कार्यालय से इस प्रकार के और कागजात मिले जिनसे पता चला कि तृतीय अंतर्राष्ट्रीय

कार्यालय ने मास्को से बोरोडीन को कहा था कि वह चीन में कुइमिन्तांग दल को समाप्त करने की योजना प्रस्तुत करे। फलस्वरूप जुलाई में चीन से रूसी परामर्शदाताओं का बहिष्कार कर दिया गया, जिनमे बोरोडीन, विदेशमंत्री चैन, ब्लूकर, मन्मेंद्रनाथ राय और मादाम सन यात सेन थे। मादाम ने मास्को में चांग काई शेक के विरुद्ध आरोप लगाया कि उसने क्रान्ति के प्रति विश्वासघात किया। कुइमिन्तांग दल में व्यापक गुटबन्दी के कारण चांग काई शेक ने 12 अगस्त को त्याग-पत्र दे दिया किन्तु 10 दिसम्बर को उसे पुनः सेनाध्यक्ष के पद पर बुला लिया गया। 11 दिसम्बर को पुनः कैन्टोन में साम्यवादियों ने विप्लव करके अवैध सरकार की स्थापना कर दी किन्तु तीन दिन पश्चात् राष्ट्रवादियो ने उसका प्रयास विफल कर दिया। अनेक साम्यवादी गिरफ्तार हुए व रूस के उप-वाणिज्यदूत को बिना विचार किये गये फांसी दे दी गई। 15 दिसम्बर के, रूस के साथ, अनुपस्थित औपचारिक, सम्बन्धों को नानकिंग सरकार ने समाप्त कर दिया।

साम्यवादी संगठन

इन सब घटनाओं से चीनी साम्यवादियो को बड़ा धक्का लगा। उन्होने अपनी नीति पर पुर्नविचार किया। साम्यवादी दल के सचिव चैन तू स्यू को हटा दिया गया और उनके स्थान पर माओत्से-तुंग, चाउ एन लाइ व चूते को नियुक्त किया गया। इन्होंने चीनी साम्यवादी दल में नई जान डालने के लिये तीन प्रमुख नीतियाँ अपनाई : (1) कृषकों का कल्याण व भूमिहीन कृषकों को भूमि; (2) सोवियत (समितियो) की स्थापना व (3) लाल फौज का निर्माण।

फलस्वरूप नवम्बर 1931 में कियांग्सी प्रदेश के जुइचिन नगर मे साम्यवादियों ने माओत्से-तु ग के नेतृत्व में नवम्बर 1931 में चीनी सोवियत गणतंत्र की घोषणा की। कुइमिन्तांग विरोध और नानकिंग सेना के आक्रमण के कारण माओ ने जुइचिन नगर (दक्षिण पूर्वी चीन) से प्रसिद्ध 800 मील की दीर्घ यात्रा (Long March) सितम्बर 1934 में प्रारंभ की जो उत्तरी चीन के येनान नगर मे समाप्त हुई। अपने से तिगुनी शक्ति का मुकाबला करते हुए माओ अपने एक लाख सैनिकों सहित टेढ़े-मेढ़े रास्ते से बच निकला। उसने येनान को राजधानी बनाकर (1936) साम्यवादी प्रचार किया व वह लोकप्रिय बनता गया। जापान के मंचूरिया पर आक्रमण और उसकी सफलता को समझने के लिए हमे चीन की इस तत्कालीन आंतरिक स्थिति को ध्यान में रखना होगा।

साम्राज्यवादी जापान

जापान के प्रधानमंत्री बेरोन तनाका ने 1927 मे सम्राट् को साम्राज्यवादी नीति के सम्बन्ध में प्रसिद्ध तनाका स्मारक पत्र भेंट किया। इसमें कहा गया था कि, "मचूरिया व मगोलिया मे व्यापार व वाणिज्य के बहाने प्रवेश कर सारे चीन पर छाया जा सकता है और चीन के समग्र साधनों पर अधिकार कर हम भारत, मलाया,

पश्चिमी व केन्द्रीय एशिया और यूरोप की पूर्वी सीमा तक प्रभुत्व स्थापित हैं।" 1927 से 29 तक वेरोन तनाका प्रधानमंत्री रहे। 1929 में मिनसोटा दल ने हमागूची को प्रधानमंत्री बनाया। उसने 1930 मे लन्दन नौ-समझौते का स्वीकार कर जापान की नौ-शक्ति को सीमित कर दिया। इस उदार नीति से असन्तुष्ट होकर एक नवयुवक ने हमागूची की हत्या कर दी।

1930 मे जापान में जनसंख्या वृद्धि की दर 10 लाख प्रति वर्ष से अधिक थी। उधर 1924 में ही अमेरिका ने जापानी प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया था। इससे दोनों मे तनाव हो गया और जापानी विद्वान् निटोवे ने कहा, "हमारे परम मित्र ने अकारण ही हमारे गाल पर चांटा मार दिया है।" चीन के बाजारों में बिक्री के प्रश्न को लेकर ब्रिटेन और अमेरिका के साथ जापान की प्रतियोगिता प्रारंभ हो गई। जापान अपने विस्तार के लिये अपनी आर्थिक और सैनिक शक्ति बढ़ाना चाहता था। उसने अपनी सैनिक शक्ति की वृद्धि के लिये राष्ट्रीय बजट मे इसकी राशि 28 प्रतिशत से 48 प्रतिशत कर दी। आर्थिक शक्ति के विकास के लिए उसने उद्योगपति मित्सुबिसी व करोड़पति मित्सुई को आर्थिक नियोजन सौंपा। रूस व जर्मनी के साथ 20 जनवरी 1925 को संधि कर उत्तर साखालिन से उसने अपनी सेनाएँ हटा ली और एक-दूसरे के विरुद्ध प्रचार समाप्त कर दिया। रूस की स्थिति ऐसी थी कि महाद्वीपीय शक्ति होने के कारण वह जापान के विस्तारवादी प्रभाव को रोक सकता था।

मंचूरिया संकट (1931-33)

पृष्ठभूमि

द्वितीय महायुद्ध का वास्तविक आरम्भ सुदूर-पूर्व में जापान के मचूरिया पर आक्रमण से हुआ। 1931 में मचूरिया, जिसके पूर्व की ओर कोरिया, पश्चिम में मंगोलिया, उत्तर में रूस व दक्षिण में चीन है, एक उपजाऊ भूमि-क्षेत्र था, जिसका सामरिक दृष्टि से भी कम महत्व नही था। चीन के इस अविभाज्य अंग का क्षेत्रफल 3,80,000 वर्गमील व जनसंख्या तीन करोड थी। इसमें 2,80,00,000 चीनी, 8,00,000 कोरियन, 5,00,000 मंगोल, 2,33,000 जापानी व 1,50,000 रूसी सम्मिलित थे। मचूरिया के तीन प्रान्त—उत्तर मे हेलुंग, कुआंग, केन्द्र में किरीन व दक्षिण में क्वानटूंग (लियाओनिंग) थे। मंचूरिया की स्थिति ऐसी है कि इस पर अधिकार करने के पश्चात् किसी शक्तिशाली राष्ट्र के लिए निकट स्थित पेकिंग पर अधिकार करना कठिन नही है। मंचूरिया कृषि व खनिज पदार्थों की दृष्टि से भी धनी है। यहाँ सोयाबीन, काओलियांग, बाजरा व उत्तम किस्म की लकड़ी की उपज होती है और कोयला, लोहा व सोना पाया जाता है।

संघर्ष के कारण

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् मंचूरिया अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का अखाड़ा बन गया, जिसमें प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र चीन, जापान व रूस थे। 1931में यहाँ चीन जापान संघर्ष के अंतर्निहित एवं तात्कालिक, दोनों प्रकार के कारण थे।

अंतर्निहित कारण

(1) **मंचूरिया की अव्यवस्था** :—अंतर्निहित कारणों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण मंचूरिया की आन्तरिक अव्यवस्था थी। 300 वर्ष तक मंचूरिया चीनी साम्राज्य का भाग रहा था परन्तु रूस व जापान क्रमशः इस क्षेत्र में बढ़ते गये। चीन के गृह युद्ध का लाभ उठा कर, मंचूरिया के सेनाध्यक्ष चांग सो लिन ने अपने आपको स्वतंत्र अधिनायक (1905-28) घोषित किया। वह स्वशासन में विश्वास करता था किन्तु चीन के एकीकरण को बनाये रखकर, जापान व रूस के प्रभाव क्षेत्र को समाप्त करना चाहता था। इसीलिए उसने जापानी दक्षिणी रेल्वे मार्ग की नीति का विरोध करते हुए चीनी रेल्वे मार्ग नीति का समर्थन किया। 1928 में वृद्ध मार्शल की हत्या के बाद उसका पुत्र युवा मार्शल चांग स्वेलियांग उसका उत्तराधिकारी बना। उसने नानकिंग सरकार की सम्प्रभुता स्वीकार की और बदले में उसे उत्तर पूर्वी सेनाध्यक्ष पद एवं मंचूरिया का शासन मिला। मंचूरिया में उसने ढाई लाख सेना रखी व बजट का 80 प्रतिशत उस पर व्यय कर एक सैनिक शासन की स्थापना कर दी। इसमें अनेक दोष थे। मंचूरिया व जापान में तनाव के बढ़ने के कारणों में—(क) मंचूरिया का बूढ़े मार्शल द्वारा लिये गये कर्जे पर ब्याज देने से इन्कार करना (ख) जापानी बस्तियों पर छुट-पुट आक्रमणों को प्रोत्साहन देना व (ग) विदेश संबंधों के लिए पेकिंग सरकार को निर्धारित करना, थे। 1929 में सोवियत प्रचार से असन्तुष्ट होकर युवा मार्शल ने सोवियत साम्यवादी एजेन्टों को गिरफ्तार किया, जिसका परिणाम चीन के साथ सबंध विच्छेद था। इसके साथ ही सीमा संघर्ष प्रारम्भ हो गया, जिसमें मंचूरिया ने पराजित होकर रूसी माँगों को स्वीकार किया। इससे जापान को मचूरिया की शक्तिहीनता का परिचय मिल गया।

(2) **मंचूरिया में जापान के विशेष अधिकार** :—लिटन आयोग के अनुसार "1906 से ही मचूरिया में जापान का विशेष स्वार्थ बढ़ रहा था। वास्तव में मंचूरिया चीन का अंग था किन्तु जापान इसमें विशेष अधिकार प्राप्त कर चुका था जिससे चीनी प्रभुसत्ता का प्रयोग सीमित हो गया और इसका स्वाभाविक परिणाम दोनों में संघर्ष था। 1905 में पोर्ट्स माउथ को रूस जापान सधि तथा पेकिंग की चीन-जापान सधि के कारण मंचूरिया में जापान को विशेष अधिकार प्राप्त हुआ था। इन संधियों मे दक्षिण मंचूरिया रेल्वे के निर्माण का पूर्ण अधिकार भी शामिल था। दस वर्ष पश्चात् 1915 में जापान ने चीन पर 25 माँगों को थोप कर अपने प्रभाव क्षेत्र को विस्तृत कर दिया। जापान के लिए मंचूरिया, केवल सुरक्षा स्तम्भ ही नहीं महाद्वीपीय विस्तार का सोपान भी था। मंचूरिया की उपजाऊ कृषि भूमि जापान की खाद्य की कमी को पूरा कर सकती थी। यहाँ का प्रतिदिन का 30,000 टन कोयला, शैल आयल, रासायनिक खाद, जंगलात तथा चरागाह और बन्दरगाह जापान के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के लिए आवश्यक थे। केवल डायरन बन्दरगाह से समस्त विश्व का 60

प्रतिशत सोयाबीन निर्यात किया जाता था। जापान के लिए औद्योगिक माल के विक्रय, कच्चे माल की प्राप्ति व पूंजी नियोजन की सबसे अधिक सुविधा मंचूरिया ने दी थी। 1930 में प्रधानमंत्री हमागूची की हत्या के पश्चात् वाकातसुकी नवीन प्रधानमंत्री बने। इनके समय में उग्र राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद में परिणित हुआ। प्रसिद्ध कूटनयिक वाइकाउन्ट ईशी ने अपनी आत्म-कथा मे लिखा है : "जापान का 'विशेष स्वार्थ' अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों का परिणाम नही है, वह तो जापान और एशिया के भौगोलिक और ऐतिहासिक सम्बन्धों पर आधारित है।" इसीलिए देश-भक्तों की समिति ने मंचूरिया को जीवनदायक माना।

(3) **मंचूरिया में चीन की जन-संख्या :**—मंचूरिया में 1921 से 1931 के मध्य चीनियों की संख्या (कुल 3 करोड़ में से) 2 करोड़ 80 लाख हो गई। गृह-युद्ध एवं दुर्भिक्ष, चीनियों के मंचूरिया मे बसने के कारण थे। जापानियों की सख्या केवल 2 लाख 33 हजार ही थी। चीनी उपजाऊ भूमि पर कब्जा जमाते जा रहे थे, जिसकी ओर जापानियों की भी दृष्टि थी। 8 लाख कोरियन भी, जो कि 1910 से जापानी प्रजा थी, इस क्षेत्र में बस चुके थे और चीनी नागरिकता के इच्छुक थे, जिसका जापान ने अपनी अल्पसंख्यक स्थिति के कारण विरोध किया। दिन प्रति दिन मंचूरिया में चीनियों की बढ़ती सख्या स्पष्टत: जापान के लिये अहितकर थी।

(4) **चीन में राष्ट्रवाद का पुनर्जागरण :**—चांग काई शेक के नेतृत्व में कुइमिन्तांग दल ने 1928 में नानकिंग पर अधिकार कर लिया। राष्ट्रवादियो को अपनी शक्ति में विश्वास हुआ, उन्होंने छात्रों को माध्यम बना देशव्यापी राष्ट्रीय एकता का आन्दोलन प्रारम्भ किया व मंचूरिया में भी राष्ट्रीयता के प्रचार पर बल दिया। राष्ट्रीय आन्दोलन के उग्र रूप धारण करने पर जापान ने शान्टूंग में सेना उतार दी। इस घटना ने चीनियों को जापान के विरुद्ध भड़का दिया और उन्हें स्पष्ट हो गया कि जब तक मचूरिया में जापानियों के विशेषाधिकार, असमान सधियाँ व अन्य विशेष सुविधाएँ समाप्त नही होतीं तब तक चीन की राष्ट्रीय एकता सम्भव नही। अत: उन्होने जापानियों का सक्रिय विरोध एवं उनके माल का बहिष्कार प्रारम्भ कर दिया जिससे दोनों पक्षों में तनाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

(5) **रेल्वे विवाद :**—चीन-जापान विवाद का मुख्य कारण रेल विवाद ही था। मंचूरिया में रेल निर्माण के आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों ने दोनों पक्षों में तनाव बढ़ा दिया। 1896 में रूस ने चीनी पूर्वी रेल्वे लाइन का निर्माण किया। 1905 तक दक्षिण मंचूरिया रेल्वे लाइन पर जापान का अधिकार हो गया। चीन में रेल्वे निर्माण में जापान की नीति यह थी कि इसमे मात्र जापानी पूंजी ही लगे। चार मुख्य रेल्वे लाइन बनाने के लिये 1931 तक जापान ने चीन को मूलधन व ब्याज मिलाकर 150 करोड़ येन उधार दिया था। चीनियों ने आरोप लगाया कि जापानियों का इस रेल निर्माण के पीछे सामूहिक एवं राजनीतिक उद्देश्य था। इस पर उन्होंने एकाधिकार

कर रखा है व उसमें आवश्यकता से अधिक धन व्यय किया है, इसलिये ऋण उसने वापिस देने से इंकार किया। जापान ने दक्षिण मचूरिया रेल्वे के माल और यात्रियों की वृद्धि के लिये केवल पोषक लाइनें डालने की चीन को अनुमति दी थी। इससे चीन की आर्थिक हानि तो हुई ही, नवीन चीन, जापान के संचार व्यवस्था पर बढ़ते हुए जापानी प्रभुत्व को अपमानजनक समझने लगा।

(6) **समानान्तर चीनी रेल्वे लाईनें** :—दिसम्बर 1905 का चीन-जापानी गुप्त समझौता विवादास्पद है। जापान के अनुसार चीन मात्र जापानी पूंजी से शाखा लाइनें निर्माण कर सकता था जबकि चीनी दृष्टिकोण मे चीन अपनी पूंजी से सभी प्रकार की लाइनों का निर्माण कर सकता था। 1924 में चीनियों ने दक्षिण मचूरिया रेल्वे के समानान्तर रेल्वे लाइन का निर्माण प्रारम्भ कर दिया। इसमे चीनी पूंजी लगाई गई और 1931 तक 1,000 किलोमीटर रेल्वे लाइनें तैयार हो गई। इसने दक्षिणी मंचूरिया रेल्वे के साथ प्रतियोगिता प्रारम्भ कर दी। जापान नियत्रित डायेरिन बन्दरगाह का बहिष्कार कर चीन ने इनकाऊ तथा हुलूताओ वन्दरगाहों को अपनी लाइनों से जोड़ दिया। चीन ने अपनी रेल्वे लाइन पर चीनी यात्रियो और माल के लिये दरों में भारी कमी कर दी जिससे जापानियों को बढ़ती हुई हानि का लगातार सामना करना पडा। जापान ने सधि भग करने का आरोप तो लगाया ही, इसे जापान विरोधी क्रातिकारी नीति भी कहा।

(7) **रेल्वे क्षेत्र पर प्रशासन-अधिकार** :—दक्षिण मंचूरिया रेल्वे क्षेत्र मे 15,000 रेल्वे सरक्षकों का होना भी सघर्ष का एक कारण था। चीनियों ने जापानियो के रेल्वे क्षेत्र पर "प्रशासन के सम्पूर्ण तथा विशेष अधिकार" का विरोध किया। रेल्वे क्षेत्र में जापान को केवल पुलिस रखने का ही नही, वरन् खनिज सम्पत्ति को निकालने, पट्टे पर भूमि प्राप्त करने, स्वेच्छापूर्वक यात्रा तथा आवास आदि का भी अधिकार प्राप्त था। चीनी इन सब अधिकारो को क्रमश: सीमित करते गये और जापानी कोरियाई प्रजा पर विशेष कर लगा दिये। जैसे-जैसे चीनी राष्ट्रवाद मंचूरिया मे बढ़ता गया वैसे-वैसे ही जापानी सरक्षको ने अपनी सैनिक कार्यवाही बढ़ा दी और रेल्वे क्षेत्र छोड़कर नगरों मे भी वे अपनी कार्यवाही करने लगे। चीन, जो दक्षिण मचूरिया रेल्वे को सदा एक व्यापारिक योजना मानता था, ने जापान की सैनिक, प्रशासनिक व प्रभुसत्ता सम्बन्धी कार्यवाहियो का सक्रिय विरोध किया।

(8) **जापान में सैनिकवाद** :—1931 में जापान में सैनिक सरकार के स्थापित हो जाने पर यह प्रकट किया जाने लगा कि दक्षिण मंचूरिया रेल्वे की समस्या का समाधान केवल शक्ति द्वारा ही सम्भव है। यह कहा गया कि दक्षिण मंचूरिया रेल्वे केवल कुछ पूंजीपतियों का ही हित कर रही है। सैनिक कार्यवाही से समस्त जापानी जनता का हित हो सकता है। राष्ट्रवाद इतना उग्र हो गया कि उदार राजनीतिज्ञों की हत्या सामान्य बात हो गई, जैसे प्रधानमंत्री हमागूची (अप्रैल 1931) व इनकाई

(मई 1932) की हत्याएं। इस समय जापान में अनेक देशभक्तों की संस्थाएं कार्य कर रही थी जिनका सैनिक दृष्टिकोण था। इनके दो मुख्य उद्देश्य—Kodo (शाही अथवा सैनिक मार्ग) व Hakko Ichin (जापानी छत्र के नीचे समग्र विश्व) थे। इन्होंने यह भी तर्क दिया कि जापानी सुरक्षा मंचूरिया को हड़प लिये जाने पर ही सम्भव है।

तात्कालिक कारण

मंचूरिया पर जापान के आक्रमण के तात्कालिक कारण निम्न थे: (1) विश्व व्यापी आर्थिक मंदी, (2) चीन में गृह युद्ध, (3) वानपाओशान घटना, (4) कप्तान नाकामुरा मामला व (5) मुकडेन घटना।

(1) **विश्व व्यापी आर्थिक मंदी** :—1929 से समस्त विश्व आर्थिक मंदी के दौर से गुजर रहा था। यूरोपीय राष्ट्रों में असंतुलित बजट, मुद्रा स्फिति, बेकारी, ढलता हुआ व्यापार, वहां की शोचनीय आर्थिक स्थिति को प्रकट कर रहे थे। जर्मनी की क्षतिपूर्ति अदायगी की समस्या इन परिस्थितियों में और अधिक उलझ गई। यग योजना क्रियान्वित न हो पाई व लौजान सम्मेलन (1932) में, हूवर विलम्ब काल के पश्चात् इसे समाप्त ही कर दिया गया। रूस ने अपने समस्त राष्ट्रीय साधन प्रथम पंचवर्षीय योजना की सफलता हेतु लगा रखे थे और इग्लैण्ड ने 18 सितम्बर 1931 को स्वर्ग मान परित्याग कर दिया था। आर्थिक अराजकता की इस स्थिति में जबकि जापान को किसी ओर से हस्तक्षेप का भय न था, उसने पहल की और मुकडेन घटना ने जन्म लिया।

(2) **चीन में गृह युद्ध** :—चांग काई शेक व नानकिंग सरकार उत्तर के सैनिक अधिकारियों जनरल येन सी शान व फेंग यू स्यिान से संघर्षरत थे। चीन मे मंचूरिया के समान ही अव्यवस्थित दशा थी। चांग स्वे लियांग अथवा युवा मार्शल ने नानकिंग सरकार का पक्ष लिया व चीन आकर उसकी सहायता करने लगा। मंचूरिया से अधिक समय तक युवा मार्शल की अनुपस्थिति का अर्थ जापानियों ने मंचूरिया के प्रति उसकी उपेक्षा समझा। चीनी पूर्वी रेल्वे की समस्या को लेकर चीन रूस से सम्बन्ध विच्छेद कर चुका था। अतः 1931 में चीन की मित्रहीन स्थिति को जापान ने आक्रमण का उपयुक्त अवसर समझा।

(3) **वान-पाओ-शान घटना** :—1931 में मंचूरिया के ग्राम वान-पाओ-शान में, जो कि चांग-चून से 18 मील दूर था, जापानी प्रजा, कोरियाई कृषकों व चीनी कृषकों में पट्टे पर जमीन की समस्या को लेकर वाद-विवाद हो गया। एक चीनी जमींदार ने एक चीनी कम्पनी को इस शर्त पर भूमि हस्तांतरित की थी कि उसके पुनः हस्तातरण में जिला मजिस्ट्रेट की स्वीकृति ली जाय। चीनी कम्पनी ने बिना इस शर्त की परवाह किये उसे एक कोरियाई कृषक को हस्तांतरित कर दी व इस नये

मालिक ने एक पड़ौसी चीनी की भूमि पर होते हुए जापानी पुलिस के संरक्षण में नहर का निर्माण कर लिया। अनधिकृत भूमि हस्तांतरण व नहर निर्माण से चीनियों व कोरियाइयों में संघर्ष हो गया, जिसकी सनसनीपूर्ण खबरें जापान व कोरिया में छपी और वहाँ चीन विरोधी उपद्रव हुए, जिनमे चीनी जन-धन की हानि हुई। चीन के क्षतिपूर्ति आदि माँगों के जापान द्वारा अस्वीकार करने से दोनों राष्ट्रों में तनाव गम्भीर स्थिति में पहुँच गया और उसने नवीन संघर्षों को जन्म दिया।

(4) कप्तान नाकामुरा मामला :—जापान के सैनिक जासूस कप्तान नाकामुरा शिन्तारो ने एक कृषि विशेषज्ञ के वेष में मंचूरिया के हारबिन नगर में प्रवेश किया। 27 जून को चीनी अधिकारियों द्वारा उसकी सैनिक तलाशी लिये जाने पर उसके पास नशीली दवाएं व सैनिक मानचित्र प्राप्त हुए। उसने भागने की कोशिश की किन्तु वह चीनी पुलिस की गोली से मारा गया। इस पर जापानियों ने चीनी अधिकारियों को क्षमायाचना, क्षतिपूर्ति व हत्यारे को दंड देने की माँग की। चीन ने इसे अस्वीकार कर दिया किन्तु जापान के निरन्तर दबाव के कारण उसने 18 सितम्बर के तीसरे पहर को इस घटना का उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया। इसी रात प्रसिद्ध मुकडेन घटना हुई।

इस समय मंचूरिया मे इस प्रकार के लगभग 300 अनिर्णीत चीनी-जापानी विवाद थे। विनाके के मत मे इनकी जड़ में दोनों पक्षों की पारस्परिक विरोधी नीतियाँ थीं। लिटिन आयोग के अनुसार "जापान मे यह लोकप्रिय नारा बुलन्द किया जा रहा था कि सभी विचाराधीन प्रश्नों के समाधान का एकमात्र तरीका 'शक्ति प्रयोग' है।"

(5) मुकडेन घटना :—18 सितम्बर 1931 को रात्री के दस बजकर तीस मिनिट पर राजधानी मुकडेन से कुछ मील दूर एक बम विस्फोट ने, दक्षिण मंचूरिया रेल्वे के एक टुकड़े को नष्ट कर दिया। कुछ लेखकों के अनुसार नष्ट रेल्वे की लम्बाई 31" थी। जापानियों का यह आरोप है कि एक चीनी सैनिक ने जानबूझकर रेल मार्ग को उड़ाया और जापानी रक्षकों द्वारा उसे ऐसा करते हुए पकड़ लिया गया; परन्तु अन्य चीनी फौज ने जापानियों पर गोली चलाई जो कि एक 'अपमानजनक तथा भड़काने वाली कार्यवाही' थी। चीनियों का दावा यह है कि एक षडयन्त्र की प्रथम कार्यवाही के रूप में जापानियों ने स्वयं इस विस्फोट का आयोजन किया ताकि उन्हें मचूरिया पर आक्रमण का बहाना मिल जाय। इस घटना के एक घण्टा पूर्व ही दक्षिण-एक्सप्रेस रेल गाड़ी सुरक्षित रूप से मुकडेन पहुँची थी। मुकडेन घटना का बहाना लिए बिना किसी चेतावनी के अथवा युद्ध घोषणा के भारी संख्या में जापानियों ने अपने सैनिक उतार दिये और रात्री के 2 बजे तक मुकडेन पर अधिकार कर लिया और सम्पूर्ण मंचूरिया को अपने अधिकार में करने का अभियान जारी रखा। इस घटना से स्पष्ट था कि स्थानीय कान्टूंग के जापानी सैनिक अधिकारियों ने यह कार्य-

वाही इसलिये की थी कि जापानी जनमत, दुर्बल जापानी सरकार को सैनिक हस्तक्षेप द्वारा मंचूरिया हड़पने के लिये बाध्य कर सके ।

मंचूरिया पर जापानी आक्रमण

मुकडेन पर अधिकार करने के पश्चात् जापानी सम्पत्ति और नागरिकों की रक्षा की कानूनी आड़ में जापान ने मंचूरिया पर बड़े पैमाने पर आक्रामक कार्यवाही आरम्भ कर दी । युवा मार्शल ने मुकडेन से अपनी राजधानी चिन चाऊ में हटा ली । प्रमुख नगरों—चांग चुग (19 सितम्बर), किरीन (21 सितम्बर), व जिड जिहार (19 सितम्बर) पर जापानी सेना ने अधिकार कर लिया । नानकिंग सरकार ने पूर्ण तैयारी के अभाव में अपनी सेनाओं को प्रत्यक्ष युद्ध को टालने के आदेश दिये । 3 जनवरी 1932 को चिन चाऊ का भी पतन हो गया जिससे जापान का प्रभुत्व मुकडेन से 300 मील उत्तर में भी विस्तृत हो गया । कानून तथा स्थानीय व्यवस्था को बनाए रखने के लिये जापान ने कठपुतली अधिकारियों की नियुक्ति की ।

राष्ट्रसंघ की प्रतिक्रिया

21 सितम्बर को चीन ने प्रतिश्रव की धारा ग्यारह के अनुसार राष्ट्रसंघ में अपील की । साथ ही अमेरिका को दूर प्राच्य की समस्या के शांतिपूर्ण हल के लिये अनुरोध किया । 22 सितम्बर को राष्ट्रसंघ ने चीन व जापान दोनो की सेनाएँ हटाए जाने व शांति स्थापना का प्रस्ताव पारित किया । जापान के प्रतिनिधि ओसीजावा ने बताया कि यह एक घरेलू मामला है जिसका निबटारा दोनों पक्ष सीधी बातचीत द्वारा स्वय करेंगे और यह कि जापान का मंचूरिया में कोई भौमिक उद्देश्य नही है । चीनी प्रतिनिधि एल्फ्रेड जी ने कहा, "विना आक्रमण द्वारा हस्तगत भूमि से, सेनाएं हटाए, कैसे बातचीत सम्भव हो सकती है ।" उन्होंने मांग की, "एक जांच आयोग बिठाया जाय जो सही स्थिति की रिपोर्ट दे ।" परन्तु जापानी विस्तारवादी नीति पर इन प्रस्तावों का कोई प्रभाव नही पड़ा ।

एक अन्य प्रस्ताव 24 अक्टूबर को स्वीकार किया गया, जिस पर जापान के अलावा सबकी सहमति थी । इस प्रस्ताव द्वारा जापान से कहा गया कि वह अपनी सेनाएं 16 नवम्बर तक, मंचूरिया के रेल्वे क्षेत्र से हटा ले तथा चीन से सीधी बातचीत प्रारम्भ कर दे । जापान ने इस प्रस्ताव को भी अस्वीकार कर दिया, क्योंकि इसमें जापान की जान-माल की रक्षा का अभाव था । 10 सितम्बर को परिषद् ने एक अन्य प्रस्ताव स्वीकार कर घटना की जांच के लिये एक आयोग नियुक्त किया ।

स्टिमसन सिद्धान्त

राष्ट्रसंघ का सदस्य न होते हुए भी चीन-जापान संघर्ष का अमेरिका से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था, क्योंकि वह नौ-राष्ट्रों की 'खुला द्वार' की संधि (1922) तथा पेरिस संधि (1928) का सदस्य था । इसी समय एक अमेरिकी पर्यवेक्षक प्रेन्टिस गिलबर्ट ने पेरिस-संधि को लागू करने के सम्बन्ध में हुई राष्ट्रसंघ की चर्चा में भाग लिया ।

अमेरिका के तत्कालीन विदेश-मन्त्री हेनरी स्टिमसन ने 7 जनवरी 1932 को निम्न सिद्धान्त की घोषणा की—"अमेरिका किसी भी वास्तविक स्थिति (Defacto) या संधि या समझौते को वैधानिक मान्यता नहीं दे सकता है जिससे चीन की प्रभुसत्ता, भौमिक अखण्डता व प्रशासनिक एकता एवं 'खुला द्वार' के उल्लंघन होने की सम्भावना हो। अमेरिका के लिये ऐसी संधि या समझौता मान्य नहीं होगा, जो कि प्रतिज्ञप्त तथा 27 अगस्त 1928 की पेरिस संधि, जिस पर चीन-जापान तथा अमेरिका के हस्ताक्षर हैं—के विपरीत हो।"

ब्रिटेन के विदेश मंत्रालय ने अमेरिका की, अमान्यता की नीति को अनावश्यक समझा। फिर भी मार्च 1932 में राष्ट्रसंघ की साधारण सभा में एक प्रस्ताव पारित करके स्टिमसन की अमान्यता की नीति का सदस्य राष्ट्रों द्वारा पालन करने पर बल दिया।

शंघाई युद्ध

मन्चूरिया पर जापानी आक्रमण का एक प्रभाव चीन भर में जापान विरोधी आन्दोलन था। चीनी बहिष्कार नीति के कारण जापानी माल का आयात 1932 में 94 प्रतिशत कम हो गया। शंघाई विश्व के पांच बड़े बन्दरगाहों में से एक है और चीन का सबसे बड़ा नगर है। जनवरी 1932 में यहां एक भीड़ ने पांच जापानी बौद्ध भिक्षुओं पर आक्रमण कर दिया। उनमें से एक की मृत्यु हो गई। इस घटना ने एक छोटे सैनिक अभियान का रूप ले लिया। फरवरी में जापान ने अपना समुद्री बेड़ा शंघाई भेजा। इसके कमान्डर ने महापौर वू से अपराधियों को दण्ड देने तथा जापानी माल के बहिष्कार को रोकने की मांग की। जापानी सेनाए अपनी मांग थोपने के लिये तट पर उतर आई तथा उन्होंने चोपेई में चीन की उन्नीसवीं सेना पर आक्रमण कर दिया। पांच सप्ताह वीरतापूर्ण प्रतिरोध के बाद चीनी सेनाएं पीछे हट गईं। भारी हानि उठाने के पश्चात् जापान ने 5 मई 1932 को युद्ध विराम संधि की तथा अपनी सेनाएं शंघाई से हटा लीं। जैक्सन के कथनानुसार "शंघाई युद्ध में जापानियों ने जन-धन की हानि से भी अधिक जो एक वस्तु खो दी थी, वह थी चीन में रुचि रखने वाली हर एक बड़ी शक्ति की सहानुभूति।" जापान ने शंघाई में अन्तर्राष्ट्रीय उपनिवेश (Settlement) को 25,000 सैनिकों, 40 युद्ध पोतों तथा 200 हवाई जहाजों के साथ सैनिक अभियान का अड्डा बना लिया। ऐसा करके उसने उपनिवेश समझौता तथा ब्रिटिश वाणिज्य दूत को दिये गये वायदों का उल्लंघन किया। पश्चिमी शक्तियों ने इस कार्य के लिये जापान को कभी भी क्षमा नहीं किया।

मंचूको का निर्माण

जापान ने अपने अभियान को जारी रखते हुए वायुयान से परचे बाँटे जिसमें कि "युवा मार्शल को लुटेरा घृण्य एवं दुर्गन्ध युक्त व्यक्ति कहा गया, जिसने कि मंचू जनता को भुलावे में रखा।" युवा मार्शल भाग कर चीन चला गया और समस्त मंचूरिया जापान के अधिकार में आ गया।

मंचूरिया में जापान समर्थकों द्वारा 19 फरवरी 1932 को एक ग्राम सभा में स्वतंत्र राज्य 'मचूको' की स्थापना की घोषणा की गई। इस नये राज्य मे चीन के तीन पूर्वी प्रदेश तथा जेहोल का प्रदेश शामिल किया गया, जिस पर 1933 के प्रारम्भ में जापानी सेनाओं ने अधिकार कर लिया था। एक प्रमुख कार्य पालक के आधीन, जो संरक्षक कहलाया, मंचूको को एक स्वतन्त्र गणराज्य, अधिकृत रूप से घोषित कर दिया गया। 4 मार्च को चीन के पदच्युत सम्राट, जो 1912 के पश्चात् से हेनरी-पुई के नाम से प्रसिद्ध थे, को संरक्षक के रूप में स्वीकार किया गया। पाँच दिन पश्चात् एक सविधान को लागू करके संरक्षक को सम्पूर्ण अधिकार दे दिये गये। इस व्यवस्था की विशेषता यह थी कि सब महत्वपूर्ण विभागों में जापानी अधिकारी थे। 15 सितम्बर 1932 को जापान ने इस नये राज्य को मान्यता प्रदान कर दी। ये कदम उसने राष्ट्र-संघ के जाँच-आयोग के प्रतिवेदन पर विचार करने का अवसर मिलने से पहले ही उठा लिये थे।

लिटन जाँच आयोग

14 जनवरी 1932 को भारत के भूतपूर्व वायसराय लिटन की अध्यक्षता मे जाँच आयोग की नियुक्ति हुई। सुदूर-पूर्व के इतिहास मे यह पहला जाँच-आयोग था। इस आयोग के अन्य सदस्य निम्न थे—काउन्ट मोरेस्कोटी (इटली), जनरल हेनरी क्लाडेल (फ्रांस), मेजर जनरल फ्रैंक आर मैकाय (अमेरिका) तथा डाक्टर हेनरी स्नी (जर्मनी)।

छः माह के गम्भीर अध्ययन में आयोग ने चीनी नेता चाग काई शेक, मंचूरिया के जनरल चांग स्वे लियांग तथा सरक्षक पुई और जापान के सम्राट के साथ विचार विनिमय किया और 1550 चीनी तथा 400 रूसी पत्र एवं अन्य स्मारकों को देखकर 139 पृष्ठ का प्रतिवेदन 4 सितम्बर 1932 को राष्ट्रसघ को समर्पित किया।

इस प्रतिवेदन की निम्न धारायें थी :

1. चीन व जापान के मध्य मंचूरिया की समस्या के समाधान एवं स्थायी शांति के लिये दोनों के स्वार्थ में सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता है।

2. यह समझौता पहले की तीन सामूहिक संधियों—(i) राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव (ii) नौ-राष्ट्रों की 'खुला द्वार' संधि एवं (iii) पेरिस के शांति समझौते (1928)—को ध्यान में रखते हुए उचित होगा।

3. मंचूरिया में जापान के अधिकार एवं विशेष स्वार्थों की मान्यता, जिनकी 'अवहेलना' नहीं की जा सकती।

4. चीन और जापान के संबंधों को सुचारु रूप से चलाने के लिये एक नवीन और स्पष्ट सन्धि करनी होगी।

5. सीमावर्ती राष्ट्र रूस के स्वार्थों को भी स्वीकृति देनी होगी।

6. भविष्य के विवादों के निबटारे के लिये ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि छोटी से छोटी समस्या भी तत्परता से सुलझाई जा सके।

7. मंचूरिया के शासन को इस प्रकार परिवर्तित किया जाय कि ची प्रभुसत्ता एवं अखंडता के अंतर्गत स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अधि स्वायत्त शासन की व्यवस्था हो।

8. मचूरिया से विदेशी सेना को हटाया जाय और बाह्य आक्रमण आंतरिक अशांति से सुरक्षित करने के लिये वहाँ एक स्थानीय आरक्षी दल की व्य की जाय।

9. एक नवीन व्यापारिक संधि के आधार पर चीन और जापान के आ सहयोग को प्रोत्साहित किया जाय।

10. चीन की समस्या के संतोषजनक समाधान के लिये अस्थायी अंतर्राष् सहयोग द्वारा चीन मे एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना की जाय।

आयोग ने यह निष्कर्ष निकाला कि मुकडेन घटना के पश्चात् विस्तृत रूप हुई सैनिक कार्यवाहियो को "आत्म प्रतिरक्षा के लिये कानूनी उपाय नही माना सकता ; इस मंचूको सरकार को आम चीनी समर्थन प्राप्त नही है, जो अपने 'घ तथा विदेशी अधिकारों के लिये जापानी सेनाओं पर' निर्भर रहती है। इस समस के समाधान के लिए आयोग ने दो हल पेश किये। इनमें से एक था चीन-जापा सम्मेलन, जो मचूरिया में जापान के विशेष अधिकारों को मान्यता दे व मंचूरिया स्वायत्त शासन दिया जाय, किन्तु प्रभुसत्ता चीनी ही रहे। एक जापानी पत्र ने इ प्रतिवेदन पर टिप्पणी करते हुए लिखा, "यह प्रतिवेदन कानूनी तथा साहित्यिक कृ है, जो राष्ट्रसघ के अजायबघर के पुस्तकालय को शोभित करता रहेगा परन्तु जिसा अन्तर्राष्ट्रीय आलेख के रूप में कोई व्यवहारिक मूल्य नही है।"

9 दिसम्बर 1932 को राष्ट्रसंघ की विशिष्ट महासभा ने लिटन आयोग व प्रतिवेदन उन्नीस राष्ट्रों की एक विशिष्ट समिति के हाथ में सौंप दिया, जिस प्रार्थना की गई कि वह इसका कोई हल ढूंढ़े। समिति ऐसा कोई भी हल नहीं ढूं सकी जो चीन तथा जापान दोनों को मान्य हो। तो भी उसने निम्न सिफारिशें कं जिसे 24 फरवरी 1933 को राष्ट्रसंघ की महासभा ने 42 मतों से स्वीकार कर लिया। जापान ने विरोध में मत दिया। सिफारिश का निष्कर्ष था कि जापान ने बिना किसी युद्ध घोषणा के चीन के एक बड़े क्षेत्र पर अधिकार जमा लिया है। उसके निम्न सुझाव थे—(1) रेल क्षेत्र में जापानी सेनाओं की वापसी, (2) चीन की प्रभुसत्ता के अन्तर्गत मचूरिया का स्वशासन, (3) जापान-चीन समझौते के लिये राष्ट्रसंघ समिति के माध्यम से वार्ता व (4) राष्ट्रसंघ के सदस्यों द्वारा मंचूको राज्य को अमान्यता। एक पृथक् प्रस्ताव द्वारा एक परामर्शदात्री समिति की नियुक्ति की गई, जिसमे अमेरिका तथा रूस को मिलाकर 29 राष्ट्र थे। यह समिति इस कार्य में सहयोग करने के लि

बनाई गई थी क्योंकि दोनों पक्षों में से किसी ने भी औपचारिक युद्ध-घोषणा नहीं की। इसलिये दन्डादेशों तथा सैनिक शक्ति के प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठा। जापानी प्रतिनिधि मत्सुका ने घोषणा की कि "जापान-चीन सम्बन्धों के मामले में राष्ट्रसंघ को सहयोग देने के जापानी सरकार के प्रयत्न अब सीमा पार कर चुके हैं।" 27 मार्च 1933 को जापान ने दो वर्षों की आवश्यक पूर्व सूचना के समय की समाप्ति के पश्चात् राष्ट्रसंघ में अपनी सदस्यता परित्याग की औपचारिक सूचना दे दी।

तांग्कू संधि

जेहोल विजय तथा पेकिंग और तीयेनीसन के मुख्य द्वारों तक जापानी सेनाओं के बढ़ जाने पर, दो महीने पश्चात् 29 मई 1933 को जापान व चीन ने तांग्कू में एक युद्ध विराम समझौते पर हस्ताक्षर किये। इस समझौते के अनुसार जापान की क्वान्टूंग सेना, जो कि चाहार और होपई प्रान्तों के तुशीकाओ और लुटाई क्षेत्रों तक बढ़ चुकी थी, ने बड़ी दीवार तक हटना स्वीकार कर लिया। दूसरी ओर चीन ने तियनसिन और पेकिंग तक की सीमाओं के दक्षिण-पश्चिम में कुछ मील पीछे हटना निश्चित किया। दो सेनाओं के बीच का क्षेत्र सीमित चीनी प्रभुसत्ता के अन्तर्गत असैनिक क्षेत्र घोषित कर दिया गया। जापान ने इस क्षेत्र में वायु निरीक्षण व चीन को असैनिक क्षेत्र में रखी जाने वाली सेना की किस्म की अनुमति का अधिकार अपने पास रखा। चीन को सभी कुओमिंतांग कार्यालय, दलीय गतिविधि व जापानी विरोधी कार्यवाहियाँ बन्द करनी पड़ीं। इस विराम संधि द्वारा जापानी आक्रमण का वह दौर तो समाप्त हो गया जो मंचूरिया घटना के नाम से पुकारा जाता है, किन्तु चीन का मंचूरिया पर वैधानिक अधिकार दुर्बल हो गया।

परिणाम

चीन की हानि

मंचूरिया पर से चीन का शासन निश्चित रूप से समाप्त हो गया किन्तु चीन ने इस परिवर्तन को किसी संधि द्वारा मान्यता नहीं दी। चीन के हाथ से उसकी 85 प्रतिशत भूमि, 80 प्रतिशत वन सम्पत्ति तथा चीनी पूर्वी रेल्वे पर से अधिकार और औद्योगिक तथा खनिज साधन चले गये। मंचूरिया में पराजय से चीन में राष्ट्रवाद को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। अब पहले की अपेक्षा जापानियों के आक्रमण को रोकने के लिये राजनैतिक एकीकरण, सैन्य पुनर्गठन तथा आर्थिक पुनर्निर्माण की ओर अधिक ध्यान लगाया गया।

जापान के लाभ

शक्ति के प्रयोग से जापान ने मंचूरिया के चीनी क्षेत्र के लगभग पांच लाख वर्गमील पर अधिकार जमा लिया। जापानियों की दृष्टि में यह एक सामान्य घटना थी, युद्ध की नहीं। भीतरी मंगोलिया में स्थित जेहोल की विजय से मंचुको की

सीमाओं का विस्तार और अधिक हो गया, जिसमें जापान शासित पुलिस संगठन के अन्तर्गत दस उपविभाग करके दस प्रान्त बना दिये गये। एक मार्च 1934 में मंचूरिया के संरक्षक पुई, कांग ते के नाम से सम्राट् बने। जापान ने मंचूको के साथ एक नई सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इसके अनुसार मंचूको के खर्च पर जापानियों ने नवीन राज्य की प्रतिरक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया परन्तु वास्तविक अधिकार मंचूको में जापानी राजदूत जनरल मुटो के पास रहा, जो कि जापानी तथा मंचूको सेनाओं का सेनापति तथा क्वांगतन्ग क्षेत्र का गवर्नर भी था। शीघ्र ही सेना, शिक्षा, उद्योग, खाद्यान्नो, भूमि, यातायात तथा प्रशासन का जापानीकरण तेजी से आरम्भ हो गया। जापान ने जापानी कृषकों को वहाँ बसाने तथा मंचूको के विकास के लिये जापानी पूँजी लगाने को प्रोत्साहन दिया। तांग्कू सन्धि के परिणामस्वरूप 1937 तक जापान ने चीन पर राजनीतिक तथा आर्थिक आधिपत्य के लिये अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर लिया।

मंचूको पर प्रभाव

डाक्टर चाओ सिन पो, जो कि मुकडेन के महापौर थे, के नेतृत्व मे चीन-विरोधी मंचूको की स्वतन्त्रता का आन्दोलन एक प्रभुसत्ता संपन्न नवीन मचूको राज्य में परिणित हो गया। किन्तु इस स्वतन्त्र मचुको में केवल एक कठपुतली सरकार की स्थापना हुई और यह जापानी-साम्राज्य विस्तार के लिये सैनिक अड्डा बन गया। कठपुतली सम्राट् कांग ते ने टोकियो के युद्ध अपराधियों के मुकदमे में घोषणा की, "मचूरिया की जनता, वहां के अधिकारी वर्ग तथा मैंने पूर्णरूपेण स्वतन्त्रता खो दी थी। जब लॉर्ड लिटन मचूको आए, उस समय हम सब जापानी सैनिक अधिकारियों की निगरानी मे थे·········अगर मैं उन्हे सच्चाई से परिचित करा देता तो शिष्ट-मंडल के मंचूरिया छोड़ते ही मेरी हत्या कर दी जाती।"

सीमा-विवाद

अन्य महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि रूस ने मचूको को चीनी पूर्व-रेल्वे का आधा भाग बेच दिया। मंचूको ने चीनी रेल्वे के द्वारा आधे भाग को 1935 में 26 करोड़ रुपयों मे जबरदस्ती हथिया लिया। जापान ने इसका नाम बदलकर नार्थ मचूरिया रेल्वे रख दिया और स्वय इसका संचालन करने लगे। मंचूको और रूस की सीमा एक होने के कारण सीमावर्ती प्रदेश में दोनों में लगातार मुठभेड़ें होती रहती थी। जापानी विदेश-मंत्री हेयाशी के मतानुसार 1937 तक 2300 से अधिक सीमाई झगड़े हुए, लेकिन हर कीमत पर शाति बनाये रखने की रूसी नीति परिणाम-स्वरूप ये झगड़े युद्ध का रूप नही ले पाए।

राष्ट्रसंघ की प्रतिक्रिया

राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा नीति के प्रति 'मंचूरिया संकट' प्रथम बडी

चुनौती थी। यद्यपि संघ इस विषय में दण्डादेश आदि कदम नहीं उठा सका, फिर भी उसने इस प्रकार के अंतर्राष्ट्रीय संकट में प्रथम बार स्थानीय जाँच की व्यवस्था की। यह सच है कि इतिहास में प्रथम बार एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था ने एक महाशक्ति को आक्रामक घोषित किया। ब्रिटेन, फ्रांस आदि कोई भी राष्ट्र जापान के विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाने के लिए तत्पर नहीं थे। अन्तर्राष्ट्रीय शांति के आधार के रूप में सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त अभी तक केवल एक कल्पना ही थी। सुदूर-पूर्व के इस संकट में क्षेत्रीय शक्तियों—अमेरिका व रूस, के राष्ट्रसंघ के सदस्य न होने के कारण उसकी नीतियों के पीछे सैन्य शक्ति का अभाव था। इसलिये जापान राष्ट्रसंघ की उपेक्षा करने में सफल रहा। राष्ट्रसंघ के हाथ में कानूनी साधन था, पर इसके पीछे मजबूत सैन्य शक्ति का अभाव था। इस कारण जापान राष्ट्रसंघ की उपेक्षा करने में सफल रहा। आगे चलकर इसी नीति का अनुकरण इटली तथा जर्मनी के तानाशाहों ने भी किया, जिससे राष्ट्रसंघ का पतन हो गया। क्लाइड ने ठीक ही विवेचना की है "सब अवसरों पर न ही राष्ट्रसंघ ने और न ही अमेरिका ने और न ही दोनों ने मिलकर जापान को रोका तथा अमान्यता के सिद्धान्त को पुनर्स्थापित करके चीन की अखंडता को नहीं बनाए रखा।"

निष्कर्ष

सभी साम्राज्यवादी राष्ट्र ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका और जापान अपनी विस्तारवादी नीति के औचित्य को तर्क-सगत ठहरा सकते हैं। जापान का यह तर्क कि उसकी मंचूको में कार्यवाही वहाँ की जनता के हित के लिये थी—ठीक उसी प्रकार है जैसे कि ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत; फ्रांस का हिन्दचीन व अल्जीरिया; तथा अमेरिका का फिलिपीन, प्यूटोरिको और पनामा में की गई कार्यवाही के लिये दिया गया तर्क। इतना ही नहीं, उसके इस कार्य का कानूनी औचित्य भी 1905 तथा 1915 की पेकिंग संधियों से सिद्ध होता है। चीन न केवल मचूरिया में व्यवस्था बनाए रखने में असफल रहा था, अपितु उसने जापान के प्रभाव क्षेत्र में भी छापा मार आक्रमणों को प्रोत्साहन दिया था तथा जापान के उधार लिये ऋण पर ब्याज भी नहीं दिया था। जापान ने यह घोषणा खुले तौर पर की थी, "मंचूको को जापान ने अपने राज्य में नहीं मिलाया है, अपितु यह तो मचू सम्राट् के आधीन एक स्वतन्त्र राष्ट्र है जिसे वहाँ की जनता ने चांग काई शेक के सैनिक शासन के मुकाबले अधिक अच्छा समझा है।" किन्तु यह स्पष्ट है कि जापान ने 1919 के राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव, 1922 की वाशिंगटन संधियों तथा 1928 के ब्रियाँ-कैलोग समझौते का उल्लंघन किया था।

चीन-जापान अघोषित युद्ध

मई 1933 के तांग्कू युद्ध-विराम सधि से जुलाई सन् 1937 का काल सुदूर-पूर्व में अनिश्चित तथा अस्थाई शांति का समय रहा। सुरक्षा तथा आर्थिक घुसपैठ

की दृष्टि से जापान एशिया महाद्वीप में अनवरत रूप से अपनी स्थिति को सुदृढ़ करता रहा। 1930 के पश्चात् जापान के सैनिक वर्ग तथा उग्र राष्ट्रवादियों के उत्थान के फलस्वरूप 'कोडो' के सिद्धान्त अर्थात् 'शाही मार्ग की तानाशाही नीति' ने विस्तारवादी देशभक्तों के आन्दोलन को प्रोत्साहित किया। देशभक्त आतंकवादियों ने 14 नवम्बर 1930 को प्रधानमंत्री हमागूची तथा 15 मई 1932 को प्रधानमंत्री इनुकाई की हत्या कर दी। 26 फरवरी 1936 को सैनिक आतंकवादियों ने वित्तमंत्री ताकाशाही, एडमिरल साइटो तथा सैनिक शिक्षा के इन्स्पेक्टर जनरल वाटानवी को भी मार डाला। "इस तरह" शूमैन का कथन है कि "हत्याओं पर बनी सरकार खुफिया पुलिस तथा विचार-नियंत्रण पर आधारित थी।" 1930 की 19 देशभक्त संस्थाओं की संख्या 1936 में बढ़कर 235 हो गई। युद्ध-मंत्री आराकी 1931 से 1934 तक नवीन राजनीतिक युग के प्रमुख प्रवक्ता बने रहे। उन्होंने दावा किया, "पूर्व में जापान का एक पवित्र उद्देश्य पूर्वी जनता को श्वेत जातियों के प्रभुत्व से बचाना है :" आराकी ने आगे कहा "सुदूर-पूर्व के देश श्वेत जातियों के दबाव के शिकार हैं, किन्तु जागृत जापान अब भविष्य में उनके हाथों अत्याचार तथा स्वेच्छाचारिता सहन नहीं कर सकता। यदि कोई भी इस देश की प्रगति में बाधक बनेगा तो बिना किसी हिचक के बुरी तरह कुचल दिया जायेगा।"

जापान का मनरो सिद्धान्त

अब जापान ने सुदूर-पूर्व की सुरक्षा तथा शांति का संरक्षक होने का दावा किया तथा 'विशिष्ट हितों' के अपने सिद्धान्त का विकास किया। अप्रैल 1934 में जापानी विदेश-विभाग के प्रवक्ता अमाऊ ईजी ने इस सिद्धान्त की घोषणा की "एशिया में शांति तथा व्यवस्था बनाए रखने के लिये जापान अकेले अपने उत्तरदायित्व पर कार्य करेगा।" संक्षेप में चीन के प्रति जापान की नीति निम्न थी—

1. चीन के स्वयं के प्रयत्नों द्वारा उसका एकीकरण।

2. चीन की सहायता के लिये अंतर्राष्ट्रीय प्रयत्नों के राजनीतिक महत्व के कारण, उसका विरोध।

3. पूर्व एशिया की शांति को दृष्टि में रखते हुए अन्य राष्ट्रों को चीन को व्यक्तिगत सहायता की अनुमति।

'मनरो सिद्धान्त' की इस स्पष्ट परिभाषा का समर्थन प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् प्रभावशाली जापानी लेखकों और सैनिक नेताओं ने किया, लेकिन चीन ने फौरन घोषणा की "पूर्व एशिया में शांति की सुनिश्चित गारन्टी तभी हो सकती है जब जापान निर्मम साम्राज्यवादी नीति को त्याग दे तथा अपने संधि-दायित्वों को निष्ठापूर्वक निभाये।"

चीन को पश्चिमी सहायता

चीन में बढ़ते हुए जापान के प्रभाव का प्रतिकार करने के लिये प्रमुख पश्चिमी राष्ट्रों ने राष्ट्रवादी चीन को वित्तीय तथा सैनिक सहायता दी। अप्रैल 1934 में पुनर्निर्माण वित्तीय निगम के द्वारा अमेरिका ने चीन को 5 करोड़ डालर और ब्रिटेन ने 15 लाख पौंड का ऋण दिया। इसके अलावा अमेरिका ने चीन को बड़ी संख्या में युद्ध-पोत भेजे, हैंगचाऊ में सैनिक हवाबाजों के लिये एक प्रशिक्षण केन्द्र प्रारम्भ किया तथा कर्टिसराइट कम्पनी को चीन में हवाई जहाज बनाने के कारखाने को स्थापित करने का अधिकार दिया। इन सब विकासों का उद्देश्य था बिना जापानी मदद के चीन की सैनिक शक्ति को बढाना। ये सब कार्यवाहियां जापान के लिये आपत्ति-जनक थी और उसने यह निश्चय किया कि यदि इन्हें जारी रखा गया तो वह ताकत का जवाब ताकत से देगा। यह स्पष्ट था कि जापान चीन पर नियंत्रण के अपने एकमात्र अधिकार को बनाये रखने के लिये कटिबद्ध है।

नौ-होड़

जापानी सैन्यवादियों का निश्चित मत था कि चीन के अधिक शक्तिशाली होने के पूर्व ही उसके प्रति दृढ़ नीति अपनाई जानी चाहिये। 28 दिसम्बर 1934 में औपचारिक रूप से जापान ने 1922 की नौ-संधि को समाप्त कर दिया। 1935 में लंदन के नौ-सेना सम्मेलन में जापान ने अमेरिका तथा ब्रिटेन के साथ पूर्ण नौ-समानता की मांग की। जब उसकी 'समानता' की मांग अस्वीकृत हो गई तो वह सम्मेलन से पृथक् हो गया (मार्च 1936) और उसने स्पष्ट रूप से चीन के प्रति आक्रामक नीति अपना ली।

जापान की शांतिपूर्ण घुसपैठ

चीन की राष्ट्रवादी सरकार, जो 1931 में उत्तर मे साम्यवादियों से लड़ने में व्यस्त थी, की तुष्टिकरण नीति के परिणामस्वरूप 1935 के मध्य तक चीन की आन्तरिक स्थिति ज्यादा बिगड़ गई। जापान-समर्थक दो चीनी पत्रकारों की हत्या के परिणामस्वरूप जापानी सेना ने कर्नल दोइहारा के नेतृत्व मे होपई तथा चाहर प्रान्तों मे चीनी अधिकारियों को विवश कर दिया कि वे विशेष सैनिक-टुकड़ियों तथा अधिकारियों को हटा लें, चीन के राष्ट्रवादी दल की शाखाएँ बंद कर दें तथा समस्त जापान-विरोधी कार्यों को रोक दें। नये महापौर, पुलिस-कमिश्नर तथा गढ़ सेनापति की नियुक्ति तियनसिन में जापान की इच्छानुसार हुई। इसी समय जापानी, चीन के उत्तर-पूर्वी बाजारों में छा गये। नवम्बर 1935 में जापानियों ने जनरल मुंग के नेतृत्व मे होपई-चाहर राजनीतिक परिषद् की स्थापना की। 1936 में जापान ने तथाकथित दो स्वतन्त्र सरकारों की स्थापना की—एक प्रिन्स तहे की भीतरी मंगोलिया सरकार और दूसरी जापान समर्थक चीनी सहयोगी यिनजुकेन की स्वायत्त परिषद्। चीन के पांच उत्तरी प्रान्तों में जापानी सेना ने स्वायत्त-आन्दोलन को प्रोत्साहित किया। अब

चीन स्थित जापानी सेनापति दोइहारा ने खुले रूप से चीन में पश्चिमी प्रभाव की समाप्ति तथा कुइमिन्ताँग को जड़मूल से उखाड़ फेंकने की बात प्रारम्भ कर दी। फरवरी 1936 मे जापान की हिरोता सरकार ने चीन के प्रति एक नवीन तथा निश्चयात्मक नीति अपनाई। इस नीति के मूल सिद्धान्त निम्न थे—

(1) जापान के प्रति चीन के शत्रुतापूर्ण कार्यों की समाप्ति; (2) साम्यवाद के दमन के लिये चीन-जापान में सहयोग; (3) चीन द्वारा मंचूको को मान्यता; (4) जापान-चीन-मचूको आर्थिक गुट का निर्माण। प्रत्यक्ष में जापान यह प्रचार कर रहा था कि वह चीन में एक नई शाति व्यवस्था तथा स्थायित्व के लिये प्रयत्नशील है, परन्तु वास्तविकता यह थी कि वह, भविष्य की सैनिक कार्यवाहियों के लिये इस नीति के मूल्य और परिणाम को ध्यान में रख, सैनिक अड्डे बना रहा था।

आँग्ल-अमेरिकी संतुष्टिकरण नीति

सन् 1932 में अमेरिका ने, जो स्टिमसन अमान्यता की नीति मंचूरिया के विरुद्ध अपनाई थी उसका ब्रिटेन ने समर्थन नहीं किया। तीन वर्ष पश्चात् ब्रिटेन से जब फ्रेडरिक लीथ रॉस को आर्थिक सहायता का प्रबन्ध करने के लिये चीन भेजा गया तो इसमें अमेरिका ने उसका साथ नही दिया। इस आपसी फूट का लाभ उठा कर जापान ने यह घोषणा की, "जब तक जापान का भी सहयोग न लिया जाय, पश्चिमी राष्ट्रों को चीन को आर्थिक सहायता देने का कोई अधिकार नही है।" अमेरिका के परराष्ट्र सचिव कार्डेल हल के अनुसार इस समय उनकी नीति "निष्पक्षता तथा नैतिकता के सिद्धान्तों पर आधारित थी।" एक ओर तो अमेरिका चीन को सहायता देना चाहता था तथा दूसरी ओर वह जापान को कच्चा माल—लोहा, तेल, रबर की बिक्री कर रहा था। इससे स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष सैनिक सहायता देने के लिये अमेरिका तत्पर नही था। 1933 में जर्मनी मे हिटलर के उदय के कारण यूरोपीय राष्ट्रों का ध्यान उस ओर था, जिसका पूरा लाभ जापान ने उठाया। इन परिस्थितियों में अमेरिका और ब्रिटेन ने सन्तुष्टिकरण नीति अपनाकर सुदूर-पूर्व मे जापान की साम्राज्यवादी नीति को प्रोत्साहित किया। जापान अब जर्मनी व इटली के साथ मिलकर धुरी सधि में सम्मिलित हो गया।

कामिन्टर्न-विरोधी समझौता

चीन जापान सघर्ष मे सोवियत सुदूर-पूर्वी सेना के हस्तक्षेप को रोकने के लिये 25 नवम्बर 1936 को जापान ने पूर्ण सावधानी के तौर पर जर्मनी के साथ कामिन्टर्न-विरोधी समझौता कर लिया। इस समझौते के अन्तर्गत दो शर्तें उल्लेखनीय थी—(1) साम्यवादी कार्यवाहियों के बारे मे सूचनाओं का पारस्परिक आदान-प्रदान एवं (2) साम्यवाद के विरोध में पारस्परिक प्रतिरक्षा के लिये अपनाये जाने वाले उपायों पर विचार-विमर्श। इसके अतिरिक्त एक गोपनीय अनुच्छेद मे उल्लेख किया गया, यदि रूस का, इस समझौते में शामिल किसी भी पक्ष पर आक्रमण हो

तो दूसरा पक्ष रूस की मदद के लिये कोई कार्य न करे एवं दोनों पक्ष तत्काल उचित कार्यवाही पर परामर्श करें। दोनो पक्षों ने वचन दिया कि कोई भी पक्ष रूस के साथ ऐसी संधि नहीं करेगा, जो समझौते की भावना के प्रतिकूल हो। जून 1937 में जापान में प्रिन्स कोनोई फ्युमीमारो के नेतृत्व में बनाये गये नये मंत्रिमंडल ने खुले रूप में "पश्चिमी जगत के सड़े गले फलों—उदारवाद, लोकतंत्र, समाजवाद और साम्यवाद" के प्रोत्साहन के लिये चीन के विरुद्ध जिहाद की बात कहनी आरम्भ कर दी। चांग काई शेक पर यह आरोप लगाया गया कि वह साम्यवाद पक्षपाती तथा जापान-विरोधी संयुक्त मोर्चे में सहयोगी है। बस्म के मतानुसार "संधि के नियमों से बचने के लिये, उन्हें बदलने तथा अत मे भंग करने के लिये जापान ने चीन में, धमकी, कपट, धोखाबाजी, बातचीत तथा शक्ति सभी का प्रयोग किया है।" इस समय तक जनरल तोजो, जो उस समय उत्तरी चीन में अपने कार्य पर नियुक्त था, ने टोकियो तार द्वारा सूचना भेजी, "अब समय आ गया है, जबकि चीन की केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध निर्णयात्मक आक्रमण प्रारम्भ कर दिया जाय।"

चीनी राष्ट्रवाद का पुनर्जागरण

चीनी जनता मे राजनीतिक दृष्टि से जागरूक वर्ग पर, भय और क्रोध की स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई, क्योकि जापान उनके उत्तरी प्रान्तों को हड़प कर गया था। विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों ने इस बात के लिये प्रदर्शन किया कि जापान का सशस्त्र विरोध किया जाय। इस राष्ट्र-मुक्ति आन्दोलन' से चांग काई शेक प्रभावित तो जरूर हुए परन्तु उसके औचित्य से सहमत न हो सके। मई 1936 में उत्तरी चीन में जापान के विरुद्ध सेना भेजे जाने का प्रस्ताव कुइमिन्तांग विधान मे पारित न हो सका। चांग की तुष्टिकरण नीति उत्तरोत्तर अलोकप्रिय होती गई। जापान के विरुद्ध प्रतिरोध के लिये उठती हुई माँग के फलस्वरूप चीनी साम्यवादियों ने माओत्से-तुंग के नेतृत्व में नवम्बर 1931 में क्यांग्सी मे केन्द्रीय रूसी सरकार की स्थापना कर ली थी। 12 से 25 दिसम्बर 1936 की अवधि मे च्यांग-स्यू-ल्यांग के नेतृत्व मे मंचूरिया सेना ने एक पखवारे के लिये चांग काई शेक को उड़ाकर उन्हे कैद में रखा। उनके मुक्त करने के लिये जो शर्तें थीं, उनमे से एक यह भी थी कि गृह-युद्ध समाप्त करके जापान के विरुद्ध सशस्त्र संयुक्त प्रतिरोध किया जाय। फलस्वरूप 1937 के आरम्भ में संपूर्ण चीन, राष्ट्रवाद की लहर मे एक होकर उस उत्तरी चीन पर अपने प्रभुत्व को स्थापित करने के लिये प्रयत्न करने लगा, जो जापान के नियंत्रण में था।

मार्को-पोलो पुल की घटना

जापान की सैनिक कार्यवाही के लिये अब रंगमच तैयार था। चीन में बढती हुई एकता, चीन द्वारा किये गये बहिष्कारों से उत्पन्न गंभीर आर्थिक प्रभावों, फरवरी 1936 में जापान में उग्र सैन्यवादियों का उदय, राइन भूमि पर नाजी आधिपत्य, मुसोलिनी द्वारा इथोपिया पर आक्रमण, स्टालिन-विरोधी षड्यन्त्रों के कारण रूस

का घरेलू मामलों में व्यस्त होना आदि कारणों ने जापान के समक्ष निर्णयात्मक सैनिक कार्यवाही की आवश्यकता तथा अवसर उपस्थित कर दिया।

7 जुलाई 1937 की गहन रात्री में जापान ने छलपूर्ण सैनिक कार्यवाहियां प्रारभ कर दी। मार्को-पोलो पुल के पास वानपिंग नगर में चीनी तथा जापानी सैन्य टुकड़ियों के बीच युद्ध प्रारंभ हो गया। अगले दिन जापानियों ने अपने एक सैनिक के लापता होने की सूचना निकाली तथा वानपिंग में प्रत्येक घर की तलाशी प्रारभ कर दी। लापता सैनिक अपनी टुकड़ी में फिर आ गया। पांच सैनिक पदाधिकारियों की एक चीन-जापान समिति इस घटना की जांच-पड़ताल करने के लिये नामजद की गई। एक ओर तो यह समिति घटनास्थल पर पहुँची, दूसरी ओर नगर के बाहर इकट्ठी चीन-जापानी सेनाओं के बीच गोलाबारी में दोनों ओर के सैनिक हताहत हो गये। दोनो ने एक-दूसरे पर आक्रमण का आरोप लगाया। घटना शांतिपूर्ण ढग से हल हो जाती, किन्तु मुख्य प्रश्न उत्तरी चीन पर दोनों ही के अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करने की समस्या थी। 7 से 26 जुलाई की अवधि में, जबकि वार्ता हो रही थी, जापान ने उत्तर चीन में भारी सैनिक सामग्री जुटाई। 26 जुलाई को पेकिंग का पतन हो गया और तीन दिन पश्चात् तियनसिन पर अधिकार कर लिया गया। दोनों पक्षों में से किसी की भी ओर से युद्ध की औपचारिक घोषणा तक नही की गई। जापान ने हमेशा इसे 'चीन-घटना' कहा तो भी यह द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रथम सोपानों में से एक था।

राष्ट्रसंघ की अकर्मण्यताः ब्रुसेल्स सम्मेलन

मचूरिया में राष्ट्रसंघ की निर्बलता से जापान परिचित था। अघोषित युद्ध के प्रारम्भ होने के 3 महिने पश्चात् 6 अक्टूबर 1937 को राष्ट्रसघ ने चीन के अनुरोध पर एक प्रस्ताव पास कर जापान पर 1922 के वाशिंगटन सम्मेलन की सधियों तथा 1928 के पेरिस एक्ट को भग करने का आरोप लगाया। साथ ही महासभा ने यह अनुरोध किया कि 1922 की नौ-शक्ति सधि के सदस्य राष्ट्र ही चीन-जापान की इस समस्या का हल निकालें। बेल्जियम के आमत्रण पर 19 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन 3 नवम्बर से 24 नवम्बर 1937 तक ब्रुसेल्स में हुआ। इस सम्मेलन में चीन की राजनीतिक प्रभुसत्ता तथा क्षेत्रीय अखण्डता पर विचार-विमर्श किया जाना था। जापान ने इस सम्मेलन में भाग लेना अस्वीकार करते हुए युद्ध का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व चीन पर डाल दिया। सम्मेलन ने केवल चीन मे जापान की सैनिक कार्यवाहियो को अवैध घोषित किया परन्तु इसे रोकने के लिये वे जापान पर किसी प्रकार का सामूहिक दबाव न डाल सके। संक्षेप में चीन मे शांति स्थापित करने मे यह सम्मेलन असफल रहा। एक वर्ष पश्चात् राष्ट्रसघ की परिषद् ने सदस्य राष्ट्रों को इस बात की स्वतंत्रता दी कि यदि वे चाहें तो पृथक् रूप से चीन को सहायता दे सकते हैं, परन्तु कोई भी राष्ट्र इस स्थिति मे चीन को सहायता देने को तैयार नही

हुआ। इस स्थिति में यह स्पष्ट हो गया कि कोई भी राष्ट्र जापान के विरुद्ध किसी भी प्रकार की कार्यवाही न करेगा ; इस कारण उसने अपना विस्तार जारी रखा। फलस्वरूप दूर प्राच्य में युद्ध आरम्भ हो गया।

द्वितीय चीन-जापान युद्ध की घटनाएं (1937-45)

29 अगस्त 1937 को चीन व सोवियत रूस में अनाक्रमण संधि हुई। इसके फलस्वरूप चीन को रूस से सैनिक विमान व भारी मात्रा मे शस्त्रास्त्र प्राप्त हुए। चीनी साम्यवादियों को मिलाकर चीनी सेना के 200 डिवीजन थे। हर एक डिवीजन में 10,000 सैनिक थे। इतनी विशाल सेना के होते हुए भी 1937 के अन्त तक जापानी सेनाओं ने भीतरी मंगोलिया सहित पांच उत्तरी प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया। इसके बाद प्रसिद्ध बन्दरगाह शघाई तथा राजधानी नानकिंग का पतन हो गया। चीनी राष्ट्रवादियों ने पश्चिम में चुंगकिंग को नई राजधानी बनाया (20 नवम्बर)। 1938 के मध्य तक त्याईर च्वांग में अपने पराभव के होते हुए भी जापान ने क्यांग्सू प्रांत तथा होनान और अनहुई के बहुत बड़े प्रदेश पर कब्जा कर लिया। अक्टूबर 1938 में चीन-जापान युद्ध का प्रथम दौर तब पूरा हुआ जबकि जापान ने हैंकाऊ तथा कैन्टन पर कब्जा कर लिया।

द्वितीय चरण, फरवरी-मार्च 1939 में जापान द्वारा हैनान द्वीप तथा स्पार्टले द्वीपों पर अधिकार जमा लिये जाने के साथ प्रारम्भ हुआ। इतने पर भी चांग काई-शेक ने घोषणा की, "जापान के सामने आत्म-समर्पण कर देना हमारी जाति के विरुद्ध एक अक्षम्य अपराध होगा।" चीनी छापामारो ने जापानियों को परेशान करना प्रारम्भ किया। 3 सितम्बर 1939 को जर्मनी के पोलैंड पर आक्रमण कर देने से द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया।

3 नवम्बर 1938 को युद्ध की गति धीमी पड़ जाने पर जापान के प्रधान-मन्त्री प्रिन्स कोनोई ने 'पूर्व एशिया में एक नवीन व्यवस्था की घोषणा की। इसका उद्देश्य "इस क्षेत्र मे राजनीतिक स्थिरता ; आर्थिक समन्वय ; व मंचूको, परतन्त्र चीन और जापान को मिलाकर एक आर्थिक गुट बनाना था।" जापान की इस नीति के दो लक्ष्य थे—पूर्व एशिया में आर्थिक एकाधिकार ; व सामरिक दृष्टि से राष्ट्र-वादियों को विदेशी सहायता न मिलने देना। 30 मार्च 1940 को चांग काई शेक के दाहिने हाथ तथा कुइमितांग के उपाध्यक्ष वांग-चिंग वाई के नेतृत्व में एक नई चीनी राष्ट्रीय सरकार नानकिंग में बनी। वांग जापानियो से मिल गये और उनकी सरकार को जापान ने मान्यता दी। 30 नवम्बर 1940 को वांग ने जापान के साथ एक सधि की, जिसमें साम्यवाद के विरुद्ध संयुक्त प्रतिरक्षा तथा आर्थिक विकास में सहयोग का उल्लेख किया गया था। जुलाई 1941 तक जर्मनी, इटली, स्पेन तथा रूमानिया ने वांग सरकार को मान्यता प्रदान कर दी। चांग काई शेक ने वांग सरकार को 'गुलामों की

मानचित्र—13

स्वतंत्र चीन, साम्यवादी चीन व परतंत्र चीन, 1941

सरकार' कहा। 1941 के अन्त तक चीन-जापान युद्ध का तृतीय दौर, द्वितीय महायुद्ध का सुदूर-पूर्वीय मच बन गया।

युद्ध के परिणाम

द्वितीय विश्व युद्ध से ठीक पूर्व चीन, तीन भागो मे विभाजित था। चांग काई-शेक अधिकृत चीन को 'स्वतन्त्र चीन' कहा जाता था, जिसकी राजधानी चुंगकिंग थी। इसमें सीमा रेखा के पश्चिम के प्रान्त शामिल थे। यह सीमा रेखा पेकिंग से उत्तर मे हैंकाऊ होती हुई दक्षिण में कैन्टन तक फैली हुई थी। इस 15 करोड की जनसंख्या वाले चीन पर प्रतिरोध के प्रतीक के रूप मे चाग अपना अधिकार जमाए थे। परतन्त्र चीन मे पूर्व वाला प्रदेश शामिल था। इस पर जापान समर्थक वांग-चिंग वाई का आधिपत्य था तथा राजधानी नानकिंग थी। इसके अन्तर्गत 10 लाख वर्ग-मील का क्षेत्र था व यहां की जनसख्या 20 करोड़ थी। 'तीसरे चीन' की कोई भी निश्चित सीमाएं नही थी, परन्तु जनसंख्या इसकी भी 10 करोड़ थी। इस पर स्थानीय युद्ध-सामन्तों का, या स्वयं अधिकारियों का शासन था जो, अपने को किसी के भी आधीन नहीं मानते थे। 1941 मे चीनी साम्यवादियो ने माओत्से-तुंग के नेतृत्व में येनान में अपनी सत्ता जमा ली। इनकी स्वयं की सरकार थी, अपनी फौज थी तथा रूस से सहायता लेते रहना इनकी नीति थी। चांग काई शेक के साथ इनका संयुक्त

मोर्चा था। इन्होंने जापानियों के विरुद्ध छापामार युद्ध प्रणाली अपनाई। साम्यवादियों का इसमे सर्वाधिक लाभ रहा। उन्होंने 10 प्रतिशत जापानियों का साथ दिया। 20 प्रतिशत राष्ट्रवादियों को सहायता दी, एवं 70 प्रतिशत अपने प्रभुत्व का विस्तार किया। देशभक्ति के आवरण में अपना स्वार्थ सिद्ध करने और निर्धनता को दूर करने का उन्होने ढोंग किया।

आर्थिक दृष्टि से युद्ध ने चीन की समृद्धि के आधारों को हिला दिया। टोकियो मे स्थापित 'चीन गतिविधि समिति' (The China Affairs Board) द्वारा ही व्यापार नीति, वित्त नीति तथा चीन के समस्त आर्थिक विकास का निर्धारण होता था। चीन के विकास के लिये जापान ने दो कम्पनियां स्थापित की : उत्तर चीन तथा केन्द्रीय चीन विकास कम्पनिया। चीन मे जापानी माल के आयात को दुगना करने से तथा चीनी माल के आयात को जापान मे कम कर देने से व्यापार सतुलन जापान के पक्ष में हो गया।

सक्षेप मे 1937 से 41 के मध्य चीन-जापान युद्ध के परिणामस्वरूप 20 लाख चीनी सैनिक या तो मारे गये अथवा घायल हुए ; प्रमुख वन्दरगाहों, और व्यापार, *उद्योग एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों की क्षति हुई ; 7 करोड़ चीनी नागरिक बेघरबार हो* गये व देश का एक बड़ा क्षेत्र परतन्त्र हो गया। जापानियो को भी 5 लाख सैनिकों की क्षति हुई। सितम्बर 1937-38 मे फिर चीन ने राष्ट्रसघ में जापान के विरुद्ध शिकायत और प्रतिश्रव के अनुच्छेद 17 के अन्तर्गत सहायता की अपील की। राष्ट्रसघ परिषद् ने घोषणा की "चीन पर जापान का आक्रमण पेरिस सधि तथा 1922 की नौ राष्ट्रों की सधि का उल्लंघन है।" इसने यह भी निर्णय दिया कि नाकेबन्दी से संबन्धित 16 वें अनुच्छेद का प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु सामूहिक कार्यवाही के लिये अभी समय अनुकूल नही है। चीन की अपील का परिणाम यह निकला कि राष्ट्रसंघ परिषद् ने यह तय किया कि यदि सदस्य राष्ट्र चाहें तो व्यक्तिगत रूप से सहयोग दे सकते है किन्तु कोई भी राष्ट्र सहायता के लिये तैयार नही हुआ।

अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया

इग्लैंड की चैम्बरलेन सरकार अपनी राजनीतिक स्थिति सुदृढ करने के लिये यूरोप में अनेक समस्याओं मे उलझी हुई थी। अतः उसने तुष्टिकरण की नीति को अपनाया। जुलाई 1939 में टोकियो मे ब्रिटिश राजदूत सर रावर्ट क्रेमी ने जापान के विदेश-मंत्री अरीता के साथ एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। क्रेमी-अरीता-समझौते में (1) चीन की तात्कालिक स्थिति को मान्यता दी गई व (2) चीन में जापानी सेनाओं की सुरक्षा तथा अपने अधीन प्रदेशों मे जन-जीवन को व्यवस्थित करने के अधिकार को स्वीकृत किया गया।

वाशिगटन, लंदन की तुलना में कुछ समय तक शान्त रहा। अमेरिकी सरकार ने शक्ति से जापानी आक्रमण का मुकाबला करने के लिये समस्त प्रयासों को टाला परन्तु इसके साथ ही चीन को गेहूं और कपास खरीदने को ऋण दिया तथा चीन में

हवाई जहाज का कारखाना स्थापित किया, किन्तु अमेरिका लगातार पेट्रोल, तेल, लोहा एवं यन्त्रों को जापान को बेच रहा था, जिससे टोकियो सरकार ने यह अनुमान लगा लिया कि अमेरिका कोई गम्भीर कार्य करने का इच्छुक नहीं है। यांग्सी नदी में जापानी हवाबाजों ने अमेरिकी तोपधारी नौका पैने पर बम वर्षा कर दी (12 दिसम्बर) किन्तु इसका फैसला जापान द्वारा 1 करोड़ 11 लाख रुपये दण्ड-स्वरूप दे दिये जाने से हो गया। जापान ने चीन में नाकेबन्दी की नीति अपनाई थी। अतएव अमेरिका ने लगातार कई बार विरोध प्रकट करने के पश्चात् इस दिशा में कार्यवाही करने का निर्णय किया। दिसम्बर 1938 में आयात निर्यात बैंक ने 'स्वतंत्र चीन' को $12\frac{1}{2}$ करोड़ रुपयों के ऋण की घोषणा की। जुलाई 1939 में अमेरिका ने 1911 की जापान-अमेरिकी व्यापार संधि को भग कर दिया। अमेरिका ने विशाल नौ-सेना का निर्माण तथा प्रशान्त में अपनी प्रतिरक्षा सुधारने का कार्यक्रम प्रारम्भ किया। 1940 में अमेरिकी कांग्रेस ने एक विधेयक पारित किया, जिसमें राष्ट्रपति को तेल तथा युद्ध सामग्री के निर्यात कर सकने का अधिकार दिया। इस प्रकार जापान में अमेरिका द्वारा इन वस्तुओं की पूर्ति की व्यवस्था समाप्त हो गई। विदेश विभाग ने निर्यातकों को आदेश दिया कि वे जापान को हवाई जहाज निर्यात न करें। जुलाई 1941 में अमेरिका मे चीनी तथा जापानी सम्पत्ति को अचल कर दिया गया और उन्हें चीन को हस्तांतरित करने से भी टोका। मार्च 1941 में अमेरिका ने ऋण-पट्टा-अधिनियम के अन्तर्गत, चीन को सहायता दी।

इन दिनों रूस की नीति चीन की सहायता करने, जापान को दबाने तथा मुख्य रूप से युद्ध को टालने की थी। मार्को-पोलो पुल घटना के एक महीने पश्चात् ही चीन-रूसी अनाक्रमण सन्धि नानकिंग मे सम्पन्न हुई। रूस की सैन्य सामग्री सीक्यांग तथा मंगोलिया के मार्ग से चीन मे जाने लगी। जून 1939 में रूस सरकार ने स्वतंत्र चीन को 7 करोड़ 5 लाख रूबल का ऋण दिया। चीन को बढ़ती हुई रूसी सहायता से, जापानी विरोध का परिणाम यह हुआ कि, कोरिया-साइबेरिया सीमा पर रूसी तथा जापानी सैनिकों में मुठभेड़ें होने लगी। लेकिन जल्दी ही युद्ध-विराम पर बात-चीत हो गई तथा सीमा विवादों को सीमित करने के लिये एक सैनिक आयोग नियुक्त किया गया। 23 अगस्त 1939 की रूस-जर्मन अनाक्रमण सन्धि तथा यूरोप में युद्ध की चिनगारी भड़क उठने के फलस्वरूप जापान में रूस विरोधी भावना अस्थायी रूप से ठंडी पड़ गई। 13 अप्रैल 1941 को जापान तथा रूस ने एक तट-स्थता समझौता किया, जिसके अनुसार दोनों ने परस्पर युद्ध में न उलझने की प्रतिज्ञा की।

इटली तथा जर्मनी ने पर्याप्त मात्रा में सैनिक सामग्री चीन को बेची व जर्मनी ने चांग काई शेक के पास एक सैन्य आयोग भी भेजा। 1940 के मध्य तक फ्रांस, डेन्मार्क, नार्वे, हालैंड तथा लक्जमबर्ग हिटलर के हाथ में आ ही चुके थे। 27 सितम्बर

1940 को जर्मनी, जापान तथा इटली में एक दस वर्षीय "सहयोग समझौता" हुआ। इसके अनुसार जापान को बृहद् एशिया में एक 'नवीन व्यवस्था' की स्थापना के लिए अनुमति मिल गई। उन्होंने यह समझौता किया कि किसी अन्य राष्ट्र द्वारा यदि इन तीनों में से किसी एक पर भी आक्रमण हुआ तो बाकी दो अपने सम्पूर्ण राजनीतिक, आर्थिक तथा सैनिक साधनों के साथ उसकी सहायता करेंगे।

द्वितीय महायुद्ध का पूर्वी एशिया

1941 के प्रारम्भ में उपर्युक्त सन्धि संगठनों से सुसज्जित जापान के सैन्य अधिकारियों ने 'वृहद् पूर्वी एशिया' के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने का निश्चय प्रकट किया। 22 जून 1941 को जब जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया तब जापान सुदूर-पूर्व में किसी भी प्रकार के रूसी हस्तक्षेप से निश्चिन्त हो गया। 13 अक्टूबर 1941 को जनरल हिडेकी तोजो जापान के प्रधानमन्त्री हो गये तथा शीघ्र ही फ्रांसीसी हिंदचीन पर अधिकार कर लिया।

इस समय अमेरिका की सुदूर-पूर्व नीति निम्न चार सिद्धान्तों पर आधारित थी। (1) स्वतंत्र चीन (2) उसके घरेलू मामलों में अहस्तक्षेप (3) व्यापार में 'खुला द्वार' व (4) प्रशान्त महासागर में यथास्थिति। दक्षिण पूर्वी एशिया पर आक्रमण की योजना के लिये और समय मिल जाने की दृष्टि से जापान ने अमेरिका के साथ राजनीतिक बातचीत प्रारम्भ कर दी। जापान ने सुझाव दिया कि अमेरिका जापान से व्यापारिक सम्बन्ध पुनः स्थापित कर ले, चीन को सहायता देना बन्द कर दे तथा इन्डोनेशिया पर दबाव डालकर जापान को तेल, रबर आदि देने की व्यवस्था करे तो वह दक्षिण-पूर्वी एशिया में विस्तार नहीं करेगा। अमेरिका ने हिन्दचीन से जापानी सेनाएं हटाने, चाँग काई शेक की सरकार को मान्यता देने एव चीन की अखण्डता के सम्मान की मांग की।

17 नवम्बर 1941 को दो जापानी प्रतिनिधि, एडमिरल नोमूरा तथा साबुरो कुरूसू स्वयं जापानी प्रस्ताव लेकर वाशिंगटन पहुँचे। अमेरिका के सचिव कार्डेल हल ने 26 नवम्बर को समझौते के लिये उपरोक्त चार सिद्धान्त रखे। वास्तव मे जापान दक्षिण-पूर्वी एशिया से अपने सैनिक हटाना नही चाहता था। 1 दिसम्बर को जापान के शाही सम्मेलन मे अमेरिका पर आक्रमण करने का अन्तिम निर्णय ले लिया गया। 6 दिन पश्चात् रूजवेल्ट ने जापान के सम्राट को समझौते के लिये सीधी अपील की। परन्तु तब तक जापान ने आक्रमण प्रारम्भ कर दिया था।

नोमूरा और कुरूसू ने जापान की ओर से 7 दिसम्बर को दोपहर के 2 बजकर बीस मिनट पर हल को सूचना दी कि जापान को अमेरिकी प्रस्ताव स्वीकृत नही है। इस समय हल को (किन्तु जापानी प्रतिनिधियों को नही) यह ज्ञात था कि पर्ल हार्बर पर जापानी आक्रमण प्रारम्भ हो चुका है। हल ने जापानी उत्तर पर टिप्पणी करते हुए कहा, "इतिहास में इस प्रकार की कुख्यात मिथ्या का और दृष्टान्त नही है।"

प्रातः सवा सात बजे, 7 दिसम्बर को, 189 जापानी बम वर्षकों ने पर्ल हार्बर में अमेरिकी प्रशान्त बेड़े पर बम वर्षा प्रारम्भ कर दी। इसके फलस्वरूप 3300 से अधिक अमेरिकी मारे गये और 8 युद्ध जहाज नष्ट हो गये। 8 दिसम्बर 1941 को अमेरिका एवं ब्रिटेन ने जापान के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी, जिसका अनुसरण बाद में डचों तथा चांग काई शेक की राष्ट्रवादी सरकार ने किया।

पर्ल हार्बर पर आक्रमण के फौरन बाद 1942 तक जापान ने थाईलैंड, मालाया, बर्मा, इन्डोनेशिया, फिलिपीन, हांगकांग, सिंगापुर के बड़े नौ-अड्डे, न्युगिनी के भागों तथा प्रशान्त सागर के कई द्वीपों को विजय कर लिया।

1943 से जापान की पराजय प्रारम्भ हो गई। इसी वर्ष क्युबेक, मास्को, काहिरा, तथा तेहरान में जो लगातार अनेक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन, रूस, ब्रिटेन, चीन तथा अमेरिका के मध्य हुए, इसका परिणाम मित्र राष्ट्रों में पारस्परिक सैनिक सहयोग तथा कुशल सैनिक परिचालन था। 1944 में अमेरिका ने फिलिपीन पर पुनः अधिकार कर लिया तथा इन्डोनेशिया के मोर्चे पर जापान की गति को रोक दिया। मिडवे, बिस्मार्क-द्वीप समूह, ग्वादल-कैनाल, तरावा, साइपान, आइयोजिमा तथा ओकिनावा के रक्त रंजित नौ-युद्ध में अमेरिका ने जापान को हराया। 1945 के आरम्भ में अमेरिकी हवाई जहाज प्रतिमास 50,000 टन बम जापान पर गिराने लगे। राजधानी टोकियो एवं योकोहामा बम वर्षा से क्षति ग्रस्त हो गये। जुलाई मे एक एक दिन मे 2 हजार से भी अधिक अमेरिकी विमानो ने जापान पर हमला जारी रखा। 15 मई 1945 को यूरोप में जर्मनी पूरी तरह से पराजित हो गया। 26 जुलाई 1945 को हुए पोट्सडम-सम्मेलन की "बिना शर्त आत्मसमर्पण अथवा नष्ट कर दिये जाने" की चेतावनी की जापान ने अवहेलना की। 6 अगस्त को हिरोशिमा पर अमेरिका ने प्रथम अणुबम गिराया, जिससे 80 हजार नागरिक मारे गये। दो दिन बाद, रूस ने जो अभी तक तटस्थ था, याल्टा समझौते के अनुसार जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा की तथा मंचूरिया, उत्तरी कोरिया, सारवालिन तथा कुराइल द्वीपों पर अधिकार जमा लिया। 9 अगस्त को दूसरा अणुबम नागासाकी पर गिराया गया। 14 अगस्त को सम्राट हिरोहितो के हस्तक्षेप पर सुजुकी-मंत्रिमडल ने आत्मसमर्पण की शर्तों को स्वीकार किया एवं इसके पश्चात् पदत्याग कर दिया। 2 सितम्बर 1945 को अमेरिका युद्ध जहाज मिसोरी पर, जापान ने औपचारिक रूप से विराम संधि कर ली।

परिणाम

युद्ध में जापान को भयकर क्षति उठानी पड़ी। इसके 12 युद्ध जहाज, जिसमें दो 64 हजार टन के थे; 10 विमान वाहक जहाज; 34 गश्ती जहाज; 126 विध्वंसक, तथा 125 पनडुब्बियाँ नष्ट हो गए। 1945 तक जापान ने 65,300 विमान तैयार किए थे, जिनमें से 50,000 नष्ट हो गए। 90 लाख टन के व्यापारिक जहाज थे जो

डुबो दिये गए या क्षतिग्रस्त हो गए। मित्र राष्ट्रों के हवाई जहाजों ने जापान के 44 नगरों का विनाश कर दिया तथा युद्ध पूर्व की तुलना में अब केवल 25 प्रतिशत उत्पादन रह गया। 3,33,000 नागरिक मारे गए, 5 लाख से भी अधिक घायल हुए व 90 लाख व्यक्ति बे-घरबार हो गए। दिसम्बर 1945 को 11 राष्ट्रों के एक सुदूर-पूर्व आयोग की स्थापना वाशिंगटन में हुई। इसके अतिरिक्त टोकियो में जापान के लिए मित्र राष्ट्रीय परिषद् (SCAP) की स्थापना की गई, जिसमें अमेरिका, ब्रिटेन, रूस तथा चीन के प्रतिनिधि थे और इस परिषद् के अध्यक्ष थे मित्रराष्ट्रीय सेनाओं के सर्वोच्च सेनापति जनरल मैक आर्थर। 1947 में जापान की प्रभुसत्ता उसे वापिस लौटा दी किन्तु स्थायी शांति संधि सैनफ्रांसिस्को मे 8 सितम्बर 1951 को हुई। 1948 में 7 व्यक्तियों को युद्ध-अपराध में मृत्युदण्ड दिया गया, जिनमें भूतपूर्व प्रधानमंत्री तोजो, हिरोटा व सेनापति दोइहारा थे। इस युद्ध का एक परिणाम चीन का महाशक्ति माना जाना व उसे सुरक्षा परिषद् मे स्थायी स्थान प्राप्त होना था। चीन में गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया और 1949 तक मुख्य भूमि पर साम्यवादी सरकार व फारमोसा में राष्ट्रवादी सरकार की स्थापना हुई। उत्तरी कोरिया में साम्यवादी सरकार की स्थापना युद्ध का एक अन्य परिणाम था।

सारांश

1919 के पेरिस सम्मेलन में जापान विश्व की प्रमुख पांच महाशक्तियों में गिना जाने लगा। शान्टूंग, विषुवत रेखा के उत्तर में प्रशान्त महासागरीय जर्मन द्वीप जापान के शासनाधीन हो गया। परन्तु जातीय समानता की मान्यता आंग्ल-अमेरिकी महाशक्तियों ने नही दी। राष्ट्रपति हार्डिंग ने 12 नवम्बर 1921 से 6 फरवरी 1922 तक वाशिंगटन में सुदूर-पूर्व की समस्याओं के समाधान के लिये नौ राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। अमेरिका, ब्रिटेन और कनाडा, सभी इस सम्मेलन के जन्मदाता होने का दावा करते है।

वाशिंगटन सम्मेलन होने के अनेक कारण थे। आंग्ल-जापानी संधि की अवधि बढ़ाने का प्रश्न; साइबेरिया से जापानी सेना का अपसारण; याप द्वीप की समस्या, त्रिपक्षीय सैनिक होड़ आदि इसके जन्म लेने के कारण थे। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, बेल्जियम, नीदरलैण्ड व पुर्तगाल, चीन व जापान ने इसमे भाग लिया। चार राष्ट्रों की प्रशान्त संधि, नौ राष्ट्रों की खुला द्वार और तटकर संधि, याप व शांटूंग संधि पर हस्ताक्षर किये गये। इन संधियों ने 1936 तक नौ-होड़ को आंशिक रूप से सीमित किया और चीन की अखंडता और स्वतंत्रता की गारंटी प्रदान की।

चीन 1912 के पश्चात् गणतंत्र बना किन्तु सैनिक नेताओं के साथ मतभेद के कारण पेकिंग और कैन्टोन दो पृथक् सरकारों में विभाजित हो गया। सन यात सेन ने 1923 में रूस के साथ मैत्री स्थापित कर राष्ट्रवादी दल कुइमिन्तांग को संगठित किया। 1924 में कुइमिन्तांग कांग्रेस में तीन महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की घोषणा की— सान, मिन, चुई।

'सान' अथवा राष्ट्रवाद, 'मिन' अथवा लोकतंत्र और 'चुई' अथवा समाजवाद चीन की तात्कालिक समस्याओं के समाधान का मार्ग था। 1925 में सन यात सेन की मृत्यु के पश्चात् चांग काई शेक ने नानकिंग पर अधिकार कर लिया एवं राष्ट्रीय सरकार के लिये विदेशियों को समानता का सिद्धान्त स्वीकार करने के लिये बाध्य किया। किन्तु रूस के साथ कूटनीतिक संबंध विच्छेद होने के कारण चीनी साम्यवादी 1931 में माओ-त्से-तुंग के नेतृत्व में क्यांगसी प्रदेश में पृथक् सरकार स्थापित की।

साम्राज्यवादी जापान ने उग्र राष्ट्रवाद एवं सैनिकवाद से प्रभावित होकर 1931 में मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया। मंचूरिया की आंतरिक अव्यवस्था एवं चीनी राष्ट्रीयता की वृद्धि, चीन का पुनर्जागरण, मंचूरिया का रेलवे विवाद—संघर्ष के तात्कालिक कारण थे। विश्वव्यापी आर्थिक मंदी, चीन में गृह-युद्ध, वानपाओशान घटना, कप्तान नाकामुरा मामला और 18 सितम्बर की मुकडेन घटना ने तात्कालिक कारण प्रस्तुत किये। अमेरिका के विदेश मंत्री स्टिमसन ने 7 जनवरी 1932 को मंचूरिया की मान्यता व जापानी प्रभुत्व की स्वीकृति नहीं दी। जापान ने मंचूरिया पर अधिकार करके एक नवीन संरक्षित राज्य मंचूको की स्थापना की। राष्ट्रसंघ ने स्थलीय जाँच के लिये लिटन आयोग की नियुक्ति की। फलस्वरूप जापान आक्रामक राष्ट्र घोषित किया गया। इसीलिये 27 मार्च 1933 को जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता से त्यागपत्र दिया। 31 मई 1933 को तांग्कू संधि चीन व जापान में हुई।

जापान की विस्तारवादी नीति, मनरो सिद्धान्त, चीन को पश्चिमी सहायता, [illegible] उत्तर-चीन में जापान की शांतिपूर्ण घुसपैठ, आंग्ल-अमेरिकी [illegible] नीति, [illegible] कामिन्टर्न विरोधी समझौता, चीन में राष्ट्रीय [illegible], मार्कोपोलो पुल की घटना और राष्ट्रसंघ की दुर्बलता, द्वितीय चीन-जापान युद्ध के मुख्य कारण थे। 7 जुलाई 1937 को युद्ध प्रारंभ होते ही जापान ने एक वर्ष में पेकिंग, हैंकाऊ, शंघाई, कैन्टोन, नानकिंग [illegible] करोड़ जनसं[illegible] के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। पश्चिमी राष्ट्रों [illegible] जापान ने [illegible] अमेरि[illegible] हेलना की। 7 दिसम्बर को अकस्मात् जापान ने अमे[illegible] पर्ल हार्बर के नौ अड्डे पर बमबारी की, जिससे अमेरि[illegible] घोषणा की।

सितम्बर को जापान ने आत्म-समर्पण किया। युद्ध में जापान के तीन लाख से भी अधिक नागरिक मारे गये और समस्त उपनिवेश छीन लिये गये। 8 सितम्बर 1951 मेसैनफ्रांसिस्को में जापान के साथ संधि हुई।

घटनाओं का तिथिक्रम

1919 28 जून—वर्साई संधि।

1921 20 मई—सेंट जर्मेन की संधि पर चीन के हस्ताक्षर।
12 नवम्बर से वाशिंगटन सम्मेलन।
6 फरवरी 1922
13 दिसम्बर—चार राष्ट्रों की प्रशान्त संधि।
4 फरवरी—शान्टूंग संधि।

1922 6 फरवरी—पाँच शक्तियों की नौ-संधि।
6 फरवरी—नौ राष्ट्रों की खुला द्वार संधि।
6 फरवरी—नौ राष्ट्रों की तट-कर संधि।
11 फरवरी—याप संधि।

1923 26 जनवरी—जाफ-सन यात सेन समझौता।

1924 जनवरी—प्रथम कुइमिन्तांग कांग्रेस।

1925 12 मार्च—सन यात सेन की मृत्यु।
30 मई—शंघाई घटना।

1927 24 मार्च—नानकिंग काण्ड।
15 दिसम्बर—रूस-चीन संबंध-विच्छेद।

1931 18 सितम्बर—मुकडेन घटना।
नवम्बर—जुइचिन नगर में पृथक् साम्यवादी सरकार की स्थापना।

1932 7 जनवरी—स्टिमसन सिद्धान्त।
4 मार्च—मचुको राज्य की स्थापना।
4 सितम्बर—लिटन जाँच आयोग का प्रतिवेदन।

1933 24 फरवरी—राष्ट्रसंघ ने जापान को आक्रामक घोषित किया।
27 मार्च—जापान का राष्ट्रसंघ से परित्याग।
31 मई—तांग्कू संधि।

1937 7 जुलाई—मार्कोपोलो पुल की घटना।
29 अगस्त—रूस-चीन अनाक्रमण संधि।
20 नवम्बर—चुंगकिंग में राष्ट्रवादियों की नई राजधानी।

1941 7 दिसम्बर—पर्ल हार्बर पर जापान का आक्रमण।

1945 26 जुलाई—पोट्सडम सम्मेलन की घोषणा।
6 अगस्त—हिरोशिमा पर प्रथम अमेरिकी अणुबम।
8 अगस्त—जापान के विरुद्ध रूसी युद्ध घोषणा।
9 अगस्त—नागासाकी पर दूसरा अणुबम।
14 अगस्त—जापान का आत्म-समर्पण का निश्चय।
2 सितम्बर—विराम संधि।

1951 8 सितम्बर—सैनफ्रांसिस्को संधि।

सहायक अध्ययन

Bisson, T.A. : **Japan in China** (1938).
Buss, C.A. : **Asia in the Modern World** (1964).
Clyde, P.H. : **The Far East** (1958).
Hishida, S.G. : **Japan Among the Great Powers** (1940).
Jones, F.C. : **Manchuria Since** 1931 (1949).
MacNair, H.F. & Lach, D.F. : **Modern Far Eastern International Relations** (1955).
Vinacke, H.M. : **A History of the Far East** (1950).
Yanaga, Chitoshi : **Japan Since Perry** (1949).

प्रश्न

1. 1921-22 में वाशिंगटन सम्मेलन की देन का उल्लेख करें। सुदूर-पूर्व मे इसने किस सीमा तक सुरक्षा की भावना को प्रोत्साहित किया?
(राज० वि० 1956, 61, 64, आ० वि० 1963, पं० वि० 1964)

2. चीन में विदेशी शक्तियों के विशेषाधिकारों व उनके विरुद्ध चीन के संघर्ष का वर्णन करें। **(राज० वि० 1957, 1959, आ० वि० 1967)**

3. 1929 और 38 के मध्य जापानी विस्तारवादी नीति के प्रति पश्चिमी राष्ट्रों के दृष्टिकोण की व्याख्या करें।
(जो० वि० 1964, राज० वि० 1956, आ० वि० 1965)

4. 1919 से 45 के मध्य जापान के क्रियाकलापों का संक्षेप में वर्णन करें। **(राज० वि० 1963, पं० वि० 1962, आ० वि० 1966)**

5. 1930-39 काल में चीन जापान संबंधों का विश्लेषण करें। राष्ट्रसंघ की चीन-जापानी संघर्ष के प्रति दृष्टिकोण की व्याख्या करें।
(राज० वि० 1964, जो० वि० 1963)

6. चीन में कुइमिन्तांग शासन की सफलता और दोषों का वर्णन करें।

(राज० वि० 1957, उ० वि० 1967)

7. "प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जापान की मंचूरिया विजय, विश्व इतिहास की महत्वपर्ण घटनाओं में से एक है"—विश्व राजनीति में इस घटना का क्या महत्व है ?

(रा०वि० 1958, 61, 66, आ०वि 1961, 1964, जो०वि० 1965, उ०वि० 1966,67)

8. चीन को गणतन्त्र की समाजवादी नीति व राष्ट्रीयता की शिक्षा देने वाले महापुरुष सन यात सेन थे, विवेचना कीजिये।

(आ० वि० 1964)

द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण

16 द्वितीय विश्वयुद्ध

"डानजिग समस्या से ही युद्ध का आरम्भ लगभग 1940 मे होगा।" —एच.जी. वेल्स की भविष्यवाणी (1933)

"युद्धों के बीच राष्ट्रसघ का इतिहास कपट, चालबाजी, धोखे तथा कुटिलता का इतिहास है।" —सलवेमिनो

"युद्ध का संबंध पुरुषों से उसी प्रकार है, जिस प्रकार स्त्री का संबंध मातृत्व से है।" —मुसोलिनी

"किसी भी देश की शक्ति का मूल्यांकन सदैव उसके सैन्य बल से होता है और यदि वे निर्बल हुए तो जीवन रूपी पुस्तक से उनका पृष्ठ अलग हो जाता है।"
—हिटलर

"हमारी राज्य सीमा के बाहर हमारे लिये कोई चाहे जो कहे, हम स्वयं जानते हैं कि हमारे लिये सही और गलत क्या है; हमारे लिए हम ही सर्वश्रेष्ठ निर्णायक हैं।" —मुसोलिनी (इथोपिया पर आक्रमण के संदर्भ में)

द्वितीय विश्व-युद्ध (1939-1945)

1930 से 1939 के काल में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति इतनी बिगड़ी हुई थी कि किसी भी समय युद्ध होने की संभावना थी। प्रसिद्ध इतिहासकार एच० जी० वेल्स ने 1933 में ही भविष्यवाणी की थी कि "डानजिग समस्या से ही युद्ध का आरम्भ लगभग 1940 में होगा।" यह कथन पूर्णतः सत्य निकला, क्योंकि 3 सितम्बर 1939 को जर्मनी द्वारा डानजिग पर आक्रमण से द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हो गया। साधारणतः हिटलर तथा नाजी दल को ही युद्ध के लिये उत्तरदायी ठहराया जाता है, परन्तु वास्तव में यह एक पक्षीय दृष्टिकोण है। युद्ध किसी एक कारण का परिणाम नही कहा जा सकता। युद्ध कई कारणों से प्रारम्भ होता है, परन्तु इन कारणों की जड़ें अतीत के गर्भ मे होती है। शान्ति भग होना अथवा युद्ध का आरम्भ होना एक ही घटना के दो पहलू हैं।

द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण

प्रथम महायुद्ध की भांति द्वितीय महायुद्ध के कारण यद्यपि जटिल हैं, परन्तु सरलता के लिये इन कारणों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, अन्तर्निहित—जिनकी जड़ें अतीत में थीं तथा द्वितीय, तात्कालिक—जो कि किसी तत्कालीन घटना से उत्पन्न हुए हों। जिन कारणों से सामूहिक सुरक्षा का प्रयास असफल रहा तथा युद्ध आरम्भ हुआ उनमें से मुख्य अन्तर्निहित कारण निम्नलिखित हैं :—(1) वर्साय सधि के प्रति पराजित राष्ट्रों का असतोष, (2) उग्र राष्ट्रवाद, (3) राष्ट्रसघ की निर्बलता, (4) मित्रराष्ट्रों की सन्तुष्टिकरण नीति, (5) नि.शस्त्रीकरण की असफलता, (6) अल्प-संख्यकों की समस्या, (7) आर्थिक तथा औपनिवेशिक स्पर्धा, (8) धुरी राष्ट्रों की आक्रामक नीति।

मुख्य तात्कालिक कारण इस प्रकार थे :—(1) 23 अगस्त 1939 की रूस-जर्मन अनाक्रमण सधि, (2) डानजिग पर जर्मन सेना का आक्रमण, (1 सितम्बर 1939), (3) रूस पर जर्मनी का आक्रमण (22 जून 1941), (4) पर्ल हार्बर पर जापानी सेना की कार्यवाही, (7 दिसम्बर 1941)।

उपरोक्त सभी कारणों के सम्मिलित परिणाम से ही द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ।

अन्तर्निहित कारण

(1) वर्साय सन्धि के प्रति पराजित राष्ट्रों का असंतोष :—पेरिस के शान्ति सम्मेलन से लौटने के पश्चात् विभिन्न राष्ट्रों के नेताओं ने सम्मेलन मे की गई सन्धियों के प्रति विश्वास प्रकट करते हुए कहा कि ये सन्धियाँ प्रजातंत्र तथा शांति को स्थिर बनाये रखने में सहायक होंगी। परन्तु वास्तव मे पेरिस की सन्धियाँ एक प्रकार की अस्थायी विराम सन्धियाँ थी। फौश ने ठीक ही कहा था, "यह शान्ति

सन्धि नहीं है, यह 20 वर्ष के लिये विराम सन्धि है।" एक प्रकार से द्वितीय महायुद्ध की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आरम्भ यहीं से होता है।

जर्मनी से उपनिवेशों का छीनना, डानजिग को पोलैण्ड से मिलाकर जर्मनी का विभाजन करना, क्षतिपूर्ति की निश्चित राशि निर्धारित न करना, पूर्वी प्रशा को मूल जर्मनी से अलग करना, जर्मनी पर ही युद्ध आरम्भ करने का उत्तरदायित्व डालना आदि कारणों से वर्साय सन्धि के प्रति जर्मन जनता में असंतोष फैल गया। जर्मन प्रधानमन्त्री विल हेलम मैक्स ने संसद में घोषणा की, "शक्ति प्रयोग करके जर्मनी को यह मानने पर बाध्य किया गया कि वही युद्ध आरम्भ करने के लिये उत्तरदायी है।" इसका जर्मनी की जनता ने तीव्र विरोध किया क्योंकि यह ऐतिहासिक तथ्य के विपरीत था। यह सन्धि पारस्परिक वार्ता से नहीं की गयी थी, वरन् विजेता राष्ट्रों द्वारा पराजित राष्ट्रों पर थोपी गयी थी। इटली के प्रधानमन्त्री निटी ने कहा था, "आधुनिक इतिहास में सदा से ही यह घटना एक उदाहरण रहेगी, क्योंकि सब प्रकार के आश्वासन, परम्परा आदि को भंग करके जर्मन प्रतिनिधि के विचारों की उपेक्षा की गई थी।" इन्हीं तथ्यों के फलस्वरूप 1935 से ही हिटलर ने वर्साय की सन्धि को आरोपित सन्धि कहा। सन्धि में संशोधन करने का प्रयास जर्मनी ने किया, परन्तु फ्रांस के विरोध के कारण, धारा 19 में संशोधन की व्यवस्था होने पर भी यह न किया जा सका। इस प्रकार सन्धि के पश्चात् यूरोप दो गुटों में विभाजित हो गया। एक गुट, जो कि संशोधन का विरोधी था और जिसमें फ्रांस, पोलैण्ड आदि थे। दूसरा गुट पराजित राष्ट्रों—जर्मनी, हंगेरी, आस्ट्रिया तथा बल्गेरिया का था। यह वर्ग संशोधन चाहता था। इन दोनों के संघर्ष के कारण ही यूरोप में चिरशांति न रह सकी तथा जर्मनी में हिटलर प्रजातंत्र का अन्त करके नाजी अधिनायकवाद की स्थापना करने में सफल हुआ। हिटलर के पूर्व के सभी जर्मन प्रधानमन्त्री, सभी देशों की पारस्परिक शांति-पूर्ण वार्ता से सन्धि में परिवर्तन करवाने में विश्वास रखते थे परन्तु हिटलर इसका विरोधी था। स्पष्ट है कि यहीं से युद्ध एक निश्चित घटना हो गई थी।

*(2) उग्र राष्ट्रवाद :—*प्रथम महायुद्ध का अन्त होने के पश्चात एक महत्वपूर्ण परिणाम संकीर्ण राष्ट्रवाद का उदय था जो कि 1929 की 'आर्थिक मन्दी' के पश्चात् तीव्र गति से विकसित हो गया। इसी के फलस्वरूप अधिनायकवादी राष्ट्रों का उदय हुआ तथा जनता ने राज्य को ईश्वर के समान पूजना आरम्भ किया। इसी से इस विचार का आरम्भ हो गया कि कोई भी शक्तिशाली राज्य अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये दुर्बल राज्य की तरफ सीमा विस्तार कर सकता है। इसी से शासक वर्ग जनता का ध्यान, आन्तरिक स्थिति से हटा कर, बाह्य घटनाओं पर केन्द्रित करने में सफल हो गया। यह भावना जापान व जर्मनी में काफी तीव्र थी, जबकि इटली में भी आंशिक रूप से यह पायी जाती थी।

(3) राष्ट्रसंघ की निर्बलता :—प्रारम्भ से ही राष्ट्रसंघ का प्रभाव-क्षेत्र विश्वव्यापी नहीं रहा। क्योंकि अमेरिका इसका सदस्य नही था। 1926 तक जर्मनी एवं 1934 तक रूस को इसकी सदस्यता से वंचित रखा गया तथा 1933 के पश्चात् क्रमशः जापान, इटली तथा जर्मनी ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्याग दी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ की असफलता का कारण यह भी था कि सदस्य-राष्ट्र अपने स्वार्थों की रक्षा चाहते थे। इसी कारण वे इसको पूर्ण सहयोग देने को इच्छुक नही थे। सभी सदस्य राष्ट्र अपने स्वार्थों की पूर्ति के इच्छुक थे, राष्ट्रसघ के सहयोग व सफलता के नही। विदित है कि प्रतिश्रव की धारा 16 में आक्रमणकारी राष्ट्र के प्रति प्रतिबंध लगाने की व्यवस्था थी, परन्तु फ्रांस व ब्रिटेन सदा से ही इसको व्यावहारिक रूप देने में बाधा डालते थे। सन् 1923 मे ब्रिटेन के विदेश-मंत्री लार्ड कर्जन ने 'एक अच्छा मजाक' कह कर राष्ट्रसघ को सम्बोधित किया था। एक फ्रांसीसी कूटनीतिज्ञ ने इसको 'दिखावा मात्र' कहा। नाजी नेताओं ने इसे पराजित राष्ट्रों की सम्पत्ति का बटवारा करने वाली विजेताओ की उपहासप्रद संस्था बताया। रूस ने इसको साम्राज्यवादी संस्था कहा। मंचूरिया पर जापान द्वारा 1931 में आक्रमण तथा इथोपिया पर इटली का 1935 में हमला राष्ट्रसंघ को दी गई चुनौतियाँ थीं। इटली के सेनानायक डिब्रोनो ने अपनी आत्मकथा में कहा कि यदि अंग्रेज स्वेज को बन्द कर देते तो इटली की इथोपिया विजय स्वप्न मात्र बनकर रह जाती। इन घटनाओं से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और सहयोग के बिना कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था सफल नही हो सकती। सलवेमिनो ने सत्य ही लिखा है कि "युद्धों के बीच राष्ट्रसंघ का इतिहास कपट, चालबाजी, धोखे तथा कुटिलता का इतिहास है।" वास्तव में इसके निर्माता ही इसके प्रथम शत्रु थे, क्योंकि उन्होंने आन्तरिक दृष्टि से राष्ट्रसंघ को उपरोक्त कार्यों से दुर्बल बना दिया, जबकि बाह्य क्षेत्रों मे अधिनायकवादी राष्ट्र इसको सामरिक कार्यवाहियों से दुर्बल बना रहे थे।

4. मित्र राष्ट्रों की सन्तुष्टिकरण नीति :—अन्तर्राष्ट्रीय सामूहिक सुरक्षा की भावना को मित्र राष्ट्रों की सन्तुष्टिकरण नीति ने असफल बना दिया था। शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त, साम्यवाद के प्रसार के भय, सामरिक दुर्बलता, आपसी मतभेद तथा धुरी राष्ट्रों की नीति के सही अनुमान का अभाव आदि इस नीति के आधार थे। 1931 में जब जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण किया तो ब्रिटेन के विदेश-मन्त्री जॉन साइमन ने सबसे पहले इस नीति को अपनाया। 1935 में जब इथोपिया को इटली ने हड़प लिया तो फ्रांस ने मुसोलिनी-लवाल समझौते और ब्रिटेन ने होर-लवाल सन्धि द्वारा इटली का समर्थन किया। 18 जून 1935 में ब्रिटेन और जर्मनी ने पारस्परिक नौ सन्धि की। 1938 में 30 सितम्बर को हिटलर के साथ म्युनिख समझौता इस नीति का चरम शिखर था। इस नीति के कारण धुरी राष्ट्रों का लोभ बढ़ता गया। जर्मनी ने आस्ट्रिया, चैकोस्लोवाकिया व मेमेल को हड़प लिया और

डानजिग पर आक्रमण कर दिया । इटली ने अल्बेनिया पर अधिकार किया । जापान ने मचूरिया एवं पूर्वी चीन पर प्रभुत्व जमा लिया । इस प्रकार सन्तुष्टिकरण नीति भी युद्ध का एक कारण बनी ।

5. निःशस्त्रीकरण की असफलता :—पेरिस में एकत्रित प्रतिनिधियों ने निःशस्त्रीकरण को ही शांति स्थापित करने तथा युद्ध को रोकने का एक प्रधान उपाय माना था । वर्साय की सन्धि की धारा 159 से 213 के द्वारा जर्मनी तथा अन्य पराजित राष्ट्रों को निःशस्त्रीकरण का व्यावहारिक रूप दिया गया था । राष्ट्रसंघ का यह प्रथम कर्तव्य था कि सभी राष्ट्रो पर निःशस्त्रीकरण लागू करे । क्लीमेन्सो तथा लायड जार्ज दोनों नि.शस्त्रीकरण के पक्ष मे थे, परन्तु 1921 के वाशिंगटन सम्मेलन को छोड़कर सभी सम्मेलनों में निःशस्त्रीकरण पर केवल मात्र विचार-विमर्श, ही हुआ और कोई निर्णय न लिया जा सका । वाशिंगटन सम्मेलन में (1922) फ्रांस, जापान, इग्लैंड, अमेरिका तथा इटली की नौ शक्ति 15 वर्ष के लिये आनुपातिक ढंग से निश्चित कर दी गई । परन्तु मित्र राष्ट्रों ने अपने तोप खाने, हवाई जहाज अथवा सेना में जरा भी कमी नही की । हिटलर के उत्कर्ष का यह भी एक कारण था कि उसने निःशस्त्रीकरण में समता की मांग की, जो कि ठुकरा दी गयी । विवश होकर जर्मनी व जापान ने शस्त्रीकरण के मार्ग को अपना कर व राष्ट्रीय सम्मान की सुरक्षा को दृढ बनाकर युद्ध की तैयारी की ।

6 अल्पसंख्यकों की समस्या:—राष्ट्रपति विलसन द्वारा घोषित आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का प्रयोग पूर्ण रूप से पेरिस में नही किया गया । विशेषकर पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, रूमानिया, यूगोस्लाविया तथा फ्रास के आर्थिक एवं राजनीतिक स्वार्थों को ध्यान मे रखकर इसको आंशिक व्यावहारिक रूप दिया गया । इसके फलस्वरूप तीन करोड जनता अपनी-अपनी राज्य सीमा के बाहर हो गई, जिनमे प्रमुख पोल, जर्मन, इटेलियन, हगेरियन, बुल्गार, मकदूनियन, अल्बेनियन रूसी आदि थे । रूमानिया में 15 लाख अल्पसख्यक हगेरीवासी रहते थे । इसी प्रकार यूगोस्लाविया और चैकोस्लोवाकिया मे भी अल्पसंख्यक हगेरीवासी थे । बेसारेबिया में, जो कि 1919 से रूमानिया के अधिकार में था, अनेक रूसी थे । सबसे अधिक जर्मन अल्पसंख्यक नागरिक, जिनकी संख्या 35 लाख थी, चैकोस्लोवाकिया में थे । सक्षेप में, प्रत्येक देश के ये अल्पसख्यक नागरिक इस नवीन शासन के प्रति असन्तुष्ट थे तथा वे वापस मातृभूमि के साथ मिलना चाहते थे ।

शाति सम्मेलन में अल्पसंख्यको के हितों तथा सुरक्षा को गारण्टी देने के लिये मित्र राष्ट्रों ने सात पृथक राष्ट्रों—हंगेरी, पोलैण्ड, रूमानिया, यूनान, चैकोस्लोवाकिया, आस्ट्रिया व यूगोस्लाविया—से सन्धि की । अल्पसंख्यकों से संबधित इन सधियों को राष्ट्रसंघ क्रियान्वित न कर सका । जर्मन अल्पसंख्यकों की समस्या सबसे अधिक गभीर थी । समस्त जर्मन वासियों को एक वृहत् जर्मन निर्माण का नारा देकर तथा आत्म-

निर्णय के सिद्धान्त को मांग कर हिटलर ने सुडेटनलैंड पर अधिकार, आस्ट्रिया का विघटन तथा चैकोस्लोवाकिया का विभाजन किया। 1939 मे आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के आधार पर ही जर्मनी ने डानजिग पर आक्रमण किया, जिसके फलस्वरूप द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया।

7. आर्थिक तथा औपनिवेशिक स्पर्धा—प्रथम महा युद्ध की भाँति द्वितीय महा युद्ध का एक कारण प्रमुख राष्ट्रों के कच्चे माल, उपनिवेश तथा बाजारों पर अधिकार करने की स्पर्धा थी। औद्योगिक क्रांति के परिणाम से यूरोप के प्रमुख राष्ट्रों—ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम तथा नीदरलैंड ने समुद्र पर विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य उन्नीसवी सदी में ही स्थापित कर लिया था। इटली तथा जर्मनी राजनीतिक एकीकरण में व्यस्त रहे। फलस्वरूप वे साम्राज्य-विस्तार की दौड़ में पिछड़ गये। प्रथम युद्ध के पश्चात् इटली मे अधिक असन्तोष था, क्योकि उसे जर्मनी के उपनिवेशों तथा सम्पत्ति के बँटवारे में पर्याप्त भाग नही मिला था। जर्मनी में प्रतिहिंसा की भावना तीव्र हो गई, क्योकि उसका पूर्ण औपनिवेशिक साम्राज्य छीन लिया गया था। इन कारणों से जापान, जर्मनी तथा इटली ने 'साम्राज्य विहीन' राष्ट्रों का गुट बनाया। जनता की वृद्धि, उद्योगों के विकास तथा प्राकृतिक साधनों की कमी के कारण ये सभी राज्य उपनिवेशो के पुर्नविभाजन की मांग करने लगे। आर्थिक मन्दी के पश्चात् प्रत्येक देश ने ऊँची दर पर आयात कर लगाये। सकीर्ण राष्ट्रवाद के कारण प्रत्येक राज्य ने आत्म-निर्भर बनने का प्रयास किया, जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सीमित हो गया। इसी कारण साम्राज्यहीन गुट ने सामरिक शक्ति की सहायता से सीमा विस्तार किया। जापान ने मंचूरिया पर व इटली ने इथोपिया पर आक्रमण किया तथा जर्मनी ने आस्ट्रिया तथा चैकोस्लोवाकिया को हड़प लिया। वास्तव में अघोषित युद्ध का आरम्भ यही से हो गया था।

8. धुरी राष्ट्रों की आक्रमणात्मक नीति:—25 अक्टूबर 1936 को जर्मनी तथा इटली ने पारस्परिक मैत्री सन्धि की। स्पेन की रक्षा, डैन्यूब में आर्थिक सहयोग तथा साम्यवाद से यूरोप की रक्षा ही इसका उद्देश्य था। एक महीने पश्चात् जर्मनी तथा जापान ने भी पारस्परिक सहयोग तथा सौहार्द, विशेषत: रूस के विरोध में अपने हितों की रक्षा के उद्देश्य से एक सन्धि की। सन् 1937 मे एक वर्ष पश्चात् इटली भी पुन: इस गुट में सम्मिलित हो गया। इस प्रकार इन अधिनायकवादी राष्ट्रों ने एक सगठित रूप धारण कर लिया। शक्ति प्रयोग द्वारा सामूहिक सुरक्षा का अन्त कर यह गुट युद्ध छेड़ देना चाहता था। 22 मई, 1939 में हिटलर व मुसोलिनी ने स्टील समझौता किया।

धुरी राष्ट्रों ने युद्ध को अनावश्यक रूप से महत्व दिया तथा युद्ध की सस्था को प्राकृतिक एवं आवश्यक माना। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे हिटलर और मुसोलिनी ने राजनैतिक समस्याओं के शातिपूर्ण तरीकों मे हल को एकदम असम्भव सा बना दिया।

मुसोलिनी ने घोषणा की "युद्ध का संबंध पुरुषों से उसी प्रकार है, जिस प्रकार स्त्री का संबध मातृत्व से है।" इथोपिया पर आक्रमण करते समय उसने घोषणा की कि, "हमारी राज्य सीमा के बाहर हमारे लिये कोई चाहे जो कहे, हम स्वयं जानते है कि हमारे लिये सही और गल्त क्या है; हमारे लिये हम ही सर्वश्रेष्ठ निर्णायक हैं।" हिटलर ने कहा था, "किसी भी देश की शक्ति का मूल्यांकन सदैव उसके सैन्य बल से होता है और यदि वे निर्बल हुये तो जीवन रूपी पुस्तक से उनका पृष्ठ अलग हो जाता है।"

इस दंभ नीति के परिणामस्वरूप इटली, जर्मनी और जापान ने सैनिकीकरण पर अधिक बल दिया। 1939 मे जर्मनी अपने बजट का 31.3 प्रतिशत (1925 मे 0.8 प्रतिशत था), इटली 20 प्रतिशत (1925 मे 4 प्रतिशत था) तथा जापान 29.2 प्रतिशत (1925 में 3 प्रतिशत) सेना पर व्यय करने लगे। इसके अतिरिक्त रहने के लिये भूमि की मांग को लेकर हिटलर ने 1939 में चैकोस्लोवाकिया को एक संरक्षित राज्य घोषित कर दिया। इसके फलस्वरूप दक्षिण-पूर्वी यूरोप में हिटलर का 600 मील तक प्रभाव प्रसारित हुआ। साथ ही साथ लिथुआनिया को भय दिखाकर मेमेल (22 मार्च 1939) को शक्ति से अपने अधिकार में कर लिया। मुसोलिनी इथोपिया को हड़पने के पश्चात् एड्रियाटिक समुद्र को 'इटालियन झील' बनाना चाहता था। 1938 के आंग्ल-इटालियन समझौते को भंग करके 7 अप्रैल 1939 को उसने अल्बानिया पर अधिकार कर लिया। राष्ट्रसघ के प्रतिश्रव का उल्लंघन करके जापान ने प्रशान्त महासागर के आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत द्वीप समूहों का सैनिकीकरण कर लिया। इस प्रकार धुरी राष्ट्रों ने निजी-स्वार्थ के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को भंग करके आक्रमणकारी नीति को अपनाया। डर कर ब्रिटेन ने मई 1939 में शांतिकाल में प्रथम बार सैनिकीकरण की आज्ञा दी।

तात्कालिक कारण

1. रूसी-जर्मन अनाक्रमण संधि :—23 अगस्त 1939 को जर्मन विदेश-मन्त्री रिबेनट्रोप तथा रूसी विदेश मन्त्री मोलोटोव ने 10 वर्षीय अनाक्रमण सन्धि पर हस्ताक्षर किये। एक गुप्त समझौते द्वारा पूर्वी यूरोप की विभाजन रेखा अंकित कर रूसी व जर्मन प्रभाव क्षेत्र बनाया गया। यह सन्धि पश्चिमी राष्ट्रों को चुनौती देने के लिये की गई थी। हिटलर ने घोषणा की थी, "हमने स्टालिन से मित्रता का निश्चय इस कारण किया कि हम इतिहास में प्रथम बार एक ही सीमा पर युद्ध मे सम्मिलित होंगे।" इस सन्धि का महत्व इस कारण है कि 9 दिन पश्चात् युद्ध प्रारम्भ होने पर भी जर्मनी को पूर्वी सीमा पर हमले का भय न रहा और युद्ध निश्चित हो गया।

2. डानजिग पर जर्मन सेना का आक्रमण :—1934 में जर्मनी ने पोलैण्ड से 10 वर्ष की अनाक्रमण सन्धि की। जनवरी 1939 मे हिटलर ने दोनों राष्ट्रों की

मैत्री की प्रशंसा की थी, परन्तु ब्रिटेन ने सन्तुष्टिकरण नीति को समाप्त कर सामरिक तैयारियाँ प्रारंभ कर दी। चैकोस्लोवाकिया के विभाजन के पश्चात् हिटलर ने 24 अक्टूबर 1938 को पोलैण्ड से डानजिग नगर तथा एक किलोमीटर चौड़ी सड़क, जो पूर्वी प्रशा से पश्चिमी जर्मनी तक विस्तृत थी, की मांग की। पोलैण्ड ने रूस से सन् 1932 की अनाक्रमण सन्धि को दोहरा कर अल्पकाल के लिये जर्मनी की मांग को टाल दिया। परन्तु जर्मन दबाव एवं पोलैण्ड विरोधी प्रचार के कारण पोलैण्ड ने ब्रिटेन से सहायता मांगी। 31 मार्च 1939 को ब्रिटेन ने पोलैण्ड को यथाशक्ति सैनिक सहायता देने का वचन दिया। फ्रांस ने भी पोलैण्ड को इसी प्रकार का आश्वासन दिया। फलस्वरूप जर्मनी ने पोलैण्ड के साथ किये गये अनाक्रमण समझौते को ठुकरा दिया तथा पुनः डानजिग की मांग की। 25 अगस्त को ब्रिटेन व पोलैण्ड ने पारस्परिक सहायता सन्धि की।

3. रूस पर जर्मनी का आक्रमण :—27 सितम्बर को पोलैण्ड के आत्मसमर्पण के पश्चात् जर्मनी एवं रूस ने उसका विभाजन किया। पश्चिमी क्षेत्र जर्मनी को मिला व पूर्वी क्षेत्र, जिसमें यूक्रेन तथा वायलोरूसिया थे, पर रूस ने अधिकार किया। फ्रांस के आक्रमण के छः दिन बाद 16 जून 1940 को रूस ने बाल्टिक गणतन्त्रों लिथुआनिया, ऐस्थोनिया तथा लेटविया पर अधिकार कर लिया। इसी समय रूसी सेना ने रूमानिया से आगे बढ़कर बेसारेबिया तथा बुकोविना पर अधिकार कर लिया। दिसम्बर 1940 तक रूस का विस्तार फिनलैण्ड तक हो गया। हिटलर इस समय तक डेनमार्क, नार्वे, हालैंड, बेल्जियम, व लक्समबर्ग पर अधिकार करके फ्रास पर अधिकार जमा चुका था (जून 20, सन् 1940)। इन विजयों से प्रोत्साहित होकर तथा रूसी साम्राज्य विस्तार से विचलित होकर 22 जून 1941 को हिटलर ने रूस पर आक्रमण किया। इस आक्रमण से 1500 मील लम्बी रूसी-जर्मन सीमा पर युद्ध आरंभ हो गया।

4. पर्ल हार्बर पर जापानी सेना की कार्यवाही :—अमेरिकी-जर्मन तनाव पेरिस सम्मेलन से ही आरंभ हो गया था। चीन को शान्टूंग लौटाने की समस्या, अमेरिका की खुले द्वार की नीति, मचूरिया पर जापान का आक्रमण, मचूको को अमेरिका द्वारा मान्यता न देना, तटस्थता कानून तथा चीन पर जापानी आक्रमण आदि प्रश्न इस तनाव को बढाने मे सहायक सिद्ध हुए। एक ओर तो दूर प्राच्य में नवीन समाज को स्थापित करने की योजना जापान ने बनाई तो दूसरी ओर 22 सितम्बर सन् 1940 को हिन्द-चीन पर जापानी अधिकार होने से अमेरिका ने देश से लोहे तथा तेल के निर्यात पर प्रतिबंध लगा दिया। परिस्थितियों के वशीभूत होकर जापान ने 27 सितम्बर को जर्मनी तथा इटली से 10 वर्ष के लिये सामरिक सन्धि कर ली। इसके पश्चात् 25 जुलाई 1941 को अमेरिका में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने जापानी सम्पत्ति जब्त कर ली। जब जनरल तोजो 16 अक्टूबर 1940 को प्रधानमन्त्री बना तो उसने अमेरिका से वार्ता का विशेष प्रयत्न किया। जिस समय जापानी दूत कुरुसू अमेरिकी

प्रतिनिधियों से वार्ता कर रहा था तभी जापानी हवाई सेना ने पर्ल हार्बर पर बर्म वर्षा आरंभ कर दी (7 दिसम्बर 1941)। इस घटना के एक दिन पश्चात् जापान के विरुद्ध अमेरिका ने युद्ध घोषित कर दिया। उक्त घटना में 5 युद्ध जहाज, 3 विध्वंशक पोत तथा 177 हवाई जहाज नष्ट हो गये, 2638 सैनिक मारे गये तथा 1178 सैनिक घायल हुये थे।

युद्ध की घटनायें

युद्ध की घटनाओं को ठीक तरह से समझने के लिये इन्हें निम्न चरणों में बांटा गया है। यह भी हमें ध्यान रखना होगा कि 1941 के पश्चात् युद्ध के साथ शान्ति प्रयत्न भी चलते रहे जिनका अंतिम परिणाम था संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म। यहां हम युद्ध के विभिन्न चरणों व शांति प्रयत्नों पर पृथक-पृथक रूप से विचार करेंगे।

प्रथम चरण

(1 सितम्बर 1939 से 22 जून 1941 तक)

नाजी-सोवियत आक्रमण

1 सितम्बर को जर्मनी की विशाल सेना, जिसमें 1500 वायुयान, 3,000 से भी अधिक टैंक और 73 डिवीजन फौज थी, ने बिना युद्ध की घोषणा किये पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। 2 दिन पश्चात्, ब्रिटेन और फ्रांस ने पोलैण्ड का पक्ष लेकर जर्मनी के विरुद्ध आक्रमण की घोषणा की। किन्तु दोनों में से कोई भी सहायता नहीं पहुँचा सका। हिटलर की युद्ध-प्रणाली इस प्रकार थी कि उसने संडासी चाल-विद्युत गति से वायुयानों द्वारा बमबारी व उसके बाद टैंकों और पैदल सैनिकों द्वारा आक्रमण का प्रयोग किया। पोलैण्ड किसी प्रकार भी अपनी रक्षा न कर सका और 12 दिन में वारसा का पतन हो गया। उधर रूस ने 17 सितम्बर को पूर्व की ओर से आक्रमण किया। फलतः 28 सितम्बर तक पोलैण्ड का पतन हो गया। इसके बाद रूसी-जर्मन-मैत्री समझौता हुआ जिसके अनुसार: (1) कर्जन रेखा पर पोलैण्ड का विभाजन कर दिया गया, पूर्वी भाग रूस को मिला जिसका क्षेत्र 77,000 वर्ग मील व जनसंख्या 1 करोड़ 30 लाख थी और (2) जर्मनी को 73,000 वर्ग मील भूमि, जिस पर 2 करोड़ 20 लाख जनसख्या थी, मिली। इस प्रकार जर्मनी को पूर्व में फिर पोलैण्ड का वह भाग प्राप्त हो गया, जो उसे 1914 के पहले प्राप्त था।

रूस ने एस्थोनिया, लैटविया और लिथुआनिया के नौ और हवाई अड्डों पर अधिकार कर लिया। फिर फिनलैण्ड से हांगो का बन्दरगाह राइबा और करेलिया के जलडमरु की मांग की। उसके अस्वीकार करने पर, उस पर 30 नवम्बर 1939 को आक्रमण कर दिया। फिनलैण्ड के भरसक रक्षा प्रयत्नों और रूस के राष्ट्रसंघ से बहिष्कृत किये जाने के बावजूद रूस ने 12 मार्च 1940 को उस पर विजय प्राप्त कर

ली । 27 जून को रूस ने रूमानिया के बेसारेबिया और गुफोविना पर अधिकार कर लिया जो कि उससे 22 वर्ष पूर्व छीना गया था । इस प्रकार रूस ने केवल साम्राज्य विस्तार ही नही किया वरन् अपनी सामरिक शक्ति को भी बढ़ा लिया ।

पश्चिमी यूरोप की विजय

1940 की वसंत ऋतु में जर्मनी ने उत्तरी और पश्चिमी यूरोप पर आक्रमण प्रारम्भ किया । 9 अप्रैल को हिटलर ने डेनमार्क से अण्डे, मक्खन और सूअर का मांस प्राप्त करने के लिये व नोर्वे के बन्दरगाह को पनडुब्बियों का अड्डा बनाने के लिये, उस पर आक्रमण कर दिया । नार्वे का राजा इंग्लैण्ड चला गया और दोनों देशों ने आत्मसमर्पण कर दिया । 10 मई को हिटलर ने वेल्जियम और नीदरलैण्ड पर वायुयानों और थल सेना का संयुक्त आक्रमण कर दिया । चार दिन मे दोनों देशों को हिटलर ने अपने अधिकार में ले लिया । इन विजयों से चैम्बरलेन ने 10 मई को पद त्याग कर दिया और उनके स्थान पर विनस्टन चर्चिल मिली-जुली सरकार के प्रधानमंत्री बने । बड़े साहस के साथ उन्होंने घोषणा की, "यदि हम बीते हुए कल के विषय में झगड़ा करेंगे, तो आने वाले कल की विजय को खो देंगे ।"

जर्मन नौ सेना ने भी बड़ी सफलतापूर्वक कार्य किया । उसने ब्रिटेन के विमान-वाही जहाज करेजस व युद्धपोत रायल ओक और यात्रीवाहक जहाज ऐथीनिया को डुबो दिया । लक्समबर्ग पर अधिकार कर हिटलर ने फ्रांस पर आक्रमण प्रारंभ कर दिया । फ्रांसीसी बन्दरगाह डन्कर्क में स्थिति इतनी गंभीर हो गई कि बड़ी कठिनाई से 4 जून तक ब्रिटेन वहां से 3 लाख, 37 हजार सेना हटा पाया । 5 जून से जर्मनी ने फ्रांस पर जोरों से आक्रमण प्रारंभ कर दिया । इटली ने भी 10 जून को उसके विरुद्ध आक्रमण आरंभ कर एक नया मोर्चा खोल दिया । जर्मन सेना तीन ओर से राजधानी पेरिस की ओर बढ़ने लगी और इसी कारण चार दिन पश्चात् उसका पतन हो गया । फलस्वरूप रैनोड के स्थान पर मार्शल पैंता फ्रांस ने नये प्रधानमंत्री बने । 22 जून को फ्रांस ने आत्मसमर्पण किया और उसी रेल के डिब्बे में फ्रांस ने हस्ताक्षर किये, जिसमें जर्मनी ने प्रथम महायुद्ध के बाद किये थे । जर्मनी को आधा फ्रांस, उसकी समस्त युद्ध सामग्री, वायुयान और युद्ध व व्यापारिक पोत मिले । इन पर अधिकार करने का खर्चा भी उसने फ्रांस से वसूल किया । जनरल डी गाल ने लदन पलायन कर, वहां अस्थायी फ्रांसीसी सरकार की स्थापना की । चर्चिल ने ओरान स्थित फ्रांसीसी जहाजी बेड़े को डुबो दिया ताकि वह जर्मनी के हाथ में नही चला जाये ।

ब्रिटेन का युद्ध

ब्रिटेन का युद्ध सितम्बर 1940 से 1941 के अंत तक चलता रहा परन्तु हिटलर की ब्रिटेन-विजय की योजना निम्न कारणों से असफल रही । ये जर्मनी की

जर्मनी के रूसी आक्रमण का तात्कालिक प्रभाव निम्न था : (1) रूस ने जनवादी आक्रमण आरम्भ किया और सभी प्रकार के बलिदानों के लिए वह तत्पर हो गया ; (2) चर्चिल ने यह घोषणा की, "यद्यपि हम साम्यवाद से सहमत नहीं हैं, 'नाजी-विरोधी' किसी भी राष्ट्र, को पूर्ण सहायता देंगे।" इस घोषणा ने ब्रिटिश-रूसी समझौते के मार्ग को प्रशस्त किया। 13 जुलाई 1941 को सन्धि हुई और ब्रिटेन आर्कएंगिल और ईरान के द्वारा सेना व अन्य सामग्री भेजने लगा ; (3) अमेरिका ने भी 29 सितम्बर 1941 से उधार व पट्टा कानून के अन्तर्गत सहायता देना आरम्भ किया, (4) रूसी आक्रमण का एक अन्य प्रभाव मुसोलिनी का हिटलर से असन्तुष्ट होना था क्योंकि अब इटली को पर्याप्त सैन्य सामग्री प्राप्त नहीं हो रही थी और दूसरी ओर उससे आशा की जा रही थी कि वह ब्रिटेन को उलझाये रखे ; (5) 1941 के अंत तक रूस ने पुनः 1 लाख वर्ग मील पर अधिकार कर लिया। बैशिस्ट ने सुझाव दिया कि रूसी क्षेत्र खाली कर दिया जाय। हिटलर इससे नाराज हो गया, उसे उसने सेनापति पद से हटा दिया और स्वयं मुख्य सेनापति का पद संभाल लिया ; (6) अमेरिका ने तटस्थ नीति को त्याग कर रूजवेल्ट के नेतृत्व में शान्ति काल में प्रथम अनिवार्य

ली। 27 जून को रूस ने रूमानिया के बेसारेबिया और बुकोविना पर अधिकार कर लिया जो कि उससे 22 वर्ष पूर्व छीना गया था। इस प्रकार रूस ने केवल साम्राज्य विस्तार ही नहीं किया वरन् अपनी सामरिक शक्ति को भी बढ़ा लिया।

पश्चिमी यूरोप की विजय

1940 की वसंत ऋतु में जर्मनी ने उत्तरी और पश्चिमी यूरोप पर आक्रमण प्रारम्भ किया। 9 अप्रैल को हिटलर ने डेनमार्क से अण्डे, मक्खन और सूअर का मांस प्राप्त करने के लिये व नोर्वे के बन्दरगाह को पनडुब्बियो का अड्डा बनाने के लिये, उस पर आक्रमण कर दिया। नार्वे का राजा इंग्लैण्ड चला गया और दोनों देशों ने आत्मसमर्पण कर दिया। 10 मई को हिटलर ने बेल्जियम और नीदरलैण्ड पर वायुयानों और थल सेना का संयुक्त आक्रमण कर दिया। चार दिन में दोनों देशों को हिटलर ने अपने अधिकार में ले लिया। इन विजयों से चैम्बरलेन ने 10 मई को पद त्याग कर दिया और उनके स्थान पर विनस्टन चर्चिल मिली-जुली सरकार के प्रधानमंत्री बने। बड़े साहस के साथ उन्होने घोषणा की, "यदि हम बीते हुए कल के विषय में झगड़ा करेंगे, तो आने वाले कल की विजय को खो देंगे।"

जर्मन नौ सेना ने भी बड़ी सफलतापूर्वक कार्य किया। उसने ब्रिटेन के विमान-वाही जहाज करेजस व युद्धपोत रायल ओक और यात्रीवाहक जहाज ऐथीनिया को डुबो दिया। लक्समबर्ग पर अधिकार कर हिटलर ने फ्रांस पर आक्रमण प्रारंभ कर दिया। फ्रांसीसी बन्दरगाह डन्कर्क में स्थिति इतनी गंभीर हो गई कि बड़ी कठिनाई से 4 जून तक ब्रिटेन वहा से 3 लाख, 37 हजार सेना हटा पाया। 5 जून से जर्मनी ने फ्रास पर जोरों से आक्रमण प्रारंभ कर दिया। इटली ने भी 10 जून को उसके विरुद्ध आक्रमण आरंभ कर एक नया मोर्चा खोल दिया। जर्मन सेना तीन ओर से राजधानी पेरिस की ओर बढ़ने लगी और इसी कारण चार दिन पश्चात् उसका पतन हो गया। फलस्वरूप रैनोड के स्थान पर मार्शल पैंता फ्रास ने नये प्रधानमंत्री बने। 22 जून को फ्रांस ने आत्मसमर्पण किया और उसी रेल के डिब्बे मे फ्रांस ने हस्ताक्षर किये, जिसमें जर्मनी ने प्रथम महायुद्ध के बाद किये थे। जर्मनी को आधा फ्रांस, उसकी समस्त युद्ध सामग्री, वायुयान और युद्ध व व्यापारिक पोत मिले। इन पर अधिकार करने का खर्चा भी उसने फ्रांस से वसूल किया। जनरल डी गाल ने लंदन पलायन कर, वहाँ अस्थायी फ्रांसीसी सरकार की स्थापना की। चर्चिल ने ओरान स्थित फ्रासीसी जहाजी बेड़े को डुबो दिया ताकि वह जर्मनी के हाथ में नहीं चला जाये।

ब्रिटेन का युद्ध

ब्रिटेन का युद्ध सितम्बर 1940 से 1941 के अंत तक चलता रहा परन्तु हिटलर की ब्रिटेन-विजय की योजना निम्न कारणों से असफल रही। ये जर्मनी की

प्रतिनिधियों से वार्ता कर रहा था तभी जापानी हवाई सेना ने पर्ल हार्बर पर बमं वर्षा आरंभ कर दी (7 दिसम्बर 1941)। इस घटना के एक दिन पश्चात् जापान के विरुद्ध अमेरिका ने युद्ध घोषित कर दिया। उक्त घटना में 5 युद्ध जहाज, 3 विध्वंशक पोत तथा 177 हवाई जहाज नष्ट हो गये, 2638 सैनिक मारे गये तथा 1178 सैनिक घायल हुये थे।

युद्ध की घटनायें

युद्ध की घटनाओं को ठीक तरह से समझने के लिये इन्हें निम्न चरणों मे बांटा गया है। यह भी हमे ध्यान रखना होगा कि 1941 के पश्चात् युद्ध के साथ शान्ति प्रयत्न भी चलते रहे जिनका अतिम परिणाम था संयुक्त राष्ट्रसघ का जन्म। यहां हम युद्ध के विभिन्न चरणों व शांति प्रयत्नो पर पृथक-पृथक रूप से विचार करेंगे।

प्रथम चरण

(1 सितम्बर 1939 से 22 जून 1941 तक)

नाजी-सोवियत आक्रमण

1 सितम्बर को जर्मनी की विशाल सेना, जिसमें 1500 वायुयान, 3,000 से भी अधिक टैंक और 73 डिवीजन फौज थी, ने बिना युद्ध की घोषणा किये पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। 2 दिन पश्चात्, ब्रिटेन और फ्रास ने पोलैण्ड का पक्ष लेकर जर्मनी के विरुद्ध आक्रमण की घोषणा की। किन्तु दोनो में से कोई भी सहायता नही पहुँचा सका। हिटलर की युद्ध-प्रणाली इस प्रकार थी कि उसने संडासी चाल-विद्युत गति से वायुयानो द्वारा बमबारी व उसके बाद टैंको और पैदल सैनिको द्वारा आक्रमण का प्रयोग किया। पोलैण्ड किसी प्रकार भी अपनी रक्षा न कर सका और 12 दिन मे वारसा का पतन हो गया। उधर रूस ने 17 सितम्बर को पूर्व की ओर से आक्रमण किया। फलतः 28 सितम्बर तक पोलैण्ड का पतन हो गया। इसके बाद रूसी-जर्मन-मैत्री समझौता हुआ जिसके अनुसार: (1) कर्जन रेखा पर पोलैण्ड का विभाजन कर दिया गया, पूर्वी भाग रूस को मिला जिसका क्षेत्र 77,000 वर्ग मील व जनसंख्या 1 करोड़ 30 लाख थी और (2) जर्मनी को 73,000 वर्ग मील भूमि, जिस पर 2 करोड़ 20 लाख जनसख्या थी, मिली। इस प्रकार जर्मनी को पूर्व में फिर पोलैण्ड का वह भाग प्राप्त हो गया, जो उसे 1914 के पहले प्राप्त था।

रूस ने एस्थोनिया, लैटविया और लिथुआनिया के नौ और हवाई अड्डों पर अधिकार कर लिया। फिर फिनलैण्ड से हांगो का बन्दरगाह राइवा और करेलिया के जलडमरू की मांग की। उसके अस्वीकार करने पर, उस पर 30 नवम्बर 1939 को आक्रमण कर दिया। फिनलैण्ड के भरसक रक्षा प्रयत्नों और रूस के राष्ट्रसघ से बहिष्कृत किये जाने के बावजूद रूस ने 12 मार्च 1940 को उस पर विजय प्राप्त कर

ली। 27 जून को रूस ने रूमानिया के वेसारेबिया और गुफोविना पर अधिकार कर लिया जो कि उससे 22 वर्ष पूर्व छीना गया था। इस प्रकार रूस ने केवल साम्राज्य विस्तार ही नहीं किया वरन् अपनी सामरिक शक्ति को भी बढ़ा लिया।

पश्चिमी यूरोप की विजय

1940 की वसंत ऋतु में जर्मनी ने उत्तरी और पश्चिमी यूरोप पर आक्रमण प्रारम्भ किया। 9 अप्रैल को हिटलर ने डेनमार्क से अण्डे, मक्खन और सूअर का मांस प्राप्त करने के लिये व नोर्वे के बन्दरगाह को पनडुब्बियों का अड्डा बनाने के लिये, उस पर आक्रमण कर दिया। नार्वे का राजा इग्लैण्ड चला गया और दोनों देशों ने आत्मसमर्पण कर दिया। 19 मई को हिटलर ने बेल्जियम और नीदरलैण्ड पर वायुयानों और थल सेना का संयुक्त आक्रमण कर दिया। चार दिन में दोनों देशों को हिटलर ने अपने अधिकार मे ले लिया। इन विजयों से चैम्बरलेन ने 10 मई को पद त्याग कर दिया और उनके स्थान पर विनस्टन चर्चिल मिली-जुली सरकार के प्रधानमंत्री बने। बड़े साहस के साथ उन्होने घोषणा की, "यदि हम बीते हुए कल के विषय मे झगड़ा करेंगे, तो आने वाले कल की विजय को खो देंगे।"

जर्मन नौ सेना ने भी बड़ी सफलतापूर्वक कार्य किया। उसने ब्रिटेन के विमान-वाही जहाज करेजस व युद्धपोत रायल ओक और यात्रीवाहक जहाज ऐथीनिया को डुबो दिया। लक्समबर्ग पर अधिकार कर हिटलर ने फ्रांस पर आक्रमण प्रारभ कर दिया। फ्रांसीसी बन्दरगाह डन्कर्क में स्थिति इतनी गंभीर हो गई कि बड़ी कठिनाई से 4 जून तक ब्रिटेन वहां से 3 लाख, 37 हजार सेना हटा पाया। 5 जून से जर्मनी ने फ्रांस पर जोरो से आक्रमण प्रारंभ कर दिया। इटली ने भी 10 जून को उसके विरुद्ध आक्रमण आरंभ कर एक नया मोर्चा खोल दिया। जर्मन सेना तीन ओर से राजधानी पेरिस की ओर बढ़ने लगी और इसी कारण चार दिन पश्चात् उसका पतन हो गया। फलस्वरूप रैनोड के स्थान पर मार्शल पैता फ्रांस ने नये प्रधानमंत्री बने। 22 जून को फ्रांस ने आत्मसमर्पण किया और उसी रेल के डिब्बे में फ्रांस ने हस्ताक्षर किये, जिसमे जर्मनी ने प्रथम महायुद्ध के बाद किये थे। जर्मनी को आधा फ्रांस, उसकी समस्त युद्ध सामग्री, वायुयान और युद्ध व व्यापारिक पोत मिले। इन पर अधिकार करने का खर्चा भी उसने फ्रांस से वसूल किया। जनरल डी गाल ने लंदन पलायन कर, वहाँ अस्थायी फ्रांसीसी सरकार की स्थापना की। चर्चिल ने ओरान स्थित फ्रांसीसी जहाजी बेड़े को डुबो दिया ताकि वह जर्मनी के हाथ में नही चला जाये।

ब्रिटेन का युद्ध

ब्रिटेन का युद्ध सितम्बर 1940 से 1941 के अत तक चलता रहा परन्तु हिटलर की ब्रिटेन-विजय की योजना निम्न कारणों से असफल रही। ये जर्मनी की

दुर्बल नौ शक्ति, ब्रिटिश समुद्री तट पर सुरंग, मौसम की खराबी, जर्मन गुप्तचरों का ब्रिटिश सामरिक शक्ति का ठीक-ठीक पता न लगा सकना, चर्चिल का योग्य नेतृत्व व उसके शासन काल में जनता में धैर्य व नैतिक बल थे। सितम्बर से नवम्बर 1940 तक जर्मनी के औसत 200 बमवर्षक विमानों ने प्रतिदिन सैकड़ों बम गिराये, जिनकी कुल संख्या लगभग 2 लाख थी। इसमें 43,000 व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हुए व अकेले लंदन में 10 लाख मकान गिर गये। अकेले एक दिन में, 15 सितम्बर को ब्रिटेन की वायु सेना ने जर्मनी के 56 विमानों को गिरा दिया। हिटलर विजय के विशेष इच्छुक न थे और ब्रिटेन के सक्रिय विरोध के कारण, युद्ध की गति धीमी हो गई।

इटली ने 24 जून 1940 को फ्रांस के साथ विराम संधि में ट्यूनिसिया, नाइस, अल्जीरिया, सैवाय व फ्रेन्च सोमालीलैण्ड पर अधिकार कर लिया। इटली ने ब्रिटिश सोमालीलैण्ड और केन्या पर आक्रमण कर दिया। 1941 तक ब्रिटिश सेना ने इरीट्रिया, इटालियन सोमालीलैण्ड और इथोपिया पर अधिकार करके पूर्वी अफ्रिका में इटली की सेना को पूर्ण रूप से पराजित कर दिया। विवश होकर इटली ने लीबिया से मिश्र पर आक्रमण कर दिया; परन्तु इटली की 1,30,000 सेना पर ब्रिटिश जनरल वेवल ने अधिकार कर लिया। इस समय ईराक, ईरान, सीरिया और लेबनान मे जो नाजी गुप्तचरों का प्रभाव था, उसे ब्रिटेन ने समाप्त कर दिया। इटली के 10 जहाजो मे से 3 को ब्रिटेन ने भूमध्य सागर में डूबो दिया व अन्य तीन को हानि पहुचाई।

हिटलर धीरे धीरे बल्कान की ओर बढ़ने लगा। बल्गेरिया को, मकदूनिया और दोबरूजा का प्रलोभन देकर, उसे, उसने अपने पक्ष में कर लिया। हिटलर ने यूनान पर आक्रमण करने के लिये युगोस्लाविया से मार्ग माँगा, परन्तु उसने प्रिंस पाल के स्थान पर प्रिंस पीटर को युवराज बनाकर, विरोध किया। 17 अप्रैल 1941 को दो सप्ताह में जर्मनी ने युगोस्लाविया के दाँत खट्टे कर उसे विजय कर लिया। इस प्रकार पहले चरण में हिटलर को हर दिशा में विजय ही विजय मिली।

द्वितीय चरण

(22 जून से 7 दिसम्बर 1941 तक)

नाजी-सोवियत विच्छेद

मेरा संघर्ष (मैन-कैम्पफ्) में हिटलर ने पूर्वी प्रशा को जर्मनी के साथ विलय करने का अनेक बार उल्लेख किया था। जैसा कि प्रथम चरण में व्यक्त किया गया है, उसने अपनी विजयों से प्रोत्साहित होकर पूर्वी प्रशा स्थित जर्मनवासियों को मूल जर्मनी से मिलाने के लिये, रूस पर आक्रमण की योजना सितम्बर 1940 में बनाई। किन्तु सेनाध्यक्षों के सुझाव के कारण उसने इस कार्यक्रम को कुछ समय के लिये स्थगित कर दिया। रूस पर हिटलर के आक्रमण का एक अन्तर्निहित कारण पूर्वी

प्रश्न को प्राप्त करना था। दूसरा कारण था, रूस का साम्राज्यवाद जिसने पहले ही एस्थोनिया, लैटविया, लिथुआनिया, फिनलैण्ड, विसरेबिया, बेकोनिका व पोलैण्ड के अंग पर अधिकार कर लिया था। उसके पास इस प्रकार 2,81,000 वर्ग मील भूमि व ढाई करोड़ जनसंख्या का क्षेत्र आ गया था। हिटलर को यह भी ज्ञात हुआ कि रूस का तीव्र गति से सैनिकीकरण जारी है। तीसरे, बल्कान प्रदेशों को लेकर, जर्मनी व रूस में मतभेद हो गया। रूस का कहना था कि हिटलर ने 30 अगस्त 1940 के वियना समझौते को भंग कर दिया है: उसने रूमानिया से क्रमशः ट्रांससिलवानिया व दोबरूजा, हंगेरी और बुल्गेरिया को दिया व इस तेल समृद्ध रूमानिया को अपने संरक्षण में ले लिया। रूस का कहना था कि इस प्रकार हिटलर ने अगस्त 1939 के नाजी-सोवियत समझौते के विरुद्ध जाकर उसी प्रभाव क्षेत्र में हस्तक्षेप किया है। चौथे, बोईरिंग की उत्पादन की चार वर्षीय योजना असफल हो रही थी। हिटलर को कच्चे माल की आवश्यकता थी और वह उसे रूस से पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त हो सकता था। रूस से आवश्यक साधन प्राप्त कर वह इंग्लैण्ड विजय के स्वप्न भी देख रहा था। पाँचवें युगोस्लाविया के आंतरिक झगड़ों को लेकर भी हिटलर व रूस में मतभेद हो गया। हिटलर-यूनान विजय के लिये यूगोस्लाविया से मार्ग चाहता था,जहाँ दो दल-प्रिंस पॉल व पीटर के थे। पॉल, जो कि हिटलर को मार्ग देने के पक्ष मे था, पीटर के द्वारा बाहर निकाल दिया गया। हिटलर ने यह समझा कि सबके पीछे रूस का हाथ है और यह भी उसके क्रुद्ध होने का एक कारण था। छठा कारण था हिटलर की त्रिराष्ट्रीय सन्धि व कूटनीतिक व्यवस्था, जिसमें रूस ने हिटलर की चाल देखी। इस त्रिराष्ट्रीय सन्धि में रूस की उपेक्षा कर, इटली व जापान के साथ हिटलर ने 27 सितम्बर 1940 को सन्धि की ताकि जापान, ब्रिटेन व अमेरिका को सुदूर पूर्व में उलझाये रखे व अपनी विस्तारवादी नीति जारी रख सके। हिटलर को यूरोप मे नई व्यवस्था करने, जिसमे आर्थिक, राजनीतिक व सामरिक पहलू शामिल थे, की छूट दी गई। रूस से रिबेनट्रोप ने यह कहा कि यह सन्धि केवल अमेरिका के विरोध मे की गई है और यदि अमेरिका लड़ेगा तो उसे एक के बजाय तीन (जापान, इटली व जर्मनी) के विरुद्ध लड़ना होगा। सातवें रूस-जर्मन कटुता का कारण था बिना रूसी अनुमोदन अथवा समझौते के हिटलर का, रूसी प्रभाव क्षेत्र फिनलैण्ड के तीन बन्दरगाहो द्वारा, अपनी सेना को नार्वे में भेजना।

रूसी मांगें

विभिन्न प्रकार की कटुता और मतभेदों को दूर करने के लिये रिबेनट्रोप ने रूसी विदेश-मंत्री मोलोटोव को वार्ता के लिये बर्लिन आमंत्रित किया। वे 12-13 नवम्बर 1940 की वार्ता के लिये वहां पहुंचे। मोलोटोव ने बुल्गेरिया, रूमानिया व फिनलैण्ड के भविष्य के विषय मे स्पष्टीकरण मांगा। रूमानिया के साथ सुरक्षा सन्धि का कारण, अन्य मांग थी। यह बताया गया कि रूमानिया ने सुरक्षा की मांग

की है और इसलिये उसके साथ सन्धि की गई है। अन्य तथ्यों का स्पष्टीकरण न देकर हिटलर ने कहा, "आज तक मेरी उपस्थिति में इस प्रकार से प्रश्न पूछने का किसी भी विदेशी ने साहस नहीं किया है।" रिबेनट्रोप ने यह भी कहा कि इंग्लैंड लगभग हार चुका है और उस पर विजय अब कुछ ही दिनों में निश्चित है। उस समय भी जर्मनी पर बमबारी (इंग्लैंड द्वारा) चालू थी और ये लोग तहखाने में बैठे बातें कर रहे थे। मोलोटोव ने व्यंग्य में कहा, "यदि इंग्लैंड हार चुका है तो यह बमों की आवाज कहाँ से आ रही है और क्या जर्मनी जीवन की और इंग्लैंड मृत्यु की लड़ाई लड़ रहा है।"

26 नवम्बर को मोलोटोव ने चार राष्ट्रीय सन्धि के लिये निम्न शर्तें रखी। (1) जर्मनी फिनलैण्ड से अपनी सेना हटाये। (2) रूस व बुल्गेरिया में सन्धि हो जिसमें उसे बुल्गेरिया व डार्डेनिलिस जलडमरू में सैनिक अड्डे का अधिकार मिले। (3) पर्शिया की खाड़ी, जहा बाटू व बाटूम के तेलकूप हैं, रूसी प्रभाव क्षेत्र घोषित किया जाये। (4) जापान से उत्तरी साखालिन, रूस को दिलवाया जाए ताकि उसे वहां का कोयला और तेल मिल सके। रूस की इन शर्तों में जर्मनी को रूस पर आक्रमण का बहाना मिल गया।

हिटलर ने अपने उच्च सेना पदाधिकारियों से कहा, "स्टालिन चतुर और चालाक है; वह अधिक, और, और अधिक मांगता है; वह निरंकुश धौंसिया है। जर्मनी की विजय रूस के लिये असहनीय हो गई है, इसलिये शीघ्र से शीघ्र उसे घुटने टेकने के लिए मजबूर करना चाहिये।" अतः 18 दिसम्बर 1940 को हिटलर ने उस पर आक्रमण की योजना बनाई जो 'बाखरोसा काण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है। 15 मई 1941, आक्रमण की तिथि निश्चित की गई और सेनाध्यक्षों ने हिटलर को आश्वासन दिया कि छः महीने में रूस की विजय समाप्त हो जाएगी। इसी बीच इटली ने यूनान पर आक्रमण कर दिया किन्तु वह उसे संभाल नही पाया। अतः हिटलर को हस्तक्षेप करना पड़ा उसने युगोस्लाविया को विजय कर यूनान पर आक्रमण किया और उसे तीन सप्ताह में विजय कर लिया। इस सब कार्यवाही में समय लग गया और अब हिटलर ने रूस पर आक्रमण करने की तिथि खिसका कर 22 जून 1941 कर दी। मास्को स्थित ब्रिटिश राजदूत क्रिप्स को यह तिथि अप्रैल के अंत में ही ज्ञात हो चुकी थी।

मास्को स्थित जर्मन राजदूत स्कूलेनबर्ग ने 21 जून को मोलोटोव को एक पत्र पढ़कर सुनाया जिसमें रूस के विरुद्ध निम्न दोषारोपण संकलित थे : (1) रूस आतंकवादी, जासूस और षडयंत्रकारी है, वह रूमानियां और बुल्गेरिया स्थित जर्मन सेना के विरुद्ध ब्रिटेन से गुप्त वार्ता कर रहा है ब्रिटिश राजदूत क्रिप्स से इंग्लेण्ड और रूस के बीच और अधिक राजनीतिक व सामरिक सहयोग की वार्ता चला रहा है; (2) उसने जर्मन विरोधी वैदेशिक नीति को अपना कर जर्मन प्रतिष्ठा को धक्का

पहुंचाया है व (3) जर्मन सीमा पर भारी फौज संकलित कर ली है। जर्मनी के पत्र में रूस के विरुद्ध दोषारोपण व आक्रमण की धमकी थी। इसे सुनकर मोलोटोव ने केवल इतना कहा, "युद्ध। क्या हमारी इतने दिनों की मित्रता का यही परिणाम है।" 10 मई को हिटलर ने रुडोल्फ हैस को छतरी द्वारा ग्लासगो (स्काटलैण्ड) में, ब्रिटेन से 'वार्ता द्वारा शान्ति' के लिये, उतारा। किन्तु यह असफल प्रयत्न रहा और हैस कैद कर लिया गया। इस घटना के बाद ही जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया।

रूस पर नाजी आक्रमण

22 जून को युद्ध की घोषणा किए बिना ही जर्मनी ने ब्राउशिस्ट के नेतृत्व में 180 डिवीजन सहित (जिसमें फिनलैण्ड और रूमानिया के क्रमशः 10 व 20 डिवीजन थे) रूस (जिसके पास भी 180 डिवीजन सेना थी) पर आक्रमण कर दिया। हिटलर ने कहा कि जर्मन सेना का रूस पर पदाक्रमण का विस्तार इतिहास में अभूतपूर्व है। अब स्थिति यह थी कि 1800 मील लम्बा सीमा क्षेत्र हिटलर के लिये खुला था और वह टैंको व वायुयानों से आक्रमण कर रहा था। उसने भूल कर भी कल्पना नहीं की होगी कि यही आक्रमण उसके लिये सबसे अधिक भंयकर सिद्ध होगा और युद्ध का निर्णायक मोड होगा।

जनरल मोनलीव ने उत्तर की ओर से आक्रमण किया और लेनिनग्राड तक पहुंच गया। आक्रमण द्वारा विजय करने मे वह असफल रहा। अतः उसने घेरा डाल दिया जो 27 महीने तक चलता रहा। भौन-बोक के नेतृत्व मे केन्द्रीय सेना ने आक्रमण किया जो 1 दिसम्बर को स्मालन्स्क तक पहुंच गई और मास्को से 14 मील दूर रह गई। दक्षिण में वौन रून्सड्ट यूक्रेन की ओर बढ़े और रूसी सेनापति बुदेनीकी 6 लाख सेना को घेरे में डाल दिया और तीन महीने बाद उसने आत्मसमर्पण कर दिया। खारकोव, ओड़ेसा और रौसटोव पर भी अधिकार हो गया। इस प्रकार पहले चार महीने में जर्मनी ने 5 लाख 80 हजार वर्ग मील पर अधिकार कर लिया और रूस की इतनी हानि हुई कि उसकी आधी कोयला खानें व इस्पात कारखाने, उपजाऊ भूमि, 7000 टैंक, 5300 विमान आदि जर्मनी के हाथ में चले गये।

जर्मनी का रूसी भूमि पर अधिकार—

पहले	महीने में—	1,75,000	वर्ग	मील
दूसरे	,, ,,	1,25,000	,,	,,
तीसरे	,, ,,	65,000	,,	,,
चौथे	,, ,,	80,000	,,	,,
पाचवें	,, ,,	50,000	,,	,,

हिटलर ने इन लाभों से उल्लसित होकर घोषणा की, "रूस अब कभी न उठ पाने के लिये हमेशा को हार चुका है।"

जर्मनी के रूसी आक्रमण का तात्कालिक प्रभाव निम्न था : (1) रूस ने जन वादी आक्रमण आरम्भ किया और सभी प्रकार के बलिदानों के लिए वह तत्पर हो गया ; (2) चर्चिल ने यह घोषणा की, "यद्यपि हम साम्यवाद से सहमत नहीं हैं, 'नाजी-विरोधी' किसी भी राष्ट्र, को पूर्ण सहायता देंगे ।" इस घोषणा ने ब्रिटिश-रूसी समझौते के मार्ग को प्रशस्त किया। 13 जुलाई 1941 को सन्धि हुई और ब्रिटेन आर्च एंगिल और ईरान के द्वारा सेना व अन्य सामग्री भेजने लगा ; (3) अमेरिका ने भी 29 सितम्बर 1941 से उधार व पट्टा कानून के अन्तर्गत सहायता देना आरम्भ किया, (4) रूसी आक्रमण का एक अन्य प्रभाव मुसोलिनी का हिटलर से असन्तुष्ट होना था क्योंकि अब इटली को पर्याप्त सैन्य सामग्री प्राप्त नहीं हो रही थी और दूसरी ओर उससे आशा की जा रही थी कि वह ब्रिटेन को उलझाये रखे ; (5) 1941 के अंत तक रूस ने पुनः 1 लाख वर्ग मील पर अधिकार कर लिया। बैंशिस्ट ने सुझाव दिया कि रूसी क्षेत्र खाली कर दिया जाय। हिटलर इससे नाराज हो गया, उसे उसने सेनापति पद से हटा दिया और स्वयं मुख्य सेनापति का पद संभाल लिया ; (6) अमेरिका ने तटस्थ नीति को त्याग कर रूजवेल्ट के नेतृत्व में शान्ति काल में प्रथम अनिवार्य
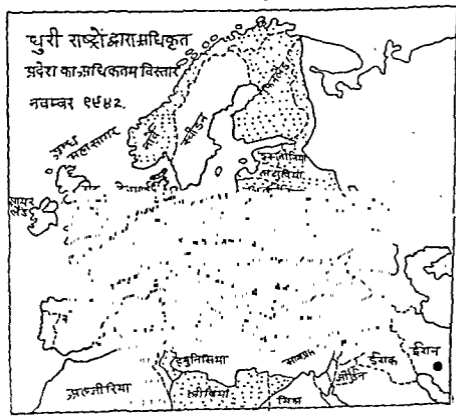
मान चित्र—14

(धुरी राष्ट्रों द्वारा अधिकृत प्रदेश का अधिकतम विस्तार, नवम्बर, 1942)

सैनिक शिक्षा (21 वर्ष से 36 वर्ष तक की आयु) लागू की और 9 लाख लोगों को प्रशिक्षण देने लगा ; (7) जर्मनी के रूसी आक्रमण ने जापान को भी प्रोत्साहित किया। उसके आक्रामक स्वरूप से घबरा कर रूस ने जापान से 13 अप्रैल 1941 को अनाक्रमण सन्धि की। अब जापान 'एशिया में नवीन व्यवस्था कायम करने' और साम्राज्य विस्तार के लिए मुक्त था। जापान ने 7 दिसम्बर को अमेरिका के प्रशान्त महासागर स्थित प्रमुख नौ-अड्डे, पर्ल हार्बर पर रविवार दिनांक 7 दिसम्बर को आक्रमण किया। अमेरिका ने भी प्रत्युत्तर में युद्ध की घोषणा की। अमेरिका के पांच बड़े युद्ध जहाज 3 विध्वंसक, 177 वायुयान व 2,600 व्यक्ति जापानी आक्रमण में नष्ट हो गए।

तीसरा चरण

(7 दिसम्बर 1941 से 3 दिसम्बर 1943 तक)

1 जनवरी सन् 1942 को 26 राष्ट्र, लन्दन में सम्मिलित हुए। इन संयुक्त राष्ट्रों ने धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध के लिए सम्मिलित मोर्चे की घोषणा की। जापान ने मलाया स्थित ब्रिटेन के दो जहाजों—प्रिंस आफ वेल्स (35,000 टन) व रिपल्स (32 हजार टन) को डुबोकर मलाया, फिलीपाइन्स, इन्डोनेशिया व बर्मा पर अधिकार कर लिया। इस युद्ध-कार्यवाही में 70,000 ब्रिटिश, 35,000 अमेरिकन व 1 लाख डच सैनिकों ने आत्म-समर्पण किया। 8 लाख वर्ग मील पर जापान ने अधिकार कर लिया। उसे अनेक सैनिक साधन भी प्राप्त हुए। अमेरिका धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ाने लगा और मई 1943 में अल्युशन द्वीप पर अपना अधिकार कर लिया।

उत्तरी अफ्रीका में, जनरल रोमेल के नेतृत्व में जर्मन सेना को, हिटलर ने, मुसोलिनी की मदद के लिए भेजा। इसने घमासान लड़ाई के बाद ब्रिटेन से, बेनगाजी ले लिया। वे 400 मील पीछे हटे, उनके 80,000 सैनिक कैद हुए व 300 में से 220 टैंक समाप्त हो गये। रोमेल अल-अलामैन (ब्रिटिश सैनिक मोर्चे) तक बढ़ गया किन्तु साधनों के अभाव में उस पर अधिकार नहीं कर सका। अब ब्रिटिश सेनापति मोंट-गोमेरी ने 2 नवम्बर को अल-अलामैन का प्रसिद्ध युद्ध लड़ा जिसमें रोमेल को 1400 मील पीछे हटना पड़ा। उसके 40,000 सैनिक, 600 विमान, 400 तोपें, 350 टैंक और 20,000 से अधिक लोग कैद हो गये। रोमेल बीमार पड़ने के कारण जर्मनी इलाज के लिये चले गये। इस प्रकार उत्तरी अफ्रीका की लड़ाई में जर्मनी की साड़े नौ लाख सेना, 8,000 विमान व 2,500 टैंक की हानि हुई जब कि मित्र राष्ट्रों को केवल 2 लाख 20 हजार सैनिकों का ही नुकसान हुआ था। 7 नवम्बर 1942 को जनरल आइजनहावर के नेतृत्व में डेढ लाख सेना मोरक्को व अल्जीरिया में उतारी गई। अब युद्ध की सन्डासी चाल हो गई। मित्र राष्ट्रों की सेना में पूर्व में मोंटगोमेरी व पश्चिम में आइजनहावर ने आक्रमण आरम्भ किया। रोमेल के पश्चात् भोन आसीम ट्युनिशिया में भेजे गये। इन्होंने फ्रांस के तुलोन स्थित 75 युद्ध जहाजों पर आक्रमण करना चाहा

किन्तु दुष्ट फांस ने इन्हें डुबो दिया। 12 मई 1943 को आइजनहावर ने आरनीम को 2,25,000 सैनिकों सहित समर्पण के लिए वाध्य किया।

इटली पर आक्रमण

अफ्रीका में विजय का परिणाम था मित्र राष्ट्रों का इटली के द्वीप सिसली पर आक्रमण, जहा इटली व जर्मन फौजों ने आत्म-समर्पण किया। मित्र राष्ट्रो के हाथ 1000 वायुयान लगे। मुसोलिनी ने हिटलर से सहायता मांगी किन्तु इसके अभाव में वह उत्तरी इटली में पीछे की ओर हट गया। ग्रांड कौसिल ने 25 जुलाई को मुसोलिनी को पदच्युत कर दिया। राजा विक्टर इमेन्युअल तृतीय ने बड़ोगलिया को नया प्रधान-मन्त्री बनाया जिन्होंने 3 सितम्बर 1943 को आत्म-समर्पण कर दिया।

चतुर्थ चरण

(3 सितम्बर 1943 से 7 मई 1945 तक)

स्टालिनग्राड का युद्ध और रूसी विजय

हिटलर ने काकेशस क्षेत्र पर, तेल प्राप्त करने के लिए आक्रमण किया। सितम्बर 1942 मे ही जनरल पौलस ने घोषणा की थी कि स्टालिनग्राड पर हम आक्रमण कर रहे है और इस पर अधिकार कर लेंगे। 3, 40,000 फौज ने घेरा डाला। रूसी बड़ी वीरता से लड़े। जर्मनी ने 10 लाख बम गिराकर नगर को भूमिसात कर दिया। किन्तु रूसी लोगों ने समर्पण नही किया। 50 दिन में उन्होंने 1,80,000 जर्मनो को मार डाला व 1300 विमान नष्ट कर दिये। रूस की ओर से मार्शल जुकोव सेनापति थे। भयानक शीत ने भी उसकी सहायता की। 3 फरवरी 1943 को जनरल पौलस द्वारा 1,85,000 सेना सहित, जिसमें 23 बड़े जनरल भी शामिल थे, आत्म-समर्पण जर्मनी के लिए बड़ा अपमानजनक था।

इस युद्ध ने रूसी सफलता को एक नया मोड़ दिया। लाल फौज ने जर्मन सेना को लेनिनग्राड से भगा दिया और समग्र वाल्टिक तट पर अधिकार कर लिया। कहीं कही तो उन्होने जर्मनों का 600 मील तक पीछा किया। 1944 के मध्य भाग में रूस ने पोलैण्ड व रूमानिया में प्रवेश किया। रूसी दावे के अनुसार 9 लाख जर्मन मारे गये, 18 लाख कैद अथवा घायल हुए व 10,000 विमान और 17,900 टैंक नष्ट हो गये। इधर 6 जून 1944 को मित्र राष्ट्रों ने नोरमैण्डी में एक नया मोर्चा खोल दिया जिसमे 2,50,000 फौज तथा फिर 2,50,000 और उतारी गई ; 5,000 बम बर्षकों व 5000 लड़ाकू विमानों ने भी भाग लिया। जर्मनी ने उन्हें पहले 7 सप्ताह (25 जुलाई तक) रोके रखा। किन्तु मित्रराष्ट्रीय सेना आगे बढ़ती गई और 25 अगस्त 1944 को चार वर्ष के पश्चात् पेरिस मे जर्मन सेना ने आत्म-समर्पण किया। जर्मनी की ढाई लाख सेना कैद हुई। सितम्बर के अन्त तक समस्त फांस मित्र राष्ट्रों

मान चित्र—15

जापानी विस्तार की चरम सीमा

के आधीन आ गया। बेल्जियम व नीदरलैण्ड पर भी अधिकार कर लिया गया। 16 दिसम्बर 1944 को जर्मन सेनापति मांडले ने 1,000 जेट वायुयान, ढाई लाख सेना व 1200 टैंकों से आक्रमण किया। किन्तु यह मित्रराष्ट्रीय सेना को 50 मील से अधिक पीछे न हटा सके और भारी बमवर्षा के आगे टिक न सके। 16 जनवरी को जनरल मांडले ने हार स्वीकार की। उनके 90,000 व मित्र राष्ट्रों के 77,000 सैनिक मारे गये। मित्र राष्ट्रीय सेना ने राइन नदी पार कर जर्मनी में प्रवेश किया। 18 अप्रैल को इन्होंने रूर पर अधिकार किया जहाँ 30 जनरल सहित 3,50,000 जर्मन सेना कैद हुई। आइजनहावर की सेना ने अब चैकोस्लोवाकिया व आस्ट्रिया में प्रवेश किया।

इन घटनाओं से प्रेरित होकर स्टालिन की 30 लाख सेना ने जर्मनी में पूर्व की ओर से प्रवेश किया। 23 अप्रैल को उन्होंने बर्लिन शहर में प्रवेश किया। उत्तरी इटली स्थित 10 लाख जर्मन सेना ने 29 अप्रैल को आत्म-समर्पण किया। 30 अप्रैल को इन घटनाओं से विचलित होकर हिटलर ने आत्महत्या कर ली। 2 मई को रूस ने बर्लिन पर अधिकार कर लिया। 7 मई को पश्चिमी क्षेत्र में जनरल जोड्ल और बर्लिन में रूस के प्रति जनरल कीटल ने 8 मई को आत्म-समर्पण कर दिया।

इसी बीच अमेरिका, जनरल मैक आर्थर के नेतृत्व में, जापान को भी पीछे धकेल रहा था। अमेरिकी सेना ने अक्टूबर 1944 में फिलीपीन पर आक्रमण किया। ओकीनावा पर घमासान लड़ाई के पश्चात्, अमेरिका का अधिकार हो गया (20,000 अमेरिकी मृत्यु ग्रस्त हुए। 1 फरवरी 1945 तक फिलीपीन पूर्ण रूप से अधिकार में आ गया। 3 मई 1945 को अंग्रेजों ने भारत से आक्रमण कर वर्मा व मलाया पर विजय प्राप्त की। अब जापान के द्वीप पर सीधा आक्रमण होने लगा।

अन्तिम चरण

(7 मई से 2 सितम्बर, 1945)

जर्मनी के आत्म-समर्पण के बाद जापान पर इतनी अधिक बमवर्षा हो रही थी कि वहा 80 लाख से अधिक लोग निराश्रित हो गये। टोकियो पर 1 दिन की बम बारी में 1,85,000 व्यक्ति मर गए (9 मार्च)। 9 बड़े नगरों को ध्वंस कर दिया गया। निम्न घटनाओं ने जापान को आत्म-समर्पण के लिए बाध्य किया।

(i) 2 अगस्त 1945 को पोट्सडम सम्मेलन में जापान के लिए बिना शर्त आत्म-समर्पण की मांग,

(ii) 6 अगस्त को हिरोशिमा पर प्रथम अणुबम का प्रयोग जिसमे 80,000 लोग मारे गये,

(iii) 8 अगस्त को रूस की जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा और मंचूरिया व कोरिया पर आक्रमण,

(iv) 9 अगस्त को नागासाकी पर दूसरा अणुबम गिराया गया। 14 अगस्त को सम्राट हिरोहितो के हस्तक्षेप के कारण सुजुकी मन्त्रिमण्डल ने पोट्सडम सम्मेलन की निम्न शर्तों को स्वीकार किया—(1) जापान के साम्राज्य को मुख्य द्वीप तक ही सीमित कर दिया जाय; (2) युद्ध अपराधियों को दण्ड व्यवस्था; (3) जापान पर मित्र राष्ट्रों का अधिकार; (4) जापानी सेना का नि.सैनीकरण; (5) युद्ध उद्योगों की समाप्ति और (6) लोकतन्त्र की स्थापना। इसी आधार पर 2 सितम्बर को अमेरिकी युद्ध जहाज मिसारो पर जापान ने आत्म-समर्पण किया और जनरल मैकआर्थर से विराम सन्धि की।

इस युद्ध मे 3,30,000 जापानी नागरिक मारे गये व 50,000 हवाई जहाज,

12 बड़े युद्ध जहाज, 19 विमानवाहक जहाज, 34 गश्ती जहाज, 126 विध्वंसक व 125 पनडुब्बियाँ नष्ट हो गए और 90 लाख टन के व्यापारिक जहाज डुबो दिये गये। उसकी औद्योगिक शक्ति आधे से भी कम हो गई। केवल इसी युद्ध में अमेरिका के 41,000 सैनिक मृत्यु को प्राप्त हुए।

युद्धकालीन सम्मेलन

मित्र राष्ट्रों ने युद्ध की गतिविधियों पर नियंत्रण करने के लिए समय समय पर सम्मेलन किये और महत्वपूर्ण निर्णय लिए। युद्ध की घटनाओं पर इन सम्मेलनों ने प्रभाव डाला था। नीचे उन्हीं का क्रमिक विवरण दिया गया है।

युद्ध काल मे ब्रिटेन व संयुक्त राज्य अमेरिका के सम्बन्ध सद्भावनापूर्ण थे। चर्चिल व रूजवेल्ट के वैयक्तिक सम्बन्ध, दोनों देशों के बीच अच्छे सम्बन्धों का आधार था। यद्यपि राष्ट्रपति का पद इंग्लैंड के राजा के समान था और चर्चिल राजा के प्रधानमन्त्री की स्थिति मे ही थे, दोनों ने मैत्री पूर्ण और क्रियाशील सम्बन्धों की व्यवस्था कर ली। दोनो की कार्यप्रणाली स्नेह पूर्ण थी। रूजवेल्ट किसी बात की गहराई तक जाते थे और चर्चिल प्रत्यक्ष की बात सोचते थे। एक बार चर्चिल के साथ केवल पर गम्भीर वार्ता समाप्त करते हुए उन्होंने कहा, "तुम्हारे साथ एक ही दशक में होना मनोरंजक है।" युद्ध काल मे बड़े सम्मेलनों में एक साथ भाग लेने के अतिरिक्त दोनो अनेक बार छोटी छोटी समस्याओं के हल के लिए मिले।

अटलांटिक चार्टर (अगस्त 1941)

14 अगस्त 1941 को रूजवेल्ट, अगरीटया युद्ध पोत, व चर्चिल प्रिंस आफ वेल्स युद्ध पोत में आए, और अटलांटिक महासागर में मिले, जहां कि उन्होने अटलांटिक चार्टर की घोषणा की। इसकी मुख्य धारायें निम्न थी : (1) युद्ध से कोई स्थूल लाभ न उठाए जाएं; (2) सम्बन्धित लोगों की सहमति के बिना राष्ट्रों की सीमा में परिवर्तन न किये जाएं; (3) किसी राष्ट्र में सरकार के स्वरूप का आधार वहा का जनमत होगा; (4) जिन लोगों को सर्वोच्च सत्ता व स्वशासन से वंचित रखा गया हो, उन्हें वह प्रदान किया जाय; (5) शान्ति, राष्ट्रों को आक्रमण से सुरक्षा और लोगों को भय व गरीबी से मुक्ति दिलवाये, (6) सामान्य सुरक्षा बनाये रखने के लिए एक सगठन की स्थापना की जाय; (7) सभी राष्ट्रों को कच्चे माल और बाजारों की प्राप्ति समानता के आधार पर हो और (8) ससार के सभी राष्ट्र श्रमिको की स्थिति के सुधार, आर्थिक विकास और सामाजिक सुरक्षा के लिए न्यायोचित सहयोग करें।

कैसाब्लांका सम्मेलन (17 से 27 जनवरी 1943)

इस सम्मेलन में रूजवेल्ट ने घोषणा की, "युद्ध बिना किसी शर्त के समर्पण के आधार पर ही समाप्त होना चाहिए।" चर्चिल व स्टालिन ने इसकी स्पष्ट घोषणा

के विषय में शंका प्रकट करते हुए भी रूजवेल्ट के मत का समर्थन किया। सितम्बर 1943 में क्युबैक सम्मेलन मे 'मारगेन्थ्यु योजना' के अनुसार नॉरमैण्डी का आक्रमण तथा जर्मनी का विभाजन व उसमें सैनिक रहित क्षेत्र स्थापित करने का निश्चय किया गया।

मास्को सम्मेलन (19 से 30 अक्टूबर, 1943)

अक्टूबर 1943 मे विदेश मन्त्रियों—एथोनी ईडन (ब्रिटेन) मोलोटोव (रूस) व कार्डेल हल (अमेरिका) में मास्को सम्मेलन में विचार-विमर्श हुआ और वे निम्न निष्कर्ष पर पहुँचे · (1) युद्ध का दूसरा मोर्चा खोला जाय और जर्मनी के आत्म-समर्पण को सयुक्त रूप से ही स्वीकार किया जाय, (2) उन्होने वायदा किया कि उनके राष्ट्र, युद्ध के बाद भी, स्थायी शान्ति के हित में सहयोग करते रहेंगे और विशेषतः लोगों के राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक कल्याण का ध्यान रखेंगे, (3) वे अधिकृत प्रदेशो में सैनिक कार्यवाही, सर्वसम्मत पूर्व निश्चित उद्देश्यो की पूर्ति हेतु ही करेंगे और युद्ध पश्चात् नि.शस्त्रीकरण की ओर ध्यान देंगे, (4) फासीवाद का अन्त किया जाय व इटली के लोगो को पुनः भाषण, धर्म, प्रकाशन सभा व विशिष्ट राजनीतिक प्रणाली की स्थापना की स्वतन्त्रता दी जाय, (5) स्वतन्त्र आस्ट्रिया की पुनः स्थापना की जाय, व (6) जर्मन हत्यारों व युद्ध अपराधियो को सजा दी जाय।

तेहरान सम्मेलन (28 नवम्बर से 1 दिसम्बर 1943)

28 नवम्बर को प्रारम्भ होने वाले इस सम्मेलन मे भाग लेने वाले प्रमुख सदस्य चर्चिल, स्टालिन व रूजवेल्ट थे। इस सम्मेलन के कुछ दिन बाद काहिरा में सम्मेलन हुआ (22 से 26 नवम्बर और 4 से 6 दिसम्बर) जिसमे चर्चिल, चांग काई शेक व रूजवेल्ट ने भाग लिया और सुदूर पूर्व की स्थिति और जापान के विरुद्ध कार्यवाहियो पर विचार किया। तेहरान सम्मेलन के कुछ निर्णय युद्ध के बाद तक गुप्त रखे गये। इसके प्रमुख निर्णय थे : (1) अमेरिका व इग्लैंड का पश्चिम की ओर से व रूस का पूर्व की ओर से जर्मनी पर आक्रमण; (2) तुर्की से युद्ध-प्रवेश के लिये अनुरोध ; (3) युगोस्लाविया मे टीटो के अनुयायियो का समर्थन ; (4) अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिये रूजवेल्ट की सयुक्त राष्ट्रसंघ की योजना ; (5) स्टालिन द्वारा बम वर्षा के लिये अपने अड्डों के प्रयोग की अनुमति; (6) जर्मन-पोलैंड सीमा पर विचार विमर्श के बाद पोलैंड की पूर्वी सीमा पर गैर सरकारी तौर पर कर्जन रेखा निश्चित की गई ; (7) ईरान ने युद्ध मे योग की घोषणा की ; (8) स्टालिन ने जापान के विरुद्ध युद्ध प्रवेश की इच्छा प्रकट की परन्तु याल्टा सम्मेलन (1945) के पूर्व कोई सक्रिय कदम नही उठाये ; (9) स्टालिन ने चर्चिल समर्थित रूजवेल्ट की, टीटो की सहायता से एड्रियाटिक आक्रमण की योजना को हतोत्साहित किया।

देने के लिए एक सैनिक अदालत बनायी जाय ; (5) जर्मनी में सोवियत प्रभाव क्षेत्र से रूस व पोलैण्ड को क्षतिपूर्ति मिलती थी और इस क्षेत्र को रूस ही से भोजन की वस्तुओं व कच्चे माल का आयात करना था ; (6) तीन बड़ी शक्तियाँ, इटली; बुल्गेरिया, फिनलैंड, हंगेरी व रूमानिया से भी शांति संधि करेंगी और (7) एक विदेश मन्त्रियों की परिषद् का निर्माण जिसमें चीन व फ्रांस भी सम्मिलित हों।

मित्र-राष्ट्रों की विजय के कारण

ब्रिटेन का साहस व सामर्थ्य

चर्चिल के नेतृत्व में ब्रिटेन के आत्म-विश्वास व गहरी कठिनाई के क्षणों में अचूक धैर्य ने युद्ध को लम्बा किया और मित्र राष्ट्रों की विजय को निश्चित कर दिया। 10 मई 1940 को चर्चिल प्रधानमन्त्री बने और तब से उन्होंने नये जोश के साथ ब्रिटेन की नौका का वहन किया। ब्रिटेन की सुरक्षा और विजय के लिए उत्तरदायी कारण संक्षेप में (1) उसकी भौगोलिक स्थिति—एक द्वीप के रूप में चारों ओर से समुद्र से घिरे होना (महाद्वीप से पृथक) व 20 मील चौड़ी इंगलिश चैनल थी जो हिटलर के लिए हिमालय बन गई ; (2) उसकी दृढ़ नौ शक्ति; (3) चर्चिल की कूटनीति जिसके अन्तर्गत उसने अधिराज्यों से सहयोग प्राप्त किया व अटलांटिक घोषणा पत्र द्वारा अमेरिका को मित्र बनाया; (4) लोकतन्त्र की रक्षा और उसे जीवित रखने के लिये युद्ध का नारा व प्रसिद्ध चिन्ह 'V' फार विक्ट्री द्वारा समस्त ब्रिटिश जनता में आत्म-विश्वास जाग्रत रखना; (5) ब्रिटेन को दृढ़ औद्योगिक आधार देकर उसके इतिहास में सर्वाधिक उत्पादन व नागरिक सुरक्षा के लिये 50 लाख पुरुष व 6 लाख स्त्रियों को तैयार करना; (6) अपने योग्य नेतृत्व में सभी कठिनाइयों और फ्रांस के पतन के बाद जून 1940 से जून 1941 तक अकेले हाथ जर्मनी से मुकाबला व युद्ध की अवधि को लम्बा कर जीत में निश्चित विश्वास; (7) साम्राज्य के विस्तृत स्रोतों (भारत, कैनेडा, आस्ट्रेलिया व दक्षिणी अफ्रीका) से निरंतर कच्चा माल व अन्य सामग्रियों की प्राप्ति और (8) मध्य पूर्व में विजय व मौंटगोमेरी का योग्य सेनापतित्व थे।

हिटलर की महत्वाकांक्षायें

हिटलर की महत्वाकांक्षाओं और चारो दिशाओं में अपने शत्रुओं की संख्या बढ़ाने से युद्ध का क्षेत्र निरन्तर विस्तृत होता गया और एक स्थिति ऐसी आ गई कि वह समस्त क्षेत्र पर प्रभावशाली नियन्त्रण नहीं रख सका और यह मित्र राष्ट्रों के लिए लाभकारी सिद्ध हुआ। पश्चिमी यूरोप की विजय के पश्चात् (जिस पर नियंत्रण बनाये रखने के लिये भी साधनों और व्यक्तियों की आवश्यकता थी) हिटलर ने बल्कान राष्ट्रों रूस व उत्तरी अफ्रीका में नये मोर्चे खोल दिये। उधर जापान ने अनेक मोर्चे खोल कर और बर्मा व भारत तक बढ़कर नियंत्रण की एक भारी समस्या उत्पन्न

कर दी। इतनी बड़ी युद्ध नाट्यशाला में प्रभावशाली नियंत्रण के लिए हिटलर को असंख्य प्रशिक्षित व विशाल औद्योगिक सामग्री की निरंतर आगमन की आवश्यकता थी, जो संभव न हो सकी व शत्रुओं ने लम्बी युद्ध रेखा में अनेक स्थानों से प्रवेश कर लिया और धीरे धीरे अधीनस्थ राज्यों का पतन प्रारम्भ हो गया।

मित्र राष्ट्रों का संयुक्त मोर्चा

मित्र राष्ट्रो की विजय का एक अन्य कारण महान् मैत्री एवं संयुक्त मोर्चे का निर्माण था जिसमें चर्चिल, रूजवेल्ट व स्टालिन और बाद में चीन के चाग काई शेक सम्मिलित हुए। युद्ध काल मे समय समय पर इनकी बैठक व प्रसिद्ध सम्मेलनों ने युद्ध के साधनों को एकत्रित करने, सयुक्त कार्यवाही करने व विजय को निकट लाने में युद्ध को एक नया मोड़ दिया। महत्वपूर्ण निर्णय लिये जाने वाले प्रसिद्ध सम्मेलन—कैसाब्लांका, क्युबैक, मास्को, काहिरा, तेहरान व याल्टा में हुए। इन्हीं सम्मेलनों के निर्णय के आधार पर मित्र राष्ट्रों ने संयुक्त मोर्चा बनाया ; जनरल आइजनहावर यूरोपीय सैनिक कार्यवाहियों के सर्वोच्च सेनापति नियुक्त किये गये ; बड़ी प्रशिक्षित सेना एवं पर्याप्त मात्रा में वायुयान प्राप्त हुए, और उत्तरी अफ्रीका, पश्चिमी यूरोप व रूस की ओर से नये मोर्चों की स्थापना व समुद्री नाकेबंदी सभव हुई। उत्तरी अफ्रीका मे ट्युनिशिया का 7 नवम्बर 1942 को व 6 जून 1944 को नारमेंडी में दूसरा मोर्चा खोलने से क्रमश: इटली व पश्चिमी यूरोप मे जर्मन शक्ति का पतन हो गया।

आधुनिक युद्ध विशेषत: दीर्घ-कालीन युद्ध, केवल सैनिकों की संख्या पर ही निर्भर न होकर युद्ध के लिए निरंतर साधनों की प्राप्ति पर निर्भर रहते है। इस दृष्टि से ब्रिटेन व अमेरिका ने भारी योग दिया। ब्रिटेन को अपने आधीन राज्यों (भारत, आस्ट्रेलिया, केनेडा व दक्षिणी अफ्रीका) से सेना के लिए व्यक्तियो व कच्चा और औद्योगिक माल निरन्तर प्राप्त होता रहा। दूसरे, अमेरिका और सभी पश्चिमी गोलार्द्ध का युद्ध कार्य में सहयोग और जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा सहायक थी। अमेरिका के भारी उत्पादन ने भी युद्ध की गति को बनाये रखने मे उल्लेखनीय योग दिया। गोईरिंग का कहना था कि अमेरिका केवल दाढ़ी बनाने की पत्ती व बर्फ रखने के लिए डिब्बे ही बना सकता था। उसी अमेरिका ने 2,96,000 विमान, 3,15,000 बड़ी तोपे, 27,000 टैंक, 24 लाख ट्रकें एवं 6 करोड़ टन के व्यापारिक जहाज (जो समस्त विश्व का 6 प्रतिशत था) का उत्पादन किया। रूस को भी इससे भारी मदद मिलती रही। उसे इसमे से 14,000 विमान मिले। तेल, खाद्य सामग्री व सैनिक सामग्री की भारी सहायता रही। अमेरिका की एक अन्य देन 'उधार पट्टा अधिनियम' के अन्तर्गत मित्र राष्ट्रों की सहायता थी, जिसके आकड़े इस प्रकार हैं :—कुल 48 अरब डालर में से क्रमश: ब्रिटेन, रूस, फ्रांस एवं चीन को 31, 11, 3 व 1 अरब डालर व शेष राशि अन्य राष्ट्रों को दी गई।

नये अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार

मित्र राष्ट्रों द्वारा नए आविष्कारों ने युद्ध की गति को बनाए रखा व उन्हें विजय प्राप्त करने में सहायता दी। इनमें से कुछ प्रमुख वायुयान की दिशा एवं गति का ज्ञान कराने वाला यन्त्र राडार समुद्रों में बिछी सुरंगो से जहाजों की सुरक्षा के लिए जहाजों में लगाई जाने वाली धातु—ताँबें का आविष्कार, दो व चार टनों के बमों की खोज, ध्वनि से तेज चलने वाले बिमानों का निर्माण, टैंक विरोधी तोपें व अणुबम थे।

जर्मनी के आविष्कार V-1 व V-2 राकेटों के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों के द्वारा किए गए प्रयत्न भी सराहनीय है। अकेले इन राकेटों ने ब्रिटेन के लगभग 8 हजार व्यक्तियो के प्राण ले लिए। 13 जून 1944 को V-1 के राकेटों का प्रयोग आरम्भ हुआ जो 24 फीट लम्बे व जिनकी रफतार 350 मील प्रति घटा थी। मित्र राष्ट्रों ने कोई उपाय न देखकर स्वय राकेट छोड़ने के स्थान पर 1 लाख टन बम गिराए और उनके 450 विमान नष्ट हो गए। अब जर्मनी को अपना राकेट छोडने का स्थान बदलना पड़ा। नए स्थान से 3000 मील प्रति घटा की चाल से चलने वाले 46 फीट लम्बे व 5 फीट चौड़े व 220 मील की दूरी तक प्रहार करने वाले V-2 राकेट फेकना प्रारंभ किया। हेग मे स्थित इस नए राकेट स्थल को भी नष्ट कर दिया गया। मित्र राष्ट्रों की सबसे बड़ी सफलता 16 जुलाई को अणुबम का आविष्कार तथा 6 और 9 अगस्त को उसका हिरोशिमा तथा नागासाकी पर प्रयोग था, जिसने उनके अन्तिम युद्ध रत शत्रु जापान को भी आत्म-समर्पण के लिए बाध्य कर दिया।

इटली और जापान की स्वार्थपरता

1 सितम्बर 1939 से 2 दिसम्बर 1945 की छ: वर्ष की लम्बी अवधि का युद्ध जर्मनी को लगभग अकेले ही लड़ना पड़ा। उसे अपने धुरी सहयोगियों से नाम मात्र की भी सहायता न मिली उल्टे वे जर्मनी पर भार बन गये और यह भी जर्मनी की पराजय का एक महत्वपूर्ण कारण था। इटली ने सितम्बर 1939 में युद्ध प्रारम्भ होने पर तैयारी के अभाव का बहाना किया और युद्ध की गतिविधि को आंकता रहा। जब जर्मनी फ्रांस पर आक्रमण कर उससे आगे बढने लगा तब उसके भूक्षेत्र के विभाजन में हाथ बटाने के लिये उसने बिना जर्मनी से परामर्श किये फ्रांस के विरुद्ध 10 जून 1940 को युद्ध घोषणा कर दी और उत्तरी अफ्रीका में 1500 मील लम्बा युद्ध क्षेत्र खोल दिया। भूमध्य सागर की सुरक्षा व अफ्रीकी-दुस्साहस में मुसोलिनी असफल रहा और हिटलर को अपने श्रेष्ठ जनरल रोमेल को वहां भेजना पड़ा। रोमेल को भी पीछे हटना पड़ा और इटली ने सहयोग के बजाय समस्यायें उत्पन्न कर तीन वर्ष में ही, 3 सितम्बर 1943 को आत्म-समर्पण कर दिया। जर्मनी अकेले युद्ध लड़ता रहा।

जापान पहले से ही चीन के विरुद्ध 7 जुलाई 1937 से युद्ध में उलझा हुआ था। उसने अपनी महत्वाकांक्षायें चीन में ही सीमित न रख और उसे पूर्ण रूप से

विजय न कर, दक्षिण-पूर्वी एशिया में भी नये क्षेत्र खोल दिये। उसकी सबसे बड़ी भूल 7 दिसम्बर 1941 को पर्ल हार्बर पर आक्रमण कर साधन संपन्न संयुक्त राज्य अमेरिका को युद्ध में घसीटना था। 13 अप्रैल 1941 को जापान ने रूस से तटस्थता संधि की थी किन्तु 22 जून 1941 को जर्मनी के इस पर आक्रमण पर जापान ने इसके विरुद्ध पूर्व में दूसरा युद्ध क्षेत्र न खोल जर्मनी को रूस के हाथों हार जाने दिया। रूस से जापान का युद्ध केवल सात दिन—8 से 14 अगस्त 1945 तक था जब कि रूस ने जापान के विरुद्ध कार्यवाही, कोरिया पर अधिकार जमाने की दृष्टि से की। जापान सभी समय केवल अपनी स्वार्थपूर्ति में लगा रहा। अमेरिका को युद्ध में शामिल कर उसने धुरी राष्ट्रों की हत्या कर दी व रूस के विरुद्ध वह केवल एक सप्ताह लड़ा।

अन्य कारण

मित्र राष्ट्रों की विजय के अन्य कारण यूरोपीय देशों में जर्मन विरोधी स्वतंत्रता आन्दोलन (प्रमुख रूप से फ्रांस, युगोस्लाविया, नीदरलैंड) विदेशों मे बनी निर्वासित सरकारें (उदाहरणार्थ फ्रांस की निर्वासित सरकार डी-गाल के नेतृत्व में ब्रिटेन मे) हिटलर की सामरिक भूलें, मुसोलिनी का पतन तथा आइजनहावर, मोंटगोमरी, जुकोव व मैकआर्थर सेनापतियों का योग्य नेतृत्व, अमेरिका और ब्रिटेन की नौ व वायु शक्ति थे।

मूल्यांकन

प्रसिद्ध लेखक क्विन्सी राइट ने 'स्टेडी आफ वार' में 1940 से 1941 तक पिछले 461 वर्षों में 278 युद्धों की सूची प्रस्तुत की, जिसके अनुसार प्रत्येक 5 वर्ष में औसत तीन युद्ध हुए थे। राष्ट्रसंघ की स्थापना और पेरिस के शान्ति सम्मेलन के प्रयत्नों के बावजूद, हिटलर, मुसोलिनी व तोजो ने काइजर का ही अनुसरण किया। प्रथम विश्व युद्ध की अपेक्षा, द्वितीय अधिक भयानक था। प्रथम युद्ध 4 वर्ष 3 महिने चला जब कि दूसरा पूरे 6 वर्ष। प्रथम युद्ध मे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष व्यय 6 खरब डालर हुआ और द्वितीय युद्ध में महापदम डालर। प्रथम युद्ध में 1 करोड़ व्यक्ति मारे गए थे जबकि दूसरे में सैनिक व गैर सैनिक मिलाकर 4 करोड़ व्यक्ति मारे गए। जन और सम्पत्ति की हानि की दृष्टि से ऐसा युद्ध विश्व इतिहास में कभी नही हुआ था। इसने अणु युग को प्रारम्भ किया व अस्त्र-शस्त्रों की दौड़ आरंभ हुई। युद्ध काल की ही एक महत्वपूर्ण घटना विश्व शांति के लिये 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' का विचार था। जर्मनी के लिए इस युद्ध का इतना भयानक परिणाम हुआ कि उस देश से आज तक शाति संधि नही हुई है, उसके दो टुकड़े हो चुके हैं व वह आज भी संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं है। युद्धोपरान्त विश्व दो महा गुटों मे विभाजित हुआ, शांति युद्ध प्रारंभ हो गया व सुरक्षा के लिये क्षेत्रीय संस्थाओं का निर्माण किया गया। द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिकाओं ने मानव समाज को इस निष्कर्ष पर पहुँचा दिया कि न तो युद्ध के

प्रति पृण्य भाव से और न ही मात्र शांति के प्रति प्रेम प्रदर्शन से स्थायी शांति संभव है। यह तो केवल निरंतर जागरूकता एवं सतत् प्रयत्नों द्वारा ही सम्भव है जिसकी पूर्ति के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई।

सारांश

प्रसिद्ध इतिहासकार एच. जी. वेल्स ने 1933 में ही भविष्यवाणी की थी कि डानजिंग समस्या से ही युद्ध का प्रारंभ लगभग 1940 में होगा। यह कथन सत्य निकला। द्वितीय विश्व युद्ध का यह अंतर्निहित एवं तात्कालिक, दोनों ही प्रकार का कारण बना। इस युद्ध के अंतर्निहित कारण निम्न थे :—(1) वर्साय की संधि के प्रति पराजित राष्ट्रों का असन्तोष, (2) जर्मनी, इटली तथा 7 दिसम्बर 1941 को जापान की पर्ल हार्बर पर कार्यवाही।

युद्ध की घटनाओं को हम पाँच विभिन्न चरणों मे विभाजित कर सकते हैं। प्रथम चरण (1 सितम्बर 1939 से 22 जून 1941 तक) में। 1 सितम्बर को जर्मनी की विशाल सेना और सोलह दिन पश्चात् रूस ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया। 28 सितम्बर को पोलैण्ड का पतन हुआ और जर्मनी व रूस में पोलैण्ड का विभाजन हो गया। 30 नवम्बर को रूस ने फिनलैंड पर आक्रमण किया और 1940 में रूमानिया से बेसारेबिया हथिया लिया। हिटलर ने वसन्त ऋतु में डेनमार्क, नार्वे, बेल्जियम नीदरलैंड, लक्समबर्ग पर अधिकार कर लिया और फ्रांस पर आक्रमण करके उस पर जर्मन प्रभुत्व स्थापित किया। सितम्बर में, जर्मन बम वर्षकों ने ब्रिटेन पर बमबारी प्रारंभ की। 10 जून को इटली जर्मनी के पक्ष मे युद्ध में सम्मिलित हुआ और उत्तरी अफ्रीका में मिश्र के भूमि स्थल पर, ब्रिटेन के विरुद्ध लड़ाई करता रहा। 1941 मे हिटलर ने बुल्गेरिया, यूनान, युगोस्लाविया व रूमानिया पर अपना अधिकार कर लिया।

द्वितीय चरण (22 जून से 7 दिसम्बर 1941) में जर्मनी का रूस पर आक्रमण प्रमुख घटना थी। इसके अंतर्निहित कारणों में जर्मनी का पूर्वी प्रशा प्राप्त करना, रूस का साम्राज्यवाद, बल्कॉन प्रदेशों पर अधिकार की इच्छा, कच्चे माल की आवश्यकता, यूनान विजय के लिये यूगोस्लाविया की आवश्यकता, त्रिराष्ट्रीय संधि में जर्मन-रूसी मतभेद व जर्मनी का रूसी प्रभाव के फिनलैण्ड के बन्दरगाहों का प्रयोग था। मास्को स्थित जर्मन राजदूत स्कूलेनबर्ग ने 21 जून को मोलोटोव को रूस के विरुद्ध अनेक दोषारोपण पढ़ कर सुनाये और 22 जून 1941 को अघोषित युद्ध प्रारंभ कर दिया।

तीसरे चरण (7 दिसम्बर 1941 से 3 दिसम्बर 1943) में 7 दिसम्बर 1941 को जापान ने पर्ल हार्बर पर बमबारी की जिसका परिणाम अमेरिका का युद्ध प्रवेश

था। जापान ने 1942 के प्रारंभ में दक्षिण-पूर्वी एशिया मे मलाया, फिलीपीन, इन्डोनेशिया व बर्मा पर अधिकार कर लिया। उत्तरी अफ्रीका में जर्मन जनरल रोमेल, ब्रिटिश सेनापति मौंटेगोमेरी से 2 नवम्बर 1943 को अल अलामैन के प्रसिद्ध युद्ध में हार गये और 1400 मील पीछे हटे। इसके कारण रोमेल को वापिस बुला लिया गया। उत्तरी अफ्रीका की लड़ाई में जर्मनी की 9 लाख सेना और 8 हजार विमानों की क्षति हुई थी। अब मित्र राष्ट्रों ने अमेरिकी जनरल आइजनहावर की अध्यक्षता मे इटली पर आक्रमण किया। 25 जुलाई 1943 को इटली के राजा विक्टर मैन्युअल तृतीय ने मुसोलिनी को पदच्युत कर बड़ोगलियो को प्रधान मन्त्री बनाया। 3 सितम्बर 1943 को इटली ने विराम संधि की।

चतुर्थ चरण (3 सितम्बर 1943 से 7 मई 1945) में स्टालिनग्राड के युद्ध में रूसी लाल फौज जर्मनी के विरुद्ध विजयी हुई, जिसमें जर्मनी की 1,85,000 सेना ने आत्म-समर्पण किया और लगभग इतने ही मारे गये। भागती हुई जर्मन सेना का 600 मील तक पीछा कर रूसी सेना ने जर्मनी में प्रवेश किया जिसमें 9 लाख जर्मन मारे गये व 18 लाख कैद हुए। 6 जून 1944 में मित्र राष्ट्रों ने फ्रांस के तट में दूसरा मोर्चा खोल दिया। 25 अगस्त 1944 को पेरिस पर मित्र राष्ट्रों का अधिकार हो गया और बेल्जियम व नीदर लैंड को जर्मनी ने खाली कर दिया। पश्चिम की ओर से मित्रराष्ट्र व पूर्व की ओर से रूसी सेना बर्लिन की ओर बढ़ने लगी। उत्तरी इटली में 10 लाख जर्मन सेना ने आत्म-समर्पण किया। 30 अप्रैल 1945 को हिटलर ने आत्महत्या की और 2 दिन पश्चात् रूस ने बर्लिन पर अधिकार कर लिया। 7 मई को जर्मन जनरल जोडल ने पराजय स्वीकार कर विराम सधि की।

अन्तिम चरण (7 मई से 2 सितम्बर 1945) में जर्मनी और इटली के पतन के पश्चात् अब युद्ध केवल जापान के विरुद्ध ही चलता रहा। 6 अगस्त को हिरोशिमा पर अमेरिका ने प्रथम अणुबम डाला, जिससे 80,000 लोग मारे गए, तीन दिन पश्चात् उसने दूसरा बम नागासाकी पर डाला। 14 अगस्त को हिरोहितो ने जापान के आत्म-समर्पण का निश्चय किया तथा 2 सितम्बर को विराम संधि की।

युद्ध काल मे मित्र राष्ट्रों ने विजय एवं शान्ति के लिए अनेक महत्वपूर्ण सम्मेलन किये, जिनमें ब्रिटेन, रूस एवं अमेरिका सम्मिलित थे। अमेरिका और ब्रिटेन ने 14 अगस्त 1941 को अटलांटिक घोषणा पर हस्ताक्षर किए। 1943 में कैसाब्लांका, मास्को और तेहरान सम्मेलन में जर्मनी को पराजित करने के लिए राष्ट्रपति रूजवेल्ट व चर्चिल ने सामरिक योजनाएँ प्रस्तुत की। 1945 में याल्टा और पोट्सडम सम्मेलनों मे जापान को पराजित करके शांति व्यवस्था की योजना प्रस्तुत की गई।

इस युद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय के अनेक कारण थे। इनमें ब्रिटेन का अदम्य साहस, असीम धैर्य, हिटलर की महत्वाकांक्षायें एवं युद्ध क्षेत्र का निरन्तर विस्तृत होना, मित्र राष्ट्रों का संयुक्त मोर्चा, सैनिक साधनों का निरन्तर स्रोत, अणुबम एवं

अन्य नवीन अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार, अधिकृत यूरोप में जर्मन विरोधी स्वतंत्रता आन्दोलन, हिटलर की भूलें और आइजन हावर व मोंटेगोमरी का कुशल नेतृत्व थे।

घटनाओं का तिथिक्रम

1939 23 अगस्त—रूस-जर्मन अनाक्रमण संधि।
25 ,, ब्रिटेन व पोलैण्ड की पारस्परिक संधि।
1 सितम्बर—डानजिग पर जर्मन आक्रमण।
3 ,, ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा युद्ध घोषणा।
17 ,, पोलैण्ड पर रूसी आक्रमण।
28 ,, पोलैण्ड का आत्म-समर्पण।
30 नवम्बर—फिनलैण्ड पर रूसी आक्रमण।
14 दिसम्बर—राष्ट्रसंघ से रूस का बहिष्कार।

1940 12 मार्च—फिनलैण्ड का पतन।
9 अप्रैल—डेन्मार्क व नार्वे पर जर्मन आक्रमण।
19 मई—बेल्जियम व नीदरलैंड पर जर्मन अभियान।
10 जून—फ्रांस के विरुद्ध इटली की युद्ध घोषणा।
22 ,, —फ्रांस की पराजय।
27 सितम्बर—धुरी राष्ट्रों में त्रिराष्ट्रीय संधि।
13 नवम्बर—मोलोटोव की बर्लिन यात्रा।

1941 14 अगस्त—अटलांटिक घोषणा।
22 जून—सोवियत रूस पर जर्मन आक्रमण।
7 दिसम्बर—पर्ल हार्बर पर जापान की बमबारी।
8 ,, संयुक्त राज्य अमेरिका एवं ब्रिटेन द्वारा जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा।
25 ,, हांगकांग व सीरावाक का पतन।

1942 जनवरी-जून—मलाया, सिंगापुर, फिलिपीन, इन्डोनेशिया व बर्मा पर जापानी अधिकार।
2 नवम्बर—अल-अलामेन के युद्ध में रोमेल पराजित।
7 नवम्बर—अल्जीरिया और मोरक्को में आइजनहावर का दूसरा मोर्चा।

1943—17-27 जनवरी—कैसाब्लांका सम्मेलन।
3 फरवरी—स्टालिनग्राड के युद्ध में जर्मनी की पराजय।

26 जुलाई—मुसोलिनी का पतन।
3 सितम्बर—इटली का आत्म-समर्पण।
19-30 अक्टूबर—मास्को सम्मेलन।
28 नवम्बर से 1 दिसम्बर—तेहरान सम्मेलन।

1944 6 जून—नोरमेण्डी में मित्र राष्ट्रों का दूसरा मोर्चा।
25 अगस्त—मित्र राष्ट्रों का पेरिस पर अधिकार।

1945 8-11 फरवरी—याल्टा सम्मेलन।
30 अप्रैल—हिटलर की आत्महत्या।
3 मई—बर्मा व मलाया पर ब्रिटेन का पुनः अधिकार।
7 मई—जर्मनी का आत्म-समर्पण।
26 जून—सैन फ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र पर 50 राष्ट्रों के हस्ताक्षर।

17 जुलाई से 2 अगस्त } पोट्सडम सम्मेलन।
6 ,, हिरोशिमा पर प्रथम अणुबम।
8 ,, जापान के विरुद्ध रूस की युद्ध घोषणा।
9 ,, नागासाकी पर द्वितीय अणुबम।
14 ,, सम्राट् हिरोहितो द्वारा आत्म-समर्पण का निश्चय।
2 सितम्बर—जापान का विराम संधि पर हस्ताक्षर।

सहायक अध्ययन

Cyril, Falls : **The Second World War : A Short History** (1948)
Dallin, D. : **The Big Three** (1945)
Eisenhower, D. D. : **Crusade In Europe** (1948)
Feis, H. : **The Road to Pearl Harbor** (1949)
Sherwood, R. E. : **Roosevelt and Hopkins-An Intimate History** (1948)
Shirer, W. : **The Rise and Fall of the Third Reich** (1962)
Trevor-Roper, H. R. : **The Last Days of Hitler** (1946)
Wilmot, Chester : **The Struggle for Europe** (1950).

प्रश्न

1. द्वितीय विश्व युद्ध के कारणों का उल्लेख करें।
(राज० वि० 1959, जो० वि० 1965, पं० वि० 1965)

2. 1941 के नाजी जर्मन और सोवियत रूस के युद्ध को जन्म देने वाली परिस्थितियों का क्रमिक वर्णन करें। (उ० वि० 1966)

अन्य नवीन अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार, अधिकृत यूरोप में जर्मन विरोधी स्वतंत्रता आन्दोलन, हिटलर की भूलें और आइजन हावर व मोंटगोमरी का कुशल नेतृत्व थे।

घटनाओं का तिथिक्रम

1939 23 अगस्त—रूस-जर्मन अनाक्रमण संधि।
25 ,, ब्रिटेन व पोलैण्ड की पारस्परिक संधि।
1 सितम्बर—डानजिग पर जर्मन आक्रमण।
3 ,, ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा युद्ध घोषणा।
17 ,, पोलैण्ड पर रूसी आक्रमण।
28 ,, पोलैण्ड का आत्म-समर्पण।
30 नवम्बर—फिनलैण्ड पर रूसी आक्रमण।
14 दिसम्बर—राष्ट्रसंघ से रूस का बहिष्कार।

1940 12 मार्च—फिनलैण्ड का पतन।
9 अप्रैल—डेन्मार्क व नार्वे पर जर्मन आक्रमण।
19 मई—वेल्जियम व नीदरलैंड पर जर्मन अभियान।
10 जून—फ्रांस के विरुद्ध इटली की युद्ध घोषणा।
22 ,, —फ्रांस की पराजय।
27 सितम्बर—धुरी राष्ट्रों में त्रिराष्ट्रीय संधि।
13 नवम्बर—मोलोटोव की बर्लिन यात्रा।

1941 14 अगस्त—अटलांटिक घोषणा।
22 जून—सोवियत रूस पर जर्मन आक्रमण।
7 दिसम्बर—पर्ल हार्बर पर जापान की बमबारी।
8 ,, संयुक्त राज्य अमेरिका एवं ब्रिटेन द्वारा जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा।
25 ,, हांगकांग व सारावाक का पतन।

1942 जनवरी-जून—मलाया, सिंगापुर, फिलिपीन, इन्डोनेशिया व बर्मा पर जापानी अधिकार।
2 नवम्बर—अल-अलामेन के युद्ध में रोमेल पराजित।
7 नवम्बर—अल्जीरिया और मोरक्को में आइजनहावर का दूसरा मोर्चा।

1943—17-27 जनवरी—कैसाब्लाका सम्मेलन।
3 फरवरी—स्टालिनग्राड के युद्ध में जर्मनी की पराजय।

26 जुलाई—मुसोलिनी का पतन।
3 सितम्बर—इटली का आत्म-समर्पण।
19-30 अक्टूबर—मास्को सम्मेलन।
28 नवम्बर से 1 दिसम्बर—तेहरान सम्मेलन।

1944 6 जून—नोरमेण्डी में मित्र राष्ट्रों का दूसरा मोर्चा।
25 अगस्त—मित्र राष्ट्रों का पेरिस पर अधिकार।

1945 8-11 फरवरी—याल्टा सम्मेलन।
30 अप्रैल—हिटलर की आत्महत्या।
3 मई—वर्मा व मलाया पर ब्रिटेन का पुनः अधिकार।
7 मई—जर्मनी का आत्म-समर्पण।
26 जून—सैन फ्रांसिस्को मे सयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र पर 50 राष्ट्रों के हस्ताक्षर।

17 जुलाई से 2 अगस्त } पोट्सडम सम्मेलन।
6 „ हिरोशिमा पर प्रथम अणुबम।
8 „ जापान के विरुद्ध रूस की युद्ध घोषणा।
9 „ नागासाकी पर द्वितीय अणुबम।
14 „ सम्राट् हिरोहितो द्वारा आत्म-समर्पण का निश्चय।
2 सितम्बर—जापान का विराम संधि पर हस्ताक्षर।

सहायक अध्ययन

Cyril, Falls : **The Second World War : A Short History** (1948)
Dallin, D. : **The Big Three** (1945)
Eisenhower, D. D. : **Crusade In Europe** (1948)
Feis, H. : **The Road to Pearl Harbor** (1949)
Sherwood, R. E. : **Roosevelt and Hopkins-An Intimate History** (1948)
Shirer. W. : **The Rise and Fall of the Third Reich** (1962)
Trevor-Roper, H. R. : **The Last Days of Hitler** (1946)
Wilmot, Chester : **The Struggle for Europe** (1950).

प्रश्न

1. द्वितीय विश्व युद्ध के कारणों का उल्लेख करें।
(राज० वि० 1959, जो० वि० 1965, पं० वि० 1965)

2. 1941 के नाजी जर्मन और सोवियत रूस के युद्ध को जन्म देने वाली परिस्थितियों का क्रमिक वर्णन करें। (उ० वि० 1966)

3. निम्नलिखित पर, पोट्सडम के प्रथम युद्धोत्तर सम्मेलन ने क्या निर्णय लिये—

(1) जर्मनी व (2) पोलैण्ड

इन विषयों पर वार्ता भंग होने के क्या कारण थे ? (राज० वि० 1959)

4. निम्नलिखित पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखें :—

(i) अटलांटिक घोषणा-पत्र

(ii) याल्टा सम्मेलन (राज० वि०, 1964)

5. युद्ध के अंत में विश्व मे स्थायी शांति के लिये किये गये प्रयत्नों की आलोचनात्मक व्याख्या करें। (राज० वि० 1966)

6. उन तत्वो की विवेचना करें जिनके कारण नाजी जर्मनी का सोवियत रूस से 1941 में संघर्ष हुआ। (राज० वि० 1966)

7. द्वितीय विश्व युद्ध के समय, भूमध्यसागर में अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिये ब्रिटेन ने क्या प्रयत्न किये ? (उ० वि० 1966)

8. 1938 के कूटनीतिक स्थिति की आलोचना करिए जिससे द्वितीय विश्व युद्ध निश्चित हो गया था। (आ० वि० 1965, 1967)

17 शांति संधियाँ

"यह कदम (जापान के साथ शांति संधि) सुदूर-पूर्व में एक और युद्ध को जन्म देगा।"

—ग्रोमिको (रूसी प्रतिनिधी)

"बड़े दु.ख की बात है कि चीन जिसे जापान के आक्रमण से काफी क्षति उठानी पड़ी, संधि मे शामिल नहीं हुआ। यद्यपि इस संधि से लोग संतुष्ट नहीं हैं किन्तु यह एक अच्छी संधि है, इससे युद्ध होने का भय नहीं,यह शांति बनाये रखेगी।"

—जॉन फोस्टर डलेस (जापानी शांति संधि के रचयिता)

"जर्मनी का एकीकरण तथा जर्मनी से संधि विश्व में शांति स्थापना हेतु आवश्यक है एवं ऐसा शीघ्र और अति शीघ्र होना चाहिये।" —एक लेखक

6 वर्ष के दीर्घ संग्राम के पश्चात् 1945 में जर्मनी तथा इटली ने बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया। इस समय यूरोप की अवस्था अत्यन्त शोचनीय एवं गम्भीर थी। रूसी सेना ने पूर्वी पोलैण्ड एवं बाल्टिक समुद्र के तटवर्ती राज्यों (एस्थोनिया लैटविया, लिथुआनिया और पूर्वी जर्मनी आधे बर्लिन सहित) पर अधिकार कर लिया। सन् 1945 के युद्धकालीन 'याल्टा सम्मेलन' में चर्चिल और रूजवेल्ट ने परिस्थिति से विवश होकर पूर्वी यूरोप को शत्रुओं से मुक्त कराकर स्वतंत्र कराने के स्टालिन के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। परन्तु याल्टा समझौते को भंग कर रूसियों ने पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, हंगेरी, रूमानिया, बुल्गारिया एवं अल्बानिया को सोवियत गुट मे सम्मिलित कर लिया। ये राष्ट्र रूस के उपग्रह मात्र बन गये। इस प्रकार पूर्वी यूरोप सम्पूर्ण रूप से रूसी प्रभाव क्षेत्र में आ गया। परिणामत: पश्चिमी राष्ट्र और रूस के बीच मन मुटाव और अविश्वास बढ़ गया।

युद्धोत्तर काल में जब तक पराजित राष्ट्र के साथ स्थायी शान्ति नहीं हो जाती तथा विराम सन्धि के आधार पर ही युद्ध रुका रहता है, तब तक विश्व में स्थायी शान्ति की समस्या बनी रहेगी क्योंकि विराम सन्धि तो युद्ध रोकने का एक अस्थायी कदम मात्र ही है। युद्ध काल में ही इस बात का निर्णय चर्चिल, स्टालिन, ट्रूमैन आदि ने इस प्रकार किया था (पोट्सडम सम्मेलन सन् 1945) कि पांच शक्तियों—उपरोक्त तीन, फ्रांस तथा चीन, के विदेश मन्त्रियों की एक समिति शान्ति समझौते पर प्रारम्भिक विचार विनिमय करेगी तथा सामूहिक रूप से समस्त राष्ट्रों का सम्मेलन नही बुलाया जायेगा। इसके अतिरिक्त इस समिति के निर्णय सर्वसम्मति से किये जायेंगे, बहुमत से नही। इसी कारण शान्ति सन्धि की कुछ समस्याएं मत की विभिन्नताओं के फलस्वरूप आज भी अनिर्णीत हैं। इसके अतिरिक्त इसका परिणाम यह भी हुआ कि संधि एक साथ न होकर टुकड़े टुकड़े में, कई वर्षो के हेर फेर के साथ भिन्न भिन्न देशों से हुई।

शान्ति सन्धियों को तीन प्रमुख कालों में विभाजित किया जा सकता है: प्रथम 10 फरवरी 1947, जब कि धुरी समर्थक पांच राष्ट्रों—इटली, रूमानिया, हंगेरी, बुलेगेरिया एवं फिनलैण्ड के साथ सन्धियां हुई; द्वितीय, सैनफ्रान्सिस्को में जापान, के साथ 8 सितम्बर 1951 को की गई सन्धि व तृतीय काल, 15 मई 1955, जब कि आस्ट्रिया के साथ शान्ति सन्धि की गई। सोवियत रूस संरक्षित पूर्वी जर्मनी मे साम्यवाद के प्रचार के कारण और पश्चिमी राष्ट्रों के सम्पूर्ण जर्मनी में लोकतंत्र की ही स्थापना पर अड़े रहने के कारण जर्मनी के एकीकरण का प्रश्न जटिल हो गया और और आज तक उससे कोई शान्ति सन्धि नही हुई है। इतिहास में यह पहला उदाहरण है जब कि युद्ध के पश्चात् इतने लम्बे समय तक किसी राष्ट्र के साथ सन्धि न हुई हो।

1. रूमानिया (10 फरवरी 1947)

भौमिक निर्णय :—इटली ने फ्रांस को सेंट बर्नार्ड दर्रा, मौंटथावर, मौंट-बार्टन, मौंटसेनिस, टन्डा तथा ब्रिगाजिला, युगोस्लाविया को पेलाणोसा, वेनिजिया ग्यूलिया, (3 हजार वर्गमील) लगोरय तथा डालमाशियन समुद्रतट के कई द्वीपों को सौंपा, ट्रिस्ट को स्वतन्त्र प्रदेश बना दिया गया, जिसका शासन संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद को सौंपा गया। यूनान को रोड्स तथा डोडेकेनीज के अन्य द्वीपों को सौंपा गया व अल्बानिया और इथोपिया की स्वतंत्रता को मान्यता दी गई। उपनिवेशों के भविष्य का निर्णय संयुक्त राष्ट्र संघ को सौंपा गया। 1952 में 6 लाख 80 हजार वर्गमील वाले लीबिया को स्वतंत्र घोषित किया गया। इटालियन सोमालीलैण्ड को 10 वर्ष के लिये 'संरक्षण प्रणाली के अन्तर्गत' रखा गया, जो 1960 में स्वतंत्र हुआ। इरिट्रिया को इथोपिया के साथ मिला दिया गया।

निःशस्त्रीकरण :—इस क्षेत्र में फ्रांस और युगोस्लाविया से मिली हुई इटली की सीमाओं का निःसैनीकरण किया गया एवं परमाणु शस्त्रों, पनडुब्बियों, तारपीडों व विमान वाहक जहाजों के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगाया गया तथा इटली के टैंकों की संख्या घटाकर 200 कर दी गई। नौ-बेड़े में युद्ध पोतों की संख्या घटाकर दो, क्रूजर चार और अफसरों तथा नाविकों की संख्या कुल 25 हजार कर दी गई। थल सेना में सैनिकों की संख्या दो लाख पचास हजार और हवाई सेना 25 हजार नियत की गई। हवाई बेड़े में लड़ाकू विमानों की संख्या घटाकर 200 और यातायात विमानों की संख्या 150 रखी गई।

क्षतिपूर्ति :—60 करोड़ डालर क्षतिपूर्ति औद्योगिक सम्पत्ति के रूप में इटली से वसूल करना निश्चित हुआ। यह भी तय हुआ कि इसमें से रूस को 10 करोड़, युगोस्लाविया को 12 करोड़ 50 लाख, यूनान को 10 करोड़ 50 लाख, इथोपिया को 2 करोड़ 50 लाख और अल्बानिया को 50 लाख डालर मिलेंगे। यह राशि इटली को नौ वर्ष में देनी होगी, जिसमें से प्रथम दो वर्ष की उसे छूट दे दी गई।

2. रूमानिया (10 फरवरी 1947)

भौमिक निर्णय :—मानचित्र में रूमानिया की सीमाओं में परिवर्तन किया गया। उसे हंगरी से ट्रांसिलवानिया प्राप्त हुआ, जिस पर उसने 1940 में अधिकार कर लिया था। परन्तु रूमानिया को बेसारेबिया तथा बूकोविना रूस को देने पड़े।

निःशस्त्रीकरण व क्षतिपूर्ति :—एक लाख बीस हजार थल सेना, 15 हजार टन के जहाज, 5 हजार नौ-सेना, 150 विमान और 8 हजार वायु सेना नियत कर दी गई। शस्त्रों पर उसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगा दिया गया, जैसा कि इटली में

लगाया गया था। जहाँ तक क्षतिपूर्ति का प्रश्न है 12 सितम्बर 1944 से 8 वर्षों में 30 करोड़ डालर उसके द्वारा रूस को दिया जाना निश्चित हुआ।

3. हंगरी (10 फरवरी, 1947)

भौमिक निर्णय :—एक जनवरी 1938 को आस्ट्रिया और चैकोस्लोवाकिया की सीमाओं की पुनर्स्थापना की गई। चैकोस्लोवाकिया को ब्राटिस्लावा तथा रूमानिया को ट्रांसिलवानिया मिला।

निःशस्त्रीकरण व क्षतिपूर्ति :—65 हजार थल सैनिक, 5 हजार वायु सैनिक, 90 विमान रखे गये तथा इटली की तरह शस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाये गये। कुल 30 करोड़ डालर क्षतिपूर्ति राशि में से रूस को 20 करोड़ व यूगोस्लाविया और चैकोस्लोवाकिया को पांच-पांच करोड़ 8 वर्षों की अवधि में दिया जाना था।

4. बुलगेरिया (10 फरवरी 1947)

भौमिक निर्णय :—जनवरी 1941 की उसकी सीमाओं को पुनः स्थापित किया गया। रूमानिया से उसे दक्षिण दोब्रुजा मिला।

निःशस्त्रीकरण व क्षतिपूर्ति :—55 हजार थल सैनिक, 3500 नौ-वायु सैनिक, 250 टन के जहाज, 5,200 वायु-सैनिक, 90 विमान तथा इटली की तरह शस्त्रों पर प्रतिबंध निश्चित किये गये। 7 करोड़ डालर क्षतिपूर्ति में से साढे चार करोड़ यूनान को और ढाई करोड़ यूगोस्लाविया को 8 वर्षों में देना निश्चित हुआ।

5. फिनलैण्ड (10 फरवरी 1947)

भौमिक निर्णय :—जनवरी 1941 की सीमाओं को, पेटसामो तथा केरीलिया को छोड़, जो रूस को सौंपे जा चुके थे, पुनः लागू किया गया। 12 मार्च 1940 की सोवियत-फिनिश सन्धि को भी पुनः स्वीकृति दी गई।

निःशस्त्रीकरण व क्षतिपूर्ति :—34,400 थल; 4,500 जल; दस हजार टन के जहाज; 3,000 नभ; और 60 विमान तक सेना सीमित कर दी गई। क्षतिपूर्ति के अन्तर्गत 19 सितम्बर 1944 से 8 वर्षों में सोवियत संघ को उसे 30 करोड़ डालर देने थे।

जापान के साथ शान्ति संधि (8 सितम्बर 1951)

2 सितम्बर 1945 को जापान द्वारा बिना शर्त आत्मसमर्पण कर देने पर अमेरिकी सेनाओं ने टोकियो पर अधिकार जमा लिया और वहां अस्थायी सैनिक शासन की स्थापना कर दी। जनरल डगलस मैकार्थर वहां मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च सेनापति नियुक्त हुए। रूस ने दक्षिण सखालिन और कुरील द्वीपों पर अपना अधिकार जमाया व फारमोसा और मचूरिया चीन को वापस कर दिए। कोरिया में रूस ने 38 चौ०

समानान्तर रेखा के उत्तर और अमेरिकी फौजों ने इस रेखा के दक्षिणी भाग पर अधिकार कर लिया। दिसम्बर में सर्वोच्च सेनापति के आधीन जापान में राष्ट्रीय परिषद की स्थापना की गई, जिसमें ब्रिटेन, अमेरिका, चीन और रूस के प्रतिनिधि रखे गये। मित्र राष्ट्रीय परिषद की नीति और सलाह को कार्यान्वित करने के लिए फरवरी 1946 में वाशिंगटन में 11 राज्यों के एक 'सुदूर-पूर्व आयोग' की स्थापना की गई। मित्र राष्ट्रीय परिषद ने जापान को शस्त्र रहित कर दिया और युद्ध अपराधियों के विरुद्ध मुकद्दमा चलाने की व्यवस्था की। जापान में सबसे बड़ी व्यापारिक संस्था जैबात्स (ZAIBATSU) को भंग कर दिया गया और उसके लिये एक नया संविधान तैयार हुआ। इस संविधान में युद्ध की निन्दा और एक उत्तरदायी संसदीय सरकार की स्थापना की गई। संविधान के अनुसार संसद अर्थात डायट में दो सभाओं सिनेट और प्रतिनिधि सभा की व्यवस्था है। वयस्क मताधिकार के आधार पर इनका निर्वाचन क्रमशः 6 और 4 वर्षों के लिए होता है। संविधान में भाषण, प्रकाशन, निष्पक्ष अदालती जांच अनिवार्य शिक्षा तथा जातीय और धार्मिक स्वतंत्रता की व्यवस्था है। प्रथम चुनाव 10 अप्रैल 1946 को हुए और प्रधानमंत्री शिगेरू योशीदा ने चुनाव के एक मास बाद संयुक्त मन्त्रिमंडल की स्थापना की, किन्तु क्षतिपूर्ति और निःशस्त्रीकरण के प्रश्न ने शान्ति संधि में देर कर दी। 12 मई 1949 को क्षतिपूर्ति की मात्रा 25 प्रतिशत घटा दी गई। 13 अप्रैल 1951 को जनरल मैकार्थर (कोरियाई युद्ध को रोकने के लिये साम्यवादी चीन के विरुद्ध आक्रामक कार्यवाही की जिद्द करने के कारण) वापस बुला लिये गये और उनके स्थान पर ले० जनरल मैथ रिजवे सर्वोच्च सेनापति नियुक्त हुए। 11 महीने की वार्ता के पश्चात् जापानी सन्धि पर विचार करने के लिये 52 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन 4 सितम्बर 1951 को सैनफ्रांसिस्को में हुआ। 8 सितम्बर को 49 राष्ट्रों ने सन्धि पर अन्तिम रूप से हस्ताक्षर किये। सोवियत संघ, पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया ने हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। भारत, वर्मा और चीन सम्मेलन में शामिल नहीं हुए। इस सन्धि में जापान ने संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनने की इच्छा प्रकट की।

सन्धि की शर्तें निम्न थी: (1) मित्र राष्ट्रों ने होंश होकाईडो, क्यूशू व शिकोकू द्वीपों पर जापान की सार्वभौमिक सत्ता स्वीकार की; (2) ग्यूएलपार्ट, पोर्ट हैमिल्टन, डेगलाट, दक्षिणी सखालिन, कुरील द्वीपो, रियूकू, वोनिन व वाल्कैनों क्षेत्र, पार्सवेला व मारकस द्वीपों, स्प्राटली व पार्सल मरियाना, करोलिन तथा मार्शल द्वीप, जो कि जापान के आधीन आदिष्ट प्रणाली में थे, संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वाधान में संयुक्त राज्य अमेरिका को संरक्षण समिति के अंतर्गत दिये गये। अमेरिका ने आश्वासन दिया कि रियूकू प्रान्त को भी इसी प्रणाली के अन्तर्गत आधीन कर दिया जायेगा। जापान का अधिकार समाप्त हो गया। ये क्षेत्र अमेरिका और संयुक्त राष्ट्र संघ की संरक्षण समिति के आधीन कर दिए गए; (3) जापान अपने अन्तर्राष्ट्रीय

झगड़ों को शान्तिपूर्ण ढंग से निबटायेगा और संयुक्त राष्ट्र संघ को हर प्रकार से सहयोग देगा; (4) जापान प्रत्येक देश से व्यापार कर सकेगा; (5) क्षतिपूर्ति के लिये, जापान अधिकारी राष्ट्रों से कच्चा माल लेकर पक्का माल तैयार कर सम्बन्धित देशों को वापिस भेज देगा। अन्तर्राष्ट्रीय विवाद का निबटारा अन्तर्राष्ट्रीय अदालत द्वारा होगा; (6) जापान ने कोरिया की स्वतन्त्रता को मान्यता दी; (7) जापान की क्षतिपूर्ति देने की असमर्थता को मान लिया गया; (8) सन्धि के 90 दिनों के भीतर जापान से विदेशी सेना हटा ली जाएगी; (9) जापानी युद्धबन्दियों को वापिस लौटने की सुविधा दी जायेगी; (10) यद्यपि चीन इस सन्धि में सम्मिलित नहीं हुआ था, जापान ने चीन में अपने विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया।

इस सन्धि में क्षतिपूर्ति और नि.शस्त्रीकरण की व्यवस्था न होने के कारण इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। संयुक्त राष्ट्र संघ में रूसी प्रतिनिधि ग्रोमिको ने सन्धि पर हस्ताक्षर करने वालों को सावधान किया "यह कदम सुदूर-पूर्व में एक और युद्ध को जन्म देगा।" जापानी शान्ति सन्धि के रचयिता जान फोस्टर डलेस ने कहा, "बड़े दुख की बात है कि चीन जिसे जापान के आक्रमण से काफी क्षति उठानी पड़ी, सन्धि में शामिल नहीं हुआ।" इन्होंने कहा था, "यद्यपि इस सन्धि से लोग सन्तुष्ट नहीं हैं किन्तु यह एक अच्छी सन्धि है, इससे युद्ध होने का भय नहीं, यह शान्ति बनाये रखेगी।"

उसी दिन जापान ने अमेरिका से पारस्परिक सन्धि कर उसे जापान में अमेरिकी सेना रखने का अधिकार दिया। 18 नवम्बर 1952 को जापानी संसद ने दोनों सन्धियों की सम्पुष्टि कर दी।

ट्रीस्ट समस्या

सन् 1946 में ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, और अमेरिका के विदेश मंत्रियों ने निर्णय लिया कि ट्रीस्ट, यूगोस्लाविया तथा इटली के सीमान्त पर स्थित सुरक्षा परिषद् के अधीन, एक स्वतंत्र क्षेत्र के रूप में रहेगा। सुरक्षा परिषद् में भी बड़ी शक्तियों के विरोध के कारण इस निर्णय को व्यवाहारिक रूप न दिया जा सका। द्वितीय महायुद्ध के समय से ही मित्र राष्ट्रों ने ट्रीस्ट पर अधिकार कर उसे 'क' तथा 'ख' क्षेत्रों में विभाजित कर दिया था। 'क' क्षेत्र जिसमें ट्रीस्ट नगर था, आंग्ल-अमेरिकी सेना के अधिकार में था; 'ख' क्षेत्र पर यूगोस्लाविया ने अधिकार किया। सन् 1948 में पश्चिमी राष्ट्रों का ट्रीस्ट को इटली को सौंपने का प्रस्ताव, यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो के विरोध के कारण अस्वीकृत हो गया। 6 वर्ष तक इस समस्या के कारण स्थिति गम्भीर और तनावपूर्ण बनी रही। 6 अक्टूबर, 1952 को ब्रिटेन, अमेरिका, यूगोस्लाविया तथा इटली के प्रतिनिधियों ने ट्रीस्ट सम्बन्धी समझौता किया। इसके अनुसार 'क' क्षेत्र इटली को दिया गया, एवं 'ख' क्षेत्र यूगोस्लाविया को मिला।

डेन्यूब नदी में मुक्त नौका वहन की समस्या ने सन् 1948 में जटिल रूप धारण कर लिया। इसी वर्ष बेलग्रेड सम्मेलन में रूस तथा उसके समर्थक देशों ने उक्त सिद्धान्त को मान्यता देते हुए रूस को विशेष सुविधा दी। पश्चिमी राष्ट्रों ने इस सम्मेलन के निर्णय को अस्वीकार करते हुए तीव्र विरोध प्रकट किया। फलस्वरूप सम्पूर्ण डेन्यूब का महत्वपूर्ण नियंत्रण सोवियत रूस के अधिकार में आ गया। केवल यूगोस्लाविया ही रूस के इस अधिकार का विरोध करता रहा।

आस्ट्रिया के साथ संधि (15 मई, 1955)

उपरोक्त सन्धियों के पश्चात् विदेश मंत्रियों की समिति मे सन् 1947 के बसन्तकाल में मास्को में आस्ट्रिया तथा जर्मनी के साथ सन्धि के लिये वार्ता आरम्भ हुई। वास्तव में आस्ट्रिया शत्रु राष्ट्र नहीं था, क्योंकि 1943 की मास्को-घोषणानुसार आस्ट्रिया को पूर्ण स्वतंत्रता का आश्वासान दिया गया था। परन्तु पश्चिमी राष्ट्रों एवं रूस के बीच निम्नलिखित तीन विषयों में मतभेद था : (1) यूगोस्लाविया की आस्ट्रिया के दक्षिण में स्थित कारिन्थिया, व 75 करोड़ के हर्जाने की माँग तथा (2) जर्मन सम्पति का विभाजन। पोट्सडम समझौते के अनुसार सोवियत क्षेत्र स्थित समस्त जर्मन सम्पत्ति जो कि पूर्वी आस्ट्रिया में थी, रूस को सौंपी गई थी। सन 1938 से 1945 तक जर्मनी ने आस्ट्रिया पर शासन किया था। अतः विजयी रूस आस्ट्रिया की सम्पत्ति पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहता था, पश्चिमी राष्ट्रों—अमेरिका, ब्रिटेन व फ्रांस ने सामूहिक रूप से इस मांग का विरोध किया। अतः यह वार्ता असफल रही तथा चार शक्तियों का एक सन्धि आयोग स्थापित किया गया। केवल 1947 में ही इस सम्बन्ध में 85 बैठकें हुई किन्तु फिर भी ये चारों राष्ट्र किसी निर्णय पर नही पहुंच सके। विदेश मंत्रियों की समिति ने सन् 1948 व 1949 में आस्ट्रिया सन्धि की पुन: चेष्टा की। जर्मन सम्पत्ति के विषय में यह निर्णय हुआ कि रूस को तेल एवं जहाजरानी सम्बन्धी सुविधा और 6 वर्ष में जर्मन सम्पत्ति की मांग के बदले में आस्ट्रिया द्वारा रूस को 75 करोड़ रुपया दिया जाए। इसे स्वीकार कर लिया गया। परन्तु आस्ट्रिया के भविष्य के विषय में पारस्परिक मतभेद एवं असहमति सन् 1945 तक चलती रही, जिससे सन्धि नहीं हो पाई। रूस के विदेश-मन्त्री मोलोटोव ने सन् 1955 में घोषणा की, "यदि आस्ट्रिया तथा जर्मनी के सम्पूर्ण पार्थक्य का पूर्ण विश्वास दिलाया जाय तो रूस सन्धि के लिए तत्पर है।" आस्ट्रिया के विदेश-मन्त्री जूलियसराब ने सदा के लिये आस्ट्रिया की निष्पक्षता का विश्वास दिया जिसे रूस ने मान लिया और सन्धि के लिए उचित वार्ता प्रारम्भ हुई। 15 मई सन् 1955 मे ब्रिटेन, फ्रांस, रूस अमेरिका तथा आस्ट्रिया के विदेश मन्त्रियों ने वियना में आस्ट्रिया के साथ शान्ति सन्धि की। इसकी धाराएं निम्न है : (1) मित्र राष्ट्रों ने आस्ट्रिया को एक स्वतंत्र, प्रभुसत्ता सम्पन्न तथा प्रजातांत्रिक राज्य के रूप में स्वीकार किया, (2) 1 जनवरी 1938 की आस्ट्रिया

की सीमा को पुनः मान लिया गया, (3) आस्ट्रिया ने घोषणा की, "भविष्य में हम जर्मनी से आर्थिक अथवा राजनीतिक किसी भी प्रकार का गठबन्धन नहीं जोड़ेंगे।" (4) आस्ट्रिया नाजियो की शक्ति का अन्त करने के लिये उचित कार्यवाही करेगा, (5) वह सामूहिक विनाश वाले अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण एवं परीक्षण नही करेगा, (6) अल्प-सख्यक स्लोविन तथा क्रोटो के हितों की रक्षा की वह उचित व्यवस्था करेगा, (7) वयस्क मताधिकार तथा गुप्त मतदान की सुविधा देगा, (8) आस्ट्रिया निजी सम्पत्ति मे से हर्जाना देने मे मुक्त होगा, (9) डेन्यूब पर मुक्त नौका वहन रहेगा, (10) सन्धि के पश्चात् 90 दिनों मे मित्र राष्ट्र, आस्ट्रिया से अपनी-अपनी सेनाओ को हटा लेंगे व (11) आस्ट्रिया की निष्पक्षता को मित्र राष्ट्रों ने स्वीकृति दी।

इस प्रकार आस्ट्रिया पुनः स्वतन्त्र हो गया। युद्ध समाप्ति के पश्चात् पूर्वी तथा पश्चिमी राष्ट्रो के बीच हुआ यह प्रथम बड़ा समझौता था।

जर्मनी के साथ शांति वार्ता

7 मई 1945 को जर्मनी के आत्मसमर्पण के पश्चात् उसे चार टुकड़ों में विभाजित कर अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस ने उन पर अधिकार कर लिया। इस विभाजन के अनुसार अमेरिका को 1,05,00,000 आबादी वाला 52 हजार पांच सौ वर्ग मील क्षेत्र, ब्रिटेन को 2,37,00,000 की आबादी वाला 36 हजार वर्ग मील क्षेत्र, फ्रांस को 60,00,000 आबादी वाला एक लाख 65 हजार वर्ग मील क्षेत्र और रूस को 18,00,0000 आबादी का 45 हजार वर्ग मील क्षेत्र प्राप्त हुआ। राजधानी बर्लिन को चारों राष्ट्रों ने चार भागो मे विभाजित कर दिया व चारों क्षेत्रों के सेनापतियों को मिलाकर एक 'नियंत्रण परिषद्' की स्थापना की।

2 अगस्त 1945 में पोर्ट्सडम सम्मेलन के अनुसार जर्मनी का पूर्ण निःशस्त्रीकरण कर नाजीवाद का अन्त किया गया। परन्तु सन् 1946-47 में जर्मनी से सम्बन्धित प्रत्येक विषय पर रूस और अमेरिका में भारी तनाव फैल गया। क्षतिपूर्ति, सीमा निर्धारण तथा जर्मन सरकार के भविष्य को लेकर दोनों गुटों मे मतभेद थे। 1947 में लन्दन और मास्को मे चार विदेश मन्त्रियों का दो बार सम्मेलन हुआ। परन्तु वे किसी निश्चित हल पर न पहुंच सके। रूस की मांग थी कि जर्मनी को शक्तिशाली संघीय राज्य बनाया जाय और 18 वर्षो मे वह 50 करोड रुपया क्षतिपूर्ति के रूप मे दे। इसके अतिरिक्त पूर्वी सीमा नए ढग से निर्धारित की जाए। आग्ल-अमेरिकी गुट चाहता था कि जर्मनी में प्रजातंत्रीय गणतंत्रात्मक सरकार की स्थापना हो, सेनाओं का पुनर्निर्धारण किया जाय और जर्मनी की आर्थिक दशा को पुनः उन्नत बनाया जाए। इस प्रकार पारस्परिक मदभेदों के मध्य यह सम्मेलन सफल न हो सका, क्योंकि प्रत्येक गुट अपने-अपने दृष्टिकोणों को ही प्रधानता दे रहे थे।

सन् 1948 में सोवियत संघ ने बर्लिन जाने वाले रास्ते को बन्द कर दिया,

क्योंकि आँग्ल-अमेरिकियों ने रूसी विरोध के बावजूद भी, पश्चिमी जर्मनी को मुद्रा प्रचलन तथा प्रजातंत्रीय शासन का अधिकार, दिलाने का निश्चय किया था। 9 मास तक पश्चिमी राष्ट्रों ने बर्लिन की आवश्यकताओं की विमानों द्वारा पूर्ति की। 13 अप्रैल 1949 को वाशिंगटन में तीन पश्चिमी राष्ट्रों के विदेश मंत्रियों के सम्मेलन में तीनों देशों के जर्मन क्षेत्रों को मिलाकर एक पश्चिमी जर्मन राज्य की स्थापना कर दी गई, जिसकी राजधानी बोन रखी गई। इसके अतिरिक्त सैनिक शासन के स्थान पर नागरिक शासन स्थापित किया गया। 12 मई 1949 को रूस ने बर्लिन के घेरे को उठा लिया। इस घटना के चार दिन पूर्व ही पश्चिमी राष्ट्रों ने पश्चिम जर्मनी में जर्मन संघीय जनतंत्र की स्थापना की। अमेरिका ने जर्मनी की आर्थिक सहायता के लिए मार्शल सहायता योजना के अन्तर्गत 800 करोड रुपये की सहायता की। तीन वर्ष पश्चात् पश्चिमी राष्ट्रों ने क्षतिपूर्ति की मात्रा कम कर दी तथा राजनयिकों की नियुक्ति, जहाज निर्माण और संघीय गणतन्त्रीय संविधान बनाने का उसे अवसर दिया। अन्त में विदेशी नियंत्रण पूर्णतः हटा लिया गया।

पूर्वी जर्मनी में रूस ने अपने निजी प्रभाव क्षेत्र में जर्मन लोकसत्तावादी जनतंत्र की स्थापना 7 अक्टूबर 1949 को की और बर्लिन को राजधानी घोषित किया। 25 मार्च 1954 को पश्चिम जर्मनी को सार्वभौमिक सत्ता दी गई। आश्चर्य का विषय है कि महायुद्ध के 15 वर्ष बाद भी दोनों गुट घोषणा करते है, "जर्मनी का एकीकरण तथा जर्मनी से सन्धि विश्व में शांति की स्थापना हेतु आवश्यक है एवं ऐसा शीघ्र और अति शीघ्र होना चाहिए।" किन्तु किन तरीकों से इस प्रकार के उद्देश्य की प्राप्ति हो, इस पर आज तक रूसी और अमेरिकी गुट अपना-अपना पृथक दृष्टिकोण रखते है, तथा उस पर अड़े हुए है। शांति तो सब चाहते हैं, परन्तु उसको प्राप्त करने के उपायों पर सब मत-वैभिन्य रखते हैं। 1945 का बर्लिन सम्मेलन जिसमें जर्मन समस्या पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को लेकर विचार विमर्श हुआ, अन्त में असफल ही रहा। 24 अक्टूबर 1954 को पश्चिमी गुट ने लन्दन और पेरिस के समझौते के अनुसार पश्चिमी जर्मनी को नाटो में सम्मिलित कर लिया। 5 मई 1955 को युद्ध के 10 वर्ष बाद, पश्चिमी जर्मनी को पूर्ण रूप से एक स्वतन्त्र एवं सार्वभौम राज्य बना दिया गया। जुलाई मे हुए जेनेवा के प्रथम शिखर सम्मेलन में चार बड़े राष्ट्रों (अमेरिका, रूस, फ्रांस और ब्रिटेन) के प्रमुख नेताओं ने इस गम्भीर जर्मन समस्या को विदेश मन्त्रियो को सौंपा। किन्तु यह समिति आज तक जर्मनी के साथ शांति सन्धि एवं जर्मन एकीकरण की समस्या हल नहीं कर पाई है। 1960 के द्वितीय शिखर सम्मेलन के समय रूस के प्रधानमन्त्री निकिता ख्रुश्चेव ने कहा "हम पूर्वी जर्मनी के साथ एक पृथक् शांति सन्धि, यदि अगले 6 से 8 महीनों में पुनः शिखर सम्मेलन न हुआ तो करने जा रहे है तथा पश्चिमी राष्ट्र अपने भूमिगत सभी अधिकारों को खो देंगे।" उन्होंने आगे कहा, "जिस प्रकार अमेरिका ने जापान मे एक पृथक्

सन्धि बिना रूस की सहमति से कर ली थी, वही हम भी पूर्वी जर्मनी के साथ करेंगे।" इस प्रकार विश्व शान्ति के लिये यह समस्या अब भी घातक बनी हुई है।

युद्ध-अपराधियों को दण्ड

1943 में मास्को के एक सम्मेलन में अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस के प्रमुख नेताओं ने यह निर्णय लिया कि युद्ध के पश्चात् प्रमुख नाजी तथा अन्य नेताओं, जो कि युद्ध के लिये उत्तरदायी थे, को दण्ड दिया जायेगा। 1945 में याल्टा तथा पोर्ट्सडम सम्मेलन में जर्मन युद्ध अपराधियों को दण्ड देने के लिए चार सदस्यों का एक अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायालय बनाया गया तथा उनको दण्ड देने के नियम व आधारों पर भी विचार किया गया। 20 नवम्बर 1945 से लेकर 31 अगस्त 1946 तक जर्मनी के नूरेम्बर्ग शहर में 22 नेताओं पर मुकदमा चलाया गया। इनके विरुद्ध तीन आरोप थे : (1) शांति भंग कर युद्ध आरम्भ करना, (2) मानवता के विरुद्ध कार्य तथा (3) युद्ध नियमों को भग करना। इन अपराधियों मे से 12 को मृत्यु दण्ड दिया गया, जिनमें प्रमुख थे—गोयरिंग, रिबेनट्रोप, काइटल आदि। तीन को आजन्म कारावास का दण्ड मिला, अन्य चार को 10 से 20 वर्ष तक का कारावास तथा शेष तीन को मुक्त कर दिया गया।

इसी प्रकार जापानी नेताओं को भी युद्ध अपराधी मानकर 11 सदस्यों के एक अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायालय ने टोकियो में विचार किया। 3 मई 1946 को 28 अपराधियों को उपर्युक्त आरोप लगाकर मुकदमा चलाया गया। 4 नवम्बर 1948 को इस सम्बन्ध में निर्णय लिया गया जिसके अनुसार 7 को मृत्यु दण्ड, कुछ को आजीवन व अन्य को अल्पकालीन कारावास दिया गया। भारतीय न्यायाधीश डा० राधा विनोद पाल ने, इन तर्कों के आधार पर अपनी सहमति नही दी कि यह विजेता राष्ट्रों का न्यायालय था तथा 'युद्ध' शब्द को अभी तक पूर्ण रूप से अन्तर्राष्ट्रीय शब्द कोष में परिभाषित नही किया गया था। साथ ही जिनको दण्ड दिया गया था, उनका अपराध केवल यही था कि उन्होने अपने से उच्च अधिकारियों की आज्ञा का पालन किया था। इनको दण्ड देने का उद्देश्य राजनीतिक एवं प्रतिशोधपूर्ण था। अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास मे इस प्रकार की घटना का वर्णन कही भी नही मिलता है।

मूल्यांकन

यदि प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध का तुलनात्मक अध्ययन करें तो हमें कुछ अन्तर तथा विशेषताएं द्वितीय युद्ध मे स्पष्ट होती दीखती हैं। जहाँ प्रथम युद्ध का क्षेत्र व काल सीमित था, वहाँ द्वितीय महायुद्ध उतना ही व्यापक तथा दीर्घकालीन था। यद्यपि विनाशकारी अस्त्रों का प्रयोग दोनों युद्धों में हुआ, द्वितीय युद्ध में इनकी भयानकता अधिक थी। यांत्रिक उन्नति के कारण प्रथम बार इतिहास में विनाशकारी अणु-शस्त्रों के प्रयोग से मानव जाति का संहार स्पष्ट हो गया। प्रथम युद्ध के समाप्त होने के पश्चात् शांति स्थापना में लगभग एक वर्ष ही लगा था, परन्तु आज द्वितीय

महायुद्ध की समाप्ति तथा जर्मन आत्मसमर्पण को हुए 23 वर्ष बीत चुके हैं फिर भी स्थायी शांति नही हो पाई है। एक तरफ जहां रूस ने जापान से सन्धि नहीं की है, वहां जर्मनी के साथ भी स्थायी सन्धि नही हो सकी है। युद्धकालीन मित्र राष्ट्रों मे पारस्परिक विरोध हो जाने के कारण, 'शीत युद्ध' आरम्भ हो गया। इसी के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय तनाव मे भी वृद्धि हुई है जो 1960 में पेरिस के शिखर सम्मेलन की असफलता से स्पष्ट है। तनाव के कारण ही जर्मनी व कोरिया दो भागों में विभाजित है और आज की इस स्थिति में इनका एकीकरण सम्भव प्रतीत नहीं होता।

सारांश

6 वर्ष के निरन्तर युद्ध के पश्चात् 1945 में जर्मनी व जापान ने बिना शर्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। शांति सन्धियों के तीन प्रमुख काल थे—प्रथम 10 फरवरी, 1947 जब इटली, रूमानिया, हंगरी, बुल्गेरिया एव फिनलैण्ड के साथ सन्धियां हुई; दूसरे, 8 सितम्बर 1951 में जापान के साथ सैन फ्रांसिस्को की सन्धि; तथा तीसरे 15 मई 1955 में आस्ट्रिया के साथ शांति सन्धि का काल। पूर्वी जर्मनी में साम्यवाद के प्रसार और पश्चिमी जर्मनी मे लोकतंत्र की स्थापना के कारण जर्मनी का एकीकरण एवं स्थायी शान्ति सन्धि होना आज तक सम्भव नहीं हुआ।

प्रथम पांच राष्ट्रों के साथ शांति सन्धियो में भौमिक निर्णय, निःशस्त्रीकरण व क्षतिपूर्ति की व्यवस्था थी। जापान और इटली को उपनिवेशों से वंचित कर दिया गया। 6 अक्टूबर 1952 को ट्रीस्ट का एक भाग इटली व दूसरा भाग यूगोस्लाविया के साथ मिला दिया गया। आस्ट्रिया की पुरानी सीमा 1 जनवरी 1938 की मान ली गई। विदेशी सेना को आस्ट्रिया से हटा लिया गया और इसकी निष्पक्षता को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता दी गई। जर्मनी एवं जापान के युद्ध अपराधियों पर नूरेम्बर्ग एवं टोकियो के सैनिक न्यायालयों में मुकदमा चलाया गया और उन्हे दन्ड दिया गया। शांति सन्धियों की पृष्ठभूमि में ही अमेरिका व रूस में मतभेद होने के कारण शीत युद्ध आरम्भ हो गया। विश्व में यह एक अनोखी घटना है कि इतने दीर्घ काल के पश्चात् भी जर्मनी से अब तक सन्धि नही हुई है।

घटनाओं का तिथि-क्रम

1947 10 फरवरी—इटली, रूमानिया, हंगरी, बुल्गेरिया व फिनलैण्ड के साथ शांति सन्धियां।

1949 13 अप्रैल—वाशिंगटन में विदेश-मंत्रियों का सम्मेलन (जर्मन समस्या)।

1951 8 सितम्बर—जापान के साथ सैन फ्रांसिस्को संधि।

1952 6 अक्टूबर—इटली और यूगोस्लाविया में ट्रीस्ट का विलय।

1954 23 मार्च—पश्चिमी जर्मनी को सार्वभौम सत्ता दी गई।

24 अक्टूबर—नाटो (NATO) में पश्चिमी जर्मनी की सदस्यता।

1955 15 मई—आस्ट्रिया के साथ सन्धि।

सहायक अध्ययन

Byrnes, J. F. : **Speaking Frankly** (1947).

Campbell, J.C. : **The United States in World Affairs**. 1945-47 (1947).

Deane, J. R. : **The Strange Alliance** (1947).

Hull, C. : **Memoirs**, 2 vols. (1948).

Kase, Toshikazu : **Journey to the "Missouri"** (1950).

Neumann, W. L. : **Making the Peace**, 1941-45 (1950).

Stettinius, E. R. : **Roosevelt and the Russians**, (1949).

Togo, Shigenori : **The Cause of Japan** (1956).

प्रश्न

1. द्वितीय युद्ध के पश्चात् की प्रमुख सन्धियों पर प्रकाश डालिये।

2. जापान के साथ शान्ति सन्धि के विषय में आप क्या जानते है? यह युद्ध बाद ही किन कारणों से सम्पन्न न हो सकी?

3. 15 मई 1955 की आस्ट्रिया के साथ की गई सन्धि की व्याख्या करें।

4. जर्मनी के साथ शान्ति वार्ता मे किन कारणों से देरी हो रही है? क्या इससे विश्व शांति को खतरा है?

5. द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् हुई शांति सन्धियों का मूल्यांकन करें।

18 संयुक्त राष्ट्र संघ—जन्म और संगठन

"चार्टर के आदर्श मानव जाति के अमूल्य सम्पदा है।"
ऊ थान्ट

"मुझे धैर्य, सहिष्णुता, विश्व-प्रेम व 'जिम्रो और जीने दो' जैसे सिद्धान्तों का आदर करने का प्रशिक्षण मिला है।"—ऊ थान्ट (महासचिव के एकाकी कार्य पर टिप्पणी करते हुए)

"यद्यपि दोनों संगठनों के ढांचों तथा बाह्य रूपों में साम्यता है, तथापि मूलभूत भेद यह प्रदर्शित करते हैं कि सं० रा० संघ धारणा तथा गुण-विशेषता की दृष्टि से राष्ट्र संघ से सर्वथा भिन्न है।" —प्रोफेसर ईगलटन

द्वितीय विश्व युद्ध के अनुभव; विश्व की आर्थिक गतिविधियों में एकरूपता; श्रमिकों की दशा में उन्नति की आवश्यकता; जीवन के न्यूनतम स्तर और आने वाली पीढ़ियों को युद्ध की भयंकरता से बचाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सगठन—संयुक्त राष्ट्र संघ की नींव डाली गई। विज्ञान की विनाशकारी शक्ति, विशेषत: अणुबमों से लड़े गये युद्ध के ध्वंस, ने मानव हृदय में विश्व-शांति तथा मैत्री की भावना को जन्म दिया। अत: तृतीय विश्व युद्ध के विनाश से बचने के लिये विश्व के प्रमुख राष्ट्रों ने विशेषत: अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस ने एक स्थायी विश्व संगठन की स्थापना के निमित्त सजग तथा सामूहिक प्रयास प्रारंभ किये। 1939 में युद्ध के आरम्भ होने पर कार्डेल हल ने अपनी स्मृतियों में तत्काल कहा था, "हमें बिना समय खोये एक अन्य विश्व संगठन की स्थापना करनी चाहिये जो विश्व में शांति बनाए रखने में सफल हो सके।" अन्त में अनेक प्रयासों के पश्चात्, राष्ट्र सघ के परीक्षण से लाभ उठा, 24 अक्टूबर 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई, जिसका विवरण नीचे दिया गया है।

6 जनवरी 1941 को जबकि अधिकांश यूरोप में जर्मनी का अधिकार हो गया था, राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने चार आवश्यक स्वतंत्रताओं की घोषणा की: (1) भाषण व अपने विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता; (2) ईश्वर की उपासना करने की स्वतंत्रता; (3) आर्थिक अभाव व कमी से स्वतंत्रता तथा (4) भय से स्वतंत्रता। उन्हीं के शब्दों में "विश्व भर में इस स्तर तक निःशस्त्रीकरण किया जाय कि कहीं भी कोई राष्ट्र ऐसा न रह जाय कि दूसरे पड़ोसी राष्ट्र पर शारीरिक अत्याचार कर सके।" 12 जून 1941 को 14 मित्र राष्ट्रों ने जिनमे यूरोप के नौ निर्वासित देश भी सम्मिलित थे, लन्दन में अंतर्मित्रराष्ट्रीय घोषणा की। इसमें कहा गया, "स्थायी शांति केवल मात्र विश्व के स्वतंत्र नागरिकों के स्वेच्छापूर्ण सहयोग से ही सम्भव है। युद्ध और शांति के समय, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये मिल-जुल कर काम करना ही हमारा ध्येय है।" अमेरिका के राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट को 'संयुक्त राष्ट्र संघ' का पिता कहा जाता है क्योंकि उन्होंने ही प्रथम बार इन शब्दों का प्रयोग किया था। उन्ही के प्रयास से 1 जनवरी 1942 को संयुक्त राष्ट्र संघ की घोषणा की गई थी। सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन के 12 दिन पूर्व ही रूजवेल्ट की आकस्मिक मृत्यु के कारण 51 राष्ट्रों के आगंतुक प्रतिनिधियों ने रूजवेल्ट द्वारा प्रयोग किये गये शब्दों 'संयुक्त राष्ट्र संघ' को ही नवीन अंतर्राष्ट्रीय संस्था के नाम के रूप में स्वीकार कर लिया। 26 जून 1945 को इसके घोषणा-पत्र प्रस्तुत किये जाने के पूर्व निम्न अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों ने इसकी नींव डाल दी थी।

एटलांटिक घोषणा-पत्र

अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चर्चिल का मिलन 14 अगस्त 1941 को एटलांटिक सागर मे न्यूफाउन्डलैंड के निकट युद्ध जहाज प्रिंस

ग्राफ वेल्स पर हुआ। दोनों ने एक ऐतिहासिक घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किये, जिनमें निम्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था :—(1) हम साम्राज्य विस्तार अथवा किसी नये प्रदेश पर अधिकार नहीं करना चाहते; (2) बिना जनता की अनुमति के युद्ध के फलस्वरूप किसी राष्ट्र की सीमा में परिवर्तन नही करना चाहते; (3) जनमत के आधार पर ही प्रत्येक राष्ट्र का शासन चलेगा; (4) जो स्वतंत्र राष्ट्र परतंत्र किये जा चुके थे, उन्हें पुन: स्वतत्र किया जायेगा; (5) शांति ऐसी हो जो सभी राष्ट्रों को भय एवं अभाव से मुक्ति प्रदान करे, (6) सामूहिक सुरक्षा के लिये अतंर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की जाय; (7) सब राष्ट्रों के लिये समुद्र पर गमनागमन की समान सुविधा होगी। आवश्यक कच्चे माल व विश्व की मंडियों में क्रय-विक्रय की समान सुविधा सभी राष्ट्रों को रहेगी; (8) सभी राष्ट्रों में सामाजिक सुरक्षा, आर्थिक प्रगति एवं श्रमिकों की उन्नति के लिये सच्चा सहयोग स्थापित किया जाय।

24 सितम्बर को इस आदेश-पत्र पर सोवियत रूस और यूरोप के जर्मन अधिकृत देशों, जिनमें बेल्जियम, फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया, यूनान, हालैंड, नार्वे, पोलैंड और यूगोस्लाविया की शरणार्थी सरकारें भी थी, ने हस्ताक्षर किए।

संयुक्त राष्ट्र संघ घोषणा

पहली जनवरी 1942 को राष्ट्रपति रूजवेल्ट, चर्चिल, लिटविनोफ (रूस) तथा टी. वी. सुंग और अन्य 22 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने युद्ध और शांति में सहयोग के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ का घोषणा-पत्र जारी किया। भारत की ओर से गिरिजा शंकर बाजपेयी ने इस घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे। एटलांटिक घोषणा को मान्यता देते हुए इन राष्ट्रों ने हिटलरशाही के विनाश और उस पर सम्पूर्ण विजय कर जीवन, स्वाधीनता, धर्म, मानवीय अधिकार एवं न्याय की मांग की। इनकी पूर्ति के लिये उन्होने दो निम्नलिखित घोषणाएं भी की—

(1) प्रत्येक सदस्य राष्ट्र सम्पूर्ण निजी साधन—आर्थिक और सामरिक, धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में प्रयोग करने की प्रतिज्ञा करता है। (2) प्रत्येक हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्र शत्रु से पृथक् विराम संधि नही करेगा और इस घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों से सहयोग करेगा।

कैसाब्लांका सम्मेलन

चर्चिल और रूजवेल्ट ने 17 से 27 जनवरी 1943 तक उत्तर-अफ्रीका की महानगरी कैसाब्लांका में फ्रांसीसी प्रतिनिधियों के साथ एक समझौता किया। इसके अनुसार सिसली और इटली पर आक्रमण की योजना, बिना शर्त आत्म-समर्पण की मांग, शाति की शर्तों की आलोचना तथा युद्ध के पश्चात् नवीन विश्व के निर्माण के विषय मे निर्णय लिया गया।

द्वितीय विश्व युद्ध के अनुभव; विश्व की आर्थिक गतिविधियों में एकरूपता, श्रमिकों की दशा में उन्नति की आवश्यकता; जीवन के न्यूनतम स्तर और आने वाली पीढ़ियों को युद्ध की भयंकरता से बचाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन—संयुक्त राष्ट्र संघ की नींव डाली गई। विज्ञान की विनाशकारी शक्ति, विशेषत: अणुबमों से लड़े गये युद्ध के ध्वंस, ने मानव हृदय में विश्व-शांति तथा मैत्री की भावना को जन्म दिया। अत: तृतीय विश्व युद्ध के विनाश से बचने के लिये विश्व के प्रमुख राष्ट्रों ने विशेषतः अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस ने एक स्थायी विश्व संगठन की स्थापना के निमित्त सजग तथा सामूहिक प्रयास प्रारंभ किये। 1939 में युद्ध के आरम्भ होने पर कार्डेल हल ने अपनी स्मृतियों में तत्काल कहा था, "हमें बिना समय खोये एक अन्य विश्व सगठन की स्थापना करनी चाहिये जो विश्व में शांति बनाए रखने में सफल हो सके।" अन्त में अनेक प्रयासों के पश्चात्, राष्ट्र संघ के परीक्षण से लाभ उठा, 24 अक्टूबर 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई, जिसका विवरण नीचे दिया गया है।

6 जनवरी 1941 को जबकि अधिकांश यूरोप में जर्मनी का अधिकार हो गया था, राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने चार आवश्यक स्वतंत्रताओं की घोषणा की: (1) भाषण व अपने विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता; (2) ईश्वर की उपासना करने की स्वतंत्रता; (3) आर्थिक अभाव व कमी से स्वतंत्रता तथा (4) भय से स्वतंत्रता। उन्हीं के शब्दों में "विश्व भर मे इस स्तर तक नि:शस्त्रीकरण किया जाय कि कहीं भी कोई राष्ट्र ऐसा न रह जाय कि दूसरे पडोसी राष्ट्र पर शारीरिक अत्याचार कर सके।" 12 जून 1941 को 14 मित्र राष्ट्रों ने जिनमें यूरोप के नौ निर्वासित देश भी सम्मिलित थे, लन्दन में अंतर्मित्रराष्ट्रीय घोषणा की। इसमें कहा गया, "स्थायी शांति केवल मात्र विश्व के स्वतंत्र नागरिकों के स्वेच्छापूर्ण सहयोग से ही सम्भव है। युद्ध और शांति के समय, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये मिल-जुल कर काम करना ही हमारा ध्येय है।" अमेरिका के राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट को 'संयुक्त राष्ट्र सघ' का पिता कहा जाता है क्योंकि उन्होंने ही प्रथम बार इन शब्दों का प्रयोग किया था। उन्ही के प्रयास से 1 जनवरी 1942 को संयुक्त राष्ट्र संघ की घोषणा की गई थी। सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन के 12 दिन पूर्व ही रूजवेल्ट की आकस्मिक मृत्यु के कारण 51 राष्ट्रों के आगंतुक प्रतिनिधियों ने रूजवेल्ट द्वारा प्रयोग किये गये शब्दों 'संयुक्त राष्ट्र संघ' को ही नवीन अंतर्राष्ट्रीय संस्था के नाम के रूप में स्वीकार कर लिया। 26 जून 1945 को इसके घोषणा-पत्र प्रस्तुत किये जाने के पूर्व निम्न अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों ने इसकी नींव डाल दी थी।

एटलांटिक घोषणा-पत्र

अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चर्चिल का मिलन 14 अगस्त 1941 को एटलांटिक सागर में न्यूफाउन्डलैंड के निकट युद्ध जहाज प्रिंस

आफ वेल्स पर हुआ। दोनो ने एक ऐतिहासिक घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किये, जिनमें निम्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था :—(1) हम साम्राज्य विस्तार अथवा किसी नये प्रदेश पर अधिकार नही करना चाहते; (2) बिना जनता की अनुमति के युद्ध के फलस्वरूप किसी राष्ट्र की सीमा में परिवर्तन नहीं करना चाहते; (3) जनमत के आधार पर ही प्रत्येक राष्ट्र का शासन चलेगा; (4) जो स्वतंत्र राष्ट्र परतंत्र किये जा चुके थे, उन्हें पुन. स्वतंत्र किया जायेगा; (5) शांति ऐसी हो जो सभी राष्ट्रों को भय एवं अभाव से मुक्ति प्रदान करे; (6) सामूहिक सुरक्षा के लिये अतंर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की जाय; (7) सब राष्ट्रों के लिये समुद्र पर गमनागमन की समान सुविधा होगी। आवश्यक कच्चे माल व विश्व की मंडियों में क्रय-विक्रय की समान सुविधा सभी राष्ट्रों को रहेगी; (8) सभी राष्ट्रों में सामाजिक सुरक्षा, आर्थिक प्रगति एवं श्रमिकों की उन्नति के लिये सच्चा सहयोग स्थापित किया जाय।

24 सितम्बर को इस आदेश-पत्र पर सोवियत रूस और यूरोप के जर्मन अधिकृत देशों, जिनमें बेल्जियम, फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया, यूनान, हालैंड, नार्वे, पोलैंड और यूगोस्लाविया की शरणार्थी सरकारें भी थीं, ने हस्ताक्षर किए।

संयुक्त राष्ट्र संघ घोषणा

पहली जनवरी 1942 को राष्ट्रपति रूजवेल्ट, चर्चिल, लिटविनोफ (रूस) तथा टी. वी. सुंग और अन्य 22 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने युद्ध और शांति में सहयोग के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ का घोषणा-पत्र जारी किया। भारत की ओर से गिरिजा शंकर बाजपेयी ने इस घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे। एटलांटिक घोषणा को मान्यता देते हुए इन राष्ट्रों ने हिटलरशाही के विनाश और उस पर सम्पूर्ण विजय कर जीवन, स्वाधीनता, धर्म, मानवीय अधिकार एवं न्याय की मांग की। इनकी पूर्ति के लिये उन्होंने दो निम्नलिखित घोषणाएं भी कीं—

(1) प्रत्येक सदस्य राष्ट्र सम्पूर्ण निजी साधन—आर्थिक और सामरिक, धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में प्रयोग करने की प्रतिज्ञा करता है। (2) प्रत्येक हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्र शत्रु से पृथक् विराम संधि नही करेगा और इस घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों से सहयोग करेगा।

कैसाब्लांका सम्मेलन

चर्चिल और रूजवेल्ट ने 17 से 27 जनवरी 1943 तक उत्तर-अफ्रीका की महानगरी कैसाब्लांका में फ्रांसीसी प्रतिनिधियों के साथ एक समझौता किया। इसके अनुसार सिसली और इटली पर आक्रमण की योजना, बिना शर्त आत्म-समर्पण की मांग, शांति की शर्तों की आलोचना तथा युद्ध के पश्चात् नवीन विश्व के निर्माण के विषय मे निर्णय लिया गया।

खाद्य तथा कृषि संगठन

मई-जून 1943 में अमेरिका के होटस्प्रिंग्स (वर्जीनिया राज्य) में 44 मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने युद्ध के परिणाम से आश्रयहीन व्यक्तियों की खाद्य समस्या पर विचार किया। इस सम्मेलन ने खाद्य और कृषि संगठन की स्थापना के के लिये योजना प्रस्तुत की।

मास्को सम्मेलन

30 अक्टूबर 1943 को अमेरिका के कार्डेल हल ब्रिटेन के एन्थोनी ईडन और रूस के वीआचेसलाव मोलोटोव विदेश मन्त्रियों तथा चीन के राजदूत फू-पिंग-श्युंग का एक महत्वपूर्ण सम्मेलन मास्को में हुआ। सामूहिक सुरक्षा के सम्बन्ध में मास्को के चार राष्ट्रीय सम्मेलन के अनुच्छेद चार में निम्न घोषणा की गई : शीघ्रातिशीघ्र एक ऐसे सामान्य अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की जाय जो शांति प्रिय राष्ट्रों की सार्वभौमिक समानता पर आधारित हो और जिसकी सदस्यता उन सभी छोटे-बड़े राष्ट्रों के लिये खुली हो जिससे अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनी रहे।

संयुक्त राष्ट्र सहायता तथा पुनर्वास संगठन

9 नवम्बर 1943 को संयुक्त राष्ट्र सघ के सहायता तथा पुनर्वास प्रशासन का प्रथम अधिवेशन एटलांटिक सिटी में हुआ। इसमें 44 राष्ट्रों ने भाग लिया था और इसमें धुरी राष्ट्रों की पराजय के पश्चात् शरणार्थियों के पुनर्वास और सहायता देने की व्यवस्था थी। आगे चलकर यह संयुक्त राष्ट्र संघ की महत्वपूर्ण संस्था बनी।

तेहरान सम्मेलन

1 से 7 दिसम्बर 1943 में प्रथम बार चर्चिल, रूजवेल्ट और स्टालिन का प्रत्यक्ष साक्षात्कार ईरान की राजधानी तेहरान में हुआ। इन तीनों नेताओं ने घोषणा की, "हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारा यह प्रयास शांति की स्थापना में सफल सिद्ध होगा। विश्व संगठन में छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों को भाग लेने के लिये आमंत्रित किया जायेगा। साथ ही ससार से युद्ध के भय और भावना को सदा के लिये समाप्त कर दिया जायेगा।"

संयुक्त राष्ट्र शिक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को)

अप्रैल 1944 में लन्दन में हुए मित्र राष्ट्रों के शिक्षा मंत्रियों के सम्मेलन में एक संयुक्त राष्ट्र संघ की शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक संस्था की स्थापना के लिये निर्णय लिया गया।

ब्रिटेन-उड्स सम्मेलन

1 से 22 जुलाई 1944 में न्यूहैम्पशायर में संयुक्त राष्ट्र संघ मुद्रा तथा आर्थिक सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें 44 राष्ट्रों ने अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष तथा

पुनर्निर्माण और विकास के लिये अंतर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की। यह निश्चय हुआ कि बैंक की पूंजी 9 अरब 10 करोड़ डालर होगी जो कि लम्बी अवधि के लिये कर्ज के रूप में उचित सूद पर दी जायेगी।

डम्बार्टन ओक्स सम्मेलन

21 अगस्त से 9 अक्टूबर 1944 तक चीन, ब्रिटेन, रूस तथा अमेरिका के प्रतिनिधियों—वेलिंग्टनकु, हेलीफेक्स, ग्रोमिको और स्टेटीनियस—की वाशिंगटन के डम्बार्टन ओक्स नामक विशाल भवन में एक महत्वपूर्ण बैठक हुई। इसमें अंतर्राष्ट्रीय संगठन के लिये एक योजना प्रस्तुत की गई। यह सम्मेलन दो चरणों में हुआ। पहला चरण 21 अगस्त से 28 सितम्बर 1944 तक चला, जिसमें रूस, अमेरिका, व ब्रिटेन ने भाग लिया व दूसरे चरण में रूस के बजाय चीन शामिल हुआ। रूस ने चीन के साथ सम्मेलन में भाग लेने से इसलिये इंकार किया कि जापान के साथ वह तटस्थता संधि से बंधा हुआ था। फ्रांस के परतंत्र हो जाने के कारण उसे सम्मेलन में नहीं बुलाया गया। इस योजना को संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रथम मसविदा कहा गया है। इसके अनुसार विश्व संस्था के चार प्रमुख अंग थे—सभी सदस्यों की महासभा, 11 सदस्यों की सुरक्षा परिषद्, सचिवालय और एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय। युद्ध को रोकने तथा आक्रमणकारी कार्यवाहियों को दबाने के लिये सदस्य राष्ट्र सुरक्षा परिषद् को सैनिक सहायता देंगे। सामाजिक व आर्थिक परिषद् का उल्लेख तो था किन्तु इसे अंतर्राष्ट्रीय संगठन का अंग नहीं बनाया गया था और, संरक्षण प्रणाली की तो व्यवस्था ही नहीं थी। इस सम्मेलन में जिन विषयों पर सदस्यों में गम्भीर मतभेद हो गया और जो अनिर्णीत ही रहे, वे निम्न थे—(1) सुरक्षा परिषद् में मतदान प्रणाली; (2) सोवियत संघ की 16 सदस्यों के प्रवेश की माँग; (3) जापान के आधीन प्रशान्त महासागर के आदिष्ट प्रणाली के प्रदेशों का भविष्य और (4) पिछले अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय को ही बनाए रखने की समस्या। इस योजना के शेष अंश संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र में सम्मिलित कर लिये गये।

याल्टा सम्मलन

4 से 11 फरवरी 1945 में रूस के क्रीमिया प्रदेश में याल्टा नामक स्थान पर बड़े तीन-रूजवेल्ट, चर्चिल और स्टालिन का द्वितीय और अंतिम सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में पराजित जर्मनी और जापान पर अधिकार और नियंत्रण की व्यवस्था की गई। साथ ही सुरक्षा परिषद् की मतदान प्रणाली में स्थायी सदस्यों को निषेधाधिकार (वीटो) दिया गया। यह भी निश्चय किया गया कि 25 अप्रैल 1945 को सैन फ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्र संघ का एक महत्वपूर्ण सम्मेलन बुलाया जायेगा, जिसमें 1 मार्च 1945 तक शत्रु-पक्ष के विरुद्ध घोषणा करने वाले सभी सदस्य भाग ले सकेंगे। इस सम्मेलन के आयोजक राष्ट्रों में फ्रांस को भी सम्मिलित किया गया था किन्तु उसने इसे अस्वीकार कर दिया। यूक्रेन और बाइलो रशिया को संयुक्त राष्ट्र संघ

का सदस्य बनाने में ब्रिटेन व अमेरिका सहमत हो गये। संरक्षण प्रणाली के विषय में भी समझौता हुआ किन्तु वह किन क्षेत्रों पर लागू होगी, यह अमेरिका की इच्छानुसार अनिर्णीत छोड़ दिया गया। 13 अप्रैल को राष्ट्रपति रूजवेल्ट की अचानक मृत्यु हो गई और उनके स्थान पर उपराष्ट्रपति ट्रूमैन राष्ट्रपति बने।

मैक्सिको नगर सम्मेलन

1945 में 21 फरवरी से 8 मार्च तक दक्षिण अमेरिका के 20 गणतन्त्रों ने (अर्जेन्टाइना के अतिरिक्त) संयुक्त राज्य अमेरिका के सहयोग से मैक्सिको नगर में पारस्परिक रक्षा और सहयोग के विषय में एक महत्वपूर्ण सम्मेलन किया। इसके फलस्वरूप अन्त: अमेरिकी क्षेत्रीय संगठन की नींव डाली गई। सैन फ्रांसिस्को में होने वाले सम्मेलन में भाग लेने के लिये आवश्यक तैयारी भी की गई।

वाशिंगटन सम्मेलन

अप्रैल 1945 में 44 राष्ट्रों के न्याय विशेषज्ञों ने अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के लिये एक मसविदा प्रस्तुत किया। तीन विषयों में सम्मेलन कोई निर्णय नही ले पाया: (1) स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की पुनर्स्थापना; (2) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की चुनाव प्रणाली और (3) न्यायालय का अनिवार्य अधिकार क्षेत्र।

जन्म

सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन

अंतर्राष्ट्रीय इतिहास का सबसे विशाल सम्मेलन सैन फ्रांसिस्को नगर में 25 अप्रैल 1945 को हुआ। इसमें 50 राष्ट्रो के 850 प्रतिनिधि नगर के गोल्डन गेट भवन में एकत्रित हुए। ये प्रतिनिधि विश्व की आबादी के 80 प्रतिशत से भी अधिक जनता का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। इस सम्मेलन मे भाग लेने 2636 प्रेस व रेडियो प्रतिनिधि भी विश्व के विभिन्न भागों से आए थे। सचिवालय के 2500 योग्य अधिकारियों ने घोषणा पत्र तैयार करने में सहयोग दिया। इस सम्मेलन मे भारत का प्रतिनिधित्व सर रामास्वामी मुदालियर, सर फिरोज खां नून तथा सर वी. टी. कृष्णामाचारी ने किया। इस संम्बन्ध मे चार आयोगों और बारह समितियों की दो महीनो तक 400 बैठकें हुई, जिनमें डम्बर्टन ओक्स के प्रस्तावो पर विशद विचार किया गया। कई बार ऐसा संकट पैदा हुआ कि ऐसा लगा कि सम्मेलन भंग हो जायेगा। तीन विषयों में गम्भीर मतभेद उत्पन्न हुए : (1) सुरक्षा सन्धि एवं संयुक्त राष्ट्र संघ की सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था ; (2) अर्जेन्टाइना और पोलैण्ड को सम्मेलन में सम्मिलित करने की समस्या व (3) परिषद् में बड़े राष्ट्रों के निषेधाधिकार का प्रश्न।

पहले विषय में यह निश्चय हुआ कि प्रत्येक राष्ट्र स्वयं ही आक्रामक राष्ट्र के विरुद्ध आत्म-रक्षा की प्रारम्भिक क्रिया करता रहे, जब तक कि सुरक्षा परिषद् उस प्रश्न पर उचित कार्यवाही प्रारम्भ न करे। वस्तुतः सामूहिक व्यवस्था को

प्रादेशिक अथवा दो पक्षीय सुरक्षा समझौते से अधिक महत्वपूर्ण समझा गया। रूस का विरोध होते हुए भी अर्जेंटाइना ने सम्मेलन में भाग लिया, परन्तु पोलैंड रूस के समर्थन के बावजूद भी आन्तरिक स्थिति (दो सरकारों) के कारण सम्मेलन में नहीं आया, परन्तु उसने अक्टूबर में पृथक् रूप से घोषणा-पत्र पर संस्थापक सदस्य के रूप में हस्ताक्षर किये। निषेधाधिकार के विषय मे रूस की यह मांग थी कि किसी भी विवादास्पद विषय पर जिसमें स्थायी सदस्य लिप्त हों, सुरक्षा परिषद् द्वारा विचार नहीं किया जाय। राष्ट्रपति ट्रूमैन ने निजी परामर्शदाता हेरी होपकिंस को एक अपील के साथ स्टालिन के पास भेजा। अन्त में रूस ने इस विषय में अपनी मांग को छोड़ दिया। सम्मेलन के निर्णयों को अन्तिम रूप देने में समन्वय समिति; मार्ग दर्शक समिति; पांच बड़ों का होटल फेयर मोन्ट में गुप्त विचार विमर्श, व कानून विशेषज्ञों की समिति ने महत्वपूर्ण भाग लिया। सम्मेलन के आवश्यक कागजात पांच कार्यकारी भाषाओं—अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी, चीनी व स्पेनिश में प्रकाशित हुए। प्रतिदिन औसत 17 लाख कागज दिये जाते थे और कुल प्रयोग में लाये कागजों का वजन 80,000 किलो था। 26 जून को वेटरन मेमोरियल हॉल में 50 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के पूर्ण सम्मेलन में प्रस्तुत घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर हुए। प्रेसीडेन्ट ट्रूमैन ने अन्तिम अधिवेशन में भाषण देते हुए कहा, "संयुक्त राष्ट्र संघ का घोषणा-पत्र, जिस पर आपने अभी हस्ताक्षर किये हैं, एक ऐसी मजबूत बुनियाद है, जिस पर हम एक सुन्दर विश्व का निर्माण कर सकते हैं। इसके लिये इतिहास सदा आपका सम्मान करेगा। इसकी सफलता विश्व की जनता पर निर्भर है। यदि हमने इस घोषणा-पत्र का पालन नहीं किया तो हम विश्व की उस विशाल जनता के प्रति विश्वास-घातक समझे जायेंगे, जिन्होंने विश्व शांति के लिये हमे यहाँ भेजा है। घोषणा-पत्र के अपने स्वार्थ के लिये प्रयोग का भी, यही अर्थ समझा जायेगा।" इस तरह सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन समाप्त हो गया। इसके आयोजन में अमेरिकी सरकार को 20 लाख डालर का खर्च उठाना पड़ा।

24 अक्टूबर 1945 को सदस्य राष्ट्रों द्वारा घोषणा-पत्र की सम्पुष्टि किये जाने के बाद औपचारिक रूप से सयुक्त राष्ट्र सघ का जन्म हुआ। अमेरिका की सीनेट ने पक्ष में 89 और विपक्ष में दो मत द्वारा इसका समर्थन किया। इस प्रकार युद्ध काल में चार वर्षों तक मित्र राष्ट्रों में विचार विमर्श के बाद विश्व शांति एवं सुरक्षा के लिये संयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना संभव हुई।

शांति सम्मेलनों की तुलना

राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्र संघ, दोनों के जन्म व स्वरूप मे कुछ सादृश्यताएं एवं भेद हैं। इनमें सादृश्यताएं निम्न हैं—(1) दोनों ही सम्मेलनों को विजयी राष्ट्रों ने आमंत्रित किया था और उनमे भाग लेने से उन्होंने पराजित राष्ट्रों को वंचित रखा था। (2) दोनों का जन्म विश्व में शांति और सुरक्षा बनाए रखने के उद्देश्य से हुआ

था। पेरिस मे राष्ट्र संघ और सैन फ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्र संघ का जन्म हुआ। (3) दोनों में ही प्रमुख पांच राष्ट्र थे—पेरिस मे ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, इटली और जापान जबकि सैन फ्रांसिस्को मे प्रथम तीन के अतिरिक्त रूस तथा राष्ट्रवादी चीन थे। (4) उच्च स्तरीय निर्णय दोनों सम्मेलनों में गुप्त रूप से बड़े तीनों ने ही लिये थे—पेरिस में विलसन, लॉयड जॉर्ज और क्लीमेन्शो, जिनके वार्तालाप होटल ट्रॉयनान मे हुए थे और सैन फ्रांसिस्को में ईडन, मोलोटोव और स्टेटीनियस ने होटल फेयर मोन्ट में परामर्श किया था। (5) दोनों में ही कानून विशेषज्ञों का प्रमुख भाग रहा। (6) दोनो ही सम्मेलनों में छोटे राष्ट्र गौण थे व उनका कार्य मात्र अनुमोदन था।

सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन, पेरिस सम्मेलन से कुछ दृष्टिकोणों से भिन्न था: (1) मित्र राष्ट्रों ने युद्ध-कालीन एकता एवं उत्साह के बल पर जर्मनी व जापान से सघर्षरत होते हुए भी युद्धकाल में ही शांति के लिये अंतर्राष्ट्रीय संगठन की नींव डाली जबकि पेरिस में विराम सन्धि के पश्चात् शांति काल में राष्ट्र संघ की नींव पडी; (2) राष्ट्र सघ पेरिस की शांति सन्धियों का एक अंग था जो कि पराजित शत्रु पर थोपा गया था जबकि संयुक्त राष्ट्र संघ का आधार एक पृथक् सन्धि थी जिसमे केवल मात्र मित्र-राष्ट्र ही सम्मिलित थे; (3) राष्ट्र संघ के चार मुख्य अंग थे और 26 अनुच्छेद थे जबकि सयुक्त राष्ट्र संघ में छ: मुख्य अंग और 111 अनुच्छेद थे; (4) पेरिस के शाति सम्मेलन मे 32 राष्ट्रों के 72 प्रतिनिधियों ने 6 महीने तक भाग लिया (18 जनवरी से 28 जून 1919 तक)। जब कि सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन मे 50 राष्ट्रो के 850 प्रतिनिधियों ने भाग लिया और यह सम्मेलन मात्र दो महीने तक चला (25 अप्रैल से 26 जून 1945 तक); (5) पेरिस सम्मेलन में केवल आदिष्ट प्रणाली की व्यवस्था थी जब कि सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन में इसके अतिरिक्त परतत्र क्षेत्रो की मुक्ति पर भी ध्यान दिया गया था; (6) पेरिस सम्मेलन में रूस के मित्र राष्ट्र होते हुए भी उसे आमंत्रित नहीं किया गया था जबकि इस सम्मेलन में वह न केवल एक प्रमुख राष्ट्र था वरन् उसे यूक्रेन और बाइलो रशिया के कारण दो सदस्यता मिली और उसने साम्यवादी गुट को जन्म दिया; (7) पेरिस सम्मेलन में जन्म लिये राष्ट्र संघ को शांति सधियों का अंग होने के कारण अमेरिकी सीनेट ने स्वीकार नही किया जबकि द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अमेरिका एक प्रमुख राष्ट्र के रूप में प्रकट हुआ और इसी देश में संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण के लिये सभी सभाएं हुई। अमेरिकी सीनेट ने बहुमत से संघ की सदस्यता स्वीकार की। उसने अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर संघ की नीति से तारतम्य रखा व संघ के स्थायी कार्यालय को 1952 से अपने ही देश में न्यूयार्क मे स्थान दिया।

घोषणा पत्र

राष्ट्र संघ व संयुक्त राष्ट्र संघ—दोनों ही बहुपक्षीय सधियों के परिणाम थे। राष्ट्र संघ के चार प्रमुख अंग, 26 अनुच्छेद व प्रारम्भ में 32 सदस्य थे और

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में 5 अध्याय व 70 अनुच्छेद हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ में छः प्रमुख अंग, 19 अध्याय व 111 अनुच्छेद हैं। इस प्रकार पर्याप्त विचार-विमर्श के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ की योजना बनाई गई। इसके स्वरूप व ढांचे को समझने के लिये उसके 'घोषणा पत्र' का ज्ञान होना आवश्यक है।

घोषणा पत्र को समझने के लिये हम उसके अनुच्छेदों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण कर सकते हैं :—

अध्याय (1) : अनुच्छेद 1 व 2 में प्रस्तावना, उद्देश्य एवं सयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्त हैं।

अध्याय (2) : अनुच्छेद 3 से 6 में प्रारम्भिक सदस्यों व भविष्य में बनने वाले सदस्यों की योग्यता एवं अवाछित सदस्यों के बहिष्कार की विधि का वर्णन है।

अध्याय (3) व (4) : अनुच्छेद 7 से 22 में सयुक्त राष्ट्र संघ के अग तथा महासभा के कार्य, अधिवेशन एवं कार्य प्रणाली की व्यवस्था है।

अध्याय (5) से (7) : अनुच्छेद 23 से 51 में सुरक्षा परिषद् की रचना, कार्य क्षेत्र, अधिकार, मतदान प्रणाली, शातिपूर्ण ढंग से अंतर्राष्ट्रीय विवादों के निपटारे के तरीके और शांति भंग और आक्रमण को रोकने के विषय में अग्रिम कार्यवाही व प्रतिबन्ध और दंडादेश की व्यवस्था है।

अध्याय (8) : अनुच्छेद 52 से 54 में अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा बनाए रखने के लिये क्षेत्रीय प्रवन्ध की व्याख्या है।

अध्याय (9) व (10) : अनुच्छेद 55 से 72 में आर्थिक व सामाजिक परिषद् उसके कार्यक्षेत्र व अधिकारों एव अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक सहयोग की व्यवस्था है।

अध्याय (11) से (13) : अनुच्छेद 73 से 91 में परतत्र क्षेत्रों के प्रशासन के विषय मे सदस्य राष्ट्रों का उत्तरदायित्व अतर्राष्ट्रीय सरक्षण प्रणाली, सरक्षण परिषद् की रचना, कार्य एवं शक्तियों का वर्णन है।

अध्याय (14) : अनुच्छेद 92 से 96 में अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की पृथक् सविधि, उसका कार्य क्षेत्र एव अधिकारों तथा उसके प्रति सदस्यो के दायित्वों की व्यवस्था है।

अध्याय (15) : अनुच्छेद 97 से 101 मे सचिवालय एवं महासचिव की नियुक्ति, उनका अधिकार क्षेत्र, क्रिया कलाप, सचिवालय में कर्मचारियों की नियुक्ति, महासभा के प्रति उत्तरादायित्वों आदि का उल्लेख है।

अध्याय (16) से (19) : अनुच्छेद 102 से 111 में विविध व्यवस्थाएं हैं जैसे—संधियो की रजिस्ट्री, सदस्यों के विशेष अधिकार, अंतर्कालीन सुरक्षा व्यवस्थाएं संशोधन घोषणा-पत्र की संपुष्टि आदि।

उद्देश्य

संयुक्त राष्ट्र संघ के ऐतिहासिक 'घोषणा-पत्र' की विशेषता यह है कि इसमें सदस्य राष्ट्रों की जनता के दृढ़ निश्चय पर बल देते हुए कहा गया है, "संयुक्त राष्ट्र के हम लोगों ने यह निश्चय किया है कि हम आने वाली पीढ़ियों को······युद्ध की विभीषिकाओं से बचायेंगे······और मानवता के मूल अधिकारों······और छोटे बड़े सभी राष्ट्रों के नर-नारियों के समान अधिकारों में आस्था रखेंगे······हम ऐसी स्थिति पैदा करेंगे, जिसमें न्याय और सम्मान बना रहे जो कि संधियों और अतर्राष्ट्रीय कानून पर आधारित है···और हम अधिक व्यापक स्वतन्त्रता के द्वारा अपने जीवन का स्तर ऊंचा करेंगे और समाज को प्रगतिशील बनायेंगे।"

घोषणा-पत्र के अनुसार सयुक्त राष्ट्र संघ के निम्न चार उद्देश्य हैं—(1) अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने के लिये पारस्परिक विवादों को शांतिपूर्ण साधनों से सुलझाया जाय और सामूहिक प्रयत्नों से शांति भंग होने की आशंका को रोका जाय; (2) सब राष्ट्रों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बढ़ाये जायें, जिनका आधार सब लोगों के समान अधिकार और स्वाधीनता का सिद्धान्त हो; (3) विश्व की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मानवतावादी समस्याओ को हल करने मे अतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त किया जाय। सबके लिये मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं के सम्मान को प्रोत्साहित किया जाय; (4) संयुक्त राष्ट्र संघ को ऐसा केन्द्र बनाया जाय जिसके जरिये इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अलग-अलग राष्ट्र जो काम करें, उनमें सामंजस्य लाया जा सके।

सिद्धान्त

घोषणा-पत्र के अनुच्छेद 2 में निम्न सात मूल सिद्धान्तो का उल्लेख किया गया है, जिनके आधार पर संयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना हुई है:—

सिद्धान्त (1) एवं (7) संगठन के अधिकारों को सीमित करते हैं; (2) से (5) सदस्यों के दायित्वों को निश्चित करते है व (6) गैर सदस्यों पर लागू होता है:—(1) इस संघ का आधार सब सदस्यों की समान संप्रभुता का सिद्धान्त है। अर्थात् यह संघ राष्ट्रोपरि नही है; (2) प्रत्येक सदस्य घोषणा-पत्र के प्रति अपने उत्तरदायित्वो को निभायेगा; (3) सभी राष्ट्र अपने अतर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण तरीको से सुलझायेंगे, जिससे कि विश्व की सुरक्षा, शांति और न्याय खतरे में न पड़े; (4) सभी सदस्य अपने अंतर्राष्ट्रीय विवाद में किसी राज्य की अखण्डता तथा राजनैतिक स्वाधीनता के विरुद्ध बल का प्रयोग नही करेंगे; (5) कोई भी सदस्य ऐसे राज्य की मदद नही करेंगे जिसके विरुद्ध संघ ने प्रतिबन्ध अथवा दंडादेश लागू कर रखे हों और ऐसा कोई कार्य नही करेंगे जो संघ के उद्देश्यो से परे हों; सघ इस बात का प्रयत्न करेगा कि जो राज्य सघ के सदस्य नहीं हैं, वे भी घोषणा

पत्र के सिद्धान्तों का पालन करें ; (7) संयुक्त राष्ट्र संघ किसी भी राज्य के घरेलू अर्थात् आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा, किन्तु शान्ति भंग होने और संघर्ष की स्थिति में सुरक्षा परिषद् की कार्यवाही अध्याय सात के अनुसार मान्य होगी। स्मरण रहे कि यदि संघ के किसी सदस्य पर कोई सशस्त्र आक्रमण होता है तो वह व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से आत्मरक्षा करने का अधिकारी है, परन्तु उसकी सूचना तुरन्त ही सुरक्षा परिषद् को देनी होगी।

सदस्यता

सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग लेने वाले 51 राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रारम्भिक सदस्य माने गये। अनुच्छेद चार के अनुसार संघ की सदस्यता "उन सभी शांति चाहने वाले राष्ट्रों के लिये खुली है जो वर्तमान घोषणा-पत्र में दिये हुए दायित्वों को मानें और जिनमें संघ की राय में इन दायित्वों को पूरा करने की इच्छा और योग्यता, दोनों हो।" इस प्रकार इस अनुच्छेद ने सदस्य राष्ट्रों में मतभेद को जन्म दिया। 1947 में अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय ने महासभा के आग्रह पर इस अनुच्छेद का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि प्रार्थी राज्यों में सदस्यता के लिये पाँच गुण होने चाहियें : (1) वह सम्प्रभु हो ; (2) शान्तिप्रिय हो ; (3) घोषणा-पत्र में दिये हुए उ रदायित्वों को स्वीकार करे ; (4) इन दायित्वों को पूरा करने की इच्छा और (5) योग्यता रखता हो। इन गुणों का निर्णय संघ करेगा।

नये सदस्य सुरक्षा परिषद् के कम से कम 10 सदस्यों की सिफारिश (जिनमें पाँच स्थायी सदस्य भी हों) तथा महासभा के उपस्थित दो-तिहाई सदस्यों के समर्थन पर ही बनाए जा सकते हैं। सयुक्त राष्ट्र सघ की कुल सदस्य संख्या 123 है, जिनकी सूची परिशिष्ट में दी गई है। संयुक्त राष्ट्र संघ के कुल सदस्य इस प्रकार बँटे हुए है : एशिया में 30, अफ्रीका में 39, उत्तरी अमेरिका में 14, दक्षिणी अमेरिका में 12 और शेष 28 यूरोप में।

घोषणा-पत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ से पृथक् होने की कोई व्यवस्था नहीं है, परन्तु वह राष्ट्र, जिसके विरुद्ध सुरक्षा परिषद् ने दडादेश लागू कर रखे हों, उसे सदस्यता के अधिकारों से वंचित रखा जा सकता है। यदि कोई सदस्य घोषणा-पत्र के सिद्धान्तों का बार-बार उल्लंघन करे तो उसे महासभा, सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर संघ से निकाल सकती है। (अनुच्छेद छः) संघ के इतिहास मे केवल इंडोनेशिया 1 जनवरी 1965 में राष्ट्रपति सुकार्णो के कहने पर संघ से हट गया था। अगले वर्ष में (28 सितम्बर 1966) क्रांतिकारी नेता जनरल सुहार्टो की नई सरकार बन जाने से वह पुनः इसका सदस्य बन गया।

नये जीवाणु राष्ट्र

16 जून 1966 से 15 जून 1967 काल का प्रतिवेदन साधारण सभा के सम्मुख

प्रस्तुत करते हुए ऊ थांट ने टिप्पणी, की, "जीवाणु-राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्र संघ की पूर्ण सदस्यता की प्राप्ति के सम्बन्ध में एक सीमा-रेखा बनानी ही होगी।" उन्होंने आगे कहा, "जीवाणु राष्ट्र वे है जो कि क्षेत्रफल, जनसंख्या व आर्थिक साधनों की दृष्टि से बड़ी संकुचित इकाईयाँ हैं और जो कि अब स्वतन्त्र राष्ट्रों में परिणत हो रहे है।" जीवाणु-राष्ट्रों का एक उदाहरण भूतपूर्व सरक्षित क्षेत्र, नाउरू जो 31 जनवरी 1968 को स्वतन्त्र हुआ, जिसकी जन संख्या मात्र 3,000 है और पिटकारिन दूसरा उदाहरण है जिसकी जनसख्या केवल 88 है।

श्री ऊ थांट ने कहा कि "यद्यपि यह सच है कि छोटे से छोटे राज्य को स्वतन्त्र होने का अधिकार है और ऐसा हम चाहते भी हैं किन्तु फिर भी स्वतन्त्र होने के अधिकार और सं० रा० संघ की 'पूर्ण सदस्यता' के मध्य भेद रखना आवश्यक है। पूर्ण सदस्यता जीवाणु राष्ट्रो से ऐसे उत्तरदायित्वों की आशा कर सकती है जो उनकी शक्ति से बाहर हों। दूसरी ओर इस प्रकार के राष्ट्र, सं० रा० संघ को निर्बल कर देंगे। इसलिए, जीवाणु-राष्ट्रों के लिए एक प्रकार की 'सहयोगी सदस्यता' (Associated Membership) पर विचार किया जा सकता है जिससे कि वे सयुक्त राष्ट्र संघ के आर्थिक सहायता कार्यक्रमों का लाभ तो उठा ही सकें, किन्तु उन पर 'पूर्ण सदस्यता' के आर्थिक और अन्य उत्तरदायित्वों का भार भी न पड़े।"

संयुक्त राष्ट्र संघ का कार्य 6 प्रमुख अंगों पर निर्भर है: (1) महासभा, (2) सुरक्षा परिषद्, (3) आर्थिक और सामाजिक परिषद्, (4) संरक्षण परिषद्, (5) अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय और (6) सचिवालय (अनुच्छेद 7)।

संशोधन

संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र मे संशोधन महासभा के उपस्थित दो-तिहाई सदस्यों एवं सुरक्षा परिषद् के सभी स्थायी सदस्यो सहित नौ सदस्यों की सिफारिश से ही प्रस्तावित हो सकता है अथवा इस प्रकार की सिफारिश के लिये महासभा का एक विशेष अधिवेशन भी बुलाया जा सकता है। इसके पश्चात् प्रस्तावित संशोधन को सभी सदस्य राष्ट्रों के दो तिहाई, जिनमें पाच स्थायी सदस्य भी सम्मिलित हों, अपने-अपने वैधानिक तरीके से उसकी संपुष्टि कर दें तो वह संशोधन लागू होता है। स्थायी पाँच सदस्यों की सहमति होते हुए भी कुछ राष्ट्र संशोधन से असहमत हो सकते हैं और ऐसी स्थिति मे वे संघ से परित्याग कर सकते हैं, यद्यपि इसका घोषणा-पत्र में कोई स्पष्ट उल्लेख नही है। अनुच्छेद 109 में व्यवस्था थी कि महासभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन के पूर्व यदि घोषणा-पत्र मे संशोधन की आवश्यकता हो तो महासभा का एक विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है, किन्तु किन्ही कारणों से ऐसा कोई अधिवेशन नही हुआ।

23 वें व 27 वें अनुच्छेद के महासभा द्वारा किये गये संशोधन 31 अगस्त 1965

को लागू हुए। 23 वें अनुच्छेद के संशोधन के अनुसार सुरक्षा परिषद् की सदस्यता 11 से 15 कर दी गई। संशोधित 27 वें अनुच्छेद के अनुसार सुरक्षा परिषद् के कार्य प्रणाली सम्बन्धी निर्णय 9 सदस्यों के व महत्वपूर्ण विषयों सम्बन्धी निर्णय स्थायी सदस्यों सहित 9 सदस्यों के मत द्वारा हो सकेंगे। 61 वें अनुच्छेद के संशोधन द्वारा आर्थिक और सामाजिक परिषद् की सदस्यता 18 से 27 कर दी गई।

अनुच्छेदों की टिप्पणी

घोषणा-पत्र में अनुच्छेदों की टिप्पणी अथवा भावार्थ की कोई व्यवस्था नहीं है और प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अथवा संघ के अंग अनुच्छेदों का अर्थ निकालने में मुक्त हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के दिए गए भावार्थ केवल परामर्श स्वरूप है, बाध्यतामूलक नहीं। इस सिलसिले में दो घटनाएं प्रस्तुत की जा सकती हैं। दक्षिण अफ्रीका ने रंग भेद नीति को अपनी घरेलू समस्या माना जबकि महासभा के बहुमत सदस्य राष्ट्रों ने उसे एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बताया। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अनुच्छेद 19 के पक्ष में निर्णय देने और आपातकालीन सेना के व्यय के सदस्य राष्ट्रों द्वारा दिये जाने की बाध्यता प्रकट करने, के बावजूद रूस ने उन्हें देने से इन्कार कर दिया।

संघ की कार्यकारी भाषाएं पांच हैं : चीनी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी और स्पेनिश। प्रकाशन साधारणतः अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाओं में होता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख अंग

संयुक्त राष्ट्र संघ के निम्नलिखित छः प्रमुख अंग हैं :—(1) महासभा, (2) सुरक्षा परिषद्, (3) आर्थिक और सामाजिक परिषद्, (4) संरक्षण परिषद्, (5) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय एव (6) सचिवालय। इनमें महासभा, सुरक्षा परिषद् व अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय लगभग स्वतन्त्र है, व शेष अग महासभा के आधीन हैं।

महासभा

रचना

महासभा संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रमुख अंग है, क्योंकि इसमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को 5 प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है, परन्तु मत एक ही गिना जाता है। आवश्यकता पड़ने पर बारी-बारी से पांचों वैकल्पिक प्रतिनिधि महासभा में भाग ले सकते हैं। महासभा की अनेक स्थाई एवं तदर्थ समितियों के होने के कारण एक राष्ट्र को उनमें एक ही समय मे भाग लेना होता है और इसीलिये एक से अधिक सदस्यों की व्यवस्था है। प्रतिनिधि अपने परामर्श के लिये कितने ही सहायक भी रख सकते हैं। महासभा के अधिवेशन साधारणतः प्रतिवर्ष एक बार सितम्बर के तीसरे मंगलवार को प्रारम्भ होते है। महासभा के बहुमत से या सुरक्षा परिषद् की प्रार्थना पर महासचिव विशेष अधिवेशन बुला सकता है। प्रत्येक सदस्य को महासभा की कार्य-सूची पर कोई भी विषय विचारार्थ रखने का अधिकार है, किन्तु वह विषय सदस्य राष्ट्रों के आन्तरिक मामलों से सम्बन्धित नही होना चाहिये।

संयुक्त राष्ट्र-संघ
प्रमुख अंग और सहायक संस्थायें
सैनिकाध्यक्ष समिति
नि शस्त्रीकरण आयोग
(18 . 1962)
मुख्य समितियाँ
(समस्त सदस्य)
कार्य प्रणाली सबंधी समिति
स्थायी समितियाँ
सहायक एवं तदर्थ
समितियाँ
स० रा० संघीय प्रशासकीय
पंच व्यवस्था
सुरक्षा परिषद
(स्थायी 5)
(अस्थायी 10)
अंतर्राष्ट्रीय
न्यायालय
15
संरक्षण परिषद 7
महा सभा
123
(1968)
माइप्रस मे स० रा० संघ
की आपातकालीन सेना
अरब इजरायली सीमा पर
विराम संधि निरीक्षक आयोग
काश्मीर मे स० रा०
संघीय सैनिक प्रेक्षक
अंतर्राष्ट्रीय अणु-शक्ति आयोग
संयुक्त राष्ट्र संघीय
आपातकालीन सेना
फिलीस्तीन शरणार्थियों के लिए
सहायता एवं उद्योग संस्था
वाणिज्य और विकास के लिए
स० रा० संघीय परिषद
संयुक्त राष्ट्र संघीय विशेष कोष
स० रा० संघीय अंतर्राष्ट्रीय शिशु
आपात कालीन कोष
वाणिज्य एवं विकास मण्डल
शरणार्थियों के लिए उच्च
आयुक्त कार्यालय
सचिवालय
समन्वय के लिए
प्रशासनिक समिति
तकनीकी
सहायता मण्डल
सामाजिक एवं आर्थिक
परि० (27)
क्षेत्रीय आर्थिक आयोग
1 एशिया व दूर प्राच्य 2 यूरोप
3 अफ्रिका 4 लेटिन अमेरिका
वित्तीय आयोग
विशिष्ट संस्थायें
अंतर्राष्ट्रीय श्रम
संगठन
खाद्य एवं कृषि
संस्था
शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं
सांस्कृतिक संस्था
विश्व स्वास्थ्य
संगठन
अंतर्राष्ट्रीय विकास
समिति
पुनर्निर्माण और विकास
के लिए अंतर्राष्ट्रीय बैंक
अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय
निगम
अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय
कोष
अंतर्राष्ट्रीय नागरिक
उड्डयन संगठन
विश्व डाक संघ
अंतर्राष्ट्रीय दूर
संचार संघ
विश्व मौसम विज्ञान
संगठन
अन्तर्सरकारी समुद्री
परामर्श संगठन
वाणिज्य एवं शुल्क
दर समझौता

अधिवेशन

1968 तक इसके 23 साधारण अधिवेशन हुए हैं। महासभा का प्रथम अधिवेशन 10 जनवरी 1946 को लन्दन में आरम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त पाँच विशेष अधिवेशन भी बुलाए गये हैं। पहला और दूसरा विशेष अधिवेशन 28 अप्रैल से 15 मई 1947 और 16 अप्रैल से 14 मई 1948 में फिलिस्तीन प्रश्न पर; तीसरा 21 से 25 अगस्त 1961 में ट्यूनीशिया की हालत पर विचार करने के लिये; चौथा 14 मई से 27 जून 1963 में स० रा० संघ की वित्तीय स्थिति पर; पाँचवाँ 21 अप्रैल से 13 जून 1967 में दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के विरुद्ध शान्ति अभियानों के विषयों पर विचार करने के लिये बुलाया गया।

महासभा के अब तक पाँच संकटकालीन अधिवेशन भी हुए है: पहला 1 से 10 नवम्बर 1956 में मिश्र के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही को रोकने के हेतु; दूसरा 4 से 10 नवम्बर 1956 में हंगरी के विद्रोह के बारे में; तीसरा 8 से 12 अगस्त 1958 में लेबनान व जोर्डन, की शिकायत की सुनवाई के लिए; चौथा 17 से 20 सितम्बर 1960 में कांगो की हालत पर विचार करने के लिये व पाँचवाँ पश्चिमी एशिया संघर्ष पर विचार करने के लिए 17 जून से 18 सितम्बर तक हुआ। महासभा स्वयं प्रतिवर्ष अपने एक सभापति और 7 उपसभापतियों को चुनती है, जिनमें बड़े पाँच शामिल होते हैं। 1954 में प्रसिद्ध भारतीय महिला श्रीमती विजया लक्ष्मी पंडित इसकी सभापति चुनी गई थीं। 1967 में रूमानिया के कार्नेलियू मानेस्क्यू इसके सभापति थे। छः मुख्य समितियों के सभापतियों को भी महासभा ही चुनती है।

कार्य-क्षेत्र

महासभा के कार्य (अनुच्छेद 10 से 17 के अनुसार) निम्न प्रकार के हैं:—

1. सिफारिश:—महासभा किसी भी ऐसे प्रश्न या मामले पर विचार कर सकती है जो घोषणा-पत्र के क्षेत्र में हो और वह अपनी सिफारिशें सदस्य राष्ट्रों को या सुरक्षा परिषद् को, या दोनों को भेज सकती है। सिफारिशों के विषय इस प्रकार हैं:—शांति और सुरक्षा के लिये अंतर्राष्ट्रीय सहयोग; निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण; अंतर्राष्ट्रीय कानून के क्रमिक विकास और उसके संहिताकरण, मानव अधिकारों की मौलिक स्वतन्त्रता; आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्धों पर प्रभाव डालने वाली किसी भी स्थिति को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने हेतु।

2. निरीक्षण:—महासभा विभिन्न अंगों की वार्षिक और विशेष रिपोर्ट पर विचार करती है और आवश्यक सुझाव देती है। यह रिपोर्ट सुरक्षा परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, संरक्षण परिषद् और परतन्त्र क्षेत्र, महासभा का लेखा-जोखा, विशिष्ट संस्थाओं आदि पर होती है। इस प्रकार विभिन्न अंगों के कार्यों का निरीक्षण इसका मुख्य कार्य है।

3. चुनाव :—महासभा सुरक्षा परिषद् के 10 अस्थाई सदस्यों (प्रतिवर्ष 5), संरक्षण परिषद् के सदस्यों, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के 27 सदस्यों (प्रति वर्ष 9) को पृथक् रूप से स्वयं चुनती है। प्रति 9 वर्ष बाद अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के 15 न्यायाधीशों और प्रति पांच वर्ष बाद महासचिव के चुनाव में भाग लेती है। इसके अतिरिक्त नये राज्यों को संघ की सदस्यता प्रदान करना भी इसका कार्य है।

4. आर्थिक :—संयुक्त राष्ट्र संघ के वार्षिक बजट पर विचार करना एवं विशेष संस्थाओं के बजट पारित करना इसका कार्य है। बजट सदस्य राष्ट्रों के चंदे से पूरा किया जाता है। 1968 के लिये महासभा ने 14,04,30,950 डालर की राशि का बजट स्वीकृत किया जो कि पिछले वर्ष की अपेक्षा एक करोड़ डालर अधिक है। इस बजट के लिए 70 प्रतिशत चन्दा मात्र 7 राष्ट्र देते हैं, जो निम्न हैं : सं० रा० अमेरिका 31.91 ; रूस 14.92 ; ब्रिटेन 7.21 ; फ्रांस 6.09 ; राष्ट्रवादी चीन 4.25 केनेडा 3.17 व भारत 1.85 शेष 116 राष्ट्र मात्र 30 प्रतिशत चन्दा देते हैं।

समितियां

महासभा के कार्य 6 प्रमुख समितियों द्वारा होते हैं, जिनमें सभी सदस्यों के प्रतिनिधि भाग लेते हैं। ये निम्न प्रकार हैं :—

प्रथम समिति—राजनीतिक तथा सुरक्षा (निःशस्त्रीकरण)
दूसरी समिति—आर्थिक तथा वित्तीय
तीसरी समिति—सामाजिक, मानवीय तथा सांस्कृतिक
चौथी समिति—सरक्षण तथा परतन्त्र
पाचवी समिति—प्रशासनिक और बजट सम्बन्धी
छठी समिति—कानूनी

अतिरिक्त कार्य भार संभालने के लिये एक विशेष राजनीतिक समिति होती है, जो प्रथम समिति के अन्तर्गत कार्य करती है। इसके अतिरिक्त भी परिचय-पत्र समिति और 20 से भी अधिक छोटी-बड़ी अतिरिक्त समितियां आवश्यकतानुसार स्थापित की गई हैं। प्रत्येक समिति का अलग-अलग अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और प्रतिवेदक चुना जाता है। सदस्यों के चुनाव योग्यता और अनुभव के अतिरिक्त समान भौगोलिक वितरण के आधार पर होते हैं। दो स्थायी समितियां 'प्रशासकीय और बजट मामलों सम्बन्धी सलाहकार समिति' और 'चन्दा सम्बन्धी समिति' महासभा की सहायता करती हैं। इन समितियों के सदस्यों का चुनाव व्यक्तिगत योग्यताओं और भौगोलिक वितरणों के आधार पर तीन वर्ष के लिये महासभा द्वारा किया जाता है।

अधिकार

अनुच्छेद 12 में स्पष्ट कहा गया है कि यदि किसी अंतर्राष्ट्रीय विवाद पर सुरक्षा परिषद् विचार कर रही हो तो उस विवाद या परिस्थिति के सम्बन्ध में "महा

सभा कोई सिफारिश नहीं करेगी, जब तक सुरक्षा परिषद् उससे ऐसा करने को न कहे।" इस प्रकार दोनों के अधिकार क्षेत्र एक दूसरे पर चढ़ गये हैं। वस्तुतः बल्कान और कोरिया समस्या को सुरक्षा परिषद् ने अपनी कार्य सूची से इसलिये हटा लिया, ताकि इस विषय पर महासभा विचार कर सके। परन्तु फिलिस्तीन, स्वेज, और कांगों के विषय में सभा और परिषद्—दोनों ने एक ही साथ सिफारिश की। सभा ने शांति के लिये सुझाव रखा था और परिषद् ने सुरक्षा सम्बन्धी। संक्षेप में सभा का राजनैतिक अधिकार है जो कि केवल सिफारिश तक ही सीमित रहता है और जिसका पालन करने के लिये सदस्य राष्ट्र बाध्य नहीं है।

मतदान-प्रणाली

महासभा की मतदान प्रणाली अनुच्छेद 18 में स्पष्ट की गई है। महत्वपूर्ण प्रश्नों पर सभा के निर्णय उस समय मौजूद और वोट देने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से किये जाते है। ये महत्वपूर्ण प्रश्न इस प्रकार हैं:—

(1) अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा बनाए रखने के विषय में सिफारिशें; (2) सुरक्षा परिषद् के अस्थाई सदस्यों का चुनाव; (3) आर्थिक व सामाजिक परिषद् के सदस्यों का निर्वाचन; (4) संरक्षण परिषद् के सदस्यों का चुनाव; (5) संयुक्त राष्ट्र संघ के नये सदस्यों की भर्ती; (6) सदस्यता के अधिकारों और विशेष अधिकारों की छीनना; (7) सदस्यों का निष्कासन; (8) संरक्षण प्रणाली को क्रियान्वित करने सम्बन्धी प्रश्न और (9) बजट सम्बन्धी प्रश्न। अन्य प्रश्नों का निर्णय उस समय मौजूद और वोट देने वाले सदस्यों के बहुमत से किया जाता है। महत्वपूर्ण प्रश्न दो तिहाई बहुमत से तय किये जाते हैं।

आलोचना

आलोचकों ने महासभा को विश्व की संसद कहा है। यद्यपि इसका साधारण अधिवेशन वर्ष में एक बार होता है, फिर भी यह एक सार्वजनिक वाद-विवाद का विश्वमंच है। 20 सितम्बर 1960 को महासभा का 15 वां अधिवेशन एक ऐतिहासिक घटना थी। इसकी पूर्ण सभा में अमेरिका के राष्ट्रपति आइजनहावर, रूस के प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव, भारत के स्वर्गीय प्रधानमन्त्री पंडित नेहरू, ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री हैरोल्ड मैकमिलन, मिश्र के राष्ट्रपति नासिर, घाना के राष्ट्रपति एनक्रूमा, वर्मा के प्रधानमन्त्री ऊनू और युगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो आदि नेताओं ने विश्व की समस्याओं पर विचार किये। इसके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी संस्था नहीं है, जहाँ विश्व के नेताओं को नियमित रूप से एकत्रित होने और विचार व्यक्त करने का अवसर मिलता हो।

डा० गुडरिच के शब्दों में "संयुक्त राष्ट्र संघ के जन्म के बाद से सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन सुरक्षा परिषद् का कार्यवाही में असफल होना और उसकी अपेक्षा

सदस्यों द्वारा महासभा का अधिक प्रयोग किया जाता है।" सभा की बड़ी शक्तियों का प्रभुत्व कठिन होता जा रहा है और छोटे राष्ट्रों का महत्व बढ़ता जा रहा है। 1968 में 123 राष्ट्रों में से 57 सदस्य एशिया अफ्रीकी देशों के हैं।

कोरिया युद्ध के प्रारम्भ होने के बाद 3 नवम्बर 1950 को अचीसन योजना (Acheson Plan) के आधार पर महासभा ने यह निश्चय किया कि जब सुरक्षा परिषद् शांति बनाये रखने के प्राथमिक कर्तव्य में असफल हो जाय तो सभा स्वयं ही तुरन्त इस शांति को भग करने वाले विषयों पर विचार कर सामूहिक कार्यवाही करे।

महासभा के मुख्य दोष निम्न हैं—

(1) उसकी 'सदस्यता की प्रणाली' त्रुटिपूर्ण है, इसलिये इस संस्था की सदस्यता विश्वव्यापी नहीं है। साम्यवादी चीन(70 करोड़ जनसंख्या), दोनों कोरिया, दोनों जर्मनी और दोनों वियतनाम आज भी इसके सदस्य नहीं हैं। परिषद् और सभा दोनों को ही नये राष्ट्रों को सदस्यता प्रदान करने के विषय में समान अधिकार होने के कारण यह दोष जारी है। (2) शांति स्थापना के लिये उचित कार्यवाही करने का अधिकार भी परिषद् और सभा दोनों में ही बाधा डालता है जो कि एक कमी है। (3) मतदान व्यवस्था सदस्य राष्ट्रों की जनशक्ति, साधन और आर्थिक चंदे पर आधारित नहीं है, बल्कि सदस्य राष्ट्र होने मात्र पर ही आधारित है। बर्बडोज जैसे छोटे टापू का मत भी उतना ही प्रबल माना जाता है, जितना कि संयुक्त राज्य अमेरिका का मत। इसलिये यदि छोटे-छोटे राष्ट्र मिलकर दो-तिहाई बहुमत बना भी लें तो भी शक्ति के अभाव में उनके निर्णय का कोई महत्व नहीं होगा। (4) यूक्रेन और वाइली रशिया जो कि सोवियत संघ के अंग हैं, को केवल प्रतिनिधि ही नहीं, बल्कि पृथक् मताधिकार भी दिया गया है; जिससे न केवल रूस के तीन मत हो गये बल्कि तीन पृथक् प्रतिनिधि मंडल भी हो गये हैं। इससे अन्य बड़े राष्ट्र भी अधिक प्रतिनिधित्व की माँग कर रहे हैं। (5) एक अन्य दोष सभा में विचार किये जाने वाले विषयों का आधिक्य (22 वें अधिवेशन में 99 कार्यसूची), राष्ट्र की प्रतिष्ठानुकूल दीर्घ भाषण, वर्ष में एक ही अधिवेशन, लम्बी अवधि वाली सभाएं (1967 में नियमित अधिवेशन, 19 सितम्बर से 20 दिसम्बर) व जटिल कार्य प्रणाली है। गम्भीर विचार के लिये यह व्यवस्था ठीक नहीं है। विस्फोटक स्थिति को तत्परता के साथ नियंत्रण में लाने के लिए जिस द्रुत कार्यवाही की आवश्यकता होती है, वह भी इन जटिलताओं में संभव नहीं। (6) सभा की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि इसकी सिफारिश या निर्णय के पालन के लिये सदस्य राष्ट्रों को बाध्य नहीं किया जा सकता।

हेंस मारगेन्थ्यु के मत में "महासभा की शक्तियों में कमी ने उसके व्यक्तित्व को खंडित कर दिया है। सभा द्वारा की गई सिफारिशों की सुरक्षा परिषद् अवहेलना

कर सकती है। सुरक्षा परिषद् और महासभा के मध्य शक्ति विभाजन एक संवैधानिक विरूपता है। इस प्रकार एक ही समस्या पर दोनों ही समान गर्व के साथ भिन्न विचार प्रकट करती हैं और इन दो मतों के मध्य कोई आंगिक सम्बन्ध नहीं होता।"

डा० सिडनी बैली के अनुसार "संयुक्त राष्ट्र संघ के समस्त अंगों पर महासभा का ही सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है, क्योंकि यही एक ऐसी संस्था है, जिसके सभी राष्ट्र सदस्य हैं।" इस प्रकार इयूजेन नीति के मत में "क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व, नीति निर्धारण, प्रशासन पर निरीक्षण, बजट निर्माण और वाद-विवाद के निपटारे के लिये महासभा किसी देश की लोकप्रिय एक सदनीय संसद् के रूप मे काम करती है। इसमे प्रभुसत्ता अथवा सदस्यों पर अपने कानून लागू करने की शक्ति का नितान्त अभाव है। किन्तु सभा में शक्ति के केन्द्रीयकरण ने इसे विश्व की संसद् बना दिया है।" महासभा में मतदान प्रणाली इस प्रकार की है कि 123 में से यदि मात्र 42 छोटे-छोटे राष्ट्र ही, जिनकी, सदस्य राष्ट्रों की तुलना मे, जनसंख्या 5 प्रतिशत से अधिक न हो, किसी निर्णय के पारित होने में गतिरोध डाल सकते हैं और 95 प्रतिशत जनसंख्या के प्रतिनिधियों का मत निरर्थक हो सकता है।

सुरक्षा परिषद्

रचना

विश्व में शांति और सुरक्षा बनाये रखने के लिये उत्तरदायी-सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र संघ का दूसरा प्रमुख अंग है। इसमे 1946 से 1965 तक 5 स्थायी और 6 अस्थायी, कुल मिलाकर 11 सदस्य थे (अनुच्छेद 23)। *5 स्थायी सदस्य*—राष्ट्रवादी चीन, फ्रांस, सोवियत रूस, ब्रिटेन और अमेरिका हैं। महासभा के 18 वें अधिवेशन में घोषणा-पत्र के संशोधन द्वारा 1966 से सुरक्षा परिषद् की सदस्य संख्या बढ़ा कर 11 से 15 कर दी गई, जिनमें से 10 अस्थायी हैं। ये अस्थायी सदस्य दो वर्ष के लिये महासभा द्वारा भौगोलिक वितरण के आधार पर चुने जाते हैं, जो इस प्रकार हैं : अफ्रीका व एशिया के राज्यों मे से 5; पूर्वी यूरोपीय राज्यों में से 1; अमेरिका मे से 2 और पश्चिमी यूरोपीय राज्यो में से शेष दो सदस्य। संशोधन की संपुष्टि के पश्चात्, पहली जनवरी 1966 से यह प्रणाली लागू हो गई। वर्तमान समय मे सुरक्षा परिषद् में 5 स्थायी सदस्यों के अतिरिक्त निम्नलिखित 10 अस्थायी सदस्य है :—

ब्राजील	1968	अलजीरिया	1969
केनेडा	1968	हंगरी	1969
डेनमार्क	1968	पाकिस्तान	1969
इथोपिया	1968	पैरागुआ	1969
भारत	1968	सैनीगल	1969

प्रतिवर्ष महासभा परिषद् के 5 अस्थायी सदस्यों को चुनती है, परन्तु वे लगा-

तार दो बार नही चुने जा सकते। प्रत्येक सदस्य राज्य का केवल एक ही प्रतिनिधि परिषद् में उपस्थित हो सकता है।

अधिवेशन

परिषद् अपना अध्यक्ष स्वय चुनती है, परन्तु अब तक यह नियम रहा है कि प्रत्येक सदस्य राष्ट्र बारी-बारी से एक महीने के लिये परिषद् के अध्यक्ष रहें। परिषद् के सदस्य अंग्रेजी नाम के प्रथम अक्षर के क्रमानुसार एक महीने के लिये इसके अध्यक्ष बनते हैं। यदि परिषद् के विचाराधीन प्रश्न में अध्यक्ष राज्य प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हो तो बहस के समय वह चाहे तो अनुपस्थित रह सकता है।

इसके अधिवेशन साधारण एवं विशेष दो प्रकार के होते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य के अनुसार शांति स्थापना के लिये अविलम्ब कार्यवाही जरूरी है। इसलिये अनुच्छेद 28 में परिषद् के हर सदस्य की उपस्थिति हर समय रहने की व्यवस्था की गई है, ताकि यह लगातार काम कर सके। साधारणत: इसका अधिवेशन महीने में दो बार होता है। अपनी सुविधा के अनुसार इसकी बैठक कहीं भी की जा सकती है। अंतर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न होने के बाद 24 घंटे में इसका विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है। अब तक हुए सुरक्षा परिषद् के अधिवेशनों की वर्षानुसार सूची नीचे दी गई है। सुरक्षा परिषद् के अधिवेशनों की घटती-बढ़ती संख्या से उसके महत्व, विश्व जनमत के रुख व सं० रा० संघ के सदस्यों की उसके प्रति आस्था का चित्र स्पष्ट होता है। पिछले दशक में 1964 में जब कि सबसे अधिक (104) बैठकें हुई, इनकी संख्या 1967 में केवल 46 रह गई। कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं के हल के लिये सुरक्षा परिषद् की अपेक्षा महासभा ने प्रमुख भाग लिया।

1946	88	बैठकें	1957	49	बैठकें
1947	137	,,	1958	36	,,
1948	171	,,	1959	5	,,
1949	62	,,	1960	71	,,
1950	73	,,	1961	68	,,
1951	39	,,	1962	38	,,
1952	42	,,	1963	59	,,
1953	42	,,	1964	104	,,
1954	32	,,	1965	81	,,
1955	23	,,	1966	70	,,
1956	50	,,	1967	46	,,

संगठन

सुरक्षा परिषद् का आकार छोटा ही रखा गया (मात्र 15 सदस्य) ताकि अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिये यह शीघ्रता से मिल सके, व इसका कार्य

सुचारु रूप से चलता रहे। पाँच बड़े राष्ट्रों का विश्व शांति में सहयोग प्राप्त करने के लिये उन्हें उत्तरदायीपूर्ण स्थायी स्थान दिए गए। सुरक्षा परिषद् निरन्तर कार्य कर सके, इसके लिये अनुच्छेद 28 के अनुसार इसके सदस्यों की हर समय उपस्थिति, परिषद् के मुख्य कार्यालय न्यूयार्क में आवश्यक रखी गई। परिषद् का सभापतित्व सदस्य राष्ट्रों की अंग्रेजी नामावली के अनुसार प्रतिमास क्रमानुसार बदलता रहता है और इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र को सभापतित्व का अवसर मिलता है।

सुरक्षा परिषद् अतिरिक्त कार्यों के लिये सहायक अंगों की स्थापना कर सकती है। इसके छोटे आकार के आधार इसके द्वारा स्थापित समितियाँ व आयोग भी थोड़े ही हैं। स्थायी अंगों में नये सदस्यों के प्रवेश सम्बन्धी समिति, स्थायी सदस्य *राष्ट्रों के सेनाध्यक्षों की समिति व कानून एवं कार्यविधि विशेषज्ञों की समितियाँ(15* सदस्य) हैं। अस्थायी अंगों में सैनिक निरीक्षण के लिये स्थापित किये गये कश्मीर, अरब-इजराइल क्षेत्र व साइप्रस में स्थापित किये गये सैनिक आयोग हैं।

कार्यक्षेत्र तथा अधिकार

जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, सुरक्षा परिषद् का प्रमुख उत्तरदायित्व विश्व में शांति और सुरक्षा बनाये रखना है। अनुच्छेद 24 के अनुसार यह उत्तरदायित्व परिषद् को इसलिये दिया गया कि वह कार्यवाही शीघ्रता और प्रभावकारी ढंग के साथ कर सके। परिषद् की असमर्थता की स्थिति में ही महासभा इन विषयों पर विचार करती है। सुरक्षा परिषद् का यह भी दायित्व रखा गया कि वह शस्त्र नियंत्रण पर विचार करे और यह देखे कि राष्ट्र जन-शक्ति व आर्थिक साधनों को शस्त्र-क्षेत्र में कम-से-कम व्यय करें और एक शस्त्र-नियंत्रण पद्धति की योजना प्रस्तुत करे। आवश्यकता पड़ने पर परिषद् सामरिक महत्व के क्षेत्रों का संरक्षण व उनका सामाजिक और आर्थिक प्रशासन कर सकता है *(अनुच्छेद 83)*।

नये राष्ट्रों की संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रवेश की स्वीकृति; नये महासचिव की नियुक्ति के सुझाव एवं अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों के चुनाव के संबंध में परिषद् व महासभा के समान अधिकार हैं। अन्तर्राष्ट्रीय शांति के भंग होने के खतरे की स्थिति में परिषद् ऐसे उपायों का सुझाव संबंधित राष्ट्रों को दे सकती है जिससे स्थिति सुलझ जाय और अधिक न बिगड़े व अपने प्रस्ताव महासभा को भी भेज सकती है। शांति भंग होने और आक्रमण हो जाने की अवस्था में परिषद् राजनीतिक आर्थिक और सैनिक कार्यवाही करेगी। परिषद् वर्ष भर की गतिविधियों और कार्यवाहियों का प्रतिवेदन प्रतिवर्ष महासभा के अधिवेशन में प्रस्तुत करेगी। आक्रमण की *स्थिति में सदस्य राष्ट्र की प्रार्थना पर परिषद् सैनिक, आर्थिक एवं अन्य प्रकार* की सहायता दे सकती है। इसके अंतर्गत परिषद् ने गाजा, कांगो व साइप्रस में आपातकालीन सेनायें भेजी।

अनुच्छेद 47 के अनुसार एक *सैनिकाध्यक्षों की समिति बनाई जाएगी, जो निम्न*

लिखित चार कार्यों में परिषद् को परामर्श देगी : (1) अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा परिषद् की सैनिक आवश्यकतायें ; (2) उसके आधीन सेनाओं का प्रयोग और उनकी कमान ; (3) शस्त्रों का नियंत्रण एव (4) संभावित नि.शस्त्रीकरण ।

सुरक्षा परिषद् का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण निबटारा है। इसकी चार अवस्थाओं का विस्तृत वर्णन नीचे दिया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण निपटारा

परिषद् शान्तिपूर्ण समझौतो के लिए चार विभिन्न अवस्थाओं मे हस्तक्षेप कर सकती है।

प्रथम अवस्था :—दोनों विवादी पक्ष अपने झगड़े को सबसे पहले बातचीत, पूछताछ, विचार-विमर्श, मध्यस्थ निर्णय, जाँच, न्यायिक समझौता और प्रादेशिक संस्थाओं द्वारा सुलझाने का प्रयत्न करें। यदि कोई गैर सदस्य अपने विवादों को परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत करता है तो शर्त यह है कि वह घोषणा पत्र की बाध्यता मूलक शर्त को मान ले। (अनुच्छेद 33 से 38)

द्वितीय अवस्था :—यदि शांति भंग हो जाय अथवा एक राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण करे तो परिषद् झगड़ने वाले राज्यों से अपनी शर्तें स्वीकार करने के लिए अनुरोध कर सकती है। इस अवस्था में उन राज्यों के अधिकार तथा दावे अक्षुण्ण रहेंगे। उदाहरण के तौर पर परिषद् मांग कर सकती है कि सम्बन्धित देश अपनी सेनाएँ निर्धारित स्थान पर बुला ले या युद्ध-विराम पर हस्ताक्षर करे। यदि एक अथवा दोनों पक्ष इस माँग को अस्वीकार कर दें तो परिषद् भविष्य की कार्यवाही में इसका विधिवत ध्यान रखेगी। (अनुच्छेद 39, 40)

तृतीय अवस्था :—परिषद् सदस्य राज्य से अपने निर्णयों पर अमल करने के लिए ऐसी मांग कर सकती है, जिनमें आर्थिक सम्बन्ध पूर्ण या आंशिक रूप से समाप्त किये जा सकते हैं, समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो और यातायात के अन्य साधन बन्द किये जा सकते हैं या कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़े जा सकते हैं। (अनुच्छेद 41)

चतुर्थ अवस्था :—अन्त में यदि परिषद् के विचार मे उपरोक्त कार्यवाही अपर्याप्त हो तो सदस्य राज्यो की जल, थल व वायु सेना विरोध प्रदर्शन कर सकती है ; अवरोध या घेरा डाल सकती है। सदस्य राज्य अनुच्छेद 43 के अनुसार प्रतिज्ञा-बद्ध हैं कि परिषद् के मांगने पर और विशेष समझौते के अनुसार अपनी हथियार, बन्द सेनाएँ, सहायता और दूसरी सुविधाएँ, जिनमें मार्ग अधिकार भी शामिल होगा, प्रदान करें। सदस्यों का यह भी कर्तव्य है कि परिषद् की सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही पर तत्परता मे अमल करने के लिए सदा राष्ट्रीय सेनाएँ प्रस्तुत रखें। (अनुच्छेद 43 से 45)

सुरक्षा परिषद् मे मतदान प्रणाली सबसे अधिक चर्चा और आलोचना का विषय रहा। सशोधित अनुच्छेद 27 के अनुसार (1) सुरक्षा परिषद् के हर सदस्य का एक मत होगा (2) क्रियाविधि संबंधी विषयों में सुरक्षा परिषद् का वही निर्णय होगा जिसके पक्ष में उसके 9 सदस्य मत दें (3) महत्वपूर्ण विषयों में सुरक्षा परिषद् का वही निर्णय होगा जिसके पक्ष में 9 सदस्यों ने मत दिया हो और सभी स्थायी सदस्य उसमे सम्मिलित हों (4) कोई भी सदस्य, चाहे स्थायी हो या अस्थायी, जिस विवाद में वह स्वयं ही एक पक्ष हो, उसके शांतिपूर्ण समझौते से सबंधित किसी भी निर्णय में मत नही दे सकता है। मतदान के विषय में चतुर्थ बिन्दु का निर्णय अमेरिका के कहने पर याल्टा सम्मेलन मे रूस ने स्वीकार किया था। किसी प्रस्ताव के पारित होते समय यदि कोई भी एक स्थायी सदस्य विरोध मे मतदान करता है तो उसे 'निषेधात्मक मत' (वीटो) कहा जाता है और वह प्रस्ताव पारित नही होता। स्थायी सदस्यो को यह अधिकार प्रारभ में उनके विरूद्ध दण्डादेश प्रतिबंध के लिये दिया गया था।

सैन फ्रांसिस्को में छोटे व बड़े राष्ट्रों में मतदान प्रणाली को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया था। छोटे राष्ट्रों का कहना था कि समस्याओं के शांतिपूर्ण निबटारे में समस्त स्थायी सदस्यों के मतैक्य की आवश्यकता नही है अन्यथा परिषद् के सामान्य कार्यों में गतिरोध उत्पन्न हो जायेगा। किन्तु सदस्यों में इस प्रकार के निर्णीत विषयों को क्रियान्वित रूप देने में असमर्थता प्रकट करने के कारण यह प्रस्ताव पारित नही हो सका। इस विषय में सम्मेलन मे जब मतदान हुआ तो 10 पक्ष में व 20 विपक्ष मत पड़े और 15 सदस्य अनुपस्थित रहे। प्रस्ताव पारित नही हुआ और स्थायी सदस्यों का महत्वपूर्ण मामलों में निषेधाधिकार बदस्तूर जारी रहा।

1949 में महासभा की अन्तरिम समिति ने सिफारिश की कि सुरक्षा परिषद् के सदस्य अग्रिम रूप से विचार करें कि कौन सा विषय कार्य-विधि संबंधी है और कौन सा महत्वपूर्ण। किन्तु इस पर कोई निर्णय नहीं हो सका और केवल यह निश्चित हुआ कि किसी स्थायी सदस्य की मतदान के समय अनुपस्थिति को निषेधात्मक मत नही माना जाएगा।

यह आलोचना कि सुरक्षा परिषद् की कार्यवाही स्थायी सदस्यों के निषेधाधिकार के कारण प्रभावशाली नहीं हो सकी, इसलिए ठीक नहीं मालूम पड़ती कि (1) पहले पन्द्रह वर्षों में स्थायी सदस्यों ने इसका अधिक प्रयोग किया और पिछले पाँच वर्षों में इसका प्रयोग क्रमशः कम होता जा रहा है, (2) इस विशेषमत का प्रयोग प्रायः नये सदस्यों के प्रवेश व समस्याओं के शांतिपूर्ण निराकरण के तरीकों को क्रियान्वित रूप देने के विरोध में ही किया गया था, (3) रूस ने ही

इसका अधिकतम प्रयोग किया, व (4) सुरक्षा परिषद् के अनेक कार्यों को शनैः शनैः महासभा लेती जा रही है। महासभा जिसमें किसी भी राष्ट्र को निषेधाधिकार प्राप्त नहीं है, वहां भी दो तिहाई बहुमत से पारित होने वाले विषयों को भी अनेक बार क्रियात्मक रूप नही दिया जा सका है। इस प्रकार यह आवश्यक नहीं कि निषेधाधिकार-शून्य परिषद् परिस्थिति में सफल हो जाय। निषेधाधिकार का प्रयोग इस तथ्य को प्रतिबिम्बित करता है कि बड़े राष्ट्रों में सैद्धान्तिक या अन्य मतभेद हैं और यह भी स्पष्ट है कि बिना उनके सहयोग के किसी भी निर्णय को स्थायी रूप से सफल नही बनाया जा सकता। अलबत्ता नये राष्ट्रों के सदस्यता के लिए प्रवेश व समस्याओं के शांतिपूर्ण निर्णयों को क्रियात्मक रूप देने की स्थिति में निषेधाधिकार के अंत पर विचार किया जा सकता है। किन्तु जिन समस्याओं के निराकरण में दण्डादेश प्रावधान हो, बड़े राष्ट्रो की असहमति की अवहेलना नही की जा सकती। 1950 में आंग्ल-अमेरिकी गुट समर्थित महासभा की अस्थायी समिति ने यह उद्देश्य सामने रखा कि यदि सुरक्षा परिषद् शान्ति रखने मे असफल रहे तो वह महासभा के सामने समझौते तथा सहयोग के लिए अपनी सिफारिश पेश करे अर्थात् निषेधाधिकार प्रयोग करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध लोकमत संगठित करे। किन्तु यहां यह ध्यान में रखना है कि सं०रा० संघ की स्थापना के पूर्व प्रमुख पांच राष्ट्रों में 'निषेधाधिकार' के सम्बन्ध में समझौता हुआ था और इसलिए उन्होंने परिषद् में योगदान दिया था अब जब तक कि संघ के घोषणा-पत्र मे कोई सशोधन नहीं होता, तब तक इस स्थिति में किसी भी परिवर्तन की आशा रखना व्यर्थ है। सुरक्षा परिषद् के कार्यकलाप में उन्नति होना तब तक असंभव है जब तक आंग्ल-अमेरिकी पूंजीवादी गुट तथा रूस-चीन द्वारा परिचालित साम्यवादी गुट का आपसी समझौता न हो।

मूल्यांकन

सुरक्षा परिषद् सं०रा० संघ का एक प्रधान अंग है। यही वह प्रमुख अंग है जिसके माध्यम से संघ अंतर्राष्ट्रीय प्रशासन करता है। मारगेन्थ्यु ने इसके विषय में कहा है "यह हमारे समय की एक 'पवित्र सधि' है।" उसका इसे सधि कहना ठीक ही है क्योंकि विश्व की दो महान् शक्तियों का सहयोग इसमें निहित है। अनेक विशेषताओं एवं कुछ कमियो के कारण सुरक्षा परिषद् अपने उद्देश्यों में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाई है। यहाँ हम इसकी कुछ प्रमुख समस्याओं की चर्चा करेंगे।

सुरक्षा परिषद् के जो पांच स्थायी सदस्य हैं, वे समान स्तर के नही हैं। इनमें से दो महाशक्ति हैं, दो मध्यवर्ती शक्तियां एवं एक छोटी शक्ति है। इस प्रकार असंतुलित शक्ति के कारण उनमें से कुछ परिषद् के निर्णयों पर प्रभाव डालने अथवा अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के निराकरण मे सहयोग देने में असमर्थ हैं। दूसरे, बदलती हुई परिस्थितियों में यह आवश्यक नहीं कि 1945 में जो राष्ट्र महाशक्तियां थीं वे आज भी महाशक्ति हों। इस प्रकार एशिया की दो महान् शक्तियों—भारत एवं साम्यवादी चीन की स्थायी सदस्यता की मांग के उपरान्त

उनकी अवहेलना की जा रही है। 1966 में परिषद् के अस्थायी सदस्यों की संख्या में तो वृद्धि की गई (6 से 10) किन्तु स्थायी सदस्यों की सख्या में नहीं। राष्ट्र संघ की परिषद् मे भी, आवश्यकतानुसार, स्थायी सदस्यों की सख्या 4 से 6 कर दी गई थी किन्तु आज बदलती हुई परिस्थितियों, जनसख्या की वृद्धि व नई-नई शक्तियों के उदय के उपरान्त भी स्थायी सदस्य केवल पाँच हैं। तीसरा तथ्य, जिसके आधार पर सुरक्षा परिषद् की आलोचना की जाती है स्थायी सदस्यों को 'निषेधाधिकार' है। इस अधिकार का परिणाम यह है कि विपरीत स्थिति में भी रूस व अमेरिका के विरुद्ध कार्यवाही नहीं की जा सकती। यही कारण है कि कोरिया, फिलिस्तीन, कांगो आदि प्रश्नों पर सुरक्षा परिषद् के आग्रह पर महासभा को विचार करना पडा। सुरक्षा परिषद् मे कतिपय स्थायी सदस्यों के विरोध के कारण कोई भी निर्णयात्मक प्रस्ताव 'मृतक पत्र' के समान हो जाता है। फिर भी सुरक्षा परिषद् को राष्ट्रोपरि अधिकार भी नही कि वह अपने निर्णयो को सम्बन्धित राष्ट्र की इच्छा के विरुद्ध उसके आंतरिक विषयों मे लागू कर सके। चौथे, सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्रों के संरक्षण का अधिकार सुरक्षा परिषद् का है। इसके अन्तर्गत प्रशान्त महासागरीय द्वीप समूह का संरक्षण स० रा० अमेरिका को दिया गया है। इस कारण इन क्षेत्रों का भविष्य अनिश्चित है। एक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियाँ अप्रत्यक्ष रूप से महाशक्तियों द्वारा प्रभावित होती रहती है। इन परिस्थितियों में सुरक्षा परिषद् की चिरन्तन जागरूकता पर ही विश्व शान्ति निर्भर है। पांचवें, राष्ट्र संघ परिषद् की तुलना में सुरक्षा परिषद् (i) तीन माह में एक बार की अपेक्षा कम से कम पन्द्रह दिन में एक बार मिलती है (ii) महत्वपूर्ण विषयो में सुरक्षा परिषद् में स्थायी सदस्यों सहित 15 में से केवल 9 मतो की आवश्यकता होती है जब कि राष्ट्र संघ परिषद् में मतैक्यता अनिवार्य थी व (iii) सुरक्षा परिषद् का एक नया सफल प्रयोग 'आपातकालीन सेना' जब कि राष्ट्र परिषद् ने केवल 'दण्डादेश' जारी किए थे; छठे, सुरक्षा परिषद् की वार्षिक सभाओं की संख्या पर एक विहगम दृष्टि डालने से उसके विश्व गतिविधियो मे घटते-बढ़ते महत्व पर प्रकाश पड़ता है। 1946 में इनकी संख्या 86, 1948 में 171, 1955 मे मात्र 23 व 1967 में 46 थी। प्रतिवर्ष विश्व समस्याओं के नियन्त्रण पर सु० परिषद् का प्रभाव कम हो रहा है और सदस्य महासभा की ओर अधिक आशापूर्ण दृष्टि से देखते हैं। मारगेन्थ्यु ने इसी प्रक्रिया को इन शब्दों में व्यक्त किया है, "महासभा की बढ़ती हुई शक्ति और क्रिया-कलापों में, सुरक्षा परिषद् की घटती हुई कार्यवाही व मृतप्राय: स्थिति निहित है।" लन्दन इकानोमिस्ट के अनुसार "सयुक्त राष्ट्र संघ चिह्न की पृष्ठ भूमि में परिषद् का लगभग प्राणहीन अस्थि-पंजर धराशायी चट्टान की भाँति खड़ा दिखाई देता है।" घोषणा-पत्र के अनुच्छेद 52 में सुरक्षा परिषद् के द्वारा ऐसे क्षेत्रीय प्रबन्धों का उल्लेख है जो क्षेत्रीय विचारो को हल कर सकें और वहां असफल होने पर ही समस्याएं परिषद् में लाई जांय। किन्तु इस क्षेत्र मे भी नगण्य कार्य हुआ है।

महासचिव ऊ थांट ने अपने वार्षिक प्रतिवेदन (1966-67) में सुरक्षा परिषद् पर टिप्पणी करते हुए उसकी दुर्बलता पर प्रकाश डाला "घोषणा पत्र के अनुच्छेद 28 में यह व्यवस्था है। कि समय-समय पर परिषद् के सदस्य राष्ट्रों की सरकारों के प्रधान अथवा उनके विशेष प्रतिनिधि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान पर विचार करने के लिए एकत्रित हों किन्तु आज तक यह विचार फलीभूत नहीं हुआ है, जिसका कारण इसके महत्व में कमी होकर स्थित वातावरण रहा है।" ऊ थांट ने आगे कहा, "सब समयों की अपेक्षा आज एक अधिक स्वस्थ वातावरण उपलब्ध है जबकि अधिकाधिक लोग इससे सहमति प्रकट कर रहे है कि उच्चस्तरीय वार्ता द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समाज की समस्याओं को हल किया जा सकता है।"

आर्थिक और सामाजिक परिषद्

संयुक्त राष्ट्र संघ के अंग के रूप में आर्थिक और सामाजिक परिषद् के आगमन की कहानी उसके राजनीतिक पहलू से कही अधिक पुरानी है। 1939 में ही राष्ट्र संघ ने लन्दन स्थित आस्ट्रेलिया के हाई कमिश्नर ब्रूस की अध्यक्षता में, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विकास के लिए समिति (ब्रूस-समिति) स्थापित कर दी थी। शीघ्र ही युद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण इसकी कार्यवाही में शिथिलता आ गई थी, किन्तु 1944 में यह समिति पुन: सचेत हुई और इसने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शरणार्थी, खाद्य, अर्थ, एव स्वास्थ्य जैसी समस्याओं के निराकरण का कार्य अपने हाथ में लिया। जब सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन प्रारम्भ हुआ, कथित ब्रूस समिति आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र में पहले ही कार्य कर रही थी और घोषणा-पत्र में इसे स० रा० संघ के प्रधान अग और सामाजिक एव आर्थिक परिषद् के रूप में स्थान दिया गया।

सं० रा० संघ राजनीतिक क्षेत्र मे आशानुकूल सफल रहा हो अथवा न रहा हो, उसे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में आशातीत सफलता मिली है। संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र के अध्याय एक (प्रयोजन और सिद्धान्त) के अनुच्छेद एक मे स्पष्ट उल्लेख है कि वह विश्व की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या मानवतावादी समस्याओं को हल करने में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करेगा। अनुच्छेद 55 में महासभा के अधिकार के अन्तर्गत आर्थिक और सामाजिक परिषद् को निम्न निर्देश दिए गए है :—

(i) रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना, सबको काम दिलाना, आर्थिक और सामाजिक उन्नति और विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा करना ;

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य और तत् सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाना ;

(iii) संस्कृति तथा शिक्षा के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

(iv) जाति, लिंग, भाषा और धर्म का भेद किए बिना सबके लिए मानवे अधिकारों और मूल स्वन्तत्रता के प्रति सर्वत्र सम्मान और उनका पालन।

रचना

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् में प्रारम्भ में 18 सदस्य थे जो महासभा द्वारा चुने जाते थे। प्रतिवर्ष 6 सदस्य 3 वर्ष के लिए चुने जाते थे और कोई भी सदस्य दुवारा चुनाव लड़ सकता था। एक सदस्य राष्ट्र का एक प्रतिनिधि सभा में बैठ सकता है। 1965 में हुए संशोधन के अनुसार जो 1 जनवरी 1960 को लागू हुआ, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के सदस्यो की सख्या 18 से 27 कर दी गई; प्रति वर्ष नौ सदस्यों का तीन वर्ष के लिए चुनाव, क्षेत्रीय चुनाव प्रणाली (7 सदस्य एशिया व अफ्रिका से, 1 लेटिन अमेरिका से व, 1 पश्चिमी यूरोप व अन्य से) के आधार पर होता है। सदस्य राष्ट्रो के कार्यकाल की समाप्ति पर पुनः चुनाव होता है। आर्थिक एव सामाजिक परिषद् के, 1968 में सदस्य निम्नलिखित है :—

1968 तक	*1969 तक*	*1970 तक*
1. चैकोस्लोवाकिया	10. बेल्जियम	19. अर्जेन्टाइना
2. ईरान	11. फ्रांस	20. बुल्गेरिया
3. मोरक्को	12. गौटेमाला	21. छठ
4. पनामा	13. कूवेत	22, कागो
5. फिलिपीन	14. लीबिया	23. ब्राजैविली
6. स्वीडन	15. मैक्सिको	24. आयरलैण्ड
7. सोवियत रूस	16. सीरिया लिओन	25. जापान
8. युनाइटेड किंगडम	17. तुर्की	26. सं. रा. अमेरिका
9. वैनिजुएला	18. टन्जानिया गणतंत्र	27. ऊपरी वोल्टा

कार्य और अधिकार

आर्थिक और सामाजिक परिषद् के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा, स्वास्थ्य और तत् सम्बन्धी विषयो का अध्ययन यह संगठन कर सकता है और महासभा को उन पर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करता;

(2) मौलिक मानवीय अधिकारों में आस्था के विकास और पालन के लिए सिफारिश;

(3) अपने कार्यक्षेत्र के विषयों के अनुबंध हेतु महासभा में मसविदा प्रस्तुत करना;

(4) अधिकार क्षेत्र के विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का प्रबन्ध;

(5) आर्थिक और सामाजिक विषयों पर सुरक्षा परिषद् को सूचनायें व उसकी प्रार्थना पर आवश्यक सहायता का प्रबन्ध ;

(6) महासभा की आर्थिक व सामाजिक विषयों पर दी गई सिफारिशों को क्रियान्वित रूप देना ;

(7) सदस्य राष्ट्रों व सं० रा० की विशिष्ट सस्थाओं की प्रार्थना पर उन्हें आवश्यक सहायता देना ;

(8) विशिष्ट सस्थाओं (जिनकी सूची पृष्ट 520 पर दी गई है) से नियमित रूप से उनके कार्यों का प्रतिवेदन प्राप्त करना व इन्हे महासभा तक पहुँचाना ;

(9) सदस्य राष्ट्रों से, अपने क्षेत्रों में सिफारिशों को क्रियान्वित रूप देने का प्रतिवेदन प्राप्त करना ;

(10) अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति संस्था इस परिषद् से सम्बन्धित विषयों पर उसे प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है; व

(11) परिषद् *का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य महासभा,* विशिष्ट संस्थाओं, सदस्य राष्ट्रों व गैर सरकारी सस्थाओं के कार्यो में समन्वय स्थापित करना है।

परिषद् का सम्मेलन वर्ष में दो बार होता है और आवश्यकता पड़ने पर विशेष अधिवेशन होता है। 1967 तक परिषद् के 47 सम्मेलन हो चुके हैं। परिषद् हर सम्मेलन के लिए एक सभापति व एक उप-सभापति चुनती है। प्रत्येक सदस्य का एक मत होता है और कोई प्रस्ताव उपस्थित सदस्यों के बहुमत से पारित हो जाता है। परिषद् आवश्यकतानुसार तदर्थ समितियों की स्थापना करती है।

सहायक संस्थायें

परिषद् के आधीन चार क्षेत्रीय आर्थिक आयोग हैं जो कि अपने क्षेत्र के राष्ट्रों की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करते है और सरकारो को आर्थिक विकास सम्बन्धी विषयों पर सुझाव देते है :—

(1) यूरोपीय आर्थिक आयोग (1947), जिसमें 29 सदस्य है ;

(2) एशिया व सुदूर पूर्व आर्थिक आयोग, जिसमे 24 सदस्य हैं (1947);

(3) लेटिन अमेरिका के लिए आर्थिक आयोग, जिसमें 24 सदस्य हैं(1948);

(4) अफ्रीका के लिए आर्थिक आयोग, जिसमें 15 सदस्य हैं (1958);

इसके अतिरिक्त अनेक सहायक संस्थायें भी हैं, जिनमें से प्रमुख क्रियाशील निम्नलिखित हैं :—

(1) संचार एवं परिवहन आयोग	(15 सदस्य)
(2) सांख्यिकी आयोग	(15 ,,)
(3) जनसंख्या ,,	(15 ,,)

(4) सामाजिक आयोग (18 ,,)

(5) मानवीय अधिकार ,, (18 ,,)

अल्प-संख्यकों की सुरक्षा व भेद-भावों का निरोध (12 सदस्य)

(6) स्त्रियों के स्तर सम्बन्धी आयोग (18 ,,)

(7) नशीले पदार्थों सम्बन्धी ,, (15 ,,)

(8) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ,, ,, (18 ,,)

विशिष्ट संस्थायें

अन्तर्सरकारी संस्थायें (तेरह) परिषद् के तत्वावधान मे कार्य करती हैं और विशिष्ट संस्थायें कहलाती है। ये परिषद् को प्रतिवर्ष अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है जिनके नाम निम्नलिखित हैं :—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO)

(2) खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO)

(3) स० रा० संघीय शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (UNESCO)

(4) विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO)

(5) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF)

(6) पुनर्निर्माण एवं विकास का विश्व बैंक (IBRD)

(7) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (IFC)

(8) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन (ICAO)

(9) विश्व डाक संघ (UPU)

(10) अन्तर्राष्ट्रीय दूर संचार संघ (ITU)

(11) विश्व मौसम विज्ञान संगठन (WMO)

(12) अन्तर्सरकारी समुद्री परामर्श संगठन (IMCO)

(13) अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति संस्था (IAEA)

उपर्युक्त में से प्रमुख पहले चार पर हमने आगे प्रकाश डाला है।

संरक्षण परिषद्

रचना

घोषणा-पत्र के अनुच्छेद 86 के अनुसार संरक्षण परिषद् में वे सदस्य राष्ट्र सम्मिलित हैं : (i) जिनका संरक्षित क्षेत्रों पर प्रशासन है ; (ii) सुरक्षा परिषद् के वे स्थायी सदस्य (अनुच्छेद 23) जिनका संरक्षित क्षेत्रों पर प्रशासन नहीं और (iii) उपर्युक्त (i) व (ii) के योग के बराबर महासभा द्वारा तीन वर्ष के लिए चुने गये

सदस्य ताकि प्रशासक+स्थायी सदस्यों के बराबर सदस्यों का चुनाव होकर संतुलन स्थापित हो सके।

1968 में संरक्षित क्षेत्र निम्न हैं :—

संरक्षित क्षेत्रों के प्रशासक राष्ट्र	संरक्षित क्षेत्र	क्षेत्र (वर्गमील में)	संरक्षित क्षेत्र
1. आस्ट्रेलिया	न्युगिनी	2,41,000	साधारण
2. संयुक्त राज्य अमेरिका	प्रशान्त महासागरीय द्वीप समूह	1761	सामरिक महत्व का क्षेत्र

उपर्युक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त क्षेत्र जो पहले संरक्षित राज्य थे किन्तु अब स्वतन्त्र हैं, निम्न हैं :

संरक्षित क्षेत्र	प्रशासक राष्ट्र	क्षेत्र (किलो मीटर में)	स्वतंत्र होने का वर्ष
टंगानायिका	ब्रिटेन	9,39,326	9 दिसम्बर 1962
केमरून	ब्रिटेन	88,226	27 अक्टूबर 1961
टोगोलैण्ड	ब्रिटेन	33,775	6 मार्च 1957
केमरून	फ्रांस	4,32,000	1 जनवरी 1960
टोगोलैण्ड	फ्रांस	55,000	27 अप्रैल 1960
रुआन्डा-उरूंडी	बेल्जियम	54,172	1 जुलाई 1962
पश्चिमी समोआ	न्यूजी लैण्ड	2,927	31 दिसम्बर 1961
नाउरू	आस्ट्रेलिया	21	31 जनवरी 1968
सोमाली लैण्ड	इटली	5,13,533	1 जुलाई 1960

संरक्षण परिषद् के सदस्य (1) प्रशासक राष्ट्र ;

(2) सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य जो संरक्षित क्षेत्रों के प्रशासक नहीं हैं: राष्ट्रवादी चीन, रूस, ब्रिटेन एवं फ्रांस ;

(3) अन्य सदस्य : एक फरवरी 1968 को 2 प्रशासक व 4 सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों के अतिरिक्त, एक महासभा द्वारा तीन वर्ष के लिए चुना गया राष्ट्र, लाइबेरिया संरक्षण परिषद् का सदस्य था। इस प्रकार कुल सात सदस्य (2+4+1) थे। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र एक विशेषज्ञ द्वारा परिषद् में प्रतिनिधित्व करता है।

कार्य एवं शक्तियाँ

साधारण क्षेत्रों में परिषद् महासभा से प्राप्त सत्ता के आधार पर संरक्षित क्षेत्रों में सं० रा० संघीय कार्य करती है। सामरिक क्षेत्रों में सुरक्षा परिषद्, संरक्षण परिषद् की सहायता से राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व शैक्षणिक विषयों में सं० रा० संघीय कार्यवाही करती है।

परिषद् का एक महत्वपूर्ण अंग 'प्रशासक विभाग' है। यह परिषद् द्वारा तैयार

की गई प्रश्नावलियों के आधार पर प्रतिवेदन तैयार कर परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत करता है और परिषद् की सहायता से विभिन्न विवादों का निर्णय करता है। परिषद् प्रशासक विभाग की सहायता से भ्रमण दलों के संरक्षित राज्य मे दौरे की सुविधा का प्रबन्ध भी करती है। प्रशासक विभाग द्वारा परिषद् अन्य संरक्षण समझौतों को भी क्रियान्वित रूप देती है। अभिशासक राष्ट्रों के प्रतिवेदन पर विचार व किसी भी राष्ट्र व प्रशासित राष्ट्र की शिकायतों पर भी यह सोच-विचार करती है। संक्षेप में, इसका मूल ध्येय संरक्षित प्रदेशों को शीघ्र से शीघ्र स्वतन्त्र कराना है।

मत-प्रणाली

परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक मत होता है और निर्णय उपस्थित सदस्यो में से मतदाता राष्ट्रों के साधारण बहुमत से किये जाते हैं।

अधिवेशन

साधारणतः परिषद् के वर्ष में दो अधिवेशन—जनवरी व जून में, होते हैं। इसके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार, सदस्यों के बहुमत अथवा महासभा अथवा सुरक्षा परिषद् की प्रार्थना पर विशेष अधिवेशन होता है। परिषद् के किसी एक सदस्य अथवा सामाजिक एवं आर्थिक परिषद् से आग्रह से, परिषद् के बहुमत सदस्यों द्वारा स्वीकार कर लेने पर भी विशेष अधिवेशन बुलाया जाता है।

संगठन

परिषद् अपनी कार्यप्रणाली एवं अफसरों की नियुक्ति के नियम स्वयं बनाती है। जनवरी मे आरम्भ होने वाले अधिवेशन मे एक सभापति व उप-सभापति चुना जाता है। आवश्यकता पड़ने पर परिषद्, सामाजिक एवं आर्थिक परिषद् व अन्य विशिष्ट संस्थाओं की विशिष्ट सेवाओं का लाभ उठाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

अतर्राष्ट्रीय न्यायालय, संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रमुख अगो में से एक है। पहले के अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के स्थायी न्यायालय के आधार पर इस न्यायालय का निर्माण हुआ और इसे घोषणा-पत्र का अभिन्न भाग बनाया गया। न्यायालय की पृथक् सविधि है जिसके 5 अध्याय और 70 अनुच्छेद हैं।

संगठन

सं०रा० संघ के समस्त सदस्य स्वभावत. न्यायालय से भी संबधित हो जाते हैं। सुरक्षा परिषद् की सिफारिश और महासभा की स्वीकृति पर अन्य राष्ट्र भी न्यायालय का लाभ उठा सकते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के 15 न्यायाधीश होते हैं जिन्हें बिना राष्ट्रीयता के भेद-भाव के चुना जाता है। राष्ट्र के उच्चतम न्यायायिक पदों के लिए चुने जाने

योग्य कानून-विशेषज्ञ व अंतर्राष्ट्रीय कानून के ज्ञाता इस पद के लिए योग्य समझे जाते हैं। सुरक्षा परिषद् और महासभा स्वतन्त्र रूप से मतदान करते हुए बहुमत के आधार पर न्यायाधीशों को चुनती हैं जिनका कार्यकाल 9 वर्ष होता है। किसी एक राष्ट्र से दो व्यक्ति नहीं चुने जा सकते, किन्तु एक ही व्यक्ति दुबारा चुना जा सकता है। आवश्यकता पड़ने पर बची हुई अवधि के लिए उपर्युक्त प्रणाली के आधार पर ही नया न्यायाधीश चुनते हैं।

कार्यक्षेत्र

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्य राष्ट्र पारस्परिक झगड़ों के मामले इसमें प्रस्तुत कर सकते हैं। सुरक्षा परिषद् द्वारा निर्धारित शर्तों को मानने पर अन्य राष्ट्र भी अपने मामले प्रस्तुत कर सकते है। इन राष्ट्रों को न्यायालय के अधिकार क्षेत्र, नियमों, उसके निर्णयों को सच्चे हृदय से पालन करने व घोषणा-पत्र के 94वें अनुबन्ध में विश्वास भी प्रकट करना होता है। प्रार्थना प्रस्तुत करने वाले राष्ट्र एक अथवा सभी मामलों के लिए सुरक्षा परिषद् द्वारा निर्धारित शर्तों को स्वीकार कर सकते हैं। सुरक्षा परिषद् को निर्धारित शर्तों में संशोधन करने का अधिकार है।

न्यायालय सदस्य राष्ट्रों द्वारा प्रस्तुत सभी मामलों, व घोषणा-पत्र, सन्धियों और समझौतों द्वारा निर्धारित सभी विषयों पर विचार करता है। विवादास्पद मामले पर न्यायालय स्वयं निर्णय लेता है कि वह विषय उसके कार्यक्षेत्र में है अथवा नहीं। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के विधान के अनुसार पहले के स्थायी न्यायालय से संबंधित निर्णयों पर भी यही न्यायालय विचार करता है। सदस्य राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय को अपने झगड़े प्रस्तुत करने के लिए बाध्य नहीं है, वे अन्य अंतर्राष्ट्रीय पंच फैसले की संस्थाओं का लाभ उठा सकते हैं।

सदस्य राष्ट्र, इच्छानुसार अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के कार्यक्षेत्र को अन्य राष्ट्रों से संबंधों के सिलसिले में अनिवार्य रूप से स्वीकार कर सकते है। इस प्रकार निम्नलिखित मामलों में न्यायालय का कानूनी अधिकार-क्षेत्र बढ़ जाता है:—

(1) किसी संधि की धाराओं का स्पष्टीकरण;

(2) अंतर्राष्ट्रीय कानूनों से संबंधित प्रश्न ;

(3) अंतर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के तोड़े जाने संबंधी कार्य के प्रमाण-संबंधी निर्णय व

(4) किसी अंतर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के भंग किये जाने की दिशा में क्षतिपूर्ति के प्रकार और सीमा का निर्धारण।

इस प्रकार के अनिवार्य कार्यक्षेत्र की स्वीकृति सदस्य राष्ट्र, दूसरे राष्ट्रों द्वारा समान नियंत्रणों को स्वीकार करने अथवा निश्चित कार्य के लिए दे सकता है।

अंतर्राष्ट्रीय कानून की प्रयोग विधि

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय प्रस्तुत हुए मामलों को निम्न तथ्यों को ध्यान में रख कर निर्णय देता है :—

(1) प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों द्वारा स्वीकार किये गये विशेष अथवा सामान्य अंतर्राष्ट्रीय समझौते ;

(2) अंतर्राष्ट्रीय प्रथायें, जो कानून के समान ही मान्य होती हैं;

(3) सामान्य कानून जिन्हें सभ्य राष्ट्रों ने मान्यता दे रखी हो ;

(4) न्यायिक निर्णय ;

निर्णय एवं मत-प्रणाली

प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों (जिन्होंने अपना विवाद अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय को प्रस्तुत किया हो) का यह उत्तरदायित्व होता है कि वे निर्णयों को क्रियान्वित रूप दें। किसी एक राष्ट्र के अवहेलना करने पर और प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र के आग्रह करने पर सुरक्षा परिषद् आवश्यक कार्यवाही कर सकती है। न्यायालय निर्णय में उठाये जाने वाले कदमों की सिफारिश कर सकता है। उसके निर्णय बाध्यतामूलक नहीं हैं, किन्तु प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों का एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्य होता है। न्यायालय का निर्णय अंतिम होता है।

न्यायालय साधारण बहुमत से निर्णय देता है। बैठक के लिये कम-से-कम 9 न्यायाधीश आवश्यक हैं। बराबर मतों की स्थिति में सभापति अतिरिक्त मत का प्रयोग करता है। विशिष्ट निर्णय के कारण व उसमें भाग लेने वाले न्यायाधीशों के नाम दिये जाते हैं। किसी भी न्यायाधीश को अपना मत प्रकट करने का अधिकार है। प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र के प्रतिनिधियों को आवश्यक सूचना देकर खुली सभा में निर्णय की घोषणा की जाती है।

परामर्शक स्थिति

न्यायालय का एक महत्वपूर्ण कार्य महासभा अथवा सुरक्षा परिषद् की प्रार्थना पर उन्हें कानूनी मामलों पर परामर्श देना है। संघ के अंगों व विशिष्ट संस्थाओं को महासभा की स्वीकृति पर कानूनी विषयों पर न्यायालय से परामर्श प्राप्त करने का अधिकार है।

अधिवेशन

न्यायालयों की छुट्टियों के दिनों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय स्थायी रूप से हेग (हालैण्ड) में कार्य करता रहता है। आवश्यकता पड़ने पर यह अन्य स्थान पर भी बैठक करता है।

संगठन

न्यायालय अपना सभापति व उपसभापति तीन वर्ष के लिए चुनता है, जिन्हें

पुनः चुना जा सकता है। वह अपना रजिस्ट्रार व अन्य कार्यकर्ता नियुक्त करता है। न्यायालय आवश्यकतानुसार एक अथवा अधिक न्यायाधीशों की समितियां बनाता है। इनके निर्णय समस्त न्यायालय के निर्णय माने जाते हैं।

सचिवालय

सचिवालय संयुक्त राष्ट्र संघ का प्राण है। यही वह स्थायी एवं प्रमुख अंग है जो निरन्तर रूप से कार्य करता रहता है एवं संघ को शारीरिक रूप एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्रदान करता है। जबकि अन्य अंग समय-समय पर ही मिलते हैं, अस्पष्ट हैं और अदृश्य हो जाते हैं, सचिवालय कार्य करता रहता है और विभिन्न अंगों व संस्थाओं की सिफारिशों को मूर्त रूप देता है। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं समन्वय को व्यावहारिक रूप देना सचिवालय की ही निपुणता, कार्य-क्षमता एवं कुशलता पर निर्भर है। सचिवालय के प्रमुख कार्यकर्ता महासचिव एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासक हैं।

महासचिव

महासचिव की नियुक्ति पांच वर्ष के लिये सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा बहुमत से करती है। नार्वे के ट्रिग्वेली संघ के प्रथम महासचिव थे (1 फरवरी 1946—9 अप्रैल 1953)। स्वीडन के डॉग हैमरशोल्ड दूसरे महासचिव थे (10 अप्रैल 1953—17 सितम्बर 1961)। कांगो (अफ्रीका) में संघ के कार्यवश जाते हुए विमान-दुर्घटना में इनकी मृत्यु हो गई। बर्मा के ऊ थान्ट 3 नवम्बर 1961 मे महासचिव पद के लिये नियुक्त हुए और 2 दिसम्बर 1966 को दुबारा इस पद के लिए 31 दिसम्बर 1971 तक के लिए चुने गये। महासचिव का वार्षिक वेतन 40,000 डालर है जिसमे 20,000 डालर वार्षिक भत्ता है। यह राशि कर मुक्त है।

महासचिव के मुख्य कर्तव्य निम्नलिखित हैं :—

(i) महासभा को सं० रा० संघ के कार्यों का वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करना;

(ii) विश्व शांति को खतरे में डालने वाले मामलों को सुरक्षा परिषद् को सौपना;

(iii) भौगोलिक आधार पर सचिवालय के कर्मचारियों की नियुक्ति एवं सेवा संबंधी नियमों का निर्माण;

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय संधियों की रजिस्ट्री एवं प्रकाशन;

(v) प्रमुख अंगों के अधिवेशन को आमंत्रित करना, उन्हें कार्य-सूची प्रस्तुत करना एवं उनके निर्णयों को प्रकाशित करना व उन्हे क्रियान्वित रूप देना;

(vi) U.N. Monthly chronicle व U.N. Year Book का प्रकाशन एवं विभिन्न महाद्वीपों में सूचना केन्द्रों की स्थापना, ताकि संयुक्त राष्ट्र संघ

का जनता से सम्पर्क बना रहे और वह उसकी गतिविधियों से अवगत होती रहे;

(vii) संघ के सदस्यों से वसूल की जाने वाली राशि निश्चित करना एवं संघ का बजट महासभा मे प्रस्तुत करना;

(viii) आवश्यकता पड़ने पर आपातकालीन सेना का निर्माण एवं उसकी आवश्यकताओं का समुचित प्रबन्ध और शान्ति के लिए विशेष आयोगो निरीक्षकों का प्रबन्ध;

(ix) अन्तर्सरकारी सस्थाओ एव सघ के मुख्य अंगों में समन्वय स्थापित करना।

संगठन

सयुक्त राष्ट्रीय महासभा का आसमानी रंग का स्थायी सभा भवन न्यूयार्क की ईस्ट खिर नदी के किनारे पर 18 एकड़ भूमि मे 1,22,50,000 डालर की लागत से बना है। इसमे 39 मजिलें हैं। सचिवालय के कर्मचारी 6,000 से अधिक हैं जिनमें से लगभग 1,500 न्यूयार्क के बाहर कार्य करते है। महासचिव को सहायता देने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कर्मचारी निम्न 10 विभागों में कार्य करते हैं :—

(1) महासचिव का कार्यकारी विभाग, (2) विशेष राजनीतिक मामलों के उप-सचिवों का कार्यालय, (3) कानूनी मामलों का विभाग, (4) नियंत्रक और कर्मीवर्ग का कार्यालय, (5) राजनीतिक और सुरक्षा परिषद् के मामलों का विभाग, (6) आर्थिक और सामाजिक मामलों का कार्यालय, (7) सरक्षित एवं परतंत्र प्रदेशों का विभाग, (8) जन-सूचना कार्यालय, (9) सम्मेलन व्यवस्था कार्यालय एव (10) सामान्य-प्रशासन विभाग।

महासचिव की अध्यक्षता में 36 उपसचिव थे। किन्तु बढ़ते हुए उत्तरदायित्वों को भली-भाँति निबाहने के लिये महासचिव ने 36 उपसचिवो के स्थान पर 1 जनवरी 1968 से 11 उप-महासचिव व 25 सहायक महासचिवों का प्रस्ताव रखा है। महासचिव की सहायता के लिए जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासक कर्मीवर्ग है उनकी नियुक्ति के लिए उच्चकोटि की कार्यकुशलता, योग्यता, अन्तर्राष्ट्रीयता और भौगोलिक आधार का ध्यान रखा जाता है इनसे ऐसी आशा की जाती है कि ये न तो संघ के बाहर की किन्ही संस्थाओ से परामर्श लेंगे और न देंगे। संघ के सदस्य राष्ट्रों ने सचिवालय के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को बनाये रखने के लिये उसे किसी भी रूप मे प्रभावित न करने के उत्तरदायित्व को निबाहने का वायदा किया है।

मूल्यांकन

सचिवालय ने अपने क्रिया-कलापों और विशिष्ट परिस्थितियों में दिये गए प्रशासनिक कार्यों को सफलतापूर्वक करने के द्वारा यह सिद्ध किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय

प्रशासन संभव है। 1952 में लीबिया में और 1963 में पश्चिमी इरियन में संघ ने सफलतापूर्वक अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक प्रशासन कर इस भय को निर्मूल कर दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक प्रशासन और विश्व सरकार सभव नही है। सचिवालय का महत्वपूर्ण कार्य सदस्य राष्ट्रों व संघ के अगों में सम्पर्क स्थापित करना, विभिन्न अगों की कार्यवाहियों में समन्वय एव उनके लिये गये निर्णयों को क्रियान्वित रूप देना है। महासचिव के नाजुक क्रिया-कलापों के विषय मे टिप्पणी करते हुए ऊ थाट ने मैकएन्जी को कहा था, "सं० रा० संघ का महासचिव एक न्यायाधीश की भाँति निष्पक्ष हो सकता है; किन्तु मेरी राय मे उसे तटस्थ नही होना चाहिये, विशेषतः नैतिक प्रश्नों में।" श्री चिल्ड्स द्वारा उनके एकाकी कार्य के विषय मे पूछे गए प्रश्न के उत्तर में उन्होने कहा, "मुझे धैर्य, सहिष्णुता, प्रेम व 'जिओ और जीने दो' जैसे सिद्धान्तों का आदर करने का प्रशिक्षण मिला है।" संयुक्त राष्ट्र सघ के निर्मित होने के पूर्व रूजवेल्ट ने कहा था कि उसका मुख्य कार्यकारी व्यक्ति (यहाँ महासचिव) 'मध्यस्थ' कहलाना चाहिये। संघ के कुल वार्षिक व्यय का दो-तिहाई मात्र सचिवालय व उसके क्रिया-कलापों पर खर्च होता है जो 1968 में 10 करोड़ डालर है।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन

राष्ट्र संघ से संबंधित स्वायत्त शासित सस्था के रूप में 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन' का जन्म 1919 में हुआ था। इसका मौलिक संविधान वर्सायी सधि के अन्तर्गत निर्मित हुआ था। 1946 में संयुक्त राष्ट्र सघ के साथ हुई संधि के आधार पर श्रम व सामाजिक परिस्थितियों के क्षेत्र मे इस सगठन के उत्तरदायित्वो को मान्यता प्राप्त हुई।

कार्य

इस श्रम संगठन का उद्देश्य सामाजिक न्याय द्वारा विश्वव्यापी अनन्त शान्ति की स्थापना है। संयुक्त राष्ट्र सघ के अन्य संगठनो की अपेक्षा इसका त्रिखण्डीय ढांचा अनोखा है और अन्तर्सरकारी संस्थायें इससे सम्बद्ध है। इसकी नीति निर्धारण व कार्यक्रमों के निरीक्षण में श्रमिकों, मालिकों व सरकारों के प्रतिनिधि समान स्तर पर भाग लेते हैं। 1919 मे ही निर्मित इसके उद्देश्य निम्नलिखित है जिन पर यह विचार करती है :—

(i) एक दिन व एक सप्ताह के कार्य के घण्टे;
(ii) श्रमिकों की माँग की पूर्ति व बेकारी की समस्या;
(iii) समुचित वेतन;
(iv) उद्योगरत श्रमिक की बीमारी व दुर्घटनाओं से सुरक्षा;
(v) अन्य राष्ट्र में उद्योगरत श्रमिक की सुरक्षा;
(vi) समान कार्य के लिये समान वेतन के सिद्धान्त की मान्यता;

(vii) समिति निर्माण की स्वतन्त्रता के अधिकार की मान्यता; व
(viii) अविकसित राष्ट्रों को तकनीकी सहायता।

1944 की फिलाडेल्फिया की घोषणा, जो बाद में श्रम संगठन के संविधान के अंग के रूप में स्वीकार कर ली गई, निम्न थी : "अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का आधार, बिना नस्ल, जाति और लिंग के भेद के प्रत्येक मानव को, स्वतन्त्रता और सम्मान, आर्थिक सुरक्षा व समान अवसर की स्थिति में, भौतिक और आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति का अधिकार है।"

संगठन

यह संगठन, एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन, कार्यकारिणी व डायरेक्टर जनरल के आधीन अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय द्वारा सचालित होता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन नीति निर्धारक सस्था है जो वर्ष में एक बार मिलती है। भाग लेने वाले राष्ट्रीय प्रतिनिधि मण्डलों में दो सरकारी, एक मालिकों का व एक श्रमिकों का प्रतिनिधि होता है। प्रत्येक प्रतिनिधि-मण्डल का सम्मेलन में एक मत गिना जाता है।

कार्यकारिणी में 40 सदस्य होते है जिनमें 10 मालिकों का, 10 श्रमिकों का व 20 राष्ट्रीय सरकारो का प्रतिनिधित्व करते हैं। चुनाव प्रति तीसरे वर्ष होते हैं। कार्यकारिणी श्रम कार्यालय के डायरेक्टर जनरल को चुनती है व उसके और अन्य समितियों के कार्य का निरीक्षण करती है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का मुख्य कार्यालय जेनेवा में है जो उसका स्थायी सचिवालय है। यही कार्यालय श्रम सम्मेलन व कार्यकारिणी के लिये कर्मचारी प्रस्तुत करता है। इन तीन प्रमुख अंगों के अतिरिक्त श्रम सगठन, क्षेत्रीय सम्मेलनों, औद्योगिक समितियों (त्रिखण्डीय ढांचा) व अन्य विशेषज्ञों की समितियों द्वारा कार्य करता है।

सदस्यता

श्रम संगठन के संविधान के अनुसार उत्तरदायित्वों को निबाहने से सहमति रखने वाला कोई भी सयुक्त राष्ट्र सघीय सदस्य इसका भी सदस्य हो सकता है। अन्य राष्ट्र श्रम सम्मेलन के दो-तिहाई बहुमत से इसके सदस्य हो सकते हैं।

बजट

सम्मेलन प्रत्येक वर्ष का बजट निर्धारित करता है। राशि सम्मेलन द्वारा निर्धारित मान के अनुसार सदस्य राष्ट्रों से एकत्र की जाती है।

श्रम संगठन के प्रमुख कार्य श्रम-स्तर निर्धारण एवं तकनीकी सहायता हैं।

खाद्य एवं कृषि संगठन

मई 1943 में हुए होट स्प्रिंग्स, वर्जीनिया (सयुक्त राष्ट्र अमेरिका) के सम्मेलन ने एक अन्तरिम आयोग स्थापित किया जिसने खाद्य एवं कृषि संगठन का

संविधान बनाया। 20 राष्ट्रों द्वारा इस सविधान के स्वीकृत किये जाने के पश्चात् क्युबेक (कैनेडा) में सगठन का प्रथम सम्मेलन हुआ और 16 अक्टूबर, 1945 से यह विधिवत् कार्य करने लगा।

कार्य

खाद्य एवं कृषि सगठन के संस्थापक सदस्यों ने पोषण एवं जीवन-स्तर को ऊँचा करने, कृषि-उत्पादन एवं वितरण में वृद्धि एव ग्रामीण जनता की स्थिति मे सुधार की इच्छा प्रकट की। इनकी पूर्ति के लिए यह सगठन निम्नलिखित तीन कार्यों मे सदस्य राष्ट्रों की सहायता करता है :—

(i) पोषण, कृषि, जगलात व मीन क्षेत्रों सम्बन्धी सूचनाओं का प्रसारण एवं सम्बन्धित उद्योगो के क्षेत्र मे उत्पादन, वितरण व खपत संबंधी गवेषणा;

(ii) कृषि सामग्री के उत्पादन, विक्रय, कांट-छांट एवं वितरण में सुधार की राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाहियों की योजना बनाना; प्राकृतिक साधनों की सुरक्षा व उद्धार और उत्पादनों सबधी नीति का निर्धारण;

(iii) उपर्युक्त क्षेत्रों में राष्ट्रों की प्रार्थना पर तकनीकी सहायता का प्रबन्ध।

संगठन

खाद्य एव कृषि सगठन, एक सम्मेलन, परिषद् व डायरेक्टर जनरल के अधीन कार्यालय द्वारा संचालित होता है। सम्मेलन नीति निर्धारक समिति है जो वर्ष में दो बार मिलता है। प्रत्येक सदस्य का इसमे एक मत होता है।

परिषद् संगठन के कार्यों का निरीक्षण व विश्व खाद्य एवं कृषि स्थिति पर विचार करती है और सदस्य सरकारों व अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के पास इनके विकास संबंधी सुझाव भेजती है। इसमें सम्मेलन द्वारा चुने गए सदस्यों के चौबीस प्रतिनिधि होते हैं।

सचिवालय का प्रधान डायरेक्टर जनरल होता है जिसे सम्मेलन चुनता है। सितम्बर 1956 के विशेष अधिवेशन मे भारत के विनय रंजन सेन डायरेक्टर जनरल चुने गये थे। अपने कार्यक्रम को प्रभावशाली रूप मे क्रियान्वित करने के लिए संगठन ने विश्वव्यापी क्षेत्रीय कार्यालय स्थापित किये हैं।

सदस्यता

संगठन के मौलिक सदस्य वे थे जिन्होंने सर्वप्रथम उसके सविधान पर हस्ताक्षर किये थे। नए सदस्य, संगठन के सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत व सविधान पर हस्ताक्षर से स्वीकृत होते हैं।

क्रिया-कलाप

सगठन के क्रिया-कलाप ग्रार्थिक पहलुओं, कृषि उत्थान, भूमि व जल के स्रोतों के विकास, पौधे लगाने व उनकी सुरक्षा, पशु-वृद्धि व रोग नियंत्रण, ग्रामीण-कल्याण, पोषण, मीन-क्षेत्रों के विकास, जंगलात, तकनीकी सहायता व साहित्य प्रकाशन से सबधित हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघीय शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन

इस संस्था के निर्माण के लिए एक सम्मेलन लन्दन में 1 से 16 नवम्बर 1945 को हुआ जिसने इसका संविधान बनाया। 20 राष्ट्रों के हस्ताक्षर करने पर 4 नवम्बर 1946 को इस संस्था ने जन्म लिया।

कार्य

संस्था के संविधान के अनुसार इसका कार्य "न्याय विधिवत् शासन, मानवीय अधिकार व मौलिक स्वतंत्रताओं के प्रति शिक्षा, विज्ञान व संस्कृति के प्रसार द्वारा श्रद्धा उत्पन्न करना व परिणामस्वरूप शान्ति और सुरक्षा को बढ़ावा देना" है।

संगठन

संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक वैज्ञानिक सांस्कृतिक सगठन अपना कार्य (I)'साधारण सम्मेलन' (II) कार्यकारी मण्डल व (III) सचिवालय के द्वारा करता है। साधारण सम्मेलन में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र भाग लेता है। यह सम्मेलन 2 वर्ष में एक बार होता है और संगठन की नीति, कार्यक्रम व बजट की स्वीकृति देता है।

24 सदस्यों द्वारा संगठित कार्यकारी मण्डल वर्ष मे तीन अथवा चार बार मिलती है और संगठन के कार्यक्रमों का पुर्ननिरीक्षण करता है। डायरेक्टर जनरल जो कि कार्यकारी मण्डल द्वारा नियुक्त व सचिवालय का प्रधान होता है, निश्चित नीतियों एवं कार्यक्रमों को क्रियान्वित रूप देता है। इस संगठन का प्रमुख कार्यालय पेरिस में है।

सदस्यता

- सयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक वैज्ञानिक सांस्कृतिक संगठन के भी सदस्य हो सकते हैं। अन्य राष्ट्र कार्यकारी मण्डल की सिफारिश एवं साधारण सम्मेलन के दो तिहाई बहुमत के आधार पर सदस्य बन सकते हैं।

क्रिया-कलाप

संगठन के मुख्य कार्य—ज्ञान का प्रसार, ताकि विभिन्न क्षेत्रों में बसने वाले लोग जीवन की विभिन्न प्रणालियों को समझ सकें और उसके द्वारा सहिष्णुता एवं

बन्धुत्व की भावना को बढा सकें; लोगों को उनके जीवन स्तर सुधारने में सहायता देना ; व सामाजिक और सांस्कृतिक साधनों के उपयोग में सहायता देना है।

कुछ प्रमुख परियोजनायें

संगठन द्वारा हाथ में ली गई कुछ प्रमुख परियोजनायें—लेटिन अमेरिका में प्राथमिक शिक्षा का प्रसार, मरू व बजर भूमि मे वैज्ञानिक अनुसंधान व पश्चिम और पूर्वी सस्कृति के तत्वों का पारस्परिक यथोचित मूल्यांकन, है।

संगठन की अन्य परियोजनायें शिक्षा, प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, संस्कृति, जन-संचार व्यवस्था, तकनीकी सहायता व व्यक्तियों के आदान-प्रदान (Exchange of Persons) से सबंधित है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन

विश्व स्वास्थ्य सगठन, सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन के उस प्रस्ताव का परिणाम था जिसमे उसने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वास्थ्य के लिए एक संस्था के निर्माण का एक सुझाव दिया था। 7 अप्रैल 1948 को विश्व स्वास्थ्य संगठन के सविधान की 26 संयुक्त राष्ट्र सघीय सदस्यों की स्वीकृति के पश्चात् वह 1 सितम्बर 1948 से विधिवत् कार्य करने लगा। 7 अप्रैल तब से ही 'विश्व स्वास्थ्य दिवस' के रूप में राष्ट्रों द्वारा मनाया जा रहा है।

कार्य

इस संस्था के सविधान के अनुसार स्वास्थ्य "केवल रोग अथवा अपंगता की अनुपस्थिति न होकर शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक पूर्णता है।" संस्था का उद्देश्य "समस्त मानव समुदाय के लिए उच्चतम स्तर का स्वास्थ्य प्राप्त करना है।" इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्वास्थ्य संगठन विभिन्न प्रकार के कार्यों में संलग्न है जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं :—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यों का सचालन एवं समन्वय ;

(ii) आवश्यक तकनीकी सहायता देना एव आपातकालीन परिस्थितियों में सम्बन्धित सरकारो की प्रार्थना पर सहायता कार्य ;

(iii) राष्ट्रीय सरकारों को उनके स्वास्थ्य कार्यक्रमों को दृढ़ करने में योग देना ;

(iv) संक्रामक एवं स्थानीय रोगों के उन्मूलन के लिए कार्य प्रारम्भ करना एवं पहले से चल रहे कार्यों मे सहायता देना ;

(v) स्वास्थ्य, चिकित्सा एवं सम्बन्धित प्रशिक्षणालयों में उच्चस्तरीय शिक्षण एवं प्रशिक्षण की सुविधाओं के लिए संभावित प्रयत्न ;

(vi) शरीर विज्ञान व रोग-चिकित्सा-सम्बन्धी निर्णयों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर स्थापित करना और निदान प्रणालियों का मान स्थापित करना ;

(vii) अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य विषयों पर सम्मेलनों, समझौतों एवं विधियों का प्रस्ताव ;

(viii) मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में अनुसंधान को प्रोत्साहन ;

(ix) उन व्यवसायिक एवं वैज्ञानिक समूहों में समन्वय स्थापित करना जो स्वास्थ्य के क्षेत्र में कार्य कर रहे हों ;

(x) अन्य विशिष्ट संस्थाओं के साथ मिलकर कार्य करना जो कि पोषक तत्वों गृह-व्यवस्था, सफाई, मनोरंजन, आर्थिक, कार्य की परिस्थितियों, स्वास्थ्य-मय वातावरण आदि क्षेत्रों में काम कर रही हों।

संगठन

वि. स्वा. संगठन के प्रमुख अंग—(i) विश्व स्वास्थ्य विधान सभा ; (ii) कार्यकारी-मण्डल व (iii) सचिवालय हैं। इनके अतिरिक्त विधान सभा आवश्यकतानुसार विशेषज्ञों की समिति बनाती है। प्रभावशाली रूप से कार्य करने के लिये संगठन ने अपनी शाखायें भी विश्व के छः प्रमुख भागों में स्थापित की हैं।

'विश्व स्वास्थ्य विधान सभा' में संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य प्रतिनिधित्व करते हैं। यह वर्ष में एक बार मिलती है, विधि निर्मात्री संस्था है व संगठन के लिये नीति निर्माण, कार्यक्रम व बजट पर मत प्रकट करती है। कार्यकारी मण्डल में विधान सभा द्वारा चुने 18 सदस्य होते हैं। यह अराजनीतिक एवं तकनीकी संस्था है जो वर्ष में दो बार मिलती है और विधान सभा द्वारा लिए गए निर्णयों को क्रियात्मक रूप देती है। सचिवालय का प्रधान डायरेक्टर जनरल कहलाता है और इसमें तकनीकी व प्रशासकीय व्यक्ति होते हैं। विशेषज्ञों की समिति, विश्व के विभिन्न क्षेत्रों से लिए गए विशेषज्ञों द्वारा संगठित होती है और संगठन के विभिन्न कार्यक्रमों में महत्वपूर्ण भाग लेती है।

विश्व स्वास्थय संगठन का मुख्य कार्यालय जेनेवा में है किन्तु विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में प्रभावशाली क्रिया कलापों के लिए विश्व के छः चुने हुए स्थानों में क्षेत्रीय शाखायें खोली गई हैं जिनमें 'नई दिल्ली' दक्षिण-पूर्वी एशिया कार्यक्रमों का केन्द्र स्थल हैं।

सदस्यता

सभी राष्ट्र वि. स्वा. संगठन के सदस्य बन सकते हैं। सं० रा० संघ के सदस्य हस्ताक्षर करने अथवा संविधान स्वीकार करने पर इस संगठन के सदस्य बन सकते हैं। अन्य राष्ट्र, संगठन की विधान सभा के सदस्यों के साधारण बहुमत के आधार पर सदस्य बन सकते हैं।

बजट

वि० स्वा० संगठन का 1969 का बजट 5,61,23,000 डालर था।

क्रिया-कलाप

वि० स्वा० संगठन के क्रिया-कलापों को निम्नलिखित तीन प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है:—(1) अंतर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यों का संचालन एवं समन्वय, (ii) राष्ट्रों को उनके स्वास्थ्य कार्यक्रमों में दृढ़ता व सुधार लाने के लिये सहायता व (iii) संक्रामक रोगों की रोक-थाम, औषधियों के स्तर निर्धारण, अंतर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य नियमों के प्रशासन जैसे विषयों पर तकनीकी सहायता।

सारांश

जिस युद्ध के टाले जाने और शांति बनाये रखने के लिए राष्ट्र संघ का निर्माण किया गया था, उसके आ ही जाने पर जहाँ एक ओर भयानक ध्वंस प्रारंभ हो गया था वहां दूसरी ओर एक ऐसे शक्तिशाली संघ की रचना का कार्य भी प्रारम्भ हो गया जो इस युद्ध के समाप्त होने के पश्चात् विश्व शांति को स्थायी रूप दे सके। 14 अगस्त 1941 का एटलांटिक घोषणा-पत्र 1 जनवरी 1942 में संयुक्त राष्ट्र घोषणा युद्धोत्तर कालीन विश्व संस्था के निर्माण का प्रथम सोपान था। कैसाब्लांका, मास्को, तेहरान, ब्रिटेन-वुड्स और डम्बार्टन ओक्स, याल्टा सम्मेलन में मित्र राष्ट्रों के मध्य इस विषय मे निरन्तर विचार-विमर्श होता रहा।

26 जून 1945 में सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन में स० रा० संघ के घोषणा-पत्र के 111 अनुच्छेद पर 50 राष्ट्रों ने हस्ताक्षर किए। अन्तर्राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा व पारस्परिक सहयोग; मूलभूत मानव अधिकारों का प्रोत्साहन; समस्त विश्व की आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक उन्नति इसके लक्ष्य है। महासभा, सुरक्षा-परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, संरक्षण परिषद्, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय एवं सचिवालय सं० रा० संघ के प्रमुख अंग हैं। महासभा का कार्य चुनाव, अन्य अंगों के कार्यों का निरीक्षण, सिफारिश व आर्थिक है। महत्वपूर्ण विषयों पर महासभा दो-तिहाई बहुमत से निर्णय लेती है। 1968 के प्रारम्भ में इसके 123 राष्ट्र सदस्य है।

सुरक्षा परिषद् में 1966 से 15 सदस्य है जिनमे से 5 स्थायी है। प्रतिवर्ष 2 वर्ष के लिए 5 नए सदस्य चुने जाते हैं। सदस्य बारी-बारी से एक-एक महीने के लिए अध्यक्ष होते हैं। सुरक्षा परिषद् सुरक्षा एवं शांति के प्रश्न के अतिरिक्त नये राष्ट्रों की सदस्यता की स्वीकृति, महासचिव की नियुक्ति, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्यों का चुनाव महासभा के साथ मिलकर करता है। शांति भंग होने से परिषद् राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक कार्यवाही करता है। महत्वपूर्ण विषयों में 9 सदस्यों के मत की आवश्यकता होती है। स्थायी सदस्यों को निषेधात्मक अधिकार प्राप्त हैं।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् के कुल 27 सदस्य हैं जिनमें से 9 प्रतिवर्ष 3 वर्ष के लिए चुने जाते है। उसके चार क्षेत्रीय आर्थिक आयोग; आठ क्रियाशील सहायक संस्थायें व तेरह विशिष्ट संस्थायें है। संरक्षण परिषद् में 1968 में सात सदस्य है एवं दो ही संरक्षित क्षेत्र—आस्ट्रिया शासित न्युगिनी एवं-सं०रा० अमेरिका

शासित प्रशान्त महासागरीय द्वीप—है। संरक्षण क्षेत्र साधारण एवं सामरिक महत्व के है। संरक्षण परिषद् अभिशासक राष्ट्र की रिपोर्ट व विभिन्न राष्ट्रों द्वारा की गई प्रार्थनाओं पर विचार और भ्रमण दलों के दौरे की सुविधा का प्रबन्ध करती है। संक्षेप में इसका मूल ध्येय संरक्षित प्रदेशों को शीघ्र से शीघ्र स्वतंत्र कराना है।

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के 15 न्यायाधीश 9 वर्ष के लिए सुरक्षा परिषद् व महासभा स्वतंत्र रूप से चुनते है। इसके मुख्य कार्य संधियों, अंतर्राष्ट्रीय कानूनों व उत्तरदायित्वों और क्षतिपूर्ति का निर्धारण हैं। सदस्य राष्ट्र इसके निर्णयों के पालन के लिए बाध्य हैं। घोषणा-पत्र की धाराओं पर विवाद में यह परामर्श देती है। किसी राष्ट्र की अवहेलना करने पर सुरक्षा परिषद् आवश्यक कार्यवाही कर सकती है।

सचिवालय सं० रा० संघ का प्राण है। संघ का यह व्यक्तित्व उसके अंगों में समन्वय स्थापित करता है और उनकी सिफ़ारिशों को क्रियान्वित रूप देता है। ट्रिग्वेली (1946-1953) व डाग हैमरशोल्ड (1953-1961) प्रथम दो महासचिव रहे। ऊ थान्ट 1961 से महासचिव हैं जिनका दूसरा सत्र 1971 में समाप्त होगा।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, खाद्य एवं कृषि संगठन, सं० रा० संघीय शैक्षणिक, वैज्ञानिक, एवं सांस्कृतिक संगठन एव विश्व स्वास्थ्य सगठन, संघ की प्रमुख विशिष्ट संस्थायें है जो आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के तत्वावधान में कार्य करती है। ये संस्थायें गैर-राजनीतिक क्षेत्र मे विश्व शांति और सहयोग मे महत्वपूर्ण कार्य कर रही है।

मूल्यांकन

राष्ट्रसंघ की अपेक्षा सयुक्त राष्ट्र सघ अपने उद्देश्यों में कही अधिक सफल हुआ है और इसका ढांचा स्वरूप व क्रिया-कलाप कहीं अधिक विस्तृत हैं। जहां तक दोनों सगठनों में समानता का प्रश्न है इन अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रणेता अमेरिकी राष्ट्रपति थे। प्रेसीडेन्ट विलसन ने राष्ट्र सघ की और फ्रैंकलिन रूजवैल्ट व ट्रूमैन ने सयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना को प्रेरणा दी। दूसरे जहां तक दोनो संगठन के ढांचों का सबंध है दोनों के परिपत्रो तथा अधिपत्रों मे आश्चर्यजनक साम्यता है। दोनों में ही महासभा की व्यवस्था है जिसके सभी राष्ट्र सदस्य होते हैं; दोनों में ही परिषद मे पांच स्थायी सदस्य हैं। इसके अतिरिक्त दोनों ही सगठनों मे एक सचिवालय, एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और छः स्थायी समितियों की व्यवस्था की गई। दोनों ही सगठनो में परिषद् के अध्यक्ष पद को क्रमानुसार रखने की व्यवस्था की गई।

महत्वपूर्ण समानताओं के बावजूद दोनों संस्थाओं के स्वरूप और कार्यों में अन्तर स्पष्ट है। प्रो० ईगलटन का कथन है, "यद्यपि दोनों संगठनों के ढांचों तथा बाह्य रूपों में साम्यता है, तथापि मूलभूत भेद यह प्रदर्शित करते हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघ धारणा तथा गुण-विशेषता की दृष्टि से राष्ट्र संघ से सर्वथा भिन्न है।" संयुक्त

राष्ट्र संघ अधिक लचीला एवं विस्तृत है और इसने मानव समाज की विभिन्न आवश्यकताओं को देखते हुए अनेक संगठनों को जन्म दिया है। दूसरे संयुक्त राष्ट्र संघ का अधिपत्र एक पृथक् दस्तावेज है जब कि राष्ट्र संघ के परिपत्र का समावेश 1919 की वर्सायी की संधि में ही सम्मिलित था। तीसरे, सयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्य सख्या राष्ट्र संघ की अपेक्षा कहीं अधिक (1968 के आरम्भ में 123) है। विश्व की प्रमुख शक्तियाँ इसमें सम्मिलित हुई हैं जब कि राष्ट्र संघ में अमेरिका जैसा शक्ति सम्पन्न राष्ट्र सम्मिलित ही नहीं हुआ। चौथे, युद्ध की अनिवार्यता को रोकने एवं टालने में संयुक्त राष्ट्र सघ कहीं अधिक सफल रहा है। राष्ट्र संघ की इथोपिया में कार्यवाही की तुलना में संयुक्त राष्ट्र संघ की काश्मीर, कोरिया, स्वेज नहर व कांगो में की गई कार्यवाहियाँ कहीं अधिक सबल एवं सफल रही है। पाँचवें, संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक, सामाजिक तथा मानवीय उन्नति के लिये निर्मित सस्थायें अधिक विस्तृत तथा निश्चित हैं। छठे, संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् और महासभा के कार्यों का विभाजन राष्ट्र संघ की महासभा तथा परिषद् के कार्यों की अपेक्षा अधिक निश्चित हैं। सातवें, राष्ट्र संघ प्रतिश्रव के विपरीत सयुक्त राष्ट्र संघ अधिपत्र स्थानीय समस्याओं के हल के लिए प्रादेशिक सुरक्षा प्रबन्ध पर अधिक जोर देता है। आठवें, अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण-प्रणाली, जिसमें सीधी याचना करने का तरीका, समय-समय पर दौरा करने वाले शिष्ट-मंडल तथा मौखिक सुनवाई आदि की व्यवस्था एवं संरक्षित क्षेत्रों की जनता की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षणिक प्रगति राष्ट्र संघ की प्रशासनिक प्रणाली की अपेक्षा कहीं अधिक सुनिश्चित है। अन्त में, संयुक्त राष्ट्र संघ ने प्राविधिक सहायता द्वारा विश्व के अल्प विकसित प्रदेशों तथा देशों के आर्थिक विकास पर जोर दिया है, जिसकी राष्ट्र सघ ने उपेक्षा कर दी थी। विचारों के आदान-प्रदान, पारस्परिक समझ तथा प्रभावपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा मानव सम्बन्धों को सुदृढ़ करने के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ, राष्ट्र संघ की अपेक्षा कहीं अधिक सफल हुआ है। संक्षेप में ऊ थान्ट ने ठीक ही कहा है, "चार्टर के आदर्श मानव-जाति की अमूल्य सम्पदा है।"

तिथिक्रम

1941 14 अगस्त—अटलांटिक घोषणा-पत्र।

1942 1 जनवरी—संयुक्त राष्ट्र संघ घोषणा।

1943 27 जनवरी—कैसाब्लांका सम्मेलन।

30 अक्टूबर—मास्को सम्मेलन।

9 नवम्बर—संयुक्त राष्ट्र सहायता एवं पुनर्वास संगठन।

1-7 दिसम्बर—तेहरान सम्मेलन।

1944 22 जुलाई—ब्रिटेन-वुड्स सम्मेलन।

9 अक्टूबर—डम्बार्टन-ओक्स सम्मेलन।

1945 11 फरवरी—याल्टा सम्मेलन।
8 मार्च—मैक्सिको नगर सम्मेलन।
25 अप्रैल—सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन।
26 जून—संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर।
24 अक्टूबर—संयुक्त राष्ट्र संघ का जन्म।

सहायक अध्ययन

Bentwich, N, and Martin, A : **A Commentary on the Charter of the United Nations,** (1950).

Brierly, J.L. : **The Covenant, and the Charter,** (1947).

Cheever, D.S., and Haviland, H.F. : Organizing for Peace : **International Organization in World Affairs,** (1954).

Davis, M., Gilchrist, H., Kirk, G., and Padelford, N. : **The U.N. Charter with Explanatory Notes of Its Development at San Francisco." International Conciliation,** No. 413 (September, 1945).

Eagleton, Clyde. : **"The Charter Adopted at San Francisco." American Political Science Review.** Vol. XXXIX (Oct. 1945). pp. 934-42.

Goodrich. L.M., and Hambro, E.I. : **Charter of the United Nations; Commentary and Documents,** (1949).

Kelsen, Hans. : **The Law of the United Nations,** (1950).

Leonard, L, Larry. : **International Organization,** (1951).

Schwebel, S.M. : **The Secretary-General of the United Nations : His Political Powers and Practice,** (1952).

United Nations : **Everyman's United Nations.** 7th Ed. (1964)

Vandenbosch, A , and Hogan, N. W. : **The United Nations,** (1952).

प्रश्न

1. उन सम्मेलनों का आलोचनात्मक विश्लेषण करें जिन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ के जन्म में योग दिया।

2. 'सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन एक ऐतिहासिक सम्मेलन था।' विवेचना करें।

3. 1919 तथा 1945 के पेरिस व सैन फ्रांसिस्को शांति सम्मेलनों की तुलना करें।

4. संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र में संशोधन और जीवाणु राष्ट्रों पर मत प्रकट करें।

5. संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा को विश्व की संसद् कहा गया है। व्याख्या करें।

6. विश्व में शांति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए सुरक्षा परिषद् उत्तरदायी है। दृष्टान्त देकर समझायें।

7. मानव-समाज की वास्तविक प्रगति आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् कर रही है। स्पष्ट करें।

8. टिप्पणी लिखें :—

(i) संरक्षण परिषद्; (ii) सचिवालय;

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन;

(iv) खाद्य एवं कृषि-सगठन;

(v) संयुक्त राष्ट्र संघीय शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन;

(vi) विश्व स्वास्थ्य सगठन;

9. किन्हीं दो की व्याख्या करते हुए आलोचनात्मक टिप्पणी करें :—

(i) अटलांटिक चार्टर; (ii) याल्टा सम्मेलन,

(iii) उधार-पट्टा अधिनियम। (रा० वि० 1964)

10. किन दृष्टिकोणों से संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र राष्ट्र सघ के प्रतिश्रव की अपेक्षा अधिक उन्नत था। इसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें।

(रा० वि० 1965)

11. विश्व शान्ति को स्थायी रूप देने के लिये द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त में जिन उपायों को स्वीकार किया गया उनकी आलोचनात्मक व्याख्या करें।

(रा० वि० 1966)

परिशिष्ट 1

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के 15 सदस्य, जिन्हें महासभा ने नौ वर्ष के लिए चुना है, का कार्यकाल दिए गये वर्ष की 5 फरवरी को समाप्त होता है। न्यायाधीशों की सूची, उनकी अवधि की समाप्ति के आधार पर, निम्नलिखित हैं :—

न्यायाधीश	राष्ट्रीयता	अवधि (वर्ष तक)
1. जौस लुई बुस्टामेन्टी रिवेरो	पेरू	1970
2. व्लाडीमिर एम. कोरटेस्की	सोवियत संघ	1970
3. जिराल्ड फिट्ज मोरिस	ग्रेट ब्रिटेन	1973
4. कोटारो टनाका	जापान	1970
5. फिलिप सी. जेसप	संयुक्त राज्य अमेरिका	1970
6. गेइटानो मोरेली	इटली	1970
7. लुई पेडिल्ला नरवो	मैक्सिको	1973
8. मुहम्मद जफरुल्ला खाँ	पाकिस्तान	1973
9. आइजक फोरेस्टर	सैनिगल	1973
10. एन्द्रे ग्रोस	फ्रांस	1973
11. फौद अम्मान	लेबनान	1976
12. सीजर बैंगजोन	फिलिपीन	1976
13. स्लूरे पेटीरन	स्वीडन	1976
14. मैनफ्रेड लैक्स	पोलैण्ड	1976
15. चार्ल्स डी. ओनीयामा	नाइजीरिया	1976

परिशिष्ट 2

महाद्वीपों के आधार पर संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की सूची

एशिया

राष्ट्र	क्षेत्रफल (वर्ग किलोमीटर में)	जनसंख्या
1. अफ़गानिस्तान	6,50,000	1,47,00,000
2. बर्मा	6,77,950	2,23,42,000
3. कम्बोडिया	1,72,511	57,48,842
4. लंका	65,610	1,03,11,128
5. चीन (फार्मोसा)	35,961	1,10,31,341
6. भारत	32,63,373	43,96,39,082
7. इन्डोनेशिया	14,91,562	9,70,85,348
8. ईरान	16,48,000	2,20,07,000
9. ईराक	4,44,442	72,63,000
10. इजराइल	20,700	21,83,332
11. जापान	3,69,661	9,59,00,000
12. जोर्डन	96,610	17,52,025
13. कुवैत	15,540	3,21,621
14. लाग्रोस	2,36,800	20,00,000
15. लेबनान	10,400	16,46,000
16. मलेशिया	1,30,732	71,37,000
17. मंगोलिया	15,31,000	9,98,000
18. मालदीव द्वीप समूह	298	96,432
19. नेपाल	1,40,798	93,87,681
20. पाकिस्तान	9,44,824	9,86,12,000
21. फिलिपीन	2,99,681	3,06,00,000
22. साउदी अरेबिया	21,00,000	70,00,000
23. सिंगापुर	581	17,13,000

24. स्याम (थाइलैंड)	5,14,000	2,62,57,916
25. दक्षिणी अरब का जनवादी गणतंत्र	1,60,105	6,15,000
26. सीरिया	1,84,479	45,55,267
27. तुर्की	7,80,576	2,94,18,000
28. यमन	1,95,000	50,00,000
29. आस्ट्रेलिया	77,04,159	1,05,08,186
30. न्युजीलैण्ड	2,68,676	24,14,984
31. नाउरू	21	5 561
32. एडन	195	2,85,000
33. मोरिशस	1,865	7,49,069

यूरोप

1. अल्बानिया	28,748	16,25,378
2. आस्ट्रिया	83,849	70,73,807
3. बेल्जियम	30,507	91,89,741
4. बुल्गेरिया	1,10,669	80,13,000
5. बाइलो रशिया (एस. एस. आर.)	2,07,600	80,54,648
6. साइप्रस	9,251	5,77,615
7. चैकोस्लोवाकिया	1,27,859	1,37,45,577
8. डेनमार्क	43,042	45,85,256
9. फिनलैण्ड	3,37,009	44,46,222
10. फ्रांस	5,51,208	4,65,20,271
11. ग्रेट ब्रिटेन	2,44,060	5,27,09,333
12. यूनान	1,32,562	83,87,201
13. हालैण्ड (नीदरलैण्ड)	32,450	1.19,67,000
14. हंगरी	93,030	1,00,50,000
15. आइसलैण्ड	1,03,000	1,80,058
16. आयरलैण्ड	70,283	28,18,341
17. इटली	3,01,226	5,06,23,569
18. लक्समबर्ग	2,586	3,14,889
19. माल्टा	316	3,29,000
20. नार्वे	3,23,970	35,96,211
21. यूक्रेनियन (एस. एस. आर.)	5,76,600	4,18,69,046
22. यू. एस. एस. आर.	2,24,03,000	22,47,00,000
23. युगोस्लाविया	2,55,804	1,90,97,000
24. पोलैण्ड	3,11,730	3,08,00,000

25. पुर्तगाल	92,200	91,30,410
26. रूमानिया	2,37,500	1,85,67,000
27. स्पेन	5,03,486	3,04,30,698
28. स्वीडन	4,49,682	74,95,129

अफ्रीका

1. अल्जीरिया	2,95,033	1,04,53,600
2. बोट्सवाना	5,75,000	5,43,105
3. बुरून्डी	27,834	22,13,280
4. केमेरून	4,74,000	50,00,000
5. सैन्ट्रल अफ्रीकन रिपब्लिक	6,17,000	20,90,000
6. चड	12,84,000	34,00,000
7. कांगो गणतंत्र (ब्राजेविलि)	3,42,000	8,80,000
8. कांगो गणतंत्र (लियोपोल्डविलि —किन्शासा	23,44,932	1,50,00,000
9. दहोमी	1,15,762	23,50,000
10. इथोपिया	11,84,320	2,14,61,700
11. गेबोन	2,67,000	4,70,000
12. गेम्बिया	9,225	3,15,486
13. घाना	2,87,480	79,45,000
14. गिनी	2,45,857	30,00,000
15. आइवरी कोस्ट	3,22,463	38,50,000
16. केन्या	5,82,640	86,36,263
17. लाइबेरिया	1,11,370	10,16,000
18. लिबिया	17,59,540	15,59,399
19. लिसोथो	30,350	9,76,000
20. मलागासी गणतंत्र	5,94,180	63,35,810
21. मलावी	94,486	40,42,412
22. माली	12,04,021	43,00,000
23. मौरिटानिया	10,85,805	10,00,000
24. मोरक्को	4,43,680	1,15,98,070

25. नाइजर	11,88,794	33,50,000
26. नाइजीरिया	9,23,773	5,56,53,821
27. रुआन्डा	26,330	30,00,000
28. सेनेगल	1,97,161	34,00,000
29. सीरिया लियोन	72,326	21,83,000
30. सोमाली गणतंत्र	6,37,660	23,00,000
31. दक्षिणी अफ्रीका	12,23,409	1,82,98,000
32. सूडान	12,04,021	1,28,00,000
33. टंजानिया	9,39,704	1,00,46,000
34. टोगो	57,000	14,39,772
35. ट्युनिसिया	1,25,180	42,54,000
36. उगान्डा	2,43,410	72,00,000
37. यू. ए. आर. (मिश्र)	10,00,000	2,60,85,326
38. अपर वोल्टा	2,74,122	44,00,000
39. जेम्बिया	7,46,256	34,91,380
उत्तरी अमेरिका		
1. कनेडा	99,74,375	1,09,10,000
2. संयुक्त राज्य अमेरिका	93,63,387	20,00,00,000
3. मैक्सिको	19,69,269	4,50,71,000
4. ग्वाटेमाला	1,08,889	42,78,341
5. होन्डूरास	1,12,088	23,62,817
6. एल. सल्वेडोर	20,000	30,08,000
7. क्यूबा	1,14,524	74,31,200
8. हैती	27,750	47,00,000
9. डोमिनिकन रिपब्लिक	48,734	35,72,700
10. बारबेडोस	430	2,46,467
11. कोस्टारिका	50,900	14,63,013
12. निकारागुआ	1,48,000	16,16,173
13. पनामा	74,470	12,86,700
14. जमाइका	11,525	18,11,000
दक्षिणी अमेरिका		
1. अर्जेन्टाइना	27,78,412	2,21,86,800

2. बोलिविया	10,98,581	43,34,121
3. ब्राजील	85,13,844	8,72,00,000
4. चिली	7,41,767	85,15,023
5. कोलम्बिया	11,38,355	1,74,84,508
6. इक्वेडोर	2,70,670	50,00,000
7. गाइना (भूतपूर्व ब्रिटिश)	2,10,000	6,53,017
8. पैरागुश्रा	4,06,752	20,94,000
9. पेरू	12,85,215	1,13,99,200
10. उरागुश्रा	1,86,926	25,92,600
11. वेनीजुएला	9,12,050	90,30,000
12. ट्रिनिडेड एवं टोवेगो	5,128	9,74,800